

वेदों द्वारा समस्त समस्याओं का समाधान

धर्मदेव विद्यामार्तण्ड



॥ ओ३म् ॥

वेदों द्वारा समस्त समस्याओं का समाधान

लेखक

आचार्य धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

संपादक

भारतभूषण

प्रकाशक

हितकारी प्रकाशन समिति

हिण्डौन सिटी (राज०)-३२२ २३०

विषयानुक्रमणिका

लेखक-परिचय

वेदों के अप्रतिम विद्वान्, चिन्तक तथा विचारक पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड का जन्म १२ फरवरी, १९०१ को मुलतान (पाकिस्तान) जिले के दुनियापुर ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री नन्दलाल था। गुरुकुल काँगड़ी के प्रारम्भिक स्नातकों में पण्डित धर्मदेव का नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी शिक्षा का आरम्भ गुरुकुल मुलतान में हुआ, जहाँ आपने १९०६ से १९१६ तक प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण की। तदुपरान्त १९१७ से १९२१ तक गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी में स्वामी श्रद्धानन्द तथा प्रो० रामदेव के चरणों में बैठकर आपने विद्याध्ययन किया। २३ मार्च, १९२१ को आपने 'सिद्धान्तालंकार' की उपाधि ग्रहण की तथा कुछ काल पश्चात् 'भारतीय समाजशास्त्र' विषय पर शोध प्रबन्ध लिखकर विद्यावाचस्पति की उपाधि प्राप्त की। गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी ने इनके विशिष्ट वैदिक अध्ययन, पाण्डित्य तथा लेखन प्रतिभा से प्रभावित होकर 'विद्यामार्तण्ड' की मानद उपाधि से विभूषित किया।

प्रारम्भ में पं० धर्मदेव गुरुकुल मुलतान के आचार्य पद पर रहे। तत्पश्चात् आप स्वामी श्रद्धानन्द के आदेशानुसार दक्षिण भारत में वैदिक धर्म प्रचारक के रूप में १९२१ से १९४१ तक रहे। इस बीच आपने कन्नड़, तेलगु, तमिल तथा मलयालम भाषाओं का अध्ययन किया तथा कन्नड़ में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। १९४२ से १९५३ तक आपने सार्वदेशिक सभा के सहायक मन्त्री के रूप में कार्य करते हुए सभा के मासिक मुखपत्र '**सार्वदेशिक**' का सम्पादन किया। १९५४ से १९६३ तक पं० धर्मदेव ने श्री श्रद्धानन्द प्रतिष्ठान (गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के अन्तर्गत) वेदाध्यापन किया और 'संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी कोश' के निर्माण का कार्य किया। इसी समय आपने '**गुरुकुल पत्रिका**' का भी सम्पादन किया। २८ फरवरी, १९७६ को म० आनन्द स्वामी से संन्यास ग्रहण कर वे स्वामी धर्मानन्द सरस्वती बने। ८ नवम्बर, १९७८ को आपका निधन हो गया।

पं० धर्मदेव का लेखन विविध विषयों तथा विविध भाषाओं से सम्बन्धित है। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी तथा कन्नड़ में लेखन कार्य किया है। वेदों पर भाष्य रचना, वेद विवेचन, संस्कृत में काव्य प्रणयन तथा विभिन्न

शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक विषयों पर आपने विपुल साहित्य का निर्माण किया है।

ले० का० अंग्रेजी में वेद भाष्य—

1. Hymns of the Sam Veda (1967), 2. Some Psalms of the Sam Veda Samhita सामवेद के कतिपय सूक्तों का अंग्रेजी अनुवाद (१९६६), 3. The Rig Veda : An English Translation of the Commentary of Swami Dayanand Saraswati. Vol. 1, 2, 3 & 4.

वेद विषयक अन्य विवेचनात्मक ग्रन्थ—

१. वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र–वेद मन्त्रों के आधार पर आचारशास्त्र निरूपक ग्रन्थ (१९२८), २. स्त्रियों का वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकार (२००४ वि०, १९४८), ३. वेदों का महत्त्व (१९६२), ४. वेदों का यथार्थ स्वरूप–भारतीय विद्या भवन बम्बई द्वारा प्रकाशित 'दि वैदिक एज्' की आलोचना (२०१४ वि०), ५. वेद मूलक आर्य राजनीति, ६. वेदभाष्यों का तुलनात्मक अनुशीलन : भूमिका, ७. एक मन्त्र के अनेक अर्थ, ८. सामसंगीत सुधा, ९. वेदों का सार्वभौम सन्देश : भाषण (१९५४)।

स्वामी दयानन्द विषयक ग्रन्थ—

१. महर्षि दयानन्द और महात्मा गाँधी (१९५१), ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों पर तुलनात्मक विचार (१९८१ वि०), ३. उदारतम आचार्य महर्षि दयानन्द, ४. महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की विशेषताएँ (२०१२ वि०) ५. महर्षि दयानन्द और अन्य वेदभाष्यकार, ६. महर्षि दयानन्द के आदर्श का आर्यसमाज (१९७६), ७. Maharisi Dayanand and Satyarthprakash. (1945), 8. The Mission and Message of Maharisi Dayanand.

स्फुट ग्रन्थ—

१. भारतीय समाजशास्त्र (१९३२), २. हमारी राष्ट्रभाषा (१९४६), ३. हमारी राष्ट्रभाषा और लिपि (१९४८), ४. वैदिक–धर्म आर्यसमाज प्रश्नोत्तरी (१९३९), ५. आर्य धर्म निबन्ध माला, ६. गोरक्षा परम कर्त्तव्य और गोहत्या महापाप, ७. बौद्ध मत और वैदिक धर्म, ८. ब्रह्मपारायण यज्ञ की शास्त्रीयता (१९५२), ९. भक्ति कुसुमांजलि भाग–१, १०. भक्ति कुसुमांजलि भाग–२, ११. धर्मशिक्षा (९वीं तथा १०वीं श्रेणी के लिए), १२. वैदिक ईश्वरवाद और वर्तमान विज्ञान, १३. श्रद्धामाता, १४. अमर धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द।

संस्कृत ग्रन्थ—

१. महापुरुष कीर्तनम् (२०१६ वि०), २. महिलामणि कीर्तनम् (२०२० वि०–१९६३)।

अंग्रेजी ग्रन्थ—

1. A Catechism of Vedic Dharma and Aryasamaj (1000), 2. The Glory of the Vedas, 3. Christianity and the Vedic Dharma, 4. What is Arya Samaj?, 5. Concept of God in Christanity and Vedic Dharma, 6. The Sublimity of the Vedas, 7. The Significance of the Vedic Sanskaras, 8. The Mission and Message of the Martyr., 9. Papers on the Vedic Teachings on world peace and Synthesis of Religion and Science., 10. Child Marriage Bill (published by Civil and Social Programme Association Bangalore), 11. Vedic Sanskrit : Mother of All Languages, 12. Mahatma Buddha : An Arya Reformer.

कन्नड़ भाषा ग्रन्थ-आर्यसमाज मंगलोर द्वारा प्रकाशित—

१. जाति भेदविचार, २. वैदिक ईश्वर कल्पने, ३. ऋषि दयानन्द सरस्वतीवरू श्री मन्माधवाचार्यरू हतर सिद्धान्तगल तुलनात्मक विचार, ४. पशुबलि निषेध, ५. अस्पृश्यता निवारण, ६. आर्यसमाज वेन्देनू ?, ७. वैदिक सन्ध्याग्निहोत्र (आर्यसमाज बैंगलोर द्वारा प्रकाशित)।

एक तुलनात्मक निष्पक्षपात अनुशीलन

भूमिका

वेद विषयक परम्परागत विश्वास

वेदों के विषय में आर्यों का यह परम्परागत विश्वास चला आ रहा है कि वे ईश्वरीय-ज्ञान हैं। परम सर्वज्ञ भगवान् ने मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ मानवसृष्टि के प्रारम्भ में यह पवित्र ज्ञान, अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक चार ऋषियों के पवित्रान्तःकरणों में प्रकाशित किया, जिससे सब मनुष्यों को वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा विश्वविषयक सब कर्त्तव्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके। प्राचीन समस्त साहित्य में इस विश्वास का समर्थन स्पष्ट शब्दों में पाया जाता है। समस्त स्मृतिकार, दर्शनशास्त्रकार, उपनिषत्कार तथा रामायण, महाभारत, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्रादि के लेखक स्पष्टतया वेदों को ईश्वरीय तथा स्वतःप्रमाण और अन्य सब ग्रन्थों को परतःप्रमाण मानते हैं।

उदाहरणार्थ मनु महाराज ने अपनी स्मृति में (जिसे मानव धर्मशास्त्र के नाम से भी कहा जाता है) कहा है कि **''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।''** (मनु० २।६) अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद नामक सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल हैं। वही धर्म के विषय में स्वतः प्रमाण हैं।

मनुस्मृति—२।१३ में लिखा है :

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ (मनु० २।१३) अर्थात् जो धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए परम प्रमाण वेद ही हैं।

मनु महाराज ने वेदों का महत्त्व बताते हुए यहाँ तक कह दिया कि—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥

—१२।९४

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥

—१२।१७

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥

—१२।९९

सारांश यह है कि वेद सबके लिए सनातन मार्गदर्शक नेत्र के समान हैं। उनके महिमा का पूर्णतया प्रतिपादन करना अथवा उनको पूर्णतया समझ लेना बड़ा कठिन है। चारों वर्ण, तीन लोक, चारों आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्तमान विषयक ज्ञान वेद से ही प्रसिद्ध होता है। सनातन (नित्य) वेदशास्त्र सब प्राणियों को धारण करता है। यही सब मनुष्यों के लिए भवसागर से पार होने का साधन है।

ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों के वेद महत्त्व विषयक कुछ वचन—

ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने का स्पष्ट प्रतिपादन है यथा शतपथ ब्राह्मण तथा तदन्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि—

एतस्य वा महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः॥ —बृह० ४।५।११

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद उस महान् परमेश्वर के मानो निःश्वास रूप हैं।

शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र कहा है कि—

स (प्रजापतिः) श्रान्तस्तपेन ब्रह्मणैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्॥

अर्थात् प्रजापति परमेश्वर ने अपने तप वा पूर्णज्ञान से वेदों का निर्माण किया जिसे त्रयीविद्या के नाम से भी कहा जाता है क्योंकि उनमें ज्ञान, कर्म और उपासना का प्रतिपादन है।

मुण्डकोपनिषद् में वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने का स्पष्ट प्रतिपादन इस प्रकार के शब्दों में है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ,
दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः॥

—मुण्डक० २ ।१।४

तस्माद् ऋचः साम यजूंषि दीक्षाः॥ —मुण्डक० २।१।७

अर्थात् उस भगवान् का मस्तक मानो अग्नि है सूर्य और चन्द्र उसके नेत्रों के समान हैं। दिशाएँ उसके कानों के तुल्य हैं। वेद मानो उसकी वाणी से निकले अर्थात् ईश्वरीय हैं।

ताण्ड्य महाब्राह्मण तथा तदन्तर्गत छान्दोग्योपनिषद् में छन्दों के नाम से वेदों की महिमा इन शब्दों में बताई गई है :–

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन् ते छन्दोभिरच्छादयन्, यदेभिरच्छादयन्, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ –छान्दोग्य० १।४।२

अर्थात् देवों (सत्यनिष्ठ विद्वानों) ने मृत्यु से भयभीत होकर त्रयीविद्या (ज्ञान, कर्म, उपासना का प्रतिपादन करने वाले वेद) का आश्रय लिया। उन्होंने वेदमन्त्रों से अपने को आच्छादित कर लिया इसलिए इन्हें छन्द के नाम से कहा जाता है। उससे भी ब्राह्मणों और उपनिषदों के लेखकों की वेदों के विषय में अत्यधिक श्रद्धा सूचित होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

महाभारत में वेदों का महत्त्व

महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास जी ने अनेक स्थानों पर वेदों को नित्य और ईश्वरकृत बताया और इनके अर्थ सहित अध्ययन पर बड़ा बल दिया है। उन्होंने यह भी कहा है कि ऋषियों और पदार्थों के नाम वेदों से ही लेकर रखे गये। महाभारत के निम्नलिखित श्लोक इस विषय में विशेष उल्लेखनीय हैं।

अनादिनिधना नित्या, वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या, यतः सर्वा प्रवृत्तयः ॥

–महाभारत शान्तिपर्व अ० २३२।२४

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयम्भू परमेश्वर ने वेदरूप नित्य दिव्यवाणी का प्रकाश किया जिससे मनुष्यों की सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं।

यह ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध :

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया । वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ॥

–ऋ० ८।७५।६

महाभारत में इस मन्त्र का मानो अनुवाद है जिसमें वेदवाणी को नित्य और विविध विषयों का विरूपण वा प्रतिपादन करने वाली होने के कारण विरूपा कहा गया है। इसी अध्याय में आगे कहा है–

नानारूपं च भूतानां, कर्मणां च प्रवर्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ, निर्मिमीते स ईश्वरः ॥
नामधेयानि चर्षीणां, याश्च वेदेषु दृष्टयः ।
शर्वर्यन्ते सृजानां, तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥

–म०भा० शान्तिपर्व मोक्षधर्म पर्व अ० २३२।२५।२७

अर्थात् ईश्वर ने वस्तुओं के नाम और कर्म वेदों के शब्दों से

निर्माण किये। ऋषियों के नाम और ज्ञान भी प्रलय की रात्रि के अन्त अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों के द्वारा दिये गये।

वेदों के अर्थ सहित अध्ययन पर बल देते हुए महर्षि व्यास ने कहा है कि–

यो हि वेदे च शास्त्रे च, ग्रन्थधारणतत्परः।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञः, तस्य तद्धारणं वृथा॥
भारं स वहते तस्य, ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा॥

–म०भा० शान्तिपर्व मोक्षधर्म पर्व अ० ३०५।१३।१४

अर्थात् जो वेदशास्त्रों को केवल पढ़ लेता है किन्तु उनके अर्थ और तत्त्व को नहीं जानता, उसका इस प्रकार उस–उस ग्रन्थ को धारण कर लेना वा केवल पढ़ लेना केवल भाररूप और निष्फल सा हो जाता है। अतः वेदादिशास्त्रों को अर्थ और तत्त्व सहित समझने का सबको प्रयत्न करना चाहिये।

दर्शनशास्त्रों में वेदों का महत्त्व

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त–ये छः दर्शनशास्त्र हैं जिनकी रचना क्रमशः गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि और वेदव्यास–ऋषियों ने की। इन सब दर्शनों में वेदों के महत्त्व को स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ न्यायदर्शन के **"मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामण्यमाप्तप्रामाण्यात्।"** (न्याय २।१ ।६७) इत्यादि सूत्रों में परम आप्त परमेश्वर का वचन होने और असत्य, परस्परविरोध और पुनरुक्ति आदि दोषरहित होने से वेद को परम प्रमाण सिद्ध किया गया है।

वैशेषिक शास्त्रकार कणाद मुनि ने :

तद् वचनांदाम्नायस्य प्रामाण्यम्। –वैशे० १। १।३

इस सूत्र द्वारा परमेश्वर का वचन होने से आम्नाय अर्थात् वेद की प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया है। सांख्यकार कपिलमुनि को भूल से कई आधुनिक विचारक नास्तिक समझते हैं किन्तु उन्होंने भी :

"निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्।" –सां० द० ५।११

इत्यादि सूत्रों द्वारा वेदों को ईश्वरीय शक्ति से अभिव्यक्त (प्रकट) होने के कारण स्वतःप्रमाण माना है।

"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनावच्छेदात्।"

–योग समाधिपाद सू० २६

इत्यादि में परमेश्वर को नित्यवेद ज्ञान देने के कारण सब पूर्वजों का भी आदि गुरु माना है।

वेदान्त शास्त्र के कर्त्ता वेदव्यासजी ने–

"शास्त्रयोनित्वात्" (ब्रह्मसूत्र १।१।३) तथा **"अतएव च नित्यत्वम्।"** (ब्रह्मसूत्र १।३।२९)

इत्यादि सूत्रों द्वारा परमेश्वर को ऋग्वेदादिरूप सर्व ज्ञानभण्डार शास्त्र का कर्ता मानते हुए वेद की नित्यता का प्रतिपादन किया है। **"शास्त्रयोनित्वात्।"** इस सूत्र के भाष्य में सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्री शंकराचार्य जी ने जो लिखा है वह इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण होने के कारण यहां उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं–

"ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः–कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य–र्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति।" (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्) अर्थात् ऋग्वेदादि जो चार वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, प्रदीप के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करने वाले हैं, उनका बनाने वाला सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त परब्रह्म है। सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न, इन सर्वज्ञ गुणयुक्त वेदों को कोई अन्य बना सके, ऐसा सम्भव नहीं, इत्यादि। मीमांसा शास्त्र के कर्ता जैमिनि मुनि तो धर्म का लक्षण ही यह करते हैं कि–

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।"

अर्थात् जिसके लिए वेद आज्ञा दे, वह धर्म और जो वेद विरुद्ध हो, वह अधर्म है।

वे यह भी कहते हैं कि :

"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्।"

अर्थात् अन्य शास्त्रों का जहाँ कहीं वेद से विरोध हो तो वह वचन अप्रामाणिक है। इन शास्त्रकारों के अतिरिक्त अन्य देश-विदेश के अनेक निष्पक्ष विद्वानों ने भी वेदों की महिमा का किस प्रकार गान किया है, इसको हम प्रसंगवश आगे दिखाएँगे और उसके कारणों पर भी प्रकरणानुसार प्रकाश डालेंगे।

वेदों के महत्त्वविषयक इस सर्वशास्त्र सम्मतसिद्धान्त से जिसका हमने ऊपर दिग्दर्शन कराया है, इतना तो स्पष्ट है कि उनमें सार्वभौम और सार्वकालिक उपदेश हैं जिनके मनन से मानवीय समस्याओं का समाधान हो सकता है। हम इस पुस्तक में तुलनात्मक दृष्टि से प्राचीन तथा नवीन विचारों का दिग्दर्शन कराते हुए, उनका समाधान वेदों की शिक्षाओं के आधार पर प्रस्तुत करेंगे। इनमें शैक्षणिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, दार्शनिक, आध्यात्मिक, आर्थिक तथा भाषादि विषयक समस्याओं का समावेश होगा।

अध्याय-१

शैक्षणिक समस्याएँ

सबसे प्रथम समस्या जिस पर हम वैदिक शिक्षाओं के प्रकाश में विचार करना चाहते हैं, वह उचित शिक्षा की समस्या है। शिक्षा का उद्देश्य और स्वरूप क्या है? धार्मिक और नैतिकशिक्षा विद्यालयों और महाविद्यालयों में दी जानी चाहिये वा नहीं? यदि दी जानी चाहिये तो किस रूप में, स्त्री शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिये तथा उसका क्या लक्षण होना चाहिये? बालक- बालिकाओं, नवयुवक-नवयुवतियों की सहशिक्षा उचित और वांछनीय है वा नहीं? ये समस्याएँ इस समय भारत तथा अन्य देशों के शिक्षाशास्त्रियों को परेशान कर रही हैं तथा उनका कोई समाधान नहीं निकल रहा।

शिक्षा की आवश्यकता के विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता किन्तु वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के कारण प्रचलित छात्रों की अनुशासनहीनता, अनैतिकता तथा अन्य दोषों को देखकर विचारशील शिक्षाशास्त्री तथा समाज और राष्ट्र के हितचिन्तक विक्षुब्ध हैं। अतः यह आवश्यक है कि मानवसमाज के निर्माण के लिए अत्यावश्यक सच्ची शिक्षा के स्वरूप का वैदिक दृष्टि से निरूपण किया जाए और तुलनात्मक दृष्टि से भारत और अन्य देशों के उत्तम विचारकों के विचारों का भी दिग्दर्शन कराया जाए जिनसे वैदिक शिक्षाओं का समर्थन होता है।

शिक्षा विषयक वैदिक उपदेश

वेदों में शिक्षा की आधारशिला ब्रह्मचर्य को बताया गया है और विद्यार्थी को ब्रह्मचारी के नाम से पुकारा गया है। ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ ब्रह्म-परमेश्वर में विचरण करना और ब्रह्म-वेद का अध्ययन करना है। ब्रह्मचर्य में पूर्ण जितेन्द्रियता, संयम और पवित्रता तथा वीर्यरक्षा का भाव ओत-प्रोत है। वेदों में ब्रह्मचर्य की महिमा अनेक सूक्तों में प्रतिपादित है जिनमें से अथर्ववेद काण्ड ११ सू० ५ विशेषरूप से प्रसिद्ध है। इस सूक्त में तथा अन्यत्र, गुरुओं को आचार्य के नाम से पुकारा गया है जिसका मुख्य अर्थ निरुक्त नामक वेदांग के कर्ता यास्काचार्य ने **"आचारं ग्राहयति इत्याचार्यः"** (निरु० १। ४। ३)

इस निरुक्ति को करते हुए उत्तम आचार का ग्रहण कराने वाला—यह बताया है। जिसने ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचर्य के व्रत का अच्छी प्रकार पालन किया हो, गृहस्थ में भी पत्नीव्रत रहकर संयमपूर्वक जीवन व्यतीत किया हो और वानप्रस्थाश्रम में पुनः ब्रह्मचर्य का व्रतधारण किया हो, वही सच्चे ब्रह्मचारियों की इच्छा और उनका मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है, इस बात को वेद में **"आचार्यो ब्रह्मचर्येण, ब्रह्मचारिणमिच्छते"** (अथर्व० ११।६।१७)। इन महत्त्वपूर्ण शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है। इनका स्पष्ट अर्थ है कि आचार्य अपने ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा ही विद्यार्थियों को सच्चा ब्रह्मचारी बनाने की इच्छा करता तथा उसके लिए प्रयत्नशील होता है। जिस ने स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया, जो स्वयं सदाचारी और ब्रह्म में विचरण करने वाला ज्ञानी नहीं है, वह शिष्यों को कैसे ब्रह्मचारी बना सकता है? आचरण के द्वारा दी हुई शिक्षा का ही स्थायी प्रभाव पड़ता है, आचरण-हीन मौखिक शिक्षा का नहीं। इसीलिए ऋग्वेद ८।२।१५ और साम म० १८।६ में कहा है कि—**"शिक्षा शचीवः शचीभिः"**।।

अर्थात्, उत्तम वाणी, कर्म और बुद्धि सम्पन्न आचार्य ही अपने कर्मों अथवा आचरणों द्वारा तुम शिष्यों को शिक्षा दे। मन्त्र में शची शब्द का प्रयोग है जिसके निघण्टु में शचीति वाङ्नाम (निघ० १।११) शचीति कर्म नाम (निघ० २।१) है। शचीति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९) वाणी, कर्म और बुद्धि—ये तीन अर्थ किये गये हैं इसलिए हमने शचीवः का अर्थ उत्तम वाणी, कर्म और बुद्धिसम्पन्न आचार्य किया है। सच्चे आचार्य व शिक्षक को उत्तम-सत्य और प्रियवाणी, कर्म तथा बुद्धि से सम्पन्न होना ही चाहिये अन्यथा वह आदर्श शिक्षक कभी नहीं बन सकता। अन्त में "शचीभिः" पद का अर्थ हमने "शचीति कर्मनाम" (निघ० २।१) के अनुसार कर्म वा आचरण किया है जिसके द्वारा वेदों ने इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि सच्ची शिक्षा केवल वाणी द्वारा नहीं, अपितु कर्म वा आचरण द्वारा दी जानी चाहिये। मन्त्र के पूर्वार्ध में बताया गया है कि—

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति"।

(अ० ११।५।१७)

अर्थात् राजा भी राष्ट्र की विशेषरूप से अथवा भलीभाँति रक्षा ब्रह्मचर्य (जितेन्द्रियता, संयम और पवित्रता) और तप (शीतोष्ण, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों के सहन) के द्वारा ही कर सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए सच्चा राजा बनने के लिए भी ब्रह्मचर्य के

व्रत का पालन अत्यावश्यक है। इसी वेद मन्त्र के भाव को लेकर मनु महाराज ने अपनी स्मृति में कहा है :-

"जितेन्द्रियो हि शक्नोति, वशे स्थापयितुं प्रजाः"॥ —मनु०

अर्थात् जितेन्द्रिय राजा ही निश्चय से प्रजाओं को अपने वश में रखने में समर्थ होता है, अन्य नहीं। ब्रह्मचर्य की महिमा बताते हुए इस सूक्त में कहा गया है कि—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥

(अ० ११।५।१९)

अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा ही सत्यनिष्ठ[१] ज्ञानी लोग मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। जीवात्मा ब्रह्मचर्य से ही इन्द्रियों को सुख से परिपूर्ण कर लेता है।

ब्रह्मचर्य द्वारा ही मनुष्यों के प्राण, अपान, व्यानादि तथा वाणी, मन, हृदय, ज्ञान, मेधा (धारणावती ऋतम्भरा बुद्धि)—सबका पूर्ण विकास होता है और सब दिव्यगुणों का ब्रह्मचारी के अन्दर निवास होता है। वह ब्रह्मचारी अपने में प्रकाशमान ब्रह्म-परमेश्वर वा वेद को धारण करता है। इस बात को इसी सूक्त के २४वें मन्त्र में बताया गया है जो निम्न प्रकार है—

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥

(अ० ११।५।२४)

इसके अर्थ का हमने ऊपर निर्देश कर ही दिया है। इस प्रकार जिस ब्रह्मचर्य के द्वारा समस्त शक्तियों का विकास होता है, उसे शिक्षा का आधार बताना सर्वथा उचित है। इस ब्रह्मचर्य का सच्चरित्र निर्माण से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो सदाचार सम्पन्न सच्चरित्र व्यक्ति नहीं है, वह कभी परम पवित्र परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। सच्चरित्र निर्माण शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। इस बात को वेदों में अनेक बार बताया गया है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद अ० ६ म० १४ में आचार्य के मुख से शिष्य को सम्बोधित करते हुए कहलाया गया है—

१. सत्यसंहिता वै देवाः (ऐतरेय १।६), सत्यमया उ देवाः (कौषीतकी २।८), विद्वांसो हि देवाः (शतपथ ब्रा० ३।७।३।१०)।

वाचं ते शुन्धामि प्राणं तें शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं तें शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि ॥

(यजु० ६।१४)

अर्थात् मैं उत्तम शिक्षा के द्वारा तेरी वाणी, प्राण, चक्षु, कर्ण, नाभि, उपस्थेन्द्रिय, गुदा-मलद्वार, इन सब को पवित्र करता हूँ। मैं तेरे चरित्र को पवित्र करता हूँ। तात्पर्य यह है कि शिक्षकों का कर्त्तव्य केवल पुस्तकीय शिक्षा देना नहीं, अपितु उत्तम उपदेश तथा आचरण द्वारा विद्यार्थियों के सब अंगों को पवित्र बनाना और उन्हें सदाचारी बनाना है। वेदों में इस सच्चरित्र निर्माण पर अत्यधिक बल दिया गया है। यजु० ४।२८ में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रार्थना आती है कि-

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ॥

हे (अग्नि) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर तथा ज्ञानी गुरुओ, मुझे दुश्चरित वा दुराचरण से दूर करो और सदा उत्तम चरित्र वा सदाचार में स्थिर करो।

मनुष्य अपने चरित्र को सुधारता हुआ ही मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। अतः वेद मनुष्यमात्र को उपदेश देता है कि-

प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्॥

(अ० ९।५।३)

अर्थात् हे मनुष्य! तूने जो दुष्ट आचरण किये हैं उन दुष्ट आचरणों को-सब प्रकार के दुराचार और भ्रष्टाचार को अच्छी प्रकार धो डाल (णिजिर्-शुद्धौ) फिर शुद्ध निर्मल आचरण से उत्तम ज्ञान सम्पन्न होकर उन्नति कर। पुनः अनेक प्रकार के अज्ञानान्धकार को ज्ञान, ध्यान, समाधि के द्वारा पार करता हुआ तेरा अजन्मा अमर आत्मा सुख-दुःख की सामान्य अवस्था से परे सर्वथा दुःख रहित मोक्ष को प्राप्त करे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेदों के अनुसार शिक्षा का सबसे मुख्य उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। सदाचारी बनाने के कारण ही गुरुजन आचार्य के नाम से पुकारे जाते हैं। जो शिक्षा चरित्र-निर्माण की ओर विशेष ध्यान नहीं देती, वह वस्तुतः शिक्षा नहीं कहला सकती। तुलनात्मक दृष्टि से शिक्षा के इस वैदिक आदर्श पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि देश-विदेश के अनेक प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा के वेदोक्त इस चरित्र-निर्माणरूप उद्देश्य का प्रबल शब्दों में समर्थन किया है। उदाहरणार्थ ऋषि दयानन्द जी ने शिक्षा का लक्षण

करते हुए लिखा है–

शिक्षा–जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं।'' (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश)। वर्तमान युग के जगद्विख्यात नेता महात्मा गांधीजी ने शिक्षा पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा–

''शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण होना चाहिये। शिक्षा वही है जिसके द्वारा साहस का विकास हो, गुणों में वृद्धि हो और ऊंचे उद्देश्यों के प्रति लगन जागे।''

(म० गांधी जी की सूक्तियां–चरित्र–निर्माण पृ० ५)

भारत के महामान्य भूतपूर्व राष्ट्रपति जगद्विख्यात शिक्षाशास्त्री डॉ० राधाकृष्णन् जी ने बम्बई में १९५४ ई० में शिक्षा के उद्देश्यों पर भाषण देते हुए कहा था कि–

"The supreme ends of education are refinement of taste and development of character and social conscience, so that a new race of Indian manhood will arise."

"If we are merely literates and if we are lacking in character, we will become demoniac."

"Mere mechanical and technical knowledge, unaccompanied by other qualities of character, might bring people on to the brink of ruin."

(Hindustan Times, 13.1.1954)

अर्थात् शिक्षा के उच्च उद्देश्य रुचि का परिष्कार, चरित्र का विकास और सामाजिक चैतन्य का प्रादुर्भाव है जिससे भारतीयों की एक नई जाति का निर्माण होगा। यदि हम केवल साक्षर अथवा पण्डित हैं किन्तु हम में सदाचार की कमी है तो हम राक्षस बन जाएँगे। केवल यान्त्रिक और शैल्पिक शिक्षा, जब तक उसके साथ चरित्र विषयक गुणों का मेल नहीं होगा, हमारे विनाश का कारण बनेगी।

इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध शिक्षा विशारद हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने शिक्षा विषयक अंग्रेजी ग्रन्थ "Education" में लिखा है कि–

"Education has its objects, the formation of character."
(Education by Herbert Spencer)

अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य चरित्र–निर्माण है।

वैदिक आदर्शानुसार क्योंकि शिक्षक लोग छात्रों के लिए पिता

के समान होते हैं और अनुभवी ज्ञानवृद्ध भी, अतः उन्हें ''पितरः'' इस पद से सम्बोधन करते हुए यजुर्वेद २।३३ में कहा गया है कि—

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पूरुषोऽसत्॥

(य० २।३३)

अर्थात् हे पिता के समान ज्ञान द्वारा रक्षा करने वाले अनुभवी ज्ञानियो! आप कमल समान सुन्दर शिक्षार्थी को अपने गुरुकुलरूप गर्भ में ऐसे धारण करो जैसे माता गर्भ को बड़ी सावधानी और प्रेम से धारण करती है, जिससे वह सच्चा पुरुष बन सके। उसके अन्दर मानवोचित सब उत्तम गुणों का विकास हो सके।

इस मन्त्र के द्वारा जहाँ ऐसी शिक्षा पर बल दिया गया है, जो सच्चा आदर्श पुरुष बना सके, वहाँ उपमा के द्वारा यह भी स्पष्टतया सूचित किया गया है कि गुरुजनों को न केवल पिता, अपितु विद्यार्थियों के लिए माता के समान प्रेममय कोमल स्वभाव का भी होना चाहिये।

विदेशों में जाकर भारत माता का मुख उज्ज्वल करने वाले अत्यन्त तेजस्वी संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने मानवनिर्माण को शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बताते हुए कहा था कि—

''हम वह शिक्षा चाहते हैं जिससे चरित्र का निर्माण होता है, विचारशक्ति मजबूत होती है, विवेक जागृत होता है और प्रत्येक में अपने पांवों पर खड़े होने की योग्यता आ जाती है।''

''हमारा धर्म मनुष्य-निर्माण के लिए हो। हमारे सिद्धान्त मनुष्य निर्माण के लिए हों और हमारी शिक्षा मनुष्य-निर्माण के लिए हो।''

(भारती २६ जनवरी १९६४ में उद्धृत पृष्ठ १९)

शिक्षा और समविकास

वेदों के अनुसार जहाँ शिक्षा का मुख्य उद्देश्य चरित्र-निर्माण है, वहाँ उसका ध्येय समविकास अर्थात् शरीर, मन, वाणी और आत्मा की शक्तियों का विकास भी है।

यजुर्वेद ६।१५ में इस विषय को गुरु की शिष्य के प्रति निम्न उक्ति द्वारा स्पष्ट किया गया है—

मनस्तऽआप्यायतां वाक् तऽआप्यायतां प्राणस्तऽआप्यायतां चक्षुस्त-ऽआप्यायताᳬं श्रोत्रं तऽआप्यायताम्। यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तऽ-आप्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः॥

(य० ६।१५)

अर्थात् हे शिष्य! मेरी दी हुई शिक्षाओं और सत्कर्म अनुष्ठान से तेरे मन, वाणी, प्राण, चक्षु, कर्णादि की शक्ति बढ़े। तेरी जो स्वभाव में क्रूरता है वह (निष्ट्यायताम्) बाहर निकल जाए, वह शुद्ध हो जाए, धुल जाए। (यत् आस्थितम्) जो तेरे अन्दर स्थिरता धैर्य आदि है वह वृद्धि को प्राप्त हो। सब दिनों के लिए तुझे सुख शान्ति प्राप्त हो। गुरु पत्नी गुरु को ओषधि के नाम से सम्बोधित करती है जिसका तात्पर्य एक तो ओषधिवत् दोष निवारक है और दूसरा **औषोविज्ञानं धीयतेऽस्मिन्तत् सम्बुद्धौ विज्ञानिवराध्यापक अत्र गतौ गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च, गतिस्त्र विज्ञानं गृह्यते**। अर्थात् ज्ञानियों में श्रेष्ठ अध्यापक महोदय! आप इस शिष्य की ज्ञान द्वारा भलीभांति रक्षा करें। गुरु अपनी विदुषी धर्मपत्नी को स्वधिति के नाम से सम्बोधन करता है जिसका अर्थ आत्मशक्ति को धारण करने वाली विदुषी अध्यापिका है। उसे इस सम्मानसूचक पद से सम्बोधित करते हुए गुरु कहता है कि तुम भी अपनी शिष्या कन्या की ज्ञान द्वारा सदा रक्षा करो। कभी इसकी (मा हिंसीः) हिंसा मत करो। इस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ करते हुए ऋषि दयानन्द सरस्वती ने भावार्थ इन शब्दों में दिया है—

"सत्कर्मानुष्ठानेन सर्वस्योन्नतिर्भवत्यतः सर्वैर्मनुष्यैर्गुरु-शिक्षया समस्तसत्कर्मानुष्ठेयम्। दम्पती परस्परमेवमुपदिशेताम् हे पते! भवानयं शिष्यो यथा सद्यो विद्वान् स्यात् तथा प्रयतताम्। हे धर्मपत्नि! भवती यथेयं कन्या तूर्णं विदुषी भवेत् तथा विदधातु इति ॥"

तात्पर्य यह कि गुरु शिष्यों को सब प्रकार से उन्नत करने तथा उनकी प्राण, वाणी, मन, आँख, कान आदि इन्द्रियों की शक्तियों को बढ़ाने के लिए सदा प्रयत्न करते रहें। अध्यापिकाएं भी अपनी शिष्याओं के प्रति इसी कर्तव्य का पालन करें। इस प्रकार समस्त शक्तियों के समविकास को यहां शिक्षा का एक प्रधान ध्येय बताया गया है।

इस समविकास के विषय में कुछ अन्य मन्त्रों पर मनन करना भी आवश्यक है। यजु० २।२४ में निम्न मन्त्र पाया जाता है—

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥

(यजु० २।२४)

अर्थात् हम सब (**वर्चसा सम् अगन्महि**) तेज से संयुक्त हों (**पयसा सम्**) बलदायक दुग्धादि रस अथवा भक्तिरस से संयुक्त हों।

(तनूभिः सम्) उत्तम स्वास्थ्य और पुष्ट शरीरों से और **(शिवेन मनसा)** शुभ विचार करने वाले मन से **(सम् अगन्महि)** संयुक्त हों। **(सुदत्रः)** उत्तम दानशील **(त्वष्टा)** प्रजापति परमेश्वर **(रायः विदधातु)** हमारे अन्दर सब प्रकार का ऐश्वर्य धारण कराएँ **(तन्वः)** शरीर की **(यत्)** जो **(विलिष्टम्)** न्यूनता का दोष है, उसे वह **(अनु मार्ष्टु)** दूर करें अथवा निर्मल बनाएँ। इस मन्त्र के अन्दर जो यजुर्वेद में थोड़े से पाठभेद से दो-तीन स्थानों पर आया है, शारीरिक तथा मानसिक समस्त शक्तियों के समविकास का भाव बहुत स्पष्ट है। मन के साथ बुद्धि चित्तादि की शक्तियों के विकास के विषय में निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

मन॑से॒ चेत॑से धि॒य आकू॑तय उ॒त चित्त॑ये।
म॒त्यै श्रु॒ताय॒ चक्ष॑से वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम्॥

(अ० ६।४१।१)

(वयम्) हम सब **(मनसे)** मन के लिए **(चेतसे)** चित्त के लिए। **(धिये)** बुद्धि के लिए **(आकूतये)** शुभ संकल्प के लिए **(उत)** और **(चित्तये)** ज्ञान के लिए **(मत्यै)** मनन के लिए **(श्रुताय)** श्रवण के लिए **(चक्षसे)** दर्शनादि शक्तियों के विकास के लिए **(हविषा)**[1] भक्ति द्वारा **(विधेम)** भगवान् की आराधना करें। तात्पर्य यह है कि भक्ति इत्यादि के द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रिय आदि की सम्पूर्ण शक्तियों को समान रूप से विकसित करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

यजु० १४।१७ के निम्न मन्त्र को भी वेदोक्त समविकास को प्रदर्शित करने के लिये यहां उद्धृत किया जाता है जो इस प्रकार है—

आयु॑र्मे पाहि प्रा॒णं मे॑ पाह्यपा॒नं मे॑ पाहि व्या॒नं मे॑ पाहि॒ चक्षु॑र्मे पाहि॒ श्रोत्रं॑ मे पाहि॒ वाचं॑म्मे पिन्व॒ मनो॑ मे जिन्वा॒त्मान॑म्मे पाहि॒ ज्योति॑र्मे यच्छ॥

(य० १४।१७)

इस सरल मन्त्र में परमेश्वर से आयु, प्राण, अपान, आँख, कान और वाणी के साथ मन और आत्मा की रक्षा तथा तृप्ति वा शक्ति वृद्धि के लिए प्रार्थना करते हुए अन्त में कहा है कि **(मे ज्योतिः यच्छ)** मुझे ज्ञान ज्योति प्रदान करो जिसका तात्पर्य यही है कि भगवान् की कृपा से हम सब अपनी इन्द्रियों तथा मन आत्मा की सब प्रकार के पापों और दुर्व्यसनों से रक्षा करते हुए उनकी शक्तियों के विकास में समर्थ हो सकें क्योंकि यह बात स्पष्ट है कि दुरुपयोग

---

१. हविः—हु=दानादनयोः आदाने च इस धातु से हविः शब्द बनता है। अपने को भगवान् के प्रति दे देना अथवा समर्पित कर देना भक्ति है।

करने से इन्द्रिय, मन तथा आत्मा की शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। भगवान् के साथ-साथ गुरुजनों से भी विद्यार्थी इस प्रकार की प्रार्थना कर सकते हैं जिससे वे उत्तम शिक्षा द्वारा उनका पथ-प्रदर्शन करें।

शारीरिक शक्ति के विकास और वीरता के सम्पादन पर भी वेदों में बहुत अधिक बल दिया गया है। मन और आत्मा की शक्ति का विकास पर्याप्त नहीं जब तक उसके साथ शरीर के अंगों को भी हृष्ट-पुष्ट न बनाया जाए। ऋग्वेद १।८९।८ में यह सुप्रसिद्ध मन्त्र आया है जिसका स्वस्तिवाचन के समय विशेष रूप से पाठ किया जाता है-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

(ऋ० १।८९।८ सा० उत्तरा अ० २१)

इस मन्त्र में जहां पूज्य सत्यनिष्ठ ज्ञानियों को यजत्र देवों के नाम से सम्बोधित करते हुए यह प्रार्थना की गई है कि हम कानों से उत्तम सुख और कल्याणकारक शब्दों को सुनें, आंखों से सुख कल्याण कारक उत्तम पदार्थों को देखें, वहां साथ ही कहा गया है कि हम "**स्थिरैरङ्गैः तुष्टुवांसः**" अपने बलवान् दृढ़ अंगों से सम्पन्न शरीरों के साथ भगवान् की स्तुति करते हुए सब विद्वानों के लिए हितकारक दीर्घ आयु को प्राप्त करें।

ऋ० १०।१०३।१३ में वीर मनुष्यों को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि-

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥

(ऋ० १०।१०३।१३ सा० म० १८६२)

अर्थात् हे मनुष्यो! (**प्र इत**) आगे-आगे बढ़ते जाओ (**जयत**) जीतो-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो। (**इन्द्रो वः शर्म यच्छतु**) इन्द्र-परमैश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर तुम्हारा कल्याण करे। (**वः बाहव= उग्राः सन्तु**) तुम्हारी बाहुएँ बलशाली हों (**यथा अनाधृष्या असथ**) जिससे तुम अनाधृष्या= किसी से न दबनेवाले बनो।

यहाँ बाहु शरीर के सब अवयवों का उपलक्षण है जिनको बलवान् बना कर अधृष्य=किसी से न दबने का वेद भगवान् उपदेश देते हैं। ऋ० १०।१२८।३ में भी स्पष्ट प्रार्थना है कि-

अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः —ऋ० १०।१२८।३

अर्थात् हम (**तन्वा सुवीराः**) शरीर से खूब बलवान् और उत्तम वीर बनते हुए (**अरिष्टाः स्याम**) अहिंसित हों—हमारी कोई हिंसा न कर सके। **रिष्-हिंसायाम्** शिक्षा के साथ शरीर की दृढ़ता अथवा शारीरिक शक्ति को विकसित करने का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह अथर्व० ४।१७।८ के मन्त्र खण्ड से भली प्रकार ज्ञात हो सकता है जहाँ कहा गया है कि "**त्वमगदश्चर**" तू (**अगदः**) रोग रहित बलवान् और स्वस्थ होकर सदा विचर। अथर्ववेद १।२।२ में उपदेश है कि—

"अश्मानं तन्वं कृधि" —अ० १।२।२

हे मनुष्य! तू अपने शरीर को पत्थर के समान बलवान् बना। अथर्ववेद २।१३।४ में नवागत विद्यार्थी को सम्बोधित करते हुए आचार्य के मुख से कहलाया गया है कि—

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम्॥

(अ० २।१३।४)

अर्थात् हे बालक! तू आ। इस पत्थर पर खड़ा हो जा। इसका तात्पर्य यह है कि (**ते तनूः अश्मा भवतु**) तेरा शरीर इस पत्थर की तरह दृढ़-बलवान् बने। सब देव-सत्यनिष्ठ विद्वान् तेरी सौ वर्षों की आयु करें—ऐसी शिक्षा दें जिससे तू बलशाली होकर सौ वर्ष तक जी सके।

अथर्ववेद १९।६०।१,२ में तो शारीरिक वाचिक और आत्मिक शक्ति के विकास का इन अत्यन्त स्फूर्तिदायक शब्दों में प्रार्थना के रूप में प्रतिपादन किया गया है—

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा।
अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः॥

(अ० १९।६०।१,२)

अर्थात् मेरे मुख में उत्तम वक्तृत्व शक्ति हो, नासिकाओं में प्राणशक्ति हो, आँखों में दर्शन शक्ति हो, कानों में श्रवण शक्ति हो। मेरे बाल (असमय पर) सफेद न हो जाएँ, मेरे दाँत मल रहित हों, मेरी बाहुओं में बहुत बल हो। मेरी उरुओं में शक्ति हो, जंघाओं में वेग हो, मेरे पैरों में दृढ़ स्थिर शक्ति हो। मेरे शरीर के सब अंग-प्रत्यंग नीरोग

स्वस्थ और सबल हों। मेरी आत्मा (**अनिभृष्टः**) कभी किसी से न दबने वाली अत्यधिक बलशाली हो।

इस प्रसंग में एक अत्युत्तम सर्वोपयोगी प्रार्थना मन्त्र का भी उल्लेख करना हमें उचित प्रतीत होता है जो समविकास के वेदोक्त आदर्श का स्पष्ट द्योतक है। वह मन्त्र निम्नलिखित है–

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥

(ऋ० २।२१।६)

इस मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है कि हे (**इन्द्र**) परमैश्वर्य सम्पन्न जगदीश्वर! आप हमें (**श्रेष्ठानि द्रविणानि**) उत्तम ऐश्वर्यों और बलों[1] को प्रदान करें (**दक्षस्य चित्तिम्**) कर्मकुशल पुरुष के ज्ञान को और (**सुभगत्वम्**) सौभाग्य तथा उत्तम धर्म और यश को (**अस्मे**) हमारे में स्थापित करें। (**रयीणां पोषम्**) भौतिक और आध्यात्मिक षटक्[2] सम्पत्ति वा निर्भयता चित्तशुद्धि आदिरूप दैवी सम्पत् की हमारे में पुष्टि–वृद्धि हो (**तनूनाम् अरिष्टिम्**) हमें शरीर की नीरोगता वा स्वस्थता प्राप्त हो (**वाचः स्वाद्मानम्**) हमारी वाणी माधुर्य युक्त हो और इस प्रकार (**अह्नां सुदिनत्वम्**) सब दिन हमारे लिए उत्तम दिन हो जाएँ, हम इस तरह शारीरिक, मानसिक, आत्मिक सब शक्तियों को विकसित करते हुए सदा प्रसन्न रहें, ऐसी शक्ति आप हमें प्रदान करें। प्रार्थना के द्वारा वेद हमारे सम्मुख आदर्श को भी प्रस्तुत करते और उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होने का उपदेश देते हैं। इस दृष्टि से ऐसे मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

शारीरिक बल की वृद्धि के लिए जहाँ हमें स्वयं प्रयत्न करना चाहिये वहाँ अपने पुत्र पौत्रों तथा अन्यों को भी इसके लिए प्रेरित करना चाहिये तथा बलदाता सर्वशक्तिमान् भगवान् से इसके लिये प्रार्थना करनी चाहिये ऐसा वेदों में बताया गया है। इस विषय में निम्नलिखित मन्त्र अत्यन्त सरल और स्पष्टार्थक होने के कारण यहाँ उल्लेखनीय है–

बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानळुत्सु नः।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि॥

(ऋ० ३।५३।१८)

१. द्रविणमिति वलनाम (निघ० ३।९) द्रविणमिति धननाम (निघ० २।१०)।
२. षट्क सम्पत्ति में शम, दम, उपरति, तितिक्षा (द्वन्द्व सहिष्णुता) श्रद्धा और समाधान का समावेश है।

अर्थात् हे परमेश्वर! हमारे शरीरों में आप बल को धारण कराएँ। हमारे बैलों आदि में भी आप बल स्थापित करें। **(जीवसे तोकाय तनयाय बलम्)** हमारे पुत्र पौत्र उत्तम जीवन व्यतीत कर सकें, इसके लिए उनमें भी आप बल को स्थापित करें क्योंकि आप निश्चय से बल देने वाले हैं। इस तरह हमें स्पष्टतया ज्ञात हो सकता है कि वेदों में शारीरिक, वाचिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक सब शक्तियों के विकास पर बल दिया गया है और इस समविकास को शिक्षा का एक प्रधान ध्येय बताया गया है।

यह खेद की बात है कि हमारे देश में प्रायः प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में समविकास के इस वैदिक आदर्श पर ध्यान नहीं दिया जाता। मानसिक और बौद्धिक शक्ति को विकसित कराने का कुछ प्रयत्न किया जाता है, किन्तु शारीरिक और आत्मिक शक्ति के विकास की ओर शिक्षकों का ध्यान बहुत कम है। ध्यान, ईश्वरोपासनादि द्वारा आत्मिक शक्ति के विकास की ओर तो न हमारे देशवासियों का प्रायः ध्यान है और न अन्य देशवासियों का। आवश्यकता इस बात की है कि समस्त शिक्षा का आधार वैदिक-काल की तरह ब्रह्मचर्य पर हो और समविकास को शिक्षा का प्रधान ध्येय बनाया जाए।

समविकास के वैदिक आदर्श का देश-विदेश के विद्वानों द्वारा समर्थन

प्लेटो ने अफलातून को शिक्षा का लक्षण करते हुए बताया था कि :

"Education is the natural and harmonious development of the powers of character, mind and body."

अर्थात् चरित्र, मन और शरीर के स्वाभाविक और सर्वांगीण समविकास का नाम शिक्षा है।

यूनान के एक दूसरे सुप्रसिद्ध विचारक अरिस्टोटल या अरस्तू ने शिक्षा का लक्षण और उद्देश्य बताते हुए कहा था कि-

"Education is the creation of a sound mind in a sound body."

अर्थात् स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण शिक्षा है।

यद्यपि इन दोनों वचनों में शारीरिक और मानसिक शक्तियों के समविकास का भाव आ जाता है, किन्तु आत्मिक शक्ति के विकास की ओर निर्देश न होने से ये वैदिक आदर्श की तुलना नहीं कर सकते।

श्रद्धेय डॉ० भगवानदासजी के शिक्षा विषयक वचन–

हमारे देश के सुप्रसिद्ध मनीषी भारत रत्न स्वर्गीय डॉ० भगवानदासजी ने ''मानव धर्मसार'' में शिक्षा के विषय में लिखा था कि–

''बुद्धि, स्वभाव और शरीर ये तीन तथा ज्ञान, इच्छा और कर्म–ये तीनों भी जिससे उत्तम और दृढ़ बनें, जिससे सत्त्व, रज और तम के अंश परिमार्जित (विशुद्ध) हों वही उचित शिक्षा है। इस प्रकार की उचित शिक्षा का देना गुरुकुल में ही सम्भव है। विद्या उत्तम संस्कार डालने वाली भी हो और धनोपार्जन में सहायता देने वाली भी हो।'' (मानवधर्मसार)

सुप्रख्यात मनीषी और योगी श्री अरविन्दजी ने शिक्षा के विषय में जो लिखा था वह वैदिक शिक्षादर्श के अनुकूल होने के कारण तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा था कि–

"That above will be a true and living education which helps to bring out to full advantage, make ready for the full purpose and scope of human life, all that is in the individual man and which at the same time helps him to enter into his right relation with the life, mind and soul of humanity of which he himself is a unit and his people or nation a living, a separate and yet inseparable member." *(Sayings of Shri Aurobindo P. 6)*

इस सन्दर्भ का सारांश यह है कि एक सच्ची और जीवित जागृत शिक्षा वही होगी जो व्यक्ति की सब शक्तियों के पूर्ण विकास में सहायता दे और उसके साथ ही उसका सम्पूर्ण मानवजाति तथा अपने राष्ट्र के मनुष्यों के साथ ठीक सम्बन्ध स्थापित करने में सहायिका हो।

गुरु–शिष्यसम्बन्ध

वैदिक शिक्षादर्शन पर विचार करते हुए यह बात भी सदा स्मरणीय है कि इस आदर्श के अनुसार शिक्षक गुरु वा आचार्य विद्यार्थियों को केवल पढ़ाने वाले और कुछ थोड़े से घण्टों के लिए उनके सम्पर्क में आने वाले नहीं होते, अपितु वे अपने शिष्यों के साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले होते हैं। इन गुरुओं और आचार्यों का शिष्यों से वही सम्बन्ध होता है जो पिता–माता का अपनी सन्तानों से। वे इकट्ठे एक ही कुल में निवास करते हैं जिसे वेदों में देवकृतयोनि अथवा गुरुकुल के नाम से कहा जाता है।

इस देवकृतयोनि अथवा गुरुकुल के विषय में ऋग्वेद ७।४।५ में कहा है कि–

आ योनिं देवकृतं ससाद क्रत्वा ह्यग्निरमृताँ अतारीत्॥

अर्थात् जो इस सत्यनिष्ठ ज्ञानी विद्वानों द्वारा बनाये गृह[१]–गुरुकुल में निवास करता है वह अग्नि–अग्रणी नेता बन कर अपने (**क्रत्वा**)[२] कर्म वा बुद्धि से (**अमृतान्**) अमर आत्माओं को शोक सागर के (**अतारीत्**) पार ले जाता है। इस प्रकार वेदों में गुरुकुलीन शिक्षक का महत्त्व बताया गया है, जैसे कि पहले सदाचार निर्माण–शिक्षा का मुख्य ध्येय इस प्रकरण में बताया जा चुका है। गुरुकुलों में आचार्य केवल पुस्तकीय ज्ञान देने वाले नहीं अपितु सदाचार के ग्रहण कराने वाले होते हैं। वे स्वयं ब्रह्मचर्य का उत्तम रीति से पालन करके अपने शिष्यों को भी ब्रह्मचारी बनाना चाहते हैं और इसके लिए दिन–रात प्रयत्नशील होते हैं।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः॥ (अ० ११।५।१६)

ये आचार्य तथा गुरुजन विद्यार्थियों के सच्चे मार्गदर्शक होते हैं। ऋ० १०।३२।७ में इसके सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मन्त्र आया है जो निम्न प्रकार है–

अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम्॥

(ऋ० १०।३२।७)

इस मन्त्र में बताया गया है कि जो किसी क्षेत्र[३]–भूमि, स्थान वा विद्याक्षेत्र (विषय) को जानने वाला नहीं है, वह उस भूमि, स्थान के विषय को जानने वाले से (**हि अप्राट्**) निश्चय से प्रश्न करता है। (**सः**) वह क्षेत्रविद् उस भूमि वा विषय को जानने वाले के द्वारा (**अनुशिष्टः**) अनुकूलता से शिक्षित होकर तथा उसके अनुकूल नियमबद्ध होकर (**प्र एति**) आगे–आगे बढ़ता है–उन्नत होता है। (**अनुशासनस्य एतत् वै भद्रम्**) शिक्षा वा अनुशासन का यही निश्चय

---

१. योनिरिति गृहनाम (निघ० ३।४)
२. क्रतुरिति कर्म नाम (निघ० २।१) क्रतुरिति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९)
३. क्षेत्र शब्द का अर्थ खेत वा भूमि प्रसिद्ध ही है उसके अतिरिक्त भगवद्गीता अ० १३ में शरीर के अर्थ में भी क्षेत्र शब्द का प्रयोग किया गया है—इदं शरीरं कौन्तेय, क्षेत्रमित्यभिधीयते। (गीता १३।१) विद्या क्षेत्र वा विषय के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है।

से सुख वा कल्याण है (**उत**) और अनुशासन के द्वारा वह शिष्य (**अञ्जसीनां स्त्रुतिं विन्दति**) अभीष्ट शुभ कामना[१] को प्राप्त कराने वाले मार्ग को प्राप्त कर लेता है।

यह मन्त्र शिक्षा–विज्ञान की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार किसी स्थान विशेष को न जानने वाला उसके विषय में जानने वाले से पूछता और अभीष्ट स्थान को सुगमता से प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार जिज्ञासु गुरुजनों की सहायता से अभीष्ट ज्ञान को प्राप्त करके सुखी होता है। उपमा के द्वारा जो बात यहां निर्दिष्ट है वह यह है कि गुरुओं का कार्य मार्गप्रदर्शन है न कि केवल शुक पाठ कराना अथवा पुस्तकीय ज्ञान मात्र देना। शिक्षा–विज्ञान के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को ऋग्वेद में इन शब्दों द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

क्षेत्रविद्धि दिश आहा वि पृच्छते ॥

(**क्षेत्रवित्**) भूमि वा ज्ञानक्षेत्र को जानने वाला किसी विषय का विशेषज्ञ (**वि पृच्छते**) विशेष रूप से प्रश्न करने वाले जिज्ञासु को (**हि दिशः आह**) निश्चय पूर्वक दिशा बता देता है—उसका मार्ग प्रदर्शन कर देता है। वर्तमान शिक्षा विज्ञान में भी इस उपर्युक्त सिद्धान्त को भलीभाँति माना जाता है जिसका वेदों में इतने स्पष्ट शब्दों में उत्तमता से निर्देश किया गया है। ये शिक्षक कैसे होने चाहिये जो शिष्यों का मार्गप्रदर्शन उत्तमता से कर सकें? इस बात को भी वेदों में स्थान–स्थान पर अच्छी तरह बताया गया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद ४।२।१२ में कहा है कि :

कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः ॥

अर्थात् (**अदब्ध**) किसी से न दबनेवाले व हिंसित न होनेवाले दृढ़निश्चयी तेजस्वी (**कवयः**) क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी ही कवि को—सूक्ष्म बुद्धि वाले शिष्य को उत्तम शिक्षा देते हैं। वे (**दुर्यासु**) बुरी अवस्थाओं में अथवा आपत्तियों में (**आयोः**) मनुष्य को (**निधारयन्तः**) अच्छी प्रकार से धारण करते हुए—आपत्तियों तथा बुराइयों से बचने का उपाय बताते हुए ऐसी उत्तम शिक्षा देते हैं। इस मन्त्र में बताया गया है कि अपने शिष्यों की सब बुराइयों और आपत्तियों से रक्षा करना तथा उन्हें उत्तम शिक्षा देना, यह कार्य किसी से न दबने वाले कवि अथवा क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी ही कर सकते हैं।

---

१. अञ्जू—व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु, यहाँ कान्ति वा कामनावाले अर्थ का ग्रहण किया गया है।

ऋग्वेद ३।८।४ का निम्न मन्त्र भी शिक्षकों के गुणों के विषय में अत्यन्त मननीय है–

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥

(ऋ० ३।८।४)

अर्थात् उत्तम वस्त्रधारी यज्ञोपवीत युक्त युवा ब्रह्मचारी आता है। आचार्य कुल में उपनयन वेदारम्भ संस्कार द्वारा द्वितीय जन्म ग्रहण करता हुआ अत्यन्त उत्तम बनता है। किस प्रकार के शिक्षक उसे उन्नत करते हैं इस विषय में मन्त्र में बताया गया है कि **(धीरासः)** धैर्ययुक्त अथवा ध्यानी[१] **(कवयः)** क्रान्तदर्शी- तत्त्वज्ञानी **(स्वाध्यः)** उत्तम बुद्धि और कर्म करने वाले **(मनसा देवयन्तः)** मन से देवसत्यनिष्ठ[२] निष्पाप विद्वान् बनाने की इच्छा रखने वाले गुरुजन **(तम् उन्नयन्ति)** उसको उन्नत करते हैं–उसे प्रत्येक प्रकार से विकसित करते हैं।

जब ऐसे धैर्यशाली, ध्यानी, उत्तम बुद्धि और कर्म वाले, मनसे अपने और शिष्यों को सत्यनिष्ठ, निष्पाप विद्वान् बनाने की इच्छा दिन-रात रखने वाले तत्त्वज्ञानी कवि शिक्षक होंगे, तो विद्यार्थियों के सब प्रकार से उन्नतिपथ में अग्रसर होने में सन्देह क्या हो सकता है? धन्य हैं वे विद्यार्थी जिन्हें ऐसे आदर्श गुरुजनों के चरणों में बैठ कर विद्याभ्यास प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। आजकल के युग में ऐसे शिक्षक कितने दुर्लभ हैं। सब शिक्षकों को चाहिये कि वेदोक्त इन शिक्षक गुणों को अपने अन्दर धारण करने का दिन-रात प्रयत्न करते रहें। शिक्षक कैसे होने चाहिये इस विषय में ऋग्वेद ४।५।३ का निम्न मन्त्र भी विशेष रूप से मनन करने योग्य है—

साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्त्ररेता वृषभस्तुविष्मान्।
पदं न गोरपगूळ्हं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचमनीषाम्॥

(ऋ० ४।५।३)

अर्थात् **(द्विबर्हाः)** दो में–विद्या और विनय में बढ़ा हुआ **(तिग्मभृष्टिः)** तीव्र परिपाकवाला अनुभवी **(सहस्त्ररेताः)** अत्यन्त पराक्रमी वीर्यधारी **(वृषभः)** श्रेष्ठ, सुख वर्षक **(तुविष्मान्)** बलवान् **(अग्निः)** अग्रणी नेता **(विविद्वान्)** उत्तम विद्वान् **(मह्यम्)** मुझे **(गौः)** गौ के–इन्द्रिय, वाणी, पृथिवी और ज्ञान के **(अपगूढम्)**

---

१. धीराः–ध्यानवन्तः (निरुक्त)
२. विद्वांसो हि देवाः (शत० ३।७।३।१०) सत्यसंहिता वै देवाः (ऐतरेय १।६) अपहतपाप्मानो देवाः (श० २।१।३।४)।

अत्यन्त गुप्त (**पदम्**) पद की ठिकाने की (**न**) भाँति (**महि साम**) बड़े भारी सिद्धान्त अथवा सान्त्वना का (**उ**) तथा (**मनीषाम्**) बुद्धि का (**प्र वोचत्**) श्रेष्ठता से उपदेश करे।

इस मन्त्र में गुरु के सम्बन्ध में निम्न बातें बताई गई हैं—

(१) **द्विबर्हाः**—विद्या तथा विनय दोनों में उसे बड़ा होना चाहिये। बृह=वृद्धौ गुरु भरपूर ज्ञानी चाहिये। उसमें विद्या के साथ विनय भी होनी चाहिये। सच्ची विद्या वही है, जो विनय देती है—मनुष्य को नम्र बनाती है जैसे कि नीतिशास्त्रकारों ने भी कहा है : **"विद्या ददाति विनयम्"** (पञ्चतन्त्र)

(२) **तिग्मभृष्टिः**—तीव्र परिपाकवाला, भ्रस्ज=पाके जिसका अनुभव परिपक्व है—कच्चा नहीं, जो दूसरों का भी तीव्र परिपाक कर सकता हो—उन्हें अनुभवी बना सकता हो।

(३) **सहस्रेताः**—अपरिमित वीर्य सम्पन्न, अत्यधिक सामर्थ्यवान् जो शिष्य के सारे अज्ञान को दूर करके उनमें ज्ञान का आधान कर सकता है। जिसमें अनन्त वीर्य हो अर्थात् जिसने ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन किया हो। इसी के भाव को लेकर महर्षि वेदव्यास ने योगदर्शन (२।३८) **"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।"** के भाष्य में लिखा है—"सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवति" अर्थात् ब्रह्मचर्य में सिद्ध मनुष्य शिष्यों में ज्ञान डाल सकने में समर्थ हो जाता है।

(४) **अपगूढं विविद्वान्**—जो अत्यन्त गुप्त ज्ञान को भी विशेष रूप से जानता हो। जो रहस्यवेत्ता हो। गुरु को केवल विद्वान् न कहकर यहाँ जो विविद्वान् कहा है उसका प्रयोजन यह है कि गुरु विशेषज्ञ हो।

(५) **तुविष्मान्**—बलवान् अर्थात् गुरु को शरीर बल से भी सम्पन्न होना चाहिये। जब शिक्षा का उद्देश्य शिष्यों की शारीरिक, वाचिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, सब शक्तियों को विकसित करना है तो गुरुओं को भी सब प्रकार से उन्नत होना चाहिये। ऐसा गुरु जो ज्ञान देता है वह साम[1]—सान्त्वना शान्ति देनेवाला होता है।

वेदों में बताये गये शिक्षकों के ये गुण कितने उत्तम हैं? सचमुच ऐसे उत्तम गुण सम्पन्न विद्वान् ही सच्ची शिक्षा देने के अधिकारी होते हैं।

ऋग्वेद ५।२।८ में शिक्षकों के लिए इन उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त व्रतपालक होना भी आवश्यक बताया गया है। इस निम्नलिखित

१. साम—सान्त्वप्रयोगे सामशब्द को उणादिकोष में षो=अन्तकर्मणि इस धातु से भी बनाया गया है, अतः उसका सिद्धान्तपरक अर्थ भी होता है।

मन्त्र में कहा है कि–

हृणीयमानो अप हि मदैयेः प्र मे देवानां व्रतपा उवाच।
इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम्॥

(ऋ० ५।२।८)

जो देवों–सत्यनिष्ठ निष्पाप विद्वानों के सत्य परोपकारादि व्रतों का धारण करने वाला है, वही हमें उत्तम उपदेश दे सकता है। वह क्रोधादि समस्त विकारों को दूर कर सकता है। ज्ञानैश्वर्य सम्पन्न विद्वान् ही हमें अनुकूलता पूर्वक–शिष्य की प्रवृत्ति और योग्यता के अनुकूल शिक्षा दे। उस विद्वान् से अनुशासन पूर्वक शिक्षा को ग्रहण कर हम कार्यक्षेत्र में आएँ।

इस प्रकार के उत्तम दिव्यगुणों से सम्पन्न गुरु और आचार्य शिष्यों को अपने पुत्रवत् समझते हैं। वे न केवल शिष्यों के लिए पितृतुल्य होते हैं, अपितु मातृवत् भी जैसा कि पहले हम ने.....

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्त्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥

(य० २।३३)

इस मन्त्र को उद्धृत करते हुए बताया है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त (११।५।३) का निम्न मन्त्र भी इस दृष्टि से विशेष मननीय है–

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

यहाँ आचार्य के विषय में कहा है कि वह ब्रह्मचारी का उपनयन–संस्कार करता हुआ उसे अपने कुल में इतने प्रेम से रखता है जैसे माता गर्भ को अपने उदर में रखती है। तीन रात्रि पर्यन्त उदर में रखने का तात्पर्य आलंकारिक रूप में ब्रह्म, जीव और प्रकृति विषयक अज्ञान की निवृत्ति पर्यन्त समय से प्रतीत होता है। जब वह गुरुकुल में समस्त विद्या का अध्ययन कर चुका होता है और स्नातक रूप में प्रादुर्भूत होता है तो अन्य सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग उसे देखने के लिए आते हैं। यहाँ उदरे, गर्भमन्तः कृणुते इत्यादि शब्दों द्वारा वेदों में यह ध्वनित किया गया है कि आचार्य को शिष्यों के लिए स्नेहमयी माता के समान भी होना चाहिये, केवल अनुशासन–प्रिय पिता के ही तुल्य नहीं। यद्यपि वह भी शिष्यों के हित के लिए आवश्यक है। प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का तप से पुनरुद्धार करने वाले हमारे श्रद्धेय आचार्यवर अमर धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने अपने जीवन में इस अद्भुत वैदिक आदर्श को क्रियात्मक रूप देने का दिन–रात

प्रयत्न किया था और उस में उनको अद्‌भुत सफलता मिली थी, ऐसा हम उनके शिष्य निस्संकोच कह सकते हैं।

अश्विनौ देवता के जो सूक्त वेदों में आये हैं उनमें भी अध्यापकों और उपदेशकों के कर्तव्यों का बड़ी उत्तमता से प्रतिपादन पाया जाता है यद्यपि ''अश्विनौ'' का प्रयोग निरुक्त के अनुसार ''द्यावापृथिव्यौ'' सूर्याचन्द्रमसौ, अहोरात्रे, भिषजो इत्यादि के लिए भी होता है।

अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा। (य० १४।३) में

यह चार मन्त्रों के अन्त में आता है। इसके आधार पर ''अश्विनावध्वर्यू'' यह वाक्य ऐतरेय ब्राह्मण १।१८ शत० १।१।२।१७ गोपथ ब्राह्मण उ० २।१ और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।२।२।१ में पाया जाता है। अध्वर्यु शब्द की निरुक्ति श्री यास्काचार्य ने निरुक्त नैगमकाण्ड १।१३ में :

अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयत इति वा और अध्वर की अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिहिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः इस रूप में की है।

इन व्युत्पत्तियों के अनुसार हिंसा रहित शुभ कार्यों को अध्वर कहते हैं और ऐसे अध्वरों की व्यवस्था करने वाले, उनके नेता या उनकी कामना करने वालों को अध्वर्यु कहते हैं। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ आदि पांच महायज्ञों की अध्वरों (यज्ञों) में गणना सर्वसम्मत है। ब्रह्मयज्ञ से तात्पर्य सन्ध्या और अध्ययन अध्यापन से है। मनुस्मृति ३।७० में ब्रह्मयज्ञ की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है—अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम्॥ शतपथ ब्राह्मण ११।५।६।२ में लिखा है—स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः।

इन वचनों से यह सर्वथा स्पष्ट है कि इस अध्ययन अध्यापन रूप यज्ञ के नेता और उसकी नित्य कामना करनेवाले होने से अध्यापकोपदेशक अध्वर्यु कहलाते हैं जिनके लिए ''अश्विनौ'' शब्द का प्रयोग वेदों के अनेक सूक्तों में आया है। इन ''अश्विनौ'' को सम्बोधन करते हुए कहा गया है—

विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेदविद्वान् इत्थापरो अचेताः।
ता विद्वांसा हवामहे वां ता नो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य॥

(ऋ० १।१२०।२-३)

अर्थात् अविद्वान् ज्ञान रहित मनुष्य विद्वान् अश्वियों से सत्य भाव से जिज्ञासु बन कर प्रश्न करता है : हे विद्वान् अश्वियो! आप विद्वानों को हम निमन्त्रित करते हैं। आप हमें आज (मन्म वोचेतम्) ज्ञान का

उपदेश करें। इस प्रकार "अश्विनौ" के वेदों के अनेक सूक्तों में अध्यापकोपदेशक परक होने में अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहता यद्यपि उनके अन्य भी अनेक अर्थ होते हैं।

ऋ० १।१५७।४ में अश्वियों को सम्बोधित करते हुए यह प्रार्थना की गई है कि–

आ नु ऊर्जं वहतमश्विना युवं मधुमत्या नः कशया मिमिक्षतम्।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा॥

(ऋ० १।१५७।४)

अर्थात् हे अध्यापन यज्ञ के नेता विद्वानो! आप हमें **(ऊर्जम् आ वहतम्)** पराक्रम को प्राप्त करायें ऐसा बोध हमें दें जिससे हम पराक्रमी बनें। आप **(नः)** हमें **(मधुमत्या कशया)** मीठी मानो शहद से भरी हुई चाबुक से **(मिमिक्षतम्)** सिञ्चित करें अर्थात् आवश्यकतानुसार हमें दण्ड भी दें तो वह प्रेम के साथ हमारे कल्याणार्थ हो, उसके अन्दर अधिक कठोरता न हो। आप हमारी **(आयुः प्रतारिष्टम्)** आयु को बढ़ावे–हमें आयु वृद्धि के साधन बताएँ जिससे हम दीर्घ आयु को प्राप्त हों। आप **(रपांसि मृक्षतम्)** हमारे पापों को नष्ट करो **(द्वेषः सेधतम्)** द्वेष की भावना को हम से दूर करो और हमें **(सचा भुवा भवतम्)** मिलाने वाले बनाओ।

इस मन्त्र में अध्यापकों और उपदेशकों के कर्त्तव्यों का बड़ी उत्तमता से प्रार्थनारूप में प्रतिपादन किया गया है। अध्यापकों का कर्तव्य है कि वे अपने शिष्यों को पराक्रमी बनाएँ। यदि दण्ड देने की आवश्यकता पड़े तो यह उनकी कशा–चाबुक भी कठोरतापूर्ण नहीं होनी चाहिए, किन्तु स्नेह–रस से सिञ्चित होनी चाहिए। इसके द्वारा कठोर दण्ड देने का शिक्षकों के लिए निषेध सूचित किया गया है। शिष्यों की व्यायामादि शिक्षण द्वारा आयु बढ़ाना, उन्हें निष्पाप और पवित्र बनाना, द्वेष भावना को दूर करके उन्हें परस्पर प्रेमयुक्त करना, ये सब उत्तम शिक्षकों के कर्तव्य बताये गये हैं। गुरुकुलों में इन गुणों से सम्पन्न शिक्षक होने चाहिए, तभी विद्यार्थियों की सब शक्तियों का समविकास हो सकता है। ऋग्वेद १०।३९।२ में अश्विनौ (अध्यापकोपदेशकौ) को सम्बोधित करते हुए प्रार्थना की गई है कि–

चोदयतं सूनृताः पिन्वतं धिय उत्पुरन्धीरीरयतं तदुश्मसि।

(ऋ० १०।३९।२)

अर्थात् **(सूनृताः चोदयतम्)** आप सत्य और मधुर वाणियों को प्रेरित करो। ऐसी हमें शिक्षा दो जिससे हमारी वाणी सत्य और प्रिय

वचनों का ही प्रयोग करने वाली हो। आप हमारी **(धियः पिन्वतम्)** बुद्धियों को तृप्त करो। हमारी बुद्धियाँ ज्ञान से भरपूर और पवित्र हो जाएँ। **(उत)** और केवल पुरुषों को ही नहीं **(पुरन्धीः रीरयतम्)** बहुत कर्म करने वाली बुद्धिमती महिलाओं को भी आप सत्कर्मों में निरन्तर प्रेरित करो। **(तत् उश्मसि)** हम इस सत्य और प्रिय वाणी, शुद्ध ज्ञानपूर्ण बुद्धि और ज्ञान सम्पन्न कर्मशीला महिलाओं की कामना करते हैं।।

अध्यापकोपदेशकों अथवा अध्यापिकोपदेशिकाओं का शिष्यों और शिष्याओं के साथ सम्बन्ध वैसा ही होना चाहिये जैसे माता-पिता का पुत्र-पुत्रियों के साथ अत्यन्त प्रेमपूर्ण होता है। इस बात को ऋग्वेद १०।३९।६ के द्वारा पुनः स्पष्ट किया गया है जहां कहा गया है कि-

इयं वामह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्॥

(ऋ० १०।३९।६)

यह मैं **(घोषा)** वेद घोष करनेवाली आप को पुकार रही हूं। आप **(मे शृणुतम्)** मेरी प्रार्थना को सुनें। जिस प्रकार **(पितरा पुत्राय इव)** माता-पिता पुत्र को शिक्षा देते हैं उसी प्रकार **(मह्यं शिक्षतम्)** आप मुझ पुत्री को भी शिक्षा दें। घोषा-ऋषिका।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि जैसे बालकों को शिक्षा दी जाती है, वैसे स्त्रियों को भी देनी चाहिये तथा अध्यापक अध्यापिकाओं को शिष्य-शिष्याओं को ऐसे प्रेम से शिक्षा देनी चाहिये जैसे माता-पिता अपनी सन्तानों को देते हैं। इस प्रकार वेदोक्त शिक्षाप्रणाली के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग पर प्रकाश पड़ता है कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध किस प्रकार का होना चाहिये।

ऋग्वेद १०।१०६।४ में भी इस विषय का उत्तम प्रतिपादन....... **'आपी वो अस्मे पितरेव पुत्रा'**-इन शब्दों द्वारा किया गया है जिनमें (अश्विनौ)-अध्यापकोपदेशकों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि **(वः)** आप **(अस्मे)** हमारे लिए **(आपी)** सच्चे सुखदायक बन्धु हैं और आप **(पितरा इव पुत्रा)** पुत्रों के लिए माता-पिता के तुल्य हमारे साथ स्नेह करने वाले हैं। ऋग्वेद ८।२६।१२ में 'अश्विनौ' अर्थात् पूर्व प्रमाणानुसार अध्यापकोपदेशकों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है-

अहरहर्वृषणा मह्यं शिक्षतम्॥ (ऋ० ८।२६।१२)

आप **(वृषणा)** सुख शान्ति के वर्षक होकर **(अहरहः)** प्रतिदिन **(मह्यम्)** मुझ शिष्य को **(शिक्षतम्)** शिक्षा दो। 'अश्विनौ' के लिए

यह 'वृषणा' विशेषण बहुत मन्त्रों में आया है जिसका तात्पर्य है कि अध्यापकों को सुख-शान्ति वर्षक होना चाहिये।

इस प्रकार हमने वेद मन्त्रों के आधार पर वेदोक्त गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के कुछ मुख्य अंशों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है जिनसे सब शिक्षा-शास्त्रियों को लाभ उठाना चाहिये और वर्तमान दूषित शिक्षा प्रणाली में आवश्यक परिवर्तन कर लेने चाहियें।

अब हम वेदोक्त गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में देश-विदेश के अनेक शिक्षा विशेषज्ञों के विचार तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। किन्तु ऐसा करने से पूर्व, शिक्षा के आदर्श स्थान विषयक वेद की शिक्षा का निर्देश करना भी हमें उचित प्रतीत होता है। ऋग्वेद मण्डल ८ सूक्त ६ मन्त्र २८ तथा यजुर्वेद अ० २६ म० १५ में बताया गया है कि-

उपह्वरे गिरीणां संगथे (सङ्गमे) च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत ॥

(ऋ० ८।६।२८, य० २६।१५)

इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि (गिरीणाम् उपह्वरे) पर्वतों की उपत्यका में (नदीनां च सङ्गथे अथवा सङ्गमे) नदियों के संगम में रहकर विद्याध्ययन करने और ध्यान से विद्यार्थी (धिया)[1] शुद्ध बुद्धि और कर्म के द्वारा (विप्रः अजायत) बड़ा[2] मेधावी बन जाता है। इस मन्त्र में स्पष्ट बताया गया है कि शिक्षा के लिए आदर्श स्थान वह हो सकता है और वहाँ विद्याध्ययन और ध्यान करके विद्यार्थी प्रतिभा सम्पन्न मेधावी बन सकते हैं, जहाँ पर्वतों की उपत्यका तथा नदियों का संगम हो अथवा उपलक्षण से अन्य प्राकृतिक दृश्यमय वातावरण में बुद्धि प्रतिभा और कविता शक्ति का विशेष रूप से विकास होता है।

गुरुकुल शिक्षाप्रणाली विषयक कुछ सुप्रसिद्ध विद्वानों के विचार जगद्विख्यात मनीषी और शिक्षाशास्त्री, भारत के भू०पू० महामान्य राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् जी ने १९५४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देते हुए कहा था-

"आपने इसे एक आश्रमिक विश्वविद्यालय बनाया है। आपने छात्रों के संख्यातिरेक को नापसन्द किया है। आप इस देश की पुरातन संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त करने में विश्वास रखते हैं। आपने मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया हुआ है। इन समस्त सिद्धान्तों

---

१. धिया=धीरति कर्मनाम (निघ० २।१) धीरिति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९)

२. विप्रः=विप्र इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५)

को आज के शिक्षातत्त्वज्ञ स्वीकार करना चाहते हैं। जब शिक्षकों का सम्मान नहीं होता और गुरुजनों की शिक्षाएं श्रद्धापूर्वक नहीं सुनी जातीं तो समझ लेना चाहिये कि देश का पतन समीप है। यदि गुरुजन अपना सम्मान चाहें तो उन्हें छात्रों के साथ सौहार्द स्थापित करना चाहिये। गुरु–शिष्य का यह सौहार्द और सान्निध्य सार्वजनिक प्रवचन करने मात्र से नहीं हो सकता। **सौहार्द और सम्मान की भावना के लिए गुरु–शिष्य का निकट सम्पर्क होना ही चाहिये।''**

भारत के उच्चतम न्यायालय के भू० न्यायमूर्ति स्व० श्री विजनकुमार मुखर्जी ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के ५२ वें वार्षिकोत्सव पर दीक्षान्त भाषण देते हुए १९५२ में कहा था कि–

''गुरुकुल शिक्षा पद्धति की मुख्य विशेषता जाति के बालकों के चरित्र–निर्माण करने की है। निस्सन्देह शिक्षा का प्रधान उद्देश्य चरित्र गठन है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल बौद्धिक शिक्षा अपर्याप्त है। हर्बर्ट स्पेन्सर का यह कथन उचित है कि ''हम मनुष्य को जो लाभ पहुँचाना चाहते हैं, वह उसे शिक्षा के माध्यम से पहुँचाना चाहिये क्योंकि शिक्षा बौद्धिक होने की अपेक्षा भावना प्रधान अधिक है।''

जीवन का वास्तविक लाभ तो तब मिलता है जब शिक्षा के प्रताप से हममें ऐसी मानसिक अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिससे हमारा आचार व्यवहार स्वाभाविक, स्वयंस्फूर्त और सहज हो जाता है। इस दृष्टि से गुरुकुल की शिक्षाविधि निस्सन्देह अत्युत्तम है। नागरिक जीवन के दूषित प्रभावों से दूर रहना, उदात्त विचार, पवित्र चरित्र वाले व्यक्तियों का सम्पर्क, श्रद्धा, समादर, स्नेह और भ्रातृप्रेम द्वारा मानव की नैतिक शक्तियों को सुदृढ़ करना, मन और चरित्र का ऊर्ध्वीकरण आदि शुभंकरी प्रवृत्तियों से ही सुसाध्य होता है।''

स्व० श्री अनन्तशयनम् आयंगार बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल ने १९६० में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देते हुए कहा था कि–

''यह मानने में किसी को भी आपत्ति न होगी कि चरित्रनिर्माण ही शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य है। चरित्र हीन बौद्धिक प्रतिभा का कोई मूल्य नहीं। समर्पण, समादर तथा भ्रातृप्रेम की भावनाओं का विकास करके ही मानव की आत्मा तथा चरित्र को उन्नत किया जा सकता है। गुरुकुल शिक्षा पद्धति इसी कारण वांछनीय है कि वह युवक विद्यार्थियों के चरित्र–निर्माण पर सर्वाधिक बल देती है। गुरुकुल विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के लिए चारित्रिक विकास के प्रभूत

अवसर हैं क्योंकि वह नगरों की उन शिक्षा संस्थाओं की भाँति नहीं जहाँ पर समाज का दूषित प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहती है।''

भारत के प्रथम राष्ट्रपति महामान्य स्व० डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर सन् १९५० में दिये अभिभाषण में कहा था कि :

''आप की विशेषता यह रही है कि आपने गुरुकुल की प्राचीन प्रथा को पुनर्जीवित किया। उस प्रथा का महत्त्व और विशेषता इसमें है कि गुरु और शिष्य का सम्बन्ध एक परिवार के लोगों जैसा हो जाता है। शिष्य गुरु को पिता तुल्य और गुरु शिष्य को पुत्रवत् मानने लगता है। इसका प्रभाव अध्ययन के अलावा चरित्र पर बहुत गहरा पड़ता है। आधुनिक प्रथा में यह भावना बिलकुल नहीं होती है और इसका नतीजा यह है कि आज हमारे विद्यालयों और शिक्षालयों में जो अध्यापक और आचार्य होते हैं उनका विद्यार्थियों के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क होने ही नहीं पाता। कॉलेजों का तो मैं कह सकता हूँ कि इतना ही सम्पर्क होता है जितना किसी आदमी का एक सार्वजनिक सभा में भाषण कर्त्ता से होता है। स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में अध्यापक के चरित्र का कोई विशेष प्रभाव विद्यार्थी पर नहीं पड़ सकता और दोनों के बीच गुरु शिष्य का सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता। इसलिए यदि विद्यार्थियों को अध्यापक समभाव में नहीं रख सकते और दोनों के बीच कई बातों में दो विरोधियों जैसा सम्बन्ध पैदा हो जाता है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। चरित्र-गठन में धार्मिक भावना और श्रद्धा बहुत असर डालती है।''

''आश्रम पद्धति के गुरुकुल विद्यार्थी को केवल सुदृढ़ तात्त्विक शिक्षा देते थे, उसे जीवन के आदर्श सिखाते थे। नवीन प्रयोग और अनुसन्धान में उसकी सक्रिय अभिरुचि उत्पन्न करते थे तथा साथ ही ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति एवं पाण्डित्य के उपार्जन की रचनात्मक प्रवृत्ति भी उत्पन्न करते थे। ये गुरुकुल इन सबके अतिरिक्त विद्यार्थी को सुदृढ़ शरीर, ईश्वर विश्वास, मानवता में आस्था, निर्भय एवं संयत जीवन, सेवा, साधना, क्षमा तथा क्रियाशीलता की प्रवृत्ति आदि साधनों से सुसज्जित कर संसार के प्रांगण में छोड़ देते थे।''

कतिपय पाश्चात्त्य शिक्षाशास्त्री गुरुकुल शिक्षा-समर्थक

(१) अमरीका के सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री थाइरन फेल्प्स (Thyron Phelps) ने तीन मास निरन्तर गुरुकुल कांगड़ी में निवास करने के पश्चात् एक लेखमाला पायोनियर नामक अंग्रेजी दैनिक में प्रकाशित कराई जिसमें उन्होंने गुरुकुल के विषय में लिखा

कि—

"I can not conceive of any institution which could make a stronger appeal to Hindu sentiment, regardless of all sectarian feeling. It brings back and makes living best period of Indian life. It reverences and realises the loftiest ideals of Hindu thought. It promises, indeed gives a trustworthy assurance of restoring to the people of India, their ancient virtues."

अर्थात् मुझे गुरुकुल से बढ़ कर कोई संस्था नहीं प्रतीत होती जो साम्प्रदायिक भावना का सर्वथा परित्याग करके हिन्दू मनोभावों को प्रबलरूप से प्रभावित कर सके। यह भारतीय जीवन के सर्वोत्तम युग का पुनरुद्धार करता और उसे क्रियात्मक रूप देता है। यह हिन्दू विचार का आदर करता और उसके सर्वोत्कृष्ट आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करता है। यह भारतीयों को अपने प्राचीन गुणों को पुनः प्राप्त कराने की न केवल प्रतिज्ञा करता है, अपितु विश्वसनीय आश्वासन देता है।

(२) रायल पब्लिक सर्विसेज कमीशन के प्रधान लार्ड इस्लिंसटन ने गुरुकुल कांगड़ी के निरीक्षण के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी को पत्र लिखा कि—

"The work done in the Gurukula interested me deeply and the inspirations which prompt that work elicit my admiration. The protracted life of discipline combined with a fine ascetie home environment, should introduce a lasting influence on boys here, which will enable them to carry out useful careers in the best interests of the country."

अर्थात् गुरुकुल में जो कार्य किया जा रहा है उसमें मेरी गम्भीर अभिरुचि है और जो दिव्योद्भूमि उस कार्य को प्रेरित कर रही है मैं उसकी प्रशंसा करता हूँ। सुन्दर तपस्यामय गृह तुल्य वातावरण से मिश्रित दीर्घकालीन अनुशासन का जीवन, यहां के बालकों पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ेगा जो उन्हें देश के सर्वोच्च हित में उपयोगी कार्य करने में समर्थ बनाएगा।

(३) लन्दन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स के भू० प्रिन्सिपल और अपने समय के ब्रिटिश ट्रेड यूनियन आन्दोलन के प्रख्यात नेता, श्री सिडनी वेब्, एम० पी० ने गुरुकुल को देखने के पश्चात् लिखा कि—

"The institution appears to be the most promising

experiment admirably carried out and one which ought to furnish suggestitions for the improvement of other schools and colleges."

यह संस्था (गुरुकुल) प्रशंसनीय रूप में किया जाता हुआ एक बड़ा आशाजनक परीक्षण है जो अन्य विद्यालयों और महाविद्यालयों की उन्नति तथा सुधार के लिए निर्देश देने में समर्थ हो सकेगा।

(४) इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की कॉमर्स फैकल्टी के डीन (अध्यक्ष) मि०सी०डी० थाम्सन ने गुरुकुल का निरीक्षण करने के पश्चात् लिखा–

"The Gurukula Kangri is justly one of the most famous educational institutions of India. I have been greatly impressed by the courtesy, broadmindedness and keenness of both professors and students."

अर्थात् गुरुकुल कांगड़ी उचित रूप में भारत की अत्यन्त प्रसिद्ध शिक्षण संस्थाओं में से एक है। मैं यहाँ के उपाध्यायों और छात्रों, दोनों के शिष्टाचार, विशाल-हृदयता और कार्य में उत्सुकता तथा तीव्रता से बहुत प्रभावित हुआ हूँ।

ऐसी ही सम्मतियाँ कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष सर माइकेल सैडलर, इंग्लैंड के भू०पू० प्रधानमंत्री श्री रैम्जे मैक्डौनल्ड, पेरिस विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० लुईरेनूम, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफेसर रौनल्ड स्मिथ, मौरोक्को के डॉ० जाक मार्केत् तथा अन्य बहुत से प्रसिद्ध पाश्चात्त्य विद्वानों ने प्रकट की जिससे वेदोक्त गुरुकुल शिक्षा-पद्धति का प्रबल समर्थन होता है।

(५) कलकत्ता विश्वविद्यालय के जापानी प्रोफेसर श्री किमूरा ने गुरुकुल विश्वविद्यालय में ७ दिन तक निवास के पश्चात् लिखा–१९१६ में जापान में लाला लाजपतराय को मिलने के बाद से गुरुकुल प्रवास में मैं यहाँ के विद्यार्थियों के सरल व्यवहार, उपाध्यायों की योग्यता तथा विद्वत्ता और संस्था की शिक्षा पद्धति से बहुत प्रभावित हुआ हूँ। मैं चाहता हूँ कि भविष्य में जापान के विद्यार्थी यहाँ आकर पुरातन भारतीय संस्कृति का अध्ययन करें।

इस प्रकार पौरस्त्य और पाश्चात्त्य अनेक निष्पक्ष विद्वानों द्वारा प्रशंसित वेदोक्त गुरुकुल शिक्षाप्रणाली ही सर्वोत्तम है, और उसके द्वारा ही शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है, यह स्पष्टतया तुलनात्मक दृष्टि से अनुशीलन करने पर ही ज्ञात होता है।

अध्याय-२

कुमार-कुमारियों और नवयुवक-नवयुवतियों की सहशिक्षा की समस्या

आजकल अधिकतर पाश्चात्त्य देशों के अनुकरण में हमारे देश में भी कुमार, कुमारियों और युवक युवतियों की सहशिक्षा प्रचलित है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह वांछनीय है? क्या इसके परिणाम अच्छे हैं या इससे अनैतिकता और अनुशासनहीनता की वृद्धि में सहायता मिलती है? इस विषय में वेदों की शिक्षा क्या है? देश-देशान्तर के मनीषियों की इसके विषय में क्या सम्मति है? इस अध्याय में हम सबसे पहले वेदों की एतद्विषयक शिक्षा पर विचार करेंगे।

वेदों के ध्यानपूर्वक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनमें बालकों और बालिकाओं- दोनों के लिए, ब्रह्मचर्य का विधान है। साथ ही उनमें पृथक्-पृथक् गुरुकुलों (जिन्हें देवकृतयोनि अथवा देवयजन तथा देवयजनी इत्यादि नामों से पुकारा गया है) का दोनों के लिए विधान वा निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ यजु० अ० ५ में प्रथम मन्त्र आया है—

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॒ सोम॑स्य त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे॒
त्वाऽति॑थेराति॒थ्यम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृते॒
विष्ण॑वे त्वा॒ऽग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे विष्ण॑वे त्वा॥

(यजु० ५।१)

इसका भाष्य परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी श्री भगवदाचार्य जी ने इस प्रकार किया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय है (यद्यपि वेद मन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैवत दृष्टि से अनेक अर्थ होने के कारण, इसके अन्य अर्थ भी हो सकते हैं।)

उन्होंने इसका भाष्य करते हुए लिखा है—

गुरुकुलमागतं ब्रह्मचारिणं स्वीकुर्वन्नाचार्यो ब्रूते—हे शिष्य त्वम् (अग्नेः) परमात्मनः (तनूः) विस्तारयिता प्रख्यापयिता (असि) अतस्त्वां (विष्णवे) सर्वव्यापकाय परमात्मने परमात्मप्रसादनायेत्यर्थः अङ्गीकरोमीति शेषः। किं च त्वं

(सोमस्य) जगदुत्पादकस्य सूयते चराचरमिति सोमः। षूञ् प्राणिगर्भविमोचने। औणादिको मप् प्रत्ययः। त्वं (तनूरसि) अङ्गमसि अतो विष्णवे त्वेति पूर्ववद् व्याख्येयम्। किं च त्वम् (अतिथेः) परमात्मनः अतसातत्यगमने अततिनिरन्तरं गच्छति सर्वं व्याप्नोतीति तात्पर्यम्। (आतिथ्यमसि) अकस्मात् प्राप्तिप्रयत्न-शीलोऽसि। विष्णवे त्वेति व्याख्यातम्। (श्येनाय) परमात्मने श्येनः शंसनीयं गच्छतीति निरुक्तम् (४।२४) यो हि शंसनीयः प्रशस्ताचारः सत्तं प्राप्नोती-त्यर्थः। (त्वा) (त्वाम्) (गृह्णामि) (सोमभृते) सोमः-शान्तः तं विभर्मतीति सोमभृत् तस्मै। यो हि शान्तेन्द्रियस्तं परमेश्वरः स्वच्छायायां स्थापयतीतिभावः। (अग्नये) सर्वगाय परमेश्वराय त्वां गृह्णामि (रायस्पोषदे) रायो ज्ञानधनस्य पोषः-पोषणम् तद् ददातीति रायस्पोषदाः तस्मै सर्वज्ञानदात्रे विष्णवे परमात्मने त्वा गृह्णामीति पूर्ववत्॥

भावार्थ—गुरुकुल में आये हुए ब्रह्मचारी को स्वीकार करते हुए आचार्य का यह वचन—हे शिष्य! तू परमात्मा का प्रचारक है। अतः सर्वव्यापक परमात्मा की प्रसन्नता सम्पादन के लिए मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। तू समस्त जगत् के उत्पादक परमेश्वर का अंग है अतः मैं परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए तेरा ग्रहण करता हूँ। किं च सर्वत्र निरन्तर व्याप्त परमेश्वर की प्राप्ति के लिए तू अकस्मात् प्रयत्नशील है, अतः परमेश्वर की प्रसन्नता के सम्पादन के लिए मैं तेरा अंगीकार करता हूँ। वह परमात्मा उसी को प्राप्त होता है जिसका आचरण पवित्र है। मैं उस शान्तेन्द्रिय को अपनी छाया में रखने वाले, ज्ञान धन के दाता, परमात्मा की प्रसन्नता के लिए, तेरा ग्रहण करता हूँ।

इसी पञ्चम अध्याय का चतुर्थ मन्त्र निम्न है—

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा।
स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳसदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा॥

(य० ५।४)

इसका पण्डित भगवदाचार्य कृत भाष्य निम्नलिखित है—

(अग्निः) गतिशीलो ब्रह्मचारी (अग्नौ) गुर्वाश्रमे उत्कर्षगमयतीत्यग्निः। अगि गतौ। (प्रविष्ट) ऋषीणाम् वेदानाम् (पुत्रः) पावयिता पूज् पवने अथवा पु=दुःखं तस्मात् त्रायत इति पुत्रः। वेदानां रक्षक इत्यर्थः। (अभिशस्तिपावा) अभिशस्तिर्दुःखम् तस्मात् पाति, पुनाति मोचयतीति वा स्वम् अन्यांश्चेत्यभिश-स्तिपावा स त्वं शिष्यः (स्योनः) सुखरूपः सन् (नः) अस्मान् मयाऽऽचार्येण सहितान् शिष्यान् (इह) आश्रमे (सु यज) सुखेन मोदय अत्र यजिर्दिव्यर्थः) दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु इति दिव्यर्थाः दिवेरर्थाः किं कुर्वत्? (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यस्तत्र विचारशीलेभ्यः (सदम्) सर्वदा (हव्यम्) होतव्यं हृदयं प्रतीति शेषः। (अप्रयुच्छन्) अप्रमाद्यन्

युच्छ–प्रमादे (स्वाहा) सु आहेत्यादि बहुशो व्याख्यातम्।

भावार्थ–आचार्य अपने शिष्य से कहते हैं कि तू ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा के साथ इस आश्रम में प्रविष्ट हुआ है। तू वेदों का रक्षक है और बनेगा। सबके आध्यात्मिक दुःखों का नाश करेगा। तू इस आश्रम में अन्य ब्रह्मचारियों के साथ सुख से निवास कर। आश्रम के विद्वानों के प्रति अपने हृदय में प्रमाद न करता हुआ अर्थात् उन्हें मान देता हुआ और अपने हृदय को शुद्ध और उदात्त बनाता हुआ, उन्नत बन। इस प्रकार अनेक मन्त्रों में जहाँ बालकों के गुरुकुलों का विधान है और आचार्य तथा शिष्य के कर्तव्यों का निरूपण किया गया है, वहाँ कन्या गुरुकुलों का भी वेदमन्त्रों में स्पष्ट निर्देश है। उदाहरणार्थ चतुर्थ अध्याय के निम्न दो वेदमन्त्रों को हम पण्डितराज जी के भाष्य सहित प्रस्तुत करते हैं–

अनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पि॒ताऽनु॒ भ्रा॒ता सग॒र्भ्योऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः।
सा दे॑वि दे॒वमच्छे॒हीन्द्रा॑य॒ सोम॑ꣳरु॒द्रस्त्वाव॑र्त्तयतु स्व॒स्ति सोम॑सखा॒ पुन॒रेहि॑॥

(य० ४।२०)

श्रीभगवदाचार्यभाष्यम्—ब्रह्मचर्यव्रतपालनेच्छया गुरुकुलं प्रतिष्ठमानां ब्रह्मचारिणीं प्रत्याह सम्बन्धी कश्चित् (त्वा) त्वाम् (माता अनुमन्यताम्) (पिता अनुमन्यताम्) (सगर्भ्यः भ्राता) सहोदरो भ्रातानुमन्यतां (सयूथ्यः) सवर्गीयः सखापि (अनुमन्यताम्) किमर्थमद्य आचार्यकुलं प्रति गमनाय। हे (देवि) स्तुत्ये ब्रह्मचारिणि! सा त्वं (सोमम्) शान्तं (देवम्) आचार्यम् (अच्छा) प्राप्तुम् अच्छभिराप्तुमिति शाकपूणिरिति निरुक्तम् (५।२८) (इहि) गच्छ (रुद्रः) अज्ञानस्य रोदयिता नाशयिता आचार्यः (इन्द्राय) ज्ञानेश्वर्याय ज्ञानैश्वर्यमवाप्नुवति भावः। (त्वा) त्वां ब्रह्मचारिणीम् (आवर्तयतु) सम्यगध्यापयतु (स्वस्ति) तव कल्याणमस्तु। (सोमसखा) सोमः–शान्तिः सखा–सहयायिनी यस्याः सा त्वं (पुनः) गुरुकुलकालं समाप्य (आ इहि) आगच्छ गृहमिति भावः ।।

भावार्थ–कोई कन्या ब्रह्मचर्चाश्रम में प्रवेश करने की इच्छा से गुरुकुल में जा रही है। उसके प्रति किसी का यह वचन है। माता–पिता, भाई, सखी आदि सभी लोग गुरुकुल में जाने के लिये तुम्हें अनुमति दें। तू आचार्यादि के पास जा। अज्ञान नाशक आचार्यादि ज्ञानरूप ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये तुझे वेदादिशास्त्र पढ़ावें। तेरा कल्याण हो। गुरुकुल का समय बिता कर तू शान्ति के साथ यहां आना। इसका अगला मन्त्र भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण इस प्रकरण में

उल्लेखनीय है—

वस्व्यस्यादितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके॥

(य० ४।२१)

गुरुकुलमुपगतां ब्रह्मचारिणीमाहाचार्य—त्वं (वस्वी असि) वस्ते-आच्छादयत्यज्ञानं दूरीकरोतीति वा सा वसुः। सद् स्वस्तिहिन्नप्यसि वसि—(उणा० १।१) इत्युः प्रत्ययः। छन्दसीवनिपौ च (पा० ५।२।१२२ वा) इतीकारः। (अदितिः) अदीनासि (आदित्यासि) तत्त्वस्यादानसमर्थासि। आङ् पूर्वकाद् ददातेः (उणा० ४।१२२) यत्प्रत्ययः औणादिकः। अध्यादिषु तत्पाठस्य कल्पनात्। दशपाद्यां तु (८।१४) इति द्रष्टव्यम्। (रुद्रासि) ज्ञानादीनां स्तोत्र्यसि रुद्र इति स्तोतृनाम (निघ० ३।१६।१२) रौतेः क्विप्। मत्वर्थीयो रः। (चन्द्रासि) बुद्धिवैभवेनाह्लादिकासि (बृहस्पतिः) बृहतां विदुषां वेदानां वा ज्ञानस्य पती रक्षको महाचार्यः (त्वा) त्वाम् (सुम्ने) सुखे। सुम्नमिति सुखनाम (निघ० ३।६।१६) शोभनेन कर्मणा निमीयत इति। रास्ना सास्ना सुम्न इत्यादि भोजसूत्रेण (२।२।१८४) निपातितम्। (रम्णातु) रमयतु विकरणप्रत्ययः। (रुद्रः) अध्यापकः खण् तत् शब्दस्तत्प्रयुक्तं ज्ञानमिहार्थः। तद् रातीति रुद्रो गुरुराचार्य (वसुभिः) अन्याभिर्ब्रह्मचारिणीभिः सह त्वां पाठयितुं विनेतुं वा वसन्ति विपयेति वसवो ब्रह्मचारिण्यः शृस्वृस्निहित्र्यप्यसि वसि (उ० १।१०) इत्युः प्रत्ययः। (आचके) कामयताम्। आचके इति कान्तिकर्मसु पठितम् (निघ० २।६।११) ॥

भावार्थ—गुरुकुल में आई हुई ब्रह्मचारिणी के लिये यह आचार्य वचन है—तू अज्ञान को दूर करने और ज्ञान को प्राप्त करने के लिये आई है। तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने की तेरी इच्छा है। ज्ञान की तू प्रशंसिका है। तेरी बुद्धि उत्तम है। इस आश्रम के महान् आचार्य तुझे सुख शान्ति में रखें। गुरु तुझे अन्य ब्रह्मचारिणियों के साथ पढ़ाने की इच्छा करें। ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।। (अथर्व० ११।६।१८)

इस अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है कि कन्या ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करती हुई [कन्या ब्रह्मचर्यं चरन्तीति सायणाचार्योऽपि] उसके द्वारा युवक उत्तम पति को प्राप्त करती है। इसमें भी कन्याओं के पृथक् गुरुकुलों में निवास करके ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदाध्ययनादि की ध्वनि है।

इस प्रकार वेदों के अनुसार बालकों और बालिकाओं के लिये पृथक् गुरुकुल होने चाहिये और यतः वैदिक शिक्षा का आधार ही

ब्रह्मचर्य पर है अतः सहशिक्षा वेदानुकूल नहीं हो सकती। जब कुमार–कुमारी साथ–साथ पढ़ेंगे और क्रीड़ादि करेंगे तो 'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्' (सुश्रुतसंहिता) इत्यादि रूप मैथुनाङ्गों से बचना और अतएव ब्रह्मचर्य के व्रत का पूर्णतया पालन उनके लिये असम्भव हो जायगा।

सहशिक्षा की वर्तमान प्रथा और उनके दुष्परिणाम

पाश्चात्त्य देशों में कुमार–कुमारियों और युवक–युवतियों की सहशिक्षा अत्यधिक प्रचलित है और उसी का अनुकरण करते हुए हमारे देश में भी इसका पर्याप्त प्रचार हो गया है, किन्तु इसके परिणाम अच्छे नहीं हैं। इसके कारण ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव नहीं होता है और अनैतिकता, कामुकता और अनुशासनहीनता की वृद्धि हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक पाश्चात्त्य शिक्षाशास्त्री मनीषी भी इस सहशिक्षा को वाञ्छनीय नहीं समझते और इस दिशा में विचार कर रहे हैं कि कुमार–कुमारियों और युवक–युवतियों की शिक्षा को पृथक्–पृथक् देना ही अच्छा होगा।

Encycolopedia Britannica के १४वें संस्करण में सहशिक्षा Co-education पर जो लेख प्रकाशित हुआ है उसमें इन दोनों विचारधाराओं का निर्देश करते हुए स्पष्ट लिखा है कि पाश्चात्त्य शिक्षाशास्त्री इस विषय में निश्चित परिणाम पर अभी नहीं पहुँच सके। अंग्रेजी विश्वकोष के शब्द वे हैं :–

"Definite conclusions are not yet reached as to the best methods– Co-education or segreation. With the development of mental hygiene and psychology, some educationists are again calculating whether it might not be advisable to separate the sexes, at least during a few years of adolescent life, especially as there seems to be a natural segregation in some fields because of the increase of vocational and professional courses adapted to the different sexes."

(Encyclopedia Britannica 14th Edition 'Co-education'.)

अर्थात् सहशिक्षा और पृथक् शिक्षा इनमें से कौन सा प्रकार अच्छा है इस विषय में निश्चित परिणाम पर अभी विद्वान् नहीं पहुँचे। मानसिक आरोग्य विज्ञान और मनोविज्ञान के विकास के साथ–साथ कई शिक्षक पुनः विचार कर रहे हैं कि बालक– बालिकाओं या पुरुष स्त्रियों को शिक्षा के विषय में अलग–अलग करना क्या वाञ्छनीय न होगा? कम से कम युवावस्था के कुछ वर्षों में, विशेषकर जब कि

कई क्षेत्रों में स्त्रियों और पुरुषों के लिये अधिक अनुकुल व्यवसायों और धन्धों के पाठ्यक्रम के कारण स्वाभाविक पृथक्ता प्रतीत होती है।

यदि नैतिकता के विचार को कुछ समय के लिये छोड़ दिया जाए तो भी यदि स्त्रीशिक्षा का मुख्य उद्देश्य सद्गृहिणियाँ और सन्माताएँ बनाना हो तो कन्याओं को बालकों से पृथक् विशेष प्रकार के अनेक विषयों की शिक्षा देनी अनिवार्य होगी जिनका वर्णन इस स्त्रीशिक्षा के वैदिक आदर्श विषयक प्रकरण में कर चुके हैं। धर्मशिक्षा के अतिरिक्त वैद्यकशास्त्र और स्वास्थ्य विज्ञान, पाकशास्त्र, संगीतशास्त्र, गृहविज्ञानादि विषयों का उनकी शिक्षा में विशेष स्थान रहेगा। बालकों और किशोरों के साथ शिक्षा देने पर इनमें से अनेक विषयों की उपेक्षा हो जाना स्वाभाविक है।

ब्रह्मचर्य, नैतिकता और सदाचार की दृष्टि से विचार करने पर तो कुमार-कुमारियों तथा नवयुवक नवयुवतियों की सहशिक्षा सर्वथा अवाञ्छनीय और हानिकारक प्रतीत होती है।

सहशिक्षा के भयंकर परिणाम—सहशिक्षा के कारण पाश्चात्त्य तथाकथित सभ्य देशों के निवासियों की नैतिक दशा में कितना पतन हो रहा है तथा सदाचार का मापदण्ड कितना गिरता जा रहा है, इसका दिग्दर्शन कराने के लिये कुछ मनीषियों के अनुभव सिद्ध विचारों और आंकड़ों को उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा। अगस्त १९३० में बौर्नेमाऊथ इंग्लैंड Bournemouth England में हुई International Council of Congregational Ministers के अधिवेशन में भाषण देते हुए उसके प्रधान संयोजक डॉ० डी०डी० जोन्स ने बड़े खेद पूर्वक कहा—"Today there is a revolt against sexual morality which is bold, brazen and unashamed. It scoffs at old reticences and decencies, it repudiates all the old conventions and taboos. It allow itself a freedom of speech and conduct that shocks all who have been brought up in the older traditions. The new sort of young people refuse to consider themselves bound by the old laws. The fact that sexual indulgence has been freed from certain social consequences, has led to an **alarming increase in secret immorality.** Delivered from the fear of social consequences and the stigma of public shame, young people gaily flout the moral laws.

(Quoted in " The Science of Social Organisation 2nd Vol. by Dr. Bhagvan Das, M.A., D.Litt. P. 498)

अर्थात् आज यौन सदाचार के विरुद्ध एक विद्रोह है जो धृष्टतापूर्ण दुस्साहसपूर्ण और निर्लज्जतापूर्ण है। यह पुरातन मौन और शिष्टता का उपहास करता है। यह सभी पुरानी रूढ़ियों और प्रतिषेधों से इन्कार करता है। यह अपने लिये भाषण और व्यवहार की इतनी स्वच्छन्दता चाहता है जिससे पुरानी परम्परा में पले हुए लोगों को आघात पहुँचता है। नयी पीढ़ी के युवक पुराने नियमों से अपने को बँधा समझना स्वीकार नहीं करते। यह तथ्य कि सम्भोग अब कई सामाजिक परिणामों से मुक्त कर दिया गया है, **गुप्त दुराचार में भीषण वृद्धि का कारण बना है**। सामाजिक परिणामों और लोकलज्जा के भय से मुक्त होकर युवक लोग प्रसन्नता से सदाचार-सम्बन्धी नियमों का उल्लङ्घन करते हैं।

सन् १९६३ में एक वैज्ञानिक लेखक डॉ० कम्फर्ट ने ब्रिटिश ब्रांडकास्टिंग कोर्पोरेशन के कार्यक्रम में टेलीविजन पर जो विचार प्रकट किये, वे इंग्लैंड में एक अत्यन्त भयंकर अनैतिकता के सूचक हैं। डॉ० कम्फर्ट ने यहाँ तक कहने का साहस किया कि-

"We might as well make up our minds that chastity is no more a virtue than malnutrition." I see no reason why a man should not have a mistress as well as a wife."

अर्थात् हम अपने मन में यह निश्चय कर सकते हैं कि पातिव्रत वा सतीत्व अपूर्णपोषण से अधिक गुण नहीं है। मुझे कोई कारण प्रतीत नहीं होता क्यों एक आदमी अपनी पत्नी के अतिरिक्त एक रखैल को भी न रखे।

जहाँ बड़े-बड़े वैज्ञानिक लेखक इस प्रकार के उच्छृङ्खल अनैतिकता-वर्धक विचारों को सार्वजनिक रूप में प्रकट करते हुए लज्जित न हों, उस देश के नैतिक पतन की सुगमता से कल्पना की जा सकती है।

अमरीका के सुप्रसिद्ध पाक्षिक पत्र Times का २४ जनवरी १९६४ का एक विशेषांक प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था-Sex in the U.S., mores and morality

इसमें बौज एंजेल्स के मैथोडिस्ट बिशप गेराल्ड कैनेडी ने अमरीका की वर्तमान नैतिक दशा का चित्रण करते हुए लिखा है-

"The atmosphere is wide open. There is more promiscuity and it is taken as a matter of course now by people. In my day, they did it but they knew it was wrong."

"It produces such books as a 'Sex and the Single man' in which

Dr. Albert Ellis, a supposedly reputable psychologist, offers crude but obvious instructions on how to seduce a girl."

There is strong pressure not only from the boys but from other girls, many of whom consider a virgin a downright square. The loss of virginity even resulting in preganancy, is simply no longer considered as American tragedy.

अर्थात् वातावरण अत्यन्त विशाल है। सम्भोगादि के सम्बन्ध में बड़ी अविवेक पूर्णता और गड़बड़ है और आजकल लोग इसे एक सामान्य बात के रूप से ग्रहण करते हैं। हमारे दिनों में भी कहीं-कहीं ऐसी गड़बड़ की जाती थी, पर तब लोग इसे अशुद्ध या बुरा समझते थे। इस युग में 'सेक्स ऐण्ड दि सिंगलमैन' जैसी पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं जिनके तथाकथित सुप्रख्यात मनोवैज्ञानिक लेखक डॉ० ऐल्बर्ट ऐलिस ने कन्याओं को पथभ्रष्ट करने के अपरिष्कृत किन्तु स्पष्ट निर्देश दिये हैं। न केवल लड़कों की ओर से बल्कि लड़कियों की ओर से प्रबल दबाव डाला जाता है जिनमें से बहुत से एक कुमारी कन्या को अनुपयोगी जानवर सा समझते हैं (उसको वे अत्यन्त हीन दृष्टि से देखते हैं।) कुमारीत्व का नाश, चाहे वह गर्भ में भी परिणत हो जाए, अब कोई अमरीकन महाविपदा वा दुःखान्त नाटक के रूप में नहीं समझा जाता। इस अव्यवस्था और दुराचार का कितना भयंकर परिणाम हो रहा है, किस प्रकार अविवाहित माताओं की अमरीका में संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है इस विषय में उपरिनिर्दिष्ट Times के लेख में बताया गया है कि–

["The number of illegitimate children born to teen-age mothers rose from 8-4 per thousand in 1940 to 16 in 1961] in the 20-25 age group from 11.2 per thousand to 41.2."

अर्थात् २० से कम आयु की माताओं की अवैध वा नाजायज सन्तानों की संख्या प्रतिसहस्र ८.४ से जो १९४० ई० में थी सन् १९६१ में प्रतिसहस्र १६ हो गई और २० से २५ वर्ष की आयु की माताओं के नाजायज व अवैध बच्चों की संख्या प्रतिसहस्र ११.२ से ४१.२ हो गई। तथाकथित सभ्य देश में यह अवैध बच्चों की इतनी संख्या वृद्धि कितने नैतिक पतन तथा दुराचार को सूचित करती है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। इस लेख के निम्न शब्द नैतिक पतन की पराकाष्ठा के सूचक हैं जहां बताया गया है कि– "Today's sexual adventuring seems to be among social equals **even if it means the best friends'**

wife or husband."

अर्थात् आज का यौन साहसिक कार्य सामाजिक दृष्टि से बराबरों में होता प्रतीत होता है चाहे इसका यह अर्थ हो कि अपने अच्छे से अच्छे पुरुषमित्र की पत्नी अथवा सब से अच्छी सहेली का पति।

सहशिक्षा के इस निर्लज्जतापूर्ण भयंकर परिणाम पर क्या टिप्पणी की जाए? यह कितने खेद की बात है कि हमारे देश में भी लोग ऐसी कुप्रथाओं के अनुसरण में लगे हुए हैं, यद्यपि आदर्श समाज सुधारक ऋषि दयानन्द सरस्वती ने इसका प्रबल विरोध किया और महात्मा गाँधी तथा श्रद्धेय डॉ० भगवानदास जी जैसे महामनीषियों ने इसको अत्यन्त हानिकारक बताया जैसे कि आगे बताया जाएगा।

अमरीका की एक और सुप्रसिद्ध उच्चकोटि की मासिक पत्रिका Pageant के अक्टूबर १९६३ ई० के अंक में How our morals are going from loose to looser to loosest इस शीर्षक से जैम्स कोलियर (James Coliers) नामक सज्जन का लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख के शीर्षक का अर्थ है किस प्रकार हमारा सदाचार शिथिल से शिथिलतर और शिथिलतम होता जा रहा है। दुराचार, नग्नता, तलाक और विवाह से पूर्व यौन सम्बन्धों इत्यादि की वृद्धि के उदाहरण देकर लेखक ने अपनी इस स्थापना को पुष्ट किया है कि हमारा सदाचार शिथिल से शिथिलतर और शिथिलतम होता चला जा रहा है। उदाहरणार्थ विवाह से पूर्व यौन सम्बन्ध (Pre-marital sex) के विषय में उन्होंने बताया है कि 'Fortune' नामक पत्रिका के सर्वेक्षण के अनुसार ४७ प्रतिशत तक पुरुषों और ६४ प्रतिशत तक महिलाओं ने स्पष्ट कहा था कि विवाह से पूर्व मैथुन स्त्री पुरुष दोनों के लिये अनुचित है। किन्तु सन् १९६२ में रौबर्ट बैल और ल्यूनार्ड ब्लमबर्ग में "Marriage and Family Living" नामक पुस्तक में अपने सर्वेक्षण के अनुसार बताया है कि—

"And as a matter of fact, every college has its students who make no bone of their sexual activities. A generation ago, they would have been expelled from college." (Pageant, October 1963, P. 10).

अर्थात् आजकल की लगभग ५० प्रतिशत कॉलेज छात्राएँ विश्वास करती हैं कि सगाई के बीच में यौन सम्बन्ध-सम्भोगादि- अनुमति योग्य है। स्त्री-पुरुष मिला कर ७५ प्रतिशत तक और पुरुषों में से ९० प्रतिशत तक विवाह से पूर्व यौन सम्बन्ध का पुरुषों के लिये समर्थन करते हैं। एक सच्चाई के तौर पर विवाह से पूर्व यौन सम्बन्ध की

सार्वजनिक प्रथा बहुत अधिक प्रचलित है। प्रत्येक कॉलेज में ऐसे छात्र हैं जो अपने यौन क्रिया-कलाप को छिपाने का प्रयत्न नहीं करते। आज से एक पीढ़ी पूर्व ऐसे छात्रों को कॉलेज से निकाल दिया जाता। लेख के अन्त में कहा गया है—

"Our private morality has certainly loosened to a marked degree. Virginity at marriage is rapidly becoming a thing of the past. (P. 12)

अर्थात् हमारा वैयक्तिक व निजी सदाचार निश्चयपूर्वक उल्लेखनीय मात्रा तक शिथिल हो गया है। विवाह के समय में कुमारीत्व शीघ्रता से अतीत की वस्तु बन रहा है।

जिस सहशिक्षादि के कारण तथाकथित पाश्चात्त्य सभ्यदेशों में इतना नैतिक पतन हो रहा है उसके अनुसरण की भारतीयों को सलाह देना कितना निन्दनीय है।

कुछ प्रमुख भारतीय मनीषियों के सहशिक्षा विषयक विचार

यद्यपि दुर्भाग्यवश हमारे देश में भी सहशिक्षा का प्रचार हो गया है और उसका विस्तार होता जा रहा है, तथापि अनेक सुप्रख्यात भारतीय मनीषियों ने सहशिक्षा का विरोध किया है।

वैदिक धर्मोद्धारक स्वनामधन्य ऋषि दयानन्द जी सरस्वती ने अपने अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के तृतीय समुल्लास में लिखा है कि—

"विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिये। और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहिये। जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य, अनुचर हों कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त-सेवन, भाषण या परस्पर क्रीड़ा विषयक ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त हो के आनन्द को नित्य बढ़ा सके।"

विश्व विख्यात महात्मा गांधी जी ने सहशिक्षा पर अपने विचार प्रकट करते हुए अंग्रेजी में लिखा था—

"Co-education does not seem to have succeeded in the West. I tried it myself years ago. I must **say it brings about undersirable**

results." (Light of Asia by M.S. Deshpande P. 147)

अर्थात् सहशिक्षा पाश्चात्त्य देशों में सफल हुई प्रतीत नहीं होती। मैंने भी कई वर्ष हुए इसका परीक्षण किया था। मुझे यह अवश्य कहना चाहिये कि सहशिक्षा अवाञ्छनीय परिणामों को उत्पन्न करती है।

पूज्य महात्मा गाँधी जी के सहशिक्षा विषयक ये अनुभव सिद्ध विचार चेतावनी के रूप में ध्यान देने योग्य हैं।

श्रद्धेय मनीषी भारत रत्न डॉ० भगवान्दास जी ने अपनी सुप्रसिद्ध विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ The Science of Social Organisation के द्वितीय भाग में सहशिक्षा विषयक विवेचन अनेक दृष्टियों से करते हुए, यह परिणाम निकाला कि—

"Almost everyday's paper contains reports of cases of incest or other sexual crimes in the West. Recent books written by respectable authors, give facts and figures which prove conclusively that with **Co-education pre-martial virginity and purity are almost impossible for youth and maids."**

(Science of Social Organisation Vol. II by Dr. Bhagwan Das)

अर्थात् प्रायः प्रतिदिन के समाचार-पत्र अस्वाभाविक मैथुन अथवा अन्य यौन अपराधों की रिपोर्टों से भरे होते हैं, जो पाश्चात्त्य देशों में होती रहती हैं। प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा आजकल लिखी पुस्तकों में वे तथ्य तथा आंकड़े दिये हुए हैं जिनसे यह निश्चत या सिद्ध होता है कि सहशिक्षा के साथ विवाह से पूर्व कुमारीत्व और पवित्रता युवकों वा कन्याओं के लिये लगभग असम्भव है।

एक अत्यन्त अनुभवी विद्वान् और स्वामी योगेश्वरानन्द जी ने सहशिक्षा के विषय में अपनी अत्युत्तम पुस्तक ''बहिरंग योग'' में ठीक ही लिखा है कि, ''वर्तमान में प्रचलित सहशिक्षा जिसमें प्रथम कक्षा से लेकर उच्च कक्षा तक बालक-बालिकाएँ इकट्ठे पढ़ते हैं, महाविनाश की ओर ले जाने वाली कुप्रथा है। इस पद्धति में बाल्यकाल से ही ब्रह्मचर्य व्रत का कुठाराघात करनेवाली चरित्रहीनता तथा अनाचार के संस्कार पड़ने लगते हैं। भारत तथा विदेशों में समाचार-पत्रों में ऐसी अनेक दुर्घटनाएँ पढ़ने में प्रायः आती रहती हैं। अमृतसर राजकीय कन्या पाठशाला का एक बार निरीक्षण हुआ। परिणाम जो निकला वह इस प्रकार था—१०० में ३० बालिकाओं के चरित्र दूषित

थे। अमेरिका में डॉक्टर बरोसराबन्स बच्चों की पाठशालाओं के निरीक्षक नियुक्त किये गये। उनका कथन है कि न्यूयार्क एन०जी० हाई स्कूल में १५ हजार कुमारियाँ पढ़ती हैं। निरीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि ५ हजार बालिकाएँ ऐसी थीं जिन्हें कुमारी होते हुए भी ब्रह्मचारिणी नहीं कहा जा सकता, अन्य दो हजार गर्भवती थीं, परन्तु ये अविवाहिता थीं। सारांश में वह यह कहते हैं कि ४ कुमारियों में से केवल १ को ही ब्रह्मचारिणी कहा जा सकता है। यह परिणाम विदेशी शिक्षणालयों का है जहाँ प्रचुर धन, शक्ति व्यय की जाती है। पहले सदाचार की दृष्टि से भारत सर्वश्रेष्ठ गिना जाता था परन्तु वर्तमान बौद्धिक दासता के कारण पश्चिमीय प्रणाली की नकल ने भारत के प्राचीन सभ्यता-संस्कृति के गौरव को सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है।''

''शिक्षा के विषय में जो कि सदाचार का मूल है, वेद, स्मृति, शिष्ट जनों का तथा अपना भी यही निर्णय है कि बालक-बालिकाओं की शिक्षा पृथक्-पृथक् गुरुकुल प्रणाली के द्वारा ही होनी चाहिये जिससे भारत की भावी सन्तति विद्वत्ता, आचार, बल, बुद्धि, पराक्रम, विज्ञान तथा आध्यात्मिकता आदि के सभी क्षेत्रों में संसार में सर्वश्रेष्ठ व सर्वमान्य हो सके।''

(योगीराज स्वा० योगेश्वरानन्द जी कृत बहिरंग योग पृ० २९-३०)

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से अनुशीलन करने और सहशिक्षा की पद्धति के सदाचार और नैतिकता की दृष्टि से अत्यन्त भयंकर परिणामों को देखने पर हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि नवयुवक, नवयुवतियों की सहशिक्षा सर्वथा अनुचित और हानिकारिणी है, अतः वेद विरुद्ध और ब्रह्मचर्य नाशिका इस प्रथा को तुरन्त बन्द करवाने के लिये समाज हितैषियों को प्रबल प्रयत्न करना और शासनाधिकारियों को इसे रोक देना चाहिये।

अध्याय–३

आदर्श स्त्री शिक्षा

अब हम शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह निर्देश करना चाहते हैं कि वेदों के अनुसार पुरुषों के समान स्त्रियों को भी सुशिक्षित होना चाहिये तभी वे वेदोक्त यज्ञादि कर्मों का भलीभांति अनुष्ठान कर सकती हैं। ''सरस्वती'' और उषा के सूक्तों में स्त्रीशिक्षा–विषयक अत्युत्तम निर्देश हमें प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ निम्न वेद मन्त्रों पर मनन कीजिये जिनमें स्त्री शिक्षा का आदर्श बताया गया है—

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥

(ऋ० १।३।११)

सरस्वती शब्द सृ—गतौ इस धातु से बनता है। गति शब्द के ३ अर्थ व्याकरण शास्त्र में माने गये हैं।

गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं, गमनं प्राप्तिश्चेति ।

अर्थात् गति के अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति ये तीन हैं। ज्ञान अर्थ का ग्रहण करते हुए सरस्वती का अर्थ ज्ञानवती विदुषी स्त्री स्पष्ट है। ऐसी विदुषी स्त्री कैसी होनी चाहिये, इसका निरूपण करते हुए इस वेद मन्त्र में बताया गया है कि वह (सरस्वती) विदुषी स्त्री (सूनृतानां चोदयित्री) सत्य और प्रिय वचनों को प्रेरित करती अर्थात् अपनी वाणी से सदा सत्य तथा प्रिय वचनों का स्वयम् उच्चारण करती हुई अन्यों को भी ऐसा करने की प्रेरणा करती है। (सुमतीनां चेतन्ती) वह अपने पति तथा पुत्रादि सब को उत्तम सलाह और ज्ञान को देती है तथा इस प्रकार उत्तम (सत्य) और प्रिय वचनों को प्रेरित करती और सदा सत्परामर्श देती हुई वह (यज्ञं दधे) यज्ञों को उत्तमता से धारण करती, उनका विधिवत् अनुष्ठान करती तथा यज्ञ की स्वार्थ-त्याग और परोपकार की भावना को सदा अपने जीवन में लाती है। ऐसी विदुषी देवी की सब पूजा करते हैं, इस बात को ऋग्वेद १०।१७।७ में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥

(ऋ० १०।१७।७)

१. जिस समय पुरुष के अन्दर हीनता व दुर्बलता के भावों का राज्य हो जाए सुशिक्षिता देवी को अदिति के रूप में उन हीनता पूर्ण भावनाओं को दूर करके अपने पतिदेव तथा अन्य सम्बन्धियों को कर्तव्य पालन के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये।

२. जब पुरुष के अन्दर संकुचित स्वार्थपूर्ण भावों की प्रधानता होने लगे तो सुशिक्षिता देवी को "मही" के रूप में उदार भावों का प्रवेश कराना चाहिये।

३. उसे वेदादि सत्य शास्त्रों और अन्य उपयोगी विषयों का श्रवण करके बहुश्रुता के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करनी चाहिये।

४. उसे अपने पति देव और पुत्रों को सदा पुण्य मार्ग में जहां प्रेरित करना चाहिये, वहां जनता को भी धर्म मार्ग का उपदेश देना चाहिये।

आजकल स्त्री शिक्षा तो बहुत प्रचलित है किन्तु वेद के मन्त्रों में स्त्रीशिक्षा का जो उच्च आदर्श बताया गया है, उसकी ओर आजकल की शिक्षिता महिलाओं का ध्यान बहुत कम है। यह खेद की बात है।

यजुर्वेद के १४वें अध्याय में स्त्रीशिक्षा विषयक अनेक मन्त्र हैं जिनमें से द्वितीय मंत्र इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें स्त्रियों को सौभाग्य वृद्धि के लिये वेदामृत पान करने का आदेश दिया गया है।—

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः।
अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥ (य० १४।२)

अर्थात् (कुलायिनी) कुल की उन्नति के लिये सदा गति व चेष्टा करनेवाली तथा पुरुषार्थिनी (घृतवती) उत्तम घृत का बलवृद्धि के लिये स्वयं प्रयोग करने तथा अन्यों को प्रयोग करवाने वाली और स्नेह तथा दीप्ति से युक्ता (पुरन्धिः) बहुत वृद्धिवाली और कर्मशीला[1] बनकर हे देवि! तू (पृथिव्याः स्योने सदने सीद) पृथिवी के ऊपर बनाये सुखकारक गृह में विराजमान हो। (सौभाग्य) सौभाग्यवृद्धि और[2] उत्तम धर्म ज्ञान के लिये (इमा ब्रह्म पीपिहि) इन वेद मन्त्रों के अमृत का पान कर (अध्वर्यु अश्विनौ) अध्ययनाध्यापनरूप यन्त्र के

१. धिया–धीरति कर्मनाम (निघं० २।१) धीरिति प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)
२. विप्रः–विप्र इति मेधाविनाम (निघं० ३।१५)

नेता जितेन्द्रिय अध्यापक–उपदेशक स्त्री पुरुष (इह) इस गृहस्थान में (त्वा सादयताम्) तुझे प्रतिष्ठित करें। इस वेदामृत का तू इतनी अच्छी तरह पान करे तथा वेदविद्यादि में इतनी निपुणता प्राप्त करे कि (रुद्राः) ४४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले विद्वान् (वसवः) २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत रखने वाले तथा अन्य सब विद्वान् (त्वा अभिगृणन्तु) तेरी चारों ओर से प्रशंसा करें। स्त्री शिक्षादर्श के विषय में यह मन्त्र अत्यन्त माननीय है। स्त्रियों को उत्तम गृहिणी बन कर कुल की उन्नति और वृद्धि का सदा विशेष ध्यान रखना चाहिये। वेद के

घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ (य० १२।४४)

इत्यादि आदेश के अनुसार उन्हें घृतादि पौष्टिक पदार्थों का स्वयं सेवन करके शरीर को स्वस्थ और पुष्ट बनाना चाहिये, परिवार के अन्य सदस्यों को भी ऐसे विशुद्ध पौष्टिक पदार्थों का सेवन कराना चाहिये। उन्हें बुद्धिमती और अत्यन्त कर्मशीला होना चाहिये। यास्काचार्य ने पुरन्धिः–इस शब्द का अर्थ निरुक्त ६।३।१३ में पुरु धीः यह किया है धीरिति कर्म नाम (निघ० २।१) तथा धीरिति प्रज्ञानाम (निघ० ३।९) इस प्रकार निघण्टु वैदिक कोष में धी के कर्म और बुद्धि–ये दो अर्थ दिये हैं। पुरु का अर्थ निघण्टु ३।१ में "बहु" दिया हैं। अतः तात्पर्य यह निकला कि स्त्रियों को बहुत बुद्धिमती और आलस्य प्रमाद का परित्याग करके बहुत कर्म करने वाली होना चाहिये।

वेदों में स्त्रियों के लिये "पुरन्धिः" का प्रयोग अनेक बार पाया जाता है। राष्ट्र के लिये भी ऐसी बहुत बुद्धिमती और कर्मशीला देवियों की ही प्रार्थना–

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽति-व्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा॥

इत्यादि सुप्रसिद्ध यजु० २२।२२ वे मन्त्र में भी स्त्रीवाचक योषा शब्द का प्रयोग करते हुए उसके लिये पुरन्धि अर्थात् अत्यन्त बुद्धिमती और बहुकर्मशीला होने की प्रार्थना है क्योंकि किसी भी राष्ट्र का उत्त्थान ऐसी देवियों के बिना असम्भव है।

इन उत्तम गुणों से सम्पन्न होकर देवियों को सब प्रकार से सुख में निवास करना चाहिये। परन्तु वेदों के उत्तम ज्ञान के बिना सौभाग्य की वास्तविक प्राप्ति सम्भव नहीं। अतः इस मन्त्र में उन्हें उपदेश दिया गया है कि वे धर्मज्ञान के लिये वेदामृत का इतना पान करें कि सब

छोटे-बड़े विद्वान् उनकी चारों ओर से प्रशंसा करें। ऐसे उत्तम ज्ञान की प्राप्ति ज्ञान यज्ञ के नेता महाविद्वान् संयमी अध्यापकोपदेशकों तथा अध्यापिकाओं और उपदेशिकाओं की सहायता के विना नहीं हो सकती। इस मन्त्र में स्त्रियों के गुणों का निर्देश करते हुए यह बताया गया है कि वेद शास्त्र की उत्तम शिक्षा के द्वारा उन्हें उत्तम गृहिणी और कर्तव्य परायण माता बनना चाहिये। उन्हें बहुत बुद्धिमती और पुरुषार्थिनी होना चाहिये। जो पुस्तकीय शिक्षा स्त्रियों को गृह कर्मों से विमुख वा उदासीन बना देती है, वह उचित शिक्षा नहीं है। ऋग्वेद ८।३३।१९ में कहा गया है कि—

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन्त्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥

(ऋ० ८।३३।१९)

अर्थात् हे देवि तुझे सभ्यता और शिष्टाचार के इन नियमों का अवश्य पालन करना चाहिये। (अधः पश्यस्व मोपरि) १—नीचे आँख करके चल, चंचलता वश व्यर्थ में ऊपर या इधर उधर न देखती रह। (सन्तरां पादकौ हर) २—दोनों पैरों को ठीक प्रकार से रख कर शान्ति से सभ्यता के साथ चल जिससे तेरी उच्छृङ्खलता प्रकट न हो। ३—(मा ते कशप्लकौ दृशन्) तीसरी बात जिसका तुझे सदा ध्यान रखना चाहिये वह यह है कि तेरे गुप्त अंग किसी को दिखाई न दें, ठीक रूप से वस्त्रादि धारण कर। इस प्रकार सभ्यता और शिष्टाचार के नियमों का पालन करती हुई तू स्त्री (हि) निश्चय से (ब्रह्मा बभूविथ) चारों वेदों को जानने वाले ब्रह्मा के आसन को ग्रहण करने योग्य हो सकती है। यज्ञ में ब्रह्मा का स्थान सब से उच्च होता है जो चारों वेदों के ज्ञाता महाविद्वान् को दिया जाता है। मन्त्र में स्पष्ट निर्देश है कि शिष्टाचार और सभ्यता के नियमों का पालन करने वाली महाविदुषी भी निश्चय से ब्रह्मा बन सकती है। अथर्व० १४।१।६४ में भी इस विषय का प्रतिपादक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मन्त्र आता है जिसमें कहा गया है—

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज॥

(अ० १४।१।६४)

ब्रह्म के दो मुख्य अर्थ होते हैं। परमेश्वर और वेद। नव वधू को सम्बोधित करते हुए मन्त्र में उसे उपदेश दिया गया है कि परब्रह्म को सब दिशाओं में व्यापक और अंग-संग जान कर तू सदा शुभ कर्मों के

करने में तत्पर रहना, कभी पापाचरण नहीं करना। साथ ही वेद ज्ञान से प्रेरित होकर, तू सदा व्यवहार करना। तेरे प्रत्येक व्यवहार में आगे-पीछे ऊपर-नीचे सर्वत्र वेद का अनुसरण हो। वेद तेरे साथ सदा जुड़ा रहे। तेरा कोई आचार विचार व्यवहार वेद के विरुद्ध न हो। तू (अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य) रोगादि रहित विद्वानों के निवास योग्य स्थान को प्राप्त करके (शिवा) कल्याणकारिणी (स्योना) सुखदायिनी बनकर (पतिलोके विराज) पति के गृह में विराजमान हो।

इस मन्त्र में जहां स्त्री को ब्रह्म-परमात्मा को सर्वव्यापक मान कर आचरण करने का उपदेश है, वहाँ साथ ही सदा वेद ज्ञान को प्राप्त करके उसके अनुसार व्यवहार करने का भी उपदेश है। यह भी कहा गया है कि उसे अत्यन्त कल्याणकारिणी और अपने उत्तम स्वभाव तथा व्यवहार से सब के लिये सुखदायिनी होना चाहिये।

जैसे हमने ऊपर लिखा है वेदों के अनुसार स्त्रियों के लिये वही शिक्षा उचित हो सकती है जो उन्हें सदाचारिणी, विदुषी, गृहकार्य दक्ष, सद्गृहिणी बनाने के अतिरिक्त उन्हें सन्माता बनाने में सहायिका हो। अदिति देवता के मन्त्रों में ऐसे निर्देश विशेष रूप से पाये जाते हैं। इनमें माताओं के कर्तव्यों को सूचित किया गया है। ऋग्वेद ७।३५।९ में कहा है-

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः॥ (ऋ० ७।३५।९)

अर्थात् (अदितिः) यास्काचार्य की निरुक्त में दी व्याख्या के अनुसार अदीना देवमाता (व्रतेभिः) सत्य भाषण, अहिंसा, परोपकारादि व्रतों से (शं नः भवतु) हमारे लिये शान्तिदायिनी हो।

अदिति का अदीना माता के अर्थ में प्रयोग न केवल निरुक्त सम्मत है, अपितु स्वयं वेद में उस अर्थ का इस प्रकार निर्देश है-

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
(ऋ० १।८९।१०)

इस मन्त्र में निर्दिष्ट अदिति के अनेक अर्थों में से माता भी एक अर्थ है। व्रतधारिणी अदीना, माता प्रजा के लिए शान्तिदायिनी होती है। अतः उसे सदा उत्तम व्रतों को धारण करना चाहिये। ऋग्वेद ८।१८।६ में अदिति के विषय में कहा है कि-

अदितिः पात्वंहसः सदावृधा॥ (ऋ० ८।१८।६)

अर्थात् (सदावृधा) सब प्रकार से–शारीरिक, मानसिक, आत्मिक दृष्टि से बढ़ाने वाली, अदीना, माता (अंहसः पातु) हमें पापों से बचाए।

इसमें अपनी सन्तान को सब दृष्टियों से सदा उन्नत करना और पापों से बचाकर उन्हें निष्पाप सर्वथा पवित्र बनाना, माताओं का कर्तव्य बताया गया है।

ऐसे पवित्र कर्तव्य का पालन करने के लिये स्त्रियों को वेद ज्ञान सम्पन्न होना चाहिये। इस बात को ऋग्वेद ८।२५।३ में बताया गया है।

ता माता विश्ववेदसासुर्याय प्रमहसा। मही जजानादितिर्ऋतावरी॥

यहाँ मित्रावरुणों के विषय में जिनके प्राणोदानौ—

प्राणौदानौ वै मित्रावरुणौ (शतपथ १।८।३।१२; ३।६।१।१६)

के अतिरिक्त मित्र–सर्वप्रेमी और वरुण–पाप ताप निवारण वरणीय श्रेष्ठ मनुष्य, यह स्पष्ट अर्थ है। कहा है कि (ऋतावरी) वेद ज्ञानवाली और यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाली, सत्यवादिनी (मही अदितिः माता) महती अदीना-दीनता हीनता के भावों से रहित, सच्ची स्वतन्त्रता प्रेमिणी माता (ता) इन (विश्ववेदसा) सब विषयों को जानने वाले महाविद्वान् मित्र–वरुण सर्वप्रेमी और वरणीय श्रेष्ठ मनुष्य को (प्रमहसा) अपने प्रकृष्ट तेज से (असुर्याय) प्राण दान के लिए (जजान) उत्पन्न करती है।

ऋत शब्द के ऋतमिति सत्यनाम (निघ० ३।१०) के अतिरिक्त सत्यविद्या प्रतिपादक वेद, यज्ञ, धन आदि अनेक अर्थ हैं। उनसे सम्पन्न उदार माता को अदिति के नाम से बताते हुए यहाँ कहा गया है कि ऐसी अदीना सत्यनिष्ठा वेद ज्ञान सम्पन्ना माता ही विश्व प्रेमी ताप निवारक वरणीय श्रेष्ठ मनुष्यों को अपने प्रकृष्ट तेज से उत्पन्न कर सकती है। इस प्रकार माताओं के लिए एक बड़े ऊँचे आदर्श का मही, ऋतावरी, अदिति आदि शब्दों द्वारा प्रतिपादन किया गया है। श्रेष्ठ विदुषी माता सन्तान के दोषों को दूर करके उन्हें प्रशस्त बना सकती है। इस बात को ऋग्वेद २।४१।१६ के निम्न मन्त्र में बड़ी उत्तमता से बताया गया है–

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥

(ऋ० २।४१।१६)

अर्थात् हे (अम्बितमे) माताओं में श्रेष्ठ (नदीतमे) सत्यज्ञान की उपदेशिकाओं में श्रेष्ठ (देवितमे) सत्यनिष्ठा देवियों में श्रेष्ठ (सरस्वति) विद्यावती मातृदेवि (अप्रशस्ता इव स्मसि) हम अभी अनेक दुर्गुणों और त्रुटियों के कारण अप्रशस्त से हैं। हमारे अन्दर अनेक दोष विद्यमान हैं। (अम्ब) हे मातः (नः प्रशस्तिं वृधि) हमें इन दुर्गुणों और बुराइयों से दूर करके प्रशंसनीय उत्तम गुणी बनाओ। मंत्र का स्पष्ट तात्पर्य है कि विदुषी माताओं को सन्तानों तथा अन्यों के दोषों को अपने सदुपदेशों द्वारा दूर करके उनके जीवनों को प्रशस्त बनाने का सदा प्रयत्न करना चाहिये।

ऋग्वेद २।३२।४ में विदुषी स्त्री को "राका" के नाम से भी पुकारा गया है जिसका अर्थ पूर्णमासी तथा दानशीला है। स्त्री को पूर्णमासी के समान परिवार के जनों को आनन्दित करने वाला होना चाहिये, यह भाव इससे सूचित होता है। स्त्री स्वयं प्रसन्न वदना हो और परिवार के सब सदस्यों को अपने उत्तम व्यवहार से प्रसन्न रखे। मन्त्र इस प्रकार है—

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥

(ऋ० २।३२।४)

अर्थात् मैं (**राकाम्**) दानशीला और पौर्णमासी के समान सब पारिवारिक जनों को सद्व्यवहार से आह्लादित करनेवाली (**सुहवाम्**) सुमधुर वाणीवाली देवी को (**सुष्टुती**) सुन्दर स्तुति वचनों से (**हुवे**) बुलाता हूँ। वह (**सुभगा**) उत्तम ज्ञान और धर्म अथवा सौभाग्यवाली देवी (**नः शृणोतु**) हमारे वचन को सुने और (**त्मना**) अपने आत्मा से (**बोधतु**) समझे। वह (**अच्छिद्यमानया सूच्या**) न टूटनेवाली सूई से (**अपः**) सीना इत्यादि कर्मों को (**सीव्यतु**) करे, सीना-पिरोना आदि गृहकृत्यों को प्रेम और प्रसन्नता से करे और (**शतदायम्**) बहुत देनेवाले (**शतमिति बहुनाम** निघं० ३१ **उक्थ्यम्**) प्रशंसनीय (**वीरम्**) वीर पुत्र को (**ददातु**) जन्म दे।

इस मन्त्र में स्त्रियों को पौर्णमासी के समान सदा प्रसन्नवदना होकर अपने उत्तम भाषण वा व्यवहार से सदा प्रसन्न करने, सदा मधुर वचनों का उच्चारण करने, धर्म का आचरण करने, सीना-पिरोना आदि गृह कृत्यों को प्रेम तथा प्रसन्नता से करने और प्रशंसनीय दानी श्रेष्ठ सन्तान को उत्पन्न करने का उपदेश दिया गया है। स्त्रियों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे वे अपने वेदोक्त कर्मों को पालन करने में समर्थ बनें।

सन्तानादि के लिए वस्त्र बुनना

ऋग्वेद ५।४७।६ के

वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति।

इस मन्त्र में बताया गया है कि (मातरः) माताएँ (पुत्राय वस्त्राणि वयन्ति) पुत्र के लिये वस्त्र बुनती हैं साथ ही वे (अस्मा) इस सन्तान के लिये (अपांसि) कर्म और (धियः) बुद्धियों को (वितन्वते) विशेष रूप से विस्तृत करती हैं। तात्पर्य यह है कि माताएँ अपने पुत्रों के लिये न केवल वस्त्र बुनें, बल्कि अन्य भी सब आवश्यक कर्मों का वे सन्तान के कल्याण के लिये विस्तार करें। उन्हें वे सदा सद्बुद्धि वा उत्तम परामर्श देती रहें। सन्तान के लिये ही नहीं, पति के लिये भी सुन्दर वस्त्र प्रेम से बुनना देवियों का कर्तव्य है। उस अपनी सहधर्मिणी व जीवन संगिनी द्वारा प्रेम पूर्वक बुने वस्त्र के धारण से मनुष्य को विशेष सुख मिलता है। यह अथर्व० १४।२।५१ में कहा गया है—

वासो यत्पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात्॥

(अ० १४।२।५१)

(यत् वासः) जो वस्त्र (पत्नीभिः उतम्) पत्नियों द्वारा बुना गया है (तत्) वह (नः) हम पतियों को (स्योनम्) सुखदायक हो कर (उपस्पृशात्) समीपता से स्पर्श करे।

इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि स्त्री शिक्षा के वैदिक आदर्श में इस बात का भी समावेश है कि उन्हें सीना, पिरोना, बुनना तथा अन्य शिल्पोद्योगों की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। विवाहसंस्कार के समय पारस्कर गृह्यसूत्र १।४।१३ में उद्धृत जो वेद की शाखा का मन्त्र पढ़ा जाता है, वह भी इसी उपर्युक्त वैदिक शिक्षा का द्योतक है—

या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ।
तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥

(पारस्कर गृह्य सूत्र १।४।१३)

वर वधू को सम्बोधन करते हुए कहता है कि जिन देवियों ने अपने हाथ से काता है, बुना है और ताना-बाना आदि सारी क्रिया की हैं, वे वृद्धावस्था पर्यन्त ऐसे वस्त्रों को तैय्यार करके तुम्हें देती रहें। हे आयुष्मति, ऐसी देवियों द्वारा तैयार किये हुए इस शुद्ध वस्त्र को धारण करो।

वात्स्यायन मुनि कृत कामशास्त्र में देवियों के जानने योग्य जिन ६४ कलाओं का उल्लेख है, निम्न में इन तथा अन्य अनेक शिल्पों का

समावेश है—

सङ्गीत विद्या

स्त्रियों की शिक्षा में संगीत विद्या का भी एक प्रमुख स्थान होना चाहिये। ऋग्वेद और सामवेद के मन्त्रों में संगीत पर विशेष बल दिया गया है और सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद तो इसी सङ्गीत विद्या का प्रतिपादक उपवेद है। उदाहरणार्थ हम निम्न मन्त्रों को उद्धृत करते हैं जिनमें परमेश्वर का भली-भाँति गुणगान करने का विधान है—

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्रगायत। सखायः स्तोमवाहसः॥

(ऋ० १।५।१ सा० १६४)

पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत।
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम्॥

(ऋ० ८।९२।१ सा० १५५)

प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे। उपस्तुतासो अग्नये॥

(ऋ० ८।१०३।८ सा० १०७)

सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत।
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये॥

(ऋ० ९।१०४।१ सा० ५६८)

तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत।
शिशुं न यज्ञैः स्वदयन्त गूर्तिभिः॥

(ऋ० ९।१०५।१ सा० ५६९)

इन मन्त्रों का तात्पर्य यह है कि—

(१) हे भक्त मित्र गण (आतु एत) जल्दी से आओ (निषीदत) बैठ जाओ और (इन्द्रम् अभि प्रगायत) परमैश्वर्य सम्पन्न प्रभु का अच्छी प्रकार चारों ओर से गान करो।

(२) जो परमेश्वर अन्नादि द्वारा तुम्हारा पालन करनेवाला सर्व विजेता अनन्त ज्ञान तथा कर्म युक्त सब से बड़ा दानी है, उसका तुम सब अच्छी प्रकार चारों ओर से गान करो।

(३) जो ज्ञान स्वरूप सबसे बड़ा नेता परमेश्वर सबसे बड़ा दाता, सत्य स्वरूप, महान्, तेजस्वी है, हे भक्त स्त्री-पुरुषो, उसका तुम सब गुण गान करो।

(४) हे मित्रो आकर चारों ओर बैठ जाओ। सब को पवित्र करने वाले परमेश्वर का अच्छी प्रकार गान करो। जिस प्रकार छोटे बच्चे को

सजाया जाता है, उसी प्रकार उस प्रशंसनीय परमेश्वर को अपनी शोभा बढ़ाने और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये यज्ञों द्वारा सजाओ।

(५) हे मित्रो! मस्ती प्राप्त करने के लिये सब को पवित्र करने वाले परमेश्वर का चारों ओर से गुणगान करो। जिस प्रकार छोटे बच्चे को खाद्य पदार्थ देकर प्रसन्न किया जाता है, उसी प्रकार उस प्रशंसनीय परमेश्वर को अपने परिश्रम पूर्वक किये शुभ कर्मों द्वारा प्रसन्न करो। अन्य भी ऐसे सैकड़ों मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है किन्तु विस्तार भय से इतने ही पर्याप्त हैं जिनमें परमेश्वर के अच्छी प्रकार गुणगान का स्पष्ट विधान है। अतः यज्ञों में यह गान किया जाता है और यज्ञ स्त्रियों के बिना अपूर्ण होता है, अतः यह विधान पुरुषों और स्त्रियों के लिये समान रूप से है। स्त्रियों का कण्ठ स्वर साधारणतया पुरुषों की अपेक्षा अधिक मधुर और कोमल होने के कारण, उन्हें तो इस संगीत विद्या का विशेष रूप से अभ्यास करना चाहिये। वेदों में केवल मौखिक गान का ही नहीं, वाद्य सहित गान का भी स्पष्ट निर्देश अनेक मन्त्रों द्वारा किया गया है। उदाहरणार्थ— ऋग्वेद के निम्न मन्त्र को देखिये—

अव॑ स्वराति॒ गर्ग॑रो गो॒धा परि॑ सनिष्वणत्।
पिङ्गा॒ परि॑ चनिष्कद॒दिन्द्रा॑य॒ ब्रह्मोद्य॑तम्॥

(ऋ० ८।६९।९)

भक्ति बल का प्रतिपादन करते हुए मन्त्र में बताया गया है कि परम ऐश्वर्य सम्पन्न प्रभु की स्तुति की जा रही है। गर्गर, गोधा, पिङ्गा आदि वाद्य यन्त्रों की मधुर ध्वनि भी चारों ओर श्रवणगोचर हो रही है। गर्गर से Violin गोधा से वंशी Lute और पिंगा से String का ग्रहण करते हुए अंग्रेजी में इस मन्त्र का इस प्रकार का उत्तम अनुवाद किया गया है।

"Now loudly let the gergara (Violin) sound, let the godha (Lute) send its resounding voice, let the string send its tunes around. So God is our hymn upraised."

(The Call of the Vedas by Dr. A.C. Bose, Third Ed., P. 81)

गर्गर, गोधा और पिङ्गा वस्तुतः किन विशेष वाद्य यन्त्रों के वाचक हैं, इसको पूर्ण निश्चय के साथ कहना कठिन है, तथापि इनका वाद्य विशेष वाचक होना प्रकरण सङ्गत है। इसमें सन्देह नहीं। स्त्रियों को इस प्रकार के वाद्य यन्त्र द्वारा निष्पादित सङ्गीत का भी विशेष अभ्यास करना चाहिये। लाट्यायन सूत्र में स्त्रियों द्वारा साम

तथा वीणादि वादन का स्पष्ट विधान इन शब्दों में पाया जाता है—

निधनायैव स्तौमीमं वाचं विसृजेत्। निधनं नाम पञ्चभिः सप्तभिर्वा भागैरुपेतस्य साम्नो अन्तिमो भागः। उपग्रहप्रभृतीनि स्वरयन्त उभेयुर्वे धर्म उपयुक्ताः स्युः॥ पत्नी च उपग्रहप्रभृतीनि निधनान्युपेयादिति ॥

पत्नी सामवेद के मन्त्रों का स्वर सहित गायन कर सके, इसके लिए अति विशेष नियमित अभ्यास की आवश्यकता है। ताण्ड्य ब्राह्मण में भी स्त्रियों के वीणादि के साथ गान करने और आर्त्विज्य (ऋत्विक् कार्य) कराने का ५।६।८ में विधान है जिसमें इन शब्दों का प्रयोग पाया जाता है—

तं पत्न्यो अपघाटिलाभिरुपगायन्ति आर्त्विज्येनैव तत्।
पत्न्यः कुर्वन्ति सह स्वर्गलोकमयानेति ॥

यहाँ अपघाटिला नामक वाद्य विशेष के साथ स्त्रियों के साम गायन का महत्त्वपूर्ण विधान ध्यान देने योग्य है।

पाक विद्या

स्त्रीशिक्षा के वैदिक आदर्श में पाकविद्या को भी अत्यावश्यक माना गया है। पाक विद्या के अच्छे अभ्यास के बिना कोई सद्गृहिणी और सन्माता नहीं बन सकती। अतः वेदों में स्त्रियों के लिये पाकविद्या का अनेक मन्त्रों द्वारा विधान किया गया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों को देखिये—

१. **सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा।**
सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः॥ (य० ११।५६)

२. **उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया।**
माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्त्तु गर्भऽआ। मखस्य शिरोऽसि॥
(य० ११-५७)

३. **अदित्यै रास्नास्यदितिष्टे बिलं गृभ्णातु ।**
कृत्वाय सा महीमुखां मृन्मयीं योनिमग्नये।
पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति ॥ (य० ११-५९)

४. **ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया।**
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥
(य० १४-१)

इन चारों मन्त्रों में उखा शब्द अनेक बार आया है जिसका अर्थ

पकाने की बटलोई है। म० ५६ में स्वौपशा शब्द आया है जिसका अर्थ ऋषिभाष्य में अच्छे स्वादिष्ठ भोजन के पदार्थ बनानेवाली, यह किया गया है। प्रथम मन्त्र का तात्पर्य यह है कि हे सत्कार के योग्य (अदिते) अखण्डित आनन्द भोगनेवाली स्त्री, दो=अवखण्डने जो (सिनीवाली) प्रेम से युक्त (सुकपर्दा) अच्छे केशोंवाली (सुकरीरा) सुन्दर श्रेष्ठ कर्मों को सेवन करनेवाली और (स्वौपशा) अच्छे स्वादिष्ठ भोजन के पदार्थ बनानेवाली जो तेरे हाथ (उखाम्) दाल आदि रांधने की बटलोई को धारण करें, उसका तू सेवन कर।

भाव—श्रेष्ठ स्त्रियों को उचित है कि अच्छी शिक्षित चतुर दासियों को रक्खें कि जिससे सब पाक आदि की सेवा ठीक-ठीक समय पर होती रहे।

कहीं यह न समझा जाये कि यह पाक आदि द्वारा सेवा केवल दासियों के लिए है। अन्य स्त्रियों के लिए नहीं, अतः अन्य तीन मन्त्रों में निर्देश दूसरी स्त्रियों के लिए भी है—

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया।

(य० ११।५७)

इस मन्त्र में अदिति शब्द से अखण्डित सुख भोगनेवाली स्त्री का ग्रहण करते हुए उसके लिये कहा है कि वह (धिया) अपनी बुद्धि का कर्म से (शक्त्या) पाकविद्या के सामर्थ्य और (बाहुभ्याम्) दोनों बाहुओं से (उखां कृणोतु) पकाने की बटलोई को सिद्ध करे—उत्तम पौष्टिक और रुचिकर भोजन बनाये। मन्त्र के उत्तरार्ध में उत्तम वीर धार्मिक सन्तान के उत्पादन का उपदेश है।

३. तृतीय मन्त्र में जो यजु० ११।५९ में आया है कन्याओं और पुत्रों के लिए भी उखा (बटलोई) में उत्तम पाक बनाने का उपदेश है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है कि हे पढ़ानेवाली विदुषी स्त्री जिस कारण तू (अदित्यै) विद्याप्रकाश के लिए (रास्ना) दानशीला है इसलिए तुझ से ब्रह्मचर्य को धारण करके पुत्र और कन्या विद्या को ग्रहण करें सो तू (अदितिः) माता (मृण्मयीं योनिम्) मिट्टी की बनी (महीम् उखाम्) बड़ी पकाने की बटलोई को अग्नि के निकट पुत्रों को देवे। विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त होकर बटलोई में (इति श्रपयान्) इस प्रकार अन्नादि पदार्थों को पकाओ।

भावार्थ—लड़के और लड़कियां स्त्रियों की पाठशाला में जा ब्रह्मचर्य की विधिपूर्वक सुशीलता से विद्या और भोजन बनाने की क्रिया सीखें और आहार व्यवहार भी अच्छे नियम से सेवन करें। कभी

विषय भोग की कथा न सुनें। मद्य, मांस, आलस्य और अत्यन्त निद्रा को त्याग के पढ़ाने वाले की सेवा और उसके अनुकूल बर्ताव के अच्छे नियमों को धारण करें।

४. चतुर्थ मन्त्र (यजु० १४।१) में स्त्री को दृढ़ धर्म युक्त होकर उत्तमता से पतिव्रता धर्म का पालन करते हुए सुखपूर्वक निवास करने के उपदेश के साथ, यह भी कहा गया है कि **उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणा** अर्थात् तू बटलोई में पकाये अन्न की विद्या–पाकविद्या का (जो अत्यन्त विस्तार पूर्वक है, क्योंकि पाक विविध प्रकार के हो सकते हैं।) अच्छी प्रकार प्रेमपूर्वक सेवन करती रह। विविध विद्याओं के वेत्ता अध्यापक उपदेशक तुझे गृहाश्रम में अच्छी तरह व्यवस्थित होने की शिक्षा दें।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्त्रीशिक्षा के वैदिक आदर्श में पाकविद्या को भी प्रमुख स्थान दिया गया है।

वैद्यक विद्या—स्त्रीशिक्षा के वैदिक आदर्श में वैद्यक विद्या का भी विशेष स्थान है क्योंकि इसके ज्ञान के विना स्त्रियाँ अपना तथा परिवार का स्वास्थ्य ठीक नहीं रख सकतीं।

ऋग्वेद १०।९७ तथा यजु० अ० १२ के अनेक मन्त्रों में, जो ओषधि विषयक हैं, इस बात का स्पष्ट निर्देश है कि स्त्रियों को भी यह ओषधि विज्ञान तथा वैद्यक विद्या अवश्य सीखनी चाहिये। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों को देखिये—

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शꣳहृदे॥

(य० १२।९२)

इस मन्त्र के भावार्थ में ऋषि दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—स्त्रियों को चाहिये ओषधि विद्या का ग्रहण अवश्य करें। क्योंकि इसके विना पूर्ण कामना सुख प्राप्ति और रोगों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती। **—यजुर्वेद भाषाभाष्य**

मन्त्रस्थ ''उत्तमा'' का अभिप्राय उत्तमा विदुषी से है जो कल्याणकारिणी, हृदय के लिए समर्थ इच्छा सिद्धि के योग्य होती है। ऐसी ओषधि विद्या में निपुण देवी से प्रार्थना है कि वह अन्यों के लिए भी उसका उपदेश करे।

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः।
सर्वाः सङ्गत्य वीरुधोऽस्यै सन्दत्त वीर्यम्॥

(य० १२।९४)

इसमें अनेक प्रकार की समीपस्थ और दूरस्थ ओषधियों का वर्णन करते हुए कहा है कि इन ओषधियों को प्राप्त कर जैसे वैद्य लोग इस शरीर के पराक्रम को सिद्ध करते हैं, वैसे उन ओषधियों का विज्ञान इस कन्या को सम्यक् प्रकार से दीजिये। "अस्यै" यह स्त्रीलिंग का प्रयोग ऋषिकृत इस अर्थ को द्योतित करता है। यजु० २१।३६ और २१।३१ में "सरस्वती भिषक्" यह वचन पाया जाता है जिससे विदुषी देवी के भिषक् अर्थात् वैद्या होने का भाव स्पष्टतया सूचित होता है।

ऋग्वेद ४।१६।१० का निम्न वचन इस विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें कहा है कि—

वि वां चिकित्सदृतचिद्ध नारी॥ (ऋ० ४।१६।१०)

अर्थात् (वाम्) तुम दोनों राजा और प्रजा की (ऋतचित्) वेद और सत्य नियमों को जाननेवाली और अतएव स्वास्थ्य नियमों का पूर्ण ज्ञान रखने वाली (नारी) स्त्री (ह) निश्चय से (विचिकित्सत्) विशेष रीति से भलीभाँति चिकित्सा करे। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि वेद और स्वास्थ्य नियमों का विशेष ज्ञान रखनेवाली स्त्री कोमल और सरल दया पूर्ण हृदय रखने के कारण रोगियों की चिकित्सा में विशेष सफलता प्राप्त कर सकती है। इसलिये स्त्रियों की शिक्षा में ओषधि विज्ञान और वैद्यक विद्या का भी एक प्रमुख स्थान होना चाहिये।

वैदिक स्त्री शिक्षादर्श पर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अनुशीलन

इस प्रकार हमने देखा कि स्त्रीशिक्षा के वैदिक आदर्श में वेदों का अध्ययन, शिल्प-शिक्षा, गृहकार्य शिक्षा, पाकविद्या, संगीत विद्या तथा वैद्यक विद्या इत्यादि का समावेश है जिससे देवियां सद्गृहिणियाँ और सन्माताएँ बन सकें। अपवाद के रूप में आजीवन ब्रह्मचर्य का विधान केवल ऐसी देवियों के लिए है, जिनमें वेद शास्त्रादि के पूर्ण ज्ञान के साथ पूर्ण वैराग्य भी विद्यमान हो और जो अपनी सम्पूर्ण विद्या तथा शक्ति को समाज के कल्याणार्थ समर्पित कर दें।

भारत के प्राचीन इतिहास का जब हम अनुशीलन करते हैं तो हमें अनेक ऋषिकाओं तथा ब्रह्मवादिनियों के नाम उपलब्ध होते हैं जिन्होंने वेद मन्त्रों के रहस्य को जान कर उनका जनता के कल्याणार्थ प्रचार किया था। बृहद् देवता २।८४ में ऐसी ऋषिकाओं और ब्रह्मवादिनियों की एक सूची पायी जाती है जो निम्न प्रकार है—

गोधा घोषा विश्ववारा अपाल्वोपनिषन्निषत्।
ब्रह्मजायाजुहूर्नाम अगस्त्य स्वसादितिः ॥
इन्द्राणी वेन्द, माता च, सरमा रोमशोर्वशी ।
लोपामुद्रा च नद्यश्च, यमी नारी च शाश्वती॥
श्री लक्ष्मीः सार्पराज्ञी वाक्, श्रद्धामेधा च दक्षिणा।
रात्री सूर्या च सावित्री, ब्रह्मवादिन्य हरिताः॥

शौनककृता बृहद्देवता (अ० २४)

इन ब्रह्मवादिनियों के विषय में हारीत धर्मसूत्र २१।२४ में लिखा है कि–

तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम्, अग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षार्चेति॥

(हारीत धर्म सूत्र २१।२४)

अर्थात् ब्रह्मवादिनियों का उपनयन, अग्निहोत्र, वेदों का अध्ययन और अपने गृह में भिक्षाचर्या होती है।

यज्ञाचार्य का एकवचन मित्र विरचित वीरमित्रोदय तथा निर्णय-सिन्धु आदि ग्रन्थों में उद्धृत पाया जाता है जिसमें कहा गया है—

पुरा काले कुमारीणां, मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां, सावित्रीवाचनं तथा॥

यह श्लोक पराशर संहिता के सामसमाधवीयभाष्य में उद्धृत है जो सन् १८९३ में छपी थी। इसमें कहा गया है कि पूर्व काल में (किसी किसी संस्करण में पुराकल्पे यह पाठ है) कुमारियों का भी ब्रह्मचर्य व्रत दीक्षा सहित मौञ्जीबन्धन, वेदों का अध्ययन, अध्यापन तथा गायत्री का जप करना कराना इत्यादि होता था।

ब्रह्मवादिनी, गार्गी, मैत्रेयी इत्यादि के ब्रह्मविद्या विषयक उच्च कोटि के संवाद उपनिषदों में और सुलभा संन्यासिनी के महाभारत आदि में पाये जाते हैं। ऋषि कुशध्वज की पुत्री कमलाशा का वृत्तान्त ब्रह्मवैवर्त पुराण के प्रकृति खण्ड १४।६५ में रामायण के आधार पर जो पाया जाता है, उसका निन्नलिखित श्लोक इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

मूर्तिमन्तश्च सततं, वेदाश्चत्वार एव हि।
सन्ति यस्यास्तु जिह्वान्द्रग्रे, तेन वेदवती स्मृता॥

(ब्रह्मवैवर्त पुराण प्रकृतिखण्ड १४।६५)

अर्थात् क्योंकि चारों वेद कमलाशा की जिह्वा पर या उसे कण्ठस्थ थे, इसलिये उसको सब लोग वेदवती के नाम से स्मरण

करते थे। अन्य भी अनेक ब्रह्मवादिनियों तथा पण्डिताओं का वर्णन रामायण, महाभारत और भागवतादि पुराणों में भी उपलब्ध होता है। द्रौपदी देवी न केवल नीति शास्त्रों में पण्डिता थी, अपितु सब वेदों का भी उसने भलीभांति अध्ययन किया था। सुप्रसिद्ध आचार्य स्वामी आनन्दतीर्थ (श्री मध्वाचार्य) ने महाभारत तात्पर्य निर्णय में कहा है—

वेदा अप्युत्तमस्त्रीभिः कृष्णाद्याभिरिहाखिलाः ।

(स्वा० आनन्दतीर्थ प्रणीते म०भा० तात्पर्यनिर्णय)

अर्थात् उत्तम स्त्रियों को कृष्णा (द्रौपदी) इत्यादि की तरह सब वेदों का भी अध्ययन करना चाहिये।

यह खेद की बात है कि मध्यकाल में स्त्रियों को वेदाध्ययन के अधिकार से वञ्चित कर दिया गया जिसका बड़ा भयंकर परिणाम हुआ और हमारा पवित्र देश रसातल में प्रविष्ट होता गया। वैदिक काल में स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार था। इस बात को देश-विदेश के सभी ऐतिहासिकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है और अपने ग्रन्थों में इसका स्पष्टतया प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ—जगद्विख्यात मनीषी, भारत के वर्तमान राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जी ने Religion and Society नामक अपनी पुस्तक में लिखा है—

Girls had Upananyanam performed for them and carried out the Sandhya rites."

अर्थात् प्राचीन काल में कन्याओं का उपनयन वा यज्ञोपवीत संस्कार होता था और वे सन्ध्या किया करती थीं। इसके लिये उन्होंने—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (अ० ११।६।१)

तथा गोभिल गृह्यसूत्र का—

यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत सीमोदद् गन्धर्वाय।

(गोभिल गृ० सू० २।१।१९)

इत्यादि प्रमाण भी उद्धृत किये हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के भूतपूर्व प्राचीन इतिहासोपाध्याय डॉ० अलतेर ने अपनी "Education in Ancient India". नामक पुस्तक में लिखा है—

"No one can, recite or offer vedic sacrifices without having undergone the Vedic intiation."

It is, therefore, but natural that in the early period, the Upanayan

of girls should have been as common as that of boys. There is ample evidence to show that such was the case. The Atharva Veda (11-5-18) expressly refers to maidens undergoing the Brahmacharya discipline :-

(ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्) and the Sutra works of the 9th. Century B.C. supply interesting details in this connection.

(Education in Ancient India by Dr. A.S. Altekar P. 204).

भावार्थ यह है कि उपनयन के बिना कोई वेद मन्त्रों का उच्चारण अथवा वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान नहीं कर सकता, इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि प्राचीन काल में कन्याओं का उपनयन भी इतना ही प्रचलित था जितना बालकों का। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि ऐसी ही बात यथार्थ है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् इत्यादि में कन्याओं के ब्रह्मचर्य पालन का स्पष्ट विधान है और पञ्चम शताब्दी ईसा पूर्व के सूत्र ग्रन्थों में एतद्विषयक विस्तृत निर्देश हैं। सुप्रख्यात भारतीय विद्वान् श्री पं० सत्यव्रत जी सामश्रमी M.R.A.S. ने ऐतरेयालोचन में, श्री रमेशचन्द्र दत्त ने "Civilisation in India" में, श्री भगवत्शरण उपाध्याय एम०ए० ने "Women in Rigveda" में, महामहोपाध्याय श्री पं० शिवदत्त जी शर्मा ने आर्य विद्यासुधाकर, वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी, जैमिनीय न्यायमालाविस्तारः, निर्णयसिन्धु इत्यादि संस्कृत ग्रन्थों की टीकाओं में, श्री पं० नृसिंहदेव जी शास्त्री ने कुन्दमाला की टीका में, महामहोपाध्याय डॉ० वामन पाण्डुरङ्ग ने History of Dharmashastras में श्री पं० महादेव जी शास्त्री ने The Vedic Law of Marriage में रागोजिन ने "Vedic India" में और डॉ० गोथरस मीज ने "Dharma and Society" में इस बात को सप्रमाण बताया है कि प्राचीन काल में कन्याओं का उपनयन होता था और स्त्रियाँ न केवल वेदाध्ययन करती थीं, बल्कि ऋषिकाएँ भी बनती थीं।

डॉ० मीज ने तो "Dharma and Society" के पृ० ७१ में बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

"In Rigvedic India, there were women Rishis, the wives participated in the ceremonies with their husbands."

"They were highly honoured and respected and could even perform the function of a priest at a sacrifice."

(Dharma & Society by Dr. Mees, P. 71)

अर्थात् ऋग्वेदीय भारत में ऋषिकाएं भी हुआ करती थीं और

स्त्रियां अपने पतियों के साथ यज्ञों और संस्कारों में भाग लेती थीं। उनका बड़ा मान होता था और वे यज्ञों में पौरोहित्य भी कर सकती थीं। स्त्रीशिक्षाविषयक वैदिक आदर्श को पुनः समस्त जनता के सम्मुख रखकर उसका उद्धार करने की पवित्र भावना से सुप्रसिद्ध उदार वैदिक धर्मोद्धारक तथा समाजसुधारक ऋषि दयानन्द ने लिखा—

स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये क्योंकि इनके सीखे विना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल बर्ताव, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिये, वैसा करना कराना, वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें। शिल्प विद्या के जाने विना घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनना, बनवाना, गणित विद्या के विना सब का हिसाब समझना, समझाना, वेदादि शास्त्र विद्या के विना ईश्वर और धर्म को न जान कर अधर्म से कभी न चल सके।

(सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)

अध्याय–४

छात्रों में अनुशासनहीनता

शिक्षा–विषयक एक समस्या जिसने शिक्षाशास्त्रियों को परेशान कर रखा है, और जो उनके लिए सचमुच सिरदर्द बन रही है, वह छात्र–छात्राओं में अनुशासनहीनता की है। प्रायः प्रतिदिन के समाचार–पत्र छात्रों की उद्दण्डता और अनुशासनहीनता के समाचारों से भरे रहते हैं। एक शिक्षाशास्त्री डॉ० महेशचन्द्र सिंहल एम०ए०, एम०एड०, पी–एच०डी० ने 'प्राचीन भारतीय शिक्षा की एक झांकी' शीर्षक लेख में वर्तमान शोचनीय दशा का चित्रण निम्नलिखित यथार्थ शब्दों में किया है—

आज की शिक्षा प्राचीन शिक्षा से पूर्णतया विपरीत पड़ती है। न वैसा वातावरण है, न वैसे गुरु और शिष्य ही। अधिकतर विद्यालय नगरों के मध्य दिखाई पड़ते हैं। जहाँ द्यूत और कोलाहल का बोलबाला है। चारों ओर चटपटी और चमकीली भड़कीली वस्तु बेचनेवाली दुकानों तथा सिनेमा थियेटरों का दौर दौरा है, जिनकी ओर से आँखें बन्द कर लेना सरल काम नहीं है। आज के विद्यार्थी के कानों में चारों ओर से अश्लील शब्द पड़ते हैं, और उसकी जिह्वा पर भी सिनेमा के गाने चढ़े रहते हैं। वह पुस्तकें भी पढ़ता है तो प्रेम और जासूसी की कहानियोंवाली, जो पतन की ओर ही ले जाने वाली हैं।

आज गुरु–शिष्य के सम्बन्ध कैसे हैं यह बताने की आवश्यकता नहीं। अध्यापक को अपनी जान बचानी कठिन हो रही है। वह छात्रों से ऐसे ही डरता है जैसे शेर से बकरी। उसके लिये मैनेजर, हेडमास्टर और छात्र, ये तीनों ही अफसर हैं। यह वही भारत है जहां गुरु को सब से ऊँचा पद दिया जाता था। लेकिन आज उसकी दशा दयनीय है। पाठक तनिक सोच कर देखें इस अधोगति को।

(गुरुकुल पत्रिका श्रद्धानन्द जन्मशताब्दी अंक, मार्च १९५७ ई०)

विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता की बीमारी इतनी फैल चुकी है कि उसके कुछ उदाहरण देने की भी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

प्रश्न यह है कि छात्रों में बढ़ती हुई इस अनुशासनहीनता और

उद्दण्डता के मुख्य कारण तथा उसके प्रतीकार क्या हैं?

कुछ वर्ष पूर्व उत्तरप्रदेश की विधानपरिषद् में इस विषय पर बहस के दौरान छात्रों की अनुशासनहीनता के निम्न कारणों का निर्देश किया था—

१. सार्वजनिक स्थलों में अश्लील चित्रों का प्रदर्शन।

२. सिनेमाओं में अश्लील दृश्य और गीत।

३. राजनैतिक दलों द्वारा विद्यार्थियों का दल कार्यों के लिए उपयोग।

४. धार्मिक और नैतिक शिक्षा का अभाव।

इसमें सन्देह नहीं कि इन सब कारणों से छात्रों में अनुशासन-हीनता और उद्दण्डता बढ़ती है। धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की आवश्यकता पर हम आगे पृथक् विचार करेंगे, जिसके विना हमारे देश का छात्रवर्ग नैतिक पतन की ओर जा रहा है। यदि विद्यार्थी वेदादिशास्त्रों की शिक्षा को ग्रहण करते तो अपने शिक्षकों को माता-पिता की तरह मानकर उनकी आज्ञापालन करना अपना कर्तव्य समझते। शिक्षक भी अपने छात्रों को पुत्रवत् मानकर उनको सदाचारी बनाने का पूर्ण ध्यान रखते जैसा कि पूर्व उद्धृत यजुर्वेद २।३३ के निम्न मन्त्र को उद्धृत करते हुए हमने बताया था—

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥

इसके भावार्थ में ऋषि दयानन्द सरस्वती ने ठीक ही लिखा है कि—ईश्वर आज्ञापयति—विद्वद्भिर्विदुषीभिश्च विद्यार्थिनः कुमारा विद्यार्थिन्यः कुमार्यश्च विद्यादानाय गर्भवद् धारणीयाः। यथा गर्भः क्रमेण वर्धते तथैव सुशिक्षया एते एताश्च सद्विद्यायां वर्धयितव्याः पालनीयाश्च। यतो विद्यायोगेन धार्मिकाः पुरुषार्थयुक्ता भूत्वा सदैव सुखयुक्ता भवेयुरित्येतत् सदैवानुष्ठेयमिति।

भाषानुवाद—ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् पुरुष और स्त्रियों को चाहिये कि विद्यार्थी कुमार को विद्या देने के लिए गर्भ के समान धारण करें। जैसे क्रमशः गर्भ के बीच देह बढ़ता है, वैसे अध्यापक लोगों को चाहिये कि अच्छी-अच्छी शिक्षा से ब्रह्मचारी कुमार और कुमारी की श्रेष्ठ विद्या में वृद्धि करें तथा पालन करें। वे विद्या के योग से धर्मात्मा और पुरुषार्थ युक्त होकर सदा सुखी हों, यह अनुष्ठान सदैव करना चाहिये।

निरुक्त में ऐसे ही वेद मन्त्रों के आधार पर यह आदेश दिया

गया है कि—

या मातृमत्यवितथेन कर्णावदुः सं कुर्वन्नमृत् उपयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तं दुह्येत कतमच्चनाह॥

(यास्काचार्यकृत निरुक्त)

अर्थात् जो शिक्षक सत्य के द्वारा कर्णों को तृप्त कर देता, सुख और अमृत प्रदान करता है, उसे विद्यार्थी माता और पिता के तुल्य माने। कभी उसके साथ द्रोह न करे।

कहाँ तो वेदादि सत्य शास्त्रों की शिक्षा शिक्षकों को माता-पिता मान कर उनके प्रति सदा विनीत भाव रखने की है और कहाँ आजकल के अनेक विद्यार्थियों की उनके अपमान करने, उन्हें पीटने तथा हत्या तक की धमकी देने की है। जैसा कि रोजमर्रा प्रकाशित होने वाली खबरों से ज्ञात होता है।

काठक गृह्यसूत्र १।१९ में ब्रह्मचारी के लिये कहा है कि—

आचार्यस्याप्रतिकूलः।

अर्थात् उसे सदा आचार्य के अनुकूल, आज्ञाकारी और विनीत बनकर आचरण करना चाहिये। आपस्तम्बीय धर्मसूत्र १७।२४ में विद्यार्थी के लिए निम्न गुणों से युक्त होने का उपदेश है—

मृदुः। शान्तः। दान्तः। ह्रीमान्। दृढधृतिः। अक्रोधनः। अनसूयः॥

अर्थात् विद्यार्थी को कोमल स्वभाव वाला, शान्त, दान्त, संयमी, उचित लज्जा युक्त, दृढ़ धैर्यशाली, क्रोध रहित और ईर्ष्यारहित होना चाहिये। आजकल के छात्र-छात्राओं में से कितने हैं जो इन उत्तम गुणों को धारण करने का प्रयत्न करते हैं। कितने शिक्षक हैं जो इन गुणों को धारण करने की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करते हैं। यह अवस्था इतनी शोचनीय है कि जिसे उचित धार्मिक शिक्षा के विना दूर करना असम्भव है। प्राचीन उत्तम आदर्शों के अनुसरण का यदि विद्यार्थी प्रयत्न करें और शिक्षक उनके सम्मुख उत्तम आदर्शों को प्रस्तुत करें तो यह वर्तमान अनुशासन हीनता और उद्दण्डता कभी रह नहीं सकती।

हमने ऋग्वेद १०।३२।७ के जिस मन्त्र को अर्थ सहित पूर्व प्रकरण में उद्धृत किया था उसमें अनुभवी शिक्षक से प्राप्त शिक्षा और अनुशासन का महत्त्व बड़ी उत्तमता से बताते हुए कहा है कि—

अक्षे॑त्रवित्क्षेत्र॒विदं॒ ह्यप्रा॒ट् स प्रैति॑ क्षेत्र॒विदानु॑शिष्टः।
ए॒तद्वै भ॒द्रम॑नु॒शास॑नस्यो॒त स्रु॒तिं वि॑न्दत्यञ्ज॒सीना॑म्॥

अर्थात् जब कोई अनभिज्ञ व्यक्ति अनुभवी शिक्षक के समीप जाकर जिज्ञासु भाव से प्रश्न करता है तो उसके द्वारा उत्तम शिक्षा को पाकर वह आगे-आगे बढ़ता जाता है। इस प्रकार के अनुशासन का फल बड़ा कल्याणकारक होता है और इस अनुशासन के द्वारा वह शिष्य अभीष्ट शुभकामना को प्राप्त कराने वाले मार्ग को प्राप्त कर लेता है।

वर्तमान शोचनीय दशा के लिए जहाँ विद्यार्थी उत्तरदायी हैं, वहां शिक्षकों की भी उत्तरदायिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। वेदों में शिक्षकों के विषय में कहा है कि—

तं धीरा॑सः क॒वय॒ उन्न॑यन्ति स्वा॒ध्यो॒३॒ मन॑सा दे॒व॒यन्तः॑ ॥

(ऋ० ३।८।४)

अर्थात् उस शिष्य को (धीरासः) धैर्यशाली (कवयः) तत्त्वदर्शी (स्वाध्यः) बहुत उत्तम कर्म करने वाले (मनसा देवयन्तः) मन से अपने शिष्यों को सत्यनिष्ठविद्वान् बनाने की इच्छा करने वाले विद्वान् उन्नत करते हैं।

आज इस प्रकार के दिव्य गुणों से युक्त शिक्षक भी कितने कम दिखाई देते हैं जिनके प्रति छात्र स्वयं उत्सुक हो जायें और उन्हें माता-पिता के समान समझ कर उनका आदर करें। आजकल के अनेक शिक्षक भी सदाचार की दृष्टि से पतित होते जा रहे हैं।

ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं जिनसे ज्ञात हो सकता है कि विद्यार्थियों में प्रचलित अनुशासनहीनता के लिए अनेक अध्यापक भी उत्तरदायी हैं जो दुराचार और भ्रष्टाचार का उदाहरण रख कर छात्रों को भी मार्गभ्रष्ट करते और अपनी प्रतिष्ठा खो बैठते हैं। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के उच्च अधिकारी सच्चे अर्थों में आचार्य, अर्थात् 'आचारं ग्राहयतीति आचार्यः' इस निरुक्ति के अनुसार सदाचार को ग्रहण कराने वाले हों तथा अन्य सब शिक्षक और शिक्षाधिकारी भी छात्र-छात्राओं के सम्मुख सदाचार का उच्च आदर्श प्रस्तुत करने वाले हों। इसके बिना छात्रों की अनुशासन हीनता दूर होनी असम्भव है।

यह अत्यन्त खेद और लज्जा की बात है कि न केवल विदेशों के अपितु भारत के भी बड़े-बड़े शहरों में सार्वजनिक स्थलों विशेषतः चौराहों पर अश्लील, प्रायःनग्न व नग्न प्रायः स्त्रियों के चित्रों का प्रदर्शन एक सामान्य सी बात हो गयी है। इसकी ओर न

सरकार का ध्यान जाता है और न जनता के नेताओं का। इस प्रकार के अश्लील चित्रों का अविवाहित कुमार-कुमारियों पर जो बुरा प्रभाव पड़ता है, उससे उनका नैतिक पतन कामुकता की वृद्धि से होता है। उसके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। इससे ब्रह्मचर्य की भावना के विरुद्ध वातावरण उत्पन्न होता है क्योंकि ब्रह्मचर्य का लक्षण सुश्रुत संहिता में तथा अन्यत्र इस प्रकार के शब्दों में पाया जाता है—

स्मरणं कीर्तनं केलिः, प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्ग, प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यम्, एतदेवाष्टलक्षणम्॥

(सुश्रुत)

अर्थात् स्त्रियों का स्मरण, कीर्तन, उनके साथ क्रीड़ा, उनको सकामभाव से देखना, एकान्त में उनसे वार्तालाप, सम्भोग का सङ्कल्प, निश्चय और उसे क्रिया में परिणत करना, इसे बुद्धिमान् लोग अष्टाङ्ग मैथुन कहते हैं। इनके परित्याग को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

सार्वजनिक स्थलों अथवा गृहों में इस प्रकार अश्लील चित्रों का प्रदर्शन ब्रह्मचर्य का प्रबल विरोधी है और अत्यन्त हानिकारक है। इसमें क्या सन्देह हो सकता है। महाभारत अनुशासन पर्व अ० १६२।४७ में महर्षि वेदव्यास जी का ब्रह्मचर्य तथा सदाचार रक्षार्थ यह आदेश है कि—

न नग्नामीक्षेत नारीं, न नग्नान् पुरुषानपि।

अर्थात् नग्न नर-नारियों को कभी न देखना चाहिये।

स्वयं वेद में स्त्रियों के लिए उपदेश दिया गया है कि—

मा ते कशप्लकौ दृशन्त्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥

(ऋ० ८।३३।१९)

अर्थात् तुम्हारे गुप्त अंग किसी को दिखायी न दें, ऐसी वेष भूषा तुम्हें धारण करनी चाहिये। इस प्रकार उचित आर्य मर्यादा का पालन करती हुई ही तुम ब्रह्मा के सर्वोच्च पद को प्राप्त करने योग्य हो सकती, हो अन्यथा नहीं। अतः सार्वजनिक स्थलों में अश्लील चित्रों के प्रदर्शन की ब्रह्मचर्य तथा सदाचार विरोधिनी प्रथा के विरुद्ध जनता को प्रबल आन्दोलन करना चाहिये तथा सरकार को भी इसे अविलम्ब बन्द करवाने का प्रयत्न करना चाहिये।

दूसरा, छात्रों में अनुशासनहीनता का बड़ा कारण सिनेमाओं में अश्लील दृश्यों और गीतों का है। यह सर्वविदित है कि विदेशों की तो बात ही अलग है, हमारे देश में भी जो चलचित्र (सिनेमा) अधिकतर आजकल प्रचलित हैं, उनमें अनेक अश्लील कामवासना वर्धक दृश्य दिखाये जाते और गीत गाये जाते हैं, जिनका युवक–युवतियों, विशेषतः कुमार–कुमारियों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और वे नैतिक पतनोन्मुख हो जाते हैं। मुझे स्मरण है कि आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व एक शिष्टमण्डल के साथ मैं नयी दिल्ली के आकाशवाणी विभाग के एक प्रमुख अधिकारी से मिला और उनके सम्मुख हम लोगों ने चलचित्रों में गाये जाने वाले कई अश्लील गीतों के नमूने प्रस्तुत करते हुए उन पर रोक लगाने की मांग प्रस्तुत की तो उन्होंने निःसंकोच भाव से कहा कि सरकार इस विषय में क्या कर सकती है? आप जिन गीतों को अश्लील बताते और उन पर रोक लगाने की मांग करते हैं, उनके लिये हमारे पास जनता की फरमाइशें बार–बार आती हैं। जिनमें उन्हें फिर से प्रसारित करने का अनुरोध किया जाता है और जनता के अनुरोध को दृष्टि में रखते हुए सेन्सर बोर्ड भी उन पर रोक नहीं लगाता। अतः आपको जनता को ही समझाना चाहिये और उसकी रुचि को बदलने का यत्न करना चाहिये। यद्यपि हमने अधिकारियों से निवेदन किया कि जनता को सन्मार्ग में प्रवृत्त करना और उसे असन्मार्ग से हटाना भी प्रजातन्त्रात्मक सरकार का कर्तव्य है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि सिनेमाओं के इन अश्लील गीतों से जनता की रुचि भी भ्रष्ट हो गयी है और कुमार–कुमारियों के चरित्र तथा आचार–विचार और व्यवहार पर तो इनका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा है। इससे भी छात्र–छात्राओं की अनुशासनहीनता और उद्दण्डता में वृद्धि हुई है इसमें सन्देह नहीं। ऐसे–ऐसे उदाहरण हैं जहां सिनेमाओं में ठगों, चोरों के कारनामों को देखकर नवयुवकों में इस प्रकार की चोरी की प्रवृत्ति हुई। अतः जनता में प्रबल संगठित आन्दोलन द्वारा सिनेमाओं तथा नाटकों में से ऐसे अश्लील दृश्यों और गीतों को हटवाने का अवश्य ही समस्त समाज हितैषियों को प्रयत्न करना चाहिये।

तीसरा कारण है राजनैतिक दलों द्वारा विद्यार्थियों का दल कार्यों के लिए उपयोग। यह देखा गया है कि अनेक राजनैतिक दलों के नेता विद्यार्थियों को सरकार वा उसके अधिकारियों के विरुद्ध भड़काते और हड़तालें करवाते हैं। इससे जहाँ उनकी पढ़ाई में बाधा पड़ती है,

वहां उनमें अनुशासन हीनता और उद्दण्डता भी बढ़ती है। प्रायः स्वतन्त्रता और आत्म सम्मान की रक्षा के नाम पर इस प्रकार के प्रदर्शन और हड़तालें करवाई जाती हैं। इन नेताओं के उकसाने पर विद्यार्थी संघ वा स्टूडेण्ट यूनियन द्वारा ऐसी हड़तालें शिक्षण संस्थाओं में प्रायः होती रहती हैं। इतने अपमान जनक प्रदर्शनों, पोस्टरों, सार्वजनिक सभाओं तथा धमकियों द्वारा अपनी मांगों को मनवाने का प्रयत्न किया जाता है। जिस प्रकार बालक अपने माता-पिता के सम्मुख अपनी आवश्यकताओं वा कष्टों को रखते हुए उनकी पूर्ति तथा कष्ट निवारण के लिए निवेदन करते हैं, उसी प्रकार शिक्षण संस्थाओं के अधिकारियों से मिलकर अपनी समस्याओं का हल कराने का प्रयत्न कराना चाहिए। देश की राजनैतिक स्थिति को समझना और उस पर मनन करना विद्यार्थियों का कर्तव्य है, किन्तु प्रचलित राजनीति में क्रियात्मक भाग लेने से न केवल उनकी शिक्षा में बाधा पड़ती है अपितु इस प्रकार की बहिर्मुखता के अन्य भी अनेक अनिष्टकारी अवाञ्छनीय परिणाम होते हैं जिनसे विद्यार्थियों को बचने की आवश्यकता है।

चतुर्थ प्रधान कारण, जो छात्रों में अनुशासनहीनता का है। इस विषय पर हम कुछ विस्तार से आगे विचार करेंगे। हम इस सन्दर्भ में सहशिक्षा बन्द करने को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझते हैं। नवयुवकों और नवयुवतियों की सहशिक्षा भी छात्रों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता के लिए उत्तरदायिनी है, इसमें हमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। सहशिक्षा की प्रथा स्पष्टतया ब्रह्मचर्य विरोधिनी और हानिकारक है।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के मौलिक तत्त्वों का शिक्षण संस्थाओं में समावेश किया जाये तो छात्रों में अनुशासन हीनता की समस्या का बहुत अंश तक स्वयं समाधान हो जायेगा।

छात्रों में अनुशासन हीनता पर वि० वि० अ० आयोग के प्रतिवेदन में जो जनवरी सन् १९५६ में प्रकाशित हुआ, कहा गया है—

आयोग को इस बात का दुःख है कि विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है और इससे कई बार काम में बड़ी बाधा पड़ती है। आयोग के विचार में सार्वजनिक जीवन में अनुशासन का अभाव ही छात्रों में फैली हुई उद्दण्डता का कारण है। उसका एक इलाज यह सोचा गया है कि छात्रों को दिन भर व्यस्त रखा जाये और खाली समय के लिये उपयुक्त तथा स्वस्थ मनोरञ्जन इत्यादि का प्रबन्ध हो।

आयोग ने राष्ट्रीय नेताओं और राजनैतिक दलों से भी अनुरोध किया है कि वे विद्यार्थियों की इस अवस्था पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें और विद्याध्ययन के अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने में विश्व विद्यालयों के अधिकारियों की सहायता करें। आयोग का विचार है कि देशवासी अभी तक इस बात को अच्छी तरह अनुभव नहीं करते कि राष्ट्र की उन्नति में उच्च शिक्षा का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इत्यादि।

हमारे विचार में छात्रों को अधिक व्यस्त रखने आदि से अनुशासन-हीनता में कुछ कमी हो सकती है। किन्तु सच्चरित्र का निर्माण करने वाली धार्मिक शिक्षा के विना अधिक लाभ नहीं हो सकता। अतः इसकी ओर अविलम्ब ध्यान देने की आवश्यकता है। नवयुवक-नवयुवतियों और युवक-युवतियों की सहशिक्षा भी अनुशासनहीनता और दुश्चरित्रता व कामुकता की वृद्धि में सहायिका है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। उसे बन्द किये बिना भी छात्रों की अनुशासन तथा चरित्रहीनता में, केवल उन्हें अधिक व्यस्त रखने से काम नहीं चल सकता, यह हमारा निश्चित मत है।

अध्याय–५

नैतिक व आध्यात्मिक शिक्षा

शिक्षाविषयक कुछ समस्याओं पर इससे पूर्व वेदों की दृष्टि से तुलनात्मक विचार कर चुके हैं। शिक्षा में नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा का स्थान होना चाहिये या नहीं, यदि हां तो उसका क्या स्वरूप होना चाहिये? यह एक जटिल समस्या बनी हुई है। स्वराज्य की प्राप्ति के अनन्तर क्योंकि हमारे देश के संविधान में भारत को असाम्प्रदायिक राष्ट्र या Secular State घोषित किया गया है, यह समस्या और भी जटिल रूप धारण कर चुकी है। ऐसे अनेक सुशिक्षित सज्जन हैं जो Secular State का अर्थ धर्म विहीन वा अधार्मिक राज्य समझ कर उसका ऐसा ही अनुवाद करते हैं। किन्तु हमारे देश के अनेक मूर्धन्य नेताओं और राज्याधिकारियों ने भी (जिनमें दिवंगत प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी और भू० महामान्य राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन्‌जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है) अनेक बार यह स्पष्ट घोषणा की है कि Secular State का अर्थ धर्म विहीन वा अधार्मिक राष्ट्र नहीं, किन्तु असाम्प्रदायिक राष्ट्र है। इसमें धर्म का आचरण करने की प्रत्येक को पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु सम्प्रदाय के आधार पर इसमें किसी प्रकार का भेद भाव नहीं रखा जायेगा। इस स्पष्टीकरण के होते हुए भी सरकारी विद्यालयों और महाविद्यालयों में धार्मिक वा आध्यात्मिक शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है और यह विचार प्रचलित है कि यदि सरकार से किसी प्रकार की भी सहायता शिक्षण संस्था के लिए लेनी हो तो धर्मशिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता। इसका जो परिणाम छात्र-छात्राओं में अनुशासनहीनता, उच्छृङ्खलता, नैतिक पतन, उच्च आदर्शों का अभाव इत्यादि रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है, उससे सब शिक्षाशास्त्री परेशान तथा खिन्न हैं। उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा कि क्या किया जाये। प्रायः शिक्षा वैज्ञानिकों की इस विषय में किङ्कर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति है। जिन अराजकीय संस्थाओं में पहले धर्मशिक्षा निःसंकोच दी जाती थी, उनमें से भी अनेकों ने सरकारी सहायता वा अनुदान बन्द होने की आशंका से उसका प्रायः परित्याग कर दिया है। अतः इस समस्या पर विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है।

जब हम वेदों की दृष्टि से इस विषय पर विचार करते हैं तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेद नीति, धर्म और आध्यात्मिकता के सर्वोत्तम प्रतिपादक हैं। उनमें जहाँ भूमि को धारण करने वाले गुणों और वस्तुओं का प्रतिपादन है, वहां ब्रह्म वा वेद की भी गणना है। अथर्व० १२।१।१ में कहा है—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

(अथर्व० १२।१।१)

अर्थात् सत्य, विस्तृत शिक्षा, तेजस्विता, ब्रह्मचर्यादि दीक्षा, शीतोष्ण, सुख-दुःख, हानि-लाभादि द्वन्द्व, सहिष्णुता, वेद का ब्रह्मज्ञान और यज्ञ, ये पृथिवी को धारण करते हैं। इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या प्रसङ्गानुसार अन्यत्र की जायेगी। यहां तो अभी केवल इतना निर्देश करना है कि वेद ज्ञान के विना पृथिवी का धारण असम्भव है। धर्म का मूल वेद है। इस बात को सर्व शास्त्रकारों ने एक स्वर से स्वीकार किया है, जैसे कि मनु महाराज ने अपनी स्मृति में कहा है—

धर्मं जिज्ञासमानानां, प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ (मनु० २।१३)

अर्थात् जो धर्म को जानना चाहते हैं, उनके लिए परम प्रमाण वेद है। वेदों में सच्चे धर्म के स्वरूप का नीति वा सदाचार का तथा आध्यात्मिकता का विशुद्ध रूप में प्रतिपादन है। सच्चरित्र निर्माण वेदों के अनुसार शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य है। इस बात को पहले अनेक वेद मन्त्रों को उद्धृत करते हुए बताया जा चुका है। वेदों में आत्मा, परमात्मा, उनके सम्बन्ध तथा आत्मिक उन्नति के साधनों का अनेक सूत्रों में स्पष्ट उपदेश है। इस बात को सप्रमाण आगे दिखाया जायेगा। अतः वेदों के अनुसार धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा अत्यावश्यक ही नहीं, अनिवार्य होनी चाहिये। इसमें क्या सन्देह हो सकता है? अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध पृथिवी सूक्त १२।१ में तो पृथिवी का विशेषण ही धर्मणा धृताम् अथवा धर्म द्वारा धारित, यह आया है। मन्त्र इस प्रकार है—

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥

(अथर्व० १२।१।१७)

अर्थात् सब ओषधि, वनस्पति आदि को उत्पन्न करने वाली धर्म द्वारा धारित अतएव स्थिर पृथिवी की, जो सुखदायिनी है, हम सदा सेवा करते रहें। मन्त्र से यह स्पष्ट है कि जहाँ धर्म का आचरण नहीं

किया जाता और उसकी शिक्षा नहीं दी जाती, वहाँ पृथिवी वा उसके निवासियों की सच्ची उन्नति नहीं हो सकती। अतः वेदों के अनुसार तो धार्मिक, नैतिक वा आध्यात्मिक शिक्षा के बिना मनुष्य का कल्याण कभी हो ही नहीं सकता। अब इस विषय में देश-विदेश के कुछ मनीषियों के विचारों का दिग्दर्शन कराया जायेगा, जिससे धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा की आवश्यकता का समर्थन होता है।

देश विदेश के अनेक मनीषियों के विचार—

स्वा० दयानन्द जी सरस्वती के शिक्षा लक्षण का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, जिसमें उन्होंने कहा है कि—

शिक्षा—जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ोतरी होवे और अविद्यादि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं।

(स्वमन्तव्यामन्तव्य २२)

धर्मात्मता, जितेन्द्रियता की वृद्धि, धर्म, नीति वा सदाचार और आध्यात्मिकता की शिक्षा के विना नहीं हो सकती, इसलिए स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने वेद वेदाङ्ग और धर्म ग्रन्थों की शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया है।

स्वा० विवेकानन्द जी, जो हमारे देश के एक अत्यन्त मनीषी ओजस्वी संन्यासी हुए हैं, उन्होंने एक स्थान पर बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

"Take religion from human society and what will remain? Nothing but a forest of brutes?

"Swami Vivekanand (Complete Works Vol. III. þ)".

अर्थात् धर्म को मानव समाज से निकाल दो तो क्या रह जायेगा? जानवरों के जंगल के सिवाय कुछ भी नहीं।

सुप्रसिद्ध मनीषी श्री अरविन्द जी ने इस विषय में जो लिखा उसको उद्धृत करना भी हम इस प्रसङ्ग में आवश्यक समझते हैं। उन्होंने लिखा—

यद्यपि आज ऐसी पाठ्य पुस्तकों का चयन सम्भव है जो मस्तिष्क के उचित प्रशिक्षण के सम्बन्ध में उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, किन्तु वर्तमान दशाओं में स्कूलों और कॉलेजों में उचित नैतिक शिक्षा प्रदान करना अत्यन्त कठिन पाया जा रहा है। इसकी उपयोगिता से लोगों का ध्यान हटता जा रहा है। यह कहना भयंकर भूल होगी कि ऐसी शिक्षा प्रभावहीन होती है। इस तरह की शिक्षा हमारे अन्तःकरण

में कुछ विचारों को जन्म देती है और यदि हम इन विचारों को अपने जीवन में विकसित करते हैं तो हमारे आचार व्यवहार पर इनका निश्चित प्रभाव पड़ता है।

"नैतिक और धार्मिक शिक्षा की उपेक्षा करना सारी जाति को दूषित करना है।"

नैतिक शिक्षा का पहला सिद्धान्त अपना मत प्रकट करना है न कि आदेश देना या अपने विचारों को लादना। मत प्रकट करने का सब से अच्छा तरीका व्यक्तिगत दृष्टान्त प्रस्तुत करना, वार्तालाप करना तथा पुस्तकों का प्रतिदिन स्वाध्याय करना है। इन पुस्तकों में छोटी कक्षा के विद्यार्थियों के लिए प्राचीन गौरव पूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किये जाने चाहियें जिनमें केवल नैतिक पाठों का संकलन मात्र ही न हो, बल्कि सर्वोच्च मानवीय हितों का दिग्दर्शन कराया गया हो।

उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए इनमें महान् विभूतियों के महान् विचारों को प्रस्तुत किया जाये। साहित्य के वे भाग प्रस्तुत किये जायें, जो मनुष्य की भावनाओं में अग्नि स्फुरण का कार्य करते हैं, और महान् आदर्श की प्रेरणा जागृत करते हैं।

इतिहास के वे अंश प्रस्तुत किये जायें जो महान् विचारों, उदात्त भावनाओं और अभिलषित आदर्शों की सत्ता प्रकट करते हैं। आर्य कौन कहलाते हैं। ब्राह्मणों में ज्ञान पिपासा, आत्म समर्पण, पवित्रता और आत्म त्याग, क्षत्रियों में साहस, सम्मान भावना, उदारता, वीरता और देशभक्ति, वैश्यों में परोपकार, चतुरता, उद्योग, उदार, साहस तथा विशाल हृदयता और शूद्रों में सेवा भावना—यही हैं आर्यों के गुण और इन गुणों से पूर्ण व्यक्ति ही आर्य कहलाने के अधिकारी हैं। वे सारे राष्ट्र में एक ऐसे नैतिक वातावरण की स्थापना कर देते हैं जो हम अपने नवयुवकों के लिए चाहते हैं।

हम उसे धार्मिक शिक्षा नहीं कह सकते जो शाश्वत नहीं है। साधना के विभिन्न अंगों का प्रयोग और आध्यात्मिक आत्मशिक्षा और अभ्यास ही केवल धार्मिक जीवन को प्राप्त करने के सही मार्ग हैं। धार्मिक शिक्षा चाहे जिस रूप में प्रदान की जाये, लेकिन उसके मूल सार में ईश्वर के प्रति, मानवता के प्रति, जीवन जीने की प्रेरणा हो और अपने को राष्ट्रीय कहलाने वाले प्रत्येक स्कूल का आदर्श भी यही होना चाहिये। (भारती विद्याभवन, बम्बई, २६ जनवरी १९६४)

जगद्विख्यात योगी और मनीषी श्री अरविन्दजी के धर्मशिक्षा

और उसके स्वरूप विषयक ऊपर उद्धृत विचार अत्यन्त माननीय हैं और उनसे इस विषय पर बड़ा उत्तम प्रकाश पड़ता है। उनका यह कथन कि नैतिक और धार्मिक शिक्षा की उपेक्षा करना सारी जाति को दूषित करता है, अत्यन्त गंभीर और विचारोत्तेजक है।

महात्मा गांधी के विचार

महात्मा गांधी जी ने, जिन्हें भारतीय राष्ट्रपिता के नाम से श्रद्धा सहित स्मरण किया जाता है, अपने धर्म तथा धर्मशिक्षा विषयक विचार अनेक स्थानों में प्रकट किये थे। उनमें से कुछ वाक्य इस प्रकरण में उद्धृत किये जाते हैं।

समाज से धर्म को निकाल कर फेंक देने का प्रयत्न बांझ के घर पुत्र पैदा करने जितना ही निष्फल है। और अगर कहीं सफल हो जाये तो समाज का उसमें नाश है। धर्म में कुछ संकुचित सम्प्रदाय नहीं है, केवल बाह्याचार नहीं है। विशाल व्यापक अर्थ है—ईश्वर के विषय में हमारी अचल श्रद्धा, पुनर्जन्म में अविचल श्रद्धा, सत्य और अहिंसा में हमारी सम्पूर्ण श्रद्धा। आनेवाले जमाने में सब से ज्यादा असर धर्म का रहेगा।

(गांधी जी की सूक्तियाँ—ठाकुर राजबहादुरसिंह द्वारा सम्पादित—
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, पृ० ५९)

संकट के समय धर्म मनुष्य को उभार लेता है।

जिनमें बचपन से धार्मिक संस्कार डाले जाते हैं, उनमें श्रद्धा, विश्वास आदि सद्‌गुणों का विकास होता है।

हमारा सब से बड़ा धर्म है, आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना।

धर्म सारे मानव जाति का केवल एक ही है, फिर उसके नामान्तर भले ही कर दिये गये हैं।

धर्म, मानव-मानव के बीच खाई नहीं, मेल का साधन बनना चाहिये।

धर्महीन मनुष्य बिना पतवार की नाव के समान है।

विद्यालयों के पाठ्यक्रम में धर्मशिक्षा के विषय में महात्मा गांधी के निम्न विचार हैं—

"A curriculum of Religion Institution should include a study of the tenets of faiths other than one's own. For this purpose, the students should be trained to cultivate the habit of understanding and appreciating the doctrines of various great religions of the World, in

spirit of reverence and broad-minded tolerance."

(Light of India-Message of the Mahatma Edited by M.S. Deshpande P. 143)

अर्थात् धर्मशिक्षा के पाठ्यक्रम में अपने से अतिरिक्त, अन्य मतों के सिद्धान्तों की शिक्षा का भी समावेश होना चाहिये। इसके लिए विद्यार्थियों को ऐसा शिक्षण मिलना चाहिये कि उनमें आदर की भावना और उदार सहिष्णुता के साथ अन्य महान् धर्मों के सिद्धान्तों के समझने और गुण ग्रहण करने की आदत पड़ जाये।

बुन्सेन (Bunsen) नामक पाश्चात्त्य विद्वान् ने एक बड़ी अच्छी बात इस सम्बन्ध में लिखी है जिसे हम "Dictionary of Good Thoughts" नामक नयी दिल्ली से प्रकाशित संग्रहात्मक पुस्तक से उद्धृत करते हैं—

"Culture of intellect without religion in the heart is only civilised barbarism and disguised animalism".

अर्थात् हृदय में धर्म के बिना बौद्धिक संस्कृति केवल सभ्य बर्बरता और छद्मवेश में पशुता है। ये शब्द बड़े मार्मिक अतएव महत्त्वपूर्ण हैं जिनके मनन की बड़ी आवश्यकता है। ड्यूक ऑफ वेलिङ्गडन के निम्नलिखित शब्दों की ओर भी इस प्रसंग में हमारा ध्यान जाता है तो धर्मशिक्षा की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हैं—

"Educate men without religion and you make them but clever devils."

अर्थात् लोगों को धर्म के बिना शिक्षित बनाने से उन्हें चतुर शैतान ही बनाना है। ये शब्द कितने हृदय के अन्तस्तल को स्पर्श करने वाले हैं, और वस्तुतः इनमें कितनी सच्चाई है! इंग्लैंड के एक सुप्रसिद्ध न्यायाधीश लॉर्ड डैनिंग ने (जो सन् १९६३ के अन्त में भारत की यात्रा पर आये थे) एक वक्तव्य में कहा था—

"Morality is the corner stone of all law. Morality is the foundation of law. Without it, there could be no law and without religion, there would be no morality". (Statesman 16-12-1963)

''नैतिकता वा सदाचार सारे कानून का आधार है। कानून की नींव है, और धर्म के बिना सदाचार नहीं रह सकता।''

इस प्रकार वेदों के अतिरिक्त देश-विदेश के इन प्रख्यात मनीषियों के वचनों का मनन करते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि धर्म और सदाचार की शिक्षा के बिना केवल पुस्तकीय या औद्योगिक शिक्षा, न केवल अधूरी अपितु हानिकारक भी है।

धार्मिक नैतिक-शिक्षा समिति की सिफारिशें—

पूर्व इसके कि हम भारत सरकार द्वारा उस समय महाराष्ट्र प्रदेश के राज्यपाल स्व० श्रीयुत श्रीप्रकाशजी की अध्यक्षता में ''धार्मिक और नैतिक शिक्षा'' की वाञ्छनीयता और उसके स्वरूप पर विचार करने के लिए नियुक्त समिति की अनुशंसाओं वा सिफारिशें पर विचार करें यह उचित प्रतीत होता है कि स्वराज्य प्राप्ति के अनन्तर सन् १९४९ में संविधान सभा में स्वीकृत एतद्विषयक धाराओं को उद्धृत किया जाये ताकि वर्तमान स्थिति ज्ञात हो सके।

संविधान की धारा २८

(१) राज्यनिधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षासंस्था में कोई धार्मिक शिक्षा न दी जायेगी।

(२) खण्ड (१) की कोई बात ऐसी शिक्षासंस्था पर लागू न होगी जिसका प्रशासन राज्य करता हो किन्तु जो किसी ऐसे धर्मस्व या न्यास के अधीन स्थापित हुई है, जिसके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है।

(३) राज्य से अभिज्ञात अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली शिक्षा संस्था में उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए अथवा ऐसी संस्था में या उससे संलग्न स्थान में की जानेवाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए बाध्य न किया जायेगा जब तक कि उस व्यक्ति ने या यदि वह अवयस्क हो तो उसके संरक्षक ने इसके लिये अपनी सम्मति न दे दी हो।

धारा ३०

(१) धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षासंस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा।

(२) शिक्षासंस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है।

भारतीय संविधान की इन धाराओं से यह स्पष्ट है कि यद्यपि सम्पूर्णतया राज्यनिधि से पोषित शिक्षासंस्थाओं में कोई धार्मिक शिक्षा न दी जायेगी तो भी राज्य द्वारा ऐसी शिक्षा संस्थाओं का भी प्रशासन और सहायता जारी रहेगी जो किसी धर्मस्व या न्यास (Trust) के अधीन हों और जहां उस धर्मस्व या न्यास के अनुसार धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक हो। किसी भी शिक्षा संस्था में विद्यार्थियों को, उनकी

अपनी अथवा आवश्यकता की दशा में, संरक्षकों की अनुमति के विना, वहाँ दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा की कक्षाओं अथवा धार्मिक उपासना में सम्मिलित होना अनिवार्य न होगा। यह भी इन धाराओं से स्पष्ट ज्ञात होता है कि धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षासंस्थाओं को स्थापित करने और उनके सञ्चालन का पूर्ण अधिकार होगा और राज्य ऐसी शिक्षासंस्थाओं को सहायता देने में किसी प्रकार का विभेद न करेगा।

इस प्रकार यद्यपि भारतीय संविधान के अनुसार विद्यालयों महाविद्यालयों में धार्मिक शिक्षा का देना सर्वथा निषिद्ध वा वर्जित है, यह नहीं कहा जा सकता, तथापि तथ्य यही है ईसाई और मुसलमानों द्वारा सञ्चालित शिक्षासंस्थाओं को छोड़ कर अन्य शिक्षणालयों में धार्मिक शिक्षा प्रायः सर्वथा बन्द कर दी गयी है, जिसके परिणाम को भारत सरकार द्वारा सन् १९५९ में नियुक्त श्री प्रकाश समिति ने इस प्रकार के शब्दों में प्रकट किया—

"The education that we are imparting is not purposeful. There is a feeling of furstration in the minds of the students even as they pursue their studies, for their future is not clear to them.......

We find a great deal of discontent and distrubance at colleges and Universities, Discipline, as generally understood, appears to have vanished. Even persons in authority are found quarrelling among themselves in many places, thus viciating the atmosphere in which education is being imparted to our youth. Students, who should be devoting their time and attention to studies, often appear to be engaged in anti-social activities. Generally speaking all personal touch between the teachers and the taught, has been lost with the result that there is little mutual affection or sympathy. The situation appears to be deteriorating fast and there is evidently an urgent need for developing a better sense of values and qualities of character among the youth."

(Report of the Committee on Religion and Moral Instruction). (P. 8)

अर्थात् आजकल जो शिक्षा हम दे रहे हैं वह साभिप्राय नहीं है। विद्यार्थियों के मन में अध्ययन के समय में भी एक विफलता वा निराशा की भावना रहती है क्योंकि उनका भविष्य उनके सामने स्पष्ट नहीं। हमें महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में बड़ी मात्रा में असन्तोष और विक्षोभ वा उत्पात दृष्टिगोचर होता है। अनुशासन, जैसे

कि साधारणतया उसका अर्थ समझा जाता है, सर्वथा लुप्त हो गया प्रतीत होता है। अनेक स्थानों पर सञ्चालकों को भी परस्पर कलह करते और इस प्रकार जहाँ युवकों को शिक्षा दी जाती है, उन स्थानों के वातावरण को दूषित करते हुए पाया जाता है। छात्रों को जिन्हें अपना समय और ध्यान अध्ययन में लगाना चाहिए, वे समाज विरोधी कार्य कलाप में तत्पर प्रतीत होते हैं। साधारणतया कहा जा सकता है कि शिक्षकों के और शिक्षार्थियों के बीच पारस्परिक सम्पर्क नष्ट हो चुका है जिसका परिणाम यह है कि उनमें आपस में प्रेम या सहानुभूति बहुत कम है। स्थिति बड़ी तीव्रता से बिगड़ती जा रही है और इसलिये स्पष्टतया एक उत्कृष्टतर भावना को सच्चरित्र के मूल्य और गुणों के आधार पर युवकों के अन्दर विकसित करने की तत्काल आवश्यकता है।

इसके पश्चात् श्री प्रकाश समिति ने अपनी अनुशंसाएँ (सिफारिशें) व्यक्त करते हुए ठीक ही लिखा है कि—

"While we study at School or College, we must also imbibe many virtues that only an appreciation of moral and spiritual values can give. A nation that deprives itself of these, and only concentrates on material concerns, however important and valuable they may be, would be like a body without a soul. There may be much trial and suffering in store. Faith in things, beyond our immediate ken, will give solace and comfort, it will also strengthen us to bear out lot and to carry on our duties as courageously and cheerfully as possible. **We have no manner of doubt that it is most desirable that provision should be made for the teaching of moral and spiritual values in educational institutions.** We also think that it is quite feasible, and even if there are some difficulties, they must be surmounted so that may be made practicable." (P. 14).

तात्पर्य यह है कि जब हम विद्यालय और महाविद्यालय में पढ़ते हैं, हमें उन बहुत से गुणों को धारण करना चाहिये जिनको नैतिक तौर आध्यात्मिक मूल्यों का गुण ग्रहण ही दे सकता है। एक राष्ट्र जो अपने को इनसे वञ्चित रखता है और केवल भौतिक विषयों पर ही अपने ध्यान को केन्द्रित करता है—चाहे वे कितने भी आवश्यक और बहुमूल्य क्यों न हों—वह आत्मा से रहित शरीर के समान होगा। कोई नहीं जान सकता कि जीवन में क्या कुछ होने वाला है। हो सकता है कि अनेक प्रकार की परीक्षाओं और कष्टों में से गुजरना हमारे भाग्य

में हो। इन्द्रियातीत विषयों में विश्वास हमें सान्त्वना और आराम देगा। साथ ही यह अपने भाग्य को अधिक से अधिक साहस और प्रसन्नता के साथ सहन करने और अपने कर्तव्य को पालन करने की हमें शक्ति प्रदान करेगा। इसमें अणु मात्र भी सन्देह नहीं है कि शिक्षण संस्थाओं में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के शिक्षण की व्यवस्था सर्वथा वाञ्छनीय है। यदि इसमें कुछ कठिनाइयाँ भी आएँ तो उन्हें दूर करते हुए इस प्रकार के शिक्षण को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार सदाचार और आध्यात्मिक शिक्षण को विद्यालयों और महाविद्यालयों में देने की अनुशंसा करते हुए समिति के सदस्यों ने कहा है कि इस सदाचार के शिक्षण के लिए सप्ताह में दो कालांश (Period) दिये जायें। इन कक्षाओं में शिक्षक को चाहिये कि वह संसार के मुख्य मुख्य धर्मों में से ली हुई मनोरञ्जक कथाओं को सुनायें और उनकी सदाचार विषयक शिक्षाओं की विस्तार से व्याख्या करें। सदाचार शिक्षा में मतों के मन्तव्यों और कर्मकाण्ड का समावेश न होना चाहिये।

जहाँ तक सदाचार की शिक्षा का सम्बन्ध है, इसमें मतभेद का अवकाश बहुत कम है। इस बात से प्रायः सभी सहमत होंगे कि यदि हम छात्र–छात्राओं को सदाचार सम्पन्न करना चाहते हैं। तो हमें उन्हें सदाचार की शिक्षा अवश्य देनी चाहिये।

अब प्रश्न धर्मशिक्षा का रह जाता है। धर्म के महत्त्व पर श्री प्रकाश–समिति ने बड़ा उत्तम प्रकाश डाला है और अपने प्रतिवेदन में कहा है कि–

"We think that the various religions should be made the subjects of study, and every facility given for the followers of different faiths in the country, to know each other better by knowing each other's inner thought and aspiration."

अर्थात् हम यह समझते हैं कि भिन्न–भिन्न धर्मों को अध्ययन का विषय बनाना चाहिये और देश में रहनेवाले भिन्न–भिन्न विश्वासों वा मतों के अनुयायियों को इस बात की सुविधा देनी चाहिये कि वे एक दूसरे के आन्तरिक विचार और अभीप्साओं की अच्छी जानकारी प्राप्त कर सकें तथा उन्हें समझ सकें।

इसके प्रकाश में समिति ने प्रारम्भिक, माध्यमिक और उच्च कक्षाओं के लिए एक पाठ्यक्रम की रूपरेखा भी बनाई है, जिसके मुख्य–मुख्य अंश ये हैं—

(१) प्रारम्भिक कक्षाओं में प्रातःकाल सम्मिलित भजन के लिए कुछ मिनटों के लिए विद्यालय सभा हो।

(२) भाषा-शिक्षण के पाठ्यक्रम में पैगम्बरों, सन्तों और धार्मिक नेताओं के जीवन और शिक्षाओं के विषय में सरल और मनोरञ्जक कथाओं का समावेश हो।

(३) सप्ताह में ३ अन्तर (Period) सदाचार-शिक्षण के लिए रखे जायें।

(४) माध्यमिक कक्षाओं में प्रारम्भ में २ मिनट का मौन रखा जाये और उसके पश्चात् धर्म-ग्रन्थों में से अथवा संसार के महान् साहित्य में से कुछ वाक्य पढ़े जायें। सामूहिक गान को भी प्रोत्साहित किया जाये।

(५) बड़े-बड़े जगत्प्रसिद्ध धर्मों या मतों की मुख्य-मुख्य शिक्षाओं का सामाजिक अनुशीलन और इतिहास के पाठ्यक्रम के भाग के रूप में अध्ययन किया जाये। भाषाओं और सामान्य अध्ययन में भिन्न-भिन्न धर्मों के विषय में सरल मूल पाठ और कथाओं का समावेश किया जा सकता है।

(६) सदाचार-शिक्षण के लिए सप्ताह में एक घण्टा नियत किया जाना चाहिये। इसमें शिक्षक वाद विवाद वा शंका समाधान को भी प्रोत्साहित करें। नियमित कक्षा में अध्ययन के अतिरिक्त नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर छात्रों के समक्ष भाषण के लिए योग्य व्यक्तियों को निमन्त्रित किया जा सकता है। सब मतों के प्रमुख उत्सवों को सम्मिलित रूप में आयोजित किया जाय। निबन्ध प्रतियोगिता और भाषण प्रतियोगिता द्वारा अपने से भिन्न मतों के ज्ञान और गुणग्रहण को प्रोत्साहित किया जाय।

(७) विद्यालयों में छात्रों की योग्यता के मूल्यांकन में सदाचार और उत्तम व्यवहार को भी आवश्यक स्थान दिया जाये।

विश्वविद्यालय स्तर पर—

(क) विद्यार्थियों को वर्गरूप में प्रातःकाल चुपचाप ध्यान के लिए प्रोत्साहित किया जाये। इनका निरीक्षण स्वेच्छा से उच्च कर्मचारी करें।

(ख) उपाधि-कक्षाओं में जो सामान्य शिक्षा दी जाती है, भिन्न-भिन्न धर्मों के सामान्य अध्ययन को उसका एक आवश्यक अंग बनाया जाये। इसके सम्बन्ध में डॉ० राधाकृष्णन् कमीशन अथवा

विश्वविद्यालय शिक्षा–आयोग की निम्न सिफारिशों का हम समर्थन करते हैं।

(१) उपाधि पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष में श्री गौतम बुद्ध, कन्फ्यूशियस, जरदुश्त, सुकरात, ईसा, शङ्कर, रामानुज, मध्वाचार्य, मुहम्मद, कबीर, नानक और महात्मा गांधी जैसे महान् धार्मिक और आध्यात्मिक नेताओं के जीवन–चरित्रों का समावेश हो।

(२) द्वितीय वर्ष में संसार के धर्म ग्रन्थों में से सार्वभौम प्रकार के सर्वोपयोगी चुने हुए भागों का अध्ययन किया जाये।

(३) तृतीय वर्ष में धर्मदर्शन की प्रमुख समस्याओं पर विचार किया जाये। इस प्रकार के अध्ययन के लिए प्रामाणिक ग्रन्थ उन विशेषज्ञों द्वारा तैयार करवाये जायें, जो उन धार्मिक पद्धतियों का गम्भीर सहानुभूति पूर्ण ज्ञान रखते हों जिनके विषय में वे लिखें।

(४) तुलनात्मक धर्म के अनुशीलन के लिए एक स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम संस्थापित किया जाये। मानव विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के क्षेत्रों में ऑनर्स (प्रतिष्ठित) और एम०ए० क्रे पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषयों के अध्ययन को उचित महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाये।

(क) तुलनात्मक धर्म,

(ख) धर्मों का इतिहास।

(५) सब विश्वविद्यालयों में सामाजिक सेवा का पर्याप्त लम्बा समय प्रविष्ट किया जाना चाहिये। इस प्रकार की सेवा के आयोजन और सञ्चालन में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के अनुशीलन और अभ्यास की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये।

समिति के सदस्यों ने उपसंहार करते हुए लिखा है कि—ऊपर जो व्यापक निर्देशों की रूपरेखा हमने दी है, उससे स्पष्ट है कि हम धर्मों की तुलनात्मक और सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन और उनके अन्तर्निहित दार्शनिक तत्त्वों और सदाचार सम्बन्ध विधानों के शिक्षण के पक्ष में हैं।

भारतीय संविधान में कहा है कि किसी धर्मस्व (Endowment) अथवा न्यास (Trust) के अधीन संस्थाओं में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में हस्तक्षेप न किया जाये चाहे उन्हें सरकार द्वारा सहायता भी प्राप्त होती हो। हम यह सुझाव देते हैं कि जिस प्रकार की शिक्षा की हमने (अनुशंसा) सिफारिश की है उसे सब संस्थाओं में देना चाहिये

और यदि कुछ संस्थाओं में, किसी विशेष मत की शिक्षा दी जाती है तो वह इसके अतिरिक्त हो जिसका हमने प्रस्ताव किया है। इसमें मनःसाक्षी वा Conscience का कोई प्रश्न नहीं उठता। हमने जिस प्रकार की शिक्षा का प्रस्ताव किया है, वह सच्चरित्र निर्माण और उत्तम नागरिकों के निर्माण के लिए अत्यावश्यक है और स्वभावतः यह किसी धार्मिक वर्ग की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचा सकती। हम विश्वास पूर्वक आशा करते हैं कि हमने ऊपर जो सुझाव दिये हैं, उनको प्रभावी ढंग से कार्यान्वित किया जाएगा। इससे हमारी शिक्षण संस्थाओं में एक ऐसा उचित वातावरण होगा, जिससे वे न केवल निपुण शिल्पियों और दूसरे व्यवसाय चतुरों को प्रशिक्षित कर सकेंगी, किन्तु ऐसे मानवतायुक्त सन्तुलित नागरिकों को भी जो अपने देशवासियों की ही नहीं, समस्त मानव जाति की प्रसन्नता और कल्याण में योगदान कर सकेंगे।

अन्त में हम यह कहने को विवश हैं कि वे बहुत-सी बुराइयाँ ज़िनसे हमारा शिक्षा-जगत् और समाज सामूहिक रूप से पीड़ित हो रहा है, मनुष्यों के हृदयों में धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों के प्रभाव के शनैः-शनैः लुप्त होने का मुख्यतः परिणाम हैं। वे पुराने बन्धन जिन्होंने लोगों को एक सूत्र से बाँध रखा था, शीघ्रता से शिथिल होते जा रहे हैं जो विविध विचारधाराएँ प्रचलित हो रही हैं और जिनको हम बाह्य रूप से स्वीकार कर रहे हैं, उनके अभिप्राय को ठीक तौर पर समझे बिना वे स्थिति को अधिकाधिक खराब कर रही हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इसका एक मात्र प्रतीकार यही है, कि नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की जीवन के प्रारंभिक वर्षों से ही बार-बार शिक्षा दी जाये, और उन्हें मन में बैठा लिया जाये। यदि हमने इनको खो दिया तो हमारा राष्ट्र आत्महीन राष्ट्र बन जायेगा, और विदेशियों के बाह्य रूपों के अनुकरण करने के हमारे यत्न का परिणाम केवल अस्तव्यस्तता और अव्यवस्था ही होगी जिसके प्रथम लक्षण हमें स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति सुप्रसिद्ध विद्वान् मनीषी डॉ० चिन्तामणि देशमुख ने अपने एक लेख, जिसे स्वाध्याय मण्डल पारडी से प्रकाशित होने वाली त्रैमासिक पत्रिका "अमृत लता" ने अगस्त १९६४ ई० के अंक में प्रकाशित किया था, कहा है—

वर्तमान काल में जगत् में उत्पन्न अनेक दोषों का कारण वर्तमान शिक्षा-प्रणाली है, जो निश्चय से मूल सहित दोषों से पूर्ण है।

आजकल भारतवर्ष में अशिक्षित मनुष्यों की अपेक्षा शिक्षित व्यक्ति को अधिक भयंकर समझा जाता है। शिक्षित के मानसिक विकास में नैतिक उन्नति के न होने से वह अनायास (बिना यत्न के ही) कुतन्त्री चालाक या शरारती बन सकता है। इस स्वभाव को पहले वह विद्यालयों में विकसित करता है, फिर महाविद्यालय में। इसके पश्चात् राजनीति अथवा जीवन के अन्य क्षेत्रों में प्रविष्ट होने पर उसका यह स्वभाव बढ़ता जाता है। ऐसी अवस्थाओं में पले हुए बालक स्वभाव से ही ऐसे भय से आक्रान्त होते हैं।

"विद्यालयों में धर्मशिक्षा अवश्य ही देनी चाहिये। धार्मिक शिक्षा या नैतिक शिक्षा का लेश मात्र भी पाठविधि में न रख कर कोई भी शिक्षा-प्रणाली कैसे पूर्ण हो सकती है?"

हम माननीय मनीषी श्री चिन्तामणि देशमुख की इस सम्मति को अत्यन्त बहुमूल्य समझते और इससे अपनी सम्पूर्णतया सहमति प्रकट करते हैं।

जगद्विख्यात मनीषी डॉ० भगवान्दासजी का उत्तम विचार

जगत्प्रसिद्ध मनीषी डॉ० भगवान्दासजी ने (जिनके अनेक ग्रन्थों का फ्रेंच, जर्मनी, डच तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में भी अनुवाद हुआ) इस विषय में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बात "Essential Unity of all Religions". (सब धर्मों की बुनियादी एकता) नामक पुस्तक में लिखी—सच यह है कि हमें एक वैज्ञानिक धर्म (साहसी मजहब) की जरूरत है। धर्म दुनिया के लिए उतना ही जरूरी है जितना विज्ञान। आदमी जब तक दुःख और मौत की बाबत सोचता रहेगा, जब तक वह अपने आगे और पीछे दोनों तरफ निगाह डालेगा, तब तक मनुष्य को धर्म की जरूरत रहेगी, तब तक धर्म में उसे वह शान्ति और सुकून मिलेगा जो उससे छीनना असम्भव भी है और अत्याचार भी। आदमी के दिल से यह बात नहीं मिट सकती कि अगर उसे सारी दुनिया भी मिल जाये पर उसकी आत्मा या रूह उससे खो जाये तो उससे कोई फायदा नहीं। अगर समझदार लोगों को सच्चा और वैज्ञानिक धर्म नहीं देंगे तो लोग मजबूर (विवश) होकर झूठे वहमों और अन्धविश्वासों के उन मजहबों (मतों) में फँसते रहेंगे जो दुनिया भर के पण्डे, पुजारी, पादरी और मुल्ला उन्हें देते रहे हैं। धर्म की प्यास केवल उन लोगों में नहीं होती जो जानवरों की तरह आगे पीछे नहीं देख सकते। (सब धर्मों की बुनियादी एकता १।४४)

वैशेषिक सूत्र में लिखा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

यानी जिस बात से इस दुनिया में और दूसरी दुनिया में दोनों में आदमी को सुख मिले वही धर्म है। ईश्वर की आज्ञाओं को मानने का अर्थ ही ईश्वर की कुदरत के कानूनों को मानना है। हम आज तक सुनते आये हैं कि हर बच्चे को Three Rs– reading, writing and airthmatic, यानी लिखना, पढ़ना तथा हिसाब–सिखाना जरूरी है। इस तीन में एक चौथा और Universal Religion यानी सार्वभौम धर्म [व्यापक आलमगीर मजहबे इन्सानियत] मानव धर्म को भी हमें जोड़ लेना चाहिये। पर पहले इस मानव धर्म को खोज निकालना और समझना होगा। यह मानव धर्म वे असूल [सिद्धान्त] हैं, जो सब धर्मों [मजहबों] के अन्दर एक बराबर पाये जाते हैं। दुनिया के तालीम देने वालों [शिक्षकों] और साइन्सदानों [वैज्ञानिकों] का कर्तव्य है कि वे इस काम में सहायता दें। अलग–अलग मतों और तर्कों के अन्दर से एकता के जवाहर बीन निकालें। इसके लिए दुनिया के सब बड़े–बड़े मजहबों की खोज जरूरी है। फिर इन एकता के कीमती जवाहरात को जमा करके किताबों और पाठों की सूरत में दुनिया के सब लड़कों और लड़कियों को सिखावें। दुनिया को एक करने के जितने तरीके [उपाय] बताये जा रहे हैं, उन में सब से मुफीद् [लाभदायक] सब से जरूरी और सब से टिकाऊ, तरीका यही है।

[सब धर्मों की बुनियादी एकता डॉ० भगवान्दासजी कृत, पृ० ४५]

हम मान्य श्रद्धेय डॉ० भगवान्दासजी के इस विचार से सहमत हैं कि विद्यालयों, महाविद्यालयों में और सर्वत्र सार्वभौम मानव धर्म की शिक्षा दी जानी चाहिये। हमारा विश्वास है कि वैदिक धर्म ही वह सार्वभौम असाम्प्रदायिक धर्म है जिसका एक मुख्य उपदेश ही मनुष्य को सच्चा मननशील बनाना और वैसी ही दिव्य सन्तान को उत्पन्न करके विश्व को दिव्य बनाना है। वेद में निम्न मन्त्र द्वारा बताया गया है—

तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥

(ऋ० १०।५३।६)

इस मन्त्र का सरल अर्थ इस प्रकार है जो प्रसंग वश पहले दिया जा चुका है।

हे मनुष्य [रजसः] सर्वप्रकाशक परमेश्वर के पीछे चल–उसकी आज्ञा का सदा पालन कर। [धिया] बुद्धि से [कृतान्] बनाये हुए परिष्कृत किये हुए [ज्योतिष्मतः] परमेश्वर की सच्चे हृदय से स्तुति

करने वाले ज्ञानी भक्तों के [अनुल्बणं] उलझन रहित, निष्कपट [अपः] कर्मों को [वयत] विस्तृत करो। इन उपायों से [मनुः भव] तू सच्चा मनुष्य बन और [दैव्यं जनम्] सत्यनिष्ठ ज्ञानियों के हितकारी जन अथवा दिव्य गुण युक्त सन्तान को [जनय] उत्पन्न कर।

इस मन्त्र में जो शिक्षा दी गयी है वह कितनी उदार, असाम्प्रदायिक और सार्वभौम है। मनु का अर्थ मनन अथवा विचारशील विद्वान् होता है, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के निम्न वचन से स्पष्टतया ज्ञात होता है–

ये विद्वांसस्ते मनवः । (शतपथ ८।३।३।१८)

इस वचन का अर्थ यह है कि विचारशील विद्वानों को मनु के नाम से कहा जाता है। उपर्युक्त मन्त्र में जहां सच्चा मनुष्य बनने का उपदेश है, वहाँ इसके साधनों का भी निर्देश कर दिया गया है, जो संक्षेप से निम्नलिखित हैं–

(१) संसार के ताने–बाने को सदा बुनते रहना अर्थात् अपने कर्तव्यों का भलीभाँति निरन्तर पालन करते रहना।

(२) किन्तु ऐसा करते हुए सर्वप्रकाशक परमेश्वर का अनुसरण करना अर्थात् अपनी सम्पूर्ण शक्ति को परोपकार में लगाना और उसकी वेदोक्त आज्ञाओं का सदा पालन करना। कभी आलस्य में अपने समय को नष्ट न करना और न अज्ञानान्धकार में भटकते रहना।

(३) मनुष्य को चाहिये कि वह बुद्धि से परिष्कृत ज्योतिर्मय मार्गों का न केवल अनुसरण करे किन्तु उनका संरक्षण भी करे। मनुष्य शब्द का अर्थ ही महर्षि यास्काचार्य ने निरुक्त में "मत्वा कर्माणि सीव्यतीति मनुष्यः।" इस प्रकार किया है जिसका तात्पर्य है कि मनुष्य वह है जो मनन करके, सोच–विचार कर कर्म करे। दूसरों का अन्धाधुन्धी से विना सोचे–समझे अनुकरण करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

(४) जो बुद्धि विरुद्ध विश्वास और रीति–रिवाज हों, उनको न मानना चाहिये और न उसके अनुसार काम करना चाहिये। उनको दूर करने का सदा प्रयत्न करना चाहिये। अपनी ईश्वरप्रदत्त बुद्धि का प्रयोग करके कर्तव्य मार्ग का निश्चय करना चाहिये और ज्ञानपूर्वक उसका अनुसरण करना चाहिये।

(५) ज्ञानी कर्मयोगी जिस सरलता युक्त उत्तम कर्मों को करते रहे हैं, छल कपट का परित्याग करके उनको विस्तृत करना चाहिये।

न केवल स्वयम् ऐसे शुभ कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, किन्तु अन्यों को भी उन्हें करने की प्रेरणा करनी चाहिये जिससे सर्वत्र सुख शान्ति का साम्राज्य हो जाये। वेद भगवान् कहते हैं कि इन कर्तव्यों का पालन करने से कोई भी सच्चा मनुष्य बन सकता है। अपनी सन्तान को भी ऐसे दिव्य परोपकारी मनुष्य बनाने का सब गृहस्थ नर-नारियों को सदा प्रयत्न करना चाहिये। विश्व में मानव धर्म का इससे उत्तम निरूपण और कहाँ मिल सकता है? इस वेदोक्त धर्म का जो भी पालन करेंगे, चाहे वे किसी भी वंश और देश के हों, उनका अवश्य कल्याण होगा।

वैदिक शिक्षाओं की सार्वभौमता पर कुछ पाश्चात्त्य मनीषियों के विचार

केवल हम ही वेदों की शिक्षा को सार्वभौम और सर्वोत्कृष्ट मानव धर्म प्रतिपादक मानते हैं, ऐसी बात नहीं है। यूरोप, अमेरिका के अनेक निष्पक्षपात सुप्रसिद्ध मनीषियों ने वेदों का अनुशीलन करते हुए उनकी शिक्षाओं को अत्यन्त उपादेय और सब के लिए उपयोगी पाया है। उदाहरणार्थ—सुप्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् लेओं देल्बास (Mons Leon Delbos) ने १४ जुलाई सन् १८८४ को पेरिस में अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक संघ (International Literary Association) के सम्मुख निबन्ध पढ़ते हुए घोषणा की कि—

"The Rigveda is the most sublime conception of the great high ways of humanity."

अर्थात् ऋग्वेद मनुष्य मात्र की उच्च प्रगति और आदर्श की उच्चतम कल्पना है।

(२) नोबेल पुरस्कार विजेता स्वीडनवासी श्री मैटर्लिंक ने अपनी सुप्रख्यात पुस्तक "The Great Secret" [महान् रहस्य] में वेदों के प्रति अत्यधिक आदर का भाव दिखाया है। वेदों की कर्तव्य शास्त्रादि विषयक शिक्षाओं को उद्धृत करते हुए, उस महामनीषी ने लिखा है कि—

"Let us agree that this system of Ethics of which I have been unable to give more than the slightest survey, while the first ever knowledge to man, is also the loftiest which he has ever practised".

(The Great Secret by Materlink, P. 6)

अर्थात् हमें इस बात को स्वीकार करना चाहिये कि यह कर्तव्य शास्त्र विषयक प्रणाली, जिसका मैंने अति संक्षिप्त विवरण दिया है,

जबकि मनुष्य को ज्ञात प्रणालियों में से सर्वप्रथम है, साथ ही सबसे अधिक उत्कृष्ट है, जिसका मनुष्य ने कभी आचरण किया है।

(३) अमरीका के सुप्रसिद्ध विचारक थोरियो की धारणा–

थोरियो नामक अमरीका के सुप्रसिद्ध विद्वान् लेखक ने वेदों के विषय में निम्न उद्गार प्रकट किये हैं—

"What extracts from the Vedas I have read fall on me like the light of a higher and purer luminary which describes a loftier course through a purer stratum, free from particulars, simple, universal. The Vedas contain a sensible account of God."

इसका भाव यह है कि मैंने वेदों के जो उद्धरण पढ़े हैं, वे मुझ पर एक उच्च और पवित्र ज्योतिःपुञ्ज के प्रकाश की तरह पड़ते हैं जो एक उत्कृष्ट मार्ग का वर्णन करता है। वेदों के उपदेश सरल, देश वा जाति विशेष के इतिहास से रहित और सार्वभौम हैं तथा उनमें ईश्वर विषयक युक्तियुक्त वा संगत विचार दिये गये हैं।

(४) लियो तालस्ताय की वेदों पर श्रद्धा

रूस निवासी लियो तालस्ताय जगत्प्रसिद्ध विचारक और लेखक थे। अलेग्ज़ेण्डर शिफ मान नामक तालस्ताय संग्रहालय के अनुसन्धान विद्वान् ने अपने लेख "Leo Tolstoy and the Indian Epics" में कहा है—

"Appreciating the profundity of the Vedas, Tolstoy gave particular attention to those cantos which deal with the problems of ethics, a subject which interested him deeply. He subscribed to the idea of human love which pervades the Vedas, with their humanism and praise of peaceful labour."

"He (Tolstoy) ranked the Vedas and the Upanishads with those perfected work art which have never failed to appeal to all nationalities in all epochs and which, therefore, represent true art."

Tolstoy not only read the Vedas, but also spread their teachings in Russia. He included many of the saying of the Vedas and the Upnishads in his collections. "Range of Reading", "Thoughts of wise-men" and others".

इन उद्धरणों का तात्पर्य यह है कि तालस्ताय वेदों के गम्भीर ज्ञान पर मुग्ध थे। वे वेदों के उन भागों पर विशेष ध्यान देते थे जिनका सम्बन्ध आचार वा कर्तव्य शास्त्र सम्बन्धी समस्याओं से है। यह एक

ऐसा विषय था जिसमें उनकी प्रगाढ़ रुचि थी। वेदों में व्याप्त मानवीय प्रेम के सिद्धान्त के, मानववाद तथा शान्तिमय श्रम की प्रशंसा के वे प्रशंसक थे।

कलाकार तालस्ताय इन अग्रगण्य भारतीय रचनाओं की काव्यनिधि और कलात्मक उपमाओं पर आनन्द विभोर थे। वे वेदों तथा उपनिषदों को विश्व कला की उन सर्वांग पूर्ण रचनाओं की कोटि में मानते थे जिन्होंने सभी युगों में समस्त जातियों का हृदय बरबस आकृष्ट किया है, इसलिये वे उन्हें सच्ची कला का प्रतीक मानते थे।

तालस्ताय ने न केवल वेदों को पढ़ा, वरन् उनकी शिक्षाओं का रूस में प्रचार-प्रसार भी किया। उन्होंने वेदों और उपनिषदों की अनेक सूक्तियों का संग्रह ''पठन विस्तार तथा बुद्धिमानों के विचार'' शीर्षक से किया। इत्यादि।

अन्य भी अनेक पाश्चात्त्य मनीषियों ने वेदों के गौरव का गान किया है। इसलिए वर्तमान परिस्थितियों को और भारत के असाम्प्रदायिक राज्य होने की घोषणा को ध्यान में रखते हुए हमारा निर्देश विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में धार्मिक शिक्षा, नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के विषय में यह है कि सब से अधिक प्राचीन [जिस विषय में सब देशों के विद्वान् लगभग एक मत हैं] तथा असाम्प्रदायिक [क्योंकि तब किसी सम्प्रदाय का जन्म भी न हुआ था] वेदों की सार्वभौम शिक्षाओं को इस प्रकार की शिक्षा का आधार मान कर ऐसी पुस्तकें पक्षपात रहित मननशील गम्भीर विद्वानों द्वारा तैयार कराई जायें जिनमें वेदों की एकेश्वर पूजा, विश्वबन्धुत्व, विश्वप्रेम, विश्वशान्ति, अहिंसा, सत्य, दयालुता, न्यायप्रियता, परोपकार, पारस्परिक सहयोग और एकता, आत्मा की अमरता इत्यादि विषयक सूक्तियों के साथ-साथ जिन्द अवेस्ता, त्रिपिटक, जैनसूत्र, बाइबल, कुरान, गुरुग्रन्थ साहेब आदि सुप्रसिद्ध मत ग्रन्थों से भी उन वैदिक सुभाषितों के साथ मिलते-जुलते लगभग समानार्थक उदारता सूचक तर्क संगत, परस्पर प्रेम तथा सदाचार-वर्धक वाक्यों का संग्रह हो। इस प्रकार का उत्तम संकलन तथा संग्रह यद्यपि विशेष परिश्रम साध्य है, तथापि वह अत्यधिक वाञ्छनीय, बल्कि अनिवार्य है। अतः इसकी ओर मानवमात्र के हितैषी विद्वानों को विशेष रूप से प्रयत्नशील होना चाहिये और केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों को इसमें उदार आर्थिक सहायता देनी चाहिये जिससे यह योजना अतिशीघ्र क्रियात्मकरूप धारण कर सके।

अध्याय–६

शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी

आजकल जिन समस्याओं ने देश के नेताओं और हित चिन्तकों को चिन्तित कर रखा है, उनमें एक बेरोज़गारी, विशेषतः शिक्षित वर्ग की बेरोज़गारी की समस्या है। इस समस्या की भयंकरता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि भारत में बेरोज़गारी की समस्या कई बार इतना भयंकर रूप धारण कर लेती है तथा ऐसी निराशा उत्पन्न कर देती है कि इसके कारण अनेक शिक्षित व्यक्तियों के आत्मघात करने के समाचार भी पत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं।

शिक्षित वर्ग में बेरोज़गारी का एक प्रधान कारण यह भी रहा है कि भारत में अंग्रेजों के राज्य में जो शिक्षा–प्रणाली प्रचलित रही, उसमें पुस्तकीय शिक्षा पर ही अधिक बल दिया जाता रहा। औद्योगिक, व्यावसायिक तथा वैज्ञानिक शिक्षा की ओर उस समय कम ध्यान दिया गया। यह हर्ष की बात है कि स्वराज्य प्राप्ति के अनन्तर औद्योगिक और व्यावसायिक तथा वैज्ञानिक शिक्षा की ओर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

बेरोजगारी का दूसरा मुख्य कारण यह भी है कि अनेक शिक्षित लोग श्रम की प्रतिष्ठा को नहीं समझते, अपितु इसे तुच्छ दृष्टि से देखते हैं।

इस बात को देश के नेता भी समय–समय पर कहते रहते हैं कि जब तक शिक्षित व्यक्ति श्रम की प्रतिष्ठा को अनुभव नहीं करेंगे और श्रम को हीन दृष्टि से देखेंगे, तब तक सरकार के सैंकड़ों प्रयत्न करने पर भी बेरोजगारी की समस्या हल नहीं हो सकेगी।

अब हम वेदों की दृष्टि से इस विषय पर विचार करेंगे। वेदों के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनमें श्रम की प्रतिष्ठा का स्थान–स्थान पर प्रतिपादन है। ऋभु विषयक सूक्त इस विषय पर विशेष प्रकाश डालते हैं। ''ऋभवः'' का अर्थ वैदिक कोष निघण्टु में ''मेधावी'' बताया गया है।

ऋभव इति मेधावि नाम। (निघं० ३।१५)

मेधावी का अर्थ शुद्ध बुद्धि सम्पन्न, प्रतिभाशाली व्यक्ति होता

है। प्रायः ऐसा माना जाता है कि ये मेधावी लोग पढ़ने और विचार करने में ही अधिकतर मस्त रहते हैं। किन्तु वेदों के अनुसार ये मेधावी भी "सुहस्ताः" अच्छे हाथों वाले हस्तशिल्पों में निपुण होने चाहियें। उनके लिए अनेक मन्त्रों में "सुहस्ताः" शब्द प्रयुक्त हुआ है। उनको इस हस्तक्रिया में निपुणता के कारण बड़ा आदरणीय बताया गया है, यहाँ तक कि उन्हें देव कोटि में सम्मिलित माना गया है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों वा मन्त्र खण्डों को देखिये—

रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठां ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्।
त आ तक्षन्त्वृभवो रयिं नः स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः॥

(ऋ० ४।३३।८)

शं न ऋभवः सुकृतः॥ (ऋ० ७।३५।१२)

ऋभवः सुहस्ताः॥ (ऋ० ४।३५।३; १०।६६।१०)

इनमें से प्रथम उद्धृत मन्त्र में बताया गया है कि ये ऋभु (मेधावी) लोग (स्वपसः) उत्तम कर्म करने वाले तथा (सुहस्ताः) उत्तम हाथों वाले—हस्त क्रिया में—कला-कौशल उद्योगादि में निपुण होते हैं। वे उत्तम, सब ओर जानने वाले, अनेक मनुष्यों के बैठने योग्य, विमानादि विविध प्रकार के रथों का निर्माण करते हैं। सब के लिये सेवनीय सुन्दर गौओं के दुग्ध मात्रा को बढ़ाने और उनको हृष्ट-पुष्ट बनाने में निपुण होते हैं। इस प्रकार के शुभ रक्षक, उत्तम कार्यकर्ता, हस्त क्रिया-कुशल, मेधावी हमें ऐश्वर्यशाली बनायें। दूसरे और तीसरे मन्त्र खण्ड में भी ऋभुओं (मेधावियों) के लिए महत्त्वपूर्ण विशेषण "सुहस्ताः" इसका प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद ६।४९।९ में ऋभु के विषयक में कहा है—

प्रथमभाजं यशसं वयोधां सुपाणिं देवं सुगभस्तिमृभ्वम्।
होता यक्षद्यजतं पस्त्यानामग्निस्त्वष्टारं सुहवं विभावा॥

अर्थात् (होता) दानशील (अग्निः) तेजस्वी विद्वान् (विभावा) विशेष कान्तिमान् होकर भी (प्रथमभाजम्) प्रथम वा ज्ञानियों में अग्रणीजनों का सेवन करने वाले (यशसम्) यशस्वी (वयोधाम्) दीर्घायु को धारण करने और कराने वाले (सुपाणिं) उत्तम हाथ वाले—हस्त क्रिया में कुशल (देवम्) ज्ञान दाता (सुगभस्तिम्) गभस्तय इति रश्मिनाम, (निघ० १।५) उत्तम ज्ञान किरण युक्त अथवा गभस्ती—बाहुनाम निघ० २।४ उत्तम बाहुयुक्त (ऋभवम्) सत्य से प्रकाशमान मेधावी (यजतम्) सत्संग योग्य (त्वष्टारम्) संशयादि के छेत्ता (पस्त्यानां सुहवम्) गृहों में उत्तमता से बुलाने योग्य ज्ञानी को

(यक्षत्) सत्कृत करे।

यहाँ जिस प्रकार के मेधावी पुरुष के सत्कार का आदेश किया गया है वह ज्ञानी होने के साथ-साथ सुपाणि अर्थात् हस्त क्रिया-कला कौशलादि में निपुण होना चाहिये। यह भी बताया गया है कि इसके कारण ही वह यशस्वी बनता है। अतः यह स्पष्ट है कि सुपाणि ऋभु-हस्त क्रिया में कुशल, मेधावी लोग विशेष आदर के पात्र होते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् भी घरों में आमन्त्रित करके उनका सत्कार करते हैं। ऋग्वेद का निम्नलिखित म० (४।३४।६) भी इस विषय में उल्लेखनीय है जिसका देवता वा प्रतिपाद्य विषय ''ऋभवः'' है।

आ नपातः शवसो यातनोपेमं यज्ञं नमसा हूयमानाः।
सजोषसः सूरयो यस्य च स्थ मध्वः पात रत्नधा इन्द्रवन्तः॥

(ऋ० ४।३४।६)

यहाँ ऋभुओं-मेधावियों को, जो ज्ञानी होने के साथ-साथ सुहस्त वा सुपाणि अर्थात् हस्तक्रिया में कुशल होते हैं। सम्बोधित करते हुये कहा गया है कि हे (सूरयः) विद्वानों- आप लोग (नमसा हूयमानाः) आदरसत्कार पूर्वक बुलाये जाकर (शवसः नपातः) ब्रह्मचर्यादि पालन द्वारा अपने बल वीर्य को न गिराने वाले होते हुए (इमं यज्ञम् उपयातन) हमारे इस यज्ञ में आवें। (सजोषसः) परस्पर प्रीतियुक्त होकर (इन्द्रवन्तः) आत्मिक शक्ति युक्त तथा ईश्वर भक्त होते हुए (यस्य च मध्वः पात) जिसके पास स्थित होकर आप ज्ञान मधु का पान करते हैं (तस्य रत्नधाः स्थ), उसको उत्तम ऐश्वर्य देने वाले हों। इस मंत्र में भी हस्तक्रिया कुशल मेधावी लोगों को आदर सत्कार पूर्वक विविध प्रकार के यज्ञों-सभी समितियों में बुलाने का विधान है। इससे स्पष्ट है कि वेदों के अनुसार हस्त क्रिया कुशल शिल्पी आदरणीय हैं। उनका मान करना चाहिये तथा उन्हें कभी हीन दृष्टि से न देखना चाहिये। यदि इन मन्त्रों में निर्दिष्ट भावना को सुशिक्षित लोग अपना लें, तो उनमें श्रम की प्रतिष्ठा की भावना जाग जाये और तब शिक्षित वर्ग की बेरोजगारी की समस्या का भी बहुत अंश तक समाधान हो जाये।

अब यजुर्वेद और अथर्व वेद में भी कैसे हस्त क्रिया कुशल विविध प्रकार के शिल्पियों के प्रति आदर का भाव सूचित किया गया है, इसको हम सप्रमाण दिखाना चाहते हैं। मन्त्र वा मन्त्र खण्ड इतने स्पष्ट हैं कि उनकी विस्तृत व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। यजु० अ० १६ के निम्न मन्त्र इस पर विशेष प्रकाश

डालते हैं।–

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्म्मारेभ्यश्च वो नमः ॥ (यजु० १६।२७)

अर्थात् (तक्षभ्यः) तरखानों को और (रथकारेभ्यः) रथ बनाने वालों को नमस्कार हो (कुलालेभ्यः)। कुम्हारों और (कर्मारभ्यः) लोहारों को नमस्कार हो। आजकल तरखानों (बढई), कुम्हारों और लोहारों को प्रायः तुच्छ दृष्टि से देखा जाता है किन्तु वेदों में इनको आदर की दृष्टि से देखकर, इन्हें नमस्कार करने का विधान है। यदि शिक्षित वर्ग वेदों की इस उदार दृष्टि को अपना लें और जनता में भी यह वैदिक भावना उत्पन्न हो जाये, तो शिक्षित वर्ग की बेरोजगारी की समस्या जो अधिकतर श्रम की प्रतिष्ठा (Dignity of Labour) के अभाव के कारण है, बहुत कुछ हल हो सकती है।

यजुर्वेद का तीसवाँ अध्याय भी वेदोक्त कला-कौशल और उसकी प्रतिष्ठा की दृष्टि से विशेष रूप से मननीय है। उदाहरणार्थ–३०।६ में कहा है–

मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम् ॥

म० ७ में कहा है–

तपसे कौलालं मायायै कर्मारꣳ रूपाय मणिकारꣳ शुभे वपꣳशरव्याया ऽइषुकारꣳ हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जम् ॥ (यजु० ३०।७)

शब्दायाडम्बराघातं महसे वीणावादं क्रोशाय तूणवध्मंमवरस्पराय शङ्खध्मं वनाय वनपमन्यतोरण्याय दावपम् ॥ (यजु० ३०।१९)

म० ६ में कहा है (मेधायै रथकारम्) अर्थात् बुद्धि के कार्यों में रथकार को दृष्टान्त के रूप में जानो। जिस प्रकार रथकार नाना कौशल से रथ के नाना प्रकार के अवयवों को बुद्धिमत्ता से लगाता है, उसी प्रकार बुद्धि पूर्वक कार्ययोजना के लिए रथकार शिल्पी का अनुकरण करना चाहिये।

(धैर्याय तक्षाणम्) धैर्य की शिक्षा के लिये तरखान को दृष्टान्त रूप से जानो। जिस प्रकार श्रम से तरखान अपने छोटे-से औजार से बड़ी धीरता से अपने हाथ-पांवों को बचाते हुए लकड़ी को घड़ कर उत्तम कपाट, आसन्दी (कुर्सी) आदि बना देता है, उसी प्रकार हम धैर्य से अपने साधनों का प्रयोग करके, श्रम से पदार्थों को तैयार करें। अधीर होकर जल्दबाजी से कार्य बिगड़ जाते हैं, अपने ही औजार अपना नाश कर देते हैं। इस प्रकार वेद ने तरखान और रथकार से

शिक्षा लेने की बात कही है। म० ७ में बताया गया कि (तपसे कौलालम्) अग्नि से तपाने के कार्य में कुलाल अर्थात् घड़े के बनाने वाले कुम्हार का अनुकरण करो। वह जिस प्रकार कच्चे भाण्डों को बड़ी विधि से रखकर अग्नि से उनको तपाता है, इसी प्रकार हम भी माता, पिता, आचार्य अपने शिष्यों और राजा, अपनी प्रजा और राष्ट्र के कार्यों की रक्षा करते हुये, उनको परिपक्व करें। (मायायै कर्मारम्) बुद्धि और आश्चर्य के कार्यों के लिये, लोहार का अनुकरण करो। जैसे वह बुद्धिमत्ता से लोहे आदि पदार्थों से नाना द्रव्य बनाता है, वैसे ही बुद्धि पूर्वक नाना पदार्थों को बनाने का कौशल उनसे सीखना चाहिये।

(रूपाय मणिकारम्) रुचिकर, सुन्दर जड़ाऊ पदार्थों को बनाने के लिये मणिकार का अनुकरण करो। मणिकार मणियों के आभूषण बनानेवाला जिस प्रकार सूक्ष्मता से मणियों को धैर्य से जड़ता है, वह सुन्दर आभूषण बन जाता है, उसी प्रकार धैर्य से पदार्थों को सुन्दर बनाने का यत्न करो। (शुभे) मुख की शोभा के लिये (वयम्) केश दाढ़ी के काटने वाले नाई को लो। इसी प्रकार राष्ट्र की समृद्धि के लिये (वयम्) बीज वपन करने वाले किसानों को लो। महामारी दुर्भिक्षादि को दूर करने के लिये राजा कृषकों को नियुक्त करे। (शरव्यायै) बाणों को प्राप्त करने के लिये (इषुकारम्) बाण बनाने वाले को प्राप्त करो, उसे राष्ट्र में बसाओ। (हेत्यै धनुष्कारम्) दूर फेंकने वाले अस्त्रों के लिये, धनुष आदि बनाने वाले शिल्पी को प्राप्त करो। (कर्मणे ज्याकारम्) अधिक देर तक युद्ध कार्य करने के लिए डोरी के बनाने वाले को प्राप्त करो। (दिष्टाय) बहुत लम्बी रचना करने के लिए (रज्जुसर्जम्) लम्बी रस्सी बनाने वाले का अनुसरण करो। वह जिस प्रकार छोटे-छोटे तृणों से भी लम्बा रस्सा बना लेता है, उसी प्रकार राजा अल्प शक्ति वाले मनुष्यों की दृढ़ सेना बनावे और उनको उनके समान पुनः आवर्तन या अभ्यास द्वारा परिपक्व करे।

म० १९ (शब्दाय आडम्बराघातम्) शब्द करने के लिये आडम्बर-पूर्वक बाजों को बजाने वाले को नियुक्त करो। (महसे वीणावादम्) महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये वीणा बजाने वाले को नियुक्त करो। (क्रोशाय तूणवध्मम्) सैन्य बल और जन समूह को निमन्त्रण देकर बुलाने के लिए तूणव नामक ढोल वा ढक्का बजानेवाले को नियुक्त करो। (अवरस्माराय शङ्खध्मम्) आसपास और दूर के लोगों को बुलाने के लिये शंख बजाने वाले को नियुक्त करो। (वनाय वनपम्) वन की

रक्षा के लिये वन पाल को नियुक्त करो। (अत्यन्तो-रण्याय) जिस देश में एक तरफ वन हों, ऐसे देश की रक्षा के लिये (दावपम्) जंगल में लगने वाली आग से देश की रक्षा करने में कुशल पुरुष को नियुक्त करो।

इस प्रकार इस अध्याय में अनेक उद्योगों और व्यवसायों का वर्णन है। इनसे शिक्षित लोग अच्छी तरह आजीविका कमा सकते हैं। उनमें वैदिक श्रम प्रतिष्ठा की भावना जागृत की जानी चाहिए ताकि वे ऐसे उद्योगों, व्यवसायों, शिल्पों और कला-कौशलों को घृणा की दृष्टि से न देखें। इसी सन्दर्भ में हम अथर्ववेद के दो मन्त्रों का उल्लेख करना चाहते हैं जिनमें विविध शिल्पियों का आदर पूर्वक निर्देश किया गया है। अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र का देवता अथवा प्रतिपाद्य विषय "राष्ट्रस्य राजा राजकृतश्च" है। इससे यह भाव भी स्पष्टतया सूचित होता है कि ये शिल्पी भी राजा के चुनाव और राष्ट्र निर्माण में विशेष रूप से सहायक होते हैं—

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान्॥

(अथर्व० ३।५।६)

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्य ञ्श्च ये।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान्॥

(अथर्व० ३।५।७)

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

हे (पर्ण) राष्ट्र के पालक मन्त्रिन् (त्वम्) तू (मह्यम्) मुझ राजा के लिये इस राष्ट्र में निवास करने वाले (ये) जो (धीवानः) बुद्धिमान्, कला कौशल में चतुर (रथकाराः) रथों के बनाने वाले शिल्पी (कर्माराः) लोहे, सुवर्ण आदि धातु के कारीगर और (ये) जो (मनीषिणः) मननशील, अध्यात्मविद विद्वान् हैं, उन सब (जनान्) पुरुषों को मेरे (अभितः) चारों ओर (उपस्तीन् कृणु) उपस्थित कर। भाव यह है कि मन्त्री ऐसा प्रबन्ध करे जिससे सब शिल्पी और विद्वान् गण राष्ट्र के लिए नियुक्त होकर राजकार्य में सहायक हों। सरकार की ओर से कारखानों, गाड़ियों और विद्यालयों का प्रबन्ध हो।

हे (पर्ण) राष्ट्रपालक मन्त्रिन् (ये) जो (राजानः) अन्य राजा वा सामन्तगण और (राजकृतः) राजाओं को बनानेवाले, उनका चुनाव करने वाले अथवा पुरोहित मन्त्रीगण आदि हैं और (ये) जो (सूताः)

रथों के उत्तम सञ्चालक हैं, (ग्रामण्यः) जो ग्रामों के प्रधान नेता पुरुष हों, उन (सर्वान् जनान्) सब उत्तम पुरुषों को (मह्यम्) मेरे लिए (उपस्तीन् कृणु) समीप उपस्थित कर। वेदों में शिल्पियों को भी उतना ही उच्च स्थान दिया गया है, जितना अन्य मनीषी अध्यात्मवादी विद्वानों के साथ राष्ट्र निर्माण में विशेष सहायक व्यक्तियों का है।

वस्त्रों के कातने-बुनने की कला को भी वेदों में स्थान-स्थान पर उपदेश है और इसको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य माना गया हैं। ऋग्वेद १०।५३।६ का निम्न मंत्र वेदोक्त मानव धर्म का स्पष्ट प्रतिपादक है। इसमें उपमादि द्वारा कपड़े बनाने आदि की विद्या का स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है—

तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥

(ऋ० १०।५३।६)

[तन्तुं तन्वन्] सूत कातता हुआ [रजसः भानुम् अनु इहि] उस पर रंग की चमक चढ़ा-[अनुल्वणं वयत] सूत गंठीला और उलझन वाला न बना कर उससे कपड़े बुनो। [धियाकृतान् ज्योतिष्मतः पथो रक्ष] बुद्धि से बनाये हुये तेजस्वियों के मार्गो का रक्षण करो [मनुःभव] मननशील मनुष्य बनो [दैव्यं जनं जनय] दिव्य सन्तान को उत्पन्न करो [जोगुवाम् अपः) यह कवियों का काम है।

तात्पर्य यह है कि हे मनुष्य, तू यह न समझ कि यह सूत कातने, कपड़ा बुनने आदि का काम हीन है, परन्तु यह श्रेष्ठ कवियों के भी करने योग्य है क्योंकि इससे तेजस्वी पुरुषों द्वारा निश्चित किये गये मार्गों का संरक्षण होता है। जिस प्रकार गृहस्थियों के लिये सुप्रजा निर्माण करना आवश्यक है, उसी प्रकार अपने कपड़े स्वयं बुनना भी आवश्यक है।

वेदों में वस्त्र बनाने के कार्य को भी अत्युत्तम माना गया है क्योंकि इससे मनुष्य की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति होती है। अतः इसको हीन दृष्टि से देखना सर्वथा अनुचित है। श्रम की प्रतिष्ठा को हृदय में अंकित करने के लिये वेदों में बताया गया है कि-

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णा सूत्रेण कवयो वयन्ति॥

(य० १९।८०)

[मनीषिणः कवयः] मननशील बुद्धिमान् कवि लोग [मनसा] एकाग्र मन के साथ [सीसेन तन्त्रम्] सीसे के तंत्र के साथ ताना फैला कर [ऊर्णासूत्रेण] ऊन के सूत से [वयन्ति] कपड़ा बुनते हैं।

इस मंत्र में सीस शब्द का अर्थ सीसा, लोहा इत्यादि हो सकता है। हम जिस बात की ओर इस प्रकरण में विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, वह यह है कि सूत्र से कपड़ा बुनने का कार्य अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित गंवार तुच्छ लोग नहीं, अपितु बुद्धिमान् मननशील कवि लोग भी हर्ष से करते हैं। (मनीषिणः कवयो वयन्ति) वेद के ये शब्द शारीरिक श्रम और व्यवसाय उद्योग की प्रतिष्ठा को कितनी उत्तमता से घोषित करते हैं, यह निम्न ऋग्वेद के १०।१३०।१ द्वारा स्पष्ट होता है—

"इमे वयन्ति पितरः" शब्दों से पिताओं के भी कपड़ा बुनने का भाव सूचित किया गया है। जुलाहे के लिए—

वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्॥ (ऋ० १०।२६।६)

इत्यादि मन्त्रों में वासोवाय शब्द आया है। मन्त्रांश का अर्थ यह है कि कपड़ा बुनने वाला जुलाहा भेड़ बकरियों की ऊन से कपड़े बुनता है। तथा उनको उत्तम व सुन्दर बनाता है। ऋग्वेद ५।२९।१५ में धन की इच्छा से वस्त्र निर्माण के व्यवसाय का स्पष्ट निर्देश किया गया है—

वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयू रथं न धीरः स्वपा अतक्षम्॥

अर्थात् (धीरः) बुद्धिमान् (सुअपाः) अपने उत्तम कर्म में कुशल (वसुयः) धन की इच्छा करने वाला कारीगर (सुकृता भद्रा वस्त्रा इव) जिस प्रकार उत्तम सुन्दर वस्त्र तैयार करता है, अथवा तर्खान (रथं न) जिस प्रकार रथ तैयार करता है, उसी प्रकार (अतक्षम्) मैं भी बनाता हूँ। कपड़ा बनाने वाली स्त्री के लिये संवयन्ती वय्या का प्रयोग—

साध्वपांसि सनता न उक्षिते उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तुं ततं संवयन्ती समीची यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती॥

(ऋ० २।३।६)

इत्यादि मन्त्रों में हुआ है।

यजुर्वेद १५।७ में सूत कातने के काम को सम्पत्ति देने वाला बताया गया है। मन्त्र खण्ड इस प्रकार हैं—

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व॥ (य० १५।७)

(रायस्पोषेण तन्तुना) धन का पोषण करने वाले सूत्र (सूत) से धन की पुष्टि प्राप्त करो। महात्मा गांधी जी ने वेदों के इस सन्देश का सारे भारत में प्रचार करके निर्धन नर-नारियों की बड़ी भारी सेवा की और बेरोज़गारी की समस्या को अखिल भारतीय चरखा संघ इत्यादि संस्थाओं के द्वारा बहुत अंश तक दूर करने का सफल प्रयत्न किया।

माताएँ अपने पुत्रों के लिए कपड़े तैयार करें—

ऋग्वेद ५।४७।६ में कहा गया है—

वि तन्वते धियों अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरों वयन्ति।

अर्थात् माताएँ जहाँ इस बच्चे के लिये (धियः अपांसि वितन्वते) उत्तम बुद्धियों व सुविचारों और उत्तम कर्मों का विस्तार करती अथवा उपदेश देती हैं, वहाँ (पुत्राय वस्त्रा वयन्ति) वे पुत्र के लिये वस्त्र बुनती हैं। माताओं द्वारा अपने पुत्रार्थ वस्त्र बुनने के साथ-साथ जो सच्चा प्रेम अनुस्यूत होता है, उसका कितना स्थायी उत्तक प्रभाव सन्तान पर पड़ सकता है, इसकी सहज में कल्पना की जा सकती है।

पत्नी द्वारा पति के लिये वस्त्र बुनना

वेदों में जैसे माता के द्वारा पुत्र के लिये वस्त्र बुनने का विधान है, वैसे ही पत्नी द्वारा पति के लिये भी स्वयं वस्त्र बुनने का विधान है। इसे सब से अधिक कल्याणकारक बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः।
वासो यत्पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात्॥

(अ० १४।२।५१)

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि (ये अन्ताः) जो कपड़े के अन्तिम भाग हैं (यावतीः सिचः) जो कि नारियां हैं (ये ओतवः) जो ताने बाने हैं तथा (ये च तन्तवः) जो ताने हैं, इन सबके साथ (यत् पत्नीभिः उतवासः) जो पत्नियों द्वारा बुना कपड़ा होता है, (तत्) वह कपड़ा (नः स्योनम् उपस्पृशात्) हमारे लिये सुखदायक स्पर्श वाला हो। जो कपड़े के अंतिम भाग हैं, जहाँ से खुले धागे फैलते हैं, जो कि नारियों की नक्काशियाँ हैं तथा कपड़े के ताने और बाने तथा उनका सब सूत्र भी पत्नी के द्वारा ही काता हुआ होना चाहिये। अर्थात् अपने पति के लिए जो कपड़ा बुना जाए, उसका सब सूत पत्नी ही काते। उससे ताना और बाना बनावे। उसी से उत्तम नक्काशियाँ बनावे और अन्तिम धागों को भी सुन्दर और शोभा वर्धक तैयार करे। जो पतिव्रता पत्नी प्रेम के साथ अपने पति के लिए पहनने का कपड़ा स्वयं बनाती है, वह मानो प्रत्येक सूत्र के साथ अपना हार्दिक प्रेम ही उस कपड़े में बुनती है। सूत कातने के समय उस पतिव्रता देवी के मन में यह भाव है कि जो यह सूत काता जाता है, वह अपने पति देव के लिए है। इसलिए सूत भी उत्तम ही कातना चाहिये। इस प्रकार प्रेम भाव से बुना हुआ कपड़ा पति के लिए वस्तुतः अत्यन्त हर्षप्रद होता है। इसमें

सन्देह क्या हो सकता है। इस मन्त्र का ग्रिफिथ द्वारा अंग्रेजी में अच्छा अनुवाद इस प्रकार है—

"May all the hems and borders, all the threads that form the web and woof, the garment woven by the bride, be soft and pleasant to our touch........"

इस पर ग्रिफिथ महोदय की टिप्पणी भी पठनीय है।—

"The garment that the young husband is to wear on the first day of his wedded wife, and that apparently has been made for him by the bridge."

अर्थात् विवाह के पहले दिन तरुण पति को पहनने के लिए विशेष प्रकार का कपड़ा उसकी पत्नी बनाती है। वस्तुतः मन्त्रानुसार न केवल पहले दिन किन्तु उसके पश्चात् भी पत्नी का ही काता और बुना हुआ वस्त्र जिसमें सच्चा हार्दिक प्रेम अनुस्यूत वा ओतप्रोत होता है, पति के लिए अत्यन्त सुखदायक स्पर्श वाला होता है। इस बात को वेद में ''तत् नः स्योनम् उपस्पृशात्'' आदि मार्मिक शब्दों द्वारा बताया गया है।

यजु० अ० ३० में जिन अन्य व्यवसायों और शिल्प उद्योगों का निर्देश है, उनमें से कुछ और निम्नलिखित हैं। बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए अपनी योग्यता और प्रवृत्ति के अनुसार इनमें से किसी को चुना जा सकता है।—(पवित्राय भिषजम्) यजु० ३०।१०

अर्थात् शरीर और राष्ट्र को पवित्र करने तथा रोग और मलों से रहित करने के लिये भिषग्-रोग निवारक और रोगकारक मैले पदार्थों को दूर करने वाले पुरुषों को नियुक्त करो।

ये भिषग् वा चिकित्सक, वैद्य ब्राह्मण वृत्ति के सात्त्विक निर्लोभ, परोपकार प्रिय, ओषधि विद्याविशारद होने चाहियें। इस बात को ऋग्वेद १०।९७।६ में अच्छी प्रकार स्पष्ट किया गया है। यथा—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः॥

(ऋ० १०।९७।६)

अर्थात् उस विप्रः—मेधावी[१] ब्राह्मण को भिषक्-वैद्य कहा जाता है जो (रक्षोहा) रोगोत्पादक कृमियों का नाश करने वाला और इस प्रकार (अमीव चातनः) रोगों का नाशक है। (यत्र) जिसके मस्तिष्क में (समितौ राजानः इव) जैसे भिन्न-भिन्न देशों के शासक राजा किसी अन्तर्राष्ट्रीय समिति में एकत्र हों, ऐसे (ओषधीः समग्मत)

ओषधि विषयक विज्ञान सङ्गत वा भरे हुए हों। यहाँ भिषग् के लिए विप्र शब्द का प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है।

ऐसे सुयोग्य वैद्यों वा चिकित्सकों के उचित प्रशिक्षण के लिए राज्य की ओर से अत्युत्तम व्यवस्था होनी चाहिये ताकि जनता का स्वास्थ्य उत्तम रह सके।

(प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्) दूर के पदार्थों का ज्ञान करने के लिए नक्षत्रों को देखने वा दिखाने वाले दूरवीक्षण यन्त्र के समान दूरदर्शी विद्वान् को नियुक्त करो।

आशिक्षायै प्रश्निनम्॥ (य० ३०।१०)

सब प्रकार की विस्तृत शिक्षा के लिये प्रश्न करने वाले अध्यापक वा परीक्षक को नियुक्त करो। जितने ही प्रश्न प्रति प्रश्न जिज्ञासाभाव से उठाये जायेंगे, उतना ही विस्तृत ज्ञान होगा।

(उपशिक्षायै अभिप्रश्निनम्) यजु० ३०।१० विद्यार्थियों की शिक्षा या अति सूक्ष्म विषयों की शिक्षा के लिए उनसे नाना प्रश्न करने वाले विद्वान् को नियुक्त करो। **(मर्यादायै प्रश्नविवाकम्)** यजु० ३०।२० मर्यादा की रक्षा अथवा न्याय-अन्याय की व्यवस्था के निर्णय के लिये प्रश्नों को विविध प्रकार पूछने वाले—Cross Examination भलीभाँति करने वाले वकील वा अधिवक्ता (Advocate) को नियुक्त करो।

ऐसे विधिशास्त्रज्ञ तथा प्राविवाकों (वकीलों) के उचित प्रशिक्षण के लिए भी सरकार की ओर से महाविद्यालयों की अत्युत्तम व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये। अन्यथा मर्यादा और न्याय की रक्षा न हो सकेगी। यजु० ३०।११ में कहा है **(इरायै कीनाशम्)** अन्न की वृद्धि के लिये किसान को नियुक्त करते हुए ऋग्वेद में यहां तक कहा गया है कि—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

(ऋ० १०।३४।१३)

अर्थात् पासों से जुआ कभी न खेल, किन्तु खेती ही कर। इस प्रकार खेती वा कृषि के समान अन्य परिश्रम साध्य कार्यों द्वारा तू धन कमा। जो धर्म युक्त पुरुषार्थ से प्राप्त हो, उसी को बहुत मान, उसमें ही सन्तोष कर। इस प्रकार कृषि आदि पुरुषार्थ युक्त कार्य से ही गौ तथा उत्तम पत्नी की प्राप्ति होती है न कि जुआ आदि अधर्म्य व हानिकारक कार्यों से। यही सर्व जगत् स्वामी भगवान् का उपदेश है।

इस तरह कृषि कार्य की उत्तमता का प्रतिपादन किया गया है।

शिक्षित लोगों को इसे घृणा वा तिरस्कार की दृष्टि से न देखना चाहिये। राज्य की ओर से कृषकों की सुविधाओं का विशेष ध्यान रखना चाहिये तथा कृषि के प्रशिक्षण के लिए अत्युत्तम व्यवस्था होनी चाहिये। **(श्रेयसे वित्तधम्)** यजु० ३०।११ सबके कल्याण के लिए, धर्म कार्य करने के लिए धनाढ्य पुरुषों को प्रेरित करो। जो विविध व्यवसायों के द्वारा धनी बन गये हैं, उनको धन का उपयोग सदा सब से कल्याण के लिए करना चाहिये। **(आध्यक्ष्याय अनुक्षत्तारम्)** यजु० ३०।११ अध्यक्ष के कार्य के लिये अश्वों को चलाने वाले सारथि के समान अपने अधीन पुरुषों को सन्मार्ग पर चलाने वाले पुरुषों को नियुक्त करो। प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष ऐसे ही पुरुष होने चाहिये जो अपने अधीनस्थ पुरुषों के हित का ऐसा ही ध्यान रखें जैसे सारथि अपने अश्वों का रखता है तथा जो स्वयं धर्मात्मा सदाचारी होकर, अपने अधीनस्थ पुरुषों को भी सन्मार्ग पर सदा चलाता रहे।

(मनुष्यलोकाय प्रकरितारम्) यजु० ३०।१२ मनुष्यों के हित के लिए प्रकृष्ट रूप से काम करने वाले कर्म वीर पुरुषों को नियुक्त करो। मनुष्य जाति का कल्याण तब हो सकता है जब कर्म वीर, सच्चे कर्म योगी उसके लिए दिन-रात तत्पर हों। इस मन्त्रांश के द्वारा सच्चे कर्मयोगी लोक सेवकों का विधान है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारम्) यजु० ३०।१२ समस्त प्राणियों के हित के लिए मेघ या माली के समान जल और सुखों का सेचन करने वाले उदार पुरुषों को नियुक्त करो। धन का उदारता पूर्वक उपयोग किये विना लोक कल्याण के कार्यों में भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। अतः ऐसी उदारता अत्यावश्यक है।

(मेधाय वासः पल्पूलीम्) यजु० ३०।१२ बुद्धि की वृद्धि या सत्सङ्ग लाभ के लिए वस्त्रों को शुद्ध करने वाली धोबिन की क्रिया का अनुकरण करो। जिस प्रकार धोबिन खार लगा कर वस्त्रों को शुद्ध कर देती है, इसी प्रकार सत्सङ्ग और बुद्धि की वृद्धि के द्वारा मनुष्य अपने सब आन्तरिक मलों को दूर करके शुद्ध पवित्र, सदाचारी बन जाये। उपमा के द्वारा धोबी, धोबिन के व्यवसाय का भी स्पष्ट निर्देश है।

(प्रकामाय रजयित्रीम्) उत्तम अभिलाषा के लिए रंगने वाली स्त्री का अनुसरण करो। जिस प्रकार रंगने वाली स्त्री, वस्त्र को स्वच्छ करके रंग में रंग देती है, इसी प्रकार हृदय को स्वच्छ करके मनुष्य कामना करे तो उसकी अवश्य सिद्धि होती है। (य० ३०।१४)

(यमाय असूम्) यजु० ३०।१४ नियन्ता राजा के लिये या नियंत्रण के लिये **(असूम्)** शत्रुओं पर शस्त्रादि फेंकने वाली सेना को प्राप्त करो। वीर क्षत्रिय पुरुषों को सेना विभाग में प्रविष्ट होकर आजीविका के साथ-साथ सेवा करनी चाहिये। (य० ३०।१४

(वर्णाय हिरण्यकारम्) यजु० ३०।१७ उत्तम वर्ण या वरण करने योग्य सुन्दर पदार्थ-भूषणादि के निर्माण के लिये स्वर्णकार को नियुक्त करो।

(तुलायै वाणिजम्) यजु० ३०।१७ तुला-तराजू के व्यवहार के लिये वणिक् व्यापार में कुशल पुरुष को लगाओ। इस प्रकार सुवर्णकार और व्यापार का स्पष्ट निर्देश आजीविकार्थ किया गया है।

(विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलम्) यजु० ३०।१७ समस्त प्राणियों के सुख के लिये सुखसाधक पदार्थों से युक्त ज्ञानी पुरुष को नियुक्त करो। **(भूत्यै जागरणम्)** यजु० ३०।१७ जागना, सावधान रहना, कर्तव्य पालन में जागरूक रहना, ऐश्वर्य वृद्धि के लिये आवश्यक हैं **(अभूत्यै स्वपनम्)** यजु० ३०।१७ सोना, आलस्य करना, अपने कर्तव्य पालन में प्रमाद करना, ऐश्वर्य नाशक हैं। यदि सब अध्यापक, चिकित्सक, व्यापारी तथा अन्य कार्यकर्ता वेदों के इन पवित्र उपदेशों को सदा ध्यान में रखें (जिनका **''भूत्यै जागरणम्** यजु० ३०।१७ और **अभूत्यै स्वपनम्''** इन अति सरल किन्तु महत्त्वपूर्ण शब्दों द्वारा प्रतिपादन किया गया है) तो देशवासियों की दिन दूनी, रात चौगुनी उन्नति होने लगे, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। **(आर्त्यै जनवादिनम्)** यजु० ३०।१७ पीड़ा को दूर करने और उससे सावधान करने के लिये, सर्व साधारण जनों के प्रति स्पष्ट रूप से बतला देने और उनको सूचित कर देने वाले पुरुषों को नियुक्त करो। **(संशराय प्रच्छिदम्)** यजु० ३०।१७ अच्छी तरह वाणादि का प्रयोग करने के लिये दूर तक छेदन भेदन में कुशल पुरुषों को सेनाओं में नियुक्त करो। **(कृताय आदिनवदर्शम्)** यजु० ३०।१८ किये कर्म के निरीक्षण के लिये उस कृत कर्म में विद्यमान दोष वा त्रुटि को देख लेने में चतुर पुरुषों को नियुक्त करो। इस प्रकार वेदों की विविध कला कौशल और शिल्प उद्योग व्यवसायादि विषयक कुछ शिक्षाओं का हमने दिग्दर्शन कराया है।

विज्ञानादि विषयक वैदिक शिक्षाओं का आगे प्रसंगानुसार सप्रमाण निर्देश कर देना आवश्यक है। वेदों के अनुसार शिल्प भी एक बड़ा यज्ञ है। यज धातु के संगतिकरण वाले अर्थ को लेकर उसके लिये वेदों में यज्ञ शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया गया है।

उदाहरणार्थ—ऋग्वेद १।१०७।१ को देखिये—

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृळयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत्॥

इस मन्त्र में यज्ञ को विद्वानों के लिये सुख कारक बताया गया है। यज्ञ की व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द सरस्वती ने उसका अर्थ—

सङ्गत्यासिद्धः शिल्पाख्यः अर्थात् अनेक वस्तुओं के मिलाने के सिद्ध शिल्प नामक यज्ञ किया है।

ऋग्वेद १।१७७।४ के निम्न मन्त्र में यज्ञ शब्द का विस्तृत अर्थ लिया गया है।

अयं यज्ञो देवया अयं मियेध इमा ब्रह्माण्ययमिन्द्र सोमः।

इस मन्त्र के भाष्य में ऋषि ने उसकी व्याख्या—

''राजधर्मशिल्पकार्यसङ्गत्युन्नतः'' इस रूप में की है जिसका तात्पर्य राजधर्म और शिल्प कार्य की सङ्गति से उन्नत श्रेष्ठ कर्म है।

यजुर्वेद अ० ३४ म० ४ के

येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

इस मन्त्र में ''यज्ञः'' का अर्थ ऋषि दयानन्द सरस्वती ने ''अग्निष्टोमादिर्विज्ञानमयो व्यवहारो वा'' अर्थात् अग्निष्टोमादि अथवा विज्ञानजन्य व्यवहार किया है।

इस वेदोक्त शिल्प कला को उन्नत करने के लिए ऋषि दयानन्द सरस्वती ने न केवल जनता का ध्यान आकर्षित किया, अपितु जर्मनी के वैज्ञानिकों के साथ पत्र व्यवहार करके कुछ भारतीय युवकों को शिल्प तथा विज्ञान की उच्च शिक्षा के लिए वहाँ भेजने का यत्न किया।

इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए इतना ही निवेदन करना पर्याप्त है कि—

१. वेदों में शिल्प तथा कला कौशल इत्यादि को उच्च दृष्टि से देखने तथा शारीरिक श्रम की भी प्रतिष्ठा का विधान है। आजकल के शिक्षित वर्ग में इस वैदिक भावना को भरने की आवश्यकता है। वे श्रम को हीन दृष्टि से देखना छोड़ दें और आजीविकार्थ किसी भी धर्म युक्त पुरुषार्थ को करने में संकोच न करें। इस प्रकार मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने से शिक्षित वर्ग की बेरोजगारी की समस्या पर्याप्त अंश तक दूर हो जायेगी।

२. वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में ऐसा परिवर्तन किया जाये जिससे यह पुस्तकीय शिक्षा तक सीमित न होकर, उद्योग, शिल्प तथा विज्ञान और कला के प्रशिक्षण को भी प्रोत्साहित करे। इन विषयों के अध्ययन के लिए विद्यालय तथा महाविद्यालय खोले जाएँ। लोग सरकारी नौकरियों के लिए ही इधर-उधर न भटकते रहें अपितु शिल्प तथा उद्योग के द्वारा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकें।

३. कृषि के विकास के लिए राज्य की ओर से विशेष व्यवस्था की जाये जिससे जिन व्यक्तियों की उधर रुचि हो, वे उसके द्वारा जीवन निर्वाह कर सके। कृषि के साधनों को भी उन्नत करने का प्रयत्न किया जाये तथा स्थान-स्थान पर कृषि महाविद्यालयों की स्थापना की जाये। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में इसकी ओर अत्यधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

४. ग्रामोद्योगों को भी राज्य की ओर से विशेष रूप से प्रोत्साहित और विकसित किया जाना चाहिये।

५. विविध व्यापारों और व्यवसायों का भी अधिक विस्तार हो तथा उनके लिए उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था हो जिससे अधिक से अधिक शिक्षित व्यक्ति उनके द्वारा जीवन निर्वाह तथा राष्ट्र की सेवा कर सकें।

६. यह एक बड़े महत्त्व की बात है शास्त्रों के विधान के अनुसार ५०-५५ वर्ष की आयु के पश्चात्, विशेषतः पौत्र उत्पन्न होने के पश्चात् लोगों को वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा ले लेनी चाहिए। इससे दूसरे योग्य व्यक्तियों को भी कार्य करने का अवसर प्राप्त होगा। अब ७५ वर्ष की आयु वा जीवनान्त तक, प्रायः लोग धनोपार्जन में तत्पर रहते हैं, जिससे नये व्यक्तियों को आजीविकार्थ कार्य प्राप्त करने में पर्याप्त कठिनता हो जाती है। वैदिक आश्रम प्रणाली के प्रचलित होने से [जिस पर हम आगे प्रकरणवश प्रकाश डालेंगे] इस कठिनता तथा बेरोजगारी की समस्या के समाधान में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

अध्याय-७

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध व पारिवारिक समस्याएँ

वेदों में जहाँ आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, इनके परस्पर सम्बन्ध, सृष्टि की उत्पत्ति तथा ज्ञान विज्ञान की कई बातों का वर्णन है, वहां मनुष्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का भी उनमें स्पष्टतया वर्णन पाया जाता है। ऋग्वेद १०।८५ का सम्पूर्ण सूक्त विवाह विषयक है जिसमें गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए वर वधू की ईश्वर को साक्षी जान कर की हुई गम्भीर प्रतिज्ञाओं का वर्णन है—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥

(ऋ० १०।८५।४७)

इत्यादि मन्त्र इस विषय में उल्लेखनीय हैं जिनका भाव यह है कि यज्ञ मण्डप में उपस्थित सब विद्वानों के सम्मुख इस बात की हम वर-वधू घोषणा करते हैं कि हमारे हृदय जल के समान पवित्र, शान्त और परस्पर मिले हुए रहेंगे। जिस प्रकार प्राण वायु हमें प्रिय है ऐसे ही हमारा प्रेम परस्पर रहेगा। परमात्मा ऐसी कृपा करे जिससे हमारा प्रेम सदा स्थिर रहे।

यजुर्वेद के १२वें अध्याय के निम्नलिखित २ मन्त्र पति-पत्नी कर्त्तव्य का बड़े ही स्पष्ट और उत्तम शब्दों में प्रतिपादन करते हैं—

समितꣳसं कल्पेथाꣳसंप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। इषमूर्जमभि संवसानौ॥

(य० १२।५७)

सं वां मनांꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्।

(य० १२।५८)

अर्थात् तुम दोनों पति-पत्नी मिल कर एक हो जाओ। अपनी इच्छाओं को मिला दो, दोनों का सङ्कल्प समान हो। तुम दोनों अपनी शक्ति को बढ़ाओ। (संप्रियौ) परस्पर सदा प्रेम रखो। (रोचिष्णू) विषयासक्ति रहित होकर, तेजस्वी बनो। (सुमनस्यमानौ) मन को उत्तम विचार युक्त और प्रसन्न रख कर मित्रवत् परस्पर व्यवहार करो।

(सुमनसो सखायो विद्ववांसाविवाचरन्तौ–दयानन्दर्षिः) उत्तम वस्त्रालङ्कारादि से विभूषित होओ।

मैं परमात्मा वा आचार्य तुम दोनों पति पत्नी के मनों, सत्यभाषणादि व्रतों और चित्तों अथवा वेदोपदिष्ट धर्म कार्यों को मिलाता हूँ। तुम दोनों सदा प्रेम से अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहो, ऐसा उपदेश देता हूँ।

अथर्व० ३।३० में भी इन पारिवारिक कर्त्तव्यों का बड़ा गम्भीर और उत्तम उपदेश है जिनमें से निम्नलिखित कुछ मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जा पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्॥

(अ० ३।३०।१-२)

अर्थात् मैं परमेश्वर, तुम सब परिवार के हृदय और मन को मिला कर, द्वेष भाव को सर्वथा दूर करता हूँ। तुम आपस में ऐसे प्रेम करो जैसे गाय नये उत्पन्न बछड़े के साथ प्रेम करती है।

पुत्र पिता के शुभ सङ्कल्प और कार्य के अनुकूल कार्य करने वाला हो और माता के साथ उसका मन मिला हुआ हो। पत्नी पति के साथ ऐसी वाणी का प्रयोग करे जो मानो शहद से भरी हुई, अर्थात् मधुर और शान्ति देने वाली हो।

पति के लिए भी ऐसी मधुर वाणी के प्रयोग का वेद मन्त्रों में उपदेश है जिनमें उसके मुख से कहलाया गया है कि—

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुसन्दृशः॥

(अ० १।३४।३)

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥

(अ० १।३४।५)

अर्थात् मेरा जाना, आना, किसी काम में प्रवृत्त होना, सब कुछ माधुर्य युक्त हो। मैं वाणी से सदा मधुर वचन बोलूँ और मेरी दृष्टि भी माधुर्य से परिपूर्ण हो।

हे देवि, मैं गन्ने के समान मधुर भाव से सर्वथा द्वेष रहित प्रेममय व्यवहार के लिए तुम्हारे पास आता हूँ। तुम सदा मेरी कामना करने वाली बनो, कभी मुझ से विमुख वा मुझ से विरोध करने वाली न बनो। इस प्रकार यह माधुर्य तथा प्रेममय व्यवहार पति-पत्नी आदि सब के लिये समान रूप से है।

इसी सूक्त (अथर्व ३।३०) का पञ्चम मन्त्र है—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

(अ० ३।३०।५)

हे मनुष्यो, तुम (ज्यायस्वन्तः) बड़ों का मान करने वाले (चित्तिनः) उत्तम ज्ञान युक्त (सधुराः संराधयन्तः चरन्तः मा वियौष्ट) धुरन्धर कार्य दक्ष होकर विचरते और परस्पर मिलकर कार्य सिद्धि करते हुए एक दूसरे से विरोध न करो। एक दूसरे के प्रति सत्य, मधुर भाषण करते हुए प्राप्त होओ। मैं तुम्हें एक सत्य मार्ग की ओर जाने वाले और समान मन वाले तथा परस्पर सहायक बनाता हूँ।

परस्पर प्रेम पूर्ण सहयोग की भावना रखने का इससे उत्तम उपदेश और क्या हो सकता है? जिस परिवार, समाज वा राष्ट्र में लोग इस वैदिक शिक्षा का अनुसरण करने वाले हों, वहाँ सदा सुख, शान्ति, आनन्द और समृद्धि का निवास होगा, इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं।

इस सूक्त का अन्तिम निम्न मन्त्र भी विशेष रूप से मनन करने योग्य है—

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु॥

(अ० ३।३०।७)

इस मन्त्र में कहा गया है कि मैं तुम सब को (सध्रीचीनान्) एक शुभ धर्ममार्ग की ओर मिल कर चलने वाला और (संमनसः) एक और परस्पर प्रेम युक्त मन वाला करता हूँ। (संवननेन) कार्य विभाजन पूर्वक वन-सम्भक्तौ (एकश्नुष्टीन्) सब मिल कर परिवार और समाज की उन्नति के कार्यों को करते हुए सब को समानरूप से सुखी बनाओ। सुख-दुःख में एकता का अनुभव करो। सब के सुख में अपने सुख का अनुभव करते रहो। (देवा इव अमृतं रक्षमाणाः) ज्ञानामृत की रक्षा करने वाले सत्यनिष्ठ विद्वानों की तरह (सायं प्रातः वः सौमनसः

अस्तु) सायं प्रातः तुम्हारे अन्दर प्रसन्नता वा शान्ति सदा बना रहे। स्त्रियों के कर्त्तव्यों के विषय में निम्नलिखित वेद मन्त्र भी उल्लेखनीय हैं—

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना॥

(अ० १४।२।१७)

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥

(अ० १४।२।१८)

इन मन्त्रों में स्त्री को उपदेश दिया गया है कि तू (अघोरचक्षुः) कोमल प्रेममय दृष्टिवाली (अपतिघ्नी), कभी पति की हिंसा वा उससे विरोध, लड़ाई, झगड़ा न करनेवाली (स्योना), सुख देनेवाली (शग्मा) शान्ति देने वाली (गृहेभ्यः सुयमा) सब गृहवासियों के लिए तथा गृहस्थित पदार्थों के लिए उचित व्यवस्था रखने वाली (वीरसूः) वीर सन्तान को उत्पन्न करने वाली (देवृकामा), देवरादि सब की शुभ कामना करने वाली (सुमनस्यमाना), मन के अन्दर सदा उत्तम विचार रखने वाली और प्रसन्न रहने वाली बन। इस प्रकार तेरे इन कर्त्तव्यों के पालन तथा उत्तम स्वभाव के कारण (त्वया), तेरे साथ रह कर हम (एधिषीमहि) सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हों उन्नत हों और फलें फूलें।

जहाँ देवियाँ इन वेदोक्त दिव्य गुणों से युक्ता हों वहाँ सब के प्रसन्न और उन्नत होने में सन्देह ही क्या हो सकता है? द्वितीय मन्त्र (अ० १४।२।१८) में पुनः ऊपर की बातों पर बल देने के लिये कहा गया है कि तू (अदेवृघ्नी अपतिघ्नी इह एधि) देवर और पति की मन वचन कर्म किसी प्रकार से हिंसा और उनसे विरोध न करती हुई इस गृहस्थाश्रम में वृद्धि को प्राप्त हो—सब प्रकार से उन्नत और विकसित हो। केवल अपने पति देवरादि सम्बन्धियों के लिए ही नहीं (पशुभ्यः शिवा) तू पशुओं के लिए भी कल्याणकारिणी और सुखदायिनी हो। (सुयमा) अच्छी प्रकार संयम पूर्ण जीवन व्यतीत करने वाली और अहिंसा सत्यास्तेयादि यमों का भली-भाँति पालन करनेवाली बन। इस प्रकार संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण तू (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्विनी बन। उत्तम वीर सन्तान को उत्पन्न करनेवाली, अपनी सन्तान को उत्तम शिक्षा देने वाली, देवरादि के साथ उत्तम व्यवहार करने वाली और उनकी शुभ कामना करने वाली होकर (स्योना) सुखदायिनी तू (इमं गार्हपत्यम् अग्निं सपर्य) इन गार्हपत्याग्नि की

सेवा कर। प्रतिदिन अग्निहोत्र और गृहकार्य पाकादि को अच्छी तरह सदा किया कर।

इसी सूक्त के २६वें मन्त्र में स्त्री को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान्विशेमान् ॥

(अ० १४।२।२६)

अर्थात् तू (सुमङ्गली) सदा उत्तम मङ्गलकारक लक्षणों से युक्ता (गृहाणां प्रतरणी) सब गृहवासियों को सदा उन्नत करने वाली, उन्हें बढ़ाने और विपत्तियों से पार करने वाली (पत्ये सुशेवा) पति के लिए उत्तम सुखदायिनी (श्वशुराय शम्भूः) अपने श्वशुर के लिए शान्ति और सुख को देने वाली (श्वश्र्वै स्योना), अपनी सास के लिए भी सुखदात्री होकर (इमान् गृहान् प्रविश) इन घरों में प्रवेश कर।

यदि देश-विदेश की सब देवियां वेद के इन पवित्र उपदेशों के अनुसार अपना आचरण बना लें, तो संसार में कितनी शान्ति हो जाये और किस प्रकार सब घर सचमुच स्वर्ग धाम बन जायें, जैसे कि वेदों में स्वयं कहा गया है कि—"इमे गृहा मयोभुवः।" (अ० ७।६०।२)

ये घर सुख के मूल हैं। दुर्भाग्यवश अब तो प्रायः सर्वत्र इसके विरुद्ध दिखायी देता है तथा पति-पत्नी, देवर-भाभी, सास-बहू इत्यादि के कलहों ने घरों के वातावरण को विषाक्त बना रखा है। वेदों के इन उपदेशों पर आचरण करने से ही सब का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं। इन कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए स्त्री को गृहकार्य में सदा जागरूक रहने की आवश्यकता है। इसीलिये ऋग्वेद १०।८५।२७ में कहा है—

अस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि। (ऋ० १०।८५।२७)

इस घर में गृहपतित्व के लिए तू सदा जागरूक रह। कभी आलस्य प्रमाद न कर। वेदों में उपमाओं के द्वारा भी पारिवारिक कर्त्तव्यों पर बड़ा उत्तम प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद १।१।९ में मन्त्र आया है—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥

(ऋ० १।१।९)

अर्थात् हे परमेश्वर, तू हमारे लिए ऐसा सूपायन अथवा सुगमता से पहुँचने योग्य हो जैसे पुत्र के लिये पिता होता है। पुत्र जब चाहे तब पिता के पास बिना संकोच के पहुँच सकता है। वह पुत्र के लिए

सुखदायक पदार्थ तथा ज्ञान को भी देता है। ऐसे ही भक्त का परमेश्वर के साथ प्रेममय सम्बन्ध होना चाहिये। सामवेद म० २५९ में उपमा के द्वारा स्पष्ट निर्देश है कि पिता को पुत्र के कल्याण के लिए प्रारम्भ से ही उसे उत्तम ज्ञान देना चाहिये।

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

(सा० २५९)

अर्थात् हे परमेश्वर, आप हमें उत्तम ज्ञान से ऐसे भर दें जैसे पिता पुत्र को उत्तम ज्ञान से भर देता है। चित्त वृत्ति निरोध अथवा इस संसार के मार्ग में आप हमें शिक्षा प्रदान करें जिससे हम जीव उत्तम ज्योति को प्राप्त कर सकें।

कितनी उत्तमता से उपमा द्वारा पुत्र के प्रति पिता के उत्तम ज्ञान दान रूप कर्त्तव्य का निर्देश किया गया है। अपने प्रिय पुत्र को सब प्रकार से पवित्र बनाना पिता का कर्त्तय है। इस बात को—

"प्रियः सूनुर्न मर्ज्यः।" (सा० ६७२)

अर्थात् प्रिय पुत्र जैसे पिता के लिए सदा शुद्ध पवित्र करने योग्य होता है, इस उपमा के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार स्थान-स्थान पर पारिवारिक कर्त्तव्य विषयक निर्देश वेदों में पाये जाते हैं।

वैदिक परिवार का आदर्श केवल परस्पर प्रेम से बर्ताव करना और सत्य मधुर वाणी का उपयोग ही नहीं, मिल कर ईश्वराधना, हवन यज्ञ स्वाध्यायादि भी है जिससे सांसारिकता के साथ आध्यात्मिकता भी बनी रहे।

यजुर्वेद १५।५० में कहा गया है कि—

तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठेऽअधि रोचने दिवः॥

(य० १५।५०)

यहाँ पत्नी, पुत्र, भाई आदि सहित परमेश्वर के बताये मार्ग का अनुसरण करके उत्तम कार्य करने और अन्त में दुःख रहित मोक्ष अथवा परमानन्द को प्राप्त करने का निर्देश स्पष्ट है।

सामवेद म० ३६२ में यह आदेश है कि—

अर्चत प्रार्चता नरः प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् धृष्ण्वर्चत॥

(सा० ३६२)

हे मेधा प्रेमी नर नारियो, तुम परमेश्वर की पूजा करो, अच्छी तरह से पूजा करो और तुम्हारे पुत्र भी उसकी अर्चना करें। यजुर्वेद ३३।७७ और सामवेद म० १५२५ में पुत्रों के लिए प्रार्थना इस रूप में करने का आदेश है–

उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये। सुमृडीका भवन्तु नः॥

(य० ३३।७७)

हमारे पुत्र अमृत स्वरूप परमेश्वर की वेद रूप वाणी और उसकी आज्ञाओं का श्रवण करें और इस प्रकार हमारे लिए सुखदायक हों। इसी दृष्टि से पत्नी सहित यज्ञ संस्कारादि करने का वेदादि शास्त्रों में विधान है जिससे सन्तान पर सदा अच्छे-अच्छे संस्कार पड़ सकें।

अथर्व० ७।३६।१ में पति पत्नी के मुख से कहलाया गया है कि–

अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति॥

(अ० ७।३६।१)

पत्नी पति को कहती है कि आप मुझे अपने हृदय में बिठा लें। हमारा मन भी सदा मिला हुआ रहे। ऐसे ही पति पत्नी को कहता है। यह सच्चे प्रेम का कितना ऊँचा आदर्श है जहाँ पत्नी को पति की अनुव्रता होनी चाहिये। जैसे अथर्ववेद में—

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥

(अ० १४।१।४२)

इसमें कहा है जिसका तात्पर्य है कि तुम प्रसन्नता, उत्तम संतान, धन और सौभाग्य और सुख की इच्छा करती हुई, पति की अनुव्रता बन कर रहो अर्थात् उसके अनुकूल व्रत और आचरण करो, वहाँ पति को भी एक पत्नी व्रत होने का वेद आदेश देते हैं और पत्नी के मुख से कहलवाते हैं—

ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥ (अ० ७।३८।४)

हे पति देव, आप सदा मेरे ही, केवल मेरे ही होकर रहें, अन्य स्त्रियों का कभी कीर्तन तक भी न करें। इस प्रकार दाम्पत्य जीवन का उत्तम आदर्श वेदों में बताया गया है।

पत्नी के अनेक कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए अथर्ववेद में कहा है—

मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता॥ (अ० ३।२५।४)

तुम कोमल स्वभाव की होओ (केवली) अर्थात् पूर्णतया पतिव्रता होवो, (निमन्युः) क्रोध रहिता (प्रिय वादिनी) सदा प्रिय वचन बोलने वाली और (अनुव्रता) पति के अनुकूल व्रत का पालन और अध्यापनादि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने वाली बनो। यदि स्त्रियाँ इस मन्त्र में कहे गुणों को अपने अन्दर धारण कर लें तो उनका गृहस्थ जीवन अत्यन्त कल्याण कारक हो जावे।

वेदों में एक विवाह के आदर्श का ही सर्वत्र प्रतिपादन किया गया है। वेदों के आदेशानुसार जैसे पत्नी को पतिव्रता (जिसे ऊपर के तथा अन्य अनेक मन्त्रों में ''केवली'' शब्द से भी सूचित किया गया है) होना चाहिये वैसे पति को भी एक ही विवाह गुण-कर्म-स्वभाव देख कर करना चाहिये और पत्नी व्रत का भली भाँति पालन करना चाहिये। इसके कुछ स्पष्ट प्रमाण नीचे दिये जाते हैं।

ऋग्वेद १।१२४, ४।३।२ और १०।७१।४ में—

जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

ये शब्द आये हैं जिनका तात्पर्य है कि जिस प्रकार उत्तम वस्त्र धारण किये हुए, कामना करने वाली पत्नी अपने पति के सम्मुख आती और उसके सम्मुख अपने शरीर को प्रकट करती है, उसी प्रकार विद्या अपने स्वरूप या रहस्य को विद्वान् के सम्मुख प्रकट करती है।

उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(ऋ० १०।७१।४)

जाया और पत्ये दोनों स्थानों में एक वचन का प्रयोग एक विवाह के आदर्श का प्रतिपादक है।

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी॥

(ऋ० १।७३।३)

इस मन्त्र में परमेश्वर की पति से प्रेम करने वाली सच्चरित्रा साध्वी पत्नी के साथ जो उपमा दी गयी है, इससे भी एक विवाह ही सूचित होता है।

ऋ० १०।१४९।४ का निम्न मन्त्र भी इस विषय में उल्लेखनीय है—

गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः॥

(ऋ० १०।१४९।४)

इस मन्त्र में अनेक उपमाओं द्वारा परमेश्वर से प्रेम प्रकट किया गया है और उससे मेल की आतुरता प्रकट की गयी है। पहली उपमा गौओं के ग्राम में लौटने की है, दूसरी योद्धाओं के अश्व से प्रेम की है, तीसरी गौओं के अपने बछड़ों से प्रेम की और चौथी पति के पत्नी से प्रेम पूर्वक मेल की है। जाया पतिम् दोनों स्थानों पर एक वचन का प्रयोग है। केवल उपमा पर ही हमारा बल नहीं, क्योंकि वेदों में एकांश को लेकर अनेक प्रकार की उपमाएँ पायी जाती हैं, किन्तु वेदों की सारी शिक्षा एक विवाह के आदर्श का समर्थन करती हैं। ऋग्वेद १०।८५ के विवाह सूक्त में इसके स्पष्ट निर्देश हैं। उदाहरणार्थ–ऋ० १०।८५।२० में सूर्यकान्ति समान तेजस्विनी सुन्दर कन्या को सूर्या के नाम से सम्बोधित करते हुए कहा गया है।–

आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥

हे सूर्य कान्तिवत् तेजस्विनी, तुम इस रथ पर चढ़ कर अपने पति के लिए सुख का सदा विस्तार करो।

म० २३ में कहा है कि–

सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः॥ (ऋ० १०।८५।२३)

अर्थात् यह पति–पत्नी सम्बन्ध उत्तम नियमित रूप से संयम पूर्वक सदा चलता रहे।

मं० २४ में कहा है कि—

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि॥

अर्थात् हे वधु, तुझे पति के साथ सदा पुण्य और सत्य के मार्ग में नीरोगता सहित संयुक्त करता हूं।

म० ४२ में कहा है—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥

(ऋ० १०।८५।४२)

अर्थात् तुम दोनों (पति–पत्नी) इस संसार व गृहस्थाश्रम में सुखपूर्वक निवास करो। गृहस्थाश्रम में तुम्हारा कभी परस्पर वियोग न हो। सदा प्रसन्नता पूर्वक अपने घर में रहो।

इस मन्त्र से पति–पत्नी त्याग व तलाक का सर्वथा निषेध वेदों के अनुसार सिद्ध होता है। **मा वियौष्टम्** अर्थात् कभी एक दूसरे से अलग न हो और विरोध न करो ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ऊपर हमने जिस—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥

(ऋ० १०।८५।४७)

मन्त्र का अर्थ सहित उल्लेख किया है। उससे वेदोक्त एक विवाह के आदर्श का ही समर्थन होता है। इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। "नौ" का मन्त्र में २ बार प्रयोग जो द्विवचन द्योतक है। अथर्व वेद के विवाह विषयक चतुर्दश काण्ड तथा अन्य सूक्तों से भी इसी का समर्थन होता है—

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्य॒श्नुताम्॥

(अ० १४।२।६४)

इस मन्त्र में इन्द्र के नाम से परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए यह प्रार्थना की गयी है कि हे (इन्द्र) परमेश्वर (इह), इस गृहस्थाश्रम में (इमौ दम्पती) इन पति-पत्नी को (चक्रवाका इव) चकवा चकवी की तरह (संनुद) भली प्रकार से प्रेरित (एनौ) ये दोनों (स्वस्तकौ) उत्तम गृह युक्त होकर (प्रजया) अपनी सन्तान के साथ (विश्वम् आयुः व्यश्नुतम्) सम्पूर्ण आयु का आनन्द उठायें। ये स्वस्थ तथा दीर्घजीवी हों। इस मन्त्र में भी पति पत्नी त्याग अथवा तलाक की प्रथा की अवैदिकता सिद्ध होती है।

अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति॥

(अ० ७।३६।१)

ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥

(अ० ७।३८।४)

इस मन्त्र का उल्लेख इसी प्रकरण में पहले किया जा चुका है। जिनमें से प्रथम में पत्नी पति को सम्बोधित करती हुई कहती है कि तुम मुझे अपने हृदय में बिठा लो, हम दोनों का मन भी सदा मिला हुआ रहे। "नौ" का प्रयोग, जो द्विवचन सूचक है, स्पष्टतया एक विवाह के आदर्श का द्योतक है। द्वितीय मन्त्र भी पत्नी का पति को सम्बोधन है कि आप (मम इत् असः केवलः) केवल मेरे ही बन कर रहें। (न अन्यासां कीर्तयाः चन) और किसी स्त्री का कीर्तन तक न करें। यह एक पत्नी व्रत का कितनी सुन्दरता से प्रतिपादन है।

अनेक उपमाओं द्वारा भी वेदों में बहुविवाह और सपत्नीत्व की निन्दा की गयी है। उदाहरणार्थ ऋ० १०।१०५।८ में निम्न उपमा है—

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। (ऋ० १०।३३।२)

यहाँ आँधियाँ (मानसिक पीड़ाएँ) मुझे ऐसे चारों ओर से सन्तप्त कर रही हैं जैसे सपत्नियाँ (सौतें) करती हैं। यह उपमा स्पष्ट तथा बहुविवाह को दुःखदायक बताने के लिए दी गयी हैं। इससे बहुपति की अनुमति कभी सूचित नहीं होती।

ऋ० १०।१०१।११ में निम्न उपमा दी गयी है—

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।

यह उपमा भी बहु विवाह की निन्दा करने के लिए है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है कि हिनहिनाने वाला रथ का घोड़ा दोनों धुराओं के मध्य में दबा हुआ चलता है जैसे दो स्त्रियाँ करने वाला (द्विजानिः) पति दबा हुआ होता है। अर्थात् जिस प्रकार टमटम का घोड़ा दोनों धुराओं के बीच में जकड़ा जाने के कारण इधर–उधर हिल नहीं सकता, इसी प्रकार दो पत्नियों का पति पूर्णतया परतन्त्र हो जाता है, इसलिए एक से अधिक पत्नी रखना उचित नहीं है।

केवल विशेष आपद्धर्म के रूप में वेदों में नियोग का विधान है। इस प्रकार ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैदिक एक विवाह ही आदर्श है और सब को उसे मानना चाहिये। केवल एकवचन वा बहुवचन से परिणाम निकालना ठीक नहीं। वस्तुतः उपमाओं में वचन अविवक्षित होता है क्योंकि उपमा ही एकदेशीय होती है। यही मानना उचित है। ऋग्वेद में कहा गया है—

सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु॥ (ऋ० १०।१४५।२)

इस प्रकार के कई शब्द आये हैं जिनमें सपत्नी (सौत) के नाश की प्रार्थना पायी जाती है। वस्तुतः इस सूक्त का देवता "उपनिषत् पत्नी बाधनम्" है जिसका अर्थ ब्रह्मविद्या की सपत्नी अविद्या के नाश की प्रार्थना है। ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या का नाश करके ज्ञानी को केवल ब्रह्मविद्या का पति बनना चाहिये। ऐसा इस सूक्त का रहस्य है किन्तु यदि आपाततः (ऊपर–ऊपर से) प्रतीयमान अर्थ भी मान लिया जाय (यद्यपि हम उससे सहमत नहीं) तो भी सपत्नी के द्वेषमय भावों का प्रदर्शन करके बहु विवाह की निन्दा में ही वेद भगवान् का तात्पर्य है यह समझना चाहिये। इस विषय का विवेचन करते हुए महामण्डलेश्वर सकल निगमागम शास्त्र निष्णात परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी महेश्वरानन्द जी गिरि ने "चातुर्वर्ण्य–भारत–समीक्षा", नामक ग्रन्थ में ठीक ही लिखा है कि—

"सपत्नी बाधनसूक्तस्य तात्पर्य प्रदर्शनम्।"

"सपत्नीघ्न सूक्तेनापि अनेकपत्नीवादोऽर्थात् भगवता, वेदेन निन्दितोऽस्तीति विदुषां तत्तात्पर्यं प्रतिभाति–कथम् इत्थं, यस्मिन् गृहे सपत्नीनां परस्परम् ईदृशो द्वेषः कलहश्च सर्वदा प्रवर्तमानो भवति, तस्मिन् गृहे अवस्थितस्य गृहपतेः कथमपि शान्तिसुखोपलब्धिर्न भवति प्रत्युत तेन सन्तापपरम्परामनुभूयत इति लोकेऽपि प्रत्यक्षम् स्पष्टं प्रभूत–सन्ताप जनकतया बहुपत्नीवादो निन्दितोऽस्तीति। अतएव गृहपतेर्दुर्दशा–बोधनाय सपत्नीसूक्तस्य वर्णनं क्रियते भगवता वेदेन, नत्वेकस्य कृते बहुपत्नी विधानायेति सर्वमनाविलम् ॥"

(स्वा० महेश्वरानन्दगिरि कृत चातुर्वर्ण्यभारतसमीक्षा पृ० १९१)

इसका तात्पर्य यह है कि सपत्नीघ्न सूक्त के द्वारा वेद भगवान् ने अनेक पत्नीवाद की निन्दा की है। यही विद्वानों का तात्पर्य प्रतीत होता है। यदि पूछा जाय कैसे तो उसका उत्तर यह है कि जिस घर में सपत्नियों का ऐसा द्वेष और कलह सदा लगा रहता है, उस घर में गृहपति को कभी भी शान्ति और सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि बहुत सन्तापजनक होने के कारण बहु–पत्नीवाद निन्दित है। इसलिए गृहपति की दुर्दशा का बोध कराने के लिए वेद भगवान् ने सपत्नी सूक्त का वर्णन किया है। एक पुरुष के लिए अनेक पत्नियों का विधान नहीं। अनेक पाश्चात्य और कुछ भारतीय विद्वान् भी वेदों में बहुविवाह का प्रतिपादन सिद्ध करने के लिए प्रायः निम्न मन्त्र उद्धृत करते हैं—

अदा॑न्मे पौरुकु॒त्स्यः प॑ञ्चा॒शतं॑ त्र॒सद॑स्युर्व॒धूना॑म्। मंहि॑ष्ठो अ॒र्यः सत्प॑तिः ॥

(ऋ० ८।१९।३६)

इस मन्त्र का ऋषि "सोभरिः काण्वः" और देवता अथवा प्रतिपाद्य विषय "त्रसदस्योर्दानस्तुतिः" है। कई भाष्यकारों के अनुसार निम्न कथा का प्रतिपादन इस सूक्त के मन्त्र में किया गया है जो विष्णु पुराण, भागवतादि पुराणों में कुछ–कुछ भेद से पायी जाती है।

सोभरि ऋषि जल में मग्न होकर १२ वर्ष तप करते रहे। एक समय सम्मद नाम का मत्स्यराज अपने परिवार के साथ क्रीड़ा करता हुआ इनके निकट रहने लगा। ऋषि भी इनके निकट रहने लगा। ऋषि इसकी क्रीड़ा को देखकर मुग्ध हो गये और सोचने लगे कि मैं भी इस मीन की तरह भोग भोगूँ तो कैसे आनन्द से दिन कटें। विवाहार्थी हो वे मान्धाता राजा के पास पहुँचे। उसकी ८० कन्याएँ थीं। राजा ने कहा कि हमारी कन्याएँ स्वयंवरविधि से विवाह करती हैं। वे वृद्ध के साथ विवाह करना पसन्द न करेंगी। इनके अन्तःपुर में जाने और योगबल

से तरुण बन जाने पर, सब कन्याओं ने इनसे विवाह की इच्छा प्रकट की। अतः राजा ने सब के साथ सोभरि का विवाह कर दिया, जिससे इनके १५० बच्चे हुए। इत्यादि—

वस्तुतः मन्त्रों में इस कथा का कोई वर्णन नहीं। हाँ सोभरि शब्द मन्त्रों में दो बार आया है। एक तो मन्त्र २ में जो निम्नलिखित है—

विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीळिष्व यन्तुरम्।
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम्॥

(ऋ० ८।१९।२)

इस मन्त्र में सोभरि अर्थात् सुष्ठु विद्ययात्मानं भरतीति सोभरिः अच्छी प्रकार विद्या से अपने को भरपूर करने वाले विद्वान् को सम्बोधित करते हुए यह उपदेश दिया गया है। "हे सोभरे, हे (विप्र) ज्ञानिन् तू (विभूतरातिम्) बहुत प्रकार का दान देने वाले (चित्र शोचिषम्) अद्भुत तेजोयुक्त (अस्य सोम्यस्य मेधस्य यन्तुरम्) इस सुन्दर संसार रूप यज्ञ वा संगत कर्म के नियामक (अग्निम्) ज्ञान स्वरूप अग्रणी नेता परमेश्वर की ही (अध्वराय) हिंसारहित शुभ कर्म की पूर्ति के लिए (ईळिष्व) स्तुति कर।

यह सोभरि अर्थात् उत्तम शक्ति, विद्या आदि को अपने में धारण करने वाले ज्ञानी को सम्बोधन है। कहीं ऐसा न समझा जाय कि वह कोई एक व्यक्ति विशेष है। अतः इसी सूक्त के म० ३२ में "सोभरयः" ऐसे बहुवचनान्त प्रयोग आया है कि—

तमागन्म सोभरयः सहस्रमुष्कं स्वभिष्टिमवसे। सम्राजं त्रासदस्यवम्॥

(ऋ० ८।१९।३२)

अर्थात् हम (सोभरयः) विद्यादि से अपने को भरपूर करने वाले उपासक (अवसे) रक्षा, ज्ञान और वृद्धि के लिए (तम्) उस (सहस्रमुष्कम्) अपरिमित तेज वाले सहस्राणि–असंख्यतानि मुष्णन्ति तमांसि हरन्तीति मुष्काणि तेजांसि यस्य तम् (स्वभिष्टिम्) उत्तम इष्टदेवम् (सम्राजम्) अच्छी प्रकार से सर्वत्र प्रकाशमान (त्रासदस्यवम्) त्रस्यन्ति बिभ्यति दस्यवो दुष्टा यस्मात् तं दुष्टनियन्तारम्–दुष्टों के नियन्ता परमेश्वर को (आगन्म) प्राप्त हुए हैं। उसी की शरण में आये हैं। "त्रासदस्यवः" इसमें स्वार्थे यत्–प्रत्यय का प्रयोग त्रसदस्यु के ही अर्थ में हुआ है। इस प्रकार किसी एक सोभरि नामक व्यक्ति विशेष का नहीं, किन्तु सभी ज्ञानी उपासकों द्वारा रक्षा, ज्ञान और वृद्धि के लिए उस सब के सम्राट्, दुष्ट नियन्ता परमेश्वर, की ही शरण में जाने का मन्त्र में उपदेश है और "अदान्मे पौरुकुत्स्यः" इस मन्त्र में उस

परमेश्वर की ही अद्भुत देनों का वर्णन है।

जैसा कि हमने ऊपर दिखाया है सोभरि वह ज्ञानी उपासक कहलाता है जो ज्ञान, शक्ति, शान्ति आदि से अपने को अच्छी तरह से भरपूर कर लेता है। सुष्ठु भरणकर्ता—सोभरिः उसके लिए काण्वः का भी प्रयोग हुआ है क्योंकि वह मेधाबुद्धि सम्पन्न पिता का सच्चापुत्र होता है। कण्व इति मेधाविनाम (निघ० ३।१५) ऐसे मेधावी विद्वान् के सच्चे पुत्र सोभरि द्वारा ईश्वर के दोनों रूपों का वर्णन मन्त्र में इस प्रकार किया गया है कि—

अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्। मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः॥

(ऋ० ८।१९।३६)

अर्थात् उस (पौरुकुत्स्यः पुरवः—बहवः कुत्साः पाप दुःख—निवारक—बलरूपवज्रा स्य वज्रनाम (निघ० २।२०) पुरुकुत्स एव पौरुकुत्स्यः स्वार्थे यत्। जिसके पास दुःख के निवारक बलरूपी अनेक वज्र हैं ऐसे (मंहिष्ठः) सब से बड़े दानी (सत्पतिः) सज्जनों के पालन और (त्रसदस्युः) दुष्ट नियन्ता (अर्यः) संसार के स्वामी परमेश्वर ने आर्य इति ईश्वर नाम (निघ० २।२२) (मे) मेरे लिए (वधूनाम्) वहन्ति—प्रापयन्ति सुखमिति वध्वः तासाम् सुख को प्राप्त कराने वाली शक्तियों की (पञ्चाशतम्) ५० संख्या को (अदात्) दिया वा वह देता है। "छन्दसि लुङ्-लङ्-लिटः" अष्टा० ३।४।५ के अनुसार सामान्यकाल के अर्थ में यह प्रयोग है। वे ५० सुखदायिनी शक्तियां या पदार्थ निम्नलिखित हैं।

१० इन्द्रिय, १० प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये चार अन्तःकरण—विद्या, स्वभाव, शरीर और बल ये चार इस प्रकार २८ हुए जिनकी उपर्युक्त प्रकार से गणना ऋषि दयानन्द सरस्वती ने—

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥

(अ० १९।८।२)

इस अथर्व १९।८।२ की व्याख्या में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना प्रकरण में की है।

४ वेद और ४ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये पुरुषार्थ मिलाकर ३६ हो गये। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान, इस सुप्रसिद्ध षट्क सम्पत्ति को मिलाने से ३६+६=४२ संख्या हो गयी। निम्न ८ सिद्धियों को मिलाने से जिनकी गणना "ऊहादिभिः सिद्धिः" इस सांख्य सूत्र की व्याख्या में की गयी है, यह ५० की संख्या पूरी

हो जाती है।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं, दुःखविघातास्त्रय सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ, सिद्धः पर्वोऽकुशस्त्रिविधः॥

(वाचस्पत्यबृहदभिधानम्—तारानाथ तर्क वाचस्पति कृत पृ० ८२९६ में उद्धृत)

अर्थात् ऊह—पूर्व जन्म के अभ्यास और प्रबल संस्कारों के कारण इस जन्म में विशेष उपदेशादि के विना भी तत्त्वबोध हो जाना, किसी अन्य के उपदेश से ज्ञान हो जाना, वेदादि के अध्ययन से सिद्धि, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति, तत्त्वज्ञानी मित्रों की प्राप्ति और दान, इन ८ सिद्धियों की प्राप्ति परमेश्वर की कृपा से ही सच्चे उपासक को होती है जिसके लिए वह परमेश्वर का बार–बार धन्यवाद करता है। जैसे कि इस सूक्त के—

तव क्रत्वा सनेयं तव रातिभिरग्ने तव प्रशस्तिभिः।
त्वामिदाहुः प्रमतिं वसो ममाग्ने हर्षस्व दातवे॥

(ऋ० ८।१९।२९)

प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः।
यस्य त्वं सख्यमावरः ॥

(ऋ ८।१९।३०)

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट निर्देश किया गया है कि ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के दोनों विधानों से ही मनुष्य सुख को प्राप्त करता है। वह (परमेश्वर) जिसकी मित्रता को वरण करता है वही पुरुष संसार में बुद्धि और उन्नति को प्राप्त होता है। यह स्पष्ट है कि मन्त्र ३२ में प्रयुक्त त्रासदस्यव और म० ३६ में प्रयुक्त मंहिष्ठ+अर्थी सत्पतिः इत्यादि विशेषण युक्त त्रसदस्यु परमात्मा ही है कोई राज विशेष नहीं तथा ''सोभरिः सोभरयः'' इत्यादि पदों से उत्तम विद्यादि को अपने में अच्छी प्रकार धारण करने वाले ज्ञानी उपासकों का ग्रहण है जिनको भगवान् की कृपा से सुखदायक ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, प्राण अपान व्यान उदान समान देवदत्त कूर्म कृकल नाग धनञ्जय से १० प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये ४ अन्तःकरण, विद्या, स्वभाव, शरीर, बल, ४ वेद, ४ पुरुषार्थ, शमादि षट्क सम्पत्ति, ऊह, शब्द अध्ययन, त्रिविध दुःख निवृत्ति इत्यादि ८ सिद्धियाँ ये ५० वधुएँ अर्थात् वहन्ति प्रापयन्ति सुखमिति वध्वः। देखो उणादिकोष १।८३ वहेर्धश्च वहति सुखानि प्रापयतीति वधूः प्रायः होती हैं। ५० वधुओं से तात्पर्य १० इन्द्रियों की शक्ति को पञ्चगुणित करने का भी लिया जा सकता है।

इसमें ५० स्त्रियों के साथ वृद्ध सोभरि नामक ऋषि के विवाह की कहीं चर्चा नहीं जैसे कि भ्रम से समझ लिया गया। वेदों में जब "संमातपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः" (ऋ० १०।१०।५-८) तथा "उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।" (ऋ० १०।१०१।११) इत्यादि के द्वारा सपत्नीत्व और द्विभार्यत्व की इतनी निन्दा है और उसे अत्यन्त दुःखजनक बताया गया है तो ५० स्त्रियों से एक ऋषि के विवाह का प्रतिपादन हो ही कैसे सकता है? ऋषि का तो लक्षण ही उपनिषत्कार ऋषियों ने वेदों के अनुसार यह किया है। **"सं प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः, कृतामानो वीतरागाः प्रशानताः।"**

(मुण्डकोप० ३।२।५)

इस प्रकार के शब्दों में किया है **जिनमें ज्ञानतृप्तता कृतात्मता अथवा पूर्णानन्द प्राप्ति, वीतरागता और प्रशान्तता पायी जाये, वे ऋषि होते हैं।** ऐसे ऋषि वृद्धावस्था में ५० स्त्रियों के साथ विवाह करें और १५० बच्चे पैदा करें, यह बात सर्वथा अस्वीकार्य तथा ऋषि जीवन पर महान् कलङ्क है।

वैदिक एक विवाहवाद के समर्थन में हमने जो पहले अनेक प्रमाण उद्धृत किये हैं उनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक दिये जा सकते हैं यथा—**मोदमानौ स्वे गृहे।** (ऋ० १०।८५।४२)

द्विवचन का प्रयोग पति पत्नी के लिए किया गया है और उन्हें अपने घर में सदा प्रसन्न रहने का आशीर्वाद दिया गया है।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्यै गृहेभ्यः। (अ० १४।२।२७)

वधू को श्वशुरादि वृद्धजनों और पति के लिए गृह के सब सम्बन्धियों के लिए सुखदायिनी होने का उपदेश है।

पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥ (अ० १४।१।४२)
इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका।
दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥ (अ० १४।२।६३)
घोर हं पृथिवी त्वम्॥ (अ० ८५।१०।२४)
अरिष्टां त्वा सुह पत्या दधामि॥ (ऋ० ८५।१०।२४)
पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु॥ (अ० १४।१।४९)
पत्नी त्वमसि धर्मणा अहं गृहपतिस्तव॥ (अ० १४।१।४९)
गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः॥
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्॥ (अ० १४।१।५२)
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्॥
(ऋ० १०।२७।१२)

इत्यादि इत्यादि। इन प्रमाणों से एक विवाह विषयक वैदिक आदर्श का स्पष्टतया समर्थन होता है। इस एक विवाह विषयक आदर्श के विषय में जर्मनी के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ब्लन्‌शील (Blunschli) ने अपनी Theory of the State नामक पुस्तक में एक बहुत ही अच्छी बात लिखी है जिसको समझकर तुलनात्मक अनुशीलन की दृष्टि से हम यहां उद्धृत करते हैं।

"All the more advanced nations attach cardinal importance to monogamy. Polyandry confuses descent. Polygamy produces discord. The full unity of marriage, the complete reconcilement of the sexes, can only be realised in monogamy. Nature and the moral ideal alike demand it."

"Monogamy raises the wife to a full society with her husband and so gives her an ennobling influence on him. Polygamy degrades the wife and her degradation reacts on the husband and debases him."

(Theory of the State by Bluntschli Chap. XIX, P. 198)

इस सन्दर्भ का भाव यह है कि सब सुसभ्य उन्नत जातियां एक विवाह प्रथा को बड़ा महत्त्व देती हैं। बहुपतित्व की प्रथा से वंश में गड़बड़ पैदा होती हैं। बहुपत्नीत्व प्रथा से कलह उत्पन्न होती हैं। विवाह की पूर्ण एकता, पुरुष और स्त्री का पूर्ण मेलमिलाप एक विवाह प्रथा में ही अनुभूत किये जा सकते हैं। प्रकृति और नैतिक आदर्श इसी की मांग करते हैं।

एक पत्नीत्व अपने पति के साथ पूर्ण सम्पर्क को स्थापित करता है और इस प्रकार पत्नी को अपने उन्नत करने वाले प्रभाव को पति पर स्थापित करने का अवसर देता है। बहुपत्नीत्व स्त्री को अवनत करता है और उसकी अवनति की प्रतिक्रिया पति पर होती है तथा उसे भी अवनत करती है।

तलाक आदि के कारण पाश्चात्त्य देशों में प्रचलित एक विवाह प्रथा अभी वैदिक विवाहादर्श से बहुत दूर है। उस पर हम संक्षेप से आगे कुछ विचार करेंगे।

स्त्री पुरुष सम्बन्ध वा विवाह का प्रयोजन

ऋग्वेद १०।८५ तथा अथर्ववेद १४।१।२ सूक्त और अन्य विवाह विषयक सूक्तों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि **विवाह का एक मुख्य प्रयोजन वीर धार्मिक विद्वान् सन्तान का उत्पादन है।**

उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों को देखिये—

१. प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रा सुभगासति॥
(ऋ० १०।८५।२५)

२. इहं प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
(ऋ० १०।८५।२७)

३. आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
(ऋ० १०।८५।४३)

४. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
(ऋ० १०।८५।४५)

५. स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि। (अ० १४।१।४७)

६. सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु। (अ० १४।१।४९)

७. मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्॥
(अ० १४।१।५२)

८. तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया॥
(अ० १४।१।५३)

९. बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु॥
(अ० १४।१।५४)

१०. आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन्तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्।
सा वः प्रजां जनयद्वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः॥
(अ० १४।२।१४)

११. तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु॥

१२. इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत्पुत्रस्त एषः॥
(अ० १४।२।२४)

१३. आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।
(अ० १४।२।३१)

१४. प्रजावती पत्या सं भवेह॥ (अ० १४।२।३२)

१५. प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम्॥ (अ० १४।२।३७)

१६. प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ॥ (अ० १४।२।३९)

१७. आ वां प्रजां जनयतु प्रजापतिः॥ (अ० १४।२।४०)

१८. सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन॥ (अ० १४।२।७०)

१९. ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै॥ (अ० १४।२।७१)

२०. **ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥**

(अ० १४।२।७३)

२१. **विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत् ॥** (अ० १४।२।७४)

इस प्रकार हमने ऋग्वेद १०।८५ तथा अथर्ववेद काण्ड १४ के प्रथम द्वितीय सूक्त के मन्त्रों वा मन्त्रांशों के जो २१ उद्धरण दिये हैं, उनसे इस विषय में अणुमात्र भी सन्देह नहीं रह सकता कि वेदों के अनुसार उत्तम सन्तानोत्पत्ति विवाह का एक प्रधान उद्देश्य है। केवल पुत्र वा सन्तान उत्पन्न करना नहीं अपितु धार्मिक और वीर सन्तान जिसके लिए सुपुत्रा, सुप्रजाम्, सुप्रजा, प्रजावच्छर्म इत्यादि का मन्त्रों में प्रयोग आया है। इतना ही नहीं जिसके लिये अ० १४।२।२४ में कहा है कि–

इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत्पुत्रस्त एषः ॥

अर्थात् इस गृहस्थाश्रम में पति के लिये ऐसी प्रजा (सन्तान) को उत्पन्न कर कि यह तेरा पुत्र गुणों की दृष्टि से (सुज्यैष्ठ्यो) भवत्। बहुत श्रेष्ठ–ज्येष्ठता वा बड़प्पन से युक्त हो।

इस प्रकार उत्तम संतान उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि दम्पती एक दूसरे से सदा प्रसन्न रहने वाले और संयमी हों। भोगविलास में वे आसक्त न हों अन्यथा कामुकता युक्त नीच संतान होगी। इसीलिये ऊपर उद्धृत १६ वें मन्त्राश में, जो अथर्व० १४।२।३९ से लिया गया है, कहा है कि–

प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ। (अ० १४।२।३९)

तुम दोनों पति पत्नी सदा प्रसन्न होकर इस गृहस्थ आश्रम में संतान उत्पन्न करो। दोनों की इच्छा और प्रसन्नता के बिना उत्तम संतान उत्पन्न नहीं हो सकती।

उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिये यह भी आवश्यक है कि स्त्री विराट् अर्थात् उत्तम गुणों से विशेष रूप से चमकने वाली (वि–विशेषण राजृ–दीप्तौ राजते इति विराट्) हो जैसे कि ऊपर अथर्व० १४।२।७४ से उद्धृत २१ वें मन्त्रांश में कहा है–

विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत् ॥ (अ० १४।२।७४)

यजुर्वेद ७।२९ में कहा है कि–

सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥

अर्थात् मैं ऐसी संतान वाला बनूं जिससे सुप्रजावाला कहलाऊं। मेरे पुत्र ऐसे वीर हों कि मैं उनके कारण सुवीर (उत्तम वीर पुत्रों

वाला) कहलाऊं, मेरे पुत्रों में शारीरिक, मानसिक, आत्मिक बल का इतना विकास हो कि मैं उनके कारण "सुपोष" उत्तम पुष्टियुक्त कहलाऊं। ऐसी वीर धार्मिक, विद्वान्, यशस्वी संतान का उत्पादन विवाह का प्रधान उद्देश्य है।

ऋग्वेद १०।१५९।३ में स्त्री के मुख से कहलवाया गया है—

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः॥

(ऋ० १०।१५९।३)

अर्थात् मेरे पुत्र आन्तर–काम, क्रोधादि और बाह्य शत्रुओं का नाश करने वाले हैं और मेरी पुत्री (विराट्) अपने विद्या, सदाचार, विनयादि गुणों के कारण विशेषरूप से चमकने वाली (विराट्–विशेषेण राजमानेति श्री सायणाचार्योऽपि) है। मैं (संजया) सबको शास्त्रार्थादि में अच्छी प्रकार जीतने वाली होऊँ। (पत्यौ मे उत्तमः श्लोकः) पति के विषय में मेरी सदा उत्तम ही वाणी निकलती है। श्लोक इति वाङ्नाम (निघ० १।११) अथवा मेरे कारण मेरे पति को उत्तम यश की प्राप्ति होती है—ऐसा उत्तम आचरण मैं करती हूँ।

इस मन्त्र से भी सन्तान को किस प्रकार वीर और सब दिव्य गुणों से प्रकाशमान् बनाने का माताओं को प्रयत्न करना चाहिए तथा स्वयं भी अपना आचार व्यवहार कितना उत्तम बनाना चाहिये जिससे अपना और पति का यश बढ़े, यह ज्ञात होता है।

विवाह का उद्देश्य सौभाग्यवृद्धि—धर्मार्थ काम प्रजा प्राप्ति—

विवाह का एक अन्य उद्देश्य, जिसका पाणिग्रहण मन्त्र (ऋ० १०।८५।३६) तथा अथर्व० १४।१।५०–५१ में विशेष रूप से निर्देश किया गया है, सौभाग्य की प्राप्ति और वृद्धि है। मन्त्र निम्नलिखित हैं—

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

(ऋ० १०।८५।३६, अ० १४।१।५०)

भगस्ते हस्तमग्रहीत्सविता हस्तमग्रहीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥

(अ० १४।१।५१)

इनमें से प्रथम मन्त्र में कहा है कि (सौभगत्वाय ते हस्तं गृभ्माणि) गृहामि। मैं सौभाग्य की प्राप्ति के लिये, तेरे हस्त को ग्रहण

करता हूँ।

(मया पत्या यथा जरदष्टिः असः) जिससे तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त रहने वाली बन। सबके भजनीय न्यायकारी, सर्वोत्पादक, सबके धारण करने वाले भगादिपदवाच्य परमेश्वर और इन यज्ञ मंडप में उपस्थित सत्यनिष्ठ विद्वानों ने तुझे गृहपतित्व के लिये मुझे दिया है। प्रश्न यह है कि सौभाग्य वा सौभगत्व का अर्थ क्या है? वेदों तथा अन्य प्राचीन शास्त्रों में भी भग शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यह भग शब्द भज–सेवायाम् इस धातु से बनता है जिससे सेवनीय अनेक शुभ गुणों और धर्म, ज्ञान, यश, श्री, इत्यादि का ग्रहण होता है जैसे कि—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

इस सुप्रसिद्ध श्लोक में जिसका वाचस्पत्यबृहदभिधान तथा अन्य कोषों में आदर के साथ उल्लेख किया गया है तथा—

भगैश्वर्यमाहात्म्य-ज्ञान वैराग्य योनिषु ।
यशोवीर्यप्रयत्नेच्छा–श्रीधर्मर विमुक्तिषु ॥

(विश्व कोषः)

इस विश्व कोष के वचन से ज्ञात होता है जिसमें ऐश्वर्य, माहात्म्य, ज्ञान, वैराग्य (अनासक्ति) यश, वीर्य, प्रयत्न, शुभ इच्छा, श्री (शोभा तथा लक्ष्मी), धर्म और अन्त में मुक्ति, इतने अर्थों का भग शब्द में समावेश किया गया है। इस प्रकार यह ''सौभगत्वाय'' बड़ा ही व्यापक और महत्त्वपूर्ण शब्द है। जिसको समझ लेने पर विवाह के वैदिक उद्देश्य पर बड़ा उत्तम प्रकाश पड़ता है। विवाह वा पाणिग्रहण का उद्देश्य ऐसे सौभाग्य को प्राप्त कराना और बढ़ाना है जिसमें उत्तम ऐश्वर्य के साथ-साथ धर्म, यश, ज्ञान और श्री (शोभा) की वृद्धि हो। स्त्री के लिये धर्मपत्नी शब्द का जो प्रयोग किया जाता है जैसे कि अथर्व० १४।१।५१ में भी बिना समास के है—

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥ (अ० १४।१।५१)

उसमें जहाँ यह भाव निकलता है कि यज्ञरूप धर्म के कारण और उसके द्वारा वह पत्नी बनी है, वहाँ उसका अर्थ धर्म की रक्षा करने वाली भी है। ''पत्नी त्वमसि धर्मणा'' इन शब्दों के द्वारा सूचित किया गया है कि पति–पत्नी सम्बन्ध धर्म के कारण अर्थात् मिलकर प्रेमपूर्वक धर्माचरण के लिये है। केवल भोग विलास के लिये नहीं। वेदों में स्थान–स्थान पर दंपती (पति–पत्नी) के मिल कर हवन यज्ञ

करने का विधान है और उसका अत्युत्तम फल बताया गया है। उदाहरणार्थ—ऋग्वेद १।१३१।३ में कहा है—

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः। यद् गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि। आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम्॥

(ऋ० १।१३१।३)

इस मन्त्र का भाष्य करते हुये श्री सायणाचार्य जी ने लिखा है कि—

हे (इन्द्र) (त्वा) त्वम् उद्दिश्य (मिथुनाः) पत्नी सहिता यजमानाः (विततस्रे) यज्ञं वितन्वते त्वम् (स्वर्यन्ता) स्वर्गयन्तौ गन्तुमुद्युक्तौ (द्वाजना) द्वौ जायापती रूपौ जनौ (समूहसि) संयुक्तयोरेवाभिमतं स्वर्गादिकं प्रापयसि अतः पत्नी सहिता अनुतिष्ठन्तीत्यर्थः ॥

अर्थात् हे इन्द्र—तेरे उद्देश्य से पत्नी सहित यजमान अनेक प्रकार के यज्ञ करते हैं और तू उन दोनों को अभिमत स्वर्ग की प्राप्ति कराता है। इसीलिये वे दोनों मिल कर यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, इत्यादि।

यद्यपि श्री सायणाचार्य ने कहीं-कहीं पौराणिक संस्कारवश स्त्रियों के वेदाधिकार का निषेध किया है, तथापि इस प्रकार के स्पष्ट वैदिक आदेशों को देखते हुये जिनमें पति पत्नी के मिलकर यज्ञ का विधान है, उनको यह लिखना पड़ा कि—

यद्यपि स्त्रियानास्ति पृथगधिकारस्तथादिसु मीमांसायां षष्ठेऽधिकारा-ध्याये तृतीयचतुर्थाधिकरणाभ्यां स्त्रिया अस्त्येवाधिकारः स च पत्यासहेति प्रपंचितत्वात् ॥

"जायापती अग्निमादधीयाताम्" इत्याधानविधानात् स्मृतिषु च "नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।" (मनु० ५।१५५) इति पृथगधिकारस्यैव निवारितत्वात् अस्त्येव स्त्रियाः पत्या सहाधिकारः। अध्ययनाभावेऽपि वेद पत्न्यै प्रदाय वाचियेत्। इति आश्वलायन गृह्यसूत्रकार वचनात् (१।११) पत्न्यन्वास्ते इत्यादिषुविक्षिषु। सुप्रजसस्त्वावयं सुपत्नी-रुपसेदिम। अग्ने सपत्नदभ्यनम् अदब्धासो अदाभ्यम्॥ समायुषा सं प्रजया समग्ने वर्चसा पुनः। इत्यादि मंत्र विधानाद् यत्र वचनमस्ति तत्रास्त्येव मंत्रेऽधिकारः तस्माद् मिथुना यज्ञं तत इत्येतद् युक्तम् ॥

(श्री सायणाचार्य ऋक् संहिता १।१३१ भाष्ये)

अर्थात् यद्यपि स्त्री को पृथक् (यहां पृथक् शब्द ध्यान देने योग्य है) अधिकार नहीं, तो भी पूर्व मीमांसा के षष्ठ अधिकाराध्याय में

तृतीय है चतुर्थ अधिकरण द्वारा स्त्री का अधिकार है ही और वह पति के साथ "जायापती अग्निम् आदधीयाताम्" स्त्री और पति अग्नि का आधान करें, ऐसा विधान होने और स्मृतियों में स्त्रियों के लिये केवल पृथक् यज्ञ का निषेध होने से पति के साथ स्त्री का अधिकार है ही। अध्ययन के अभाव में "वेदं पत्न्यै प्रदान वाचयेत्" अर्थात् वेद को पत्नी के हाथ में देकर उससे मंत्र पढ़वावे, सुप्रजास्त्वावयम् इत्यादि मंत्रों के विधान से जहाँ ऐसा विधान है, वहाँ मन्त्र में स्त्रियों का अधिकार है ही, इसलिये वेद मन्त्र में जो यह कहा है कि "वित्वा ततस्रे, मिथुना अवस्यवः" अर्थात् पति पत्नी मिल कर तेरे उद्देश्य से यज्ञ करते हैं वह ठीक ही है।

ऋग्वेद ८।३१ में अनेक मंत्रों में पति पत्नी के मिलकर यज्ञ करने का विधान है और उसका फल बताया गया है। उनमें से कुछ को हम यहाँ प्रसंगवश उद्धृत करते हैं—

या दंपती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा॥

(ऋ० ८।३१।५)

पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः। उभा हिरण्यपेशसा॥

(ऋ० ८।३१।८)

वीतिहोत्रा कृतद्वसू दशस्यन्तामृताय कम्।
समूधो रोमशं हतो देवेषु कृणुतो दुवः॥

(ऋ० ८।३१।९)

इनका भाष्य करते हुये श्री सायणाचार्य जी ने लिखा है कि—

"अत्र यजने दम्पत्योः स्तुतिः। हे देवाः (समनसा) कर्मणिमान मनस्कौ (या) यौ (दम्पती) यज्ञकारिणो जायापती। सुनुतः सोमाभिषवं कुरुतः तौ यष्टारौ सर्वदा अन्नसहितौ तिष्ठताम् यज्ञेन तयोः पुत्रादिकं धनमायुश्च संभवति (वीतिहोत्रा) वीतिः प्रियकरो होत्रा–यज्ञीयसोस्तो अनेन यज्ञेन तयोः सुखदा नादिकं संभवति।" इत्यादि

अर्थात् यहाँ यज्ञ करने में पति पत्नी की स्तुति की गयी है। हे देवो–जो यज्ञ करने वाले पति पत्नी कर्म में समान मन वाले होकर सोमसवन करते हैं, वे यज्ञ करने वाले सदा अन्न सहित रहते हैं। यज्ञ से उन दोनों को पुत्र, धन, आयु इत्यादि की प्राप्ति होती है। यज्ञ जिनको प्रिय हैं, ऐसे पति पत्नियों को सुखदायक होते हैं। अष्टम मन्त्रों में बताया गया है कि ऐसे मिल कर, एक मन से यज्ञ करने वाले दम्पती को उत्तम कुमार–कुमारियों की प्राप्ति होती है और वे दोनों

तेजस्वी, सुन्दररूप वाले होकर सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार के अन्य भी सैकड़ों मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है जिनसे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि "समनसौ" समान मनवाले होकर प्रेम से यज्ञादि धर्म कर्मों का अनुष्ठान करना विवाह का एक प्रधान उद्देश्य है। यहां तक कि तैत्तिरीय २।२।२।६ में कहा गया है कि—

"अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः ॥" (तैत्ति० २।२।२।६)

अर्थात् पत्नी के होते हुए अस्वस्थतादि किसी अत्यन्त विशेष कारण के सिवाय उसके बिना जो यज्ञ किया जाता है, वह सम्पूर्ण यज्ञ नहीं कहा जा सकता। जहाँ धर्म में इस प्रकार पत्नी का सहयोग अत्यावश्यक है, वहाँ अर्थ वा धन की प्राप्ति और रक्षा तथा मितव्ययिता पूर्वक विनियोग में भी पत्नी का सहयोग अनिवार्य है। इसलिये अथर्व १४।२।३७ में पति पत्नी को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि—

प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम्॥ (अ० १४।२।३७)

अर्थात् तुम दोनों उत्तम संतान को उत्पन्न करो किन्तु उसके साथ यह अत्यावश्यक है कि दोनों धन को पुष्ट करो—बढ़ाओ अन्यथा संतान की शिक्षा तथा रक्षा भलीभांति न हो सकेगी। दोनों के लिये "रयिं पुष्यतम्।" यह कहा गया है क्योंकि जहाँ पति धन को कमाता है, वहां पत्नी उत्तम परामर्श देकर उसको बढ़ाने तथा मितव्ययिता से उसका सदुपयोग करने में सहायता देती है, अतः दोनों का उसमें सहयोग अपेक्षित है।

अथर्व ६।७८।२ में दंपती के लिये कहा है—

रय्या सहस्त्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ॥ (अ० ६।७८।२)

अर्थात् ये दोनों अत्यन्त तेजोयुक्त धन से सदा अक्षुण्ण रहें। ऐसे उत्तम कार्यों में विनियुक्त होने के कारण, तेजस्वी धन से ये दोनों सदा संयुक्त रहें।

यहाँ भी पति-पत्नी के आर्थिक सहयोग का स्पष्ट निर्देश है। दोनों का ऐसे उत्तम धन पर संयुक्त स्वामित्व है।

अथर्व० १४।२।७० में पति पत्नी को सम्बोधन करते हुए कहता है कि—

सं त्वां नह्यामि प्रजया धनेन॥ (अ० १४।२।७०)

अर्थात् मैं तुझे न केवल उत्तम सन्तान से कितु उसके साथ सन्तान की शिक्षा-दीक्षा रक्षार्थ उपयोग धन से भी संयुक्त करता हूँ।

'सं वां भगासो अग्मत' (अथर्व० । ३० । २) तुम दोनों के ऐश्वर्य सम्मिलित हों। इस प्रकार स्पष्ट है कि विवाह सम्बन्ध का एक उद्देश्य पति पत्नी का आर्थिक सहयोग भी हैं। इसी वैदिक भाव को ध्यान में रखते हुए इस सप्तपदी के तृतीय मंत्र में पारस्कर गृह्यसूत्रादि में कहा गया है—

रायस्पोषाय त्रिपदी भव॥

धन की उत्तम परामर्शादि द्वारा पुष्टि और मितव्ययिता से सदुपयोग के लिये तू तृतीय पग रख।

इसलिए मनु स्मृति ९ । ११ के निम्न श्लोक में कहा है कि—

अर्थस्य रक्षणे चैनां, व्यये चैव नियोजयेत् ॥ (मनु० ९ । ११)

अर्थात् स्त्री को धन की रक्षा और व्यय के कार्य में लगाये।

विवाह में काम का स्थान तथा वेदों में काम विज्ञान

आजकल काम वासना की पूर्ति को ही विवाह वा स्त्री पुरुष सम्बन्ध का एक मात्र प्रयोजन समझा जाता है और इस विषय में छोटी-मोटी हजारों पुस्तकें अनेक भाषाओं में लिखी जा चुकी हैं जिनमें से बहुत-सी युवक-युवतियों को धर्म मार्ग और सदाचार से भी भ्रष्ट करने वाली है। किन्तु वस्तुतः वेदों में जैसे अन्य अनेक भौतिक तथा आध्यात्मिक विज्ञानों का मूल है (जैसे कि हम आगे प्रकरणानुकूल दिखायेंगे) वैसे ही काम विज्ञान का भी मूल उनमें पाया जाता है। पति पत्नी में जो शुद्ध काम वासना परस्पर होनी चाहिए (जिसका फल उत्तम सन्तानोत्पादन हैं) उसका वेदों के अनेक मंत्रों और सूक्तों में स्पष्ट प्रतिपादन है। कई लोगों का कथन है कि इस समय की मुख्य समस्या लैंगिक (Sexual) है। हम इससे सहमत नहीं हैं, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि मानव जीवन की यह भी एक प्रमुख समस्या है जिसका समाधान वेदों में भली भांति पाया जाता है। नीचे हम कुछ मंत्रों का उल्लेख करते हैं जिनमें काम विज्ञान के मुख्य तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया हैं। ऋग्वेद के १० । ८५ में जो विवाह सूक्त है उसमें इस विषय के निम्न मन्त्र उल्लेखनीय हैं—

इ॒हं प्रि॒यं प्र॒जया॑ ते॒ समृ॑ध्यताम॒स्मिन्गृ॒हे गार्ह॑पत्याय जागृहि।
ए॒ना पत्या॑ त॒न्वं१॒॑ सं सृ॑ज॒स्वाधा॒ जिव्री॒ वि॒दथ॒मा व॑दाथः॥

(ऋ० १० । ८५ । २७)

वधू को संबोधित करते हुए यहाँ कहा गया है कि इस गृहस्थाश्रम में सन्तान के साथ तेरा प्रिय समृद्धि वा वृद्धि को प्राप्त हो। इस गृह में अपने कर्तव्य तथा व्यवस्था के संरक्षणार्थ तू सदा जागृत रह। इस

पति के साथ अपने शरीर का भलीभाँति संस्पर्श करा और पीछे से वृद्ध और अनुभवी होकर, तुम दोनों पति-पत्नी ज्ञान तथा यज्ञ का चारों ओर उपदेश देना, जिससे सबको लाभ पहुँचे।

मन्त्र के तृतीय चरण में काम वासना की पूर्ति का साधन अपने पति के साथ संस्पर्श अथवा सम्भोग को बताया गया है और उसका उद्देश्य प्रथम चरण के निर्देशानुसार उत्तम सन्तोनात्पादन को कहा गया है।

यह काम वासना की तृप्ति पतिव्रता और पत्नीव्रत धर्म का पालन करते हुए और संयम पूर्वक ही होनी चाहिये। इस बात का निर्देश इसी सूक्त के म० ३० में किया गया है—

अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद्वध्वो३ वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते॥

(ऋ० १०।८५।३०)

इसका आपाततः या ऊपर-ऊपर का अर्थ यद्यपि इतना ही प्रतीत होता है कि जब पति, पत्नी के वस्त्र से अपने को ढकता है तो उसका शरीर कान्ति रहित हो जाता है, तथापि इसका रहस्यार्थ रजस्वला या ऋतुमती अवस्था में पत्नी से संस्पर्श के निषेध का है जिसका शरीर और मन दोनों पर बहुत बुरा प्रभाव होता है।

म० ३७ में काम विज्ञान के तत्त्व को अधिक स्पष्ट शब्दों में बताया गया है—

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्॥

(ऋ० १०।८५।३७)

भगवान् को पूषा अथवा पुष्टिकर्ता के नाम से सम्बोधित करते हुए मन्त्र में प्रार्थना है कि इस मेरी पत्नी को, जो मेरे लिये शिवतमा—अत्यधिक कल्याणकारिणी है, तू प्रेरित कर जिस पत्नी में बीज वपन वा वीर्य सिञ्चन किया जाता है, वह उशती—हार्दिक कामना युक्ता होकर—अपनी ऊरुओं को फैलाए और मैं भी कामना युक्त होकर प्रजननेन्द्रिय का उसकी योनि से स्पर्श कराऊँ।

इस मन्त्र में उशती—उशन्तः, ये प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं। इनका स्पष्ट अर्थ है कि यह परस्पर मिलन पूर्ण कामना के साथ होना चाहिये, अनिच्छा पूर्वक वा बलात्कार से नहीं। अन्यथा या तो सन्तान होगी नहीं, अथवा नीच दुष्ट सन्तान होगी। इस मन्त्र के प्रथम चरण में

पूषन्, यह पोषक पति को भी सम्बोधन है, और उस अवस्था में (शिवतमामेरयस्व) का अर्थ उस अत्यन्त कल्याणकारिणी अपनी पत्नी को प्राप्त कर उसके पास आए, ऐसा होगा। शेष अर्थ पूर्ववत् है।

अथर्ववेद १४।२ में यह मन्त्र ३८ है। इससे पूर्व और पीछे के मन्त्र भी काम विज्ञान का स्पष्टता से विशुद्ध रूप से प्रतिपादन करते हैं जिसका दिग्दर्शन कराना इस प्रकरण में आवश्यक प्रतीत होता है।

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः।
मर्यं इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम्॥

(अ० १४।२।३७)

इस मंत्र का अर्थ यह है कि—

हे (पितरौ) माता पिताओ—(ऋत्विये सृजेथाम्) तुम ऋतु काल में ही संयुक्त होवो। (रेतसः माता पिता च भवायः) वीर्य के योग से ही तुम माता और पिता बन सकते हो। (मर्य इव एनां योषाम् अधिरोहय) मर्द के समान इस अपनी पत्नी को अपनी शय्या पर चढ़ा। हे स्त्री पुरुषो—तू (इह) इस गृहस्थाश्रम में (प्रजां कृण्वाथाम्) सन्तान उत्पन्न करो और (रयिं पुष्यतम्) धन को पुष्ट करो अर्थात् बढ़ाओ जिससे सन्तान का भलीभांति पालन-पोषण तथा शिक्षण कर सको।

यहाँ वीर्य की रक्षा करके वीर्य सम्पन्न होने और साथ ही ऋतु गामी होकर उत्तम सन्तान के उत्पादन करने का स्पष्ट आदेश है।

म० ३९ में काम विज्ञान सम्बन्धी उपदेश कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में गृहस्थ नर नारियों के कल्याणार्थ दिया गया है।

आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्तं परि ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु॥

(अ० १४।२।३९)

इसमें पति को उपदेश किया गया है कि हे पुरुष अपनी पत्नी की (ऊरुम् उपारोह) जंघा पर चढ़। (हस्तम् उपधत्स्व) अपने हाथों को या बाहू को उसके सिरहाने के समान लगा दे और (सुमनस्यमानः) उत्तम मन और प्रसन्नता से युक्त होकर (जायां परिषजस्व) अपनी पत्नी का आलिंगन कर। हे स्त्री पुरुषो, (इह) इस गृहस्थाश्रम में (मोदमानौ) परस्पर प्रसन्न होते हुये और आनन्द विनोद करते हुए तुम दोनों (प्रजां कृण्वाथाम्) उत्तम संतान उत्पन्न करो। (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर, (वां दीर्घम् आयुः कृणोतु) तुम दोनों की दीर्घ आयु करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन मंत्रों में गृहस्थ नर-नारियों को परस्पर प्रसन्नता से ऋतुगामी और संयमी होकर मैथुन और उत्तम संतानोत्पादन का आदेश है। यह कार्य दोनों को पत्नीव्रत और पतिव्रता होकर ही करना चाहिये जिससे ऐसी उत्तम संतान उत्पन्न हो सके जिसके विषय में ऋग्वेद १०।४७ के मंत्रों में प्रार्थना की गयी है कि-

सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥

(ऋ० १०।४७।३)

अर्थात् हे परमेश्वर्य सम्पन्न प्रभो! हमें ऐसा अद्भुत सुख वर्षक पुत्ररूप ऐश्वर्य दीजिये जो उत्तम चतुर्वेद वेत्ता हो, दिव्य गुण संपन्न भक्त हो, महान् गम्भीर प्रतिभाशाली, प्रसिद्ध ऋषितुल्य, तेजस्वी और आन्तर तथा बाह्य शत्रुओं का नाशक हो। जो हम आप से मांग रहे हैं वह हमें प्रदान कीजिये। ऐसा अद्भुत सुख वर्षक पुत्ररूप ऐश्वर्य हमें दीजिये जो महान्, आश्रयदाता और अनुपम हो, जिसकी सब पृथिवी, आकाशवासी प्राणी प्रशंसा करें।

दिन-रात भोग-विलास परायण, कामवासना पूर्ति को ही गृहस्थ जीवन का उद्देश्य समझने वाले असंयमी नर-नारी कभी ऐसी उत्तम संतान उत्पन्न नहीं कर सकते। विवाहित पति-पत्नी में परस्पर सच्चा प्रेम रहना चाहिये। उचित मात्रा में काम वासना भी रहनी चाहिये पर उसका वास्तविक उद्देश्य सुसंतानोत्पादन है। यह अथर्ववेद के १४।२।५ के निम्न मंत्र में उत्तमता से बताया गया है-

आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनीवसू न्यश्विना हृत्सु कामा अरंसत।
अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्यां अशीमहि॥

(अ० १४।२।५)

हे संयमी स्त्री-पुरुषों, (वाम् सुमतिः अगन्) आपको उत्तम बुद्धि प्राप्त हुई है। (हृत्सुकामा अरंसत) और आपके हृदय में कामवासना उत्पन्न हुई है इसलिये तुम दोनों (वाजिनी वसू) वीर्य शक्ति को धन के समान संचित कर अर्थात् वीर्य संपन्न होकर (शुभः पती) शोभा अथवा शरीर की सुन्दरता की रक्षा करते हुए (गोपा) अपनी इन्द्रियों की रक्षा करते हुए (मिथुना) परस्पर संयुक्त होकर गृहस्थोचित मैथुन धर्म (अभूतम्) करो और हम सब लोग (अर्यम्णः) न्यायकारी परमेश्वर और राजा के (प्रियाः) प्रिय होकर (दुर्यान् अशीमहि) गृहों के सुखों का भोग करें।

इस मन्त्र के द्वारा यह भाव अत्यन्त स्पष्टतया निकलता है कि तुम्हारे अन्दर जो कामवासना उत्पन्न हुई है, उसके द्वारा अपने वीर्य का नाश न करते हुए सुसंतानोत्पादन में उसे लगाओ।

अपने सब अंगों (जिनमें प्रजननेन्द्रिय का भी समावेश है) पुष्ट करते हुए उनका सदा उचित उपयोग करना चाहिये तथा कभी, किसी भी अवस्था में, व्यभिचार न करते हुये गृहस्थ धर्म पालनार्थ अपनी पत्नी के पास ही जाना चाहिये। इस बात का बड़ा स्पष्ट उपदेश अथर्ववेद के षष्ठ काण्ड के १०१ वें सूक्त में किया गया है जिसके प्रथम मन्त्र में कहा है कि—

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च।
यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि॥

(अ० ६।१०१।१)

अर्थात् हे पुरुष तू (वृषायस्व) बलवान्–वीर्य सेचन में समर्थ बन (श्वसिहि) प्राण को ऊपर खेंच और (वर्धस्व) शरीर में खूब पुष्ट हो (प्रथयस्व च) अपने अंगों को भी खूब बढ़ा। इतना हृष्ट–पुष्ट हो कि (यथा) जिससे (शेपःअंगम्) प्रजननांग भी (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो। (तेन) उस अंग से (योषितम् इत्) अपनी पत्नी के ही पास (जहि) जा। उसी में सन्तानोत्पादनार्थ संग कर। अन्य किसी के साथ नहीं।

इस प्रकार हमने विवाह में काम का स्थान और वेदों में काम विज्ञान के मूल पर संक्षेप से प्रकाश डाला हैं। अब तक हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि स्त्री–पुरुष सम्बन्ध अथवा विवाह का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम में दोनों हार्दिक सहयोग करके उन्नत होना है। इसी भाव को महाभारत के निम्नलिखित श्लोक में उत्तमता से प्रकट किया गया है—

अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, भार्या मूलं तरिष्यतः॥

(म०भा० आदिपर्व ७४।४२)

अर्थात् पत्नी पुरुष की अर्धांगिनी है, वह संसार में सबसे श्रेष्ठ मित्र है। वह त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का मूल है। और जो संसार सागर से तैरना चाहता है उत्तम धार्मिकी विदुषी पत्नी उसमें भी सहायिका होती है। आयुर्वेद के (जो ऋग्वेद और अथर्ववेद का उपवेद है) के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत संहिता के शारीरिक स्थान अ० १० में

उपर्युक्त वैदिक भावना को ही विवाह के विषय में इन शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है।

अथास्मै पंचविंशतिवर्षाय षोडशवर्षापत्नीमावहेतू ।
पित्र्या धर्मार्थकाम प्रजाः प्राप्स्यतीति ॥

(सुश्रुत संहिता शारीरि स्थान अ० १०)

अर्थात् जब पुरुष २५ का हो जाये तो उसका १६ वर्ष की कन्या से विवाह करवा देना चाहिये। इसके द्वारा उन्हें धर्म, अर्थ, काम और सुसंतान की प्राप्ति होगी।

विवाह योग्य आयु

आश्रम व्यवस्था पर वेद मंत्रों के आधार पर कुछ प्रकाश डालते हुए हम दिखला चुके हैं कि वेदों के अनुसार विवाह कन्या और वर का यौवनावस्था में ही होना चाहिये। बाल्यावस्था वा किशोवावस्था में नहीं। जिन वेद मन्त्रों को हमने वहाँ उद्धृत किया था उनके अतिरिक्त निम्नलिखित भी इस बात का स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं कि विवाह वर वधू की अनुमति से यौवन में ही होना चाहिये। इस प्रकरण में हमने ऋग्वेद १०।१८३।२ के—

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे॥

(ऋ० १०।१८३।२)

इस मन्त्र को ही सायणाचार्य के भाष्य के कुछ अंशों सहित उद्धृत किया था जिसमें वर के मुख से वधू को सम्बोधित किया गया है कि मैंने तुझे मन से मेरा ध्यान करते और अपने शरीर में ऋतुकाल में मुझ से संयोग चाहती हुई को देखा है। इसलिये युवावस्था को प्राप्त हुई तू, हे पुत्र कामना करने वाली देविः, मेरे साथ संयुक्त होकर उत्तम संतान को उत्पन्न कर। यह मन्त्र का सरलार्थ है जिसमें किसी प्रकार की खेंचातानी का प्रशन ही नहीं हो सकता। विवाह के समय वर युवा होना चाहिये। इसको तो बाल्यविवाह के पक्षपाती भी स्वीकार करते हैं, किन्तु वेदों में कन्या के लिये युवती और पुत्र कामा आदि का प्रयोग इस बात को स्पष्टतया सूचित करता है कि कन्या भी विवाह के समय युवती और पुत्र कामा होनी चाहिये। यह मन्त्र आपस्तम्ब गृह्यसूत्र खण्ड ७ में भी आता है जहाँ हरदत्त मित्र ने इसका भाष्य निम्न शब्दों में किया है—

वरोवधूमीक्षते—अपश्यं त्वेति। (त्वा) त्वाम् अहं मनसा (अपश्यम्)

पश्यामि (दीध्यानाम्) दीप्यमानां ध्यायन्तीं वा (स्वायांतन्) स्वायांतन्वां (ऋत्विये) ऋतुकाले भवोगर्भः ऋत्वियः द्वितीयक वचनस्यशे आदेशः ऋत्वियम् (नाधामानाम्) प्रार्थयमानां, स्वेशरीरे मत्ते गर्भ प्रार्थयमानामित्यर्थः (उपेत्ययमनु शब्दस्यार्थे द्रष्टव्यः) (मा) माम् (उच्चा) उच्च संभोगकाले उपरिसन्तम् (युवतिः) यौवनावस्थां प्राप्ता त्वम् (उपबभूयाः) अनूभूयाः अनुभूय च (प्रजया प्रजायस्व) हे (पुत्र कामे)।

इसका तात्पर्य ऊपर दिया जा चुका है।

इससे पूर्व का जो मन्त्र है वह भी अति सरलार्थक और महत्त्वपूर्ण होने के कारण यहाँ उद्धृत किया जाता है। वहाँ वर के मुख से वधू को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम॥

(ऋ० १०।१८४।१)

श्री सायणाचार्य भाष्यम्—

अपश्यं त्वेतस्माद्ययायजमानमीक्षते—हे यजमान (त्वा) त्वां (मनसा) बुद्ध्या (अपश्यम्) अदर्शे, कीदृशं (चेकितानम्) कर्माणि भृशं जानन्तं (तपसः) दीक्षारुपाद्व्रतात् (जातम्) पुनरुत्पन्न यद् वा जन्मान्तरानुष्ठितात् सुहृतादुत्पन्न (तपसः) अनुष्ठीयमानाद् यज्ञाद् हेतोः (विभूतम्) व्याप्तं सर्वत्र प्रख्यात हे (पुत्रकाम) पुत्रान् कामयमान स त्वम् (इह) अस्मिन् लोके (प्रजाम्) पुत्र पौत्रादिरूपां (रराणः) रमयत् (रयिम्) धनम् (इह) अस्मिंल्लोके रमयन् (प्रजया) प्रजननेन (प्रजायस्व) पुत्रादिरूपेणी–त्वद्यस्व प्रजा उत्पादयेत्यर्थः।। (ऋक् संहितायाः सायणाचार्य भाष्ये)

श्री हरिदत्त मित्र भाष्यम्

अथ वधूर्वरं समीक्षते (अपश्यन्त्वेति) (त्वा) त्वाम् (अपश्यम्) पश्यामि मनसा हृदयेन सस्नेहमित्यर्थः। (चेकितानम्) जानन्तं मदभिप्रायम्, तपसः गर्भाधानादेरू पनयनपर्यन्तान्, (जातम्) द्विजत्वेन जातम् (तपसः) गर्भाधानादेर व्ययनांगभूतात् (विभूतम्) विभूति मत्तवेन विष्मन्नम् विभूतिः श्रीः—ऋचः सामानियजूंषि, साहि श्रीरमृतासताम् इति दर्शनात्। इह मयि प्रजाम् इह च गृह रयिं–धनं (रराण) ददत् (प्रजयाप्रजायस्व) हे पुत्रकाम (यत् प्रजाया जन्म) तज्जनयितुरेव जन्म, श्रूतेहि प्रजामनुप्रजायसे तदुतेमर्त्यामृतम्। इति। (आपस्तम्ब गृह्यसूत्रस्य हरदत्त मित्र व्याख्याने)

साधारण शब्द भेद होने पर भी दोनों भाष्यों के भाव में समानता है और तात्पर्य यह है कि वधू वर को देखती और वह कहती है कि मैं आपको बुद्धि पूर्वक तथा स्नेह भाव से देखती हूँ। आप मेरे अभिप्राय तथा कर्मों को अच्छी तरह जानने वाले हैं। आप दीक्षारूप

व्रत वा तप से द्विज बने और यज्ञादि के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। अतः हे पुत्र की कामना करने वाले, आप धन सम्पन्न होकर इस लोक में मुझ द्वारा उत्तम सन्तान को उत्पन्न करें। इसके उत्तर में वधू को देखते और उसके हृदय का स्पर्श करते हुए वर जो कहता है ''अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानाम्'' इत्यादि मंत्र द्वारा, उसका अर्थ हम हरदत्त मित्र व्याख्या के साथ ऊपर उद्धृत कर चुके हैं।

इन दोनों मंत्रों से जिनमें ''युवतिः, पुत्र कामा ऋत्विये नाधमानाम्'' इत्यादि का प्रयोग वधू के लिये और तपसो जातम्, तपसो विभूतम् पुत्र काम, चेकितानम् इत्यादि का प्रयोग वर के लिये है, इसमें अणु मात्र भी संदेह नहीं रहता (यदि अन्य वेद मन्त्रों को छोड़ भी दिया जाय) कि वेदों के अनुसार वर-वधू परस्पर ज्ञान और पुत्र कामना पूर्वक युवावस्था में विवाह करते हैं। यह यौवन अवस्था कन्या की १६ वर्ष से पूर्व और पुरुष की २४ वर्ष से पूर्व नहीं होती। अतः कम से कम या कनिष्ठ ब्रह्मचर्य कन्या के लिये १६ वर्ष और पुरुष के लिये २४ वर्ष का है। इसके पश्चात् ही वेदानुसार विवाह का काल है। इससे पूर्व नहीं। आयुर्वेदादि शास्त्रों का स्पष्ट सिद्धान्त है कि-

बालेति गीयते नारी, यावद् वर्षाणि षोडश ॥

अर्थात् १६ वर्ष तक की आयु तक कन्या को बाला कहा जाता है। उसके पश्चात् उसका यौवन प्रारम्भ होता है। तभी उसका विवाह काल शुरू होता है, उससे पूर्व नहीं, जैसे कि सुश्रुत संहिता के—

अपोटमै पंचविंशतिवर्षीय षोडशवर्षया पत्नीमावहेत्
पित्र्या धर्मार्थ काम प्रजाः प्राप्स्यतीति ॥

इस वचन को उद्धृत करके हम दिखा चुके हैं। वेदों के अनुशीलन से ज्ञान होता है कि उनमें ३ प्रकार के ब्रह्मचारियों और ३ प्रकार की ब्रह्मचारिणियों का निर्देश अनेक स्थानों पर पाया जाता है जिन्हें वसु, रूद्र और आदित्य ब्रह्मचारिणियों के नाम से कहा जाता है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों को देखिये—

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳस्योनꣳसरस्वती स्वपसः सदन्तु॥

(य० २९।३३)

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञꣳसरस्वती सह रुद्रैर्नऽआवीत्।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त॥

(य० २९।८)

इन मन्त्रों में कहा है कि हमारे यज्ञों में भारती शीघ्र आये, मननशील ज्ञानियों की तरह कर्तव्य का ज्ञान देने वाली इडा और सरस्वती, तीनों प्रकार की ये देवियाँ (विदुषी स्त्रियाँ) जो (स्वपसः) उत्तम कर्म करने वाली हैं, वे (एनं स्योनं बर्हिः सदन्तु) उत्तम सुखदायक आसन पर बैठें। इस मन्त्र में भारती, इडा और सरस्वती, ये शब्द आये हैं। यह भी कहा गया है कि ये तीनों उत्तम कर्म करने वाली विदुषी देवियाँ हैं। इन तीन का स्पष्टीकरण दूसरे मंत्र से हो जाता है।

इसमें यह कहा गया है कि भारती-ज्ञानोपदेश देकर सबका भरण-पोषण उत्तमता से करने वाली, भारती आदित्यों के साथ हमारे (यज्ञं वष्टु) यज्ञ की कामना करे (वश-कान्तौ) सरस्वती, रुद्रों के साथ हमारी रक्षा तथा वृद्धि करे। (उपहूता) प्रेम पूर्वक समीप जाकर निमंत्रिता इडा (वसुभिः सजोषा) वसुओं के साथ प्रीति सहित हमारे यज्ञ की कामना करे और हे तीनों प्रकार की देवियो, आप हमारे यज्ञ को अमृत-जीवात्मा की अमरता को जानने वाले विद्वानों में अच्छी प्रकार धारण कराओ।

आदित्य, रुद्र, वसु, इन शब्दों से गृह्य सूत्रों, उपनिषदों तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में क्रमशः ४८, ३६ (या ४४) और २४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले विद्वानों का ग्रहण किया गया है। यहां इनका संबंध क्रमशः भारती, सरस्वती और इड़ा से जोड़ा गया है, अतः हमारा विचार है कि साहचर्य के नियम से इनसे क्रमशः २४, २० और १६ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य के व्रत का पालन करने वाली उत्तम वाणी संपन्ना विदुषियों का ग्रहण करना उचित है।

इस प्रकार कन्या के लिये १६ से २४ वर्ष के अंदर और पुरुष के लिये २५ से ३६ और अत्यन्त विशेष शक्ति युक्त संयमी पुरुषों के लिये, जिनकी संख्या आजकल बहुत ही न्यून है, क्योंकि ४० वर्ष की आयु के पश्चात् किंचित् परिहाणि अवस्था साधारणतया प्रारंभ हो जाती है, ४८ वर्ष के अंदर है। ऋषि दयानन्द ने प्राचीन शास्त्रों के आधार पर लिखा है कि ४८वें वर्ष से आगे पुरुष और २४ वे वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिये। परंतु यह नियम विवाह करने वाले पुरुष और स्त्रियों का है और जो विवाह करना ही न चाहें, वे मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों तो भले ही रहें। परंतु यह काम पूर्ण विद्या वाले, जितेन्द्रिय और निर्दोष स्त्री और पुरुष का है। यद्यपि काम के वेग को थाम के इन्द्रियों को अपने वश में रखना बड़ा कठिन काम है।

आजकल बहुत बार यह देखने में आता है कि कई स्त्रियों के विवाह २८, ३०, ३२ और इससे भी अधिक आयु में होते हैं जबकि वे ब्रह्मचर्य के नियमों का प्रायः पालन नहीं करतीं और सिनेमाओं में अश्लील कामोत्तेजक दृश्यों को देखने और ऐसे अश्लील गीतों को सुनने तथा कामोद्दीपक उपन्यासों तथा अन्य साहित्य को पढ़ने में अभ्यस्त हैं। यह अवस्था भी ठीक नहीं है। इसका परिणाम सदाचार संरक्षणादि की दृष्टि से अच्छा नहीं है। जहां बाल्यावस्था में विवाह सर्वथा अवैदिक, अनुचित और हानिकारक है, वहां इस प्रकार इतनी देर में कन्याओं का विवाह भी, जो एक फैशन सा बनता जा रहा है, सर्वथा अवांछनीय है।

वर-वधू की पूर्ण अनुमति से ज्ञान पूर्वक युवावस्था में ही विवाह होना चाहिये। इस बात को निम्नलिखित मंत्र में भी बड़ी उत्तमता और स्पष्टता से बताया गया है।

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्।
आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषत्पुरू सहस्रा परि वर्तयाते ॥

(ऋ० ५।३७।३)

इस मंत्र का अर्थ यह है कि हे मनुष्यो, जो शरीरात्मबल युक्त युवक (ईम्) सब प्रकार की परीक्षा करके (महिषीम्) शुभ गुणरूप सुशीलतादि के कारण महत्त्वयुक्ता (इषिराम्) वर की इच्छा करने वाली हृदय को प्रिय स्त्री को (एति) प्राप्त होता है और जो (पतिम्) विवाह से अपने स्वामी की (इच्छन्ती) इच्छा करती हुई (इयम्) यह (वधूः) स्त्री अपने सदृश हृदय को–प्रिय पति को (एति) प्राप्त होती है, वह पुरुष वा स्त्री (अस्य) इस गृहस्थाश्रम के मध्य (आश्रवस्यात्) अत्यन्त विद्या, धन-धान्य युक्त सब ओर होवे और वे दोनों (रथः) रथ के समान (आघोषात्) परस्पर प्रिय वचन बोलें (य) और सब गृहाश्रम के भार को (वहाते) उठा सकते हैं तथा वे दोनों (पुरु) बहुत (सहस्रा) असंख्य उत्तम कर्मों को (परिवर्तयाते) सब ओर से सिद्ध कर सकते हैं।

इस मंत्र में परस्परेच्छा पूर्वक वर वधू बनने का विधान है, जो युवावस्था में ही संभव है।

विवाह दूर देश में होना चाहिये

ऋग्वेद के ११।७२ में इस बात का स्पष्ट निर्देश है कि कन्या का विवाह दूर देश में करना चाहिये और वर के योग्य गुण भी उस मंत्र में साथ-साथ बतलाये गये हैं। मंत्र निम्न प्रकार है—

परमस्याः परावतो रोहिदश्वऽइहागहि।
पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वन्तरा मृधः॥

(य० ११।७२)

इस मंत्र का अर्थ यह है कि—

हे (अग्ने) अग्निवत् तेजस्वी पुरुष, (रोहिदश्वः) अग्नि आदि पदार्थों से युक्त वाहनों वाले आप (परमस्याः) इस श्रेष्ठरूप, गुण, शीलवती कन्या के लिये (परावतः) दूर देश से (इह) यहां (आगहि) आये हैं। आप (पुरीष्यः) पालना करने वाले और (पुरुप्रियः) सर्वप्रिय अथवा बहुतों में से प्रिय–पसंद किये गये हैं। आप (मृधः तर) सारी कठिनाईयों को पार करें। तात्पर्य यह है कि विवाह दूर देश में करना चाहिये। कन्या गुण शीलवती होनी चाहिये। पुरुष वीर, तेजस्वी और गृहस्थी का भार उठाने के योग्य हो। यहां पुरीष्य और पुरु प्रिय शब्द विशेष विचार करने के योग्य हैं। विवाह करने का अधिकार उस पुरुष को है जो पुरीष्य–पालन करने में समर्थ हो "पृ–पालनपूरणयोः" से यह शब्द बनता है। अतः इसका अर्थ है जिसका अपना निर्वाह अच्छी प्रकार हो रहा हो और आगे पत्नी तथा परिवार का भार अच्छी तरह से उठा सके। बाल विवाह में यह बात संभव नहीं। यह "पुरु प्रिय" शब्द से ध्वनित होता है। वह जो बहुतों में से पसंद किया गया हो। तात्पर्य यह है कि अनेक विवाहाभिलाषी पुरुषों में से जिसके गुण कर्मादि कन्या से मिलते हों, उसके साथ कन्या का विवाह होना चाहिये।

ईसाइयों, मुसलमानों और अनेक जातियों तथा कहीं–कहीं हिन्दुओं में समीप देश और निकट संबंधियों में विवाह की पद्धति विद्यमान है। किन्तु यह वेद के विरुद्ध होने के अतिरिक्त, अत्यन्त हानिकारक है। उसमें रोगों के परिवारों में फैलने और छोटी–छोटी बातों पर कलह की संभावना भी अधिक है। इसीलिये वेद के ऊपर लिखित निर्देश के अनुसार शास्त्रों में असपिंड और असगोत्र तथा दूर देश में विवाह का विधान किया गया है। निरुत्तकार श्री यास्काचार्य ने तो पुत्री के लिये वेदों में प्रयुक्त दुहिता का एक विशेषण ही "दूरे हितो" अर्थात् जो दूर देश में दी जाने पर अधिक हितकारिणी हो, यह बताया है।

विवाह संबंध निश्चय के प्रकार की जटिल समस्या

पारिवारिक समस्याओं में सबसे कठिन समस्या यह है कि विवाह संबंध के निश्चय का कौन सा प्रकार सर्वोत्तम है। क्या विवाह संबंध का निश्चय केवल वर वधू की इच्छा पर छोड़ देना चाहिये (जैसा कि पाश्चात्त्य देशों में आजकल अधिकतर प्रचलित है), वा

केवल माता- पिता की इच्छानुसार होना चाहिये (जैसा कि भारत में अधिकतर होता है) अथवा इनके अतिरिक्त कोई और प्रणाली होनी चाहिये जो सर्वथा उपादेय और निर्दोष हो। वेदों के अनुसार ऐसी सर्वोत्तम प्रणाली क्या है? इसका हम यहां दिग्दर्शन करेंगे और उसके साथ तुलनात्मक दृष्टि से वर्तमान पद्धतियों के गुण-दोषों का विवेचन भी।

हमने आश्रम व्यवस्था के प्रकरण में और विवाह योग्य काल विषयक विवेचन में जो अनेक वेद मंत्र उद्धृत किये हैं, उनसे यह तो स्पष्ट ही है कि वेदों में पुरुष और कन्या का विवाह यौवन अवस्था में तथा परस्परेच्छा से होना चाहिये। निम्न वेद मंत्र स्वयंवर का स्पष्टतया प्रतिपादन करता है।

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्॥

(ऋ० १०।२७।१२)

इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मंत्र का अर्थ यह है कि-

(कियती) कौन सी (योषाः) स्त्री (वधूयोः) वधू के अभिलाषी (मर्यतः) मनुष्य से उसके (वार्येण) श्रेष्ठ, (पन्यसा) स्तोतव्य व्यवहार से (परिप्रीता) पूर्ण प्रसन्न होती है। (वधूः) वधू (भद्रा) भली, सुख और कल्याणकारिणी (भवति) होती है। (यत्) यदि (सा) वह (सुपेशाः) सुन्दरी (जनेचित्) जन समुदाय में से (मित्रम्) अपने मित्र, साथी, प्रेमी का (स्वयम्) अपने आप (वनुते) चुन लेती है।

पुरुष, अपने कितने ही गुणों का कथन और प्रकाश करे, किन्तु बहुधा वह स्त्री को नहीं रुचता। अतः जो इस प्रकार स्त्री के भावों का तिरस्कार करके विवाह करते हैं, उनके विवाह प्रायः असफल रहते हैं। विवाह की सफलता का प्रधान साधन यह है कि स्त्री स्वयम् अपना मित्र साथी या जीवन संगी पसंद करे-चुने। इसी कारण वेद कहता है कि-

भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्॥

अर्थात् वह वधू कल्याण सुख कारिणी होती है यदि वह सुन्दरी जन समुदाय में से अपने मित्र या जीवन संगी पति को स्वयं चुन लेती है। इसी बात को ऋग्वेद ५-३७-३ में कहा है-

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्।
आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषत्पुरू सहस्रा परि वर्तयाते॥

(ऋ० ५।३७।३)

हम इस मंत्र को पूर्व उद्धृत कर चुके हैं जिसका तात्पर्य यह है कि पति की कामना करती हुई, यह वधू आती है। जो इस महा गुणवती कमनीया कन्या से विवाह करता है उसका गृहस्थाश्रमरूपी रथ कीर्तियुक्त और प्रसिद्ध होता है। दोनों पति पत्नी मिल कर अनेकानेक शुभ कर्मों का परिचालन करते हैं।

इस मंत्र में भी विवाहाभिलाषिणी कन्या द्वारा पति वरने की चर्चा है। इसी प्रकार हम ऋग्वेद के–

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः।

(ऋ० २।३५।४)

इस मंत्र का हम उल्लेख कर चुके हैं जिसका तात्पर्य है कि ब्रह्मचर्यादि व्रतों से शुद्ध जल समान शीतल स्वभाव वाली युवति स्त्री गंभीर मुद्रा धारण करके युवा पति को प्राप्त करती है।

भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः

इस मंत्र का श्री सायणाचार्य कृत भाष्य यों है–

(कियती) किं परिमाण (योषा) स्त्री जातिः (मर्यतः) मनुष्य संबंधिनो भोगामाचरतः (वधूयोः) स्त्री कामस्य (परिप्रीता) अनुरक्ता वशवर्तिनीत्यर्थः कीदृशस्य (वार्येण) वरणीत्येन (पन्यसा) स्तोत्रेण स्तुतस्य सत इति शेषः। अपि च (यत्) या (वधूः) (भद्रा) कल्याणी (सुपेशाः) शोभनरूपा च (भवति) (सा) द्रोपदी दमयन्त्यादिका वधूः (स्वयं) आत्मनैव (जनेचित्) जनमध्येऽवस्थितमिति (मित्रम्) प्रियमर्जुन नलादिकं पतिं (वनुते) याचते। स्वयंवरधर्मेण प्रषूयते ॥

मंत्र का अर्थ हम पूर्व कर ही चुके हैं और इस सायणाचार्य कृत मंत्र भाष्य की संस्कृत भाषा बहुत सरल है। अतः उसका हिन्दी अनुवाद करने की आवश्यकता नहीं। जिस बात की ओर हम विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं वह यह है कि श्री सायणाचार्य के भाष्यानुसार भी इस मंत्र में स्वयंवर का विधान सर्वथा स्पष्ट है। श्री सायणाचार्य के अपने शब्द ''स्वयं वर धर्मेण (पतिं) प्रार्थयते'' ये अत्यन्त महत्त्व पूर्ण हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इस वेद मंत्र में पति के लिये ''मित्रम्'' का प्रयोग किया गया है और श्री सायणाचार्य उसका प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण देने के लिये द्रौपदी दमयन्ती आदि का और मित्र पति के रूप में अर्जुन, नल आदि का उदाहरण देते हैं। यहां यह बात भी महत्त्वपूर्ण और अत्यावश्यक है कि न मंत्र में इस बात का कोई निर्देश है और न सायणाचार्य अपने भाष्य में कहीं इसका संकेत तक करते हैं कि वह वधू का जन समूह में से

अपने अनुकूल मित्ररूप पति का स्वयंवर केवल क्षत्रिय कन्याओं के लिये है। अन्य कन्याओं के लिये नहीं। मंत्र के शब्दों और उसके श्री सायणाचार्य कृत भाष्य से भी स्पष्ट है कि यह स्वयंवर की वेदोक्त सामान्य विधि है। अथर्व० २-३६ में जिसका प्रतिपाद्य विषय "पति वेदनम्" है, ये दो मंत्र आये हैं जो इस विषय में मननीय हैं।—

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्य ः॥
आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्य ः॥

(अ० २।३६।५-६)

इन मंत्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

१. हे स्त्री, (पूर्णाम् अनुपदस्वतीम्) पूर्ण और अटूट (भगस्य नावम् आरोह) धर्म और ऐश्वर्य की इस नौका पर चढ़ और (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है (तया उप प्रकारय) उस नाव से उसे पार ले जा।

२. हे (धनपते) धन की स्वामिनि! (वरम् आक्रन्दय) अपने वर को बुला (आमनसं कृणु) उसके साथ अपने मन के अनुकूल वार्तालाप कर तथा इस प्रकार अच्छे आचरण से उसे अपने मन के सर्वथा अनुकूल बना (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः) जो करना है वह पति की प्रदक्षिणा करके कर। जो वर तेरी कामना के योग्य अथवा अभिलषित हो।

इन मंत्रों में जो शब्द "यो वरः प्रतिकाम्यः" आये हैं उनका अर्थ श्री सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य में "अयमेव मे भर्ता स्यात् इति प्रतिनियतं काम्यमानः प्रतिकाम्यः"

यह किया है अर्थात् यही मेरा पति बने, इस प्रकार निश्चितरूप से काम्यमान-अभिलाषित वर को प्रतिकाम्यवर कहते हैं। इससे भी स्वयंवर का भाव स्पष्टतया सूचित होता है। मंत्रों का भावार्थ यह है कि स्त्री इस गृहस्थाश्रमरूपी पूर्ण और सुदृढ़ नौका पर चढ़े और न केवल स्वयं संसार समुद्र को पार करे, बल्कि उसे भी कराये। (उपप्रतारय) जो वर अपने मन के अनुकूल हो, उस वर को बुलाकर उसके साथ अपने मन के अनुकूल वार्तालाप करके उसके साथ सम्मान पूर्वक व्यवहार करे। प्रदक्षिणा करने का आशय है सम्मान करना, आदर प्रदर्शित करना वा सत्कार करना।

यह गृहस्थाश्रमरूपी नौका है जिस पर पति-पत्नी वस्तुतः इकट्ठे

ही सवार होते हैं। परंतु स्त्री घर की साम्राज्ञी होने के कारण, इस स्त्री को ही इस मंत्र में नौका चलाने वाली और उस से पार ले जाने वाली कहा है। वास्तविक घर गृहिणी ही है। स्त्री के होने से ही गृहस्थाश्रम होता है, उसके बिना नहीं होता। इसलिये गृहस्थाश्रम में स्त्री का विशेष महत्त्व है। इसलिये इस पंचम मंत्र में स्त्री के उद्देश्य से कहा है कि इस गृहस्थाश्रमरूपी नौका पर स्त्री चढ़े और इस नौका को ऐसे ढंग से चलावे कि यह नौका अपने पहुँचने के स्थान पर सीधी पहुँचे और मार्ग में कोई कष्ट न हो। अपने पति को भी वह संसार सागर के पार ले जाये, ऐसा न हो कि जीवन भर वह गृहस्थाश्रम के चक्कर में ही पड़ा रहे और इस प्रकार संसार में डूब जाये। उचित समय पर ५० वर्ष की आयु के पश्चात् पुत्र का पुत्र होने पर वह वानप्रस्थाश्रम में विधिवत् प्रवेश करें।

एक बात जो विशेष रूप से यहां स्मरणीय है वह यह है कि वेदों के अनुसार वर वधू संबंध के लिये पुरुष और कन्या की अनुमति आवश्यक है। उनकी अनुमति के बिना विवाह न होना चाहिये अन्यथा ऊपर जिन मंत्रों को हमने उद्धृत किया है जिनमें वधूयः, ''भद्रावधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सामित्रं वनुते जने चित्'' (ऋ० १०।२७।१२) एमयगन् पतिकामा, जनिकामोऽहमागमम्।। (अथर्व० २।३०।५) इत्यादि स्पष्ट शब्द दोनों की इच्छा और प्रबल कामना सूचक आये हैं, वे निरर्थक हो जाते हैं। किन्तु माता-पिता तथा गुरुजनों के परामर्श और आशीर्वाद की भी उसमें उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। सुप्रसिद्ध विवाह-सूत्रों में (ऋग्वेद १०।८५ तथा अथर्ववेद १४ प्रथम द्वितीय अनुवाद) इस बात का स्पष्ट प्रतिपादन है। वर वधू की इच्छा देखकर उनके माता-पिता विवाह आयोजन करें। निम्न मंत्र का हमें पुनः उल्लेख करना इस प्रसंग में आवश्यक प्रतीत होता है—

सोमो॑ वधूयुर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा।
सू॒र्यां यत्पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒तादं॑दात्॥

(ऋ० १०।८५।९, अ० १४।१।९)

मंत्र का अर्थ स्पष्ट है कि जब (सोमा) वीर्यवान् पुरुष (वधूयुः) वधू की कामना से युक्त (अभवत्) होवे, तब (अश्विनौ) द्युलोक और पृथिवी लोक की तरह विद्यमान स्त्री-पुरुष (उभौ) दोनों (वरा) परस्पर एक दूसरे का वरण करने वाले (आस्ताम्) होवें और (यत्) जब दोनों की अभिलाषा पूरी तरह से हो, तब (पत्येशंसन्तीम्) पति की अभिलाषा करने वाली (सूर्याम्) उषा के समान कान्ति वाली

कन्या को (सविता) उसका उत्पादक पिता (मनसा) अपने मनः संकल्प द्वारा अथवा पूर्ण ज्ञान पूर्वक (अददात्) दान करे, पति के हाथ सौंपे। इस मंत्र के भाष्य में श्री सायणाचार्य ने भी ''सूर्यायत् इत्यर्थः'' (श्री सायणाचार्य ऋक् संहिता भाष्ये) इससे वधू का यौवन तथा वर की कामना का भाव स्पष्टतया सूचित किया है। जब इस प्रकार दोनों की कामना होती है, तब कन्या का पिता ज्ञान और मनः संकल्प पूर्वक, कन्या का विवाह अभिलषित वर के साथ (जैसे कि ''यौ वरः प्रतिकाम्यः'' इत्यादि के द्वारा हम दिखा चुके हैं) कर देता है। इस प्रकार वर वधू की कामना के पश्चात् कन्या के पिता द्वारा कन्यादान का विधान वेदों में पाया जाता है जिसका अर्थ वर के हाथ में कन्या को सौंपना है ताकि वह धर्म, अर्थ, काम में उसकी सहचरी बन सके। इसमें वर वधू की भी उच्छृंखलता वा उद्दंडता सूचित नहीं होती यद्यपि यह ठीक है कि संबंध का निश्चय अधिकतर उन दोनों की इच्छा पर निर्भर है।

आचार्य दयानन्द ने इन वेद मंत्रों के आधार पर एक प्रश्नोत्तर के रूप में इस विषय पर प्रकाश डाला है—

प्रश्न—विवाह करना माता-पिता के अधीन होना चाहिये वा लड़का लड़की के अधीन रहे?

उत्तर—लड़का लड़की के अधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिये क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता और संतान उत्तम होती हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता-पिता का नहीं, क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे, तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता है और :

संतुष्टो भार्यया भर्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

(मनु० ३।६०)

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है। और जहां विरोध कलह होता है, वहां दुःख, दरिद्रता और निन्दा निवास करती है। इसलिये जैसी स्वयंवर की रीति आर्यावर्त में परंपरा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री पुरुष विवाह करना चाहें,

तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल और शरीर का परिमाणादि यथा योग्य होना चाहिये। जब तक इनका मेल नहीं होता, तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता है।

जब तक इसी प्रकार सब ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा, आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्यापाठ पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता पिता के अधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्यावर्त देश की हानि होती चली आयी है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़ के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार के स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था भी गुण कर्म स्वभाव के अनुसार होनी चाहिये।

आचार्य दयानन्दोक्त विवाह निश्चय प्रकार

आचार्य दयानन्द ने विवाह विषयक वैदिक आदेशों को ध्यान में रखते हुए विवाह संबंध निश्चय का निम्न प्रकार निर्दिष्ट किया है जो इस प्रसंग में उल्लेखनीय है-

"यही निश्चय रखना चाहिये कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिये क्योंकि युवावस्था में स्त्री-पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है। परंतु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो, अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहें, तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको "फोटोग्राफ" कहते हें, अथवा प्रतिकृति उतार के कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें। जिस किसी का रूप मिल जावे, उस उसके इतिहास अर्थात् जो जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्म चरित्र का पुस्तक हो, उनको अध्यापक लोग मंगवा के देखें। जब दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव सदृश हों, तब जिस जिस के साथ जिस जिस का विवाह होना योग्य समझें, उस उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो सो हमको विदित कर देना। जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाय, तब उन दोनों का समावर्तन एक ही समय में होवे। जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वहां, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों, तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता-पिता आदि भद्र पुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें सो भी

सभा में लिख के एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें। ''जब दोनों का दृढ़ निश्चय प्रेम विवाह करने में हो जाये, तब से उनके खान–पान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये कि जिससे उनका शरीर–चन्द्रमा की कला के समान बढ़ के थोड़े ही दिनों में पुष्ट हो जाये।'' (सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास)

संस्कार विधि में वर वधू की परीक्षा के संबंध में आचार्य दयानन्द ने निम्न बातें और लिखी हैं–

''वधू और वर की आयु, कुल, वास्तव्य स्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करें अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करने वाले हों।

परीक्षा–अब वधू वर एक दूसरे के गुण, कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें।

दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य, मधुर भाषण, कृतज्ञता, दयालुता तथा अहंकार, मत्सर, ईर्ष्या, काम, क्रोध लोभ रहितता, देश का सुधार, विद्या ग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह, कपट, द्यूत, चोरी मद्यमासांदि दोषों का त्याग, गृह कार्यों में अति चतुरता हो। वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और ऊंचा, पुरुष के स्कन्ध तुल्य स्त्री का सिर होना चाहिये। तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा स्त्री पुरुष वचनादि व्यवहारों से करें। जब विवाह करने का समय निश्चय हो चुके, तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावे। इत्यादि इस विवाह संबंध निश्चय के प्रकार के विषय में संभवतः यह विप्रतिपत्ति की जा सकती है कि यह केवल उन ब्रह्मचारियों और ब्रह्मचारिणियों के विषय में चरितार्थ हो सकती है जो पुरुषों के गुरुकुलों अथवा कन्या गुरुकुलों में अध्ययन करते हों, अन्यों पर यह लागू नहीं हो सकती। आजकल कुमार गुरुकुलों और कन्या गुरुकुलों में अध्ययन करने वाले छात्रों और छात्राओं की संख्या ही अत्यल्प है, ऐसी अवस्था में यह उपर्युक्त प्रकार अन्यों के लिये कैसे उपयोगी हो सकता है। इस विषय में निवेदन यह है कि यद्यपि अक्षरशः यह प्रकार गुरुकुलों से अतिरिक्त अन्य महाविद्यालयों से निकले स्नातकों वा स्नातिकाओं पर चरितार्थ नहीं हो सकता, तथापि इसके जो मुख्य तत्त्व हैं, उनसे सब लाभ उठा सकते हैं। वे मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं–

१. विवाह विद्वान् युवा पुरुषों (जिनकी आयु २४ से कम नहीं हो) और विदुषी कन्याओं का (जिनकी आयु १६ वर्ष से कम न हो)

ही होना चाहिये। बाल विवाह, वृद्ध विवाह और विषम आदि अनमेल विवाह कभी न होना चाहिये।

२. विवाह का निश्चय केवल गुण कर्म स्वभाव की अनुकूलता देखकर होना चाहिये। वर्ण व्यवस्था इसी पर निर्भर करती हैं। आजकल के कल्पित जन्म सिद्ध जाति भेद से इसका कोई संबंध नहीं।

३. सम्बन्ध निश्चय से पूर्व विवाहार्थी युवक और युवति की चतुर पुरुषों और चतुरा महिलाओं द्वारा भलीभांति परीक्षा करवा लेनी चाहिये। चतुर वैद्यों और वैद्याओं द्वारा शारीरिक मानसिक परीक्षा करवा लेनी चाहिये। क्योंकि केवल एक दूसरे को देख लेने से शरीर, मन और स्वभाव की वास्तविक अवस्था का ज्ञान नहीं हो सकता और उसमें भ्रान्ति की संभावना बहुत रहती है।

४. विवाह सम्बन्ध निश्चय में सबसे बड़ा और प्रमुख भाग स्वयं विवाहार्थी युवक पुरुष और विवाहार्थिनी कन्या का होना चाहिये, पर इसके लिये उनका मार्ग प्रदर्शन सच्चे हितैषी निष्कपट अनुभवी अध्यापकों तथा ऐसी ही निष्कपटा सच्ची मंगलाभिलाषिणी अध्यापिकाओं को करना चाहिये। उनकी सहायता वा मार्ग प्रदर्शन के बिना केवल एक दूसरे को किसी समय देख लेने, बातचीत कर लेने अथवा साथ मिल कर नाटकादि देख लेने से लाभ नहीं हो सकता, अपितु हानि की संभावना अधिक है।

५. आप्त गुरुजनों के मार्ग प्रदर्शन में अथवा अन्य विश्वसनीय हितैषियों के निर्देशन में (जो अनेक समुचित प्रस्तावों को वर वधू के सम्मुख रख सकते हैं जिनमें से उन्होंने भलीभांति सोच विचार कर एक का निश्चय करना है) अपना निश्चय करने के पश्चात् विवाहार्थियों को अपने पूज्य माता–पिता तथा अन्य मान्य संबंधियों की अनुमति लेनी उत्तम है जिनके आशीर्वाद से संस्कार का विधिवत् आयोजन हो सके। वैदिक स्वयंवर विवाह के ये कुछ मुख्य तत्त्व हैं जिनका आचरण करने से सबको लाभ हो सकता है। प्राचीन काल के स्वयंवर के अनेक उदाहरण रामायण, महाभारतादि में वर्णित हैं जिनमें से सीतादेवी, सावित्री देवी, रुक्मिणी, द्रौपदी, संयोगिता इत्यादि के अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। क्योंकि ये उदाहरण क्षत्रिय कुलोद्भव कन्याओं के हैं और उनमें कुछ विशेष प्रकार की शर्तों का वर्णन है, अतः कइयों का विचार है कि स्वयंवर का विधान केवल क्षत्रिय कन्याओं के लिये ही है अन्य कन्याओं के लिये नहीं। कुछ भाष्यकारों ने भी—

भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।।

(ऋ० १०।२७।१२)

इस मंत्र में स्वयंवर का स्पष्ट विधान स्वीकार करते हुए भी उदाहरणों द्वारा कुछ ऐसा ही संकेत किया प्रतीत होता है किन्तु इस तथा अन्य वेद मंत्रों में ऐसा कोई निर्देश नहीं है कि यह स्वयंवर केवल क्षत्रिय कन्याओं के लिये, अन्यों के लिये नहीं। किन्तु यह बात अवश्य समझ लेनी चाहिये कि क्षत्रिय कन्याओं के स्वयंवर में मुख्य रूप में बल-वीर्य-पराक्रम की परीक्षा लेना आवश्यक था। अतः उसी प्रकार की शर्त रखी जाती थी किन्तु उसमें भी अन्य बातों के आधार पर कन्या किसी भी व्यक्ति को वर के रूप में अस्वीकार कर सकती थी जैसे कि द्रौपदी ने कर्ण में मत्स्यवेधन की शर्त को पूरा करने की योग्यता होने पर भी उच्च कुलाभिमान में कह दिया था कि "नाहं वरये सूतपुत्रम्" अर्थात् मैं सूत पुत्र का वरण नहीं करती। द्रौपदी देवी का इस आधार पर कर्ण के वरण से इंकार करना कहां तक उचित था, यह दूसरा प्रश्न है जिसकी मीमांसा इस विषय से संबंध नहीं रखती। हम तो उसको अनुचित समझते हैं जिसके आगे जाकर भयंकर परिणाम हुए। तथापि यहां केवल इतना ही दिखाना इष्ट है कि कन्या को वरण में स्वतंत्रता थी। ब्राह्मण कन्याओं में स्वयंवर की अन्य भी रीति प्रचलित थी जिसका सुस्पष्ट उदाहरण महाभारत शान्ति पर्व अध्याय २२० (गीता प्रेस गोरखपुर के संस्करण के अनुसार पृ० ५५८ से ५६१) में पाया जाता है। उसका सारांश यह है कि-

देवलो नाम विप्रर्षिः, सर्वशास्त्रार्थ कोविदः।
क्रियावान्, धार्मिको नित्यं, देवब्राह्मणपूजकः॥
सुता सुवर्चला नाम, तस्य कल्याणलक्षणा॥

देवल नाम के सर्व शास्त्र तत्त्वज्ञ धार्मिक ब्रह्मर्षि थे और सुवर्चला नाम वाली उनकी शुभ लक्षण संपन्ना कन्या थी। जब वह युवति विवाह योग्या हो गयी तो पिता को उसके लिये योग्य वर की चिन्ता हुई। इस पर सुवर्चला ने पिता को कहा-

येभ्यस्त्वं मन्यसे दातुं, मामिहानय तान् द्विजान्।
तादृशं तं पतिं तेषु, वरयिष्ये यथातथम्।

(शा० प० २२०।११)

आप मुझे जिन ब्राह्मणों को देना उचित समझते हैं, उनको यहां बुलवा दीजिये। उनमें से मैं किसी का योग्य रीति से वरण कर लूंगी। तब देवल ऋषि ने अपने शिष्यों के द्वारा वेदज्ञ, नीरोग, बुद्धिशील संपन्न ब्राह्मणों को आश्रमों से आमंत्रित कर भेजा और उनके आने पर

पिता ने सुवर्चला पुत्री को कहा–

एतेऽपि मुनयो वत्से स्वपुत्रैकमता इह।
वेदवेदांगसंपन्नाः, कुलीनाः शीलसंमताः॥
येऽमी तेषु वरं भद्रे, त्वमिच्छसि महाव्रतम्।
तं कुमारं वृणीष्वाय, तस्मै दास्याम्यहं शुभे॥

अर्थात् ये वेद वेदांग संपन्न, कुलीन, सुशील, ब्राह्मण यहां आये हैं, इनमें से तू जिसको सबसे अधिक महाव्रती मानती है, उस कुमार का वरण कर ले। मैं उसी को तुझे विधि पूर्वक दे दूंगा। जब उनमें से कोई सुवर्चला की शर्त को पूरा न कर सका, तो पीछे उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु वहां आया, जिसके विषय में लिखा है कि–

वेदविद् वेदतत्त्वज्ञः, क्रियाकल्पविशारदः।
आत्मतत्त्व विभागज्ञ, पितृमान् गुणसागर॥

अर्थात् वह वेदज्ञ, वेद तत्त्व का पूर्ण ज्ञाता, क्रिया कल्प शास्त्र में निपुण, आत्म ज्ञानी, उत्तम माता–पिता वाला तथा गुणों का समुद्र था। उसकी परीक्षा लेकर सुवर्चला ने उसे पसंद कर लिया था। और कहा कि–

मनसासि वृतो विद्वन्, शेषकर्ता पिता मम।
वृणीष्व पितरं मह्यम्, एष वेदविधिक्रमः॥

अर्थात् हे विद्वान् मैंने आपका मन से वरण कर लिया है। शेष कार्य करने वाले मेरे पिता हैं। आप उनसे मेरे लिये प्रार्थना करें। यही वेद की विधि का क्रम है।

यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें वेद विधि के क्रम का स्पष्ट निर्देश किया गया है कि जब कन्या मन में किसी का वरण कर ले, तभी विवाह संपन्न नहीं हो जाता। पिता ने कन्या दान विधि पूर्वक करना होता है। अतः उससे विवाहार्थी, अभिलषित कन्या के लिये प्रार्थना करता है और तब विवाह संस्कार का आयोजन होता है। सुर्वचला के पिता देवल ऋषि ने कन्या द्वारा श्वेतकेतु के वरण किये जाने पर जो काम किया उसका वर्णन महाभारत में इस प्रकार किया गया है।–

तद्विज्ञाय पिता तस्या देवलो मुनिसत्तमः॥
श्वेतकेतुं च सम्पूज्य, तथैवोद्दालकेन तम्।
मुनीनामग्रतः कन्या प्रददौ जलपूर्वकम्॥

(म०भा० शा०प० २२० अ० श्लो० ३८)

अर्थात् अपनी कन्या सुवर्चला के उस अभिप्राय को जानकर मुनिश्रेष्ठ देवल ने श्वेतकेतु और उसके पिता उद्दालक की पूजा करके मुनियों के सम्मुख जल पूर्वक कन्या को श्वेतकेतु को दे दिया। महाभारत के आदि पर्व अ० ८१ श्लोक ३० में यह वर्णन आया है कि शुक्राचार्य की कन्या देवयानी ने ययाति राजा का अपनी प्रसन्नता से चुनाव करते हुये पिता से कहा—

राजायं नाहुषस्तात, दुर्गमे पाणिमग्रहीत।
नमस्ते देहि मामस्मै, लोके नान्यं पतिं वृणे॥

इस राजा ने विपत्ति के समय मुझे आश्रय दिया, इसलिये मेरा इसके साथ विवाह करा दो। इस संसार में मैं अन्य किसी को पति नहीं चुनूंगी। इस पर अनुमति देते हुये शुक्राचार्य ने ययाति को कहा—

वृतोऽनया पतिर्वीर, सुतया त्वं ममेष्टया।
गृहाणेमां मया दत्तां, महिषीं नहुषात्मज॥

(म०भा० आदि पर्व अ० ८१ श्लोक ३१)

इस मेरी पुत्री ने तुम्हारा पति रूप से वरण कर लिया है इसलिये मेरे द्वारा दी गई इस कन्या को ग्रहण कर लो। अन्य भी ऐसे अनेक उदाहरण महाभारतादि में से प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे पूर्वोक्त वेद विधि के क्रम का ज्ञान होता है कि विवाहार्थी अनेक युवकों के एकत्र होने पर, उनमें से किसी का वरण कन्या स्वयं करे और ठीक जान कर, पिता विवाह संस्कार का आयोजन करें।

वैदिक स्वयंवर विवाह और पाश्चात्त्य कोर्टशिप

अब हम यह विचार करना चाहते हैं कि पाश्चात्त्य देशों में अधिकतर जो कोर्टशिप की विधि प्रचलित है, उसमें और वैदिक स्वयंवर विधि में क्या अंतर है तथा दोनों में से कौन सी विधि अधिक उपादेय है। वैदिक स्वयंवर विधि का हम दिग्दर्शन सप्रमाण करा चुके हैं। अब कोर्टशिप के स्वरूप को संक्षेप से दिखाते हैं जो पाश्चात्त्य सभ्य समाज में अधिकतर प्रचलित है। यूरोप, अमरीका में बाल्य विवाह और पर्दे की प्रथा नहीं है, अतः लड़कियों को अपना जीवन संगी चुनने की स्वतंत्रता दी जाती हैं। किसी प्रकार की सभा सोसायटी या कहीं भी एकत्रित समुदाय में या किसी तरह युवा और युवति का प्रथम परिचय होता है—फिर युवा पुरुष कुछ उपहार लेकर उस युवति के घर जाता है। ऐसे ही २-३ बार समय-समय पर मिलने से उनका प्रेम परस्पर बढ़ता जाता है। युवति के माता-पिता तथा भाई आदि इस लड़के से बातचीत करने के लिये छूट देते हैं और आप उस कमरे से

उठ कर चले जाते हैं। इसी प्रकार यदि वह युवा पुरुष उस नवमित्र युवति को अपने साथ कहीं बाहर घूमने या सिनेमा, नाटक आदि देखने के लिए साथ ले जाना चाहे, तो पिता-माता आज्ञा दे देते हैं। इस प्रकार प्रेम का अंकुर शनैः-शनैः बढ़ता जाता है और बढ़कर एक पौधे का रूप प्राप्त कर लेता है। उस समय एक बार युवा पुरुष अपनी इच्छा प्रकट करता है और उस मित्र युवति की इच्छा जानना चाहता है। यदि तो उसकी ओर से निषेध हो गया, तो बात वहीं समाप्त हो जाती है। यदि दूसरी ओर से उत्तर हां में हो तो वे अपने माता-पिता की अनुमति से या उसके बिना भी विवाहित स्त्री-पुरुष बन जाते हैं। यही कोर्टशिप सर्वसाधारण में स्वच्छन्द प्रेम (Free Love) का रूप ले लेती हैं। विवाह से पूर्व युवा और युवति को स्वच्छन्द संबंध करने का अवसर मिलता है। यदि सम्मति हो गयी तो विवाह हो गया अन्यथा नहीं। इस प्रकार का परीक्षणात्मक विवाह (Trial Marriage) यूरोप और अमरीका के कई प्रदेशों में प्रचलित है।

प्रश्न यह है कि कोर्टशिप की पाश्चात्त्य प्रणाली से ठीक चुनाव हो सकता है या नहीं। तथ्यों को दृष्टि में रखते हुये इसका उत्तर हां में देना कठिन है। जिस मित्र को महीनों महीनों और वर्षों तक परखा है, क्या कभी उसके साथ भी त्याग, तलाक वा (Divorce) की नौबत आनी चाहिये। हम देखते हैं कि यूरोप, अमरीका के उच्च घरानों में भी ऐसे उपयोग बहुत बड़ी संख्या में होते हैं। और इसका लगभग नया उदाहरण अमरीका की न्यूयार्क रियासत के गवर्नर नेल्सन रौक् फैलर (Nelson Rockfeller) का है जिसके विषय में अमरीका की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका पेजेन्ट (Pageant) से हम निम्न उदाहरण देना उचित समझते हैं ताकि किसी प्रकार की अत्युक्ति न हो "How our morals are going from loose to looser to loosest". किस प्रकार हमारी नैतिकता अधिकाधिक शिथिल होती जा रही है। इस शीर्षक के लेख में जेम्स कोलिअर (James Collier) नामक अमेरिकन सज्जन ने लिखा :-

"Recently, accompanied by considerable newspaper fanfare, Governor Nelson Rockfeller married a woman, who the day before, had divorced a husband of 16 years standing. The Governor himself had the previous year divorced his own wife for the apparent purpose of this marriage.

Far from denouncing the Governor, the papers (of America)

were almost uniformly sympathetic. Even more astonishing was the fact, that many commentators insisted that the divorce and remarriage would not irreparably damage Rockfeller's political career and some even went so far as to claim that it would enhance it". 25 years ago it could not have happened. In 1938 it was almost unthinkable that a political figure could survive a divorce. Public morality would not allow it."

(Pageant, Oct. 1963)

अर्थात् अभी हाल में गवर्नर नेल्सन रौक् फैलर ने समाचार पत्रों के संवाददाताओं की धूमधाम के साथ एक ऐसी महिला से विवाह किया जिसने विवाह से पूर्व दिन १६ वर्षों की अवधि के पति को तलाक दे दिया था। गवर्नर ने भी पूर्व वर्ष में प्रत्यक्षतः इस विवाह के उद्देश्य से अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया था। अमरीका के समाचार पत्रों ने गवर्नर की इस कार्य के लिये प्रतिकूल समालोचना करने के बजाय उनकी लगभग सर्व सम्मति से उसके साथ सहानुभूति रही। इससे भी बढ़कर आश्चर्य जनक यह तथ्य है कि बहुत से समालोचकों ने इस बात पर बल दिया कि इस तलाक और पुनर्विवाह से रौक् फैलर के राजनैतिक जीवन को कोई अपूरणीय क्षति न पहुंचेगी। उनमें से कुछ ने तो यह दावा किया कि इससे उसका (रौक् फैलर का) राजनैतिक जीवन अधिक चमकेगा।

इस पर लेखक ने लिखा है कि आज से २५ वर्ष पूर्व भी ऐसी घटना नहीं हो सकती थी। सन् १९३८ में इस बात की कल्पना भी न की जा सकती थी कि एक तलाक के बाद राजनैतिक जीवन बचा रह सके। सार्वजनिक नैतिकता इस बात की अनुमति न दे सकती थी।

समय-समय पर प्रकाशित रिपोर्टों के अनुसार अमरीका में प्रतिवर्ष तलाकों की संख्या बढ़ती जा रही है। इनका मूल कारण कोर्टशिप ही माना जा सकता है।

हमारे इस अनुमान की साक्षी डॉ० ब्लेफोर अपनी पुस्तक "Marriage and Parent age" (विवाह और पितृत्व) के पृ० १४ और १५ पर इस आशय के शब्दों में देते हैं। युवा पुरुष उत्तम वस्त्र धारण कर सुन्दर लावण्ययुक्त स्त्री की परीक्षा करने जाता है। स्त्री मीठी-मीठी बातें करती हैं। किसी को एक दूसरे के स्वभाव का पता नहीं लगता। वार्तालाप के पश्चात् पुरुष अपने को विवाह का इच्छुक प्रकट करता है और स्त्री को प्रायः अनिच्छा से स्वीकार करना पड़ता है। इसी

प्रकार डॉ० ट्रॉल अपनी विवाह विषयक अंग्रेजी पुस्तक के पृ० २८७ पर लिखते हैं कि—

जिस प्रकार सभ्य पुरुषों में कोर्टशिप का प्रचार है वह सर्वथा अनुचित है। यह पुरुष और स्त्री को कृत्रिम वा बनावटी दशा में प्रकट करता है। इससे एक दूसरे के आन्तरिक विचारों, संकल्पों और चित्ताकर्षण का जानना यदि सर्वथा असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। मैं इसको ऐसे छल के बर्ताव के साथ उपमा दे सकता हूँ कि जिसमें प्रत्येक ही कपट से सौदा बनाने का प्रयत्न करता है। युवा पुरुष और युवति स्त्री जो विवाह योग्य आयु के समझे जाते हैं, वे सदैव उत्तम वस्त्र धारण कर लेते हैं और एक दूसरे के साथ उत्तम से उत्तम बर्ताव करते हैं। वे एक दूसरे को अपनी वास्तविक दशा में नहीं देखते। मिलने का समय पहले से नियत किया जाता है और उसके लिये विशेष तैयारी की जाती हैं। इस गड़बड़ को और भी कठिन बनाने के लिये युवति स्त्री को नाटक के सदृश काम करना ही नहीं सिखलाया जाता बल्कि असत्य भी बोलना पड़ता है। स्त्री को सिखाया जाता है कि सारी प्रतिज्ञा प्रथम पुरुष की ही ओर से होनी चाहिये। स्त्री के लिये यह प्रकट करना कि मैं विवाह करूंगी अनुचित है। स्त्री के लिये परीक्षा करना स्त्री स्वभाव से दूर की बात है। परन्तु कोई यथार्थ कारक कदापि नहीं दिया जाता और न दिया जा सकता है कि क्यों परीक्षा करना स्त्री का तुल्य धर्म और अधिकार नहीं जितना कि पुरुष का है।

यदि कहा जाये कि नहीं, स्त्री को भी परीक्षा करने का अधिकार है और यदि वह उक्त विवाह सम्बन्ध को न चाहती हो, तो निषेध भी कर सकती है। तब ऐसी दशा में यदि स्त्री ने निषेध कर दिया तो उस समय युवा पुरुष के मन की क्या दशा होती होगी, इसका पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। इसलिये कोर्टशिप वैदिक स्वयंवर विधि का स्थान नहीं ले सकती।

परीक्षा में पत्र–व्यवहार द्वारा और अध्यापक अध्यापिकाओं, सुयोग्य पुरोहितों तथा अन्यान्य अड़ोसियों–पड़ोसियों द्वारा कुमारों और कुमारियों का जितना सत्य वृतान्त विदित हो सकता है, उतना प्रत्यक्ष की कोर्टशिप से नहीं हो सकता। सत्य वृतान्त जान कर तथा परोक्ष में प्रशंसा सुनकर, परस्पर जो प्रेम आविर्भूत होता है, उसकी तुलना ही नहीं की जा सकती। परोक्ष वस्तु में अधिक प्रीति होती है, यह एक साधारण सा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है।

कोर्टशिप में जो एक बड़ी हानिकारक बात है वह यह है कि युवक पुरुष और युवति का एकान्त में मिलन। इसके प्रायः बड़े अवांछनीय परिणाम होते हैं और विवाह से पूर्व ही मैथुन की संभावना कितनी बढ़ जाती है तथा पाश्चात्त्य देशों में इस विवाह पूर्व संभोग की प्रवृत्ति कितनी बढ़ती जा रही है इसका अनुमान इस उद्धृत सर्वेक्षण द्वारा किया जा सकता है।

"A study by Robert Bell and Leonard Blumberg that appeared in "Marriage and Family Living" last year (1962) says that some **50 percent of today's College girls believe sex is permissible during the engagement. 75 percent of every body and 90 percent of men condone pre-marital sex for men.** And as a matter of fact, public practice of pre-marital sex is widespread. Every College has its students who make no bones of their sexual acitivities. A generation ago, they would have been expelled from college."

(Pageant, Oct. 1963, P. 10)

सन् १९६२ में रौबर्ट बेल और ब्लूयमबर्ग ने 'मैरेज एण्ड फेमिली लिविंग' नामक पुस्तक में अपने सर्वेक्षण के अनुसार बताया है कि आजकल की लगभग ५० प्रतिशत तक कॉलेज की छात्रायें विश्वास करती हैं कि सगाई के बीच में यौन संबंध-संभोगादि अनुमति योग्य है। स्त्री-पुरुष मिलकर ७५ प्रतिशत और पुरुषों में से ९० प्रतिशत तक विवाह से पूर्व यौन संबंध वा पुरुषों के लिये समर्थन करते हैं। एक तथ्य के रूप में विवाह से पूर्व यौन संबंध की सार्वजनिक प्रथा बहुत अधिक प्रचलित है। प्रत्येक कॉलेज में ऐसे छात्र हैं जो अपने यौन क्रिया-कलाप को छिपाने का प्रयत्न नहीं करते। आज से एक पीढ़ी पूर्व ऐसे छात्रों को कॉलेज से निकाल दिया जाता।

इस विषय में यह बात भी उल्लेखनीय है कि कोर्टशिप तथा अन्य कृत्रिम जीवन के कारण (जिसको विवाह के बाजार में सौदे के लिये तथा कथित सभ्य समाज में आवश्यक समझा जाता है) यूरोप अमरीका में लाखों-करोड़ों स्त्रियों को आजीवन अविवाहिता रहने को बाधित होना पड़ता है। प्रख्यात क्रान्तिकारी और मनीषी ला० हरदयाल ने "Women in the West" (पश्चिम में नारी) इस शीर्षक के निबन्ध में पाश्चात्त्य देशों में प्रचलित इस विवाह प्रथा का बड़ा मर्म भेदी चित्र खींचा है। उन्होंने लिखा है कि—

"Love and motherhood are among the essential incontestable

rights of women. But this hopeless search embitters so many lives, blasts so many womanly virtues. How often I have seen in married women of twenty-five and thirty looking wistfully at the couples that enter at in the Church-door or pass them on the promenads. I could almost feel that a sigh escaped their lips. And I have seen this ignoble marriage hunt in operation. I have noticed all its shamelessness, its brutality, its gross injustice. ....no pen can describe the anguish of those women who cannot find purchasers in the market or who fail to beg some game in this hunt. They are stranded and no one pities them. Their lot is one of terrible hardship in these upper classes. They become mere human wrecks, the refuge of the market. which the managers throw into the garbage bin".

(Woman in the West by Lala Har Dayal, P. 19-20)

अर्थात् प्रेम और मातृत्व स्त्रियों के परमावश्यक और निर्विवाद अधिकारों में से हैं। किन्तु वर की निराशाजनक खोज कितने ही जीवनों को कटु बना देती और स्त्रियोचित गुणों को नष्ट कर देती है। कितनी बार मैंने २५ और ३० वर्ष की अविवाहित स्त्रियों को उत्सुकता के साथ उन दंपतियों की ओर निहारते हुये देखा है जो गिरजाघर के द्वार पर प्रवेश करते या यात्रा करते हुये उनके पास से गुजरते हैं। मैं इस बात का अनुभव सा करता था कि उनके ओष्ठों से आह निकलती थी। मैंने इस विवाह के शिकार का क्रियात्मक रूप देखा है। मैंने इसकी निर्लज्जता, इसकी पाशविकता और इसके घोर अन्यायका निरीक्षण किया है।.....कोई लेखनी उन स्त्रियों की मानसिक वेदना का अनुभव नहीं कर सकती जिनको विवाह के बाजार में खरीदने वाले कोई नहीं मिलते अथवा इस शिकार में जिनको कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती। उनको मार्ग भ्रष्ट होना पड़ता है और कोई उन पर दया नहीं करता। उच्च वर्ग में उनका भाग्य अत्यन्त भयंकर कठिनता का होता है। वे सर्वतया नष्ट प्राणी हो जाती हैं, बाजार का कूड़ा–करकट जिनको प्रबंधक कूड़े की टोकरी में फेंक देते हैं।

सुप्रसिद्ध लेखक बर्नार्डशॉ ने इस विषय में लिखा है :—

"Look at fashionable society as you know it. What does it pretend to be? An exquisite dance of nymphs. What is it? A horrible procession of wretched girls, each in the clutches of a cynical, cunning, avaracious, ignorantly experienced, evil minded old woman whom she calls mother and whose duty it is to currupt her mind and sell her to the highest

bidder."

These are abominable things.

आजकल की उस सोसाइटी को देखो जिसे तुम फैशनेबिल सोसाइटी के रूप में जानते हो। यह क्या होने का दावा करती है। परियों का उत्कृष्ट नृत्य। अभागी या दयनीय लड़कियों का एक भयानक जुलूस, जिनमें से प्रत्येक एक ऐसी वृद्धा स्त्री के चंगुल में है जो जनद्वेष्ट्री, धूर्ता, लोभिनी, अज्ञान युक्त अनुभवशालिनी, दुष्टचित्ता है जिसे वह माता पुकारती है और जिसका यह काम है उसके मन को दूषित करना और ऊँची बोली बोलने वाले के हाथ उसे बेच देना।....ऐसी चीजें घृणित हैं। इस विवेचन से पाश्चात्त्य समाज में अधिकतर प्रचलित कोर्टशिप आदि की पद्धतियों की बुराई और वैदिक स्वयंवर पद्धति की निर्दोषिता तथा सर्वोत्कृष्टता ज्ञात हो सकती है। विवाह में अर्थ और काम की ही नहीं, धर्म के साथ मिलकर आचरण और उसकी वृद्धि की भावना मुख्य होनी चाहिये, इसके साथ मतभेद होने पर सहिष्णुता रखनी चाहिये तभी विवाह मंगलदायक हो सकता है।

परिवार और समाज में स्त्रियों की स्थिति विषयक समस्या

एक बड़ी समस्या यह है कि परिवार और समाज में स्त्रियों की क्या स्थिति होनी चाहिये। वेदों में इस विषय में जो निर्देश दिये गये हैं उनसे स्पष्ट है कि स्त्रियों को कभी हीन वा तुच्छ दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। उनका उचित आदर सदा करना चाहिये। पत्नी पति की दासी वा सेविका नहीं, वह उसकी धर्म कार्यों में सहायिका सच्ची सखी वा मित्र है। वह पति को भी उत्तम परामर्श देकर अनेक आपत्तियों से उसकी रक्षा करने वाली हैं। वह अनुव्रता गृह स्वामिनी है। उसके बिना यज्ञादि शुभ कार्य भी अपूर्ण हो जाते हैं। वेद में पत्नी को वशिनी और सम्राज्ञी कहा गया है। जैसे कि निम्न मन्त्रों में प्रतिपादित है—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥

(ऋ० १०।८५।२६)

अर्थात् हे वधु पूषा–पोषण पति (हस्तागृह्यानयत्) पाणिग्रहण करवा हाथ पकड़ कर तुझे ले जाये। (अश्विना) वर के संयमी माता–पिता तुझे रथ में अपने साथ ले चलें। तू (गृहान् गच्छ) पति के घर में जा (यथा गृहपत्नी असः) जिससे तू गृह स्वामिनी बन कर रहे

(वशिनी)। तू सबको उत्तम व्यवहार से अपने वश में रखने वाली होकर (विदभम् आवदासि) यज्ञ और ज्ञान का उपदेश करने वाली हो।

अथर्ववेद १४।१।२० में भी यह मंत्र थोड़े से अंतर से आया है। यथा–

भर्गस्त्वेतो नंयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वंहतां रथेन।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासों वशिनी त्वं विदथमा वंदासि॥

(अ० १४।१।२०)

अर्थ पूर्ववत् है। केवल पूषा के स्थान पर "भगः" का प्रयोग है जिसका अर्थ **ऐश्वर्य, ज्ञान** और **धर्म** संपन्न पति का है।

इसमें भी पत्नी को दासी वा सेविका न कहकर गृह पत्नी कहा है जिसका अर्थ गृह की स्वामिनी और गृह की रक्षा करने वाली तथा वशिनी अपने उत्तम प्रेममय व्यवहार से सब गृह सदस्यों को वश में रखने वाली है तथा उसे विदथ अर्थात् ज्ञान और यज्ञ के संबंध में सबको चारों ओर से बोध देने वाली कहा गया है। इस प्रकार पत्नी की स्थिति घर में कितनी उन्नत और प्रतिष्ठित है, इसका भलीभांति ज्ञान हो जाता है। संसार के अन्य किसी भी धर्म ग्रन्थ में स्त्रियों की स्थिति को इतना उन्नत नहीं माना गया बल्कि उसे पुरुष की अपेक्षा अत्यन्त हीन माना गया है।

ऋग्वेद १०।८५।४६ में नव वधू को आशीर्वाद इन शब्दों में दिया गया है—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥

(ऋ० १०।८५।४६)

अर्थात् तू श्वशुर में, श्वश्रू (सास) में, ननद में और अपने देवरों में सम्राज्ञी बन कर रह। सम्राज्ञी का अर्थ सम्+राज्ञी अर्थात् अपने विद्या विनय सुशीलतादि गुणों के कारण अच्छी तरह चमकने वाली रानी के समान है। पत्नी को इतने उत्तम स्वभाव और आचरणादि का होना चाहिये कि सब जगह वह चमक सके और सब उसका मान करने वाले तथा उसकी इच्छा को पूर्ण करने वाले हों। यह कार्य अहंकार वा अभिमान पूर्वक न होना चाहिये, किन्तु विद्या, विनय, सुशीलतादि के द्वारा होना चाहिये।

यही मंत्र अथर्ववेद १४।१।४४ में निम्न अंतर के साथ आया है—

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥

(अ० १४।१।४४)

अर्थ ऋग्वेद के मन्त्र के समान ही है अतः इस पर पृथक् लिखने की आवश्यकता नहीं, किन्तु इससे पूर्व जो मन्त्र अथर्ववेद में आया है उसका भी इस प्रसंग में उल्लेख करना आवश्यक है—

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥

(अ० १४।१।४३)

अर्थात् जैसे (वृषा) जल वर्षण करने वाला (सिन्धुः) समुद्र, (नदीनां साम्राज्यं सुषुवै) नादियों के साम्राज्य को प्राप्त करता है (एवा) इसी प्रकार (त्वम्) तू (पत्युः अस्तं परेत्य) पति के गृह को प्राप्त करके (सम्राज्ञी एधि) अपने गुणों के कारण अच्छी तरह प्रकाशमान रानी के समान बनकर रहना।

इससे बढ़कर स्त्रियों की उत्तम स्थिति के द्योतक शब्द और क्या हो सकते हैं?

इस प्रकार के मन्त्रों का ही मानो अनुवाद करते हुए इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध विचारक जॉन रस्किन ने स्त्रियों के आदर्श विषयक अपने "Of Queen's Gardens" शीर्षक निबन्ध में अपने देश की स्त्रियों को संबोधित करते हुए लिखा—

"Queens, you must always be, Queens to your lovers, Queens to your husbands and sons, Queens of higher mystery to the world beyond and the stainless scepters of womanhood. But else you are too often idle and careless queens".

(Of Queen's Gardens by John Ruskin).

अर्थात् "तुम्हें सदा सम्राज्ञी होना चाहिये। अपने प्रेमियों, अपने पतियों, अपने पतियों और पुत्रों की भी तुम्हें सम्राज्ञी होना चाहिये। बाह्य जगत् के विषय में तुम्हें रहस्य की सम्राज्ञी और स्त्रीत्व का निष्कलंक अधिकार दण्ड होना चाहिये। किन्तु दुःख की बात है कि तुम सुस्त और लापरवाह सम्राज्ञी हो।"

जॉन रस्किन के इस परिच्छेद के अंतिम भाग में जो बात कही गयी है उसको पढ़ते हुये हमें वेदों के इस प्रकार के मन्त्रों का सहसा स्मरण हो उठा जिसमें स्त्रियों को सदा जागरूक रहने को कहा गया है यथा "अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ॥" (ऋ० १०।८५।२७)

इस घर में गृहपतित्व के लिये तू जागृत रह—अपने गृह विषयक कार्य में कभी प्रमाद न कर।

इन्द्राणीवं सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि॥

(अ० १४।२।३१)

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु॥

(अ० १४।२।७५)

अथर्ववेद के इन मंत्रों में स्त्री को उपदेश दिया गया है कि तू परमैश्वर्य युक्त राजा की पत्नी की तरह (सुबुधा) बहुत उत्तम ज्ञान से संपन्ना और कर्तव्य का ज्ञान रखती और जागती हुई गृह स्वामिनी होकर घर में प्रवेश कर जिससे तुझे दीर्घ आयु और सौ वर्ष पर्यन्त सुख की प्राप्ति हो। ज्योतिर्युक्त उषाओं की तरह तू सदा ज्ञान युक्त और जागरूक होकर कार्य कर।

(यजुर्वेद ८।४३ के)—

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता तेऽअघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मां सुकृतं ब्रूतात्॥

(य० ८।४३)

इस मन्त्र का हम पहले उल्लेख कर ही चुके हैं जिसमें पत्नी को इडा, रन्ता, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योति, सरस्वती, अघ्न्या आदि प्रेम और आदर सूचक नामों से पुकारते हुये कहा गया है कि तुम (देवेभ्यः) विद्वानों को और (मा) मुझ पति को भी (सुकृतं ब्रूतात्) उत्तम कर्म वा पुण्य मार्ग का उपदेश करो। पत्नी को यहाँ अघ्न्या के नाम से कहा गया है जिसका अर्थ कभी भी न मारने वा हिंसा करने योग्य होता है। इसी वेद के भाव को लेकर ऐतरेयोपनिषत् में कहा है—

तस्मादेनां (स्त्रियं) न हिनस्ति। (ऐतरेयोप० अ० २)

अर्थात् पति कभी स्त्री की हिंसा नहीं करता—उसे कभी भी स्त्री की हिंसा न करनी चाहिये क्योंकि

अर्धाह वा एष आत्मनो यज्जाया। (शत० ५।२।१।१०)

पत्नी पुरुष का आधा अंग है।

वेदों और तदनुयायी साहित्य के अनुसार जब पत्नी पति का अर्ध भाग है, तो उसकी पति की अपेक्षा हीनता या उच्चता का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वेदों में उसे स्थान-स्थान पर पति के सच्चे मित्र के रूप में बताया गया है और पति पत्नी के लिये "सखायौ" शब्द

का प्रयोग किया गया है।

हमने स्वयंवर का प्रतिपादक जो मंत्र ऋ० १०।२७।१२ से उद्धृत किया था उसमें वर के लिये मित्र शब्द का ही महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—

भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्॥

(ऋ० १०।२७।१२)

अर्थात् वह वधू कल्याण सुखकारिणी होती है जो जन समुदाय में से अपने मित्र (वर) का चुनाव करती है।

यजुर्वेद २९।४० के निम्न मंत्र में भी वर के लिये स्त्री की ओर से "प्रियं सखायम्" का प्रयोग है—

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियꣳसखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयꣳसमने पारयन्ती॥

(य० २९।४०)

अथर्ववेद के ६।४२।१-२ में पति पत्नी के लिये सखायौ इस शब्द का विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया है, जो इस प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वेद मंत्र इस प्रकार है—

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै॥

(अथर्व० ६।४२।१)

सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते॥

(अ० ६।४२।२)

इन दो मन्त्रों में किसी कारण से थोड़े समय के लिये एक दूसरे से अप्रसन्न से हुये पति-पत्नी अपने क्रोध को दूर करते हुए फिर अपने मनों को मिलाकर दो मित्रों की तरह मिलकर व्यवहार करने का निश्चय करते हैं। किसी-किसी समय ऐसे मालिन्य का थोड़े समय के लिए दम्पती के अन्दर पैदा हो जाना अस्वाभाविक नहीं, पर उसे बहुत शीघ्र दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये, यही वेद का भाव है। इसी वैदिक भाव को लेकर पारस्कर गृह्यसूत्र में सप्त पदी के अवसर पर वर, वधू को—

सखे सप्तपदी भव॥

इस वाक्य द्वारा सखी के रूप में सम्बोधित करते हुए सातवाँ पग रखता है।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में सप्तपदी में सप्तम बार पग रखते हुये, इस

मंत्र के उच्चारण का विधान है—

सखेति सप्तमे पदे पति सखा सप्तपदा भव सखायो सप्तपदा बभूव सख्यं ते गमेयं सख्यात् ते मा योषं सख्यान्ने मा योष्ठाः समवाय संकल्पावहै सं प्रियौ रोचिष्ण सुमनस्यमानौ। इष मूर्जमभिसंवसानो सं नौ मनांसि व्रता समुचित्तान्याकरम्। सा त्वमस्यमूहमस्मि सात्वं छौरहं पृथिवीं त्व रेतोऽहं रेतोभूत्त्वं मनेऽहमस्मि वाक्त्वं सामाहमस्मि ऋक्त्वं सा मामनुव्रताभव पुंसे पुत्राय तेत्तवै श्रिये पुत्राय वेत्तव एति सूनृते॥

(आपस्तम्बगृह्यसूत्रे खंड ४ सू० १७)

इस मन्त्र का आधार संहिता–मन्त्रों पर है जैसे कि हम आगे दिखायेंगे। इसका अर्थ स्पष्ट है कि सात पद रखने वाली तू (वधू) मेरी मित्र बन जा। हम सात कदम इकट्ठे रख कर अब मित्र हो गये हैं। (सप्तपदा–सप्तपदौ द्विवचन्स्याकारः) (सप्तपदौ त्वं च अहं च सखायो बभूव—बभूविव छान्दसो विशब्दस्य लोपः) सख्यात्ते मा वियोषम्– वियुक्तः पृथक् कृतो मा भूवम् इति हरदत्तमित्रो व्याख्यायाम्। मैं तेरी मित्रता को प्राप्त करूं। तेरी मित्रता से मैं कभी पृथक् न होऊं। हम दोनों मिल जायें। इस प्रकार का संकल्प करें। हम एक दूसरे के साथ प्रेम करें, एक दूसरे के आश्रय से हम चमकें (परस्पराश्रयेण दीप्यमानौ–हरदत्तः) उत्तम मन वाले और परस्पर प्रसन्न हों। अन्न और पराक्रम को धारण करते हुए, हम दोनों होवें। हम दोनों के मन के व्यापार मिले हुये हों, चित्त भी मिले हुये हों। मैं इन्हें मिला देता हूँ। तू (अमा) अम–गतौ अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को जानने वाली है। मैं भी ऐसा ही हूँ। मैं द्युलोक वा सूर्य के समान हूँ। तू पृथिवी के समान है। मैं वीर्यवान् हूँ, तू वीर्य को धारण करने वाली है। मैं मन हूँ तो तू वाणी है। मैं साम हूँ तो तू वाक् है। (यथा ऋक् सामे परस्परं सम्ब एवम् आवामणी–त्यर्थः—हरदत्त मित्रः) तू मेरी अनुव्रता मेरे व्रतों के अनुकूल व्रतवाली हो, जिससे उत्तम पुत्र पुत्री रूप सन्तान की प्राप्ति हो। हे सूनृते—सत्य और प्रिय वाणी बोलने वाली वधुः आ।

ये मन्त्र जो आपस्तम्ब गृह्य सूत्र में उल्लिखित हैं, वेद की किस शाखा के हैं, ये ११२७ शाखाओं में से बहुत अधिक शाखाओं के लुप्त होने के कारण कहा नहीं जा सकता। स्पष्टतः ये किसी लुप्त शाखा के हैं, किन्तु इनका आधार संहिता मन्त्रों पर है। यह दिखाने के लिये हम कुछ मन्त्रों को नीचे उद्धृत करते हैं।

संहिता मन्त्रों में पति पत्नी को मित्र वा सखायो के रूप में बताया गया है यह हम ऊपर अनेक मन्त्रों को उद्धृत करके दिखा चुके हैं। यहाँ केवल एक और मन्त्र खण्ड का उल्लेख अभी पर्याप्त है जो यजुर्वेद अ० ३० का है। इसमें कहा है—

आनन्दाय स्त्रीषखम्॥ (य० ३०।६)

अर्थात् आनन्द की प्राप्ति के लिये ऐसे सज्जन के पास जो स्त्री को सखी के रूप में मानता है अथवा अपनी पत्नी का सच्चा सखा है—उस पर पूर्ण विश्वास रखने वाला और उसे कष्टों से बचाने वाला है। ''समयावसंकल्पावहै'' इत्यादि मंत्र का आधार यजुर्वेद अ० १२ का ५७ वाँ निम्न मन्त्र है—

समितꣳसं कल्पेथाꣳसंप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ।
इषमूर्जमभि संवसानौ॥ (य० १२।५७)

सं नौ मनासिसंव्रता समु चित्तान्याकरम्॥

इस वचन का आधार निम्नलिखितमन्त्र है—

सं वां मनाꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्॥

(य० १२।५८)

मैं तुम्हारे (पति पत्नी के) मनों और व्रतों को तथा चित्तों को मिलाता हूँ। वस्तुतः यही सखित्व वा मित्रता का लक्षण है, जिसकी मन्त्र में विशेष रूप से प्रार्थना की गयी है।

शाखा मन्त्र के अगले अंश का आधार इस अथर्ववेदीय मन्त्र पर है—

अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्।
ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै॥ (अ० १४।२।७१)

यहाँ शुद्ध अमः—यह पाठ है। जिसका अर्थ अमगत्यादिषु के अनुसार धन सम्पन्न है। वर यह घोषणा करता है कि मैं कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को भली-भाँति जानने वाला हूं। (सा त्वम्) हे वधू तुम भी इसी प्रकार अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायिता को जानने वाली हो। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में जो पाठ किसी लुप्त शाखा से उद्धृत किया गया है उसमें अमूहम् यह पाठ है जिस पर टीकाकार हरदत्त मित्र को लिखना पड़ा कि संहिता काले ओंकारस्य ऊकारः, बह्वृचानां तु ''अमोऽहम्'' इत्येव पाठः। वर कहता है कि मैं साम हूँ तो तू ऋक् है। भक्ति ज्ञान का जैसा सम्बन्ध है वैसा पति-पत्नी का सम्बन्ध हैं। वधू को ऋक् कहने से यह भी स्पष्टतया ध्वनित होता है कि उसे

ऋग्वेदादि पढ़ने पढ़ाने का पूर्ण अधिकार है। इसके समर्थन में अनेक स्पष्ट मंत्रों को हम पहले उद्धृत कर ही चुके हैं। वर कहता है कि मैं द्युलोक वा सूर्य के समान और तुम (वधू) पृथिवी के समान हो। सूर्य में तेज की प्रधानता है, पृथिवी क्षमा और सहनशीलता का प्रतीक है। यदि तेजस्वी होने के कारण किसी समय पति से कोई कठोर शब्द बोला भी जाये, तो पत्नी को पृथिवी के समान आचरण करते हुये उसे सहन करना चाहिये और क्षमा कर देना चाहिये। इसीलिये नीति शास्त्रकारों ने उत्तम स्त्री के लक्षण बताते हुए उसे "क्षमयाधरित्री" अर्थात् क्षमा के कारण पृथिवी के समान कहा है। वेदों में उषा के समान स्त्री के लिये—

सा व्युंच्छ सहींयसि सुत्यश्रंवसि॥ (ऋ० ५।७९।२, सा० १७४१)

यो व्यौच्छः सहींयसि सुत्यश्रंवसि॥ (ऋ० ५।७९।३, सा० १७४२)

इत्यादि मन्त्रों में "सहीयसि" इस सम्बोधन का प्रयोग किया है जिसका अर्थ सहनशीला है। स्त्रियों में घर की शांति के लिये इस गुण का होना नितान्त आवश्यक है।

मन्त्र के उत्तरार्ध में कहा है कि (ताविह संभवः) प्रजामाजनयावहै। इस प्रकार के गुण तथा परस्पर सम्बन्ध युक्त हम दोनों पर वधू परस्पर संयुक्त होवें और उत्तम सन्तान को उत्पन्न करें।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में किसी लुप्त शाखा से उद्धृत वचन में इसका कुछ विस्तार करते हुये वधू को "सूनृते" ऐसा सम्बोधन किया गया है। यह सम्बोधन भी मन्त्र संहिता से लिया गया है। उदाहरणार्थ ऊपर "सहीयसि" के प्रयोग वाले जिन ऋग्वेद और सामवेद के मंत्रों का अंश हमने उद्धृत किया है, उन्हीं में अंत में उषा के समान कान्तिमती, अज्ञान का नाश करने वाली (उष–दाहे) अथवा "उच्छ–विवासे" पति आदि की विशेष रूप से सुख में निवास करने वाली स्त्री के लिये कहा गया है कि

सुजा॑ते अश्व॑सूनृते॥

(ऋ० ५।७९।२, सा० १७४१ तथा ऋ० ५।७९।३ सा० १७४२)

ऋ० ५।७१।१ सा० १७४० में भी यही सुजाते अश्व सूनृते शब्द आये हैं जिनका अर्थ अशूङ् व्याप्तौ व्याप्त सत्य और प्रिय वाणी बोलने वाली है।

ऋ० १।९२।१४ तथा साम० १७३२ का निम्न मंत्र भी इस विषय में उल्लेखनीय है जहां उषा के समान कान्तिमयी सुख में विशेष रूप से निवास कराने वाली अज्ञाननाशिनी स्त्री संबोधित करते

ऋग्वेदादि पढ़ने पढ़ाने का पूर्ण अधिकार है। इसके समर्थन में अनेक स्पष्ट मंत्रों को हम पहले उद्धृत कर ही चुके हैं। वर कहता है कि मैं द्युलोक वा सूर्य के समान और तुम (वधू) पृथिवी के समान हो। सूर्य में तेज की प्रधानता है, पृथिवी क्षमा और सहनशीलता का प्रतीक है। यदि तेजस्वी होने के कारण किसी समय पति से कोई कठोर शब्द बोला भी जाये, तो पत्नी को पृथिवी के समान आचरण करते हुये उसे सहन करना चाहिये और क्षमा कर देना चाहिये। इसीलिये नीति शास्त्रकारों ने उत्तम स्त्री के लक्षण बताते हुए उसे "क्षमयाधरित्री" अर्थात् क्षमा के कारण पृथिवी के समान कहा है। वेदों में उषा के समान स्त्री के लिये—

सा व्युच्छ सहीयसि सत्यश्रवसि॥ (ऋ० ५।७९।२, सा० १७४१)

यो व्यौच्छः सहीयसि सत्यश्रवसि॥ (ऋ० ५।७९।३, सा० १७४२)

इत्यादि मन्त्रों में "सहीयसि" इस सम्बोधन का प्रयोग किया है जिसका अर्थ सहनशीला है। स्त्रियों में घर की शांति के लिये इस गुण का होना नितान्त आवश्यक है।

मन्त्र के उत्तरार्ध में कहा है कि (ताविह संभवः) प्रजामाजनयावहै। इस प्रकार के गुण तथा परस्पर सम्बन्ध युक्त हम दोनों पर वधू परस्पर संयुक्त होवें और उत्तम सन्तान को उत्पन्न करें।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में किसी लुप्त शाखा से उद्धृत वचन में इसका कुछ विस्तार करते हुये वधू को "सूनृते" ऐसा सम्बोधन किया गया है। यह सम्बोधन भी मन्त्र संहिता से लिया गया है। उदाहरणार्थ ऊपर "सहीयसि" के प्रयोग वाले जिन ऋग्वेद और सामवेद के मंत्रों का अंश हमने उद्धृत किया है, उन्हीं में अंत में उषा के समान कान्तिमती, अज्ञान का नाश करने वाली (उष–दाहे) अथवा "उच्छ–विवासे" पति आदि की विशेष रूप से सुख में निवास करने वाली स्त्री के लिये कहा गया है कि

सुजाते अश्वसूनृते॥

(ऋ० ५।७९।२, सा० १७४१ तथा ऋ० ५।७९।३ सा० १७४२)

ऋ० ५।७१।१ सा० १७४० में भी यही सुजाते अश्व सूनृते शब्द आये हैं जिनका अर्थ अशूङ् व्याप्तौ व्याप्त सत्य और प्रिय वाणी बोलने वाली है।

ऋ० १।९२।१४ तथा साम० १७३२ का निम्न मंत्र भी इस विषय में उल्लेखनीय है जहां उषा के समान कान्तिमयी सुख में विशेष रूप से निवास कराने वाली अज्ञाननाशिनी स्त्री संबोधित करते

सहायिका होती है। वेदों में स्त्रियों के प्रति आदरभाव रखने का उपदेश देते हुए उनके लिये कहा है कि–

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः ॥

(अ० ११।१।१७ तथा २७)

अर्थात् ये स्त्रियां शुद्धा (बाह्य शरीरादि की दृष्टि से) पूता–पवित्रा मन और चित्त आदि की दृष्टि से। अतएव यज्ञिया पूजनीया हैं। यह कितनी पवित्र भावना है जिसका वेद हमें उपदेश देते हैं। खेद है कि अज्ञान और स्वार्थवश भारत तथा अन्य देशों में नारी की प्रायः उपेक्षा की गयी और उसे हीन दृष्टि से देखते हुए लोगों ने वेदों के अध्ययनादि के पवित्र अधिकार से भी वंचित कर दिया। वेदाध्ययन्, यज्ञ करना और कराना यहां तक कि अपनी विशेष योग्यता और उच्च संस्कृति के प्रभाव से यज्ञों में ब्रह्मा के सर्वोच्च आसन को ग्रहण करना (जैसे कि हम "स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ" ऋग्वेद ८।३३।१९ इत्यादि प्रमाणों से दिखा चुके हैं), इत्यादि धार्मिक ही नहीं, अपितु न्याय, राज्यशासनादि तक में स्त्रियों का पुरुषों के समान अधिकार वेदों में बताया गया है।

मूर्द्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा॥
यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥

(य० १४।२१ तथा २२)

इत्यादि मंत्र स्पष्टतया एक सुयोग्य स्त्री के राज्याभिषेक के समय उच्चारणायोग्य हैं। उस राज्ञी को इन मंत्रों में सारे राज्य का मूर्धा वा शिरः स्थानीय, ध्रुवा कर्त्तव्यपालन में स्थिर, धरुणा, धर्मी, धरणी, यन्त्री, यमनी अर्थात् सब प्रकार से राष्ट्र और प्रजा का धारण करने वाली, सब प्रकार से प्रजा को नियन्त्रण में रखने वाली कह कर अन्न, बल, ऐश्वर्य, पुष्टि, आयु, वर्च (तेज) कृषि और कल्याण की वृद्धि के लिये उसका राज्याभिषेक बताया गया है।

ये मन्त्र किसी स्त्री के राज्याभिषेक के समय बोलने के हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि यजुर्वेद के ९वें अध्याय में, जहाँ पुरुष के राज्याभिषेक का प्रकरण है, २२वाँ मन्त्र निम्नलिखित है–

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइयं ते राडयन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥ (य० ९। २२)

भूमि माता को नमस्कार हो। यह तेरा राज्य है। तू इसका नियन्ता

है। तू अपने कर्त्तव्य पालन में दृढ़ हैं। सबको धारण करने वाला हैं। कृषि के लिये, सबके कल्याण के लिये, ऐश्वर्य के लिये और सब प्रकार की पुष्टि की वृद्धि के लिये हम तेरा अभिषेक करते हैं। जैसे इस मन्त्र में यंता, यमनः ध्रुवः, धरुणः आदि पुलिंग वाचक शब्द हैं, वैसे ऊपर उद्धृत यजु० १४।२०-२१ मंत्रों में ध्रुवा, धर्त्री, धरणी, यमनी, धरित्री आदि स्त्री वाचक शब्द हैं, जो किसी स्त्री के राज्याभिषेक में ही बोले जा सकते हैं। शेष भाग लगभग समान है।

जैसे स्त्रियों का राज्याधिकार है, वैसे ही उनका न्याय शासन का अधिकार भी वेदों में स्थान-स्थान पर प्रतिपादित है। वेदों में तो यहां तक विधान पाया जाता है कि स्त्रियों का न्याय स्त्रियां ही करें। यह बात सर्वथा न्याय संगत प्रतीत होती है, क्योंकि स्त्रियां पुरुषों के सामने अपनी बातें खोल कर नहीं कह सकतीं और इस कारण पुरुष उनके साथ पूरा न्याय नहीं कर सकते।

ऋग्वेद १।१२६।७ में निम्नलिखित मंत्र इस विषय में आया है जिसमें इस विषय का स्पष्ट निर्देश है और साथ ही यह कहा गया है कि पुरुष स्त्रियों को कभी हीन दृष्टि से न देखें। मन्त्र निम्नलिखित है—

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥

(ऋ० १।१२६।७)

इस मंत्र का ऋषि दयानन्द सरस्वती ने निम्न रीति से भाष्य किया है—पुना राज्ञी किं कुर्यादित्याह—

हे पते राजन्! या अहं (गन्धारीणाम् इव अविका) पृथिवी राज्य धर्तृणां मध्ये रक्षिका (रोमशा) प्रशस्तलोमा (सर्वा) अस्मि तस्या मे गुणान् (परामृश) विचारय (मे) दभ्राणि अल्पानि कर्माणि (मा) (उपोप) अति समीपत्वे (मन्यथाः) जानीयाः ॥

भावार्थ—

राज्ञी राजानं प्रति ब्रूयात् अहंभवतो न्यनानास्मि। यथा भवान् पुरुषाणां न्यायधीशोऽस्ति तथाहं स्त्रीणां न्यायकारिणी भवामि। यथा पूर्वी राजपत्न्यः प्रजास्थानां स्त्रीणां न्यायकारिणयोऽभूवन् तथा अहमपि स्याम्॥

(ऋग्वेदसंहिता भाष्ये)

अर्थात् रानी राजा से कहती है कि आप भी मेरे गुणों का अत्यन्त

समीपता से विचार करें और मुझे कभी तुच्छ न समझें, न मेरे कर्मों को तिरस्कार की दृष्टि से देखें। मैं आपसे कम नहीं हूँ। जैसे आप पुरुषों के लिये न्यायकारी हैं, वैसे मैं भी स्त्रियों के लिये न्यायकारिणी होती हूँ। जैसे पहले राज पत्नियाँ प्रजास्थ स्त्रियों की न्यायकारिणी थीं वैसे मैं भी होऊँ। यहाँ स्त्रियों का पुरुषों के समान स्थान बताया गया है और उनका कभी अपमान न करने का आदेश है, जिसको आजकल सुसभ्य जगत् की देन माना जाता है। रानी का काम स्त्रियों का न्याय करना है अर्थात् मेजिस्ट्रेट वा जज का स्थान भी सुयोग्या स्त्रियों को दिया जाना चाहिये और उनको कभी तुच्छ न समझना चाहिये। यह कितनी उच्च व्यावहारिक शिक्षा मन्त्र में पति–पत्नी के संवाद रूप से दी गयी है। इसको पढ़ते हुए हमें तो सुप्रसिद्ध विचारक रस्किन के शब्दों का स्मरण हो आया कि—

"We are foolish and without excuse foolish in speaking of the superiority of the one sex to the other. Each completes the other and is completed by the other. The happiness and perfection of both depends on each taking and receiving from the other what the other only can give." (Sesame and Lilies by John Ruskin, P. 73)

अर्थात् हम पुरुष और स्त्री में से किसी एक को दूसरे से ऊँचा सिद्ध करने का यत्न करते हुए अक्षम्य मूर्खता करते हैं क्योंकि दोनों एक दूसरे की पूर्ति करने वाले हैं। दोनों की प्रसन्नता और पूर्णता एक दूसरे को यथा शक्ति देने और उससे लेने में है। इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट है कि वेदों के अनुसार पति पत्नी में उच्चता या नीचता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। हां पत्नी आयु, विद्या तथा अनुभव की दृष्टि से पति की अपेक्षा छोटी होती है, अतः उसे (सिवाय धर्म विरुद्ध आदेश के) पति की आज्ञा का पालन करना चाहिये और उसके साथ सदा विनय युक्त व्यवहार करना चाहिये। पति को भी अपनी धर्म पत्नी के साथ सदा प्रेम और आदर युक्त व्यवहार करना चाहिये क्योंकि वह उसकी सबसे बड़ी मित्र और जीवन संगिनी है। उसे कभी हीन दृष्टि से न देखना चाहिये।

प्रतिस्पर्धा नहीं सहयोग

किन्तु इसके साथ यह भी आवश्यक है कि स्त्रियों और पुरुषों में सच्चा हार्दिक सहयोग रहे, प्रतिस्पर्धा की भावना नहीं जो पारिवारिक सुख की घातिका है। पाश्चात्त्य देशों में थ्मउपदपदम के नाम से एक नारी आन्दोलन आरंभ किया गया था। इसका उद्देश्य यदि नारियों की अवस्था को सुधारना होता, तो इसमें कोई आक्षेप की बात न होती,

किन्तु खेद की बात है कि इस प्रकार के आन्दोलनों की जड़ में प्राय: पुरुषों के साथ प्रत्येक विभाग में प्रतिस्पर्धा (Competition) करके अपने को सिद्ध करने का भाव पाया जाता है। आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके यूरोप और अमेरिका की स्त्रियाँ प्राय: अपने पतियों की कुछ भी परवाह नहीं करती। जब मर्जी आती है वे घर से चली जाती हैं, जिसके साथ चाहे गले में हाथ डाल कर खुले बाजार तक में बातें करतीं, चूमती और पर पुरुषों के साथ नाचती हैं। जब फिर जी चाहता है वे घर वापिस आ जाती हैं। पति का यह पूछने का भी अधिकार नहीं समझा जाता कि उसकी पत्नी इतनी देर से क्यों आई। ये बातें इतनी सामान्य हो गयी हैं कि इन पर गंभीरता से आक्षेप करने का भी बहुत कम को साहस होता है। सच पूछा जाय तो पाश्चात्त्य देशों में स्त्रियों ने स्वतंत्रता नहीं, किन्तु लायसेंस वा स्वछन्दता प्राप्त कर ली है जिससे गृह जीवन का वास्तविक आनन्द कुछ अपवादों को छोड़ कर लुप्त सा होता जा रहा है। सदाचार, पत्नी व्रत और पतिव्रता धर्म का कितना ह्रास हो चुका है, इसके विषय में हम पाश्चात्य समाज शास्त्रियों के प्रमाण पहले उद्धृत करके दिखा चुके हैं। इसमें एक अति भयंकर बात यह है कि अमेरिका में जो एक प्रजातन्त्र राज्य है, एक नयी चीज चल रही हे जिसका नाम "Sexual Democracy" अथवा यौन प्रजातन्त्र है। इसका वर्णन सुप्रसिद्ध अमेरिकी पत्रिका टाइम्स (Times) ने जनवरी २४, १९६४ के "Sex in the U.S. Mores and morality" शीर्षक विशेषांक में इन शब्दों में किया गया है—

"In extra-marital sex, one of the chief trends is towards sexual democracy. Today's sexual adventuring seems to be among social equals, even if it means the best friend's wife or husband."

(Times 24th Jan. 1964)

अर्थात् विवाह के बाहर के यौन वा सम्भोग सम्बन्ध में एक मुख्य प्रवृत्ति यौन व मैथुनिक प्रजातन्त्र की ओर है। आज का मैथुनिक साहस सामाजिक दृष्टि से समानों के अंदर चलता प्रतीत होता है, चाहे इसका यह अर्थ हो कि वह अपने सबसे अच्छे मित्र की पत्नी वा पति के साथ हो।

हम यह लिखे बिना नहीं रह सकते कि यह स्वतन्त्रता नहीं। इसको स्वतन्त्रता कौन कह सकता है। यह उच्छृंखलता ही है। हाँ, हम यह अवश्य चाहते हैं कि स्त्रियों को किसी प्रकार के उच्च ज्ञान से केवल स्त्री होने के कारण वंचित न रखा जाये। विवाह सम्बन्ध निश्चयादि विषयक पर्याप्त स्वतन्त्रता उन्हें दी जाये। अपने कार्य क्षेत्र

को घर की चारदीवारी तक ही सीमित न रख के, गृह कार्य प्रसन्नता पूर्वक करते हुये योग्य स्त्रियों को सार्वजनिक कार्य करने का अवसर दिया जाये। आवश्यकता पुरुषों और स्त्रियों की प्रतिस्पर्धा और विरोध की नहीं, अपितु उनके पूर्ण हार्दिक सहयोग की है। इस विषय में "The Position of women in Indian Life". (भारतीय जीवन में स्त्रियों की स्थिति) नामक अपने ग्रन्थ की भूमिका में स्वर्गीया महारानी बड़ोदा ने जो कुछ लिखा था उससे हमारी पूर्ण सहमति है। उन्होंने लिखा था—

"What is required is not antagonism, but co-operation between the sexes, that woman needs the guidance of man to enable her to achieve the highest of which she is capable, as man needs woman's help and sympathy to aid him on his path through life."

("Position of Women in Indian Life")

अर्थात् आवश्यकता केवल स्त्री पुरुषों के सहयोग की है न कि विरोध की। स्त्री को अपनी योग्यता और शक्ति को विकसित करने के लिये पुरुष की और पुरुष को अपना जीवन मार्ग तय करने के लिये स्त्री की सहायता और सहानुभूति की आवश्यकता है, इसमें संदेह नहीं हो सकता।

स्त्री और पुरुष में से कौन संसार के लिये अधिक उपयोगी और श्रेष्ठ है, यह प्रश्न ही मूर्खता को सूचित करता है। दोनों एक दूसरे के पूरक (Complementary) हैं। पुरुष के अन्दर शक्ति है, वह अधिक क्रियाशील और संघर्ष प्रिय है। बाह्यविरोधी शक्तियों के साथ पुरुष जितनी योग्यता से लड़ सकता है, स्त्री साधारणतया उतनी अच्छी तरह से नहीं लड़ सकती। पर इसी से उसको तुच्छ समझना पागलपन है। घर के अन्दर एक माधुर्य युक्त शान्ति रखने, आन्तरिक प्रबन्ध करने तथा पारिवारिक विषयों में ठीक निर्णय करने की योग्यता पुरुषों में स्त्री की अपेक्षा कम पायी जाती है। निःस्वार्थ वृत्ति, प्रेम , दया, न्याय और उदारता की दृष्टि से स्त्रियाँ साधारणतया पुरुषों से अधिक बड़ी–चढ़ी होती है। वेदों में इसके सम्बन्ध में दो बड़े महत्त्वपूर्ण मन्त्र आते हैं जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है—

उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः॥

(ऋ० ५।६ १।६)

वि या जानाति जसुरिं वि तृष्यन्तं वि कामिनम्। देवत्रा कृणुते मनः॥

(ऋ० ५।६ १।७)

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है कि (उत त्वा स्त्री) एक स्त्री (पुंसः वस्यसी भवति) उस पुरुष से अधिक गुणों को अपने अन्दर बसाने वाली और प्रशंसनीय होती है जो (अदेवत्रात् अराधसः) ज्ञानी, विद्वानों की रक्षा न करने वाला और ईश्वराराधनादि पवित्र कर्मों से रहित है।

(या) जो पतिव्रता स्त्री (जसुरिम्) दरिद्रता से पीड़ित पुरुष को (तृष्यन्तम्) प्यास से पीड़ित पुरुष की और (कामिनम्) धन की कामना करने वाले अथवा उसकी लोकोपकारार्थ आवश्यकता वाले व्यक्ति को (विजानाति) विशेष रूप से जानती है। ऐसे भूखे प्यासे निर्धन व्यक्तियों पर दया करती हुयी, उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करती और (देवत्रा मनः कुरुते) देवाधि देव सर्व प्रकाशक परमेश्वर की आराधना में और पति देव में अपने मन को लगाती है, वह श्रेष्ठ होती है। इस प्रकार वेदों में स्त्रियों को जाति के रूप में हीन न मान कर उत्तम महिलाओं को श्रेष्ठ कर्म न करने वाले तथा ईश्वर विमुख पुरुषों से कई गुना उत्तम और प्रशंसनीय बताया है। जहां श्रेष्ठ गुण विद्यमान हों, वे सब यजनीय हैं इसमें पुरुषों और स्त्रियों का कोई भेद नहीं, यही वैदिक भावना है।

स्त्रियों का कार्य क्षेत्र

एक विचारणीय प्रश्न यह है कि स्त्रियों का कार्य क्षेत्र घर की चारदीवारी तक ही सीमित होना चाहिये अथवा इससे आगे बढ़कर समाज और राष्ट्र का भी उन्हें कोई विशेष कार्य करना चाहिये। वेदों के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर निम्न तथा अन्य मन्त्रों द्वारा मिलता है—

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥

(अ० ३।२८।३)

अर्थात् हे देवी तू (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (गोभ्यः) गौओं के लिये (अश्वेभ्यः) अश्वादि पशुओं के लिये (शिवा भव) कल्याण-कारिणी हो। (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय) इस सारे कार्य क्षेत्र के लिये (शिवा) कल्याणकारिणी हो। (इह) यहां (नः) हम सबके लिये (शिवा एधि) कल्याणकारिणी, शान्ति दायिनी हो।

यहां स्त्री को न केवल घर के सब पुरुषों, गौओं और पशुओं के लिये अपितु सारे कार्य क्षेत्र के लिये (वह उसकी योग्यता और शक्ति के अनुसार जितना भी विस्तृत हो सके) कल्याणकारिणी होने के

लिये कहा गया है।

घर का सारा कार्य तो स्त्री को प्रेम पूर्वक सदा करना ही चाहिये जिसमें घर की सफाई, भोजनादि व्यवस्था सम्मिलित है। संतान पालन, गौपालन तथा अन्य पशु पालन की ओर भी उसका ध्यान रहना चाहिये। इन कार्यों को करने के पश्चात् जो समय बचे, वह उसे जनता की सेवा के कार्यों में लगाने का प्रयत्न करना चाहिये।

दूसरा मंत्र जो इस विषय में मननीय है वह निम्नलिखित है :-

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥

(अ० १४।२।२७)

अर्थात् हे देवि (श्वशुरेभ्यः) श्वशुर आदि मान्य वृद्ध पुरुषों के लिये तुम (स्योना भव) सुख देने वाली बनो। (पत्ये) पति के लिये और (गृहेभ्यः) सब घर वालों के लिये (स्योना) सुखदायिनी बनो। (अस्यै सर्वस्यै विशे) इस सारी प्रजा के लिये (स्योना) तुम सुख देने वाली बनो और (एषाम्) इन सब राष्ट्र वासियों की—नर नारियों की (पुष्टाय) पुष्टि, उन्नति वा विकास के लिये तुम (स्योना भव) सुख देने वाली बनो।

इस मन्त्र के पूर्वार्ध में अपने घर के सब सम्बन्धियों के लिये सुखदायिनी होना, अपने प्रेममय विनय पूर्ण व्यवहार से उन्हें सुखी बनाना, यह स्त्री का कर्त्तव्य बताते हुये उत्तरार्ध में सारी प्रजा का कल्याण करना और सब राष्ट्रवासियों वा जनता की उन्नति में सहायता देना, यह भी स्त्रियों का कर्त्तव्य बताया गया है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इससे उन लोगों के विचार का समर्थन नहीं होता जो केवल घर का कार्य भली प्रकार कर लेना ही देवियों का धर्म मानते हैं। बिना सामाजिक वा राष्ट्रीय कार्य किये, देवियाँ कभी सारी प्रजा का कल्याण नहीं कर सकतीं, जैसे कि इस मन्त्र में उनको आज्ञा दी गयी है।

यह बात यहाँ विशेष रूप से स्मरणीय है कि—

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।

अर्थात् तुम अपने श्वशुरादि वृद्ध जनों, पति और घर के अन्य सब लोगों के लिये सुखदायिनी बनो, यह कह कर, उसके पश्चात् कहा गया है कि स्योनास्यै सर्वस्यै विशे।

इसका स्पष्ट आशय निकलता है कि विवाहिता स्त्रियों का प्रथम

और मुख्य कर्त्तव्य घर के सब सम्बन्धियों को अपने समुचित प्रेम विनयपूर्ण व्यवहार से सुख पहुँचाना है। किन्तु उनके कर्त्तव्य की इतने पर ही इतिश्री नहीं हो जाती। अतः गृह कर्त्तव्य पालन के अतिरिक्त समय उन्हें जनता के लिये कल्याणकारक कर्म करने में लगाना चाहिये। ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या स्त्रियों को अपने पतियों की अनुव्रता बनकर अध्यापन, वेद प्रचार, रक्षा और व्यापार में सहायता द्वारा अपने सामाजिक कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये। ब्राह्मणी देवियों को चिकित्सा द्वारा भी जनता की सेवा करनी चाहिये, जैसे कि ऋग्वेद ४।१६।१० में—

वि वां चिकित्सदृतचिद्ध नारी॥ (ऋ० ४।१६।१०)

इत्यादि मन्त्र द्वारा बताया गया है कि ऋत अर्थात् वेद और तन्मूलक चिकित्सा शास्त्र को जानने वाली स्त्री तुम्हारी राजा प्रजास्थजनों की (विचिकित्सत्) विशेष रूप से चिकित्सा करे। महिलाओं में शिक्षा प्रचार समाज-सुधार इत्यादि कार्य विदुषी स्त्रियों को विशेष रूप से करना चाहिये।

आर्थिक स्वतन्त्रता की समस्या

इसके साथ एक बड़ा प्रश्न उपस्थित होता है कि इस युग में स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिये पुरुषों द्वारा अमेरिका आदि में प्रबल नारी आन्दोलन चलाया गया जिसका एक बड़ा परिणाम यह हुआ कि न केवल स्त्रियों को पुरुषों के समान प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने का समान अधिकार प्राप्त हो गया है, अपितु आर्थिक स्वतन्त्रता तथा मताधिकारादि भी प्राप्त हो गये हैं। भारत में भी इस आन्दोलन का सुशिक्षिता, विशेषतः अंग्रेजी शिक्षिता महिलाओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। यह समझा जाता है कि जब तक स्त्रियों को पूर्ण रूप से आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त न हो जाये और वे अपने पैरों पर न खड़ी हो जायें, तब तक वे दासी के समान हैं तथा उनकी स्वतंत्रता नाम मात्र है। प्रश्न यह है कि इस विषय में वेदों का आदेश क्या है। हमें वेदों के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेद कन्याओं तथा विवाहित स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता का समर्थन नहीं करते। अथर्व० १४।१।५२ में निम्नलिखित सुप्रसिद्ध मंत्र आता है जिसका विवाह संस्कार के समय वर वधू को देखकर उच्चारण करता है—

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्॥

(अ० १४।१।५२)

इसका अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है कि (इयम्) यह (वधू) (मम पोष्या अस्तु) मेरी पोष्या–मेरे द्वारा पोषण करने योग्य पत्नी होवे (बृहस्पतिः) सब जगत् के पालन करने वाले परमात्मा ने (त्वा) तुझ को (मह्यम् अदात्) मुझे दिया है। (मया पत्या शतं शरदः सं जीव) मुझ पति के साथ तू सौ वर्ष पर्यन्त सुख पूर्वक जी। इस मन्त्र में वर स्पष्ट घोषणा करता है कि वधू उसकी पोषण योग्य पत्नी रहेगी। वह उसका पोषण करेगा। वह उसकी सब आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व निभाएगा। ऐसी अवस्था में स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त इसके साथ कैसे मेल खा सकता है? इसी भाव से वैदिक और लौकिक साहित्य में सर्वत्र पत्नी के लिये भार्या शब्द का प्रयोग पाया जाता है जिसका अर्थ भरण–पोषण करने योग्य है। पति भर्ता कहलाता है जिसका अर्थ भरण–पोषण करने वाला है। जिस पुरुष में अपनी धर्म पत्नी के भरण–पोषण का सामर्थ्य नहीं है, उसे विवाह करने का अधिकार ही नहीं। इसीलिये वर विवाह संस्कार के समय यह भी घोषणा करता है कि—

भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मेण अहं गृहपतिस्तव ॥

हे प्रिये, (भगः) ऐश्वर्य युक्त मैं (ते) तेरे (हस्तम् अग्रभीत्) हाथ को ग्रहण करता हूँ तथा (सविता) धर्म युक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे (हस्तम् अग्रभीत्) हाथ को ग्रहण कर चुका हूँ। (त्वम्) तू (धर्मेण) धर्म से मेरी (पत्नी) भार्या (असि) है और (अहम्) मैं धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूँ।

मन्त्र से यह स्पष्ट है कि ऐश्वर्य युक्त होकर और पत्नी के भरण–पोषण के सामर्थ्य से युक्त होकर ही पुरुष पाणिग्रहण करता है और इस बात की सबके सामने घोषणा करता है। पत्नी भार्या अथवा पोष्या है और वह गृहपति है जिसका गृहस्वामी होने के कारण पत्नी और परिवार का पोषण परम कर्त्तव्य है। वेदों का इतना स्पष्ट आदेश होते हुये कम से कम विवाहित स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता का सिद्धांत इसके सर्वथा प्रतिकूल है। आजकल पाश्चात्त्य नारियों के अनुकरण में भारत में भी स्त्रियों के लिये आर्थिक आंदोलन बहुत आवश्यक समझा जाने लगा है। पुरुषों के समान स्त्रियां भी शिक्षा प्राप्त करके अधिकतर स्वतंत्र रूप से नौकरी करना तथा अलग धन कमाना अपना अधिकार समझती है।

जिस प्रकार पत्नी के लिये पोष्या शब्द का प्रयोग होता है वैसे

पति के लिये पूषा शब्द का वेदों में प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ भरण-पोषण करने वाला है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद १०।८५ के विवाह सूक्त में कहा है—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि॥

(ऋ० १०।८५।२६)

इस मन्त्र के प्रथम चरण में पति को पूषा के नाम से पुकारते हुए कहा है कि (पूषा) तेरा भरण-पोषण करने वाला पति (हस्तगृह्या) तेरा हस्त ग्रहण करके (इतः) इस पितृगृह से (त्वा नयतु) तुझे ले जाये। शेष मन्त्र भाग के अर्थ की यहाँ आवश्यकता नहीं क्योंकि पहले प्रकरण में हम उसका उल्लेख कर चुके हैं।

इसलिए वेदों के अनुसार विवाहिता स्त्रियों का आर्थिक स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न अनुचित और दाम्पत्य सामञ्जस्य तथा सुख में बाधक है। इसमें परस्पर संघर्ष और कलह की संभावना बढ़ जाती है। सन्तान पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि जब माता-पिता दोनों अपनी-अपनी नौकरी पर चले जाते हैं, तो बच्चों को प्रायः नौकरों के सुपुर्द करना पड़ता है। इससे बच्चे गाली-गलौच देना तथा अन्य कुव्यसन सीख जाते हैं। ऐसी सन्तान अधिकतर नौकरों द्वारा पालित होने के कारण, माता-पिता की आज्ञाकारी भी नहीं रहती। थोड़े से मतभेद होने पर पत्नी अपना अलग रास्ता लेने की धमकी देती रहती है तथा इस बात का अभिमान करती है कि वह स्वावलम्बिनी है। उसको पति पर आश्रित रहने और उसकी आज्ञा मानने की आवश्यकता ही क्या है? इसका अन्त प्रायः सम्बन्ध-विच्छेद वा तलाक में होता है जो नितान्त अवाञ्छनीय है। जो आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई माता-पिता के घर में रहें, ऐसी कन्याओं को पिता की सम्पत्ति में अपने भाइयों के समान सम्पत्ति का अधिकार मिलना चाहिये जैसे कि श्री सायणाचार्य ने निम्न मन्त्रों को उद्धृत करके निरुक्त में दिखाया है—[अब कानून बनाकर सरकार ने पुत्रियों को पिता की सम्पत्ति में अधिकार दे दिया है।]

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो३ येन मामहः॥

(ऋ० २।१७।७)

ऐसी देवियाँ विद्या और धर्म के प्रचार तथा महिलाओं के उद्धार में अपने जीवन को समर्पित कर दें तो उनके द्वारा समाज का बड़ा

उपकार हो सकता है। इन्हें भी नौकरी के चक्कर में न पड़ना चाहिये अन्यथा यह बड़ी संभावना (विशेषतः आजकल के दूषित वातावरण में) है कि उनके लिये अपने चरित्र की पूर्णतया रक्षा करना कठिन हो जायेगा जैसे कि अनेक पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित समाचारों से सूचित होता है।

विधवाओं के विषय में उपर्युक्त विवेचन लागू नहीं होता। उनका पालन उनके मृत पति के परिवार वालों को करना चाहिये। यदि वे १८–२० वर्ष की आयु की सकामा महिलायें हों तो निम्न वेद मंत्रों के अनुसार, उनके नियोग वा पुनर्विवाह की भी व्यवस्था कर देना चाहिए।

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥

(अ० १८।३।१, तैत्ति० आ० ७।१।१३)

इसका अर्थ महामण्डलेश्वर स्वा० महेश्वरानन्द गिरि जी ने सकामा विधवा के पक्ष में इस प्रकार किया है—

हे (मर्त्य) मरण धर्मम् मनुष्य, (इयं) पुरोवर्तिनी (नारी) युवतिः सकामा स्त्री (पति लोकम्) पति गृहं, पति स्थानम् (वृणाना) सहधर्मचारिणीत्वेन संभजमाना (पुराणम्) पुरातनं (धर्मम्) प्रत्यक्षपति सहचार लक्षणं पाल्यन्ती (प्रेतम्) प्रकर्षेण इतम्–अस्माद् भूलोकाद् विनिर्गतम् (अनु) पश्चात् (त्वा) त्वाम् (उपनिपद्य ते) समीपं नितरां गच्छति (अतएव त्वं तस्यै सकामायै तव साहचर्यं प्राप्तायै) (प्रजाम्) पुत्रादिरूपां सन्ततिं (द्रविण च) प्रयच्छ अत्र किल मर्त्य संबोधनेन मृतः कथं सम्बोधयः स्यात् १. इह इति मनुष्य लोक बोधकवचनेन च प्रेतं पलित् अनु–पश्चात् त्वामन्यं योग्यं पतिं वृणाना इति योजना च सकामाया विधवायाः कृते स्पष्टता पुनर्विवाहः प्रतीयते। (चातुर्वर्ण्य–भारत समीक्षा पृ० १४६) मन्त्र का अर्थ इस प्रकार निकलता है। कि—

हे मनुष्य, यह युवती सकामा स्त्री पति को सहचारिणी रूप से चाहती हुई पुरातन धर्म का जो प्रत्यक्ष पति के साथ रहने का था पालन करती हुई अब उसके परलोक चले जाने पर तेरे समीप आती है। तू उस सकामा युवति (स्त्री)को पुत्रादि संतान तथा धन दे।

एक दूसरा मंत्र जिसको इस विषय में उद्धृत किया जा सकता है वह निम्नलिखित है—

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥

(ऋ० १०।१८।८, अ० १८।३२, तैत्ति० आ० ६।१।१४)

इसका श्री सायणाचार्य ने तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य में इस प्रकार वर्णन किया है–

हे (नारि) त्वम् (गतासुम्) गतपाणम् (एतम्) पतिम् (उपशेषे) उपेत्य शयनं करोषि (उदीर्ष्व) अस्मात् पति समीपादुत्तिष्ठ (जीव–लोकमभि) जीवन्तं प्राणिसमूहम् अभिलक्ष्य (एहि) आगच्छ त्वं (हस्तग्राभस्य) पाणिग्राहवतः (दिधिषोः) पुनर्विवाहेच्छोः (पत्युः) एतत् (जनित्वम्) जायात्वम् (अभिसंबभूव) आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि।

अर्थात् हे नारी, तू मृत पति के पास शयन कर रही है। इसके पास से उठ और जीवित प्राणी समूह की ओर आ जो तेरे साथ विवाह करना चाहता है। ऐसे युवक पुनर्विवाहेच्छु की तू पत्नी बन जा। यह आदेश आपद्धर्म के रूप में उन छोटी आयु की विधवाओं के लिये ही है जो ब्रह्मचर्य पूर्वक सारा जीवन बिताने में असमर्था हैं। प्रौढ़ा वा वृद्धा विधवाओं के लिये नहीं, यह निम्नलिखित मंत्र से स्पष्ट है।–

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्।
अन्धेन यत्तमसा प्रावृतासीत्प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम्।।

(अ० १८। ३। ३)

इसका स्वामी महेश्वरानन्द जी गिरि ने इस प्रकार भाष्य किया है–

(युवतिम्) यौवनमदोन्मत्तां (जीवाम्) जीवन्तीं ग्राम्यसुखेन सह जीवितुमभिलष्यन्तीं (मृतेभ्यः नीयमानाम्) त्यक्त प्राणेभ्यः–मृतपति सकाशादति दूरे प्राप्यमानां (परिणीयमानाम्) तत्प्रबलेच्छामनुरुध्यान्येन तरुणेन तया स्वीकृतेन पत्या सह परिणयेन–विवाहेन संयुज्यमानाम् अरुम् (अपश्यम्) पश्यामि अवलोकयामीत्यर्थः (यत्) यस्मात् या विधवानारी (प्राक्) (अन्धेन तमसा) अज्ञान शोकादि लक्षणेन प्रावृता प्रकर्षेण वेष्टिता समाक्रान्ता (आसीत्) (तत्) तस्मात् तामेनाम् (अपाचीम्) मृतपति सकाशात् अपाङ्मुखीम् पराङ्मुखीं कृत्वा अर्थात् अस्मदभिमुखीं (प्राक्तः) पूर्वदेशात्, प्रगतिशीलो वा (अनयम्) प्रापयामीत्यर्थः।। (चातुर्वर्ण्य–भारत समीक्षा पृ० १४८)

तात्पर्य यह है कि जो युवति–यौवन मद से उन्मत्ता स्त्री ग्राम्य सुख–संभोगादि से जीने की इच्छा रखती थी, उसे मैं मृत पति के पास से दूर ले जाती हुई और उसकी प्रबल इच्छा के अनुरोध से अन्य युवक पति द्वारा विवाहित होती हुई देखता हूं। इस प्रकार जो नारी पहले अज्ञान शोक इत्यादि रूप अन्धकार से बहुत अधिक आवृत थी,

उसको मृत पति से पराङ्मुख करके मैं प्रगतिशील युवक सुखमय अवस्था में प्राप्त कराता हूँ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आपद्धर्म के रूप में इस प्रकार के आदेश केवल सकामा युवतियों के लिये ही हैं। अधिक आयु की प्रौढ़ा व वृद्ध स्त्रियों के लिये नहीं जो साधारणतया २० से बड़ी आयु की ससन्ताना और काम वासना रहित महिलायें आदर्श मार्ग पर चलना चाहती हैं। वे यदि विवाह न करके लोक सेवा में लग जायें तो सबसे उत्तम है। उनके लिये उनके मृत पति के परिवार, समाज वा राष्ट्र को उचित व्यवस्था करनी चाहिये जिससे विद्या धर्म प्रचार और महिलोद्धार के पवित्र कार्य में वे अपनी विद्या, समय और शक्ति का सदुपयोग कर सकें। यह मान लेना कि यदि आर्थिक स्वतंत्रता नहीं तो स्त्री दासी के समान है, सर्वथा अशुद्ध है। भर्ता या पूषा के रूप में पति धन कमा कर पत्नी का भरण-पोषण करता है। और पत्नी उस धन का परिवार के पालन तथा शुभ कर्मों की सहायता के रूप में सदुपयोग करके पुण्य भागिनी बनती है। यदि वह मितव्ययिता से खर्च न करे तो धन की रक्षा और उसका सदुपयोग नहीं हो सकता। अतः उसका स्थान गृह में दासी का नहीं, अपितु गृहमंत्रिणी तथा अर्थमंत्रिणी का है जो बड़े प्रतिष्ठित पद हैं। जो पति स्वयं धन कमाने की शक्ति रखते हुये पत्नी को भी धन कमाने के लिये नौकरी करने को बाध्य करता है, वह उसके जीवन को संकट तथा चिन्तामय बनाता है और इस प्रकार पाप का भागी बनता है। पति धन कमाये और पत्नी सद्विनियोग द्वारा उसकी रक्षा करे, यह तो कार्य विभाजन है। इसमें पराधीनता वा दासता की कोई बात न समझनी चाहिये। यह आर्थिक स्वतंत्रता की कल्पित भावना अनेक दंपतियों के लड़ाई-झगड़ों और संबंध विच्छेद तक का कारण बन जाती है। वेद विरुद्ध होने के कारण भी यह सर्वथा अवांछनीय है।

दम्पती कलह-सम्बन्ध विच्छेद तथा सास-बहू कलह विषयक समस्या-

यदि वेदों के आदेशानुसार कन्या और पुरुष का विवाह क्रमशः १६ और २४ वर्ष की आयु से पूर्व न हो, दोनों पूर्ण सदाचारी और विद्या संपन्न हों तथा दोनों ने अपने हितैषी अनुभवी प्राप्त जनों की सहायता से एक दूसरे की भली प्रकार परीक्षा लेकर विवाह संबंध की स्वीकृति दी हो, तो वे सदा सुखी रहेंगे।

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽएमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥

(य० ३।४१)

भावार्थ—मनुष्यैः पूर्ण ब्रह्मचर्याश्रमं संसेव्य, युवावस्थायां स्वयंवर-विधानेन स्वतुल्य-स्वभाव विद्या रूप बलवतीं विद्याय सैवः साधनैः सद् व्यवहारेषु स्थातव्यम् ।। (यजुर्वेद भाष्ये दयानन्दर्षि कृते)

अर्थात् मनुष्यों को पूर्ण ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करके युवावस्था में स्वयंवर के विधान की रीति से अपने तुल्य स्वभाव विद्यारूप और बलवाली, अच्छे प्रकार से परीक्षिता स्त्री के साथ विवाह करके, शरीर और आत्मा के बल को सिद्ध कर और संतान को उत्पन्न करके सब साधनों से उत्तम व्यवहार में स्थित होना चाहिये।

कुदा चुन स्तुरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन्भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यतऽआदित्येभ्यस्त्वा ।।

(य० ८।२)

भावार्थ—विवाह कामनया युवत्या स्त्रिया यश्छलकपटाचरणरहितः सत्यभाव प्रकाशक एक स्त्रीव्रतो जितेन्द्रिय उद्योगी धार्मिको दाता विद्वान् भवेत्, तमुपयम्य नितरामानन्दितव्यम्।।

(यजुर्वेद भाष्ये दयानन्दर्षि कृते)

अर्थात् विवाह की कामना से युवति स्त्री को चाहिये कि जो छल कपट के आचरण से रहित, सत्य भाव का प्रकाशक, एक पत्नी-व्रत, जितेन्द्रिय, उद्योगी, धार्मिक, दाता, विद्वान् हो, उसके साथ विवाह करके सदा आनन्दित होना चाहिये।

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे।
अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ ।।

(ऋ० ५।२।१)

भावार्थ—यदि कुमाराः कुमार्यश्च ब्रह्मचर्येण विद्यामधीत्य पूर्णायां युवावस्थायां स्वयंवरं विवाहं कृत्वा सन्तानोत्पत्तिं कुर्वन्ति, तर्हि ते सदा आनन्दिताभवन्ति ।। (ऋग्वेद भाष्य दयानन्दाषकृत)

अर्थात् यदि कुमार और कुमारियां ब्रह्मचर्य से विद्या को पढ़कर पूर्ण युवावस्था में स्वयंवर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करें तो वे सदा आनन्दित होते हैं। यह खेद की बात है कि अब न भारत में और न विदेशों में लोग प्रायः इन नियमों का पालन करते हैं। ब्रह्मचर्य की पद्धति का ही प्रायः लोप हो गया है। भारत में छोटी आयु के बालक-बालिकाओं के भी विवाह हो जाते थे जिनके बहुत भयंकर परिणाम सामने आये हैं। ये वैदिक आदर्श के सर्वथा विरुद्ध थे।

वैदिक स्वयंवर के आदर्श से तो हमारे देश वासी अभी कोसों दूर हैं। अनमेल विवाह भी बहुत होते हैं। क्योंकि कल्पित जन्म मूलक

जाति भेद की प्रथा के कारण चुनाव का क्षेत्र बड़ा सीमित हो जाता है। परिणाम यह है कि वेदों में जो परस्पर प्रसन्नतामय जीवन बिताने का वर्णन आता है, वह चरितार्थ होते नहीं दीखता। प्रायः परिवारों में पति पत्नी में कलह दिखाई देती है जिसका बुरा प्रभाव बच्चों पर पड़ता है और वे माता–पिता के आज्ञाकारी नहीं रहते हैं। वेदों में वर–वधू को संबोधित करते हुए, यह उपदेश दिया गया है:–

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥

(ऋ० १०।८५।४२)

हे स्त्री और पुरुष, मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूं कि जो तुम्हारे लिये विवाह के समय प्रतिज्ञा हो चुकी है, जिसको तुम दोनों ने स्वीकार किया है (इहैव), इसी में (स्तम्) तत्पर रहो। (मा वियौष्टम्) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होवो और एक दूसरे से अलग न होवो—सम्बन्ध विच्छेद न करो। (विश्वामायुः अश्नुतम्) ऋतु गामी हो के सम्पूर्ण आयु जो १०० वर्ष से कम नहीं है, उसको प्राप्त होवो। पूर्वोक्त धर्म रीति से (पुत्रैर्नप्तृभिः क्रीडन्तौ) पुत्रों और नातियों के साथ क्रीड़ा करते हुए (स्वस्तकौ), उत्तम गृह वाले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीति पूर्वक वास करो।

किन्तु दुःख की बात है कि अब तथाकथित सभ्य देशवासियों का अनुकरण करते हुए हमारे इस पवित्र देश में भी सम्बन्ध विच्छेद वा तलाक को कानूनी रूप दिया जा चुका है। आजकल की पाश्चात्त्य शिक्षा प्राप्त स्त्रियाँ भी इसका पर्याप्त संख्या में उपयोग कर रही है।

यह बीमारी यूरोप, अमेरिका की तरह हमारे देश में भी फैलती जा रही है जिसको रोकना हमारा कर्त्तव्य है। आवश्यकता इस बात की है कि वैदिक आदेशानुसार सब देशवासी अपने जीवनों को बनावें, बाल्य विवाह की प्रथा सर्वथा बंद हो। १६ और २५ वर्ष की आयु से पूर्व कन्याओं और पुरुषों के विवाह की अनुमति न हो, विवाह सम्बन्ध का निश्चय वर–वधू की भली–भांति परोक्ष में आप्त नर–नारियों द्वारा परीक्षा करवा कर और उनकी अनुमति से हो, पति–पत्नी एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता और उदारता पूर्ण व्यवहार करें। एक दूसरे की त्रुटियों को प्रेम पूर्वक दूर करने का दोनों प्रयत्न करें। वे एक दूसरे का तिरस्कार व अपमान न करें और न ही अन्यों के सामने त्रुटियों को कहते फिरें। दोनों का व्यवहार परस्पर प्रेम और विश्वास पर आधारित हो।

बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते ॥ (मन्त्र ब्राह्मणे)

के अनुसार वे सत्य की गांठ से एक दूसरे के मन और हृदय को बाँध ले। दोनों सदा प्रिय और सत्य वाणी का प्रयोग करें। यही बातें विदेशवासी नर नारियों पर भी लागू हैं जिनमें दुर्भाग्यवश तलाक की बीमारी बहुत अधिक फैली हुई है। बहुत थोड़े से मतभेद होने पर भी वहाँ तलाक की नौबत आ पहुँचती है। यहाँ तक कि यदि पति-पत्नी में से किसी को खर्राटें मारने (Snoring) की आदत है, तो इस आधार पर भी तलाक का आवेदन पत्र दे दिया जाता है। स्वभाव की प्रतिकूलता का तो एक ऐसा कारण है जो किसी समय भी संबंध विच्छेद के लिये प्रस्तुत किया जा सकता है। थोड़े मतभेद वा उग्रता को सहन करना सीखना चाहिए। विशेषतः स्त्रियों में पृथिवी के समान क्षमा और सहिष्णुता का गुण अवश्य होना चाहिये। वेदों में स्त्रियों को पृथिवी के समान क्षमाशीला तथा सहिष्णु और "आपः" जल के समान शान्त स्वभाव वाला बताया गया है।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥

(य० ३६।१४।१५)

इत्यादि मन्त्रों में "आपः" से न केवल जलों किन्तु "जल वच्छान्ति शीला विदुष्यः" (दयानन्दर्षिभाष्ये) जल की तरह शान्त स्वभाव वाली विदुषियों का ग्रहण करते हुए उन्हें पति आदि के लिये सुखकारिणी होने का उपदेश है। साथ ही उनके आनन्द वर्धक स्नेह रूप रस का "शिवतमोरसः" शब्द से ग्रहण किया गया है।

कइयों के मन में यह शंका होती है कि हमारे भारत में तो विवाह छोटी आयु में और वर वधू की अनुमति के बिना भी हो जाते हैं। इसलिये यदि पति-पत्नी में कलह हो तो आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु यूरोप अमेरिका आदि पाश्चात्त्य देशों में तो विवाह यौवन में होते हैं और दोनों एक दूसरे को जान कर विवाह करते हैं, फिर वहाँ सम्बन्ध विच्छेदादि इतनी अधिक संख्या में क्यों होते हैं? क्या उनमें स्वयंवर की विधि प्रचलित नहीं? इसके उत्तर में हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि उन देशों में जो कोर्टशिप वा स्वच्छन्द विवाह की प्रथा प्रचलित है, उसमें और वैदिक स्वयंवर विधि में आकाश पाताल का अन्तर है। उन लोगों में विवाह को धार्मिक संस्कार नहीं बल्कि अधिकतर एक सामाजिक ठेका (Social Contract) समझा जाता है, प्रायः भोग विलास को ही एक मात्र विवाह का उद्देश्य माना जाता है।

सदाचार और नैतिक जीवन का भी भौतिक वाद के कारण ह्रास हो रहा है। इन तथा अन्य कारणों से जिनका पश्चिम देशों में तलाक की बढ़ती दर पर खेद प्रकट करते हुए तथा इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए श्री डब्लू० एम० फेली नामक विचारशील लेखक W.H. Faley ने Encyclopedia of religion & Ethics में अपने Divorce विषयक लेख में उल्लेख किया है कि—

"The increase of wealth and luxury and the growth of a spirit of self-indulgance so characteristic intellectual unrest, tend to encourage the demands for a wider extension of the facilities for divorce. Impatience of old fashioned restraints and a certain loosening of old established bonds are the natural characteristics of an age like ours. Those who realise how much the stability and and sanctity of home life depend on the unbroken firmness of the marriage ties, and who recognise that the frequency of divorce must have a degrading effect upon individual character as well as on society in general, naturally regard with some anxiety, the tendency in the present day to make divorce easier and more common. It is undoubtedly necessary for the Christian Church to make resolute protest against this tendency."

(Encyclopedia of Religion & Ethics Vol. I, P. 441)

धन और विलास सामग्री की वृद्धि

भोग शक्ति की भावना की अधिकता (जो वर्तमान युग की एक बड़ी विशेषता है) और इसके साथ अति व्यापक बौद्धिक असंतोष संबंध विच्छेद वा तलाक को प्रोत्साहित करते हैं। पुराने ढंग के या दकियानूसी प्रतिबन्धों के विषय में अधीरता तथा पुरातन परस्परागत बंधनों की शिथिलता हमारे जमाने की स्वाभाविक विशेषतायें हैं। जो इस बात को अनुभव करते हैं कि गृहस्थ जीवन की स्थिरता और पवित्रता वैवाहिक बंधनों की अविच्छिन्न दृढ़ता पर कितनी निर्भर है, तथा जो यह अनुभव करते हैं कि तलाकों का वैयक्तिक चरित्र और समाज पर पतन कारक प्रभाव होता है, तलाकों को अधिक सुगम और सामान्य बनाने की आधुनिक प्रवृत्ति को चिन्ता के साथ देखते हैं। ईसाई चर्च के लिये निःसंदेह यह आवश्यक है कि इस प्रवृत्ति के विरुद्ध निश्चयात्मक प्रतिवाद करे।

आवश्यकता इस बात की है कि जिन कारणों से पति–पत्नी कलह उग्रता धारण करके अन्त में सम्बन्ध विच्छेद की माँग में

परिणत हो जाते हैं, उन्हें दूर करने का सब समाज हितैषी सदा निरन्तर प्रयत्न करते रहें। वे प्रधान कारण निम्नलिखित हैं।—

१. **व्यभिचार**—पति का पर पत्नी या कन्या के साथ और पत्नी का पर पुरुष के साथ अनुचित सम्बन्ध।

जैसे कि हम दिखा चुके हैं वेदों के अनुसार यह महापाप है।

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।

(ऋ० १०।५।६)

इस मंत्र में जो सात मर्यादायें—मनुष्यों को खाने वाले [मर्यान् अदन्तीति मर्यादाः] सात महापाप बताये गये हैं और जिनमें से एक को भी करने वाला पापी बनता है, उनमें व्यभिचार भी है। यजु० ११।३९ के—

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम्।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम्॥

(य० १०।३९)

इस मंत्र का भाषा भावार्थ ऋषि दयानन्द सरस्वती ने इन शब्दों में दिया है—

पूर्ण जवान पुरुष जिस ब्रह्मचारिणी कुमारी कन्या के साथ विवाह करे, उसके विरुद्ध कभी कोई काम न करे। जो कन्या पूर्ण युवति स्त्री जिस कुमार ब्रह्मचारी के साथ विवाह करे, उसका अनिष्ट भी मन में न विचारे। इस प्रकार दोनों परस्पर प्रसन्न हुए प्रीति के साथ घर कार्य संभाले। (य० ११।३९ भाषा भाष्य)

पति पत्नी के मन से भी एक दूसरे के अनिष्ट न सोचने का वैदिक आदेश कितना महत्त्वपूर्ण है। यदि इसके अनुसार दंपती व्यवहार करें, तो संबंध विच्छेद का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

कहां तो वेदों के इतने उत्तम पत्नी व्रत और पति व्रता धर्म के बोधक उपदेश और कहां यूरोप के डॉ० अलैक्स कम्फर्ट जैसे वैज्ञानिक लेखक का British Broadcasting Corporation (ब्रिटिश आकाशवाणी संघ) लंदन की ओर से प्रसारित भाषण में यह कहना कि—

"I see no reason why a man should not have a mistress as well as a wife". (Dr. Alex Comfort).

अर्थात् मुझे कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि एक मनुष्य को अपनी पत्नी के साथ एक वेश्या वा रखैल भी क्यों न रखनी चाहिये। यह कितना आकाश-पाताल का अंतर है। ऐसे विचारों से व्यभिचार

को कितना प्रोत्साहन मिलता है इनसे दाम्पत्य संबंध में कितनी कटुता उत्पन्न हो सकती है, उसकी कल्पना पाठक गण स्वयं कर सकते हैं।

२. संबंध विच्छेद का दूसरा प्रधान कारण पति पत्नी का क्रोधावेश में वा बुरे स्वभाव के कारण कर्कश अप्रिय चुभने वाले शब्दों का एक दूसरे के लिये प्रयोग करके पारिवारिक शान्ति का भंग करना है।

यदि सब देशों के नर–नारी वेदों के आदेशानुसार सत्य प्रिय और मधुर वाणी के प्रयोग का अभ्यास करें, और इस प्रकार की उत्तम वाणी को एक विभूति वा उत्तम ऐश्वर्य समझने लगें, जैसे कि ऋग्वेद १।३०।५ तथा सामवेद म० १६०० में

विभूँतिरस्तु सूनृतां॥ (ऋ० १।३०।५, सा० १६००)

इन शब्दों द्वारा उपदेश दिया गया है, तो दाम्पत्य कलह और संबंध विच्छेद के एक बड़े कारण का उच्छेद हो जाये। इसलिये जहां पत्नी के लिये यह वैदिक उपदेश है कि वह प्रियवादिनी तथा पति के लिये मधुमती शान्तिदायिनी वाणी का ही सदा प्रयोग करने वाली हो।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्॥ (अ० ३।३०।२)

वहां पति के लिये भी उपदेश है कि–

चारुं संभलो वदतु वाचमेताम्॥ (१४।१।३१)

(संभल:) पत्नी का अच्छी प्रकार से भरण–पोषण करने वाला पति [एतां चारुवाचं वदतु] इस उत्तम वाणी को सदा बोले। सत्य वचन तो सदा पति पत्नी को बोलना ही चाहिये, किन्तु इसके साथ ही वेद भगवान् कहते हैं कि–

ऋतस्यं जिह्वा पंवते मधुं प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या अदांभ्यः॥

(ऋ० ९।७५।२, सा० ७०१)

सत्यवादी की वाणी प्रिय मधु बहाती है।–प्रिय मधुर शब्दों का उच्चारण करती हैं। इस उत्तम सत्य और मधुर वाणी तथा शुद्ध बुद्धि का जो पालक होता है, वह अहिंसनीय बन जाता है। क्रोध के आवेश में भी मनुष्य अनुचित कठोर, अप्रिय शब्दों का प्रयोग कर बैठते हैं। अत: जहां स्त्री के लिये विशेष रूप से आज्ञा है कि–

मृदुर्निर्मन्यु: केवली प्रियवादिन्यनुव्रता॥ (अ० ३।२५।४)

अर्थात् तुम जहां मृदु–कोमल स्वभाव की होवो, वहां मन्यु अर्थात् क्रोध से सर्वथा रहित होवो, पूर्णतया पतिव्रता, प्रिय वादिनी

और पति की अनुव्रता बनो। मन्यु का प्रयोग वेदों में कहीं-कहीं अच्छे अर्थों में भी किया गया है, किन्तु बहुत से नर नारी मन्यु और क्रोध में जो सूक्ष्म भेद है, उसको न समझते हुये अपने क्रोध को भी मन्यु मानते हुए उसका परित्याग नहीं करते। अतः मंत्र में पति के विषय में मन्यु को भी न रखने का आदेश पत्नी के लिये दिया गया है। पुरुषों और स्त्रियों के लिये सामान्य वैदिक उपदेश यह है कि-

उग्रं वचो अपावधीः ॥ (सा० ३५३)

अर्थात् हे शान्ति के अभिलाषी मनुष्य, तू कठोर वचन का सर्वथा परित्याग कर दे। उस कठोर वचन की आदत को मार डाल।

इसके अनुसार आचरण करने से न केवल पति-पत्नी को अपितु सास-बहू के झगड़ों की भी (जो भारत में एक भयंकर पारिवारिक समस्या बनी हुई है) समाप्त हो सकती है। इस प्रकार के झगड़ों का कारण या तो सास की ओर से कठोर अप्रिय तीखे चुभने वाले तानों से भरे शब्दों का प्रयोग होता है, या अविनीत अभिमानिनी बहू की ओर से। यदि वेदों के अनुसार बहू इस कर्त्तव्य का पालन तत्परता से करती रहे जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है कि-

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः ॥
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान्विशेमान् ॥ (अ० १४।२।२६)

वधू को उत्तम मंगल युक्त गुणों और लक्षणों से संपन्न होकर गृह के सब सदस्यों को आपत्तियों और कष्टों से पार ले जाने वाली, पति, ससुर, सास सबके लिये उत्तम सुख देने वाली होकर घर में प्रवेश करना चाहिये, तो वह अपने सारे व्यवहार को सच्चे माधुर्य, प्रेम और नम्रता से भरने का प्रयत्न करेगी जिससे सब उससे प्रसन्न और संतुष्ट रहेंगे। सास को भी अपनी पुत्र वधू के साथ अपनी पुत्री के समान प्रेममय व्यवहार करना चाहिये। और उसको गृहकार्य की शिक्षा देकर उसे वेद के आदेशानुसार गृह पत्नी और वशिनी बनाने में संकोच न करना चाहिये। उसे घर के मामलों में व्यर्थ हस्तक्षेप न करते हुये पौत्र के उत्पन्न होने पर वानप्रस्थ की दीक्षा लेकर ध्यान, भजन, स्वाध्याय और प्रवचनादि में अपना समय लगाना चाहिये। इस आश्रम मर्यादा के पालन से सास बहू के कलह की समस्या का सुगमता से समाधान हो सकता है।

३. पारिवारिक कलहों और तलाकों का एक बड़ा कारण पति-पत्नी के पारस्परिक व्यवहार की कठोरता अथवा असह्य दुर्व्यवहार भी होता है। वेदों का तो आदेश है कि-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
(अ० ३।३०।१)

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥
(अ० ३।३०।४)

अर्थात् मैं ईश्वर तुम सबके हृदयों और मनों को मिलाता और तुम्हारे अन्दर अविद्वेष की भावना उत्पन्न करता हूँ। तुम सब आपस में ऐसे प्रेम करो जैसे गौ नवोत्पन्न बछड़े के साथ प्रेम करती है।

मैं उत्तम परस्पर मिलाने वाले ज्ञान को तुम सब गृहवासियों के लिये देता हूँ जिसको पाकर देव-सत्य निष्ठ विद्वान् कभी परस्पर विरोध नहीं करते और न कभी द्वेष करते हैं।

इसके अनुसार यदि संसार के गृहस्थ नर-नारियों का प्रेम मय जीवन बन जाये तो पारिवारिक कलहों का अंत हो जाये। किन्तु अज्ञान, स्वार्थ, क्रोधादि के अधीन होकर परिवार के लोगों का कभी-कभी ऐसा कठोर व्यवहार हो जाता है जिसे पैशाचिक वा राक्षसीय कहा जा सकता है।

अतः कठोरता के सर्वथा परित्याग और सहृदयता तथा सामंजस्य पूर्वक परस्पर व्यवहार के लिये वेदों की आज्ञा है जिसके अनुसार आचरण करने से ही सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है। अथर्ववेद १९।९।१४ के शान्ति सूक्त में इसीलिये कहा है कि-

यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः॥
(अ० १९।९।१४)

इस परिवार, समाज, राष्ट्र वा संसार में जो कुछ घोर (भयंकर) क्रूर (निर्दयता और कठोरता पूर्ण) जो कुछ पाप है, वह सब शान्त हो जाय, वह दूर होकर कल्याणकारी हो जाये और इस प्रकार सब कुछ हमारे लिये शान्ति दायक हो जाये।

नपुंसकता अथवा बन्ध्यात्व

पति पत्नी कलह और तलाक का एक कारण पति की नपुंसकता और पत्नी का बन्ध्यात्व भी होता है। अतः वेदों में नपुंसकत्व तथा बन्ध्यात्व को दूर करने के लिये अनेक ओषधियों और प्रबल भावनाओं का अनेक स्थानों पर निर्देश किया गया है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में जो वाजीकरण औषधियों का वर्णन है जो वीर्य वर्धक और नपुंसकता नाशक हैं, उनका मूल स्पष्टतया वेदों में पाया जाता है। विशेषतः

अथर्ववेद में इस प्रकार के नपुंसकता तथा बन्ध्यात्व नाशक ओषधियों का प्रतिपादन करने वाले तथा वाजीकरण का निरूपण करने वाले अनेक सूक्त हैं, जिनमें से कुछ मंत्रों का हम प्रसंगवश निर्देश करते हैं।

अपामार्ग औषधि के विषय में अथर्व० ४।१७ में कहा है—

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥

(अ० ४।१७।६)

अर्थात् हे अपामार्ग ओषधे, तेरे द्वारा हम क्षुधा को मारने वाले, रोग-अग्नि मान्द्य को, तृष्णा वा प्यास को मारने वाले रोग-वमन रोग को (अगोताम्) बन्ध्यात्व को (अनपत्यताम्) अपत्य न होने वा संतान स्तम्भन रोग को—इन सबको हटाते हैं।

इस प्रकार नपुंसकत्व और बन्ध्यात्व की चिकित्सा के लिये अपामार्ग ओषधि के सेवन का यहां उपदेश दिया गया है। अगोताम् से बन्ध्यात्व के ग्रहण का स्पष्ट प्रमाण स्वयं वेद में मिलता है।

तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव॥

(अ० ३।२३।४)

मन्त्र में प्रसव करने वाली स्त्री को धेनुका वा गौ कहा गया है। अतः प्रसव करने में असमर्था बन्ध्या को अगौः बन्ध्यात्व को अगोता कहते हैं। अन्य वैद्यक ग्रन्थों में भी अपामार्ग के इस गुण का प्रतिपादन है यथा दत्तात्रेय तन्त्र में कहा है—

गृहीत्वा शुभनक्षत्रे, त्वपामार्गस्य मूलकम्।
गृहीत्वा लक्षणामूलमेक वर्णा गां पयः॥
पीत्वा सा लभते गर्भं, दीर्घजीवी सुतो भवेत्॥

(दत्तात्रेय तन्त्रे)

यहां अपामार्ग की जड़ को एक रंग वाली गौओं के दूध के साथ पीस कर पीने से दीर्घ जीवी संतान प्राप्त होती है। सन्तान स्तम्भरोग को दूर करने के लिये भी इन्द्र जाल-सुख प्रसव योग में कहा है कि—

अपामार्गस्य मूलं तु, ग्राहयेच्चतुरंगुलम्।
द्वारिप्रवेशयेद् या नौ, तत्क्षणात् सो प्रसूयते॥

(इन्द्र जाले)

यहाँ भी अपामार्ग की जड़ को योनि द्वार में प्रवेश कराने से सुख पूर्वक प्रसूति बताई गई है।

अथर्व वेद ४।४ के—

यां त्वा गन्धर्वो अखनद्वरुणाय मृतभ्रजे।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम्॥
उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः।
उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना॥

(अथर्व० ४।४।१-२)

इत्यादि मंत्रों में वृषा नामक ओषधि का वर्णन है जो वीर्यदोष नाशक तथा वाजीकरण है। इसे कपिकच्छु (कौंच) भी कहते हैं। वृषा–कपिकच्छौ (वैद्यक शब्द सिन्धो) आयुर्वेदिक निघन्टु में भी वृषा वा कपिकच्छु के विषय में कहा है–

कपिकच्छुर्लघुः शीता, वृष्या पित्तानिलापहा।
सिघ्मातिसारहन्त्री च, वन्ध्यानां चाप्यपत्यदा॥

(शौ० निघंटु)

यहाँ कपिकच्छु को बन्ध्यात्व को दूर करके संतानप्रद कहा गया है।

मंत्र में प्रयुक्त वृषा से अश्वगन्धा ओषधि का भी ग्रहण किया जा सकता है। यह भी वाजीकरण है और इसे वृषः इस नाम से भी कहते हैं, जैसे कि कैयदेव निघंटु में लिखा है–

अश्वगंधा कुष्ठा गन्धा, हयाश्वाश्वरोहकः।
वराहकर्णी गोकर्णी, सुरगा वरदा वृषः।
अश्वगंधा कष्ययोष्णा, तिक्ता वृष्या रसायनम्॥

(केयदेव निघण्टु)

अथर्ववेद ६।७२ में अर्क अथवा आक के द्वारा नपुंसकता की चिकित्सा का वर्णन

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु॥

(अ० ६।७२।१)

इत्यादि मन्त्रों द्वारा किया गया है जिनमें कहा है कि जैसे कृष्ण सर्प शरीर के अंगों को अपने हर्ष भावों के अनुसार करता हुआ (असुरस्य मायया) प्राण की क्रिया–श्वास शक्ति से फैलाता है, ऐसे ही तेरे (शेपः) प्रजननांग को यह (अर्कः) आक (सहसा) बल से (अंगेन अंग संसमकं कृणोतु) अंग से अंग को समान भाव युक्त करे।

अर्क वाजीकरण अथवा वीर्य वर्धक है। यह वैद्यक ग्रन्थों में भी कहा है यथा कैयदेव निघंटु में लिखा है "अलर्क कुसुमं वृष्णाम्" (कै० नि०) काम रत्न में लिखा है–

पुष्योद्धत पिबेन्मूलं, श्वेतार्कस्य प्रयत्नतः।
सप्तरात्र तु गो क्षीरैर्वृद्धोऽपि तरुणायते॥

(कामरत्ने, वाजीकरणे २-३)

श्वेत आक की जड़ गौ के दूध के साथ पीने से वाजीकरण लाभ होता है और वृद्ध भी युवा के समान हो जाता है।

बन्ध्यात्व की चिकित्सा अथर्व ३।२३ में वर्णित है।

जिसमें कहा है–

येन॑ वे॒हद् ब॒भूवि॑थ ना॒शया॑मसि॒ तत्त्वत्।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॑ दू॒रे नि द॑ध्मसि॥

(अ० ३।२३।१)

अर्थात् हे स्त्री, जिस कारण से तू (वेहत्) गर्भ पातिनी बन्ध्या हो गयी है, उसे तुझसे हम नष्ट करते हैं। इस दोष को तेरे से अन्यत्र दूर हटाते हैं।

यानि॑ भ॒द्राणि॒ बीजा॑न्यृष॒भा ज॒नय॑न्ति च।
तैस्त्वं पु॒त्रं वि॑न्दस्व॒ सा प्र॒सूर्धेनु॑का भव॥

(अ० ३।२३।४)

(ऋषभाः) ऋषभक आदि ओषधियां (यानि) जिन (भद्राणि बीजानि) उत्तम गर्भ बीजों को (जनयन्ति) उत्पन्न करती हैं, (तैः) उनसे (त्वं पुत्रं विन्दस्व) तू पुत्र को प्राप्त कर (सा) वह तू (प्रसूः) (धेनुका भव) प्रसव करने वाली गौ की तरह बन। इस मंत्र में ऋषभ ओषधि का वर्णन है। अष्ट वर्ग की ऋषभक ओषधि का नाम ऋषभ है। ऋषभक में गर्भ शक्ति देने के गुण हैं।

जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ, हिमाद्रि शिखरोद्भवौ।
ऋषभोवृषभोधीरो विषणी, द्राक्ष इत्यपि॥

(भावप्रकाश निघंटौ)

ऋषभको मधुरः शीतो गर्भसन्धानकारकः।
शुक्राधातु कफानां च, कारको बलदायकः॥

(निघंटु रत्नाकरे)

इन वचनों में ऋषभक ओषधि को ऋषभ कहा है और उसे गर्भ

शक्ति देने वाली भी बताया है।

कृणोमिं ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भं एतु ते।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव॥

(अ० ३।२५।५)

हे स्त्री तेरे लिये (प्रजापत्यं कृणोमि) प्रजापति कर्म संतानोत्पादक कर्म करता हूं। (ते योनिं गर्भम् एतु) तेरे गर्भाशय में गर्भ प्राप्त हो (त्वं पुत्रं विन्दस्व) तू पुत्र को प्राप्त कर। (यः तुभ्यं शम् असत्) जो तेरे लिये कल्याण कारक हो और (त्वं तस्मै शम् भव) तू भी अवश्य उसके लिये कल्याण साधिका हो।

अथर्व० ६।११ में बन्ध्यात्व और नपुंसकत्व, दोनों को दूर करके दोनों में गर्भ धारण करने, कराने के उपाय बताते गये हैं। जिसको गर्भ धारण चिकित्सा कह सकते हैं। उसमें मंत्र है–

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि॥

(अ० ६।११।१)

(अश्वत्थः) जो पीपल वृक्ष (शमीम् आरूढः) शमी वृक्ष पर आ रूढ़ हुआ–शमी के ऊपर बन्दा रूप में उगा हुआ है (तत्र), उस ऐसे बन्दे रूप पीपल वृक्ष में (पुंसवनं कृतम्) पुंसवन किया गया है। (वै) निश्चय से (तत् पुत्रस्य वेदनम्) वह पुत्र प्राप्ति का साधन है। (तत् स्त्रीषु आभरामसि)। उसे स्त्रियों के निमित्त लाते हैं।

इस मंत्र में अश्वत्थ बन्दा (पीपल बन्दा) को गर्भ धारण या सन्तान प्राप्ति का साधन बताया है। काम रत्न नामक ग्रन्थ में भी लिखा है कि–

अश्वत्थस्यतु वन्दकं, पूर्वेद्युः सुनिमन्त्रितम्।
ऋतु स्नाने तु पीतं स्यादपि बन्ध्या लभेत् सुतम्॥

(कामरत्ने जन्म वन्ध्य चिकित्सा प्रकरणे)

अर्थात् पीपल वन्दा को ऋतु स्नान पर पीने से बन्ध्या भी संतान प्राप्त कर सकती हैं।

इस सूक्त में पुंसवन अर्थात् संतानोत्पत्ति के लिये अश्वत्थ वन्दा (पीपल वन्दा) का सेवन करना बतलाया है। पीपल स्त्रियों के योनि दोष का निवारक और योनि का शोधक है।

निघंटु रत्न में इस विषय में लिखा है कि–

अश्वत्थोमधुरः शीतः, कषायो दुर्जरो गुरुः।
रूक्षो वर्यस्तिक्तश्च, योनिशोधन कारकः॥
योनिदोष रक्त दोषं, दाह पित कफान् जयेत्॥

(निघंटु रत्ने)

स्त्री पुरुष उक्त पीपल वन्दा को सेवन करें तो दोनों के बन्ध्यात्व और नपुंसकता दूर होकर सन्तानोत्पादन की शक्ति आती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में नपुंसकता और बन्ध्यात्व को दूर करने के उपाय भी बताये गये हैं।

इन तथा अन्य साधनों से स्त्री-पुरुष को परस्पर दोष वा त्रुटि को दूर करने का प्रयत्न करना और कराना चाहिये। विवाह संबंध निश्चय से पूर्व आप्त वैद्यों और वैद्याओं द्वारा परीक्षा भी करवाई जा सकती है। जैसे कि वेद मंत्रों में स्पष्ट निर्देश है और याज्ञवल्क्य स्मृति में भी लिखा है–

अविप्लुत ब्रह्मचर्या, लक्षणयांस्त्रियमुद्वहेत्॥
अनन्यपूर्विका कान्तामसपिन्डा यवीपसीम्॥
अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानर्षिगोत्रजाम्॥
दशपुरुषविख्याच्छो त्रियाणां महाकुलाते।
स्फोतादपि न संचारि रोगदोषसमन्वितात्॥
एतैरेव गुणैर्युक्तः, सवर्णः श्रोत्रियो वरः।
यत्नात् परीक्षितः पुंस्त्वे, युवा धीमान् जनप्रियः॥

(याज्ञवल्वयस्मृतो प्रथमे आचाराध्याये)

इन श्लोकों में वर के लिये कहा गया है कि वह अविप्लुत ब्रह्मचारी हो अर्थात् अखंडित ब्रह्मचर्यव्रत को कम से कम २४ वर्ष तक धारण करने वाला, युवा बुद्धिमान् और लोकप्रिय हो तथा उसकी यत्न पूर्वक पुरुषत्व की परीक्षा कर ली गयी हो।

कन्या के लिये कहा है कि वह भी जहां उत्तम लक्षणों से संपन्न, वेदपाठियों के महाकुल में उत्पन्न और सुन्दरी हो, वहां स्वयं अरोगिणी हो और किसी प्रकार के संचारी रोग वाले कुल से संबंध न रखने वाली हो, इत्यादि।

मनुस्मृति अ० ३ में भी दोनों कुलों के लिये इसी प्रकार के नियम लिखे हैं। उनके अनुसार विवाह संबंध निश्चय करने से ऐसी संभावनायें भी बहुत कम होंगीं किन्तु सोच विचार कर जब विवाह

संबंध की स्वीकृति दे दी जाये, तो उसे पूर्णतया निभाने का ही सदा प्रयत्न करना चाहिये। इस विषय में गोभिल गृह्यसूत्र की विवाह संस्कार विधि में (जो मंत्र बहुत संभवतः किसी लुप्त वेद शाखा से लिए हैं) वे बड़े महत्त्व के हैं। ये मंत्र सामवेद के मंत्र ब्राह्मण १।३।१।६ में भी पाये जाते हैं।–

लेखासन्धिषु पमस्वावर्तेषु च यानिते।
तानिते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥
इदं कन्यायै इदं न मम्॥
केशेषु यच्चं पापकमीक्षिते रुदिते च यत्।
तानिते–शीलेषु य च पापकं भाषिते हसिते च यत्।
तानिते–आरोकेषु दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्।
तानिते–ऊर्वोरुपस्थे जंघयोः सन्धानेषु च योनिते।
तानिते–यानिकानि च घोराणि सर्वांगेषु तवाभवन्।
पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा।
इदं कन्यायै इदं न मम॥

(मंत्र ब्राह्मण १।३।१।६, गोभिल गृ०सू० २।३।५)

छः बार विवाह संस्कार के अवसर पर वधू को संबोधित करते हुए वर इन मंत्रों को पढ़ता और कन्या के उद्देश्य से आहुति देता है। मंत्रों का तात्पर्य यह है कि तेरी आंख, नाक, कान, दांत, उरु, उपस्थ, घुटने, बाल इत्यादि अंग अवयवों में तथा तेरे स्वभाव, देखने, बोलने, हंसने, रोने इत्यादि क्रियाओं में जो पाप वा दोष हों, मैं अब यह प्रतिज्ञा करता हूं कि घृत की पूर्णाहुति के साथ उन्हें सदा प्रेम पूर्वक दूर करने–कराने का प्रयत्न करूंगा। उनके कारण कभी तुमसे घृणा न करूंगा।

यह वेदानुकूल भावना है जिसे सब गृहस्थों को अपने मन में रखते हुए एक दूसरे के दोषों और त्रुटियों को प्रेम पूर्वक समझा–बुझा कर दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

अध्याय-८

बढ़ती जनसंख्या

जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि की समस्या ने साधारणतया सारे जगत् के भिन्न-भिन्न देशों, विशेषतः भारत को परेशान कर रक्खा है।

जनसंख्या वृद्धि विषयक समस्या देश में भीषण रूप धारण कर चुकी है। इसके कारण सब समाज और राष्ट्र के नेता सचमुच चिन्तित है क्योंकि सब योजनाओं पर पानी फिरता जा रहा है। हम इस पर वेदों की दृष्टि से विचार करने के पश्चात् अन्य विषयों की तरह, इस पर भी तुलनात्मक विचार प्रस्तुत करेंगे, और बतायेंगे कि किस तरह इस समस्या का सच्चा समाधान वैदिक शिक्षाओं के ही आधार पर किया जा सकता है।

बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश। (ऋ० १।१६४।३२)

सब से पहले हम ऋग्वेद १।१६४।३२ के एक मन्त्र पर इस सम्बन्ध में विचार करना चाहते हैं, जो निम्नलिखित है—

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥

(ऋ० १।१६४।३२)

यह मन्त्र यास्काचार्य ने नैघण्टुक काण्ड अ० २ पा० १ खण्ड ८ में उद्धृत करते हुए लिखा है—

तत्र निर्ऋतिः निरमणात् ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा।
तस्या एषा भवति य ईं चकार बहु प्रजानिर्ऋतिमा
विवेश बहु प्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजकोः॥

इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ निरुक्त में निर्दिष्ट परिव्राजकों के मतानुसार दुर्गाचार्य ने इस प्रकार दिखाया है—

(यः चकार) करोति (ईम्) गर्भम् (नसः) अस्य गर्भस्य तत्त्वं (वेद) केवलं त्वसो कामार्तः पुत्रार्थी वा करोत्येव गर्भम् (यः ईं ददर्श) यश्चैनं पश्यति (हिरुक्) अन्तर्हितमेतस्मिन् जठरे एतस्मिन् वा शरीरे (ईं नु) जन्तुम् (तस्मात्) तस्मैव एष गर्भाशयस्थाने (अन्तः) उदरे पुष्यति स मातुरशित पीतलीढ़ भविछतेन चतुर्विधाहार परिणमे ततः (परिवीतः) जरायुणां परिवेष्टितः यथा कालं जायते। अथैवं (बहु प्रजाः) बहुशः प्रजायमानः स गर्भकर्ता गर्भतत्त्वम् अजानानः

(निर्ऋतिम्) दुःखम् (आविवेश) आविशतीत्यर्थः एवं गर्भ तत्त्वापरिज्ञानात् यो गर्भं करोति स दुःखमाद्यते यस्तु अध्यात्मदृष्ट्या गर्भतत्त्वं वेद, स गर्भकर्मणो निवर्तते, स निर्ऋतिं नापद्यते। एवमस्यामृचि निर्ऋतिर्देवतेत्येष परिव्राजकार्था।

इस मन्त्रार्थ से पूर्व श्री दुर्गाचार्य ने मन्त्र के प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने के लिए लिखा है—

कश्चित् (बहुप्रजाः) बह्वपत्योदरिद्रः पुरुषः स दुष्पोषत्वादपत्यानां व्यापन्नत्वात् (कृच्छ्रमा दुःखम्) आपद्यते सा यस्य तस्य कृच्छापत्तिः सैवेतस्यामृचि निर्ऋतिशब्देनोच्यते इति एव "परिव्राजकाः" परिव्राजका–नामस्यामृचि संज्ञेयोऽर्थः ॥

(निरुक्तस्य दुर्गाचार्य टीकायां नैघंटुककांडे)

दुर्गाचार्य की टीका की भूमिका में लिखा है कि बहुत सन्तानवाला निर्धन पुरुष सन्तान का भली प्रकार पोषण कठिन होने से कष्ट को प्राप्त होता है। उस कष्ट का वर्णन इस वेद मन्त्र में किया गया है। किन्तु यहाँ विचारणीय बात यह है कि यहाँ "बहु प्रजा निर्ऋतिमा–विवेश" इस सामान्य सत्य का प्रतिपादन किया गया है कि बहुत सन्तानवाला कष्ट को प्राप्त होता है। यह केवल दरिद्र वा निर्धन के विषय में कहा गया है। यह तो टीकाकार की कल्पना मात्र है। मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है—

(यः ईं चकार) जो मनुष्य वीर्य सिञ्चन करता है (सः अस्य न वेद) वह इस गर्भ के तत्त्व को नहीं जानता। (यः ईं ददर्श) और जो सर्वव्यापी परमात्मा गर्भ तत्त्व का साक्षात् करता है। (तस्मात् हिरुक् इत नु) वह निश्चय से उस जन्म–मरण के प्रवाह से पृथक् ही है। (सः मातुः योना अन्तः परिवीतः) वह गर्भस्थ जीव माता के योनि के अन्दर जरायु आदि से परिवेष्टित होता हुआ (बहु प्रजाः) बहुत सन्तानवाला (निर्ऋतिम् आविवेश) भयंकर दुःख को प्राप्त करता है। अतः गर्भवास तथा जन्म–मरण के दुःखों को देखकर परमात्मा का ज्ञान उपलब्ध करना चाहिए जिससे कि दुःख से मुक्त हो सकें। इस मन्त्र के अन्तिम चरण [बहु प्रजा निर्ऋतिमाविवेश] अर्थात् बहुत सन्तानवाला व्यक्ति बहुत भयंकर दुःख (क्योंकि यास्काचार्य के अनुसार निर्ऋति का अर्थ साधारण दुःख नहीं अपितु कृच्छ्रपति या भंयकर दुःख है) को प्राप्त करता है। इसका प्रकृत विषय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि वेदोक्त इस सच्चाई की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया जाय, तो इस समस्या के समाधान में पर्याप्त सरलता हो जाये।

वेदों में गृहस्थ में भी संयम पर बल

दूसरी बात जिसका हम इस प्रसंग में उल्लेख करना चाहते हैं वह यह है कि वेदों में गृहस्थ धर्म के पालन में भी संयम पर बड़ा बल दिया गया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद ५।२८।३ तथा अथर्व० ७।७३।१० में अग्नि अर्थात् ज्ञानवान् अग्रणी नेता

को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—

अग्ने शर्धं महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि॥

(ऋ० ५।२८।३; अ० ७।७३।१०)

इस दूसरे मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

हे (अग्ने) तेजस्विन् नायक! तू (महते सौभगाय) बड़े धनैश्वर्य तथा सौभाग्य को प्राप्त करने के लिये (शर्ध) शत्रुओं का पराजय कर (तव द्युम्नानि) तेरे ऐश्वर्य (उत्तमानि सन्तु) उत्तम हों तू (जास्पत्यम्) स्त्री-पुरुष वा पति-पत्नी के सम्बन्ध को (सुयमम्) उत्तम रूप से संयम सहित या अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यम-नियमों का अच्छी तरह जिसमें पालन हो, ऐसा (आकृणुष्व) चारों ओर से सम्पन्न करा (शत्रूयताम्) शत्रुवत् व्यवहार करनेवालों के (महांसि) तेज पराक्रमों वा सैन्यों को (अभितिष्ठ) पराजित कर।

इस मन्त्र के तृतीय चरण पर हमारा विशेष बल है और विशेषतः इसी के लिये हमने उसे यहाँ उद्धृत किया है। वे अग्नि के समान तेजस्वी ज्ञानी नेताओं का कर्त्तव्य है कि वे अपने दाम्पत्य सम्बन्ध को संयम पूर्ण बनाये और अन्यों को भी ऐसी प्रेरणा करते रहें। वेदों के ये शब्द 'सं जास्पत्यं सुयममाकृणुष्व' (पति-पत्नी सम्बन्ध को सुसंयत बनाओ) सब गृहस्थियों के लिये स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य हैं।

स्त्री के लिये यमिनी शब्द का प्रयोग

एक यह बात भी इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है कि वेदों में गृहस्थ स्त्री के लिये यमिनि, ऐसा सम्बोधन आया है।

उदाहरणार्थ अथर्व० ३।२८।४ के कुछ मन्त्र देखिये—

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव। पशून्यमिनि पोषय॥

(अ० ३।२८।४)

हे (यमिनि) संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करनेवाली गृहस्थनारि (इह) इस गृह में (पुष्टिः) पुष्टिदायक पदार्थों से पोषण हो (इह रसः) यहाँ रसदायक पदार्थों की वृद्धि हो और तू (इह) यहाँ (सहस्र सातमा भव) सहस्रों प्रकार के पदार्थों को देनेवाली हो। तू (पशून् पोषय) पशुओं का अच्छी प्रकार से पोषण कर। यह यमिनी शब्द कितनी उत्तमता से गृहस्थ में भी संयम को सूचित करनेवाला है।

अथर्ववेद ३।२८।५ में उपदेश है—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व१ः स्वायाः।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च॥

(अ० ३।२८।५)

हे (यमिनी) संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करनेवाली विवाहित नारि! (यत्र) जहाँ (सुहार्दः) उत्तम हृदयवाले (सुकृतः) पुण्यात्मा सदाचारी लोग (स्वायाः तन्वः रोगं विहाय मदन्ति) अपने शरीर के रोग का परित्याग करके सदा नीरोग होकर (मदन्ति) आनन्द प्रसन्न रहते हैं। (तं लोकम् अभिसंबभूव) उस उत्तम देश में जाकर तू भी अपना गृहस्थ बनाकर रह। वह (नः) हमारे (पुत्रान् पशून् च) पुत्रों और पशुओं को (मा हिंसीत्) विनाश न करे अर्थात् दुराचारिणी होकर कलह का कारण न हो।

यहाँ भी गृहस्थ नारी के लिये ''यमिनि'' शब्द का सम्बोधन उसके संयम पूर्ण जीवन का सूचक है। इसी सूक्त के सप्तक मन्त्र में पुनः गृहस्थ नारी के लिये ''यमिनि'' इस सम्बोधन का प्रयोग किया गया है—

यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च॥

(अ० ३।२८।६)

हे (यमिनि) संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाली और अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि यमों का पालन करनेवाली! (यत्र) जिस देश में (सुहार्दम्) उत्तम हृदयवाले (सुकृताम्) पुण्याचारी, सदाचारी (अग्निहोत्रहुताम्) नित्य हवन का अनुष्ठान करनेवाले पुरुषों का (लोकः) निवास है, (तं लोकम् अभिसंबभूव) तू भी उस देश वा स्थान में रहकर अपना विवाहित जीवन व्यतीत कर जिससे कुसंगति में पड़कर तू (नः पुरुषान् पशून् मा हिंसीत्) पुरुषों और पशुओं को कलह और लोभ के कारण नाश न करे। ऋग्वेद १०।८५।२३ में कहा है—

सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः॥ (ऋ० १०।८५।२३)

हे (देवाः) सत्य निष्ठ विद्वानो! (जास्पत्यम्) यह पति-पत्नी सम्बन्ध (संसुयमम् अस्तु) अच्छी प्रकार से संयमपूर्ण हो। संयमपूर्वक पति-पत्नी अपने गृहस्थ धर्म का पालन करें। ऐसा आप उन्हें उपदेश और आशीर्वाद दें।

अथर्व० १४।२।१७ में नववधू को सम्बोधन करते हुए कहा गया है—

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।

(अ० १४।२।१७)

यह वधू (अघोरचक्षुः) अक्रूर प्रेममय दृष्टिवाली (अपतिघ्नी) पति के साथ कभी विरोध न करनेवाली (गृहेभ्यः) सब घरवालों के लिये सुख देनेवाली (शग्मा) शान्ति देनेवाली (सुशेवाः) उत्तम रीति से वृद्ध जनों की सेवा करनेवाली। शेवृ-सेवने। और (सुयमा) उत्तम तथा संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाली हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में गृहस्थ में भी संयम पर बड़ा बल दिया गया है। मैथुन का उद्देश्य उत्तम सन्तानोत्पादन ही वेदों में माना गया है और संयम पर इतना बल देने का यह तात्पर्य स्पष्ट है कि वे केवल उतनी ही सन्तान उत्पन्न करें

जितनी का वे अच्छी तरह से पालन और शिक्षण कर सकते हैं। जहाँ दस सन्तान का निर्देश है वह अधिकतम संख्या का है जैसे कि 'बहु प्रजा निर्ऋतिमाविवेश' अर्थात् बहुत सन्तानवाला घोर आपत्ति में फँस जाता है इस वैदिक सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट हो जाता है अन्यथा वेदों में परस्पर विरोध मानना पड़ेगा जिसको कभी कोई आस्तिक नहीं मान सकता।

ज्येष्ठेन जातमात्रेण, पुत्री भवति मानवः। (मनु० ९।१०६)
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः॥ (मनु० ९।१०७)

अर्थात् ज्येष्ठ एक पुत्र के उत्पन्न होने से ही मनुष्य पुत्रवाला कहा जाता है। धर्मज पुत्र तो वह ही है, शेष तो कामज–काम से उत्पन्न पुत्र होते हैं, ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं।

यदि वेद और मनुस्मृति की इन शिक्षाओं का घर–घर में अच्छी तरह प्रचार कराया जाय तो गृहस्थ संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगेंगे और जनसंख्या की समस्या का पर्याप्त समाधान हो जायेगा।

वेदों में ब्रह्मचर्य पर बल

वेदों में ब्रह्मचर्य की बड़ी महिमा गाई है और यहाँ तक कहा है जैसे कि हम पहले सप्रमाण अर्थ सहित बता चुके हैं कि—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत्॥ १९॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति॥ १७॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्॥ १८॥

(अ० ११।५।१९, १७, १८)

इन मन्त्रों में ब्रह्मचर्य की महिमा बताते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचर्य और तप से देव–सत्य निष्ठ विद्वान् मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। आत्मा ब्रह्मचर्य के पालन से ही इन्द्रियों को सुखी बना सकती है। राजा ब्रह्मचर्य और तप से ही राज्य की अच्छी प्रकार रक्षा कर सकता है और कन्या ब्रह्मचर्य का पालन करके ही अपने योग्ययुवक पति का वरण कर सकती है। इत्यादि यह ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का है जिसे वसु, रुद्र और आदित्य के नाम से कहा जाता है जो कम-से–कम २४, ३६ वा ४४ और ४८ वर्ष का होता है और ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों को क्रमशः वसु, रुद्र और आदित्य संज्ञा दी गई। ऐसे ही कन्याओं के लिये भी वह कम–से–कम १६, मध्यम २० और उत्तम २४ वर्ष का होता है और.......

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञꣳसरस्वती सह रुद्रैर्नऽआवीत्।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त॥

(य० २९।८)

इस के निर्देशानुसार जहाँ आदित्यों का सम्बन्ध भारती, रुद्रों का सरस्वती और वसुओं का इडा से सूचित किया गया है, इन १६, २० और २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेवाली कन्याओं को इडा, सरस्वती और भारती के नाम से पुकारा जाता है। यदि समाज और राष्ट्र में यह व्यवस्था प्रचलित हो जाये तो जनसंख्या वृद्धि की समस्या का पर्याप्त अंश तक समाधान हो सकता है।

आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत संहिता के शारीरिक स्थान अ० १० में लिखा है—

अथास्मे पंचविंशतिवर्षाय षोडशवर्षो पत्नीमावहेत्।
मित्र्या धर्मार्थकाम प्रजाः प्राप्स्यतीति ॥

(सुश्रुत संहिता शा० स्था० अ० १०)

अर्थात् जब २५ वर्ष का पुरुष हो जाय तो उसका विवाह १६ वर्ष की स्त्री के साथ हो जाना चाहिए ताकि धर्म, अर्थ, काम और सन्तान की प्राप्ति हो सके। और २५ और १६ वर्ष की आयु से पूर्व गर्भाधान को अत्यन्त हानिकारक बताते हुए सुश्रुत शारीरस्थान अ० ४७-४८ में कहा है—

ऊनषोडश वर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भ कुंक्षिस्थः स विपद्यते ॥
जातो वानचिरंजीवेद् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

(सु० सं० अ० १०।४७-४८)

अर्थात् १६ वर्ष से कम आयुवाली स्त्री में २५ से कम आयुवाला पुरुष यदि गर्भ की स्थापना करे, तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता, अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रहकर उत्पन्न नहीं होता।

अथवा उत्पन्न हो भी जाय, तो बालक चिरकाल तक नहीं जीता व जीये भी तो दुर्बलेन्द्रिय रहता है। इस कारण से बाल्यावस्थावाली अर्थात् १६ वर्ष से कम की स्त्री में गर्भाधान कभी नहीं करना चाहिए।

योगिराज श्रीकृष्ण महाराज ने विवाह के पश्चात् जिस एक उच्च उद्देश्य को रखा था उसका उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। महाभारत के सौप्तिक पर्व अ० १२ के ३०-३१ श्लोकों में इसका वर्णन इन शब्दों में है—

ब्रह्मचर्यं महद् घोरं, तीर्त्वा, द्वादशवार्षिकम्।
हिमवत् पार्श्वमा स्थाय यो मया तपसार्जितः ॥
समानव्रतचारिण्यां, रुक्मिण्यां योऽन्वजायत।
सनत्कुमारस्तेजस्वी, प्रद्युम्नो नाम मे सुतः ॥

(महाभारत सौप्तिक पर्व अ० १२।३०-३१)

श्रीकृष्ण जी स्वयं प्रद्युम्न के विषय में कहते हैं कि विवाह के पश्चात् १२ वर्ष तक घोर ब्रह्मचर्य का पालन करके हिमालय के पार्श्व में तप से अपने समान व्रत का आचरण करनेवाली धर्मपत्नी रुक्मिणी से मैंने जिस प्रद्युम्न नामक पुत्र को प्राप्त किया वह सनत्कुमार की तरह तेजस्वी हैं, इत्यादि। योगिराज श्रीकृष्ण तो निःसन्देह अत्यन्त असाधारण महापुरुष थे, जो इतने संयमी थे कि विवाह के पश्चात् भी १२ वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकें। सर्वसाधारण से इतने कठोर संयम की आशा नहीं की जा सकती। अतः यदि वे विवाह के पश्चात १ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का यथाशक्ति पालन करें, तो गृह्यसूत्रानुसार उनको अत्युत्तम ऋषि समान सन्तान प्राप्त होगी यदि इस बीच में वे ऋग्वेद १०।४७ के..........

सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र ।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ३ ॥
प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति ।
य आङ्गिरसो नमसोपसद्योऽस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ६ ॥
यत्त्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम् ।
अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ८ ॥

इत्यादि मन्त्रों की भावना के अनुसार चतुर्वेदज्ञ, मेधावी ऋषि समान, अनुपम, सर्वजनवन्दित सन्तान की कामना मन में रक्खें और अपने सारे जीवन को अत्यन्त पवित्र और संयत बनाने का यत्न करें।

इस विषय में पारस्कर गृह्यसूत्र में ४ विकल्प लिखते हैं—

त्रिरात्रमक्षारलवणाशितौ स्यातामधः शयीतां संवत्सरं
न मिथुनमुपेयातां द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः॥

(पारस्कर गृह्यसूत्र काण्ड १ कण्डिका १ । २१)

अर्थात् विवाह संस्कार के पश्चात् तीन रात तक वर-वधू क्षार-लवणादि का सेवन न करते हुए भूमि पर शयन करें, १ वर्ष पर्यन्त सम्भोग न करें, यदि यह सम्भव न हो तो १२ रात तक न करें, यह भी न हो सके तो ६ रात्रि तक, कम-से-कम ३ रात्रि तक तो अवश्य ही ब्रह्मचर्य रखें। १ वर्ष तक जो विवाह के पश्चात् ब्रह्मचर्य का पालन कर सकें उनके विषय में लिखा है—

ततः ऋषिः पुत्रो जायते।

ऐसे दम्पती की ऋषि समान सन्तान होती है।

संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम्। इत्यादि की व्याख्या करते हुए हरिहराचार्य ने टीका में लिखा है—

संवत्सरं वर्ष यावत् मिथुनम् अभिगमनं नो पेयाताम्–नोप–गच्छेताम् अथवा द्वादशरात्रम् अथवा षड्रात्रम् यद्वा त्रिरात्रम्। अन्ततः संवत्सरादिपक्षणमन्ते त्रिरात्रमित्य संवत्सरादिविकल्पास्तु शक्त्तावपेक्षया व्यवस्थिता ज्ञेयः ॥

इस के भाव को हमने ऊपर सूचित कर ही दिया है। इस में टीकाकार ने ठीक ही लिखा है कि १ वर्ष, १२ रात, ६ रात, कम–से–कम ३ रात का मैथुन न करने का विकल्प शक्ति की अपेक्षा से है।

कृत्रिम उपायों से सन्तति निरोध

आज कल भारत सरकार कृत्रिम उपायों से संतति निरोध और परिवार नियोजन के लिये दिन–रात प्रयत्नशील है और करोड़ों रुपये इस काम के लिये प्रतिवर्ष व्यय कर रही है। अनेक बड़े–बड़े शहरों में परिवार नियोजन केन्द्र और औषधालय खोले गये हैं तथा अब भी खोले जा रहे हैं।

महात्मा गाँधी जी जहाँ ब्रह्मचर्य और संयम द्वारा संतति निरोध और परिवार नियोजन के प्रबल पक्षपाती थे, वहाँ कृत्रिम साधनों से संतति निरोध के वे घोर विरोधी थे। उनके इस विषय में क्या विचार थे, यह उनके लेखों के निम्न उद्धरणों से स्पष्ट हो सकता है।

१२ मार्च १९२५ ई० के हिन्दी ''नवजीवन'' में महात्माजी ने लिखा था कि—

कृत्रिम साधनों की सलाह देना मानो बुराई का हौसला बढ़ाना है। इस से स्त्री और पुरुष उच्छृङ्खल हो जाते हैं और इन कृत्रिम साधनों को जो प्रतिष्ठा दी जा रही हैं, उससे तो उस संयम के ह्रास की गति बढ़ेगी। कृत्रिम साधनों के अवलम्बन का कुफल होगा नपुंसकता और क्षीण वीर्यता। यह दवा मर्ज से भी ज्यादह बदतर हुए विना न रहेगी। कृत्रिम साधनों के समर्थन के मूल में यह युक्तियाँ धारण रहती है कि भोग–विलास जीवन की एक आवश्यक चीज है। इससे बढ़कर हेत्वाभास–गलत तर्क हो ही नहीं सकता। अतएव जो लोग संतति नियमन के लिये उत्सुक हैं, उन्हें चाहिए कि वे प्राचीन लोगों के बताये जायज उपायों की ही खोज करें, और इस का पता लगाने की कोशिश करें कि उन्हें पुनर्जीवन किस तरह दिया जाय। जो लोग इन कृत्रिम साधनों का प्रचार करते हैं, नये सिरे से इस विषय का अध्ययन–मनन करें, अपनी हानिकारक कार्यवाहियों से बाज आयें और क्या विवाहित और क्या अविवाहित, दोनों में ब्रह्मचर्य की निष्ठा जागृत करें। संतति नियमन का यही उच्च और सीधा तरीका है। (हिन्दी नवजीवन १२ मार्च १९२५)

ठा० राजबहादुर सिंह द्वारा सम्पादित गाँधीजी की सूक्तियाँ, इस पुस्तक से दो और उद्धरण महात्माजी के एतद्विषयक लेखों से दिये जाते हैं। महात्माजी ने

लिखा—

"संतति नियमन का स्वाभाविक उपाय तो ब्रह्मचर्य और आत्मा संयम है जो नैतिक भी है और श्रेष्ठ भी। कृत्रिम उपायों से युवक–युवतियों को वासना और इन्द्रिय परायणता का लायसेंस और अनैतिकता का आदेश मिल जाता है। कृत्रिम उपायों से व्यभिचार का आदेश पत्र प्राप्त कर उसके द्वारा गर्भनिरोध करना एक ऐसा नैतिक अपराध है, जो सारी प्रजा को अनैतिकता और दुराचार की खन्दक में धकेल सकता है।" (गाँधीजी की सूक्तियाँ पृ० ११५)

"मैं ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त सन्तति नियमन के अन्य तरीकों को अनैतिक मानता हूँ। कृत्रिम उपायों से गर्भनिरोध की बात करना ही घृणाजनक है।"

यह भी कहा जाता है कि इस कृत्रिम उपाय से भी भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या रोकी जा सकती है, किन्तु मैं इस तरह की गैर अमली बातों पर विश्वास नहीं कर सकता। (गाँधीजी की सूक्तियाँ पृ० ११६)

कृत्रिम साधनों से सन्तति नियमन पर अनेक कुशल डॉक्टरों की स्मतियाँ—

महात्मा गाँधीजी के कृत्रिम साधनों से सन्तति निरोध के विरोधी विचार हमने ऊपर दिये हैं। सम्भवत: यह कह दिया जाय कि महात्मा गाँधी एक सन्त थे, डॉक्टर तो नहीं, इसलिए उनकी सम्मति का डॉक्टरी दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व नहीं क्योंकि इस विषय का स्त्रियों के आरोग्य के साथ ही विशेष सम्बन्ध है। अत: हम यहाँ कुछ प्रसिद्ध और अनुभवी डॉक्टरों की सम्मतियों का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं।

१. लंदन के एक प्रसिद्ध हास्पिटल के चिकित्सक डॉ० हैक्टर कौम्मरों (Dr. Hector Comeron F.R.C.P.) ने कृत्रिम उपायों से सन्तति निरोध के विषय में अपनी सम्मति इन शब्दों में प्रकट की—

"In agreement with many others of my contempor-aries who know the subject. I absolutely condemn birth Control as worthless, dangerous and anti-social in a high degree."

"There are normal and healthy ways of limiting births and if these are not observed, then nature is violated and if nature is violted, she will exact her inevitable penalty."

(Dr. Hector Cameron F.R.C.P. Physician to Gey's Hospital, London).

अर्थात् अपने अन्य सहयोगियों के साथ, जो इस विषय के विशेषज्ञ हैं, सहमत होता हुआ मैं कृत्रिम उपकरणों के द्वारा सन्तति निरोध को अत्यन्त

अनुपयोगी, खतरनाक और बड़ी मात्रा में असामाजिक व अनैतिक मानता और इनका पूर्णतया खण्डन करता हूँ। सन्तान निग्रह के अन्य कई सामान्य उपाय हैं जिनसे स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। यदि उनका आश्रय न लेकर कृत्रिम साधनों का अवलम्बन किया जाय, तो प्रकृति की अवहेलना होगी जिसके दण्ड से बचना असम्भव है। (डॉ० हैक्टर कौमिरों लंदन)

२. जर्मन डॉ० मेरी शार्लीक ने कृत्रिम साधनों को हानिकारक बताते हुए लिखा—

"A woman who refuses to have children during the early years of married life, will not likely be unable to have any, when she does want them. And in addition the protracted use of these things is often injurious to mind and body." (Dr. Mary Sharliek)

अर्थात् जो स्त्री वैवाहिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में बच्चे पैदा करने से इंकार कर देती है, निश्चय ही वह बाद में इच्छा होने पर अपनी इच्छा को पूरा करने में असमर्थ रहती है। इन उपकरणों का चिरकालीन प्रयोग मन और शरीर दोनों के लिये हानिकारक है। (डॉ० मेरी शार्लीक)

स्त्रीरोग चिकित्सिका, रॉयल फ्री हास्पिटल

२. सुप्रसिद्ध अंग्रेज डॉक्टर सर रौबर्ट आर्म स्ट्रौंग जोन्स, M.D. :

"Birth Control leads to lunacy in women. If you are to have birth control on a large scale, you will have to add to your lunatic asylums for women. The absence of children leads to neurasthenia in married women and this leads to insanity. I know from my practice; it is a fact." (Dr. Sir Robert Armstrong jones, M.D.)

अर्थात् कृत्रिम उपायों से सन्तति निग्रह स्त्रियों में पागलपन उत्पन्न कर देता है। जितने बड़े पैमाने पर कृत्रिम साधनों का प्रयोग बढ़ेगा, उतने ही बड़े पैमाने पर स्त्रियों के पागलखाने बढ़ाने पड़ेंगे। यह बात मैं अपने अनुभव के आधार पर कर रहा हूँ। और यह एक सच्चाई है।

(डॉ० सर आर्म स्ट्रोंग जोन्स एम० डी०)

४. सुप्रसिद्ध चिकित्सिका और वैवाहिक विषयों की लेखिका डॉ० मेरी स्टाप्स ने लिखा है—

"Actual result of coitus interuptions in a great many cases is to injure the nervous system of both the man and the woman".

(Dr. Marie Stopes)

कृत्रिम साधनों के द्वारा सन्तति निग्रह से पुरुष और स्त्री दोनों के स्नायु

मण्डल विकृत हो जाते हैं। (डॉ० मेरी स्टोप्स)

५. डॉ० ऐम० सी० कैन ने Contraception-Common cause of diseases नामक अपनी पुस्तक में बताया है कि—

"To try to thwart nature's purpose is to court mischief. It has been absolutely established that nearly fifty percent of the cases of sterility that are seen these days are due to the use of contraceptive methods during early years of married life and this sterility is brought about by certain pathological changes in the uterus and ovaries."

प्रकृति के उद्देश्य पर कुठाराघात करना उपद्रव खड़ा करना है। यह सिद्ध हो चुका है कि बन्ध्यापन के जो केस इन दिनों देखे जाते हैं, उनमें से लगभग ५० प्रतिशत वैवाहिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में कृत्रिम उपकरणों के प्रयोग के दुष्परिणाम हैं और यह बन्ध्यापन गर्भाशय और अण्डाशय में कतिपय परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होता है।

६. डॉ० थर्स्टन नामक सुप्रख्यात पाश्चात्त्य चिकित्सक ने इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए जो लिखा है—

स्त्रियाँ गर्भाधान रोकने के लिये जिन साधनों का प्रयोग करती हैं, उनके विषय में डॉक्टरों की सम्मति है कि प्रति सैकड़ा ७५ को हानि पहुँची है। कृत्रिम उपकरणों से गर्भ रोकने के कारण अकेले पेरिस नगर में लगभग १ लाख रजिस्टर्ड वेश्याएँ हैं। कृत्रिम साधनों से प्रजोत्पत्ति को रोकने का प्रश्न बड़ा गम्भीर है। मैं अपने अवलोकन और अन्वेषण के आधार पर बलपूर्वक कह सकता हूँ कि आज तक इसका प्रमाण नहीं मिला कि इन साधनों से हानि नहीं होती। किन्तु ज्ञानवान् स्त्री रोग चिकित्सक कहते हैं कि इन साधनों से शरीर और नीति पर बड़ा भयंकर परिणाम होता है। अनुभवी लोग कहते हैं कि कृत्रिम साधनों के प्रयोग से स्त्रियों को कैन्सर आदि रोग हो जाते हैं।

स्त्रियों के कोमल मज्जा तन्तुओं पर इन कृत्रिम साधनों का बहुत खराब असर होता है जिससे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। बहुत से प्रतिष्ठित डॉक्टरों का मत है कि इन कृत्रिम साधनों के कारण बहुत सी स्त्रियाँ वन्ध्या हो गयी हैं। उनका जीवन नीरस हो गया है और उनके लिए संसार विषरूप हो गया है। रोग से पीड़ित हजारों स्त्रियाँ डॉक्टरों का घर ढूँढ़ती फिरती हैं। इन लोगों को नहीं समझ आता कि इन कृत्रिम साधनों से स्त्रियाँ वेश्या बनतीं और पुरुष नपुंसक बन जाते हैं। यह भ्रम है कि आरोग्य के लिए पुरुषों से संयम नहीं हो सकता। रोग रहित वीर्यवान् पुरुषों में विषयेच्छा मध्यम होती है परन्तु यदि उनमें पुरुषार्थ की कोई उच्च भावना प्रबल रूप धारण कर ले, तो बहुत समय तक विषयेच्छा मन्द हो जाती

है। आरोग्य के लिए भोग आवश्यक है, इस भ्रम को दूर करना प्रत्येक डॉक्टर और अनुभवी सलाहकार का कर्त्तव्य है। विषय कामना तृप्त करने में व्यय होनेवाली शक्ति पुरुषार्थ सिद्धि में लगाई जा सकती है और जितना ही इस शक्ति का सञ्चय होगा, उतनी ही बड़ी सिद्धि प्राप्त होगी।

७. अमरीका के सुप्रसिद्ध डॉक्टर और अनेक उत्तम ग्रन्थों के लेखक डॉ० कौवन, एम० डी० ने अपनी प्रख्यात पुस्तक The Science of New Life. (नवजीवन विज्ञान) में लिखा है कि—

"Men and Women in all ages have experimented on methods of prevention and so far have been comparatively unsuccessful. When an exception does occur, it is always at the expense of the health of the individual."

(Dr. John Cowen, M.D. in "The Science of New Life" P. 88)

अर्थात् समय-समय पर मनुष्यों और स्त्रियों ने सन्तानोत्पत्ति निरोधक उपायों का परीक्षण किया है। और अब तक वे अपेक्षया असफल रहे हैं। जब कभी इसका अपवाद उपस्थित होता है, तो यह व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए अवश्य हानिकारक होता है।

अन्य भी अनेक अनुभवी चिकित्सकों की सम्मतियाँ उद्धृत की जा सकती हैं किन्तु इतनी ही यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि आज हमारी सरकारें महात्मा गाँधीजी के तथा इतने बड़े डॉक्टरों के भी अनुभव सिद्ध कृत्रिम उपकरणों से सन्तति निरोध की हानि सूचक विचारों की भी उपेक्षा करते हुए जो करोड़ों रुपये इन कृत्रिम उपकरणों के विवाहित दम्पतियों में प्रायः विना मूल्य वितरण तथा इन साधनों के प्रचार आदि पर खर्च कर रही है, वह सर्वथा अनुचित और हानिकारक है। इतना रुपया यदि अच्छे प्रचारकों द्वारा परिवार नियोजनार्थ ब्रह्मचर्य और संयम के प्रचार पर लगाया जाता तो उससे बहुत लाभ होता। कम-से-कम ब्रह्मचर्य और संयम के अनुकूल एक वातावरण तैयार हो जाता और उससे जनता का नैतिक स्तर जिसमें अश्लील साहित्य, चित्रपट, नाटक, बाजारों और चौराहों में बुरे चित्रों आदि द्वारा निरन्तर ह्रास हो रहा है, उन्नत हो जाता। अब भी सरकार को चाहिए कि परिवार नियोजन का प्रचार वेदादि शास्त्रों और महात्मा गाँधीजी के बताये संयम और ब्रह्मचर्य के प्रचार द्वारा करवाये। अन्यथा जैसे कि ऊपर उद्धृत बड़े-बड़े अनुभवी डॉक्टरों की सम्मतियों से स्पष्ट है, नर-नारियों का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य क्षीण होता जायेगा और जिस अनाचार और अनैतिकता का प्रचार (गर्भ स्थिति के सामाजिक भय के न रहने से होगा) उसके विषय में तो कहना ही क्या है।

क्या संयम हानिकारक है—

कई अज्ञानी भौतिकवादी भोग-विलास प्रिय लोगों ने यह भ्रम फैला रक्खा कि विवाहित जीवन में दम्पती का संयम या ब्रह्मचर्य भी हानिकारक है, यह सर्वथा असत्य है। वेद में ब्रह्मचर्य और संयम के महत्त्व के विषय में हम अनेक मन्त्रों का पहले निर्देश कर चुके हैं। एक अन्य मन्त्र का इस प्रकरण में उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। इसमें ब्रह्मचर्य को धन के नाम से पुकारा गया है। मन्त्र इस प्रकार है जो ऋग्वेद ७।६०।११ और सामवेद मं० ४३ में आया है—

आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम्।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती स्वयशस्तरम्॥

(ऋ० ७।६०।११; सा० मं० ४३)

इस मन्त्र पर स्वामी भगवदाचार्यजी का भाष्य—

हे (अग्ने) प्रकाशात्मन् (पावन) सर्व शोधक परमात्मन् त्व (शंस्यम्) प्रशस्तं (वयो वृधम्) श्रेयस्ततिगति वर्धकम् वीगतौ (रयिम्) धर्म ज्ञान रूपं सदाचार रूपं वा आयुष्य वर्धकं ब्रह्मचर्ये वा (नः) अस्मभ्यमस्मान् वा (आगमय) प्रापयेत्यर्थः॥ आ इत्युपसर्गबलाद् योग्य क्रियाध्याहार (हे) (उपमाते) उपमम् अन्तिकम् अततीत्युपमातिः संबुद्धौररुपम् (व्यापकत्वादति निकटवर्तिन्नित्यर्थः) उपम इत्यन्तिम नाम (निघं० २।१६।११) (सुनीती) सुनीत्या विभक्तिव्यत्ययः शोभनेन नयेन विनयेन आचारेण वा (पुरुस्पृहम्) पुरुभिर्बहुभिश्चारु विचारचारैर्मनुष्यैर्विद्वद्भिः स्पृहणीयं (सुयशस्तरम्) अतिशयितं यथस्व (नः) अस्मभ्यं (रास्व) देहि॥

(स्वात् भगवदाचार्य कृते साम संस्कार भाष्ये, पृ० ४३)

इस के छायानुवाद में उन्होंने लिखा है कि हे परमात्मन्! आयुर्वर्धक ब्रह्मचर्य रूप सर्वश्रेष्ठ धन हमें प्राप्त कराइये। हे अति निकट विराजमान परमेश्वर! सदाचारादि पालन के द्वारा हमें वह अत्युत्तम यश मिले, जिसकी सभी सच्चरित्र विद्वद्ज्जन स्पृहा करते हैं, ऐसी कृपा कीजिये। अब हम संयम से हानि-विषयक भ्रम को दूर करने के लिये कुछ अच्छे-अच्छे अनुभवी डॉक्टरों तथा मनीषियों की सम्मतियाँ उद्धृत करते हैं।

१. डॉ० ई० मेरियर् ने अपनी सम्मति इस आशय के शब्दों में प्रकाशित की कि—

पूर्ण संयम अनिष्टकारी होता है, यह धारणा भ्रान्त और काल्पनिक होती है। इसका घोर प्रतिवाद होना चाहिए क्योंकि इससे न केवल बच्चों का ही, अपितु पिताओं का भी मस्तिष्क खराब हो जाता है।

२. डॉ० साल्वेड ने संयम और स्वास्थ्य के विषय में बतलाया है—

संयम से न हानि होती है और न विकास कुंठित होता है। इससे तो शक्ति बढ़ती और सूक्ष्म दृष्टि विकसित होती है। असंयम से आलस्य और प्रमाद उत्पन्न होता, शरीर विकृत होता और ऐसे रोगों से ग्रस्त होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है जो कई पीढ़ियों तक सन्तानों में प्रविष्ट हो सकते हैं। यह कहना कि असंयम नवयुवकों की स्वास्थ्य रक्षा के लिये आवश्यक है, न केवल भूल अपितु अत्याचार भी है।

असंयम के अभिशाप सुविदित हैं, संयम की हानियाँ काल्पनिक हैं। महान् पुरुषों और उनकी उत्कृष्ट रचनाओं से संयम का प्रतिपादन होता है। असंयम का औचित्य आज तक किसी इतिहास से सिद्ध नहीं हुआ है।

३. फ्राँस के डॉ० मौमतेगाजा ने बताया है कि—

चारित्रिक पवित्रता से उत्पन्न हुए किसी रोग का मुझे ज्ञान नहीं। समस्त व्यक्ति विशेषतः नवयुवक और नवयुवतियाँ, संयम से तत्काल उत्पन्न होनेवाले लाभ से लाभान्वित हो सकते हैं।

४. डॉ० डूयवाइज बर्न ने बतलाया है कि—

नाड़ी दौर्बल्य के रोगियों की संख्या उन लोगों में अधिक पायी जाती है जो अत्यधिक विषयी होते हैं। जो पाशविकता के जुए से बचना चाहते हैं, उनमें नाड़ी दौर्बल्य के बहुत कम रोग पाये जाते हैं।

५. डॉ० फैरे ने बतलाया है कि—

जितेन्द्रिय पुरुष संयम का आचरण सुगमता से कर सकते हैं। उन्हें अपने स्वास्थ्य के गिरने का कोई भय नहीं होता। स्वास्थ्य रक्षा काम सन्तुष्टि पर निर्भर नहीं होती।

६. डॉ० ऐलफ्रेड फोंनियर ने स्पष्ट बतलाया है कि—

नवयुवकों के लिये संयम अनिष्टकारी है, इसकी चर्चा विना सोचे समझे की जाती है। चिकित्सक के रूप में मुझे संयम के अनिष्टकारी प्रभावों का कोई प्रमाण नहीं मिला यद्यपि अपने व्यवसाय में मेरा अनेक लोगों से वास्ता पड़ा है। इसके अतिरिक्त शरीर विज्ञान के अपने अनुभव के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि सच्चा पुरुषत्व १२वें उसके आसपास की आयु से पूर्व विकसित नहीं होता। यदि समय से पूर्व उत्तेजना पैदा न हो, तो काम की इच्छा भी पैदा नहीं होती।

७. प्रो० रिविंग ने अपने अनुभव के आधार पर बताया है कि—

मैं २६ से ३० वर्ष वा उससे कुछ अधिक आयुवाले बहुत से व्यक्तियों को जानता हूँ जिन्होंने पूर्ण संयम का जीवन व्यतीत किया था और जो विवाह के बाद भी संयमी बने रहे थे। इस प्रकार के उदाहरण अलभ्य नहीं हैं किन्तु वे लोग अपना विज्ञापन नहीं करते।

८. विस्तारभय से अब हम सैनिटरी इण्टर नेशनल काँग्रेस (Sanitary Inter-National congress) के एतद्विषयक निश्चय के सम्बद्ध अंश को उद्धृत करके इस विषय को समाप्त करते हैं—

मुख्यतया नवयुवकों को यह सिखाया जाना चाहिए कि पवित्रता और संयम न केवल लाभकारी है, अपितु ये उन गुणों में से हैं जिनका चिकित्सा और स्वास्थ्य दोनों के आधार पर हार्दिक समर्थन किया जा सकता है।

समस्त मनुष्यों विशेषत: नवयुवकों को ब्रह्मचर्य के प्रसादों का तत्काल अनुभव हो सकता है। ब्रह्मचर्य से स्मृति शान्त और ताजा रहती है। इच्छाशक्ति में स्फूर्ति और मस्तिष्क में बल रहता है। इनके कारण समस्त चरित्र में आकर्षण और सौन्दर्य व्याप्त हो जाता है।

(Sanitary Inter-National Congress resolution (Hindi Version)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह धारणा कि संयम और ब्रह्मचर्य से हानि होती है, सर्वथा एक निर्मूल धारणा है जिसका घोर प्रतिवाद करना आवश्यक है। अन्यथा युवक–युवतियों को अनाचार और अनैतिक जीवन के लिये प्रोत्साहन मिलेगा।

अध्याय-९

वृद्धजन समस्या

अमरीका तथा यूरोप में भी वृद्धजनों की एक बड़ी समस्या बनी हुई है क्योंकि युवा पुत्र विवाह के पश्चात् अपना परिवार पृथक् बसा लेते हैं और अपने माता-पिता की कोई परवाह नहीं करते। भारत में भी यह समस्या चाहे इतने उग्र रूप में न हो तो भी विद्यमान है। अतः इस पर हम वेदों की दृष्टि से कुछ विचार करते हुए समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

वृद्ध माता-पिता की सेवा सन्तान का कर्त्तव्य—

वेदों में वृद्ध माता-पिता की सेवा करना सन्तान का आवश्यक कर्त्तव्य बताया गया है जिसके लिये निम्न मन्त्रों वा मन्त्रांशों को हम उद्धृत करते हैं। ऋ० १।११०।८ में जिसका देवा ''ऋभवः'' अर्थात् मेधावी, सत्य से प्रकाशमान विद्वान् है, यह उपदेश है—

सौधन्वनासः स्वपस्यया नरो जिव्री युवाना पितराकृणोतन ॥

ऋ० १।११०।८

हे (सौधन्वनासः नरः) उत्तम धनुर्धारी वीरों के पुत्र मनुष्यो! तुम (स्वपस्यया) उत्तम सेवा, आज्ञापालनादि कर्मों के द्वारा (जिव्रीपितरा) अपने वृद्ध माता-पिता को (युवानाकृणोतन) फिर युवक के समान स्वस्थ बना देते हो।

तात्पर्य यह है कि सन्तान को अपने वृद्ध माता-पिता की इतनी उत्तमता से सेवा करनी चाहिए, उनकी आज्ञाओं का पालन करते हुये अपने शुभकर्मों से उनको इतना प्रसन्न रखना चाहिए कि वे वृद्धावस्था में भी युवक समान स्वस्थ और प्रसन्न रहें। मेधावी, सत्य से प्रकाशमान विद्वानों को इस विषय में एक उत्तम आदर्श अन्यों के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए।

ऋग्वेद ४।३३।३ में ऋभुओं-मेधावी, सत्य से प्रकाशमान विद्वानों के विषय में (ऋभव इति मेधावि नाम निघं० ३।१५ ऋतेन भान्तीति ऋभवः— निरुक्त ११।२।१३) कहा है—

पुनर्ये चक्रुः पितरा युवाना ॥ (ऋ० ४।३३।३)

जो सेवा, आज्ञापालनादि के द्वारा अपने माता-पिता को फिर युवकवत् स्वस्थ और प्रसन्नचित्त बना देते हैं। ऐसे ऋभु-सत्य से प्रकाशमान मेधावी विद्वान् प्रशंसनीय और अनुकरणीय हैं।

ऋग्वेद ४।३६।३ में महत्त्वपूर्ण होने के कारण ऋभुओं की इस बात की प्रशंसा की गयी है कि वे अपने वृद्ध, अशक्त माता–पिता की अच्छी प्रकार सेवा करके उन्हें फिर युवक समान तथा सशक्त बना देते हैं।

मन्त्र इस प्रकार है—

तद्वो वाजा ऋभवः सुप्रवाचनं देवेषु विभ्वो अभवन्महित्वनम्।
जिव्री यत्सन्ता पितरा सनाजुरा पुनर्युवाना चरथाय तक्षथ॥

(ऋ० ४।३६।३)

हे (वाजाः) ज्ञान तथा बल से युक्त (ऋभवः) सत्य से प्रकाशमान (विभ्वः) विशेष विद्यादि गुणों के कारण प्रसिद्ध विद्वानों (यत्) जो तुम लोग (जिव्री) वृद्धावस्था को प्राप्त (सन्ता) हुए (सनाजुरा) तप ज्ञान आदि से वृद्ध (पितरा) माता–पिता वा बालक, वृद्ध पुरुषों को (चरथाय) ज्ञान वितरण और जीवनयापन के लिये (पुनः युवान तक्षथ) फिर युवा पुरुषों के समान अधिक सामर्थ्य और उत्साहयुक्त कर देते हो (वः), आप लोगों का (तत्) वह (सु–प्रवाचनम्) उत्तम ख्याति कारण है और वही आपका (देवेषु) विद्वानों के बीच में (महित्त्वनम्) महान् कर्त्तव्य है।

वृद्ध माता–पिता की सेवा करना और उन्हें सदा प्रसन्न रखकर युवकों के समान स्वस्थ बना देना, यह पुत्रों का ऐसा महान् कर्त्तव्य है जिससे वे सर्वत्र प्रशंसा के पात्र बनते हैं। इस बात का मन्त्रों में अनेक बार निर्देश किया गया है ताकि सब के हृदय में यह बात अंकित हो जाये और इसे साधारण–सी तुच्छ बात समझकर कोई इसकी उपेक्षा न करे। ऋग्वेद ५।७७।२ में उपदेश किया गया है कि—

पूर्वःपूर्वो यजमानो वनीयान्॥ (ऋ० ५।७७।२)

(पूर्वः पूर्वः) हमसे पूर्व अर्थात् विद्या और आयु में वृद्ध पुरुष (यजमानः) दान, सत्संग यज्ञादि का करनेवाला (वनीयान्) अति उत्तम रीति से सेवन करने योग्य और आदरणीय होता है। (वन–संभक्तौ) वृद्ध माता–पिता और अन्य आयु और विद्या में अधिक विद्वानों की सदा सेवा करनी चाहिए तथा उनका आदर करना चाहिए, ऐसा उपदेश मन्त्र में दिया गया है।

ऋग्वेद ६।२०।११ में पिता आदि वृद्धों की सेवा का उपदेश इन महत्त्वपूर्ण शब्दों में दिया गया है—

त्वं वृध इन्द्र पूर्व्यो भूर्वरिवस्यन्नुशने काव्याय।
परा नववास्त्वमनुदेयं महे पित्रे ददाथ स्वं नपातम्॥

(ऋ० ६।२०।११)

हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान्! (त्वम्) तू (उशने काव्याय) कामना करने योग्य या अति पूज्य (पित्रे) पिता तथा उसके समान ज्ञानदाता वृद्ध पुरुष के उपकारार्थ (स्व नपातम्) कभी नष्ट न होनेवाले अपने धन और (नववास्त्वम्) उत्तम से उत्तम

नवीन रहने के घर और पहनने के नवीन वस्त्र तथा (अनुदेयम्) पीछे से विदाई आदि के अवसर पर देने योग्य अन्य उत्तम पदार्थों को (पराददाथ) दिया कर। इस प्रकार (वृधः वरिवस्यन्) वृद्धों की सेवा करता हुआ (त्वम्) तू (पूर्व्यः भूः) अपने से पूर्व विद्यमान् माता-पिता आदि तथा अन्य वृद्धजनों का हितकारी बन। ऋग्वेद ७।७।३ में उपदेश किया गया है कि—

आ मातरा विश्ववारे हुवानो यतो यविष्ठ जज्ञिषे सुशेवः ॥

(ऋ० ७।७।३)

हे (यविष्ठ) बलशालिन् तरुण! तू (यतः) जिनसे (जज्ञिषे) उत्पन्न होता है, वे (मातरा) माता-पिता (विश्ववारे) सब सुखों के देनेवाले, सब प्रकार से वरण योग्य, परम पूज्य होते हैं। उन दोनों की तू (आहुवानः) आदरपूर्वक स्तुति करता और उन्हें पुकारता हुआ (सुशेवः), उनको उत्तम सुख देनेवाला तथा उनकी अच्छी प्रकार से सेवा करनेवाला बन। (शेवृ-सेवने तथा शेवम् इति सुखनाम निघ० ३।६)

कितनी उत्तमता से वेदों में माता-पिता की सेवा करना तथा उन्हें सुख देना सन्तान का कर्त्तव्य बताया है। यदि सन्तान अपने इस कर्त्तव्य का वृद्ध माता-पिता के प्रति पालन करने लग जाये, तो वृद्धजन समस्या का अस्तित्व ही न रहे। ऋग्वेद ७।४३।३ में एक उपमा द्वारा माता-पिता का भरण-पोषण करनेवाले पुत्रों की प्रशंसा की गयी है।

आ पुत्रासो न मातरं विभृत्राः सानौ देवासो बर्हिषः सदन्तु ॥

(ऋ० ७।४३।३)

(मातरं विभृत्राः पुत्रासः न) माता-उपलक्षण से पिता को विशेष रूप से भरण-पोषण करनेवाले पुत्रों की तरह (देवासः) सत्य निष्ठ विद्वान् लोग (बर्हिषः सानौ सदन्तु) वृद्धिशील उन्नत राष्ट्र के उच्च पदों पर विराजमान हों। इस उपमा के द्वारा वेद में यह निर्देश दिया गया है कि जो पुत्र अपने माता-पिता का विशेष और विविध रूप से भरण-पोषण करते तथा इस प्रकार उनकी सेवा करते हैं, वे उनके शुभ आशीर्वाद से उन्नत पदों को प्राप्त करते हैं। यजु० २।३२ में पितरों को सम्बोधन करते हुए उन्हें बार-बार नमस्कार किया गया है तथा उनके सुख के लिये सब उत्तम आवश्यक वस्तुएँ देने का आदेश है। मन्त्र इस प्रकार है—

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः ॥ (यजु० २।३२)

हे (पितरः) हमारा पालन करनेवाले पितरो, वृद्धजनो! (रसाय) ब्रह्मानन्द

रस और ज्ञान रस के लिये (वः नमः) आप को हम नमस्कार करते हैं—आपका आदर करते हैं। (शोषाय) आपका जो शोषण अर्थात् दुःख निवारण सामर्थ्य है, उसके लिये (वः नमः) हम आपका आदर करते हैं। (जीवाय) आपका सन्तान को उत्तम जीवन देने का जो सामर्थ्य है उसके लिये (वः नमः) आपको हमारा नमस्कार हो। (स्वधायै वः नमः) आपको अपने जीवन की धारणा करानेवाली आत्मिक शक्ति के लिये हम आपका आदर करते हैं। (घोराय) पाप तथा पापियों के प्रति आपके घोर रूप के लिये (वः नमः) हम आपको नमस्कार करते हैं। (मन्यवे वः नमः) अन्याय, अत्याचार के प्रति जो आपका मन्यु है, उसके लिये हम आपका आदर करते हैं। (पितरः वः नमः) हे हमारे माता–पिता तथा अन्य पालक महानुभावो! हम आप को नमस्कार करते हैं। (पितरः वः नमः) हे पितरो! हम आपका आदर करते हैं। हे (पितरः) पालक पितरो! (नः गृहान् दत्त) हमारे गृहनिवासी सब को उचित शिक्षा प्रदान करो, हे (पितरः) हम (वः) आपको (सतः देष्म) अपने पास विद्यमान नाना धन आदि पदार्थों को दें, (वः) आपके लिये (एतत् वासः) यह उत्तम वस्त्र है, इसे स्वीकार कीजिये।

इस प्रकार पितरों–माता, पिता, आचार्य, गुरु तथा वृद्धजनों को आदरपूर्वक नमस्कार करना तथा उन्हें अन्न, धन, वस्त्रादि देकर उनकी सेवा करना, यह सन्तान और प्रजा का कर्त्तव्य वेदों में बतलाया गया है। अथर्ववेद ८।१०।(३)।४ में कहा है—

तस्मा॑त्पि॒तृभ्यो॑ मा॒स्युप॑मास्यं ददति॒ प्र पि॑तृ॒याणं॒ पन्था॑ जानाति॒ य ए॒वं वेद॑॥
(अ० ८।१०।(३)।४)

(तस्मात्) इसलिए (पितृभ्यः) पितरों को (मासि उपमास्यं ददति) प्रतिमास मासिक वृत्ति उनकी भोजन–वस्त्रादि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सन्तान देते हैं। (यः एवं वेद) जो अपने इस कर्त्तव्य को जानता और उसका पालन करता है, वह (पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) पितृयाण मार्ग को अच्छी प्रकार जानता है। यहाँ पितरों की तृप्ति अर्थात् उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सुख–सुविधा के लिए मासिक वृत्ति का भेंट देने का विधान है जिसे वैदिक साहित्य में "स्वधा" के नाम से कहते हैं। स्वधा से तात्पर्य स्व अपने शरीर को धा–धारण करनेवाली वृत्ति का है जिसे प्रत्येक पुत्र को माता–पिता के पालन के लिए अवश्य देना ही चाहिए। (यदि वे अपने आश्रम धर्म का पालन करने के लिए पृथक् भी निवास करें।)

इसी बात को लेकर शतपथ १।४।१७ में कहा है—

पूर्वे वयसि पुत्राः पितर मुपजीवन्ति उत्तमे वयसि पुत्रान् पितोप जीवति॥
(शतपथ १।४।१७)

अर्थात् बाल्यावस्था में पुत्र पिता के आधार पर जीते हैं, उत्तम वय वा

वृद्धावस्था में पिता पुत्रों के धन के आधार पर जीता है। पुत्र पिता के निर्वाहार्थ तथा उसकी आवश्यकताओं की पूर्त्यर्थ धन देते हैं।

इस प्रकार हमने वेदों के द्वारा वृद्धजन समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। हमने आश्रम व्यवस्था के प्रकरण में वेद मन्त्रों के प्रमाण देकर जैसे बताया है ५० वर्ष की आयु के पश्चात् पुत्र का पुत्र होने पर प्रत्येक को शान्ति और आनन्द प्राप्त करने के उद्देश्य से वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा ले लेनी चाहिए। इस तरह घर से पृथक् एकान्त स्थान अथवा वानप्रस्थ आश्रम में रहकर जप, तप, ध्यान, योगाभ्यास तथा स्वाध्याय, प्रवचन आदि में समय लगाने से जहाँ वृद्ध नर-नारी शान्ति प्राप्त कर सकेंगे, वहाँ युवक गृहस्थ भी स्वतन्त्रता पूर्वक सुखी रहेंगे तथा सास-बहू आदि के विवादों के लिये अवकाश ही न रहेंगे। सन्तान को इतना अवश्य चाहिए कि अपने वानप्रस्थाश्रमी पिता-माता की सुख-सुविधाओं की पूर्ति के लिये उन्हें मासिक भेंट "स्वधा" के रूप में भेजते रहें जिससे वे निश्चिन्त होकर योगाभ्यास, जप, तप, स्वाध्याय, प्रवचनादि कर्त्तव्यों के पालन में तत्पर रहें।

पाश्चात्त्य देशवासियों में भी वेद की इस अध्याय में वर्णित शिक्षाओं का प्रचार करना चाहिए जिससे वहाँ के युवक भी माता-पिता के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकें। दुर्भाग्य तथा स्वार्थवश अभी तक उनका ध्यान इस ओर नहीं गया है।

कुछ सरकारों के इस दिशा में प्रशंसनीय प्रयत्न—

यह प्रसन्नता की बात है कि देश-विदेश की कुछ सरकारों ने इस वृद्धजन समस्या को हल करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया है। विदेशों में अनेक सरकार वृद्धजनों को जिनका कोई आमदनी का स्रोत नहीं होता पेंशन देती हैं। इसे Old Age Pension के नाम से पुकारा जाता है। भारतवर्ष की केन्द्र सरकार को भी इस विषय में कुछ ठोस कदम उठाने चाहिए।

अध्याय-१०

व्यष्टिवाद, पूञ्जीवाद, समाजवाद एवं साम्यवाद

वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की सर्वोत्तमता को स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यष्टिवाद (Individualism), पूञ्जीवाद (Capitalism), समाजवाद (Socialism), साम्य व वर्गवाद (Communism), फासिज्म (Fascism) आदि अनेक सामाजिक व आर्थिक वादों का जो आजकल प्रचलित हैं, उनका भी दिग्दर्शन कराकर संक्षेप में उनका विवेचन किया जाये।

व्यष्टिवाद (Individualism)—

समाजशास्त्र में व्यष्टिवादियों का जो मत है वह इंग्लैंड के प्रसिद्ध समाजशास्त्रज्ञ हर्बर्ट स्पेन्सर के निम्नलिखित वाक्यों से ज्ञात हो सकता है—

"The Society exists for the benefit of its members, not its members for the benefit of the Society. It has ever to be remembered that great as may be the efforts made for the prosperity of the body politic, yet the claims of the body politic are nothing in themselves and become something only in so fas as they embody the claims of its composit individuals".

(Principles of Sociology by Herbert Spencer-Vol. I., Part II Chapter II)

तात्पर्य यह है कि समाज, अपने अंगरूप सभासदों के लाभ के लिए है, इसके सदस्य समाज के लाभ के लिए नहीं। इस बात को सदा याद रखना चाहिए कि समाजरूपी शरीर के विचार के लिए कितने भी बड़े यत्न क्यों न किये जायें, वह समाज-शरीर का दावा अपने आप कुछ भी महत्त्व का नहीं, जब तक कि वह व्यक्तियों के अधिकारों अथवा दावों का प्रकाशक न हो। इस रीति से हर्बर्ट स्पेन्सर ने व्यष्टिवाद को प्रधानता देते हुए "Man Versus State" इत्यादि ग्रन्थों में किसी भी प्रकार के समाजवाद को साम्यवाद की दासता का कारण बताया है। उन्होंने अपने एक लेख में "All Socialism involves Slavery" अर्थात्—सारा समाजवाद दासता को लानेवाला है, ऐसा बार-बार कहा है।

प्रोफेसर फ्रैंकलिन हेनरी गिडिंग्स (Franklin Henry Giddings) नामक अमरीकन समाजशास्त्रज्ञ ने भी अपना झुकाव इसी व्यष्टिवाद की ओर दिखाया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ "Principles of Sociology" में बताया है—

"The end of human society is the development of the National and Spiritual personality of its members".

अर्थात् मनुष्य समाज का उद्देश्य व्यक्तियों के बुद्धि सम्बन्धी तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास करना है। इसके आगे उन्होंने ठीक कहा है कि शिक्षा, धर्म, विज्ञान तथा शिल्प सम्बन्धी संस्थाएँ तथा साथ ही सभ्य समाज सीधे तौर पर व्यक्ति पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालते हैं।

इन शब्दों के अन्दर जो व्यष्टिवाद प्रकट किया गया है वह सीमित तथा माननीय है। निःसन्देह समाज वा संघ इसलिए नहीं कि वह अपने अवयवरूप सदस्यों के व्यक्तित्व का नाश कर दे, बल्कि इसलिए है कि उसके द्वारा उचित व्यक्तित्व के विकास में पूरी सहायता मिल सके। व्यक्ति समाज का दास नहीं, यह व्यष्टिवादियों का कथन यथार्थ है। किन्तु समाज के विना व्यक्ति अपनी पूर्ण उन्नति करने में असमर्थ है। यदि व्यक्ति पृथक्-पृथक् अपने शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि की शक्तियों को विकसित करने का पूरा प्रयत्न न करें, तो उनसे बना हुआ समाज भी वैसे ही शिथिल और ढीला-ढाला रहेगा। व्यक्तियों के विना समाज की सत्ता ही कायम नहीं रह सकती, इसलिए कोई कारण नहीं कि व्यष्टिवाद और समष्टिवाद को परस्पर विरोधी समझा जाये। जब व्यक्ति और समाज एक दूसरे के सहायक होते हैं, तभी सब प्रकार की शान्ति रह सकती है। इसलिए वेदों में वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों प्रकार की उन्नति को साथ-साथ करने का आदेश दिया गया है और दोनों में से किसी एक की भी अपेक्षा को हानिकारक बताया गया है। इस सम्बन्ध में हम यजुर्वेद अ० ४० के कुछ मन्त्रों को उद्धृत करते हैं—

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याᳯ रताः॥ ९॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १०॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयᳬसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥ ११॥

इन मन्त्रों का मुख्य तात्पर्य यह है कि जो पुरुष केवल असम्भूति अर्थात् वैयक्तिक उन्नति के अन्दर ही लीन हो जाते हैं, वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं। और जो अपनी उन्नति न करके, सामाजिक उन्नति की चिन्ता में ही दिन-रात तत्पर रहते हैं, वे उनसे भी अधिक घने-अन्धकार में जाते हैं। तत्त्वज्ञानी महात्मा ऐसा बताते हैं कि वैयक्तिक उन्नति का फल सामाजिक उन्नति के फल से भिन्न है

और दोनों का ही फल अद्भुत हैं। जो पुरुष सम्भूति और विनाश अर्थात् सम्+भूति: सामाजिक उन्नति के द्वारा मृत्युभय या अकाल मृत्यु को दूर करके संघ भाव व सामाजिक उन्नति से अमरत्व प्राप्त करता है। सारांश यह है कि इन दोनों भावों क साथ मिलाकर कार्य करने से ही व्यक्ति का अपना और साथ-साथ समाज क वास्तविक कल्याण हो सकता है। अन्यथा नहीं। इस आशय के अन्य अनेक मन्त्र को हम गत अध्याय में अर्थ सहित उद्धृत कर चुके हैं।

पूञ्जीवाद (Capitalism)—

पूञ्जीवाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक तो शुद्ध सिद्धान्त वे अर्थ में अर्थात् इस सिद्धान्त के लिए कि व्यवसायों के द्वारा व्यक्तियों को पूंजी जम करने और इस पूंजी से लाभ उठाकर उसे इकट्ठी करने का अधिकार है। दूसर प्रयोग इस सिद्धान्त के आधार पर स्थित वर्तमान पद्धति के लिए होता है जिसमें वस्तुत: सारे व्यवसाय थोड़े से पूंजीपतियों के हाथ में हैं जिनकी पूंजी न केवल अर्थ नीति वरन् राजनीति पर भी नियन्त्रण करती हैं। पूंजीपतियों का लक्ष्य प्राय यही रहता है कि मजदूरों से अधिक-से-अधिक काम लिया जाये और उन्हें कम-से-कम मजदूरी दी जाये। मजदूरों के सारे जीवन का सार इन शब्दों में व्यक्त किय जा सकता है कि हम काम करने जाते हैं ताकि रुपये मिलें, ताकि हम भोजन मोल लें, ताकि शरीर में बल आवे, इत्यादि। मजदूर इसलिए काम नहीं करता कि वह उसे काम समझता है या उसे उसमें रस आता है। वरन् इसलिए कि वह उसक एक मात्र जीवनोपार्जन का साधन है। प्रत्येक पूंजीपति यही चाहता है कि मैं वस्तुओं को तैयार करता जाऊँ और दूसरे लोग मुझ से मोल लेते जायें। मशीन से थोड़ा माल तैयार करने से तो कोई लाभ नहीं होता। मशीन तो थोक माल तैयार करने के लिये हैं। परन्तु पूंजीपति भी तो अनेक हैं और उनकी कम्पनियाँ भी अनेक हैं। पहले पहल तो बाजार बहुत बड़ा होता है, माल की माँग अधिक होती है और सब को पर्याप्त लाभ होता है। पर मशीनें तो सब के पास है और सभी अधिक-से-अधिक माल तैयार कर रहे हैं। यदि ऐसा न हो तो मशीनें व्यर्थ रहे और घाटा रहे। परिणाम यह होता है कि माल बहुत तैयार हो जाता है। इस अवस्था में दो ही बातें सम्भव हैं। यदि माल की मात्रा कम की जाये, तव उत्तम मुनाफा होता है, नहीं तो मूल्य कम मिलेगा। पूंजीपति परोपकार बुद्धि से तो व्यवसाय करता नहीं। उसका उद्देश्य किसी तरह रुपया कमाना होता है, लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना नहीं। अत: अपने लाभ के लिये वह तैयार माल को नष्ट कर देता है। ऐसे कितने ही उदाहरण हैं जब अमरीका आदि देशों मे कहवा और सेब समुद्र में फेंक दिये गये, गेहूँ भट्टों में डालकर जलाया गया। यह इसलिए नहीं कि पृथिवी पर कोई भूखा न था। वरन् इसलिए कि माल कम होगा तो उसका दाम अधिक मिलेगा। अमरीका में रुई के खेत जला दिये गये या विना बोये हुए ही छोड़ दिये गये। ऐसा इसलिए नहीं किया गया कि अब लोग नङ्गे नहीं

रहे और रुई की आवश्यकता नहीं रही, वरन् इसलिए कि रुई कम पैदा होगी तो सूत का भाव चढ़ेगा और पूंजीवालों को कपड़े का अधिक मूल्य मिलेगा। पूंजीपतियों की आपस की प्रतिस्पर्धा के कारण इस बात की चिन्ता होती है कि कोई ऐसी युक्ति निकाली जाये जिससे हमारा खर्च कम पड़े और हमें मूल्य दूसरों के बराबर मिले। ऐसा होने से मुनाफा अधिक होगा। इस प्रकार प्रत्येक पूंजीपति दूसरे पूंजीपतियों को, जो उसी व्यवसाय को करते हैं, गिराना चाहता है। इसका एक उपाय यह है कि कच्चा माल बाजार से सस्ते में खरीदा जाय। दूसरा उपाय यह है कि श्रमिकों से अधिक काम लिया जाय। तीसरा उपाय जिसका अवलम्बन करना पड़ता है वह यह है कि काम उतना ही हो पर मजदूर कम लगें। यही उपाय आजकल अधिकतर चलता है। इसको बौद्धिक संयमन (Rationalisation) कहते हैं। यह दो प्रकार से किया जाता है। कुछ तो छानबीन करके फालतू आदमी पृथक् कर दिये जाते हैं चाहे वे कार्यालय में हों चाहे मशीनों पर। मूल प्रयत्न यह होता है कि अपने पास ऐसी मशीनें हों जिनमें मनुष्य कम लगें। लाखों रुपया खर्च करके मशीनों में ऐसा उलट-फेर, ऐसी उन्नति की जाती है कि जहाँ दस मजदूर लगते थे, वहाँ पाँच ही लगे। बराबर संयमन जारी है और एक व्यवसायी की दूसरा नकल करता है, क्योंकि जो इस मैदान में पीछे रह जायेगा, उसका माल महँगा पड़ेगा और उसका लाभ कम हो जायेगा। सभी देशों, सभी व्यवसायों में इसकी धूम है। इस संयमन के फलस्वरूप लाखों मनुष्य बेकार हो जाते हैं। ये लोग या तो हाथ पर हाथ धरकर भूखों मरें, या भीख माँगें या सरकार प्रजा पर टैक्स लगाकर इनका पेट भरे। ब्रिटेन में ऐसा ही होता रहा है। इन तीनों में से कुछ भी हो, अन्ततः इन लाखों आदमियों की माल खरीदने की शक्ति नष्ट हो जाती है। सारे समाज की क्रय शक्ति कम हो जाती है क्योंकि एक बड़ी राशि किसी न किसी रूप में इन लोगों के भरण-पोषण में खर्च होती है। यह समस्या पूंजीपतियों के सामने आये दिन खड़ी रहती है। एक ओर तो माल इतना तैयार हो जाता है कि माँग होते हुए भी कम मुनाफे के भय से उसे सब का सब बेचा नहीं जा सकता तथा दूसरी ओर लाखों मनुष्यों को बेकार करना पड़ता है। जो लोग ग्राहक हो सकते हैं उनकी क्रय शक्ति कम करनी पड़ती है, यहाँ तक कि माल पड़ा रहता है पर आवश्यकता होने पर भी वे उसे खरीद नहीं सकते। यह पूंजीवाद का एक भयंकर स्वगत उच्छेदक है। पूंजीशाही का इतिहास ऐसे संकटों के वर्णन से भरा पड़ा है। जब लाखों श्रमिक बेकार हो जाते हैं, तो उनके कुटुम्बियों को मिलाकर जनता के एक बड़े अंश को भाँति-भाँति की विपत्तियाँ सहनी पड़ती है। समस्त देश को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कई प्रकार की क्षति उठानी पड़ती है। आर्थिक कष्ट तो होता ही है, स्वास्थ्य गिर जाता है, चरित्र पतन हो जाता है, संस्कृति की मर्यादा पीछे हट जाती है। अतः यह पूंजीपतियों का घरेलू प्रश्न नहीं, सारे जन-समुदाय के हिताहित का प्रश्न है। पूंजीवाद की एक और बड़ी त्रुटि है। पूंजीवाद का व्यष्टिवाद से गहरा

सम्बन्ध है। ऐसा इसलिए है क्योंकि पूंजीवाद व्यक्ति की स्वच्छन्दता और स्वार्थ बुद्धि के सहारे ही टिका हुआ है। प्रत्येक देश में प्रत्येक पूंजीपति चाहता है कि मैं देश के सारे व्यावसायिक जीवन का एकमात्र अधिष्ठाता बन जाऊँ। इसका परिणाम यह होता है कि बड़े पूंजीपति छोटे पूंजीपतियों को खा जाते हैं। बड़ों का मुकाबला छोटे नहीं कर सकते। धीरे-धीरे थोड़े से हाथों में देश का सारा व्यवसाय आ जाता है। थोड़े से लोगों का स्वार्थ बहुतों के हित को कुचल देता है। ये लोग निर्धनों का मनमाना शोषण करने लग जाते हैं।

सारांश यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था मनुष्य को लोभी और संचयशील बना देती है। लाभ और संचय की प्रवृत्ति के वशीभूत होकर कुछ थोड़े से लोग जिनके पास साधन और शक्ति होती है, ऐसा उपाय कर लेते हैं जिससे राष्ट्र की प्राकृतिक सामग्री से उत्पन्न होनेवाला सारा धन-वैभव उन्हीं के पास सीमित रहता है और सर्व-साधारण जनता तक नहीं पहुँचने पाता। ये थोड़े से धनपति राष्ट्र की प्राकृतिक सामग्री से उपजनेवाले धन-वैभव को अपने तक ही सीमित रखने के लिये सभी प्रकार के भ्रष्टाचार को काम में लाते हैं।

पूंजीवाद और वर्णाश्रम व्यवस्था

पूंजीवाद का यह दोष वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति में नहीं है। वर्णाश्रम व्यवस्था में धन की महत्ता को बहुत कम कर दिया गया है। पूंजीवाद में धन की महत्ता सर्वोपरि रहती है। वहाँ धन ही सब कुछ है। वर्णाश्रम व्यवस्था में यह बात नहीं है। वहाँ धन को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है। वर्णाश्रम व्यवस्था त्याग के जीवन पर बल देती है।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

(य० ४०।१)

तुम परमात्मा से प्रदत्त जगत् के पदार्थों का त्यागपूर्वक उपभोग करो। लोभ मत करो। यह धन किसका है, इस पर विचार करो। यह सारा धन प्रजापति परमेश्वर का है। वही इसका स्वामी है। तुम इसके स्वामी नहीं बल्कि न्यासधारी (ट्रस्टी) के समान हो। यह वैदिक शिक्षा पूंजीवाद की बुराइयों को दूर करने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था में केवल वैश्य गृहस्थों को ही धन कमाने का अधिकार और कर्त्तव्य दिया गया है। अन्य वर्णाश्रमियों को नहीं। वैश्यों को भी केवल धर्म न्याय युक्त शुद्ध साधनों से सर्व-हितार्थ धन कमाने की अनुमति है, अधर्मयुक्त साधनों और भ्रष्टाचार आदि से नहीं। **अर्थ का स्थान धर्म के पीछे है। वेदों में बार-बार इस प्रकार के उपदेश आते हैं—**

शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः॥

(ऋ० ८।९५।८; सा० १४०३)

इन्द्र॑ शु॒द्धो हि नो॑ र॒यिं शु॒द्धो रत्ना॑नि दा॒शुषे॑।
शु॒द्धो वृ॒त्राणि॑ जिघ्नसे शु॒द्धो वाजं॑ सिषाससि॥

(ऋ० ८।९५।८; सा० १४०४)

इनका स्पष्ट अभिप्राय है कि हे (इन्द्र) आत्मन्! तू (शुद्धः रयिं निधारय) शुद्ध, पवित्र, सदाचारी और धर्मात्मा रहकर ही धन को धारण कर और (सोम्य) हे शान्त स्वभाववाले! (शुद्धः ममद्धि) शुद्ध होता हुआ अर्थात् धनयुक्त साधनों से ही सदा प्रसन्न और तृप्त रह।

हे (इन्द्र) जीवात्मन्! (शुद्धः हि नः रयिम्) तू शुद्ध पवित्र होकर ही धन को धारण करता और (शुद्धः दाशुषे रत्नानि) शुद्ध पवित्र होकर समाज सेवक, दानशील पुरुषों के लिये रत्नों को देता है। (शुद्धः वृत्राणि जिघ्नसे) शुद्ध पवित्र होकर तू अज्ञान, पापादि बुराइयों का नाश करता है। और (शुद्धः वाजं सिषाससि) शुद्ध पवित्र होकर तू बाज-ज्ञान, अन्न, बल और पशु आदि धन को बाँटना चाहता है। बाज शब्द के अर्थ निघण्टु में "वाज इति अन्न नाम"। (निघं० २।७१) 'वाज इति बलनाम' (निघं० २।९) ये अर्थ दिये हैं। यह वाज शब्द वज-गतौ धातु से बनता है। इसके ज्ञान, गमन, प्राप्ति-ये तीन अर्थ होते हैं। अतः ज्ञान भी वाज के अर्थों में से है। "वाजो वै पशवः" (ऐत० ५।८) के अनुसार पशु इत्यादि रूप धन का भी वाज से ग्रहण होता है। मन्त्र में मनुष्य के लिए उपदेश है कि तू शुद्ध पवित्र, सदाचारी, धर्मात्मा होकर वाज अर्थात् अन्न, ज्ञान, धन और बल को बाँट। इनको परोपकार के कामों में लगा। (शण-संभक्तो अथवा पशु-दाने) इस प्रकार इससे पूंजीवाद के मूल पर ही कुठाराघात होता है क्योंकि पूंजीवाद लोभ और संचय शीलता की प्रवृत्ति को बढ़ाता है।

फासिज्म (Fascism)—

यह वाद भी आजकल के प्रचलित वादों में से है। इसमें इटली के फासिज्म, जिसका अधिनायक मुसोलिनी था, जर्मनी के नाजिज्म, जिसका अधिनायक हिटलर था, फ्राँस और स्पेन के फलांगिस्टवादि का समावेश होता है। फासिज्म का एकमात्र सिद्धान्त है कि अपने राष्ट्र का आधिपत्य बढ़ाना, चाहे इससे दूसरे राष्ट्रों का अहित भी हो। यह अधिनायकत्व वा डिक्टेटरशिप का समर्थक और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का व प्रजातन्त्र शासन का प्रबल विरोधी है। इटली के सर्वेसर्वा वा एकमात्र अधिनायक मुसोलिनी ने स्पष्ट घोषणा की थी कि—

"Both in Russia and in Italy, it has been demonstrated that it is possible to govern outside, above and against all liberal ideas. Neither communism nor fascism has anything in common with liberty. Fascism is not afraid to declare itself illiberal or anti-liberal. It has already passed,

and if necessary, will again pass without the slightest hestitation over the body, more or less decomposed, of the Goddess of Liberty".

(George Seldes in World Panorama 1918-1933 P. 142 Ancient Vs. Modern Scientific Socialism by Dr. Bhagvan Dass)

अर्थात् रूस और इटली दोनों देशों में यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि सभी उदार विचारों के बाहर, ऊपर और विरुद्ध चलकर शासन करना सम्भव है। समष्टिवाद (कम्युनिज्म) या फासिज्म दोनों में से एक की भी स्वाधीनता के साथ जरा भी सजातीयता नहीं है। फासिज्म को यह घोषित करने में किंचिन्मात्र संकोच नहीं है कि वह अनुदार या उदारता विरोधी है। फासिज्म एक बार स्वतन्त्रता की देवी के न्यूनाधिक सड़े हुए शरीर पर से गुजर चुका है और यदि आवश्यकता हुई तो ऐसा फिर करने को तैयार है।

माननीय डॉ० सम्पूर्णानन्दजी ने अपनी "समाजवाद" नामक पुस्तक में मुसोलिनी के इन शब्दों को पृ० ६४ में उद्धृत करके ठीक ही लिखा है कि जिस वाद के प्रधान आचार्य ऐसी बातें कह सकते हैं, उससे जगत् के कल्याण की आशा रखना बालू से तेल की आशा रखने के बराबर है। मुसोलिनी और हिटलर ने अपने देश का आधिपत्य और अपनी सर्वाधिकारिता को स्थापित रखने के लिए जरा भी राजनैतिक मतभेद रखनेवालों पर जो अत्याचार किये और अन्त में इन दोनों की जो दुर्गति हुई, वह सर्वविदित है।

समाजवाद (Socialism)—

पाश्चात्त्य देशों में समाजवाद का कोई एक निश्चित स्वरूप नहीं है। जौन स्टुआर्ट (John Stuart Mill), प्रो० रिचर्ड एलाई, बर्नार्ड शॉ आदि ने इसके जो लक्षण किये हैं उनमें पर्याप्त अन्तर है। अत: इसके अनेक भेद भिन्न-भिन्न देशों में प्रचलित हैं। इन लक्षणों का हम आगे निर्देश करेंगे। भारत में भी महात्मा गाँधी, पं० जवाहरलाल नेहरू, आचार्य कृपलानी आदि भारतीय नेताओं ने समाजवाद के विषय में जो मुख्य बातें लिखी हैं, उनका हम संक्षेप से निर्देश करते हुए, वेदोक्त वर्णाश्रम व्यवस्था के साथ उसका तुलनात्मक अनुशीलन करेंगे। समाजवाद की कुछ विशेष मौलिकताएँ निम्न कही जाती हैं—

१. समाजवाद सब असमानताओं को मिटाने का पक्षपाती है।

२. वह सबसे पहले आर्थिक असमानताओं को दूर करना चाहता है। उसकी विचारधारानुसार, अन्य क्षेत्रों में जो असमानताएँ पाई जाती हैं, वे सब इसी आर्थिक असमानता के कारण हैं।

३. वह समाज में शोषक और शोषित का भेद मिटाना चाहता है।

४. वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को काम देने का दावा करता है और समाज से गरीबी और बेकारी को सदा के लिए मिटाना चाहता है।

५. समाजवाद समाज से सभी प्रकार के संघर्ष दूर करना चाहता है।

६. उसकी यह दृढ़ धारणा है कि उपर्युक्त सिद्धान्त का कार्यान्वित करने से स्वार्थ, परार्थ में परिणत हो जायेगा।

७. समाजवाद के प्रचार से ऊँच, नीच, छोटे, बड़े का अन्तर समाप्त हो जाएगा।

ये समाजवाद के सात मूल सूत्र कहे जा सकते हैं जो सर्वसाधारण के लिए बड़े आकर्षक और विमोहक हैं और जिनसे वे प्राय: इसकी ओर आकर्षित हुए विना नहीं रह सकते।

समाजवाद (Socialism) के कुछ लक्षण—

सुप्रसिद्ध लेखक और विचारक जौन स्टुआर्ट मिल ने अपनी पुस्तक "Principles of Social Economy" में समाजवाद का लक्षण करते हुए लिखा है—

"What is characteristic of Socialism is the joint ownership by all members of the Community of the instruments and means of production, which carries with it the consequence, that the division of all the produce among the body of owners must be a public act performed according to the rules laid down by the Community."

(Principles of Social Economy by J.S. Mill)

अर्थात् समाजवाद का लक्षण या विशेषता यह है कि इसके अनुसार उत्पादन के सब उपकरणों व साधनों पर समाज का सम्मिलित स्वामित्व हो जिसका परिणाम यह हो कि स्वामियों के समूह के अन्दर उत्पादन का विभाजन एक सार्वजनिक कार्य होना चाहिए जो कि समाज द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार हो।

२. प्रो० रिचर्ड एलाई ने अपनी पुस्तक "Socialism and Social Reform" में समाजवाद का लक्षण इन शब्दों में किया है—

"Socialism is that contemplated system of **Industrial Society which proposes the abolition of Private Property** in the great material instruments of production, the **substitution therefore of collective Property** and advocates the Collective management of production together with the distribution of Social income by Society and private property in the larger proportion of this Social Income".

(Socialism and Social Reform by Richard Ely)

अर्थात् समाजवाद औद्योगिक समाज की वह विचारपूर्ण प्रणाली है जो उत्पादन के बड़े साधनों में वैयक्तिक वा निजी सम्पत्ति को समाप्त करने का प्रस्ताव करती और उसके स्थान पर सामूहिक सम्पत्ति को रखना चाहती है। साथ ही वो

उत्पादन के सामुदायिक स्वामित्व वा सामाजिक आय तथा वैयक्तिक सम्पत्ति के समाज द्वारा विभाजन का समर्थन करती है।

३. जार्ज बर्नार्ड शॉ नामक जगद्विख्यात मनीषी लेखक ने समाजवाद का लक्षण इन शब्दों में किया—

"Socialism, reduced to its simplest legal and practical expression, **means the complete discarding of the institution of private property by transforming it into public property** and the division of the resultant public income equally and indiscriminately among the entire population. **In socialism, private property is anathema and equal distribution of income, the first consideration.**"

(Geroge Bernard Shaw's Article quoted in India's Sociali stic attern of Society by Jag Parvesh Bhandra P. 34)

अर्थात् समाजवाद का, जब इसको बिल्कुल सीधे-सीधे कानूनी और क्रियात्मक रूप में प्रकट किया जाय, तो इसका अर्थ है वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा का सर्वथा परित्याग और इसे सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में परिणत करना तथा इसके परिणामस्वरूप सार्वजनिक आय का सारी जनसंख्या के अन्दर समाज और विवेक वा भेद रहित विभाजन। समाजवाद में वैयक्तिक सम्पत्ति एक अभिशाप है और आय का समान विभाजन उसका प्रथम विचार है।

जिन पाश्चात्त्य समाज और अर्थशास्त्रियों के समाजवाद विषयक लक्षणों को हमने उद्धृत किया है उनमें मुख्य बात यह है कि वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा को समाप्त करके उत्पादन के सब साधनों पर समाज वा राष्ट्र का अधिकार रहे। यह किस प्रकार से किया जाय, हिंसा मार्ग के द्वारा जैसे हि साम्यवाद वा कम्युनिज्म के अनुयायी कहते हैं अथवा धीरे-धीरे वैज्ञानिक प्रकार से, इस विषय में समाजवादियों में भी एक विचार नहीं है। अतः उसके भी National Socialism, Guild Socialism, Fabian Socialism, Democratic Socialism. Socialism इत्यादि कई भेद हैं। पं० नेहरूजी का यह कथन उचित ही था कि "We prefer to do things in our own way". (pt. J.L. Nehru)

अर्थात् हम चीजों को अपने तरीके से करना पसंद करते हैं। उनके इस समाजवाद पर क्या विचार थे, यह काँग्रेस के भुवनेश्वर (उड़ीसा) में हुए ६८वें अधिवेशन के अवसर पर (जो ६, ७, ८ जनवरी, १९६४ ईस्वी को हुआ) प्रकाशित स्मारिका (Souvenir) में प्रकाशित उनके लेख से स्पष्टतया ज्ञात हो सकता है, जिसके मुख्य अंश निम्नलिखित थे—

पं० जवाहरलालजी के समाजवाद विषयक विचार—

"Socialism means equality. It means equal opportunities for every

one. It means that the methods of production should be controlled by the State. But in order to take steps towards introducing a Socialist structure of Society, it is inevitable that the major methods of production should be owned or controlled by the State, otherwise the old order, which we wish to change, will continue and all the vested interests of that order, will flourish." (All India Congress Souvenir, Janauary 1964)

अर्थात् समाजवाद का अर्थ समानता है। समानता से तात्पर्य सबके लिए समान अवसर देने का है। इसका यह अर्थ है कि उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। किन्तु एक समाजवादी प्रकार के समाज निर्माण का प्रारम्भ करने के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि उत्पादन के मुख्य-मुख्य साधनों पर राज्य का स्वामित्व या नियन्त्रण रहे। अन्यथा वह पुराना क्रम, जिसको हम परिवर्तित करना चाहते हैं, जारी रहेगा और उस क्रम के निहित स्वार्थ भी फूलते-फलते रहेंगे। इसके बाद पं० नेहरूजी ने लिखा—

"In our case, we have deliberately adopted what is called a mixed economy. To some extent, every economy, whatever you may call it, is a mixed economy. The question is who controls that economy and whether it functions for the common good or for the good of a small number of individuals. Therefore all the strategic points of that economy should be controlled on behalf of the people." (Nehru ji)

अर्थात् हमने अपने मामले में जानबूझकर मिश्रित अर्थव्यवस्था को स्वीकार किया है। कुछ अंश तक तो प्रत्येक अर्थव्यवस्था—चाहे आप उसको किसी भी नाम से पुकारें-मिश्रित अर्थव्यवस्था होती है। प्रश्न यह है कि इस अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण कौन करता है और क्या यह सर्वसामान्य जनता के हित के लिए कार्य करती है अथवा व्यक्तियों की एक छोटी-सी संख्या के हित के लिये। इसलिए उस अर्थव्यवस्था के सब युद्ध-नीतिक वा महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर जनता की ओर से नियन्त्रण होना चाहिए।

महात्मा गाँधी के समाजवाद-विषयक विचार

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने भी समाजवाद पर अपने विचारों को कई लेखों में प्रकट किया था। वे पक्के ईश्वर विश्वासी, भक्त वा महात्मा थे। उनकी समाजवाद-विषयक कल्पना निम्न लेख से स्पष्टतया प्रकट होती है जिसको हम यहाँ भारतीय विद्या भवन बम्बई के अंग्रेजी पाक्षिक मुख पत्र "Bhavan's Journal" के १९ जनवरी, सन् १९६४ ईस्वी के अंक से उद्धृत कर रहे हैं—

"Socialism is a beautiful word and so fas as I am aware, in

Socialism, all the members of Society are equal-none low, none high, In the individual body, the head is not high because it is the top of the body, nor are the soles of the feet low because they touch the earth. Even as members of the individual body are equal, so are the members of Society. This is Socialism."

"In it, the Prince and the peasant, the wealthy and the poor, the employer and the employed, are all on the same level, In terms of religion, there is no duality in Socialism. It is all Unity."

(Mahatama Gandhi on Socialism)

अर्थात् समाजवाद क्या है, समाजवाद (Socialism) एक सुन्दर शब्द है और जहाँ तक मेरा ज्ञान है, समाजवाद में समाज के सब सदस्य समान होते हैं, कोई नीचा और कोई ऊँचा नहीं होता। एक व्यक्ति के शरीर में सिर इसलिए उच्च नहीं क्योंकि यह शरीर का सब से ऊँचा भाग है और पैर के तलुवे इसलिए नीच नहीं कि वे भूमि का स्पर्श करते हैं। जैसे शरीर के सब अंग समान हैं, वैसे ही समाज के सब अंग भी समान हैं। यह समाजवाद है। इसमें राजकुमार और कृषक, धनी और निर्धन, धनपति और सेवक–सब एक ही स्तर पर हैं। धर्म के शब्दों में समाजवाद में कोई द्वैत नहीं। एक एकता है। इसके पश्चात् गाँधीजी ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात लिखी जिसकी ओर बहुत ही कम समाजवादियों का ध्यान है—

"Truth and Ahimsa must incarnate in Socialism. In order that they can, **the votary must have a living faith in God.** He who denies the existence of that Great Force, denies to himself the use of that inexhaustible Power and thus remains impotent. **He is like a rudderless ship which** tossed about here and there, perishes without making any headway." "**The Socialism of such people takes them no where,** what to say of the Society in which they live."

(Mahatama Gandhi on Socialism "Bhavan's Journal" 19thl Jan. 1964)

अर्थात् सत्य और अहिंसा का समाजवाद में अवतरण हो जाना चाहिए। मूर्तरूप होना चाहिए। इसलिए कि सत्य और अहिंसा समाजवाद में अवतरित हो सकें, **समाजवाद के पक्षपाती का ईश्वर में जीवित जागृत विश्वास होना चाहिए।** जो इस महाशक्ति की सत्ता से इन्कार करता है, अपने को एक अक्षय शक्ति से वञ्चित कर देता है और इस प्रकार नपुंसक रह जाता है। वह बिना चप्पू के जहाज के समान है जो इधर–उधर डोलता हुआ कुछ भी प्रगति किये बिना नष्ट हो जाता है। ऐसे ईश्वर विश्वास विहीन लोगों का समाजवाद, उन्हें कहीं भी नहीं

पहुँचाता। जिस समाज में वे रहते हैं, उसके विषय में तो फिर कहना ही क्या है।

महात्मा गाँधी का समाजवाद और वैदिक समाजवाद—

महात्मा गाँधी के समाजवाद–विषयक ये शब्द स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं उनसे कम्युनिज्म् (साम्यवाद) के तो मूल में ही कुठाराघात हो जाता है जो न केवल अनीश्वरवादी है अपितु अनीश्वरवाद का प्रचार करने के लिए कटिबद्ध है। इस विषय के स्पष्ट प्रमाण हम साम्यवाद वा कम्युनिज्म पर विचार करते हुए आगे देंगे। साम्यवाद वा कम्युनिज्म को भी समाजवाद (Socialism) का एक रूप समझा जाता है, पर इनमें एक बड़ा भेद यह भी है कि समाजवाद स्वयं धर्म और ईश्वरवाद का इतना विरोधी नहीं है। अनेक ईश्वरवादी आस्तिक भी अपने को समाजवादी कहते हैं जैसे कि परम आस्तिक ईश्वर भक्त महात्मा गाँधी भी अपने को समाजवादी कहते थे किन्तु उनकी समाजवाद विषयक कल्पना (जिसका हमने ऊपर उनके अपने शब्दों में उल्लेख किया है) अन्य अनेक समाजवादियों के विचारों से बहुत भिन्न थी। उनका अहिंसा, सत्य और ईश्वर विश्वास पर इतना बल भी साधारण समाजवादियों के लेखों और भाषणों में नहीं पाया जाता। उनकी समाजवाद–विषयक इस कल्पना का तो वैदिक समाजवादी (जिसे कई विद्वान् वैदिक साम्यवाद के नाम से भी कहते हैं) अत्यधिक मेल है। मनुष्य शरीर के साथ समाज की उपमा देते हुए जो बात उन्होंने अपने लेख में लिखी है कि सिर को उच्च और पैरों के तलुवे को नीच समझना जैसे अनुचित और मूर्खतापूर्ण है, वैसे ही मनुष्य समाज के भिन्न–भिन्न अंगों में उच्च–नीच की कल्पना भी ठीक नहीं है। परमेश्वर के पुत्र होने के कारण सब इस अर्थ में समान हैं और जैसे कि पं० जवाहरलालजी ने भी अपने उपरिउद्धृत लेख में कहा है कि—"Equality means equal opportunity for every one" अर्थात् समानता से तात्पर्य सब के लिये समाज अवसर देने का है। यदि समानता को शब्दशः लिया जाय तो यह स्पष्ट है कि ऐसी समानता पुरुषों और स्त्रियों में कहीं भी विद्यमान नहीं है और न कभी हो सकती है। पुरुषों और स्त्रियों की शरीर रचना में भेद है, उनकी तथा पुरुषों की शक्तियों में, प्रवृत्तियों में, रुचियों में, योग्यता में अनेक प्रकार के अन्तर सर्वत्र दिखाई देते हैं। जहाँ एक ओर अत्यन्त मेधावी प्रतिभाशाली व्यक्ति है वहाँ दूसरी ओर जड़ मति, निर्बुद्धि भी विद्यमान है। जहाँ अत्यधिक बलवान् मनुष्य हैं, वहाँ दूसरी ओर सर्वथा निर्बल, जन्म से ही रोगी भी विद्यमान हैं। इसलिए वेदों में यथार्थ स्थिति का चित्रण करते हुए कहा गया है कि—

स॒मौ चि॒द्धस्तौ॑ न स॒मं वि॑विष्टः संमा॒तरा॑ चिन्न स॒मं दु॑हाते।
य॒मयो॑श्चि॒न्न स॒मा वी॒र्या॑णि ज्ञा॒ती चि॒त्सन्तौ॒ न स॒मं पृ॑णीतः॥

(ऋ० १०।११७।९)

इसका श्री सायणाचार्य कृत भाष्य निम्न शब्दों में है—

(समौचित् हस्तौ) समावपि (समम्) समानंन (विविष्ट) कार्यं का कणपुतः। तथा (सम्मातरा) वत्सस्य मातरौ धेनू समेअपि (समम्) स मानं पयः (न दुहाते) यमयोः चित् सहजातयोः पुत्रयोरपि (समा) समानि (वीर्याणि) नसन्ति तस्मात् (ज्ञानी चित्) एकस्मिन् कुले (सन्तौ) जातावपि (समम्) (न पृणीतः) न प्रयच्छतः तस्मात् यस्य धनमस्ति स एव ददाति॥ (ऋ० संहिता भाष्ये श्री सायणः)

अर्थात् दोनों हाथ समान होते हुए भी बराबर कार्य नहीं करते। दो गौवें बराबर दूध नहीं देती। यमज पुत्रों–जुड़वों की भी शक्तियाँ बराबर नहीं होती। एक कुल में उत्पन्न हुए सम्बन्धी भी समान दान नहीं देते। इसलिए दान की प्रशंसा करते हुए उपदेश दिया गया है कि जिसके पास धन है, उसे देना ही चाहिए, यह नहीं देखते रहना चाहिए कि दूसरे लोग देते हैं या नहीं।

हमारा इस मन्त्र को अर्थ सहित यहाँ उद्धृत करने का केवल इतना ही तात्पर्य था कि वेदों के अनुसार मनुष्यों की शरीर रचना में, शक्तियों में, प्रवृत्तियों और स्वभावों में विषमता विद्यमान है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः जब यह कहा जाता है कि सब समान है, तो उसका तात्पर्य यही लेना चाहिए कि किसी विशेष वंश, देश तथा कुल में जन्म अथवा गोरे–काले रंग इत्यादि के कारण किसी को घृणा की दृष्टि से न देखना चाहिए, किसी को तुच्छ नहीं समझना चाहिए, किसी को उन्नति के अवसरों से वंचित नहीं करना चाहिए। सबको परमेश्वर के समान पुत्र समझकर उनसे भ्रातृभाव से बर्ताव करना चाहिए। यह वैदिक समाजवाद वा साम्यवाद हैं जिसका उपदेश पूर्वोद्धृत मन्त्रों—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

(ऋ० ५।६०।५)

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥

(ऋ० ५।५९।६)

इत्यादि में दिया गया है। यहाँ बताया गया है कि सब मनुष्य (भ्रातरः) भाई हैं। (एते अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः) इनमें जन्म, देश, रंग आदि के कारण कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। इस समता के भाव को धारण करते हुए ही वे (सौभागाय संवावृधुः) सौभाग्य की प्राप्ति के लिये विशेषरूप से बढ़ते हैं। (युवा) नित्य युवा अथवा संसारस्थ पदार्थों का मिलानेवाला 'यु–मिश्रणामिश्रणयोः' सर्वशक्तिमान् सर्वोत्पादक (स्वपाः) सदा उत्तम कर्म करनेवाला, सर्वथा पवित्र (रुद्रः) न्यायकारी होने से दुष्टों को रुलानेवाला परमेश्वर (एषां पिता) इन सब

मनुष्यों का पिता है। (मरुदभ्य: सुदिना) सब मनुष्यों के लिए उत्तम दिन करनेवाले सौभाग्यदायिनी (पृश्नि:) गौ के समान यह पृथिवी (सुदुघा) उत्तम दूध देनेवाली माता है। (इयं पृथिवी वैपृश्नि:—तैत्तिरीय० १।४।१।५)

ऋ० ५।५९।६ में भी यह बताया गया है कि वे सब मनुष्य समान हैं। (ते अज्येष्ठास: अकनिष्ठास: अमध्यमास:) बड़े छोटे वा मध्यम नहीं हैं। सब (उद्भिद:) उन्नतिशील होकर (महसा) अपने तेज से (विवावृधु:) विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे (सुजातास:) उत्तम रीति से वैदिक संस्कार द्वारा उत्पन्न हैं। (जनुषा पृश्निमाता:) जन्म से पृथिवी मातावाले हैं। पृथिवी अथवा मातृभूमि को अपनी माता माननेवाले हैं। वे (दिव: मार्या:) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के पुत्र रूप मर्य–मनुष्य (न: अच्छा आजिगातन) हमारे पास चारों ओर से अच्छी प्रकार आयें।

कुछ मध्यकालीन भाष्यकारों और उनके अनुयायी कुछ अंग्रेज अनुवादकों ने इन मन्त्रों को मरुद् देवता के विषय में लगाया है और प्रो० मैक्समूलर, विल्सन, मैक्डोनल आदि ने तो उन "मरुत:" का अर्थ Storm Gods वा आँधी के देव कर दिया है किन्तु मन्त्रों में जब मरुतों के लिये स्वयं मर्या:, नर:, मानुषस: इत्यादि शब्दों का प्रयोग

ते म आहुर्य आययुरुप द्युभिर्विभिर्मदे।
नरो मर्या अरेपस इमान्पश्यन्निति ष्टुहि॥

(ऋ० ५।५३।३)

संवत्सरीणा मरुत: स्वर्का उरुक्षया: सगणा मानुषास:।

(अ० ७।७७।३)

इत्यादि में पाया जाता है तब उनके मनुष्य होने में सन्देह नहीं। इसीलिए श्री सायणाचार्यजी ने ऋग्वेद ८।८९।१; ८।८९।३ में "मरुत:" का अर्थ—

हे मरुत: **मितराविण: स्तोतार:** रु शब्दे मितं रुवन्तिति मरुत: **मितभाषिण: स्तोतर: ॥**

इस प्रकार किया है। सामवेद म० २५८ बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् तथा प्रव इन्द्राय बृहते मरुतो तो ब्रह्मार्चत सामम: २, ५७ के भाष्य में नारायण पुत्र माधव और भरत स्वामी ने मरुत: का अर्थ स्तोतार: किया है।

श्री सायणाचार्यजी ने ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र (१०।७७।२)

श्रिये मर्यासो अञ्जीँरकृण्वत सुमारुतं न पूर्वीरति क्षप:।

के भाष्य में लिखा है—मर्यास: मारका: **मनुष्य रूपा वा मरुत:** पूर्वे मनुष्या: सन्त: पश्चात् सुकृत विशेषण ह्मरा आसन्॥

(श्री सायणाचार्य ऋक् संहिता १०।७७।२ भाष्ये ति० सं० सं० खण्ड ४ पृ० ८५२)

इन प्रमाणों से मरुतों का मनुष्यपरक अर्थ है। इन्हीं प्रमाणों के आधार पर महामण्डलेश्वर परम विद्वान् सर्वतन्त्र परिव्राजकाचार्य स्वामी महेश्वरानन्द–जी गिरि ने अथर्व संहितोपनिषच्छतकम् पृ० २९८ में लिखा है—

(पृश्निमातरः)–भारत मातृ भक्ताः। अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः। परस्परं ज्येष्ठ कनिष्ठभाव–उत्तमाधमभाव रहिताः–सर्व प्रकारैः समाः समान वैदिक धर्माः समान सद्भावाः **मर्याः–मनुष्याः सन्ति।**

(महामण्डलेश्वर स्वा० महेश्वरानन्दगिरि रचिते अथर्व० संहितोपनिच्छतके पृ० २९८)

इस प्रकार इन मन्त्रों में वैदिक साम्यवाद का उत्तमता से प्रतिपादन है। यद्यपि पाश्चात्त्य साम्यवाद से वह अत्यधिक भिन्न है। वैदिक समाजवाद का विवेचन हम व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध विषयक चतुर्थ अध्याय में कर चुके हैं।

पाश्चात्त्य समाजवाद के दोष—

पाश्चात्त्य समाजवादी आर्थिक नीति में कहा गया है कि उत्पादन और वितरण के सब साधनों को व्यक्तिगत अधिकार क्षेत्र से हटाकर राज्य के नियन्त्रण में लाना चाहिए। इसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्थान नहीं दिया गया है बल्कि जैसे प्रो० रिचर्ड और बर्नार्डशॉ ने समाजवाद के लक्षण करते हुए कहा है—

"Socialism proposes the abolition of private Property"-(Prof. Richard Ely) "Socialism means the complete discarding of the institution of private property"-(Bernard Shaw)

समाजवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति प्रणाली को सर्वथा नष्ट करना चाहता है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति से जो लाभ हो सकते हैं वे निम्न प्रकार हैं—

१. व्यक्तिगत सम्पत्ति से मनुष्य निश्चिन्तता और स्वतन्त्रता का अनुभव करता है।

२. सम्पत्ति या धन के अभाव में मनुष्य चिन्ताग्रस्त तो रहता ही है, साथ ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध काम करने पड़ते हैं, जिससे उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है।

३. सदाचारी एवं उन्नत जीवन व्यतीत करने के लिए मनुष्य (विशेषतः गृहस्थ) के पास सम्पत्ति का होना आवश्यक है। आर्थिक अभावों से पीड़ित मनुष्य में बहुत समय तक दृढ़ता एवं स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। उसे अर्थ–प्राप्ति के लिए विवश होकर अपनी आत्मा के विरुद्ध भी कार्य करने होते हैं।

४. सम्पत्ति की व्यवस्था मनुष्य को गम्भीर बनाती एवं राज्य को स्थायित्व प्रदान करती है। सम्पत्तिमान् व्यक्ति देश में उथल–पुथल या भीषण क्रान्ति के सदैव विरोधी होते हैं। वे सदैव राज्य की सरकार को शक्तिशाली और स्थायी बनाने में

पूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं।

५. सम्पत्तिशाली मनुष्य को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सदैव लगा रहना नहीं पड़ता है। उसके पास बहुत सा समय समाज, कला एवं साहित्य की सेवा में व्यतीत करने के लिए बचा रहता है। बहुत से सम्पत्तिशाली मनुष्य अपने जीवन का बड़ा भाग समाज, साहित्य एवं कला की साधना में लगाते देखे गये हैं।

६. वैयक्तिक सम्पत्ति प्रथा मनुष्य में साहस एवं उत्साह का संचार करती है। लाभ की आशा मनुष्य को नये-नये औद्योगिक साहस करने की प्रेरणा प्रदान करती है। यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति प्रथा न हो, तो साधारण मनुष्य केवल उतना ही कर्म करेगा जितने से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जावे। ऐसी स्थिति में व्यक्ति और राष्ट्र दोनों की आर्थिक स्थिति को धक्का लगेगा।

७. निजी सम्पत्ति को बढ़ाने के विचार से प्रत्येक मनुष्य अपनी आय में से कुछ न कुछ बचाने का प्रयत्न करता है और इस भाँति राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि हो जाती है।

८. निजी सम्पत्ति की प्रथा रचनात्मक कार्यों के लिए तथा वैयक्तिक खोजों के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करती है। भूखे रहकर विरला ही कोई व्यक्ति रचनात्मक कार्य में प्रवृत्त हो सकता है।

समाजवादी शासन नीति के कुछ दोष—

१. समाजवादी शासन नीति के कारण नागरिक व्यक्ति राज्य का दास हो जायेगा। इसकी स्वतन्त्र इच्छा का नितान्त ह्रास हो जाएगा।

२. निजी सम्पत्ति के अभाव में उसमें कार्य करने की क्षमता और उत्साह नहीं रह जायेगा जिसके कारण विकास में बाधाएँ पड़ेंगी।

३. जब राज्य अपने हाथों में उत्पादन, वितरण, शिक्षा, समाज-सुधार, देश का सब व्यापार, कला कौशल आदि सब कार्यों को ले लेगा, तब प्रजा के हाथों में क्या कार्य रह जाएगा और राज्य के लिए भी इतने अधिक कार्य करना असम्भव हो जाएगा।

४. जब प्रजा के करने योग्य व्यापारादि कार्य राज्य करेगा, तो प्रजा में बेकारी बढ़ना अनिवार्य हो जाएगा जिसे राज्य दूर करने का दावा करता है।

५. फिर व्यापारादि से जो लाभ राष्ट्र को होगा, उस लाभ को प्रजा के हित में राज्य कर्मचारी लगायेंगे और उसका वितरण करेंगे। इसकी क्या गारण्टी होगी। क्या राज्य के कर्मचारी स्वार्थवश अपना हित साधन न करके प्रजा हित करेंगे ? हमें तो वर्तमान दशा देखते हुए विश्वास नहीं होता। यदि ऐसा हुआ होता तो भ्रष्टाचार, अनाचार, कालाबाजार कभी का दूर हो गया होता और हमारा राज्य राम राज्य बन

गया होता। किन्तु अभी तक हमें न तो प्रजा की बेकारी दूर होती दिखाई दे रही है और न बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार ही। इसलिए राष्ट्र के कर्णधारों से हमारा निवेदन है कि वे प्रजा के करने योग्य व्यापारादि कार्यों को अपने हाथ में न लेकर प्रजा को ही करने दें और राष्ट्र की रक्षा, शान्ति व्यवस्था तथा न्याय विभाग और अन्तरराष्ट्रीय कार्य तथा यातायात को ही अपने हाथ में रखें। न्याय विभाग को शासन मुक्त और पूर्णतया स्वतन्त्र रखें। शिक्षा को राष्ट्रोपयोगी, सुलभ और अनिवार्य करें। ज्ञान-विज्ञान के आधुनिकतम अणु विज्ञान की वृद्धि करें। राष्ट्र को स्वरक्षा में सक्षम बनाएँ।

वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार पर प्रतिबन्ध—

वेदों में वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार किया गया है क्योंकि सम्पत्ति पर कमानेवाले का व्यक्तिगत स्वामित्व रहने से एक भारी लाभ होता है। वह यह कि ममत्व के कारण-मैं कमा रहा हूँ और यह मेरी है-इस भावना के कारण, व्यक्ति सम्पत्ति को उत्पन्न करने और उसे बढ़ाने में खूब परिश्रम करता है।

वैदिक वर्णव्यवस्था की पद्धति में भी सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। वेदों में भाँति-भाँति की धन-सम्पत्ति कमाने के लिए मनुष्यों को आदेश दिया गया है। अपना सुख मंगल बढ़ाने के लिए भगवान् से की जानेवाली वेद की प्रार्थनाओं में उपासक भाँति-भाँति की धन-सम्पत्ति की प्राप्ति की प्रार्थनाएँ भी बार-बार करता है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र इस विषय में उल्लेखनीय हैं—

१. एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर ॥
(ऋ० १।८।१)

२. अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्।
इन्द्र ता रथिनीरिषः ॥ (ऋ० १।९।८)

३. आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम्।
विश्वासु पृत्सु दुष्टरम् ॥ (ऋ० १।७९।८)

४. आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं विश्वायुपोषसम्।
मार्डीकं धेहि जीवसे ॥ (ऋ० १।७९।९)

५. सं राया भूयसा सृज मयोभुना तुविद्युम्न यशस्वता ॥
(ऋ० ३।१६।६)

६. अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः।
(ऋ० ३।३६।१०)

७. अस्मे रयिं विश्ववारं समिन्वास्मे विश्वानि द्रविणानि धेहि ॥
(ऋ० ५।४।७)

८. रायः स्याम पतयो वाजरत्नाः ॥ (ऋ० ५।४९।४)

९. आ नं इह प्र यच्छतं रयिं विश्वायुपोषसम्॥ (ऋ० ६।५९।९)

१०. दा नो अग्ने धिया रयिं सुवीरं स्वपत्यं सहस्य प्रशस्तम्॥ (ऋ० ७।१।९)

११. आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया॥ (ऋ० ७।७३।५)

१२. अस्मे आ वहतं रयिं शतवन्तं सहस्रिणम्।
पुरुक्षुं विश्वधायसम्॥ (ऋ० ८।५।१५)

हमने यहाँ वेद के १२ मन्त्रों अथवा कई मन्त्राशों को उद्धृत किया है। ऐसे ही सैकड़ों मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है। मन्त्र सरलार्थक हैं। अतः अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं। हम इनके अर्थ का संक्षेप से निर्देश करते हैं जिससे वैदिक धन का स्वरूप भी ज्ञात हो सके। जिस प्रकार के धन की प्रार्थना है, उस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। उद्धृत मन्त्रों या मन्त्राशों का अर्थ क्रम से निम्नलिखित है—

१. हे ऐश्वर्यवान् राजन् वा परमेश्वर! तू (सानसिम्) उत्तम रीति से सेवन करने और अन्यों में विभाजन वा वितरण करने योग्य (सजित्वानम्) आपत्तियों, विघ्न, बाधाओं और शत्रुओं पर विजय दिलानेवाले (सदा सहम्) समस्त दुःखों के सहन कराने वा उन्हें अभिभव करानेवाले (वर्षिष्ठम्) अत्यधिक सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभूत (एयिम्) धैनैश्वर्य से (ऊतये) हमारी रक्षा और वृद्धि कर। (आभर) रयिम् के इत्यादि विशेषण इस बात को सूचित करते हैं कि जिस धन के लिए प्रार्थना की जा रही है, वह केवल अपने लिए नहीं, अपितु अन्यों में विभाजन वा वितरण के लिए भी होना चाहिए। (वन–संभक्तौ)

२. हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान्! (अस्मे) हमें और हमारी रक्षा के लिए (बृहत् श्रवः) बड़ा भारी ज्ञान और बल (श्रवः–श्रूयत इति सतः–निरुक्ते) (सहस्र-सातमंद्युम्नम्) हजारों को सुख देनेवाला धन (द्युम्नमिति धननाम–निघं० २।१०) और अन्न (द्युम्नमिसि धननाम्–निघं० २।७) (रथिनीः इषः) रथादि युक्त आज्ञावर्तिनी सेनाएँ वा शुभ कामनाएँ (धेहि) धारण करा। यहाँ "द्युम्नम्" धन और अन्न का विशेषण "सहस्त्रासातमम्" सहस्त्रों को सुख देनेवाला (षणु–दाने अथवा षण-संभक्तौ) यह विशेष ध्यान देने योग्य है। यहाँ सच्चे समाजवाद की भावना है।

३. हे (अग्ने) अग्रणीनायक! हे प्रभो! हमें एक ही साथ समस्त शत्रुओं और कष्टों के सरजित करनेवाले (वरेण्यम्) उत्तम मार्ग में ले जानेवाले अथवा सर्वश्रेष्ठ गुण–कर्म–स्वभाव के उत्पादक वरने योग्य (विश्वासु पृत्सु दुष्टरम्) समस्त संघर्षों में भी न नष्ट होनेवाले अक्षय (रयिम् आभर) ऐश्वर्य को प्राप्त करा। वेद में जिस धन की प्रार्थना है वह "**वरेण्य**" वरने योग्य, सन्मार्ग प्रवर्तक है, छल-

कपट, अत्याचार से कमाया हुआ निन्दनीय धन नहीं।

४. हे (अग्ने) ज्ञानवान् अग्रणी नेता! हे प्रभो! तू (नः) हमें (जीवसे) दीर्घ जीवन को प्राप्त करने के लिए (सुचेतुन्य) उत्तम ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ (विश्वायुपोषसम्) सब मनुष्यों को पुष्ट करनेवाले-उनका भरण-पोषण करनेवाले (आयव इति मनुष्य नाम-निघं० २।३) (मार्डीकम्) सबको सुख देनेवाले (रयिम् आधेहि) ऐश्वर्य को चारों ओर से धारण करा।

रयिम् वा धन के "**विश्वायुपोषसम्** और **मार्डीकम्**" ये दो विशेषण मन्त्र में विशेष रूप से मननीय हैं जिसमें सब मनुष्य का भरण-पोषण करने और सुख देनेवाले धन की प्रार्थना है, केवल अपने स्वार्थ के साधन धन की नहीं।

५. हे परमेश्वर वा उत्तम नायक! तू हमें (मयोभुना) सबके लिए सुखोत्पादक (यशस्वता) कीर्ति से सम्पन्न (राया) ऐश्वर्य से (संसृज) अच्छी तरह समृद्ध कर।

यहाँ भी धन के "मयोभुना और यशस्वता" ये विशेषण ध्यान देने योग्य हैं।

६. हे (मघवन्) ऐश्वर्य के स्वामिन्! हे (ऋजीषिन्) सरल मानस प्रवृत्तिवाले धार्मिक पुरुष! हे (इन्द्र) शत्रु हन्तः! (अस्मे) आप हमें (भूरेः) बहुत से (**विश्ववारस्य**) सबके लिए वरने योग्य और सर्वसंकटों के वारक (रायः, प्रयन्धि) ऐश्वर्य प्रदान कर।

यहाँ भी "रायः" का 'विश्ववारस्य' सब के लिए वरणीय तथा सर्वदुःख निवारक, यह विशेषण विशेषरूप से मननीय है।

७. इसमें अग्नि (ज्ञानस्वरूप परमेश्वर वा अग्रणी नेता) को सम्बोधन करते हुए प्रार्थना की गयी है कि—तू (अस्मे) हमें (विश्ववारं रयिं समिन्व) सबके लिए वरण करने योग्य श्रेष्ठ ऐश्वर्य को प्राप्त करा (अस्मे) हमें (विश्वानि द्रविणानि धेहि) सब प्रकार के धन और बल (द्रविणमिति बल नाम-निघं० २।९); (द्रविणमिति धन नाम-निघं० २।१०) धारण करा। **यहाँ भी धन का "विश्ववार" यह विशेषण उसकी श्रेष्ठता और धर्मयुक्त साधनों द्वारा उपार्जन का द्योतक है।**

८. ऋग्वेद ५।४९।४ के मन्त्र में यह प्रार्थना की गयी है कि हम (रायः वाजरत्नाः पतयः स्याम) धन के ज्ञान, अन्न और बल में रमण करनेवाले स्वामी वा रक्षक होवें। वाज इति अन्न नाम-निघं० २।७; वाज इति बलनाम-निघं० २।९ व्रज-गतौ-गते स्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति।

इस प्रकार ज्ञान, अन्न, बल सम्पन्न धन के स्वामी होने की प्रार्थना है।

९. ऋग्वेद ६।५९।९ के इस मन्त्र में "अश्विनौ" से प्रार्थना है कि आप (नः) हमें (इह) इस लोक में (विश्वायु पोषसं रयिं प्रयच्छतम्) सब मनुष्यों का भरण-पोषण करनेवाले धन को प्रदान करें। यहाँ भी धन का "विश्वायु पोषसम्।

सर्व मानव पोषक'' यह विशेषण वैदिक समाजवाद की उदार भावना का सूचक है।

१०. ऋग्वेद ७।१।५ के इस मन्त्र में अग्नि (ज्ञानस्वरूप परमेश्वर अथवा अग्रणी-नेता) से प्रार्थना की गयी है कि (नः) हमें (धिया) बुद्धि के साथ (सुवीरम्) उत्तम वीरतायुक्त (स्वपत्यम्) उत्तम सन्तान युक्त (प्रशस्तं रयिं दाः) श्रेष्ठ, सज्जनों द्वारा प्रशंसित ऐश्वर्य को प्रदान कर। यहाँ भी धन के प्रशस्तम् सुवीरम्, स्वपत्यम् इत्यादि विशेषण महत्त्वपूर्ण हैं। इसके साथ बुद्धि की भी प्रार्थना है।

११. ऋग्वेद ७।७७।६ के मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि—(पांचजन्येन राया) सब मनुष्यों के ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र, निषाद—इन सब के हितकारी धन से (विश्वतः आ) चारों ओर से भर दे (पंचजना इति मनुष्यनाम-निघं० २।३१) पंचजनाः-चत्वारोवर्णा निषादः पंचम इत्यौपमन्यवः-निरुक्ते ३।८) यहाँ ''राया'' का पांचजन्येन सर्वमानव हितकारी, यह विशेषण कितनी उदार भावना का द्योतक है।

१२. ऋग्वेद ८।५।१५ के मन्त्र में ''अश्विनौ'' से प्रार्थना की गयी है कि (अस्मे) हमारे लिये (शतवन्तम् सहस्रावन्तम्) सैकड़ों हजारों उत्तम पदार्थों से युक्त (पुरुक्षुम्) बहुत अन्न सम्पन्न (क्षु इति अन्ननाम-निघं० २।७) (विश्वधायसम्) सबको धारण या तृप्त करनेवाले (रयिम् आवहतम्) ऐश्वर्य को चारों ओर से प्राप्त कराओ। ''अश्विनौ'' से (अश्विनावध्वूर्य-ऐत० १।१८; अश्विनौ वै देवानांभिषजै- ऐत० १।१८; कौषी० १८।१) इत्यादि के अनुसार अध्वर अहिंसात्मक यज्ञ के नेता तथा सद्वैद्यादि का ग्रहण होता है। मन्त्र में ''रयिम्'' का विश्वधायसम्। सबको धारण पोषण करनेवाला, यह विशेषण विशेषरूप से मननीय हैं जो वेदोक्त धन की अत्यन्त उदार भावना को सूचित करता है।

इस प्रकार हमने देखा कि वेदों में वैयक्तिक धन या सम्पत्ति के लिए प्रार्थना है, किन्तु उसका उद्देश्य केवल अपने स्वार्थ की सिद्धि न होकर, समाज वा मानवमात्र का पोषण है।

वेद के अनुसार गृहस्थ यह भी प्रार्थना करता है कि—

ईशानासः पितृवित्तस्य रायः ॥ (ऋ० १।७३।९)

हम अपने पिता-पितामह द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य के स्वामी हों। ऋग्वेद १।७३।१ में भी पैतृक सम्पत्ति का स्पष्ट निर्देश

रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः ॥ (ऋ० १।७३।१)

(पितृवित्तः) पिता से प्राप्त (यः रयिः) जो धन होता है, वह (वयोधाः) सन्तान को अन्नादि प्रदान करनेवाला होता है।

(वय इति अन्ननाम-निघं० २।७)

ऋग्वेद १ । १३० । १ तथा सामवेद म० ४५९ में भी पैतृक सम्पत्ति का निर्देश—

हवामहे त्वा वयं प्रयस्वन्तः सुते सचा।
पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये॥

(ऋ० १।१३०।१; सा० ४५९)

इस मन्त्र में कहा है कि हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान्! (वयम्) हम (सचा) मिलकर (प्रयस्वन्तः) उत्तम अन्न, ज्ञान तथा प्रयत्न से युक्त होकर (वाजसातये) धन के विभाग के लिए (पुत्रासः मंहिष्ठं पितरं न) पुत्र जिस प्रकार अपने दानशील और पूज्यनीय पिता को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार (वाजसातये) ज्ञान ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (मंहिष्ठं त्वा) अति दानशील और पूजनीय आपको (हवामहे) पुकारते हैं।

यहाँ "**पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये**"।

इन शब्दों द्वारा वेदों में पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के अधिकार को स्पष्ट स्वीकार किया गया है। किन्तु वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति में सम्पत्ति का यह व्यक्तिगत स्वामित्व निष्प्रतिबन्ध नहीं है। इसमें सबसे प्रथम प्रतिबन्ध तो व्रत का है। ब्राह्मणों का व्रत अज्ञान को दूर करने का, क्षत्रियों का व्रत अन्याय को दूर करने का और वैश्यों का व्रत अभाव को दूर करने का होता है। इन व्रतों को ग्रहण करते हुए वे अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करेंगे, यह आशा नहीं हो सकती। तथापि दुर्भाग्यवश यदि कोई व्रत से पतित होकर, ऐसा करने लगे तो वेदों के अनुसार ऐसे व्यक्ति से सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है। यजु० ९। २४ में सम्राट् के लिए कहा है—

अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्॥ (य० ९। २४)

वह प्रकृष्ट ज्ञान से सम्पन्न होकर जो कृपणता वा स्वार्थवश (अदित्सन्तं दापयति) नहीं देना चाहता, उससे भी दिलवाता है। जो ब्राह्मण विद्या-दान नहीं करेगा, राजा उसे दण्ड देगा। जो क्षत्रिय अथवा राजकर्मचारी न्याय पर नहीं चलेगा और प्रजा की रक्षार्थ अपनी शक्ति का दान नहीं करेगा, राजा उसे दण्ड देगा। इसी प्रकार जो वैश्य अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र के कल्याण के कामों में नहीं लगाता रहेगा, राजा उसकी सम्पत्ति को राष्ट्र के कल्याण के कामों में लगवायेगा। राजा उसकी सम्पत्ति को छीन लेगा। इस भय के कारण भी कोई वैश्य अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं करेगा। पूंजीवादी पद्धति में किसी की सम्पत्ति छीनी नहीं जा सकती। किन्तु वैदिक वर्णव्यवस्था इस सिद्धान्त को नहीं मानती। वैदिक वर्णव्यवस्था में सम्पत्ति के अधिकार भी जन्म के आधार पर न माना जाकर सदुपयोग के आधार पर माना जाता है। सम्पत्ति उसकी है जो उसका सदुपयोग करे। जो सम्पत्ति का

दुरुपयोग करेगा, उसकी सम्पत्ति को राजा छीनकर अन्यों को दिला देगा। यह वेद के "अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्" (यजु० ९।२४) इन शब्दों से स्पष्ट है।

वेदों में धन विभाजन और दुष्टों के धन अपहरण का निर्देश

वेदों के निम्नलिखित तथा अन्य मन्त्रों से हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमें धन के उचित विभाजन तथा दुष्ट कृपण समाज विघातक लोगों से धन को छीनकर सज्जनों को देने का भी स्पष्ट निर्देश है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों को देखिये। विस्तारभय से हम इन मन्त्रों का अभी उल्लेख मात्र करते हैं। जिन शब्दों वा वाक्यों के विषय में हमें विशेष वक्तव्य देना होगा, वहीं टिप्पणी की जायेगी अन्यथा नहीं।

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्॥

(ऋ० १।२२।७)

यो अर्यो मर्तभोजनं परादर्दाति दाशुषे।
इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु वि भजा भूरि ते वसु भक्षीय तव राधसः॥

(ऋ० १।८१।६)

एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम्।
अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर॥

(ऋ० १।८१।९)

भूरिकर्मणे वृषभाय वृष्णे सत्यशुष्माय सुनवाम सोमम्।
य आदृत्या परिपन्थीव शूरोऽयज्वनो विभजन्नेति वेदः॥

(ऋ० १।१०३।६)

सुप्रावीरिद्वनवत्पृत्सु दुष्टरं यज्वेदयज्योर्वि भजाति भोजनम्॥

(ऋ० २।२६।१)

एवा तमाहुरुत शृण्व इन्द्र एको विभक्ता तरणिर्मघानाम्॥

(ऋ० ७।२६।४)

उप स्तुहि प्रथमं रत्नधेयं बृहस्पतिं सनितारं धनानाम्।
यः शंसते स्तुवते शंभविष्ठः पुरूवसुरागमज्जोहुवानम्॥

(ऋ० ५।४२।७)

इन मन्त्रों के पाठमात्र से भी स्वाध्यायशील विद्वान् जान सकते हैं कि इनमें वसोः विभक्तारम्, विभजाभूरितेवसु, विभोक्तामघानाम्, धनानांसनितारम् इत्यादि शब्द बार-बार आये हैं जो धन के विभाजन अथवा बल से बलवान् (वृष्णे) सुखवर्षक (वृषभम्) नर श्रेष्ठ के लिए हम लोग (सोमं सु नवाम) राज्य पद का अभिषेक करें।

ऋग्वेद २।२६।१ में बताया गया है कि—

यज्वेदयज्योर्वि भंजाति भोजनम्॥　　　　(ऋ० २।२६।१)

(यज्वा इत्) यज्ञशील, दान और सत्संगशील पुरुष (यज–देव पूजा संगतिकरण दानेषु) (**अयज्योः**) दान न देनेवाले कृपण कंजूस धनी के (भोजनम्) भोग्य ऐश्वर्य को (विभजाति) विविध रूप में पात्रों को विभक्त कर दें। इस प्रकार मन्त्र में दुष्ट कृपण लोगों की सम्पत्ति को छीनकर सुपात्र में विभाजन का स्पष्ट वैदिक आदेश है जिसका समाजवाद से पर्याप्त मेल है। यद्यपि इसका कृत्रिम समानता से समन्वय नहीं हो सकता। ऋ० ७।२६।४ में इन्द्र–परमैश्वर्य युक्त राजा को सम्बोधन करते हुए कहा है (एवातम् आहुः) ऐसा उसके विषय में कहते हैं। (उत शृण्वे) और मैं भी इस बात को सुनता हूँ कि (एकः इन्द्रः) एक राजा ही (तरिणः) मनुष्यों को आपत्तियों से तरानेवाला, पार करनेवाला और (मघानां विभक्ता) ऐश्वर्यों का उचित विभाजन करनेवाला है।

इस मन्त्र में भी राजा वा राज्य द्वारा धनों के उचित न्याय पूर्ण विभाजन का भाव स्पष्ट है जिसको सब विद्वान् जानते और सुनते हैं। ऋग्वेद ५।४२।७ भी धन के न्यायपूर्वक उचित विभाजन के विषय में बहुत स्पष्ट आदेश है और इस प्रकार करनेवाले को प्रशंसनीय बताया गया है।

उप स्तुहि प्रथमं रत्नधेयं बृहस्पतिं सनितारं धनानाम्।
यः शंसते स्तुवते शंभविष्ठः पुरूवसुरागमज्जोहुवानम्॥

(ऋ० ५।४२।७)

हे विद्वान् पुरुष! तू (प्रथमम्) सब से श्रेष्ठ (रत्नधेयम्) रमणीय मनोहर गुणों को धारण करनेवाले (बृहस्पतिम्) बड़े राष्ट्र की पालना करनेवाले और (धनानां सनितारम्) धनों का न्यायपूर्वक विभाग करनेवाले उस (जोहुवानम्) आदरपूर्वक बुलाने योग्य महानुभावों को (उपस्तुहि) सबके समीप प्रस्तुत कर अथवा उसकी स्तुति कर (यः) जो (शंसते स्तुवते) सद्गुणों और सदाचारादि न्यायपूर्वक बाँटने के भाव को स्पष्टतया सूचित करते हैं—बृहस्पति–बृहत् वा विशाल राष्ट्र के स्वामी, इन्द्र–परमैश्वर्यवान्, राजा का इस प्रकार न्यायपूर्वक धन का विभाजन, इन मन्त्रों में कर्त्तव्य बताया गया है। उसे देखना और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं थोड़े से हाथों में धन का केन्द्रीकरण न हो जाये और दूसरे लोग भूखे न मरने लग जाये। उसको यह आदेश किया गया है कि तू (ते भूरिवसु विभज) अपने बहुत से राष्ट्र में बसनेवालों में ऐश्वर्य का उचित रीति से न्यायपूर्वक विभाजन कर। हम राष्ट्रवासी (तवराधसः भक्षीय) तेरे ऐश्वर्य का सेवन कर आनन्द लाभ करें। (ऋ० १।८१।९) में स्पष्ट कहा है कि हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् राजन्! ये समस्त जीवन गुण तेरे वरण करने योग्य ऐश्वर्य की वृद्धि करते हैं। तू (अर्यः) सब का स्वामी (अर्य इति ईश्वर नाम–निघं० २।२३)

(जनानाम् अन्त:ख्य:) जनों के भीतर भी गुप्तचर आदि के रूप में देखता है। (राजानश्चार चक्षुष:) (वेद:) इनके अन्दर ज्ञान को प्रदान कर। (अदाशुषाम्) न दान करनेवाले उन कंजूस स्वार्थी लोगों का (वेद:) धन (न: आभार) हम सज्जनों को चारों ओर से प्रदान कर। भाव स्पष्ट है कि दान न देनेवाले कंजूस लोगों के धन का अपहरण करके, उनसे छीनकर, सज्जनों में वितीर्ण कर दे। यहाँ कितने स्पष्ट शब्दों में स्वार्थी कंजूस लोगों के धन वा सम्पत्ति को छीनने का विधान किया गया है।

ऋग्वेद १।१०३।६ इस दृष्टि से अत्यधिक स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण है जिसमें कहा है कि—

(य: शूर:) जो शूरवीर (अयज्वन:) अदानशील, कंजूस, दूसरों को आवश्यक भोजन, धन, वेतनादि भी न देनेवाले अत्याचारी पुरुष को (आहृत्य) सब प्रकार से भयभीत करके उससे (परिपन्थी इव) चोर–डाकू की तरह (वेद: विभजन् इति) धन को छीन ले आता है, उस (भूरिकर्मणे) राष्ट्र का बहुत अधिक कार्य करनेवाले (सत्य शुष्माय) सत्य और न्याय की प्रशंसा और गुण–कीर्तन वा प्रार्थना करनेवाले के लिए (शं भविष्ठ:) सबसे अधिक शान्ति सुख देनेवाला और (पुरुवसु:) बहुत से ऐसे धनों अथवा बसे प्रजाजनों का स्वामी होकर हमें (आगमत्) प्राप्त होता है ऐसे व्यक्ति को प्रस्ताव और समर्थन द्वारा अग्रणीपद पर नियुक्त करना चाहिए। यहाँ बृहस्पति का **''सनितारं धनानाम्'' धन का विभाजन न्यायपूर्वक करनेवाला, यह विशेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।**

ऋग्वेद ४।२५।७ के निम्न मन्त्र में भी दुष्ट, कंजूस, केवल स्वार्थपरायण व्यापारियों से धन–सम्पत्ति छीन लेने का भाव बहुत स्पष्ट है—

न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते।
आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं वि सुष्वये पक्तये केवलो भूत्॥

(ऋ० ४।२५।७)

(रेवता) धनवान् (असुन्वता) राज्य के निमित्त ऐश्वर्य उत्पन्न न करनेवाले षू–प्रसवेश्वर्ययो:। (पणिना) व्यापारी (पण–व्यवहारे) के सारे (सु तपा:) ऐश्वर्य युक्त राष्ट्र का पालन (इन्द्र:) परमैश्वर्यवान् राजा (सख्यं न गृणीते) मित्र भाव की प्रतिज्ञा नहीं करता (अस्य) ऐसे लोभी केवल स्वार्थपरायण धनी के (वेद:) धन को (वेद इति धन नाम–निघं० २।१०) वह (आखिदति) छीन लेता है। (खिद–परिघातने) ऐसे केवल स्वार्थ परायण, भ्रष्टाचारी व्यापारी को (नग्नं हन्ति) नंगा करके सब के सम्मुख वह मार डालता है। (सुष्वये) राजा के ऐश्वर्य की वृद्धि करनेवाले प्रजाजन के हित के लिए, वह राजा (केवल:) अकेला ही (पक्तये विभूत) उत्तम अन्नादि समृद्धि और शत्रु सन्ताप–शत्रुओं को पकाने के लिए विविध प्रकार से समर्थ होता है।

इस मन्त्र में प्रयुक्त "**आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नम्**" ये शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इनसे वैदिक समाजवाद का प्रचलित पूंजीवाद और पाश्चात्त्य समाजवाद दोनों से भेद स्पष्ट हो जाता है। जहाँ एक ओर वैदिक समाजवाद, वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार करता है, वहाँ वह पूंजीवाद (Capitalism) की तरह उसको निष्प्रतिबन्ध नहीं मानता। बल्कि न देनेवालों को दान देने की प्रेरणा वा उसे बाध्य भी किया जाता है।

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन्दानाय चोदय। पणेश्चिद्वि म्रदा मनः॥

(ऋ० ६।५३।३)

इत्यादि मन्त्रों में कहा है कि हे (आघृणे पूषन्) अत्यन्त तेजस्वी सर्वप्रजापोषण राजन्! (अदित्संतं चित्) जो दान देने की इच्छा न रखनेवाला स्वार्थी, लोभी धनी है उसे भी (दानाय चोदय), तू दान के लिए प्रेरित कर (पणेः चित्) ऐसे केवल स्वार्थ परायण व्यापारी के भी (मनः विम्रदा) मन को विशेष रूप से मृदु वा कोमल बना दे ताकि वह दयार्द्रभाव युक्त होकर दूसरों के दुःख दूर करने में अपने धन का उपयोग करने लगे।

अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्॥ (य० ९।२४)

का अर्थ सहित उल्लेख हम पहले कर ही चुके हैं। जिसमें न देने की इच्छावालों से भी दान दिलवाने का स्पष्ट आदेश है। किन्तु इतनी बार प्रेम से दान की प्रेरणा करने पर भी जो इस ओर कोई ध्यान न दे और केवल स्वार्थ साधन और जनताहित विनाशन में अपने भ्रष्टाचार द्वारा तत्पर रहे, उनके विषय में अन्तिम दण्ड के रूप में मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि ऐसी अवस्था में इन्द्र (राजा) उस दुष्ट भ्रष्टाचारी लोभी के साथ किसी प्रकार की मित्रता न रखे, उसकी सम्पत्ति छीन ले और सबके सामने नग्न करके उसे मार डाले ताकि दूसरे दुष्ट स्वार्थपरायण व्यापारी इससे शिक्षा ले सकें।

यदि हमारे देश के शासनाधिकारी वेद के इस आदेश के अनुसार कार्य करने लगें तो भ्रष्टाचार और अन्न सामग्री आदि का स्वार्थी व्यापारियों द्वारा अनुचित संचयन बहुत शीघ्र समाप्त हो सकता है।

समाजवाद और साम्यवाद का सम्बन्ध—

अब तक समाजवाद (Socialism) का जो हमने विवेचन किया है, उसमें साम्यवाद (Communism) की भी आलोचना बहुत कुछ आ जाती है क्योंकि इन दोनों में भी बहुत-सी बातें समान है। माननीय डॉ० सम्पूर्णानन्दजी ने इनके सम्बन्ध के विषय में अपनी पुस्तक "समाजवाद" के पृ० २६८ में लिखा था कि समाजवाद के अन्तर्गत वे सब मत है जो उत्पादन के साधनों को वैयक्तिक सम्पत्ति मानने के विरोधी हैं। इन मतों में गिल्ड सोशलिज्म और सिण्डिकलिज्म (Guild

Socialism and Syndicalism) की भाँति कम्युनिज्म भी है। अतः समाजवाद सामान्यवाची नाम हुआ और समष्टिवाद (Communism विशेषवाची)। मार्क्स के अनुसार समाजवादी व्यवस्था का प्रथम सोपान समाजवाद और द्वितीय सोपान समष्टिवाद का स्वरूप है। प्रत्युत उन्होंने यों कहा है कि प्रथम सोपान समष्टिवाद (Communism) की निम्न भूमि का और द्वितीय सोपान समष्टिवाद वा साम्यवाद की उच्च भूमि का है। इस मत के अनुसार समाजवाद का उन्नत रूप समष्टिवाद वा साम्यवाद है। उन्होंने इसी प्रकरण में यह भी स्पष्ट लिखा है कि किसी समष्टिवादी के लिए हर बात में रूस का समर्थक होना आवश्यक नहीं। (समाजवाद–डॉ० सम्पूर्णानन्दजी कृत पृ० २६८–२६९) Foreign Language, Publishing House, Moscow से सन् १९५२ में प्रकाशित "Our Goal is Communism" "हमारा लक्ष्य साम्यवाद है" नामक लघु पुस्तक में इस विषय में यों कहा गया है—

"Marxism-Leninism teaches that Socialism and Communism are two stages of the same Social System viz. Communism, Socialism is the first or lower stage, Communism is the higher stage of Communist Society".

"In contrast to Capitalism, both Socialism and Communism are based on the Common ownership of the means of production. Under Socialism and Under Communism, the land, factories, mines and other means of production, do not belong to private owners, but to Society as a whole". (Our Goal is Communism P. 2)

अर्थात् मार्किसिज्म या लेनिनिज्म सिखाता है कि सोशलिज्म (समाज–वाद) और (कम्युनिज्म) (Communism) एक ही साम्यवादी सामाजिक प्रणाली के दो स्तर वा अवस्थाएँ (पड़ाव) हैं। समाजवाद निचला पड़ाव है और साम्यवाद ऊँचा। पूंजीवाद के विरोध में ये दोनों समाजवाद और साम्यवाद उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर आश्रित है। इन दोनों के अनुसार, भूमि, कारखानों, खानों और अन्य उत्पादन साधनों पर वैयक्तिक स्वामित्व नहीं है अपितु वे सामूहिक रूप से समाज के हैं। इन दोनों का भेद दिखाते हुए लेखक ने आगे बताया है कि—

"Under Socialism, the Common ownership of the means of production exists in two forms, in the form of state ownership (ownership by the whole people) and in the form of co-operative and Kolkhoz ownership. Under Communism, there will be only one form of the common ownership of the means of production, namely, ownership by the whole people." (Our Goal is Communism P. 3)

अर्थात् समाजवाद में उत्पादन के साधनों का सामूहिक स्वामित्व दो रूपों में

है। (१) एक तो राज्य के स्वामित्व के रूप में और दूसरा (२) सहकारी समिति और कोलखोज के स्वामित्व के रूप में। साम्यवाद वा कम्युनिज्म में केवल राज्य वा सारी जनता का स्वामित्व ही रह जाएगा। आगे लेखक ने कहा है कि—

"In communist society, there will be no classes or class distinctions. The workers, peasants and intelligentsia will all be workers in classless Communist Society. Vestiges of the former distinction between town and country, and between mental and manual labour, still remains in Socialist Society. They will be completely eliminated only under Communism". (P 8)

अर्थात् कम्युनिज्म समाज में कोई वर्ग व वर्ग भेद न रहेंगे। श्रमिक, कृषक और बुद्धिजीवी ये सब वर्ग विहीन कम्युनिस्ट समाज में कार्यकर्ता होंगे। नगर और ग्राम तथा मानसिक और शारीरिक श्रमजीवियों के पुरातन भेद के अवशेष समाजवादी समाज में अब भी पाये जाते हैं। केवल कम्युनिज्म में उनका पूर्णतया लोप हो जाएगा।

साम्यवाद (Communism) के मुख्य सिद्धान्त—

साम्यवाद के बहुत से सिद्धान्त तो समाजवाद के ही समान हैं, जिनका ऊपर दिग्दर्शन हमने करा दिया है। शेष कुछ निम्नलिखित है—

१. पूंजीपतियों और श्रमजीवियों में बड़ाई, छुटाई का भेद न होकर समता होनी चाहिए।

२. उत्पत्ति के सब साधनों का मालिक समाज वा राष्ट्र हो।

३. वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रणाली को बिल्कुल दूर कर देना चाहिए। (Abolition of Private Property.)

४. समाज श्रेणी रहित (Classless Society) होनी चाहिए।

५. राज्य पर अहिंसा व हिंसा, जिससे भी काम लेने में सफलता हो, काम लेकर अधिकार प्राप्त करना चाहिए क्योंकि विना राज्य बल के मार्क्सवाद वा कम्युनिज्म फैल ही नहीं सकता।

६. मार्क्सवाद व कम्युनिज्म की दृष्टि में जगत् की समस्या केवल आर्थिक समस्या है।

७. इतिहास की आधिभौतिक और आर्थिक व्याख्या ही प्रधान है। अन्य सर्वथा गौण (The Economic Interpretation of History).

८. वर्ग प्रतिरोध का सिद्धान्त (The doctrine of Class Struggle).

९. मार्क्सवाद वा कम्युनिज्म धर्ममात्र का विरोधी और घोर अनीश्वरवादी तथा प्रकृतिवादी है। सन् १९४७ में Foreign Languages Publishing House, Moscow. से प्रकाशित लेनिन कृत Marxism नामक पुस्तक में स्पष्ट लिखा

है—

"Marxism is materialism. As such it is relentlessly hostile to religion. This is beyond doubt. We must combat religion. That is the rudiment of all materialism and consequently of Marxism."

(Marxism by Lenin)

अर्थात् मार्क्सवाद प्रकृतिवाद है। इस रूप में यह धर्म का घोर विरोधी है। इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। हमें इसका अवश्य विरोध करना चाहिए। यह समस्त प्रकृतिवाद परिणामतः मार्क्सवाद का मूल सिद्धान्त है। हमारा कम्युनिज्म से सब से अधिक विरोध इसी धर्म विरोधी नीति का है। समाजवाद (Socialism) एक आर्थिकवाद के रूप में धर्ममात्र का विरोधी नहीं है और न समाजवादी अनीश्वरवादी हैं, किन्तु साम्यवाद स्पष्टतया न केवल नास्तिक है, अपितु नास्तिकता का प्रचार करने पर कटिबद्ध है।

डेविड फ्लायड (David Floyd) ने Kremlin's War on religion. (क्रैम्लिन का धर्म के विरुद्ध युद्ध) शीर्षक लेख में उन साधनों का निर्देश किया है जिन्हें रूस के कम्युनिस्ट नेता धर्म के विरोध के लिए अपनाना चाहते हैं। इसके लेखक ने बताया है—

"In a frank review of its present position on the anti-religious front in Russia, Leonid Llyichev, Chairman of the 'Ideological Commission', defined the aims of the new war on religion".

"It is our duty to go over to the offensive against religious beliefs and to develop in all Soviet people, a Scientific way of living and thinking."

"I must warn you against making the mistake of regarding atheistic education as just a short campaign. It is one of the most important sectors of the ideological front."

अर्थात् सैद्धान्तिक विचारधारा आयोग के प्रधान लेयोनिलिशेव ने रूस में धर्म विरोधी आन्दोलन की स्थिति की समीक्षा करते हुए धर्म के विरुद्ध नवीन युद्ध के उद्देश्यों का निरूपण निम्न प्रकार किया। उन्होंने लिखा कि यह हमारा कर्त्तव्य है कि धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध हम आक्रमण करें और सब सोवियत लोगों में जीवन और विचार को वैज्ञानिक तौर पर विकसित करें। उन्होंने कहा कि मैं "आप लोगों को एक चेतावनी इस भूल के विरुद्ध देना चाहता हूँ कि अनीश्वरवाद वा नास्तिकता की शिक्षा को एक छोटा-सा आन्दोलन न समझ लिया जाये। यह हमारी विचारधारा के युद्ध क्षेत्र का सब से अधिक आवश्यक भाग है।"

इसके आगे उस लेख में बताया गया है कि क्रेमलिन ने धर्म के विरुद्ध युद्ध

में चर्च से शिक्षा लेते हुए अपनी सब शक्तियों के सैन्य संगठन का निश्चय किया है, जिसके कुछ मुख्य भाग निम्नलिखित हैं—

1. Atheistic education from childhood is the most important aspect of our work.

2. Teachers and doctors must play a special part.

3. We must not leave religious teachers, the slightest access to people's souls.

4. An atheistic propogandist must be a humanist, inspiring people with the warmth of his own great heart.

अर्थात् धर्म विरुद्ध युद्ध की रूपरेखा इस प्रकार है—

१. हमारे कार्य का सब आवश्यक भाग बाल्यावस्था से अनीश्वरवाद वा नास्तिकता की शिक्षा देना है।

२. शिक्षकों और डॉक्टरों को इस नास्तिकता के प्रचार में विशेष भाग लेना चाहिए।

३. हमें धर्म-प्रचारकों को लोगों की आत्मा में प्रवेश अथवा अपना प्रभाव जमाने के लिए थोड़ा-सा भी मार्ग नहीं देना चाहिए।

४. नास्तिकता का प्रचारक एक ऐसा मानवतावादी होना चाहिए जो अपने विशाल हृदय की गर्मी से लोगों में स्फूर्ति ला सके।

यह सोवियत कम्युनिस्टों के धर्म के विरुद्ध युद्ध की घोषणा और रूपरेखा है जिस पर टिप्पणी करते हुए मि० डेविड ने लिखा है कि—

"At a time when the Kremlin appears to have modified is attitude towards religion in the world at large, it is openly preparing to stamp out all religions at home". F.N.S.

(Hindustan times Weekly 22.3 . 1964)

अर्थात् ऐसे समय में जब क्रेमलिन (सोवियत रूस) संसार में धर्म के विषय में अपनी मनोवृत्ति को कुछ परिवर्तित करता प्रतीत होता है, वह अपने घर में सारे धर्म का समूलोन्मूलन करने की तैयारी कर रहा है। जैसा हमने पहले लिखा है, हमें कम्युनिज्म की इस धर्म विरोधी नीति पर सबसे अधिक आपत्ति है और इसको हम अत्यन्त हानिकारक समझते हैं।

रूस की नास्तिकता के भयंकर परिणाम—

कम्युनिज्म के पक्षपाती यह दावा करते रहते हैं कि रूस में कम्युनिज्म के प्रचार से सदाचार की वृद्धि हो गयी है। वेश्या प्रथा का जड़ से खात्मा हो गया है। गर्भ हत्या का अन्त हो गया है और विवाह नियमित रूप से रजिस्टर्ड होते हैं,

इत्यादि। इस निबन्ध के लिखते हुए भी हमारे सामने पीपल्स पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड बम्बई–४ द्वारा प्रकाशित तथा श्री मुजीव रिजवी द्वारा लिखित पुस्तक ''सोवियत रूस में सदाचार'' विद्यमान है। इसकी भूमिका में वे लिखते हैं—

इस पुस्तिका को लिखने में मेरा उद्देश्य यही है कि ऐसे भ्रमों को दूर किया जाये, सच्चाई का गला घोंटनेवाले झूठ के सरदारों का हाथ रोक दिया जाय ताकि सदाचार–व्यभिचार के उलझनों में फँसे हमारे देश के युवक–युवतियों को अपनी समस्याओं को समझने और सुलझाने में लाभ मिल सके और वे सोवियत यूनियन के खुशहाल और सही माने में सदाचारी जीवन की झाँकी पा ले। (सोवियत रूस में सदाचार–मुजीव रिजवी कृत)

मि० मुजीव रिजवी ने कम्युनिस्ट रूस की वकालत तो अच्छी की हैं। किन्तु तथ्यों से इसकी पुष्टि नहीं होती।

किन्तु दिल्ली के एक सासाहिक पत्र में A.F.P. न्यूज एजेन्सी का हवाला देते हुए निम्नलिखित शीर्षक से एक रिपोर्ट छपी थी, जिसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"Drunkards, loafers and Drifters in the Soviet Union".

"The report from Moscow says, Soviet Russia has admitted that characterless, work evaders, sluggards and parasites abound in Soviet Russia, for which stringent measures are being taken. The campaign, it is further reported, is aimed at combating the activities of loafers, drunkards and drifters in Soviet Society".

(Indian Observer, Delhi 13.3.1964)

समाचार में कहा गया है कि, A.F.P. रिपोर्ट के अनुसार, जो रूस की राजधानी मॉस्को से प्रसारित की गयी थी, सोवियत रूस ने यह स्वीकार किया है कि चरित्रहीन, कमजोर, सुस्त और परजीवी लोग सोवियत रूस में बड़ी संख्या में निवास करते हैं। इसके विरुद्ध एक आन्दोलन चलाया जा रहा है जिसका उद्देश्य इन लफंगे, शराबी और कमजोर लोगों का मुकाबला करना है। यहाँ जादू वह जो सर पर चढ़कर बोले, इस कहावत के अनुसार रूस की अपनी एक प्रामाणिक रिपोर्ट के अनुसार ही वहाँ के समाज में ऐसे चरित्रहीन, लफंगे, शराबी, कमजोर, सुस्त और परजीवियों की काफी संख्या है। (हमारे विचार में नास्तिकता और निरीश्वरवाद के प्रचार का ही यह स्वाभाविक परिणाम है!) हमारा निश्चित मत है कि सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में विश्वास को, यदि लोगों के दिलों से हटा दिया जाय, (जैसे कि रूस में नास्तिकता के प्रचार द्वारा किया जा रहा है), तो सदाचार की आधारशिला ही हिल जाती है और सदाचार स्थायी रह ही नहीं सकता। अत: हम इस धर्म विरुद्ध युद्ध नीति को कम्युनिज्म वा साम्यवाद का सब से बड़ा दोष समझते हैं। इतिहास की केवल अर्थपरक व्याख्या करना और

धर्म, काम और मोक्ष इन तीन अन्य पुरुषार्थों की सर्वथा उपेक्षा करना अत्यन्त हानिकारक है। वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा के उन्मूलनादि विषयों में सोवियत रूस को बड़ी भारी सफलता हुई है, ऐसा दावा किया जाता है, कम्युनिज्म का आधार ही सब प्रकार की समता (Equality) को स्थापित करना कहा जाता है। किन्तु इसमें रूस की सरकार को कितनी सफलता मिली है इसको जानना आवश्यक है।

सोवियत रूस में समता का दावा असत्य—

कम्युनिज्म वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार का प्रबल विरोधी था किन्तु उसके नेताओं ने स्वयं इसकी हानियों को अनुभव किया और सन् १९३६ ई० में रूस की सोवियत सरकार का जो विधान पारित किया उसकी धारा १० में वैयक्तिक सम्पत्ति और दाय भाग को भी स्थान देना पड़ा है। इसके अंग्रेजी शब्द ये हैं—

"The right of citizens to personal property in their income from work and in their savings, in their dwelling houses, and auxiliary husbandry, in household articles and utensils, and in objects of personal use and comfort, as well as in the right of inheritance of personal property of Citizens are protected by Law."

हिन्दी अनुवाद—इस विधान के द्वारा निम्न चीजें सुरक्षित हैं—

नागरिकों को अधिकार है कि वे अपने श्रम से उपार्जित पारिश्रमिक में से और उसकी बचत से अपनी जायदाद बना सकें, रहने के मकान तथा कृषि का सामान, घर का फर्नीचर और पात्र, अपने उपयोग और सुविधा की वस्तुएँ, इस वैयक्तिक सम्पत्ति को सन्तान दाय भाग में भी उपलब्ध कर सकते हैं। इस धारा के शब्द तो कम्युनिज्म के हैं परन्तु भाव तो पुराने पूंजीवाद से अधिक भिन्न नहीं हैं। इसका कारण यह है कि कम्युनिस्ट नेताओं को बड़ा कटु अनुभव हुआ। राज्य की ओर से जो खेती की गयी उसमें विफलता हुई। १९३४ ई० की कम्युनिस्ट पार्टी की काँग्रेस में स्टालिन को कहना पड़ा कि व्यय अत्यधिक हुआ। सन् १९२४ में ही छठी व्यापार संघ की काँग्रेस ने स्वीकार कर लिया था कि वैयक्तिक उद्योग की गति को तीव्र करने के लिए यह आवश्यक है कि पारिश्रमिक सम्बन्धी प्रोत्साहन को बढ़ाया जाय अर्थात् जितना जो अधिक काम करे, उसे उतना मिले। लेडलर्स (Laidler's) ने Social Economics Movements. नामक पुस्तक के पृ० ४४२ में लिखा है कि—

"Bolsheviks have maintained that men and women would be rewarded for their labour on the basis of their needs. The Soviet constitution provides that in the measurable future in Russia, the principle applicable to the compensation of works, will be "from each

according to his deeds."

(Laidler's Social Economics Movements, P. 442)

तात्पर्य यह है कि पहले बौल्शेविक लोग कहते थे कि मनुष्यों और स्त्रियों को पारिश्रमिक उनकी आवश्यकताओं के अनुसार दिया जायेगा किन्तु अब सोवियत संविधान में कहा गया है कि भविष्य में पारिश्रमिक के विषय में यह सिद्धान्त लागू होगा कि वह प्रत्येक को अपने कार्यों के अनुसार दिया जाएगा। स्टालिन ने जून में एक वक्तृता दी जो ५ जून १९३१ के प्रावदा पत्र में छपी। उसमें स्टालिन ने स्पष्ट कहा कि समाजवाद के अन्तर्गत भी शिक्षित और अशिक्षित मजदूरों के पारिश्रमिकों में भेद रहेगा। इसको मार्क्स और लेनिन दोनों ने माना है। केवल पूर्ण कम्युनिज्म में यह मिट सकेगा। इसलिए मजदूर को उतनी मजदूरी दो जितना उसने काम किया है, उतनी नहीं जितनी उसकी आवश्यकताएँ हैं।

(Payment must be measured by the work accomplished, not by the recipient's needs).

"It has become necessary to put an end to the equality in the pay of skilled and the unskiled labour. In each Industry and each factory, there are advanced groups of skilled workers who can be retained in employment only by promoting them and raising their wages." "The persecution of specialists has always been considered by us as a harmful and disgraceful phenomena. Therefore let us change our attitude towards the engineering, the Techanical forces of the old School. Let us offer them more care and attention. Let us encourage them to work for us. A number of comrades think that only communists should be appointed in leading positions in our factories. This is why they often remove capable and efficient non-party workers, putting in their place members of the Communist Party, although these are less capable and less efficient. I need not say that there is nothing more stupid or more reactionary than such a policy. It is quite unnecessary to prove that by such a Policy, the Communist Party can only be discredited and non-party workers made hostile to our party."

(Leaders of Allahabad, 8.8.1931)

तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यवसाय और प्रत्येक कारखाने में एक उन्नत समुदाय विज्ञश्रेणी के कार्यकर्ताओं का है उन्हें केवल उसी अवस्था में रखा जा सकता है जब उनकी वेतन वृद्धि की जावे और उनकी मजदूरी बढ़ाई जाय। विशेषज्ञों को पीड़ित रखने की प्रणाली को हम सदैव हानिप्रद और अपकीर्तिमय कार्य समझते

रहे हैं इसलिए इंजीनियरों और पुराने स्कूल के शिल्पियों के सम्बन्ध में हमें अपनी प्रवृत्ति बदलनी चाहिए। हमें उनका अधिक ध्यान रखना चाहिए तथा उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे वे हमारा कार्य करें। हमारे कुछ एक साथी समझते हैं कि हमें अपने कारखानों में केवल कम्युनिस्टों वा साम्यवादियों को ही नियुक्त करना चाहिए। इसीलिए वे बहुधा योग्य और निपुण व्यक्तियों को केवल इसलिए निकाल देते हैं कि वे कम्युनिस्ट नहीं होते और उनकी जगह उनसे कम योग्य पुरुषों को रख लिया करते हैं। मैं कहता हूँ कि इससे बढ़कर अधिक मूर्खतापूर्ण और प्रतिक्रियाशालिनी वा प्रतिघातिनी नीति और कोई नहीं हो सकती। इससे कम्युनिस्ट समुदाय विश्वसनीय नहीं रहेगा और असाम्यवादी कार्यकर्ता उसके विरोधी बन जाएँगे।

यद्यपि हमारे विचार में विशेषज्ञों को सामान्य अशिक्षित प्रायः मजदूरों की अपेक्षा अधिक वेतनादि देने का स्टालिन का निर्णय सर्वथा उचित था नहीं तो नीतिशास्त्र की—

यस्मिन् जने मदकरीकलभाश्च तुल्यौ यत्रापिनास्ति हयरासभयोर्विशेषः
विद्वज्जनस्तदितरश्च न यत्र भिन्नो, कस्तत्रनाम मुणिनामधिवासरागः

इस उक्ति के अनुसार कि जिस अधिकारी के लिए मस्त हाथी और ऊँट बराबर है, जहाँ घोड़े और गदहे का कोई भेद नहीं, जहाँ विद्वान् और मूर्ख का कोई अन्तर नहीं समझा जाता, उसके अधीन गुणी लोगों को रहने में क्या अनुराग हो सकता है। गुणी व्यक्तियों का रूस में रहना असम्भव हो जाता तथापि कम्युनिज्म की जिस समानता की दुहाई दी जाती है, उसके तो यह नीति विरुद्ध है। इसमें सन्देह नहीं। इसमें कम्युनिज्म के उस समानतावाले सिद्धान्त की निस्सारता अवश्य सिद्ध होती है जिसमें रूस को परिवर्तन करना पड़ा। एक अंग्रेज लेडी मिसेज फ्रेडा ऐटले ने Lost Illusion अर्थात् आँखें खुल गई, इस शीर्षक के दो निबन्ध लिखे थे। इन लेखों को उसने बहुत समय तक सोवियत रूस में रहकर तथा वहाँ की अवस्था का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने के पश्चात् लिखा था। उन निबन्धों में उसने बताया है कि रूस में साधारण आदमियों और विशेष अधिकार रखनेवाले अमीरों की अवस्था में जमीन–आसमान का अन्तर है। सोने की गाड़ी में लेटे हुए मोटे–ताजे अफसर और आराम से जिन्दगी गुजारनेवाले पाषाण हृदय ओ०जी०पी०यु० चौकीदार अफसरों का भूखे मरनेवाले साधारण लोगों के साथ क्या मुकाबला हो सकता है। अत्याचारी और पीड़ित में बड़ा अन्तर है। क्रीमिया में रेस्ट होम में जहाँ हमें जगह मिल गयी थी, भोज्य पदार्थ इतने अधिक थे कि रोटी, बर्फी और केक बाहर फेंक दिये जाते थे। जबकि मेहमान लोग उन्हें अपने खाने की प्लेटों में छोड़ जाते थे। कारण कि उन्हें बहुत ज्यादा भोजन दिया जाता था। वह रेस्ट होम (Rest Home) क्रीमियन रिपब्लिक की सोवियत केन्द्रीय समिति के स्वामित्व में था और हमें कींग होफ की कृपा से इसमें जगह मिली थी। वह एक उच्च रूसी और

इसी देश का रहनेवाला था। यह जगह उच्च पार्टी के कम्युनिस्टों के लिए थी। हमारा वहाँ रहने का कोई अधिकार न था, लेकिन हमें इससे कम्युनिस्ट पार्टी के अमीरों के जीवन की आन्तरिक दशा का ज्ञान हो गया। इन पुराने महलों और रूसी अमीरों की इन देहाती कोठियों तक भूखे मरनेवालों की आवाज पहुँचने न पाती थी। पूर्व समय में भी ऐसा ही होता था किन्तु अन्तर केवल इतना था कि रूस में धनी आदमियों की एक नई श्रेणी पैदा हो गयी थी। **रूस में ६ वर्ष के रहने से मुझे यह विश्वास हो गया कि प्रजातन्त्र अपनी सारी निर्बलताओं के साथ भी किसी पूर्ण अधिकार रखनेवाले राजा से बेहतर है।** चाहे वह राजा कितना ही दयावान् क्यों न हो या होने का दम भरता हो। क्या कारण है कि कम्युनिस्ट अत्याचार गुप्त विभाग के भय का हर समय अनुभव होने से ही हम लोगों की आँखें खुल गई।.....मैंने देखा कि किस तरह रूसी लोग समस्त आशा से वंचित होकर लापरवाही और संशयात्मकता से गर्क (नष्ट) हो रहे थे और उन्होंने इस नयी गड़बड़ और निर्दय दुनिया में अपने लिये जो कुछ भी वे कर सकते थे, करने का निश्चय कर लिया था।

(सुर्ख आँधी अर्थात् कम्युनिज्म के ढोल का पोल–श्री चिरंजीलाल प्रेम से उद्धृत पृ० ७६–७७)

वास्तव में ये उपर्युक्त लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आँखें खोलनेवाले हैं। इससे रूस के समता और अत्युन्नत अवस्था के दावों की पोल खुल जाती हैं। वास्तव में धर्म के बिना समाज का कल्याण हो ही नहीं सकता। रूस के सदाचार विषयक दावे असत्य हैं, यह हम पहले मॉस्को से प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार दिखा चुके हैं। एक और उद्धरण इस विषय में देना आवश्यक प्रतीत होता है।

एक अमेरिकन विद्वान् जान रीड (John Reed) जो अपने देश को छोड़कर रूस में बस गया था तथा जो लेनिन का मित्र था, उसने अपने एक रूसी मित्र जे० एच० रोबिन को व्यक्तिगत पत्र में लिखा था—

"Look at your Communist Leaders and what they do when they are in power. Except for Lenin and Trotsky and a few others, they are grafters, politicians, theorist of hopeless fools. Every body knows that the heads of Cheke are accepting bribes, stealing, even killing people to get their wealth. Who hold the important positions in the Government and in the factories? Members of the Communist Party, political job holders without any qualifications, dreamers who spend their time drinking tea and making speeches or working for the Party."

(John Reed in Moscow Mirage)

अर्थात् अपने साम्यवादी नेताओं को देखो। वे जब समर्थ होते हैं तो क्या करते हैं। लेनिन, ट्रांटस्की और ऐसे ही कुछ एक को छोड़कर बाकी सभी छली राजनीतिज्ञ, ख्याली पुलाव पकानेवाले और निरे मूर्ख हैं।

यह बात रूस में प्रत्येक जानता है कि ''चेका'' के मुखियागण रिश्वत लेते हैं, चोरी करते हैं और यहाँ तक कि लोगों को, उनका धन लेने के लिए मार तक डालते हैं। सरकारी उच्च पदों और कारखानों में कौन आदमी नियुक्त होते हैं, कम्युनिस्ट, योग्यता रहित राजनीतिज्ञ, ख्याली पुलाव पकानेवाले जो अपना समय चाय पीने, व्याख्यान देने और पार्टी का काम करने में लगाया करते हैं। इत्यादि।

यह पत्र–जान रीड ने अपनी पुस्तक मास्को मिराज में प्रकाशित किया।

सम्भव है इस दशा में अब कुछ अन्तर हो गया हो, किन्तु उसके पश्चात् की नैतिक दशा भी कोई सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होती जैसे कि समाचार–पत्रों में प्रकाशित रिपोर्टों से पता चलता है। धर्म विरोधी आन्दोलन का यह परिणाम स्वाभाविक है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। धर्म के विरुद्ध युद्ध की जो घोषणा नेताओं ने की है, उसका परिणाम सिवाय नैतिक पतन की पराकाष्ठा के और कुछ नहीं हो सकता।

कम्युनिज्म से भोजन इत्यादि की समस्या का असमाधान—

साम्यवाद का यह कहना कि अभाव और गरीबी के कारण किसी को कष्ट नहीं मिलना चाहिए, धन के अभाव में कोई भूखा और नंगा नहीं रहना चाहिए यह बात ठीक ही है। वेदों में भी इस बात को अनेक स्थानों पर बताया गया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद १०।११७।१ में कहा है—

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददु॥ (ऋ० १०।११७।१)

निश्चय ही परमात्मा और उसकी शक्तियों या सत्य निष्ठ विद्वानों ने भूख को मृत्यु का साधन नहीं बनाया है। वेद की सम्मति में प्रजा के किसी भी व्यक्ति को भूख का कष्ट नहीं होना चाहिए। सब को यथेष्ट खाने को मिलना चाहिए। भूख तो उपलक्षणमात्र है। संकेत मात्र है। भूख हमारे जीवन की प्रधान आवश्यकताओं में से एक है। भूख की भाँति हमारे जीवन की अन्य सब प्रधान आवश्यकताएँ भी भली–भाँति पूरी होनी चाहिए।

इस विषय में अथर्ववेद का गृह सूक्त ७।६० भी विशेषरूप से मननीय है जिसमें गृह के विषय में ये मन्त्र आये हैं—

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः॥ २॥
उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥ ४॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः॥५॥
सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥६॥

(अ० ७।६०।२, ४, ५, ६)

इन मन्त्रों का तात्पर्य इस प्रकार है—

मं० २—ये हमारे घर (मयोभुवः) सुख के उत्पादक (ऊर्जस्वन्तः) धन-धान्यादि से पूर्ण (ऊर्गवा अन्नाद्यम्-ऐत० ५।२४) (पयस्वन्तः) दूध, घी, मक्खन आदि से भरपूर (वामेन) प्रशंसनीय ऐश्वर्य से भरे हुए (वाम इति प्रशस्य नाम-निघं० ३।८) (तिष्ठन्तः) रहकर (ते) वे (आयतः) बाहर से आये हुए (नः) हम लोगों को (जानन्तु) जानें, प्रेम से स्वागत करें।

मं० ४—(भूरिधनाः) बहुत धनाढ्य (स्वादु संमुदः) स्वादु, सुखकारी, मिठान्न आदि पदार्थों में एकत्र होकर आनन्द लेनेवाले (सखायः) मित्रगण (उपहूताः) नाना अवसरों पर बुलाये जाया करेंऔर हे (गृहा) गृहवासियों! आप लोग (अक्षुध्याः) भूख से पीड़ित न होकर सदा तृप्त रहो और (अतृष्याः स्त) कभी प्यासे न रहकर सदा तृप्त, भरपूर रहो (अस्मत्)। हमसे (मा बिभीतन) भय मत करो। सब निर्भय निश्चिन्त होकर रहो।

मं० ५—(इह) इस घर में (गावः) गावें (उपहूताः) लाई जावें, (अजावयः) बकरियाँ और भेड़ें भी (उपहूताः) लाई जावें। (अथो) और (अन्नस्य कीलालः) अन्न का सारभूत अंश अर्थात् अन्नों में से उत्तम-उत्तम बलकारी अन्न (नः गृहेषु उपहूतः) हमारे घरों में लाया जावे।

मं० ६—हे (गृहाः) गृहवासी परिवार के बन्धुजनो! आप सदा (सूनृतावन्तः) सत्य और प्रिय भाषण किया करो। (सुभगाः) उत्तम भाग्यशाली और उत्तम ज्ञान, यश तथा धर्म का संचय करनेवाले बनो। (ऐश्वर्यस्य समस्तस्य धर्मस्व यशसः श्रियः ज्ञान वैराग्ययोश्चेव, षण्णांभग इतीरणा)। (इरावन्तः) अन्नादिधान्य सम्पन्न रहो। इरा इति अन्ननाम-निघं० २।७१ (हसा मुदः) सदा हँसमुख और प्रसन्न रहो (अतृष्याः अक्षुध्याः स्त) तृष्णारहित और भूख से अपीड़ित सदा तृप्त रहो (अस्मत् मा बिभीतन) और हम से भय मत करो।

वस्त्रों के विषय में वेदों में आदेश है—

वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्राण्यूर्जां पते। सेमं नो अध्वरं यज॥

(ऋ० १।२६।१)

हे (ऊर्जापते) बल, पराक्रम और अन्न आदि पदार्थों के पालन करने-करानेवाले तथा (मियेध्य) अग्नि द्वारा पदार्थों को अन्तरिक्ष में पहुँचानेवाले अथवा

यज्ञार्ह (स्कन्द स्वभाष्ये वेंकटमाधवभाष्ये च मिमेघ्य-यज्ञार्ह)। (सः वस्त्राणि वसिष्व) ऐसे आप होता वा यजमान वस्त्रों को धारण करें (वस्त्राणि-सभायोग्यानि अन्यानिवाससि इति स्कन्द स्वामी स्वभाष्ये। और (हि) निश्चय से (नः इमम् अध्वरं यज) हम लोगों के इस प्रत्यक्ष तीन प्रकार के यज्ञ को (देव पूजा संगतिकरण दान) सिद्ध करें।

युवा सुवासाः परिवीत आगात्॥ (ऋ० ३।८।४)

इत्यादि मन्त्रों में भी उत्तम वस्त्रों के धारण करने का विधान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्यवाद को आदर्श के समान वेदों में भी यह आदर्श स्पष्टतया प्रतिपादित है कि सब को खाने, पीने, रहने और पहनने इत्यादि की सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिएँ। वेदों में राजा का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि—

कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥ (य० ९।२२)

हे राजन् (कृष्यै) उत्तम कृषि के लिए (क्षेमाय) कल्याण अथवा सब के परिपालन के लिए (रय्यै) धन की वृद्धि के लिए (पोषाय) सब प्रकार की पुष्टि वा विकास के लिए (त्वा) तुझे हम अभिषिक्त करते हैं। (कृष्ये-सकल कृष्यर्थे रय्यै पोषाय-धन पुष्ट्यार्थे त्वां प्रवेशयामीति श्री सायणाचार्यः काण्वसंहिता १० अ० भाष्ये कर्षणाय त्वां क्षेमाय च धनाय च पुष्ट्यर्थे चोपवेशायामीति उव्वटाचार्यः क्षेमाय च धनाय च पुष्याय चोपवेशायामीति उव्वटाचार्यः क्षेमाय लब्धपरिपालनायेति महीधरः॥

साम्यवादी रूस आदि का यह दावा चिरकाल से रहा है कि उन्होंने सामूहिक कृषि उत्पादन रूप में बड़ी सफलता पाई है। किन्तु जो तथ्य सम्मुख आये और अच्छे पत्र-पत्रिकाओं में उत्तरदायित्व पूर्ण व्यक्तियों द्वारा प्रकाशित किये गये हैं, उनसे कुछ और ही झलकता है। ज्ञात होता है कि न केवल सोवियत रूस अपितु चीन, रोमानियाँ, पूर्वी जर्मनी, क्यूबा आदि में भी कृषि उत्पादन और खाद्य की स्थिति बड़ी शोचनीय है। इस विषय पर "Readers Digest" नामक सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका के अगस्त १९६४ ई० के अंक में John Stohm and Eugene Lyons (जॉन स्टोहम् तथा यूजेन लायन्स) नामक विद्वानों का "Communism's empty Bread basket." शीर्षक का एक प्रामाणिक युक्ति-युक्त लेख प्रकाशित हुआ था जिसके प्रारम्भ में सारांश के रूप में सम्पादकीय टिप्पणी है—

"In its monumental failure to feed its hungry people lies the core weakness of the Communist System."

(Reader's Digest, August, 1964)

अर्थात् कम्युनिज्म वा साम्यवाद की आन्तरिक निर्बलता अपने भूखे लोगों का पेट भरने में अति विशाल असफलता द्वारा प्रकट हो रही है। इस लेख में

बताया गया है कि—

"When Stalin began his forced collectivization in 1929, desperate peasants slaughtered their animals rather than surrendered them to the state. They burned their huts and barns, set fire to crops, killed hundreds of Government agents. The tragedy reached a terrible climax in the famine of 1932-33 when in effect, the embittered farmers went on strike by growing only enough for their own needs. But they underestimated the cruelty of the new masters; their crops were taken away at bayonet point to feed the people of the towns, leaving the villagers to starve An estimated four million Russians perished." (P. 45)

तात्पर्य यह है कि जब सन् १९२९ में स्टालिन ने सामुदायिक कृषि का कार्यक्रम बलात् प्रारम्भ किया तो निराश कृषकों ने अपने पशुओं को मार डाला अपेक्षा इसके कि वे राज्य को उन्हें समर्पित कर देते। उन्होंने अपनी झोंपड़ियों और भुसौरों को आग लगा दी, धान्यों को आग लगा दी और सरकार के सैकड़ों अभिकर्ताओं व गुमाश्तों को मार डाला। सन् १९३२-३३ में यह महाविपदा भयंकर अकाल के रूप में परिणत हुई। कटुतापूर्ण वा चिढ़े हुए किसानों ने केवल अपनी आवश्यकता के अनुसार ही खेती करने की हड़ताल कर दी। किन्तु उन्होंने अपने नवीन स्वामियों की क्रूरता का अनुमान ठीक न लगा सके। उनके धान्य उनसे छीन लिए गये, बन्दूकों की धमकी से, नगर के लोगों का पेट भरने के लिए गाँववालों को भूखे मरने दिया गया। लगभग ४० लाख रूसवासी मर गये। यह अनुमान है।

आगे इस लेख के लेखकों ने बताया है कि स्टालिन ने किसानों को एक छोटे से साधारणतया २/३ एकड़ के टुकड़े में निजी तौर पर खेती करने की रियायत दे दी थी जो इतनी उपयोगी सिद्ध हुआ है कि वह रियायत काफी समय तक जारी रही। कृषि के कार्यक्रम की वास्तविक अवस्था के विषय में लेखकों ने बताया है कि—

"The peasants, though defeated, have not truly surrendered to this day. They work as little and as apathetically as possible on the State Farms and Kolkhozi (Collective Farms), diverting their time and energy to those minuscule private plots. The Kremlin makes little effort to conceal the resistance. As recently as September 1962, this comment in connection with the farm troubles, appeared in the Moscow Komsomolskaya Pravada." **"It is easier to wipe out the anopheles mosquito than the virus of individualism, the**

irrepressible cult of property."

तात्पर्य यह कि कृषक यद्यपि हार गये, तो भी आज तक उन्होंने वस्तुत: आत्मसमर्पण नहीं किया। वे राज्य की ओर से संचालित अथवा सामुदायिक कृषि स्थलों पर अधिक-से-अधिक उपेक्षा के साथ कम-से-कम काम करते हैं। वे अपने समय और शक्ति को अपने छोटे से निजी भूखण्डों में खेती करने में लगाते हैं। क्रैमलिन किसानों के इस प्रतिरोध को छिपाने का कम ही प्रयत्न करता है। अभी सितम्बर १९६२ में कृषि संकट के सम्बन्ध में मॉस्को के प्रावदा नामक पत्र में यह स्थिति प्रकाशित हुई थी कि व्यष्टिवाद के विष और वैयक्तिक सम्पत्ति के धार्मिक विश्वास को दूर करने की अपेक्षा विशेष प्रकार के मच्छरों को नष्ट करना अधिक सुगम है। इसके आगे लिखा है—

"A Soviet economic journal (Voprosi Economiki) recently calculated an annual **loss of 250 million man hours through absenteeism by some 7000000 Collective farmers. The Press constantly complains about delayed sowing, neglected weeding, slow gathering of the crops.** Year after year, "volunteers" are rushed from the towns to the farms to help with the harvest, but vast amounts of produce remain to rot and freeze on the ground."

(Reader's Digest August, 1964, P. 45)

तात्पर्य यह कि एक सोवियत की अर्थशास्त्र विषयक पत्रिका ने हाल में यह गणना की है कि सामुदायिक कृषियों के लगभग ७० लाख किसानों की अनुपस्थिति से वार्षिक २५ करोड़ श्रमिक घण्टों की क्षति हुई है। विलम्ब से की हुई बुवाई, उपेक्षित घास-फूँस की निराई वा सफाई और धान्य के बहुत धीरे-धीरे सञ्चयन की शिकायत प्रेस निरन्तर करता है। प्रतिवर्ष नगरों से बहुत बड़ी संख्या में कृषि स्थलों में स्वयं सेवक इस उद्देश्य से भेजे जाते हैं कि वे फसल उत्पादन में सहायता करें, किन्तु उत्पादन की बहुत बड़ी मात्रा जमीन पर सड़ती-गलती रह जाती है। यह अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। हमारे विचार में इसके लिए साम्यवाद वा कम्युनिज्म की अहम्-ममता की स्वाभाविक भावना की न केवल उपेक्षा, अपितु उसे कुचलने की प्रवृत्ति ही उत्तरदायित्व है। इसकी तुलना में वैयक्तिक भूमि खण्डों पर जो कृषि किसान लोग करते हैं, उनके विषय में इसी लेख में बताया गया है कि—

"Russia's tiny farms and gardens cultivated on an individual basis not only feed the 100 million people still living in country side, but, the private sales of their products, starve off hunger in the towns and cities. A U.S. Department of Agriculture Report atests : Although these plots constitute only 1.4 percent of Russia]s total agricultural Area

and 3.3 percent of the total sown area, in 1962 they accounted for about one-third of gross agricultural output including almost half the total output of livestock products." (R.D., P. 45)

अर्थात् रूस के छोटे कृषि खण्ड (चक) और बाग जिनमें उत्पादन वैयक्तिक आधार पर किया जाता है न केवल १० लाख × १०० या १ अरब लोगों का जो अभी तक ग्रामों में निवास करते हैं पेट भरते हैं, बल्कि उनकी उत्पत्ति की वैयक्तिक रूप से बिक्री के द्वारा नगरों और कस्बों में भी भूखा मरने से लोगों को बचाते हैं। ये भूमिखण्ड या टुकड़े रूस के समस्त कृषि क्षेत्र का केवल १.४ प्रतिशत और बोये गये समस्त क्षेत्र का केवल ३.४ प्रतिशत हैं। तथापि सन् १९६२ में उनके द्वारा समस्त कृषि सम्बन्धी उपज का लगभग १/२ भाग, जिसमें पशु धन के लिए उत्पत्ति का लगभग १/२ भाग भी सम्मिलित था, सम्पादित हुआ।

उपसंहार करते हुए योग्य लेखकों ने बताया है कि—

"The picture in the **Communist world, in short, is one of agrarian stagnation, peasent discontent and chronic insufficiency.**" (R.D., P. 47)

अर्थात् संक्षेप में कहा जाय तो कम्युनिस्ट (साम्यवादी) जगत् में स्थिति कृषि सम्बन्धी गतिहीनता वा निष्क्रियता, कृषक असन्तोष और चिरकालीन अपर्याप्तता का है।

वे आगे लिखते हैं—

"Neither in Soviet Russia nor in any other Communist captive country however, can the dictators **canceal the truth that Communism breeds hunger. This is the lesson that must be conveyed to those dazzled and tempted by Communist claims of economic miracles.**" (Reader's Digest Aug. 1964)

तात्पर्य यह है कि न सोवियत रूस में और न किसी और कम्युनिस्ट देश में इस सच्चाई को छिपाया जा सकता है कि कम्युनिज्म भुखमरी पैदा करता है। यह पाठ है जिसे उन लोगों तक पहुँचाने की आवश्यकता है जो न केवल कम्युनिस्टों के आर्थिक चमत्कारों के दावे से प्रभावित हैं, बल्कि जिनकी आँखें उससे चकाचौंध हो गयी हैं।

यह लेख वस्तुत: आँखें खोलने और कम्युनिस्टों के अनेक दावों की असत्यता सिद्ध करनेवाला है। इससे इस विषय पर भी बड़ा उत्तम प्रकाश पड़ता है कि कृषि के उत्पादन बढ़ाने आदि के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार होना अत्यन्त आवश्यक है। अहम्-मम की इस स्वाभाविक लौकिक भावना की उपेक्षा करना वा उसे कुचलने का यत्न न सम्भव है और न वाञ्छनीय है।

वर्णाश्रम व्यवस्था और अन्यवाद

अन्त में हम संक्षेप से यह दिखाना चाहते हैं कि इन विविध वादों के सब उत्तम गुण वर्णाश्रम व्यवस्था में विद्यमान हैं और दोष नहीं। वर्णाश्रम व्यवस्था को सच्चा समाजवाद इसलिए कह सकते हैं क्योंकि सब प्रकार के समाजवाद के तीन मौलिक सिद्धान्त–स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व वा सार्वजनिक बन्धुत्व— जिन्हें अंग्रेजी में Liberty, Equality and Fraternity के नाम से कहते हैं—शुद्ध रूप में वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था में पाये जाते हैं। यद्यपि उनका रूप पाश्चात्य समाजवाद और साम्यवाद वा कम्युनिज्म से भिन्न हैं। अन्यवाद एकदेशीय और एकांगी है। **वर्णाश्रम व्यवस्था में व्यष्टिवाद और समष्टिवाद का सच्चा समन्वय है।** आश्रम व्यवस्था के द्वारा व्यक्तियों को अपने को सब दृष्टियों से उन्नत होने का अवसर मिलता है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—इन चार आश्रमों के द्वारा मनुष्य अपनी सब प्रकार की उन्नति करने का अवसर पाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णों के लोग सब अपनी-अपनी योग्यता, प्रवृत्ति और शक्ति के अनुसार समाज की सेवा करते हैं। इस प्रकार व्यष्टिवाद (Individualism), और समष्टिवाद (Socialism) का अद्भुत मेल वा समन्वय वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था में हो जाता है। महामनीषी, भारत के भू० राष्ट्रपति महामान्य डॉ० राधाकृष्णन् जी ने अपनी "Hindu View of Life" में इस विषय पर उत्तम प्रकाश डालते हुए ठीक ही लिखा है कि—

"It is an illustration of Hegel's harmony of opposites, a point of view which reconciles the apparently conflicing claims of the individual and the Society. Not the good of the self as a thing apart, or the good of the Society by itself, but a higher good, to promote which constant selfrenewal and social service are the means, is the governing principle of the caste-system. Taking into account the variety of human nature, it lays down ways and means by which each man can attain full self-expression. It works up to the ideal of equality by recognising the actual differences." (P. 40)

"The four classes correspond to the intellectual, the militant, the industrial and the unskilled workers. All of them serve God's creation by their own capacities; the Brahimans by their spirituality, the Kshatriyas by their heroism, the Vaishyas by their skill and the Shudras by their service. All of them place common good above that of their party or class. When the different classes fulfil their respective functions, the Society is considered to be just or in accordance with Dharma."

(The Heart of Hindustan by Dr. S. Radha Krishnan, P. 40-41)

अर्थात् यहाँ वर्णव्यवस्था के लिए अंग्रेजी में प्रायः प्रचलित Caste System इस शब्द का ही महामान्य डॉ० राधाकृष्णन्जी ने भी प्रयोग किया है। जिसको हम ठीक नहीं समझते। स्वयं महामनीषी व्याख्याता महोदय ने भी वर्णों के लिए Classes शब्द का प्रयोग इसी पुस्तक के पृ० ३५ में तथा अन्यत्र किया है, उदाहरणार्थ उन्होंने कहा है—

"The varnashrama Dharma or the discipline of the Classes and stages of life, is the Hindu's device for the Gradual improvement of human nature."

(Hindu view of Life by Dr. S. Radha-Krishnan, P. 35)

यहाँ वर्णों का अनुवाद उन्होंने Caste न करके Classes ही रखा है। उन्होंने अपने "Hindu Dharma" विषयक दो अन्य व्याख्यानों में भी महाभारत के निम्न श्लोक का पाठ किया—

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य, वृत्तेभवतु कारणम्॥

(म०भा० वनपर्व अ० ३१४)

इस श्लोक का प्रतीक देकर उन्होंने कहा है कि—

According to the Mahabharata, the test of regeneracy is "not birth, nor learning, but only conduct."

इस शिक्षा की उपेक्षा का जो भयंकर परिणाम हुआ है उसका निर्देश उन्होंने इन शब्दों में किया है—

"We have ignored the factors other than birth, with the result that the system has rigidly confined people for all time to particular compartments, enslaved successive generations of men and proved well-high fatal to the free growth of social polity."

अर्थात् हमने जन्म के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों की अवज्ञा की है उसका परिणाम यह हुआ है कि इस प्रणाली ने लोगों को विशेष श्रेणियों (विभागों) में सदा के लिए कठोरता से सीमित कर दिया है और मनुष्यों की आनेवाली सन्तति को दास बना दिया और यह सामाजिक पद्धति के स्वतन्त्र विकास के लिए लगभग घातक सिद्ध हुआ है।

इसलिए यह स्पष्ट है कि मान्य मनीषी डॉ० राधाकृष्णन् जी ने अंग्रेजी में अधिकतर प्रचलित होने के कारण ही वर्णव्यवस्था के लिए Caste-system शब्द का प्रयोग कर दिया है, उनका उद्देश्य जन्ममूलक जातिभेद का समर्थन करना नहीं। डॉ० मीज ने अपनी पुस्तक "Dharma and Society" में वर्णव्यवस्था का जन्ममूलक जातिभेद से भेद करते हुए वर्णव्यवस्था के लिए Class-system शब्द

का प्रयोग किया है जो उसकी भावना को अधिक स्पष्ट करता है। यह हमने प्रसंगवश केवल स्पष्टीकरणार्थ लिख दिया है।

जिस महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ को हमने तुलनात्मक दृष्टि से ऊपर उद्धृत किया है, उसमें डॉ० राधाकृष्णन् जी ने कहा है कि यह हीगल के परस्पर विरोधों के समन्वय का उदाहरण है, एक दृष्टिकोण है जो व्यक्ति और समाज के बाह्यतः एक दूसरे से टकरानेवाले दावों में समन्वय स्थापित करता है। केवल अपना एक पृथक् वस्तु के रूप में भला नहीं अथवा स्वयं समाज का कल्याण नहीं, अपितु एक ऊँची भलाई जिसको लाने के लिए निरन्तर नवीनीकरण और समाज सेवा साधन है, यह वर्णव्यवस्था का मुख्य सिद्धान्त है। यह मानव प्रकृति की विविधता निरूपण करती है जिनसे प्रत्येक मनुष्य पूर्ण आत्माभिव्यक्ति कर सकता है। यह वास्तविक भेदों को स्वीकार करती हुई समानता के आदर्श की ओर ले जाती है।.....चार वर्ण बौद्धिक, सैनिक, औद्योगिक और अनिपुण कार्यकर्ताओं के समान हैं। वे सब परमेश्वर की सृष्टि की अपनी शक्ति और योग्यतानुसार सेवा करते हैं, ब्राह्मण अपनी आध्यात्मिकता से, क्षत्रिय अपनी शूरवीरता से, वैश्य अपनी चतुरता से, और शूद्र अपनी सेवा से। सब सर्वहित को अपने दल या वर्ग के हित से ऊपर रखते हैं। जब भिन्न-भिन्न वर्ण अपने-अपने कार्यों को पूरा करते हैं, तो समाज न्याय संगत और धर्मानुकूल समझा जाता है। महामनीषी श्रद्धेय डॉ० भगवान्दासजी ने भी अपनी—

"Ancient Versus Modern Scientific Socialism", "A Science of Social Organisation" तथा "The Dawn of Another Renaisance." इत्यादि पुस्तकों में प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था को ही सर्वश्रेष्ठ सामाजिक व्यवस्था सिद्ध किया है। कम्युनिज्म वा साम्यवाद के वर्गविहीन समाज की स्थापना और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए उन्होंने ठीक कहा है कि—

"Classlessness Vs. Vocational Classes".

"When the Communist tries to abolish classes and make society classless, he means to abolish that form of Society which divides all men into only two classes, rich and poor, capitalist and wage-earner, buyer of labour and seller of labour, money owner and wage-slave."

(See Laski's The Whole of communism. Chap. 11)

"If there were such a society, his endeavour would be and is perfectly righteous. But if class is to mean" Occupational or vocational class, "the Varana of Manu", then the endeavour is not only erroneous, but futile, as proved by the inevitable upcrop of the four main vocational classes in Bolshevic Russia viz. Peasants, Soldiers, workers of two kinds, manual and intellectual and by the unavoidable use of the word

"Classes" in a description of the Soviet System of Governmental institutions which emerges from class Organisations and is based upon the conception of class Unity rather than indiv.dual Votes".

(Ancient Vs. Sc. Socialism)

अर्थात् जब कम्युनिस्ट वा साम्यवादी, वर्गों को हटाकर समाज को वर्गविहीन बनाना चाहता है, वह समाज के उस रूप को दूर करना चाहता है जिसमें उसे धनी और निर्धन, पूंजीपति और श्रमिक, श्रम को खरीदने और बेचनेवाले, धनपति और श्रम दास केवल इन दो व्रर्गों में ही विभक्त किया जाता है।

यदि ऐसा कोई समाज होता, तो उसका यत्न सर्वथा उचित और धर्म संगत होता। किन्तु यदि Classes से उसका तात्पर्य उन व्यवसाय और कार्य पर आश्रित वर्गों अथवा मनु के वर्णों से है, तो उसका यत्न न केवल अशुद्ध किन्तु व्यर्थ भी है जैसे कि वोल्शेविक रूस में भी जो चार वर्ग पैदा हो गये हैं, उनसे भी सिद्ध होता है जो किसान, सैनिक, शारीरिक और बौद्धिक इन दो प्रकार के श्रमिक इस रूप में है और जैसे कि सोवियत शासन प्रणाली के वर्णन में Classes वा वर्ग शब्द के अनिवार्य प्रयोग से भी सूचित होता है। ये वर्ग वहाँ वर्गों की संस्थाओं से निकलते और वर्ग की एकता पर न कि वैयक्तिक मताधिकार पर निर्भर है।

इसलिए श्रद्धेय डॉ० भगवान्दासजी ने भारत के लिए परामर्श देते हुए अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि—

"Not class war, but Class Co-operation through class balance and class re-conciliation, not a class-less Society, nor a rich and poor Society, but a Society of Temperamental Vocational Classes, justice co-ordinated, not an utterly homogenuous literal Equality in all respects, nor an utterly heterogenuous and grossly iniquitous inequality, but an "Equitability in the partition of different kinds of work and of corresponding appropriate sufficient recompense and incentive."

(Fore Word VII-IX)

वर्ग संघर्ष वा युद्ध नहीं, किन्तु वर्ग सहयोग जो वर्ग सन्तुलन और वर्ग समन्वय के द्वारा हो, एक वर्ग विहीन समाज नहीं, न ही धार्मिक और निर्धन समाज किन्तु स्वभाव और कर्म पर आश्रित वर्णों का समाज जो न्यायानुसार परस्पर समन्वित हो, सब प्रकार से सर्वथा एक रूप शाब्दिक समानता नहीं, और न ही विभिन्न जातीय और अत्यन्त अन्यायपूर्ण असफलता, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों के विभाजन में और उनके अनुरूप उचित पर्याप्त पारितोषिक और प्रोत्साहन में न्याय संगतता—इसकी आवश्यकता है।

यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि व्यष्टिवाद समष्टिवाद का समन्वय, सर्वथा विभिन्न जातीय विषमता और न्याय संगत समानता का मध्यमार्ग, वर्ग विरोध के स्थान में वर्ग सहयोग—ये सब विशेषताएँ केवल वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की ही हैं जिसका हमने पिछले अध्याय में विस्तार से प्रतिपादन किया है।

हमारे मान्य प्रतिभाशाली उपाध्याय, संस्कृत और वैदिक साहित्य के धुरंधर विद्वान् स्व० पं० श्री बुद्धदेवजी विद्यामार्तण्ड ने वर्णव्यवस्था के स्वरूप को इन ४ सूत्रों में रखने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया जिसे उपयोगी होने के कारण हम यहाँ उद्धृत करना उचित समझते हैं।

वर्णव्यवस्था के ४ सूत्र—

१. गणाद् गुणो गरीयान्–गण से गुण का दर्जा बड़ा है। Quality, not equality.

२. वर्ण सहयोगी न तु वर्ग विरोध—वर्गों का सहयोग न कि वर्ग विरोध Class co-operation and not class War. साम्यवादियों का कहना है कि वे वर्ग हीन समाज का निर्माण करने चले हैं, यह बिल्कुल आत्मवंचना है। अभाव, अन्याय और अविद्या—मनुष्य जाति के ये ३ शत्रु, मनुष्यमात्र के लिए दुःख की सृष्टि कर रहे हैं। इस दुःख से लड़ने के लिए इन तीन वर्गों की सेना एक झण्डे के नीचे इकट्ठी होगी और इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—ये तीन वर्ग अवश्य बनाने ही पड़ेंगे। अपने गुणों के कारण इनमें छोटे–बड़े का भेद भी अवश्य रहेगा। इसलिए साम्यवादी वा कम्युनिस्ट लोग जो प्रतिदिन ईर्ष्या को भड़काकर मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बना रहे हैं, यह समाज के लिए घातक है। जो वर्ग इस समय श्रमजीवी समाज का शोषण करके धन का दुरुपयोग कर रहा है, उसके हाथ से शक्ति छीनकर सदुपयोगी वर्ग के हाथ में शक्ति देनी दूसरी बात है और वर्ग हीन समाज बनाना दूसरी बात। एक का आधार न्याय है और दूसरे का ईर्ष्या और प्रतिहिंसा। एक में प्रकाश है, दूसरे में धुआँ और गर्मी। यही दोनों में भेद है। इसलिए हम तो यह चाहते हैं कि सदाचार, विद्या, शक्ति, योग्यता आदि के आधार पर अथवा दूसरे शब्दों में गुण, कर्म, स्वभावानुसार मनुष्यों का वर्गीकरण हो। सबके साथ–साथ योग्य व्यवहार हो। इस प्रकार ये तीन भेद है—

पूंजीवाद	–	अन्याय
साम्यवादी	–	अन्धाधुन्ध न्याय
वर्णव्यवस्था	–	सबके साथ प्रीतिपूर्वक

इसीलिए वेदों में कहा गया है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋ० १०। १९१।४)

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

(अ० १९।६२।१)

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥

(य० ३६।१८)

इन तथा पुरुष सूक्त आदि के मन्त्रों के सब की मित्र की दृष्टि से देखने, समान रूप से उत्तम हृदय और मन का मेल करके परस्पर सहयोग करने और परस्पर सहयोग का ही आदेश है। इन मन्त्रों की व्याख्या हम सप्रमाण कर चुके हैं। अत: यहाँ फिर दुहराना अनावश्यक है। ३. बिना हेतुं न निग्रहानुग्रहो।

बिना कारण के न दण्ड हो और न अनुग्रह।

No Punishment and reward without discrimination.

समाज और साम्यवादी चाहते हैं कि सम्पत्ति विशेषकर उत्पादक द्रव्यों पर व्यक्ति का अधिकार समूल नष्ट कर दिया जाय। ममता धरती पर न रहे। वे भूल जाते हैं कि उनका शत्रु पूंजी नहीं किन्तु पूंजी वा सम्पत्ति का दुरुपयोग है। पूंजीवादी एक प्रकार से लंगड़े हैं क्योंकि वे पूंजीपतियों पर कोई अंकुश नहीं रखते। वे जिस प्रकार चाहे पूंजी का दुरुपयोग करे और जिस प्रकार चाहे श्रमजीवियों का रक्त चूसे। यह अन्याय है और यह तो पृथिवी से जितनी जल्दी मिट जाये उतना ही अच्छा है। पूंजीवाद में अनुग्रह वा इनाम है। निग्रह वा दण्ड नहीं। दूसरी ओर समाज वा साम्यवादी भी लंगड़े के समान है। वे ममता का लाभ बिल्कुल नहीं उठाना चाहते। वे एक ओर तो मनुष्य को स्वभाव से स्वार्थी मानकर उससे पूंजीवाद का अधिकार छीनना चाहते हैं, दूसरी ओर उसी मनुष्य को ठोक-पीटकर समाज का सेवक और महात्मा बनाना चाहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जो मनुष्य दण्ड के भय के बिना सीधा नहीं चलता, वह उचित पारितोषिक न मिलने से काम नहीं करता। रहे महात्मा, वे दोनों अवस्थाओं में एकरस हैं। उनके लिए तो ये नियम है ही नहीं। किन्तु संसार में बहुत बड़ी संख्या साधारण मनुष्यों की है। वे तो अनुग्रह और निग्रह दोनों माँगते हैं। इसलिए कुछ मनुष्यों को सम्पत्ति का सदुपयोग करते देखकर सब की सम्पत्ति छीनना उतना ही बड़ा अन्याय है पहले का फल आलस्य और प्रमाद है, दूसरे का फल उत्साह हीनता और मन्द बुद्धिता है। सम्पत्ति वा पूंजी स्वयं बुरी नहीं। कौन-सा समाज कितने दिन तक पूंजी पर व्यक्ति का अधिकार करने दे, यह उस समाज की विद्या और सदाचार के विकास पर निर्भर है। जितनी बड़ी पूंजी हो, उतना ही उत्तरदायित्व अधिक है। उस पर अधिकार के लिए उतनी ही अधिक योग्यता चाहिए। संक्षेप से यों कह

सकते हैं कि—

१. सम्पत्ति पर निरंकुश अधिकार पूंजीवाद है।

२. सम्पत्ति पर अन्धा वा अविवेक पूर्ण आक्रमण समाज वा साम्यवाद है।

३. जो सम्पत्ति का सदुपयोग करे, उससे न छीनना और जो दुरुपयोग करे उसके पास न रहने देना यह वर्णव्यवस्था है। इसमें भय और उत्साह, दण्ड और पारितोषिक, निग्रह और अनुग्रह दोनों टाँगे पूरी है। इसलिए वर्ण प्रबन्ध दो टाँगों से दौड़ता है, यह लंगड़ा नहीं है। इसीलिए कहा है—

विना हेतुं न निग्रहानुग्रहो।

४. वर्णव्यवस्था का चतुर्थ सूत्र है—

विना लक्ष्यं न विद्या।

"No Education without design or a definite aim".

संसार में जितनी समाज व्यवस्था आज तक बनी अथवा बनेगी सबका उद्देश्य है श्रेष्ठतम मनुष्यों के हाथ में अधिकार देना। परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि श्रेष्ठतम मनुष्य उत्पन्न भी किये जाये। इसीलिए वर्णव्यवस्था के इस अंग को पूरा करने के लिए आश्रम व्यवस्था भी की गयी है। यह वर्णव्यवस्था का सब से विलक्षण अंग है। मनुष्य समाज के तीन शत्रु हैं—अभाव, अन्याय और अविद्या। जब हमें इनसे लड़नेवाले योद्धा तैयार करने हैं, तो जितनी छोटी आयु में इनमें से एक लक्ष्य चुनकर उसके लिए साधना की जाये, उतना ही अच्छा फल मिलेगा। यह एक सीधा तथ्य है जिसकी ओर आश्चर्य है कि क्यों शिक्षाशास्त्री वा स्त्रियों का बहुत ही कम ध्यान जाता है। संसार में दीक्षा की लोक के साक्षी करके व्रत धारण करने की बड़ी महिमा है। इसी दीक्षा का लाभ लेकर शिक्षा का प्रारम्भ करना और फिर उस दीक्षा के अनुसार ही शिक्षा देना ब्रह्मचर्य या श्रम का तत्त्व है। इसमें प्रत्येक विद्यार्थी अपना लक्ष्य अपनी इच्छा के अनुसार चुनता है, अपने लक्ष्य का वरण करता है। इसीलिए यह लक्ष्य उसका वर्ण और यह व्यवस्था वर्णव्यवस्था कहलाती है। यदि संसार में सच्चे मनुष्य बनाने हैं तो पहले वर्ण दीक्षा दो, फिर शिक्षा। बिना नक्शे के चिनाई मत करो। इस तथ्य को पहचानते ही बेकारी (Unemployment) की समस्या का भी बहुत अंश तक समाधान हो सकता है। आजकल शिक्षा लक्ष्य हीन होने के कारण ही इतने अनर्थ का कारण बन रही है। वर्णाश्रम व्यवस्था के द्वारा इसको अत्यधिक लाभप्रद बनाया जा सकता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार ही धर्म है। पाश्चात्त्य तथा अन्य देशों के प्रकृतिवादी चाहे इस बात को स्वीकार न करें, पर सच्चाई यह है कि जब तक धर्म के आधार पर सार्वजनिक भ्रातृत्व (Fraternity), समानता (Equality) वा समान अवसर सब की उन्नति के लिए प्रदान करना और सब को समान रूप से अमृत पुत्र मानकर प्रेम से व्यवहार करना, स्वतन्त्रता (Liberty)

और न्याय के उच्च सिद्धान्त लोगों के दिलों में घर न बना लेंगे अर्थात् उनके हृदयों में परिवर्तन नहीं लाया जायेगा तब तक केवल नियमों के द्वारा अथवा क्रान्तिकारी हिंसात्मक उपायों द्वारा जैसे कि कार्ल मार्क्स के सहयोगी एंजिल्स (Engels) ने कम्युनिज्म वा साम्यवाद क्या है यह पूछने पर उसके उद्देश्य बताते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था—

"To recognise no means of carrying out these objects other than a democratic revolution by force."

अर्थात् इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिए सार्वजनिक बलात्कार विद्रोह को ही साधन बनाना और किसी को नहीं। कितना उपद्रवजनक है यह सिद्धान्त (विषमता) को दूर कर देने से कुछ भी विशेष लाभ न होगा। आवश्यकता तो इस बात की है कि लोगों के दिल बदल जायें। धनियों के मन में स्वत: निर्धनों और दु:खितों के प्रति सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो ताकि वे उनकी अवस्था उन्नत करने का यत्न करें। ये सब पूंजीपतियों और श्रमिकों के विवादादि तब तक शान्त न होंगे, जब तक न्याय का कार्य नि:स्वार्थ पुरुषों के हाथ में न होगा। जहाँ वर्णव्यवस्था शान्ति से उस काम को करना चाहती है और प्रत्येक विभाग में सुधार करना चाहती है, वहाँ समाज वा साम्यवाद मुख्यत: आर्थिक न्याय की दृष्टि से ही इस प्रश्न को लेकर विचार करता है और सब प्रकार के क्रान्तिकारी और उपद्रव तथा विद्वेष वर्धक उपायों से स्वयं धर्म तक को तिलाञ्जलि देते हुए मनुष्य समाज के संगठन में परिवर्तन प्रस्तुत करता है। इनमें से कई प्रस्ताव तो न केवल अव्यवहार्य अपितु अत्यन्त हानिकारक भी हैं जैसे कि इस विवेचन से ज्ञात हो सकता है। वर्णाश्रम व्यवस्था में जहाँ व्यष्टिवाद और समष्टिवाद का अद्भुत मेल है, वहाँ पाश्चात्त्य ढंग के समाजवाद वा साम्यवाद में उनके मेल की कोई आशा नहीं प्रतीत होती। इस विवेचन से विचारशील निष्पक्षपात पुरुष स्वयं समझ सकते हैं कि इनमें से कौन अधिक उपादेय है।

जब तक कानून बनाने और न्याय करने का काम सच्चे स्वार्थ-त्यागी तपस्वी लोक हितैषी, ब्राह्मण वृत्ति के पुरुषों के हाथ में नहीं आता, तब तक न्याय का घात होता ही रहेगा चाहे कितना भी क्रान्तिकारी आन्दोलन केवल आर्थिक न्याय को प्राप्त करने के लिए क्यों न किये जायें। इसीलिए हमारा विश्वास है कि वैदिक वर्णव्यवस्था की भावना को पुनरुज्जीवित किये विना संसार का कल्याण नहीं हो सकता।

कम्युनिज्म और वर्णव्यवस्था—

यद्यपि इस विषय का पर्याप्त विवेचन इस अध्याय में हो चुका है, तथापि निम्न तालिका द्वारा इनके अन्तर तथा समता को दिखाना में उचित प्रतीत होता है।

मार्क्सवाद वा साम्यवाद में

१. भोजन, वस्त्रादि आलम्बन पदार्थ पर्याप्त मात्रा में सबको मिल सकेंगे।
२. व्यक्ति के अधिकार का नाश होने से पदार्थ कम मात्रा में और निचली कोटि के पैदा होंगे।
३. दण्ड का भय होने के कारण बँटवारे में अत्याचार न हो सकेगा तथा श्रमजीवियों का शोषण (Exploitation) न होगा।
४. उचित पारितोषिक न मिलने से सामान्य मनुष्यों में उत्साह मन्द होगा। (जैसे कि सामूहिक कृषि विषयक परीक्षण के सम्बन्ध में हम प्रामाणिक स्रोतों के आधार पर दिखा चुके हैं।)

वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था में

१. भोजन, वस्त्रादि आलम्बन पदार्थ, पर्याप्त मात्रा तथा उत्कृष्टतर कोटि में सबको मिल सकेंगे।
२. व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के कारण पदार्थ अधिक मात्रा में तथा उत्कृष्टतर कोटि के पैदा होंगे।
३. क्षत्रियों के दण्डभय और ब्राह्मणों के सदुपयोग के प्रभाव से बँटवारे में अत्याचार न हो सकेगा तथा श्रमजीवियों का शोषण न हो सकेगा।
४. समता और उत्तराधिकार की उचित रक्षा (निरंकुश नहीं) के कारण सामान्य मनुष्यों के उत्साह का भी अधिक से अधिक विकास होगा और वे प्रसन्नता से देश तथा समाज की उन्नति के लिए प्रयत्न करेंगे।

इस तालिका से भी वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की ही उपादेयता अत्यन्त स्पष्ट है।

प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद (Democratic Socialism)—

विविध वादों के गुण-दोषों पर इस प्रकार कुछ विवेचन करके इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व काँग्रेस द्वारा स्वीकृत प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद (Democratic Socialism) पर भी थोड़ा विचार करना उचित और आवश्यक प्रतीत होता है।

काँग्रेस ने जयपुर के अधिवेशन में अपना उद्देश्य समाजवाद (Socialism) की स्थापना रखा था किन्तु यह अनुभव किया गया कि Socialism या समाजवाद शब्द बड़ा अस्पष्ट है और इसकी कई तरह की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न लोग करते हैं। अतः भुवनेश्वर (उड़ीसा) में जनवरी सन् १९६४ में हुए काँग्रेस के अधिवेशन में इसका ध्येय प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद की स्थापना निश्चित किया गया। इस विषय में दिल्ली के Sunday Standrard के ३ मई १९६४ के अंक में काँग्रेस के

भूतपूर्व प्रधानमन्त्री और प्रधान आचार्य कृपलानी का "Congress Goal of Socialism still Nebulous." इस शीर्षक से एक विचारोत्तेजक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने बताया कि Socialism वा समाजवाद यह शब्द कितना अस्पष्ट है और इसके कितने अधिक भेद देश-विदेश में प्रचलित हैं। यूरोप में जर्मनी और इटली में National Socialism प्रचलित था जिसके दो भेद Naziism वा Fascism हुए। इंग्लैंड में एक Labour Socialism है। स्कैण्डिनेविया में एक विशेष प्रकार का साम्यवाद है। भारत में Forward Block में दो प्रकार के समाजवाद प्रचलित हैं जनसंघ भी एक प्रकार के हिन्दू धर्म से मिलते हुए समाजवाद का दावा करता है। रूस और चीन में अलग-अलग प्रकार के Socialism अथवा Communism है। भारत में प्रजा समाजवादियों Praja Socialists, P.S.P., का पृथक् दल है। इन सब का उल्लेख करके आचार्य कृपलानी ने कहा है कि—

"It will thus be seen that to try to define socialism is to try to define the indefinable." (Sunday Standard of 3rd. May, 1964)

अर्थात् इस प्रकार यह देखा जायेगा कि समाजवाद वा Socialism का लक्षण करने का यत्न एक अलक्षणीय वा अनिवर्चनीय के लक्षण करने के यत्न के समान होगा।

आसाम, मद्रास और महाराष्ट्र के भूतपूर्व राज्यपाल श्रीयुत श्री प्रकाशजी ने Indian Express दिल्ली के १२ अगस्त सन् १९६४ के अंक में प्रकाशित "What is Democratic Socialism?" शीर्षक लेख में इस पर अधिक विस्तृत विचार करने का यत्न किया है। वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि Democracy वा प्रजातन्त्र और समाजवाद वा Socialism इनका परस्पर समन्वय या मेल ही सम्भव नहीं प्रतीत होता। इतनी परस्पर विरुद्ध विचारधारा के कारण ही प्रजातन्त्रवादी अमरीका और उग्र साम्यवादी रूस में इतना संघर्ष चलता है। यदि इन दोनों का समन्वय हो सकता तो यह शीत युद्ध न चलता रहता। उन्होंने अपना निश्चयात्मक विचार प्रकट किया है कि—

"We are nervous of Socialism because, however attractive its objective may appear, in its actual working it goes counter to the democratic ways of life. All attempts to combine the two would really mean the adoptation of Socialism in the extreme form and that would not be good for the race in as much as it will upset the even tenor of our lives and cause confusion........."

तात्पर्य यह है कि हम समाजवाद से विक्षुब्ध है क्योंकि इसका उद्देश्य कितना भी आकर्षक प्रतीत हो, वास्तविक क्रिया में यह जीवन के प्रजातन्त्रात्मक प्रकार के विरुद्ध जाता है। इन दोनों को मिलाने के सब प्रयत्नों का वास्तव में

तात्पर्य यह होगा कि समाजवाद को अपने उत्कट चरम रूप में अपना लिया जाय और वह जाति के लिए अच्छा नहीं होगा क्योंकि यह हमारे जीवन की समगति में गड़बड़ और विक्षोभ उत्पन्न कर देगा जबकि हम सब शान्त और सामञ्जस्यपूर्ण उन्नति के लिए उत्सुक हैं। इस प्रकार उत्तम मनीषी श्रीयुत श्री प्रकाशजी के विचारानुसार प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद व्यवहार्य नहीं है।

३. अर्थशास्त्र के एक प्रवक्ता श्री मैथ्यू नामक सज्जन का पुरस्कार प्राप्त "A Socialist Society can not be Democratic" एक समाजवादी समाज प्रजातन्त्रात्मक नहीं हो सकता, इस शीर्षक का निबन्ध Forum of Free Enterprise. बम्बई १ से प्रकाशित हुआ है जिसमें उस योग्य महानुभाव ने प्रजातन्त्रवाद और समाजवाद पर विचार करते हुए कहा है कि—

"I find myself in agreement with what Toquevelle said in 1848"—

"Democracy extends the sphere of individuals freedom, socialism restricts it. Democracy attaches all possible value to each man, Socialism makes each man a mere agent, a mere number. Democracy and Socialism have nothing in common but one word "equality". But notice the difference. While democracy seeks equality in liberty Socialism seeks equality in restraint and servitude."

(Hayke in "Road to Serfdom")

"Therefore we cannot but agree with W.h. Chamberlin that Socialism achieved and maintained by democratic means seems definitely to belong to the world of utopias."

(A Socialist Society can not be Democratic by Prof. Mathew).

अध्याय सार और उपसंहार—

इस प्रकार इस दशम अध्याय में हमने व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में प्रचलित विविध वादों का जिनमें व्यष्टिवाद (Individualism), पूंजीवाद (Capitalism), सर्वाधिकारिवाद (Fascism), समाजवाद (Socialism), साम्यवाद (Communism) एवं प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद (Democratic Socialism) आदि का समावेश है, निष्पक्षपात अनुशीलन प्रस्तुत करते हुए उनके गुण दोषों का संक्षेप से विवेचन किया है। उसके साथ वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की तुलना करते हुए हमने दिखाया है कि केवल उसके द्वारा ही व्यष्टिवाद और समष्टिवाद का यथार्थ समन्वय हो सकता है तथा उसके द्वारा ही व्यक्ति की उन्नति और समाज तथा समस्त जगत् का कल्याण हो सकता है। व्यक्ति और समाज सम्बन्धी सब मानवीय समस्याओं का सर्वोत्तम समाधान वेदोक्त वर्णाश्रम व्यवस्था से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

अध्याय-११

वैयक्तिक, पारिवारिक व सामाजिक शान्ति

शाश्वत सुख, शान्ति और आनन्द की प्राप्ति मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि सब मनुष्य शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु वे नहीं जानते कि सच्ची शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। इस अज्ञान का ही परिणाम है कि चारों ओर अशान्ति का साम्राज्य दृष्टिगोचर हो रहा है तथा हा-हाकार सा मचा हुआ है। न व्यक्तियों को शान्ति प्राप्त है, न समाज और और न राष्ट्रों को फिर समस्त विश्व में शान्ति की तो बात की क्या कही जाए। अतः सब का कर्त्तव्य है कि वे शान्ति स्थापना के उपायों पर गम्भीरता से विचार करें। स्वयं शान्ति के जो साधन हैं, वे ही प्रायः परिवार, राष्ट्र और विश्व की शान्ति के भी साधन हैं। हाँ, परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए उनमें थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है।

वेदों में विश्व शान्ति के लिए प्रार्थना

वेदानुयायी प्रत्येक शुभ कार्य के अन्त में यजुर्वेद अ० ३६।१७ के इस वेद मन्त्र का पाठ करते हैं जो विश्व शान्ति के लिए प्रार्थना रूप है—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ-शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥ (य० ३६।१७)

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मन्त्र है जिन में प्रार्थना की गई है कि आकाश, अन्तरिक्ष (मध्यलोक) पृथ्वी, जल, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, ये सब हमारे लिए शान्तिदायिनी हों। सब देव (सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग) हमें शान्ति देनेवाले हों (ब्रह्म शान्तिः) परमेश्वर और वेद ज्ञान हमें शान्ति देनेवाला हों। (सर्वं शान्ति) सब कुछ हमारे लिए शान्तिदायक हो (शान्ति एव शान्तिः); सब जगत् शान्ति, सब कुछ हमारे लिए शान्तिदायक हो। (सा शान्तिः मा एधि) वह शान्ति हम में से प्रत्येक को प्राप्त हो। (शान्तिः शान्तिः शान्तिः) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों प्रकार की शान्ति हमें प्राप्त हो। आध्यात्मिक शान्ति वह होती है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा के अन्दर शान्ति का अनुभव करता है; जब उसकी अधीनता में इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त सब ठीक-ठाक कार्य करनेवाले हों। आधिभौतिक शान्ति तब होती हैं जब समाज के सब सदस्य प्रीतिपूर्वक व्यवहार करनेवाले हों; जब सब के अन्दर परस्पर प्रेम और सहयोग की भावना हो।

आधिदैविक शान्ति से तात्पर्य भौतिक जगत् में शान्ति से है; अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़, आँधी, तूफान आदि के उपद्रव जनता की शान्ति भंग करनेवाले बन जाते हैं। इस त्रिविध शान्ति की भावना से ही तीन बार आचमन किया जाता है और—द्यौः शान्तिरन्तरक्षिं शान्तिः इत्यादि मन्त्र के अन्त में तीन बार—ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः, ऐसा उच्चारण किया जाता है।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः। इस सुप्रसिद्ध यजुर्वेदीय मन्त्र के साथ मिलता-जुलता एक दूसरा मन्त्र अथर्ववेद १९।९।१४ का है जिस का उल्लेख करना भी हमें इस प्रसंग में अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है—

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः। ताभिः शान्तिभिः सर्व-शान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः॥

(अ० १९।९।१४)

इस में पृथिवी, अन्तरिक्ष, आकाश, जल, ओषधि, वनस्पति द्वारा शान्ति के लिए पूर्ववत् प्रार्थना करते हुए दो बार आगे कहा है सब स्थानों के देव अर्थात् सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग (सत्य संहिता वै देवाः-विद्वांसो हि देवाः-ऐतरेय १ ।६ तथा शत० ३।७।३।१०) हमें शान्ति देनेवाले हों। सब जगह आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक शान्ति हो। अतः मन्त्र में ही तीन बार इकट्ठा शान्ति शब्द का पाठ है। इन सब प्रकार की शान्तियों को प्राप्त करने का प्रयत्न और दृढ़ संकल्प करते हुए हम उनके द्वारा शान्ति में बाधक मोह (अज्ञान वा आसक्ति को) दूर करते हैं। जो कुछ घोर (भयंकर कठोरता का अंश) हमारे अन्दर है जिससे अशान्ति उत्पन्न होती है, वह शान्त हो जाए। जो क्रूर वा निर्दयतापूर्ण अंश हममें है, वह शान्त हो जाए। हम से पाप दूर हो जाए जिससे सब कार्य शान्तिदायक हो क्योंकि कठोरता, निर्दयता और पाप के कारण परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में अशान्ति उत्पन्न हो जाती है तथा सारा वातावरण अशान्तिमय हो जाता है। इस प्रकार अशान्ति के इन कारणों के दूर होने से सब कुछ हमारे लिए शान्तिदायक हो जाए।

इस मन्त्र में शान्ति की प्रार्थना के साथ-साथ इस बात का स्पष्ट निर्देश किया गया है कि अज्ञान, मोह, कठोरता, निर्दयता तथा पाप के कारण परिवार, समाज, राष्ट्र तथा जगत् में अशान्ति फैलती है। अतः उन्हें दूर करने का निरन्तर प्रयत्न करके सर्वत्र शान्ति का प्रसार करना आवश्यक है। जितने भी स्थानीय वा विश्व युद्ध होते हैं उनका कारण ईर्ष्या-द्वेषादि पाप होते हैं अतः सर्वत्र शान्ति की स्थापना के लिए इन पापों को दूर करने का सामूहिक रूप से उत्तम प्रचार द्वारा प्रयत्न करना चाहिए।

शान्ति का मूल साधन

वेद भगवान् इस बात का उपदेश करते हैं कि शान्ति का मूल स्रोत परमेश्वर है। अतः सबको उस परम पिता परमेश्वर की सच्चे हृदय से उपासना करनी चाहिए और उस पर पूर्ण विश्वास रखते हुए शुभ कर्म करने में तत्पर रहना चाहिए। वेदानुयायी आर्य प्रतिदिन जो सन्ध्योपासना करते हैं; उसके आरम्भ में शान्तिमयी आनन्ददायिनी माता के रूप में भगवान् को स्मरण करते हुए, उससे प्रार्थना करते हैं कि—

शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

(य० ३६।१२)

अर्थात् वह सर्वव्यापिनी (आप्लृ–व्याप्तौ) आनन्ददायिनी माता हमारे अभीष्ट सुखों की प्राप्ति अथवा भक्ति के पान के लिए हमें शान्ति देनेवाली हो। वह हमारे भय, रोग, दुःख, शोक, अज्ञान पाप इत्यादि को दूर करके हमारे चारों ओर शान्ति की वर्षा करे।

आपः–शब्द जहाँ भौतिक दृष्टि से जल वाचक है, वहाँ आप्लृ–व्याप्तौ इस धातु से निष्पन्न होने के कारण सर्वव्यापक भगवान् का भी वाचक है जैसे कि—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥

(य० ३२।१)

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्टतया बताया गया है। इसलिए सन्ध्योपासन में उसके परमेश्वरपरक अर्थ का ग्रहण उचित है। इस प्रकार सन्ध्योपासन का प्रारम्भ शान्तिदायिनी जगन्माता के स्मरण और उससे शान्ति की प्रार्थना के साथ होता है। सन्ध्योपासना के अन्त में शान्ति के मूल स्रोत और शान्तिदाता परमेश्वर को निम्न मन्त्र द्वारा नमस्कार किया जाता है—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

(य० १६।४१)

अर्थात् शान्ति और सुख के मूल परमेश्वर को हमारा नमस्कार हो, शान्ति और सुख देनेवाले परमेश्वर को हमारा नमस्कार हो, शान्तिमय और अत्यन्त शान्तिमय परमेश्वर को हमारा नमस्कार हो।

संसार की वस्तुएँ कभी नित्य नहीं हो सकती। नित्य शान्ति उस शान्ति के मूल भगवान् का स्मरण करने से ही प्राप्त हो सकती है। वह परमेश्वर हम सब का पिता और हमारी वही मंगलमयी माता है जैसे कि—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥

(ऋ० ८।९८।११)

इत्यादि वेद मन्त्रों में बताया गया है।

इसलिए हम सब उस एक परमात्मा के पुत्र होने के कारण भाई हैं। वेद भगवान् हमें उपदेश देते हैं कि—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

(ऋ० ५।६०।५)

अर्थात् सब मनुष्य आपस में (भ्रातरः) भाई-भाई है (अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः) उनमें जाति-जाति, देश, रंग, आदि के कारण कोई बड़ा-छोटा नहीं—उनमें कोई ऊँच-नीच का भाव नहीं। इस भ्रातृ भाव को धारण करते हुए ही (सौभगाय वावृधुः) सब सौभाग्य के लिए वृद्धि को प्राप्त करते व उन्नत होते हैं। सारे संसार का उत्पादक, शुभकर्म करनेवाला और दुष्टों को कर्मफल देकर रुलानेवाला सदा युवा परमेश्वर सब का पिता है और उत्तम दूध देनेवाली गाय के समान विद्यमान पृथिवी सब की माता है। यही भावना सब को अपने अन्दर धारण करनी चाहिए। यदि संसार के सब मनुष्य इस अत्युच्च पवित्र वैदिक भावना को धारण करके परस्पर प्रेमयुक्त व्यवहार करने लगें, तो विश्व शान्ति की स्थापना में क्या सन्देह हो सकता है?

ऋग्वेद १०।८१।७ तथा यजु० १७।२३ के निम्न मन्त्र में भी परमेश्वर को विश्व शान्ति के मूल के रूप में स्मरण किया गया, जो इस प्रकरण में विशेषरूप से उल्लेखनीय है—

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥

(ऋ० १०।८१।७; यजु० १७।२३)

इस मन्त्र में भगवान् को वाचस्पति वेदवाणी के स्वामी (मन्त्रात्मकस्य-वचसः स्वामिनमिति श्रीसायणाचार्यः) विश्वकर्मा-जगत् के कर्ता, मन से भी अधिक वेगवाले अथवा मन के ज्ञाता इस रूप में यज्ञादि के रक्षार्थ स्मरण करते हुए कहा गया है कि वह हमारी सब पुकारों का सेवन करे-हमारे सच्चे दिल की पुकार को सुने क्योंकि वह (विश्वशम्भूः) विश्वशान्ति का मूल स्रोत अथवा सब के सुख का उत्पादक (विश्वस्य सुखस्योत्पादक इति श्री सायणाचार्यः) और (साधुकर्मा) उत्तम कर्म करनेवाला है।

यदि संसार के मनुष्य उस सुख शान्ति के मूल परमेश्वर का स्मरण करते हुए उसे ही अपना और सब मनुष्यों का पिता-माता मानने लगें, तो विश्व में शान्ति का

साम्राज्य हो जाए और लोगों में ईर्ष्या, द्वेष, वैर, विरोधादि कभी न रहने पाएँ। इसलिए सत्यनिष्ठ विद्वानों का कर्त्तव्य है कि सब को उस एक शान्ति के मूल स्रोत परमेश्वर का भक्त और उपासक बनाकर सब में सच्ची भ्रातृभावना को उत्पन्न करने का निरन्तर प्रयत्न करें।

विश्व शान्ति का द्वितीय साधन

वेदों के अनुसार शान्ति का दूसरा साधन वाणी, मन इन्द्रियादि का सदुपयोग है। इसके विषय में निम्नलिखित ३ वेद मन्त्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जो अथर्व० १९।९ के हैं—

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥ ३॥
इदं यत्परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥ ४॥
इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः॥ ५॥ (अ० १९।९।३-५)

इन मन्त्रों का तात्पर्य इस प्रकार है—

(इयम्) या (या) जो (परमेष्ठिनी) परमतत्त्व-परमेश्वर के वर्णन-स्तोत्र भजनादि में प्रकृत (ब्रह्मसंशिता) दान द्वारा तीक्ष्णी कृत (देवी वाक्) दिव्यगुण युक्त पवित्र-सत्य प्रेममय वाणी है (यया एव घोरं ससृजे) [जिस अदिव्य अपवित्र असत्य तथा कठोर वाणी से ही संसार में बड़ा घोर अनर्थ मचा रखा है] (तया एव) उसी पवित्र परमेश्वर गुण प्रतिपादिका ज्ञान द्वारा शक्तिशालिनी सत्य मधुर वाणी के प्रयोग से (नः शान्तिः अस्तु) हमें शक्ति प्राप्त हो।

असत्य गाली-गलौज और तानों से भरी हुई कठोर वाणी परिवार, समाज और संसार में उपद्रव का कारण बन जाती है। महाभारत जैसा विश्व युद्ध अधिकतर द्रौपदी के मुख से निकले हुए कठोर वचन "अन्धे के घर अन्धा ही पैदा हुआ" दुर्योधन को तीर की तरह चुभे और उसी क्षण उसने पाण्डवों से बदला लेने का निश्चय करके द्यूत क्रीडादि का कपटपूर्ण आयोजन किया।

वाल्मीकि रामायण के गम्भीर अनुशीलन से कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि आदर्श पतिव्रता महासती सीता देवी जी के रावण द्वारा अपहरण में उनके द्वारा पतिदेव की चिन्तावश अपने अत्यन्त संयमी देवर लक्ष्मणजी के कहे कठोर वचन ही कारण बने। जब मृगवेशधारी मारीच ने रामचन्द्रजी के बाणों से आहत होकर कपट करने के लिए "हा लक्ष्मण, हा सीते" इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया, तो महासती सीतादेवी ने उनको सुना और अपने पूज्यपति देव को आपद्ग्रस्त समझ विह्वल हो उठीं और उन्होंने लक्ष्मण को अपने भाई की सहायता के लिए तत्काल जाने का अनुरोध किया। लक्ष्मण ने उन्हें बहुत विनयपूर्वक यह समझाने

का यत्न किया कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता, और इस समय तुम्हें इस निर्जन अरण्य प्रदेश में इस प्रकार छोड़कर जाना श्रीरामचन्द्र के आदेश के विरुद्ध और सर्वथा अनुचित होगा। किन्तु पतिव्रता सीता ने पति चिन्तातुरा होकर जिन कठोर शब्दों का लक्ष्मणजी के लिए प्रयोग किया, उनका वर्णन वाल्मीकि रामायण में निम्न श्लोकों द्वारा किया है—

लक्ष्मणेनैवमुक्ता तु क्रुद्धा संरक्तलोचना॥ २०॥
अब्रवीत् परुषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम्।
अनार्याकरुणारम्भ नृशंस कुलपांसन॥ २१॥
अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत्।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे॥ २२॥
सुदुष्टत्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा॥ २४॥

(वाल्मीकी रामायणे अरण्यकाडे स० ४३)

अर्थात् लक्ष्मण से इस प्रकार कही हुई सीता देवी क्रुद्धा और लाल आखों-वाली होकर सत्यवादी लक्ष्मण को ऐसे कठोर वचन कहने लगी। हे अनार्य, निर्दय, कुलकलंक! तुझे श्रीराम का दुःख ही प्रिय है, ऐसा मैं समझती हूँ। श्रीराम को दुःख में पड़ा देखकर तू ऐसे वचन कहता है। तू अत्यन्त दुष्ट है, जो मेरे कारण अकेला रामचन्द्रजी के पीछे-पीछे चलता है। अथवा भरतजी ने तुझे हमारे पीछे (सम्भवतः गुप्तचर रूप में) भेजा है।

लक्ष्मण के लिए इन अत्यन्त कठोर वचनों को सहन करना कठिन हो गया और तब उन्होंने इतना ही कहा—

उत्तरं नोत्सहे वक्तुं, देवरं भवती मम।
न सहे हीदृशं वाक्यं, वैदेहि जनकात्मजे॥
श्रोत्रयोरुभयोमेऽघ, तप्तनाराच संनिभम्।
गामिष्ये यत्र ककुत्स्यथः, स्वस्ति तेऽस्तु वरानने।
रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि, समग्रा वनदेवताः।

(वा० रामायणे अरण्यका० स०)

अर्थात् आप मेरी देवता है, अतः मैं उत्तर देने का साहस नहीं करता। दोनों कानों में तपे हुए बाण के समान लगनेवाले ऐसे वाक्यों को मैं सहन नहीं कर सकता। जहाँ श्रीराम है वहाँ मैं जाऊँगा। सब वन देवता आप की रक्षा करें। हम ने वाल्मीकि रामायण से इस अप्रिय घटना का उल्लेख विश्ववन्द्या आदर्श पतिव्रता महासती सीता देवी पर किसी प्रकार का दोषारोपण करने के लिए नहीं, अपितु कठोर वचनों से होनेवाले महान् अनर्थ की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए किया है। यदि सीता असह्य वचनों का लक्ष्मणजी के लिए प्रयोग न करती, तो

लक्ष्मण कभी उन्हें अकेला न छोड़ते। परिवारों में पति–पत्नी या पिता–पुत्र आदि में से किसी के मुख से क्रोधावेश वश कठोर वचन वा ताने भरे शब्द निकलने पर किस प्रकार गृह की शान्ति का भंग हो जाना अथवा किस प्रकार क्रोध में गाली–गलौज का किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति विशेषतः जब वह दूसरी जाति वा सम्प्रदाय का हो, प्रयोग करने पर दोनों पक्षों के लोग इकट्ठे होकर परस्पर हिंसा में प्रवृत्त हो जाते हैं और साधारण सा विवाद भयंकर हिन्दू–मुसलिम दंगे आदि का रूप धारण कर लेता है, यह हमें अपनी वाणी के सदुपयोग का निरन्तर ध्यान रखना होगा तथा परमेश्वर के भजन–कीर्तन द्वारा अशान्त हृदयों को शान्त करना होगा।

ऋग्वेद १।८०।९ में एक मन्त्र आया है जिस में सामूहिक प्रार्थना और भजन–कीर्तन का विधान इस शब्दों में किया गया है—

सहस्रं साकमर्चत परि ष्टोभत विंशतिः।
शतैनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥
(ऋ० १।८०।९)

इस मन्त्र में उपदेश किया गया है कि (सहस्रं साकम् अर्चत) हजारों इकट्ठे एक साथ परमेश्वर की पूजा करो (विंशतिः परिष्टोभत) बीसों हजार मिलकर चारों ओर परमेश्वर का स्तुति गान करो। (ब्रह्मोद्यतं स्वराज्यम् अनुअर्चन्) ब्रह्म चर्चा युक्त स्वराज्य का योग्य सत्कार करते हुए (शता) बहुत–असंख्य लोग (शतमिति बहुनाम्–निघं० ३।९) (इन्द्राय) ऐश्वर्य की प्राप्ति अथवा आत्मा की उन्नति के लिए (एतम् अन्वनोनवुः) इस परमात्मा को प्रणाम करते हैं जिस प्रकार व्यक्ति की उन्नति के लिए वैयक्तिक–पूजा–ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना रूप अर्चना की आवश्यकता है, वैसे ही समाज और राष्ट्र के उद्धार के लिए सामाजिक प्रार्थना और भजन–कीर्तन अनिवार्य है। सामूहिक पूजा से समूह में बल आता है और सारा वातावरण पवित्र बनता है। सारे समाज का विचार–आचार एक करने और पारस्परिक प्रेम की भावना को जागृत करने का यह एक सर्वोत्कृष्ट साधन है।

वेद के इसी आदेश के अनुसार महात्मा गाँधी सर्वत्र सामूहिक प्रार्थना, भजन, कीर्तन का क्रम अपने जीवन काल में नियमित रूप से चलाते हैं जिससे सब की उन्नति हो तथा सब परस्पर प्रेम का व्यवहार करे।

यह अनुभव सिद्ध बात है कि भक्त गायक तथा प्रचारक अपनी मधुर भक्तिरसामृत–वर्षिणी वाणी से अशान्त हृदय में भी शान्ति का संचार करने में समर्थ होते हैं। यही कारण है कि वेदों में परमेश्वर के गुणगान पर बड़ा बल दिया गया है क्योंकि इससे शान्त और पवित्र वातावरण के बनाने में बड़ी सहायता मिलती हैं। उदाहरण के लिए हम कुछ मन्त्रों को यहाँ प्रस्तुत करते हैं जिन में अनेक बार "गायत, प्रगायत, अभिगायत" इत्यादि क्रियाओं का प्रयोग है। जब

गायत के साथ प्र, अभि आदि उपसर्गों का प्रयोग किया जाता है तो उनमें एक विशेषता आ जाती है। प्रगायत से तात्पर्य प्रकर्ष रूप से उत्तमता से गान का भाव आता है। अभिप्रगायत में चारों से अपनी वृत्तियों को समेट कर तल्लीनता पूर्वक गाने का भाव है। गायक तल्लीन हो कर वेद मन्त्र अथवा भजन का गान करते और श्रोता तल्लीन होकर उसका श्रवण करते हैं। मंगल और शान्ति के मूल स्रोत परमेश्वर का इस प्रकार का प्रकृष्ट, तल्लीनता पूर्वक गान शान्तिमय वातावरण बनाने में सब से अधिक सहायक होता है। अब हम गान-विषयक कुछ मन्त्र प्रस्तुत करते हैं।

१. **तमु अभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्।**
इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत॥
(ऋ० ७।१५।१; सा० ३८२)

२. **इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥** (ऋ० ८।९८।१; सा० ३८८)

३. **प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते॥**
(सा० ४४६१, ११११३)

४. **प्र गायताभ्यर्चाम देवान्त्सोमं हिनोत महते धनाय॥**
(सा० ५३५)

५. **सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत। शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये॥** (ऋ० ९।१०४।१; सा० ५६८)

६. **पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत॥** (सा० ७१३)

७. **आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत। सखायः स्तोमवाहसः॥**
(ऋ० १।५।१; सा० ७४०)

इन मन्त्रों का अर्थ अति सरल है तथापि उसे संक्षेप से दिय जाता है—

१. जो परमेश्वर अनेक भक्तजनों द्वारा स्मरण किया जाता तथा जिसकी स्तुति की जाती है, उस महान् परमेश्वर का हे मनुष्यो! तुम अच्छी प्रकार चारों ओर से प्रेम और तल्लीनतापूर्वक गुणगान करो और उसी की उपासना करो।

२. जो परमेश्वर सब से महान् और शान्ति आनन्द से सब को विशेष रूप से भरपूर करनेवाला है, उसका बृहत् साम आदि द्वारा गुणगान करो क्योंकि वही वेद ज्ञान का दाता, सर्वज्ञ और सदा स्तुति योग्य है।

३. जो परमेश्वर सब से अधिक पाप और अज्ञान का नाशक सर्वज्ञ है, उसके स्तुति गीत गाओ।

४. परमेश्वर का अच्छी प्रकार गुणगान करो। सत्यनिष्ठ लोगों की पूजा करो और ज्ञान रूप महान् धन की प्राप्ति के लिए भक्ति रस का पान करो।

५. हे मित्रो! चारों ओर बैठ जाओ। पवित्र करनेवाले परमात्मा का अच्छी प्रकार से गान करो। जिस प्रकार छोटे बच्चे को सब प्रकार से प्रसन्न किया जाता है, वैसे ही प्रशंसनीय परमेश्वर को (शिशुः शंसनीयो भवतीति निरुक्ते) अपनी शोभा बढ़ाने के लिए यज्ञों–शुभ परोपकारक कर्मों द्वारा चारों ओर से अलंकृत करो।

६. हे मित्रो! अपने अन्दर सच्ची मस्ती वा शान्ति लाने के लिए सब को पवित्र करनेवाले परमेश्वर का चारों ओर से तल्लीन होकर गुणगान करो। जिस प्रकार छोटे बच्चे को खाने के स्वादु पदार्थ देकर प्रसन्न किया जाता है, वैसे अपने उद्यम–पुरुषार्थ युक्त शुभ कर्मों से भगवान् को प्रसन्न करो। (गुरु–उद्यमने)

७. हे मनुष्यो! उस परमेश्वर का तुम अच्छी तरह गुणगान करो जो तुम्हारी अन्नादि द्वारा रक्षा करनेवाला, सब से अधिक शक्तिशाली, असंख्य कर्म और अनन्त ज्ञानवाला और मनुष्यों के लिए सब से बड़ा दाता है।

८. हे स्तुति करनेवाले मित्रो! जल्दी आओ चारों ओर अच्छी प्रकार से बैठ जाओ और चारों ओर से अपनी चित्तवृत्तियों को समेट कर तल्लीनतापूर्वक परमेश्वर का गुणगान करो।

ऐसे अन्य भी सैकड़ों मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है जिनसे ज्ञात होता है कि वेदों के अनुसार सामुदायिक रूप से परमेश्वर का भजन–कीर्तन भी वातावरण को पवित्र और शान्त बनाने में बड़ा लाभदायक है क्योंकि भगवान् पवमान अर्थात् सब को पवित्र करनेवाला और शम्भु सुख शान्ति का मूल है।

मन की शक्तियों का सदुपयोग

दूसरे मन्त्र में शुद्ध मन के द्वारा शान्ति की प्राप्ति और उसके प्रसार का उपदेश किया जाता है। जिस विकार युक्त अपवित्र मन के द्वारा संसार में घोर अनर्थ होते हैं, उस मन को परमेश्वर के चिन्तन और ध्यान में लगाकर हमें शान्त बनाना चाहिए। ब्रह्मज्ञान के द्वारा उसकी शक्ति को बढ़ाना चाहिए। 'मनो वां ब्रह्मसंशतिम्' यहाँ वाम् इस द्विवचन का प्रयोग हैं जिस से तात्पर्य पिता–माता, स्त्री–पुरुष, पिता–पुत्र, गुरु–शिष्य, राजा–प्रजा इत्यादि से है : इन सब के लिए यह उपदेश है कि वे सब अपने मन की पवित्रता का विशेष रूप से ध्यान रखें क्योंकि मन में अपवित्र विचार उठने से ही मनुष्य अशान्तिकारक कार्यों में प्रवृत्त होता है। आजकल के बड़े–बड़े राजनीतिज्ञों तथा अन्य नेताओं का इस ओर प्रायः कुछ भी ध्यान नहीं है। लोगों के मन ईर्ष्या–द्वेष के भाव से परिपूर्ण रहते हैं इसीलिए शान्ति स्थापना के प्रयत्नों में बहुत कम सफलता होती है।

आँख, कान, नाक, हाथ इत्यादि इन्द्रियों के दुरुपयोग के कारण भी संसार में घोर अनर्थ तथा उपद्रव होते हैं। अतः इन सब इन्द्रियों को मन सहित पवित्र बनाने

की आवश्यकता है। उनकी शक्ति को ज्ञान के द्वारा बढ़ाकर जब अच्छे कार्यों में लगाया जाता है, तभी शान्ति का प्रसार हो सकता है। प्रतिदिन आत्मनिरीक्षण करके मनुष्य को देखना चाहिए कि वह इन इन्द्रियों का सदुपयोग कर रहा है अथवा दुरुपयोग। अपने अन्दर इस विषय में जो त्रुटियाँ दिखाई दें, उनके निवारण के लिए सर्वशक्तिमान् भगवान् से

यन्मे छिन्द्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

(यजु० ३६।२)

इत्यादि रूप से प्रार्थना करनी चाहिए जिन का तात्पर्य यह है कि मेरी आँख आदि इन्द्रियों में जो छिद्र अथवा दोष है, मेरे हृदय और मन का जो टूटा हुआ भाग अर्थात् विकार है, वेद विद्या का स्वामी परमेश्वर उनको सब दोषों, मलों और विकारों को दूर करके उनको पूर्ण कर दे—उत्तम शक्ति सम्पन्न बना दे। जो परमात्मा सारे लोकों का स्वामी है, वह हमारे लिए सुख-शान्तिकारक हो। यह आत्मनिरीक्षण सन्ध्योपासना का एक आवश्यक अंग है, इसकी कभी उपेक्षा न करनी चाहिए। इस प्रकार प्रतिदिन आत्मनिरीक्षण करते रहने से प्रत्येक मनुष्य को शान्ति और शक्ति प्राप्त होती है और वह परिवार, समाज और राष्ट्र में शान्ति स्थापित करने में सहायक बनता है।

रावणादि राक्षसों ने जब अपनी इन्द्रियों का तथा शारीरिक शक्ति का दुरुपयोग करते हुए सती सीता जैसी पूजनीय महिलाओं के अपहरण और ऋषि-मुनियों को कष्ट देने में लगाया, तो उसका कितना भयंकर परिणाम हुआ, यह सब जानते हैं।

इस प्रकार इन तीन वेद मन्त्रों में वाणी, मन और इन्द्रियों की शक्ति को ज्ञान द्वारा बढ़ाकर हम किस प्रकार सर्वत्र शान्ति को स्थापित करते हैं, इस बात का बहुत ही उत्तम उपदेश है।

वैदिक मार्ग पर चलने और वैदिक आदर्श का अनुसरण करने से ही संसार को स्वर्ग रूप बनाया जा सकता है। इस बात को अनेक निष्पक्षपात पाश्चात्य विद्वानों ने भी किस प्रकार स्वीकार किया है, इसे दिखाने के लिए हम आयरलैंड के सुप्रसिद्ध विद्वान् तत्त्व ज्ञानी और कवि डॉ० जेम्स कजिन्स के ..(शान्ति मार्ग) नामक पुस्तक में जो वैदिक आदर्श का प्रतिपादन किया गया है उसे लिखते हैं—

"To love, to think, to do are in the Vedic conception, no transitory futilities touched with melancholy but similations of the Cosmic activities charged with the joy of teh Eternal; shadows they are, dancing shadows cast by the Light of lights, but they are cast by the Light not by Darkness and in that Light, that vision of the Eternal, shining through the temporal,

humanity can find an ideal which would replace a periodical sanctimoniousness by a perpetual sense of the sanctity of all life."

"On that Vedic ideal alone, with its inclusiveness which absorbs and annihilates the causes of antagonisms, its sympathy which wins hatred away from itself, is it possible to rear a new earth in the image and likeness of the Eternal Heavens."

(Path to Peace by Dr. James Cousins P. 60)

अर्थात् प्रेम करना, विचार करना और कार्य करना ये वैदिक विचारानुसार, क्षणिक निराशापूर्ण व्यर्थ क्रियाएँ नहीं है किन्तु वे विश्वविख्यात क्रिया के जो नित्य परमेश्वर के आनन्द से परिपूर्ण है, अनुकरण मात्र हैं। वे इस प्रकार से छायाएँ हैं जो प्रकाशों के प्रकाश परमेश्वर द्वारा प्रेरित हैं, अन्धकार द्वारा नहीं। और इस प्रकार से, नित्य परमेश्वर के उस दर्शन में जो भौतिक जगत् द्वारा प्रकाशमान हो रहा है, मनुष्य मात्र एक ऐसे आदर्श को प्राप्त कर सकता है, जो अस्थायिनी प्रवंचन, पूर्ण पवित्रता या खण्ड का स्थान सम्पूर्ण जीवन मात्र की पवित्रता की शाश्वत अनुभूति के द्वारा ले सकता है।

इस वैदिक आदर्श का अनुसरण करते हुए ही जो सार्वभौम होने के कारण निराशा के कारणों को विनष्ट करता है, जो सहानुभूति द्वारा घृणा को दूर करके जीत लेता है, यह सम्भव है कि पृथिवी को फिर से जीतकर स्वर्ग समान सुखदायक बनाया जा सके।

डॉ० कजिन्स स्वयं इस वैदिक आदर्श से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपना नाम डॉ० जयराम रख लिया और जीवित काल तक वैदिक शिक्षाओं के अनुसार चलने का सदा यत्न करते रहे।

सब वेदानुयाइयों का कर्त्तव्य है कि वेद की इन सार्वभौम, विश्वबन्धुत्व की शिक्षाओं को अपने जीवन में परिणत करके समस्त विश्व में शान्ति के प्रसारार्थ सदा प्रयत्न करते रहें।

पृथिवी सब की समान माता..........

हम ने ऊपर इस बात का निर्देश किया है कि वेदों के अनुसार शान्ति के मूल परमेश्वर का ध्यान, उपासना और भजन तथा यह भावना कि हम सब उस एक परमेश्वर के पुत्र होने के कारण भाई-भाई हैं, विश्वशान्ति का अत्युत्तम साधन है इस साधन की अत्यन्त उत्कृष्टता और उपादेयता में हमें अणु मात्र भी सन्देह नहीं। किन्तु दुर्भाग्यवश आजकल अनेक ऐसे शिक्षित लोग भी हैं जिन्हें ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं और जो भ्रान्तिवश ऐसा भी समझते और प्रचार करते फिरते हैं कि सभी वैज्ञानिक नास्तिक होते हैं। हम इस विश्वास की असत्यता को अनेक

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक शिरोमणियों द्वारा वैदिक ईश्वरवाद के समर्थन का आगे जाकर प्रसंगवश उल्लेख करेंगे। यहाँ तो अभी इतना ही निर्देश पर्याप्त है कि जो साम्यवादी (कम्युनिस्ट) तथा अन्य कई नास्तिक परमेश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते, उनके लिए भी एक और सूत्र का निर्देश स्वयं वेद में बताया गया है जिसके द्वारा उन्हें भी शान्ति और प्रेम के सूत्र में बाँधा जा सकता है। प्रथम प्रयत्न तो यह चाहिए कि ऐसे नास्तिक लोगों को भी ईश्वर के अस्तित्व की प्रबल युक्तियाँ देकर उन्हें आस्तिक बनाया जाये। किन्तु यदि ऐसा करने में कुछ समय लग जाये तो ऐसी अवस्था में वेदोक्त एक दूसरी भावना का आश्रय लेना उपयोगी होगा। उसका उपदेश वेद में इस रूप में किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य यह समझे कि—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥

(अ० १२।१।१२)

अर्थात् भूमि मेरी माता है और मैं इस भूमि माता का पुत्र हूँ। मेघ हमारा पालक होने से पिता है, वह हम सब को वृष्टि से उत्पन्न अन्न द्वारा तृप्त करे।

जब हम सब एक भूमि माता के पुत्र हैं, तो फिर हम सब क्यों न परस्पर भ्रातृभाव रखें और सदा प्रेमभाव से बर्ताव करें?

इसके सम्बन्ध में एक दूसरा वेद मन्त्र भी विशेष रूप से मननीय है जिसमें कहा गया है कि—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

(अथर्व० १२।१।४५)

इस मन्त्र का शब्दार्थ यह है कि—

(बहुधा) अनेक प्रकार से (विवाचसम्) विविध प्रकार की वाणियों को बोलनेवाले (नाना धर्माणम्) अनेक प्रकार के धर्मों का पालन करनेवाले (जनम्) लोगों को (यथौकसम्) समान घर में रहनेवालों की भाँति (बिभ्रती) धारण करती हुई (पृथिवी) भूमि (ध्रुवा) स्थिर खड़ी हुई (अनपस्फुरन्ती) हिलाना-डुलाना न करती हुई (धेनु इव) दुधारू गौ की तरह (मे) मेरे लिए (द्रविणस्य) धन की (सहस्रं धारा:) हजारों धाराओं को (दुहाम्) दुहे–प्रदान करें।

इस वर्णन और प्रार्थना द्वारा भगवान् ने यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है कि सब राष्ट्रवासियों को वाणी भेद, भाषा भेद और धर्ममूलक कर्त्तव्य अथवा विश्वास भेद रहने की अवस्था में भी प्रेम से मिलकर रहना चाहिए। उन्हें भूमि को अपना घर समझना चाहिए और एक घर के निवासी, जैसे प्रेम से मिलकर रहते हैं, वैसे ही सब राष्ट्रवासियों को अपने देश में प्रेम से मिलकर रहना चाहिए। जब वे इस प्रकार प्रेम से मिलकर रहेंगे, तभी उनका राष्ट्र और ये सब भिन्न-भिन्न राष्ट्र

जिसके अंग हैं, वह जगत् उन्नति कर सकेगा और इनके लिए ऐश्वर्य की धाराएँ प्रवाहित कर सकेगा। जिस राष्ट्र के निवासी आपस में लड़ते और झगड़ते रहते हैं, वह राष्ट्र कभी उन्नत और समृद्ध नहीं हो सकता। वह विश्वशान्ति में भी बाधक हो जाता है। अत: सब को इस सहिष्णुता सूचक उदारतापूर्ण आदेश का पालन अवश्य करना चाहिए। इसमें उन सब का भी समावेश हो जाता है जो दुर्भाग्यवश कम्युनिस्टों वा आधुनिक साम्यवादियों के समान परमेश्वर की सत्ता में भी विश्वास नहीं रखते। उन धार्मिक असहिष्णुता वा मतान्धता के कारण भी विश्वशान्ति में बड़ी बाधा पड़ती तथा अनेक घोर उपद्रव होते हैं। अत: इसको भी वेदों के सार्वभौम उपदेशों द्वारा दूर करने की आवश्यकता है। इसमें साम्प्रदायिकता का दोष है, न कि सच्चे धर्म का जिसके विना किसी भी समाज का उद्धार नहीं हो सकता।

वेदों में विश्वमित्रता तथा अनमित्रता का उपदेश.........

इस प्रसंग में वेदों की उन सार्वभौम उदार शिक्षाओं का भी उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है, जो ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने अथवा न स्वीकार करनेवाले, सभी पर चरितार्थ होती हैं।

यजुर्वेद ३६। १८ में मन्त्र आया है जो स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है—

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

(यजु० ३६। १८)

इस मन्त्र में भगवान् से प्रार्थना की गई है कि हे (दृते) अज्ञानान्धकार विदारक जगदीश्वर! (मा दृंह) मुझे बढ़ाओ (सर्वाणि भूतानि) संसार के सब प्राणी (मा मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्ताम्) मुझे मित्र की दृष्टि से देखें (अहं सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा समीक्षे) मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ (मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे) हम सब मित्र की दृष्टि से एक दूसरे को देखें।

यह मन्त्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके ३ भाग हैं। पहले भाग में प्राणीमात्र की इस स्वाभाविक इच्छा को प्रकट किया गया है कि सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, सब मेरे साथ प्रेम करनेवाले हों। सब प्राणी ऐसा ही चाहते हैं किन्तु केवल इच्छा मात्र से ऐसा हो जाना सम्भव नहीं। अत: मन्त्र के दूसरे भाग में यह बताया गया है कि यदि मैं यह चाहता हूँ कि सब प्राणी (केवल मनुष्य ही नहीं) मुझे प्रेममय दृष्टि से देखें, तो मुझे भी सब प्राणियों को प्रेममय मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए। उनके साथ किसी प्रकार का वैर न रखना चाहिए। मन्त्र के तीसरे भाग में कहा गया है कि इस प्रकार सामुदायिक रूप में हम सब परस्पर मित्र भाव से व्यवहार करें, तभी सब का कल्याण हो सकता है और संसार में शान्ति का

साम्राज्य स्थापित हो सकता है। इसके भावार्थ में ऋषि दयानन्दजी ने ठीक ही लिखा है कि—

वे ही धर्मात्मा जन हैं जो अपने आत्मा के सदृश्य सम्पूर्ण प्राणियों को जानें। किसी से भी द्वेष न करें और मित्र के समान सब का सदा सत्कार करें।

आर्याभिविनय के द्वितीय प्रकाश में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऋषि ने लिखा—

हे परमात्मन्! सब भूत प्राणिमात्र मित्र की दृष्टि से यथावत् मुझ को देखें। सब मेरे मित्र हो जाएँ। कोई मुझ से किञ्चित् मात्र भी वैर न करे। आपकी कृपा से मैं भी निर्वैर होके सब भूत, प्राणी और अप्राणी चराचर जगत् को मित्र की दृष्टि से स्व आत्म प्राणवत् प्रिय जानूँ। पक्षपात छोड़ के सब जीव देहधारी मात्र अत्यन्त प्रेम से परस्पर वर्तमान करें। अन्याय से युक्त होके कभी किसी पर भी न वर्ते। इस धर्म का सब मनुष्यों के लिए परमात्मा ने उपदेश किया है। सब को यही मान्य होने योग्य हैं।

विश्वशान्ति की स्थापना के लिए इससे उत्तम और कोई सार्वभौम उदार शिक्षा नहीं हो सकती। इसका मौखिक और लिखित रूप से संसार भर में जितना प्रचार किया जाएगा, और जितनी मात्रा में इस भावना को अपने हृदय में अंकित करेंगे, उतना ही सबका कल्याण होगा।

अथर्ववेद के निम्नलिखित दो मन्त्र भी इस विषय में मननीय हैं। अथर्व ६।४०।३ के मन्त्र में प्रार्थना है—

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि॥

(अथर्व० ६।४०।३)

अर्थात् हे परमेश्वर! (नः अधरात् अनमित्रम्) हमारा दक्षिण में कोई शत्रु न हो (नः उत्तरात् अनमित्रम्) हमारा उत्तर दिशा में कोई शत्रु न हो (नः पुरः अनमित्रं कृधि), हमारे सम्मुख की दिशा को भी शत्रु रहित कर दो।

इस प्रकार की प्रार्थना करते हुए सदा अमित्रता वा शत्रुता रहित भावना को अपने अन्दर भरने का सब को यत्न करना चाहिए। जब हम अपने मन में किसी के लिए द्वेष और शत्रुता की भावना नहीं रखेंगे, तो बहुत बड़ी संभावना यही है कि अन्य भी हमारे विषय में सद्भावना रखेंगे।

अथर्ववेद का ८।५।१७ का निम्न मन्त्र भी विशेष मननीय है—

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात्।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि॥

(अथर्व० ८।५।१७)

इसमें भी भगवान् को इन्द्र अर्थात् परमेश्वर के नाम से स्मरण करते हुए प्रार्थना है कि (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (नः अधरात् असपत्नम्) हमारे लिए दक्षिण दिशा में वा नीचे कोई शत्रु न हो (नः उत्तरात् असपत्नम्) हमारे लिए उत्तर दिशा में कोई शत्रु न हो। (नः पश्चात् असपत्नम्) हमारे लिए पश्चिम दिशा को शत्रुता रहित करो और (शूर) हे पाप ताप विनाशक प्रभो ! (नः पुरः ज्योति कृधि) हमारे सम्मुख वा पूर्व दिशा में ज्योति करो। ज्ञान की ज्योति हमारे सदा सम्मुख रहे। सदा हम उस ज्योति से प्रकाशित होते हुए सब दिशा में शत्रु रहित हों। हम किसी से शत्रुता न रखें, और कोई हम से शत्रुता न रखे। ज्ञान ज्योति से प्रकाशमान होकर हम सदा ऐसे ही कार्य करते रहें जिससे सर्वत्र प्रेममय वातावरण बन जाये और शत्रुता के लिए कहीं स्थान ही न रहे।

अथर्व १९।१५।६ में जहाँ मित्र, अमित्र, दिन, रात, परिचित, अपरिचित सब से और सदा निर्भयता की प्रार्थना है, वहाँ साथ ही विश्वमित्रता की प्रार्थना है जो बड़ी महत्त्वपूर्ण है—

अभ॑यं मि॒त्रादभ॑यम॒मित्रा॒दभ॑यं ज्ञा॒तादभ॑यं प॒रोक्षा॑त्।
अभ॑यं॒ नक्त॒मभ॑यं॒ दिवा॑ नः॒ सर्वा॒ आशा॒ मम॑ मि॒त्रं भ॑वन्तु॥

(अथर्व० १९।१५।६)

अर्थात् हमें धर्म कार्य करते हुए मित्रों से भय न हो, अमित्रों वा विरोधियों से भय न हो। जिनको हम जानते हैं उनसे हमें भय न हो, जो हमारे सम्मुख हो उनसे भी हमें भय न हो; हमें न रात को भय हो न दिन को, किन्तु निर्भय होते हुए हम सदा ऐसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करें कि (सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु) सब दिशाओं में रहनेवाले प्राणी हमारे मित्र हो जाएँ। हम सब का परस्पर व्यवहार मित्रतापूर्ण हो।

विश्वशान्ति भंग होने के अन्य कारण : ईर्ष्या, लोभ, अभिमानादि

यहाँ यह बात भी स्मरणीय है कि शान्ति भंग के अन्य कारण (चाहे वह परिवार में हो, समाज, राष्ट्र वा जगत् में हो) ईर्ष्या, लोभ, अहंकार, काम, क्रोध और मोह आदि अज्ञान हैं। महाभारत का विश्वयुद्ध कौरवों की पाण्डवों के प्रति ईर्ष्या से हुआ। वर्तमान युग में विश्वव्यापी तथा प्रादेशिक युद्ध भी अधिकतर लोभ या अभिमान के कारण होते हैं जो साम्राज्यवाद और अपनी कल्पित प्रजाति (Race) की सर्वोच्चता के अहंकार का रूप धारण कर लेते हैं। युद्धों के अतिरिक्त अशान्तिजनक अन्याय और अत्याचार भी, जो अंग्रेज साम्राज्यवादी शासकों ने स्वतन्त्रता प्रिय भारतीयों तथा अन्य उनके पराधीन देशवासियों पर उन्हें अपनी दासता में रखने के लिए किये अथवा हिटलर आदि ने अपनी आर्य प्रजाति के अभिमान में यहूदियों पर किये, इन्हीं उपर्युक्त कारणों से होते हैं। अतः वेदों में इन षड्रिपुओं के दमन का उपदेश दिया गया है।

ऋग्वेद ७।१०।२२ और अथर्व ८।४।२२ में निम्नलिखित मन्त्र आया है जो सचमुच स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

(ऋ० ७।१०।२२; अथर्व० ८।४।२२)

इस मन्त्र में आत्मा को इन्द्र के नाम से सम्बोधित करते हुए यह उपदेश दिया गया है कि हे (इन्द्र) आत्मन्! (उलूकयातुम्) उल्लू की चाल–मोह वा अज्ञान ज्ञान प्रकाश से दूर रहने की प्रवृत्ति (शुशुलूकयातुम्) भेड़िये की चाल क्रोध और हिंसा–क्रूरता (श्वयातुम्) कुत्ते की चाल, ईर्ष्या (उत) और (कोकयातुम्) चिड़े की तरह अत्यधिक कामवासना–इनको (जहि) नष्ट कर दे–मार डाल। (सुपर्णयातुम्) गरुड़ या बाज की चाल–अहंकार (उत) और (गृध्रयातुम्) गिद्ध की चाल–लोभ इन सब (रक्षः) राक्षसों को (दृषदा इव) जैसे शिल से किसी वस्तु को पीस दिया जाता है, वैसे इन सब पाशविक राक्षसीय वृत्तियों को (प्रमृण) अच्छी तरह से कुचल डाल। संसार के सब कलह, चाहे वे पारिवारिक वा सामाजिक हों अथवा राष्ट्रीय और विश्वव्यापी, इन छह राक्षसों के कारण ही होते हैं। रावण ने जो सीता जैसी सतियों का अपहरण किया वह काम और अहंकार के कारण किया, दुर्योधन दुःशासनादि ने जो पाण्डु पुत्रों को अनेक प्रकार की यातनाएँ दीं, और योगिराज श्रीकृष्ण जैसे अपने समय के सर्वोच्च महापुरुष के शान्तिपूर्वक समझाने पर भी अहंकार और ईर्ष्यावश न मानने के कारण अन्त में विश्वयुद्ध के रूप में परिणत हो गया। उसमें ईर्ष्या और अहंकार ही प्रधान कारण थे। परिवारों और समाजों में व्यक्तियों के क्रोध के कारण जो भयंकर उपद्रवों का कारण बनकर सैकड़ों की जान ले लेते हैं। रूस और अमरीका का जो शीतयुद्ध वर्षों तक चलता रहा है उसमें भी दोनों देशों के शासकों की ईर्ष्या, अहंकार और लोभ कारण रहे हैं। धर्म के सच्चे स्वरूप को न समझकर अज्ञानवश मतान्धता का आश्रय लेने से जो अत्याचार औरंगजेब आदि मतान्ध बादशाहों तथा गोवा के ईसाई शासकों ने हिन्दू जनता पर किये, उन्हें कौन नहीं जानता? विभिन्न देशों के इतिहास के पन्ने उलटने पर यह स्पष्ट है कि ये मोह (अज्ञान) क्रोध और हिंसा, ईर्ष्या, काम अहंकार और लोभ सारी अशान्ति के मूलकारण हैं। वेदों में इनको रक्षसः के नाम से पुकारा गया है जिसका अर्थ श्री यास्काचार्य ने किया है रक्षितव्यम् अस्मात् जिससे शान्ति स्थापित करना चाहते हैं, उन्हें इन ६ राक्षसों के दमन का प्रयत्न करना और करवाना चाहिए। अतः केवल इस मन्त्र में ही नहीं, अन्य अनेक मन्त्रों में लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार आदि के परित्याग का वेदों में उपदेश है। यजु० ४० के प्रथम सुप्रसिद्ध मन्त्र में कहा है कि—

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

(यजु० ४०।१)

इस मन्त्र में उपदेश किया गया है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु और स्थान परमेश्वर से आच्छादित है, परमेश्वर सर्वव्यापक है। कोई ऐसा स्थान वा पदार्थ नहीं जहाँ वह भगवान् न हो। इसलिए हे मनुष्य! तू इस संसार के पदार्थों का उपयोग त्याग की भावना को रखते हुए—अपनी शक्ति के अनुसार, लोगों के उपकारार्थ अपने धन को लगाते हुए ही कर। (मा गृधः) कभी लोभ वा लालच मत कर। इस बात का सदा चिन्तन कर कि (कस्य स्वित् धनम्) यह धन किसका है? जिस धन को तू अपना समझकर अभिमान और निर्धनों पर अत्याचार करता है, वस्तुतः उस धन का सच्चा स्वामी तू नहीं है। वह धन आज तेरे पास है कल किसी और परसों किसी तीसरे के पास जा सकता तथा जाता रहता है।

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥

(ऋ० १०।११७।५)

अर्थात् ये धन रथ के चक्र की तरह घूमते रहते हैं। कभी किसी ओर कभी अन्य के पास जाते रहते हैं। इसलिए इस धन पर अभिमान करना मूर्खता है। सच्ची बात तो यह है कि यह सब धन वस्तुतः "कस्य धनम्" सुखस्वरूप प्रजापति परमेश्वर का है।

को वै नाम प्रजापतिः (ऐतरेय ३।२१)
को हि प्रजापतिः (शतपथ ६।२।२।५)
को वै प्रजापतिः (गोपथ ३।६।३)
प्रजापतिर्वै कः (ताण्ड्य ७।८।३)

इस सारे धन का सच्चा स्वामी एक सुखस्वरूप प्रजापति परमेश्वर ही है। हमें तो यह धन इसलिए दिया गया है कि हम इसके द्वारा जनता और समस्त प्राणियों का अधिकाधिक कल्याण कर सकें। हम तो इस धन के न्यासधारी वा ट्रस्टी हैं, स्वामी नहीं। इस वैदिक भावना को यदि सब लोग धारण कर लें, तो फिर उनको धन के कारण अभिमान कहाँ हो सकता है, और इसके कारण वे कभी किसी पर कैसे अत्याचार कर सकते हैं?

ईर्ष्या का निवारण—

ईर्ष्या अनेक कलहों और विश्वयुद्धों तक का कारण बन जाती है। अतः वेदों में उसके दूर करने पर बड़ा बल दिया गया है।

उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र इस विषय में विशेष रूप से मननीय हैं—

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि॥ १॥

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा ।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥ २ ॥
अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ ३ ॥

(अथर्व० ६।१८।१, २, ३)

इन मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

१. (ते ईर्ष्यायाः प्रथमां ध्राजिम्) तेरी ईर्ष्या-डाह के पहले वेग को (उत प्रथमस्याः उपराम) और पहले के आगे की गति को तथा (हृदयं) हृदय में रहनेवाले इस शोकरूपी अग्नि वा जलन को (निर्वापयामसि) हम बुझा देते हैं-दूर हटा देते हैं।

२. (यथा भूमिः मृतमनाः) जैसे भूमि मरे मनवाली निर्जीव है अथवा (मृतात् मृतमनस्तरा) मरे से भी अधिक मरे मनवाली है (उत यथा मम्रुषः मनः) जैसे मरनेवाले का मन होता है (एव ईर्ष्यों मृतं मनः) उसी प्रकार ईर्ष्या करनेवाले का मन मरा होता है।

३. (अदः यत् ते हृदि श्रितम्) जो तेरे हृदय में रहा हुआ (पतयिष्णुकं मनस्कम्) गिरनेवाला अल्पमन है (तत् ते ईर्ष्यां निर्मुचामि) वहाँ से तेरी ईर्ष्या को मैं हटाता हूँ। (दृतेः ऊष्माणम् इव) जिस प्रकार धोंकनी से वायु को निकालते हैं।

दूसरे की उन्नति देख न सह सकने का नाम ईर्ष्या वा डाह है। यह मन में तब उत्पन्न होती है जब कि वे दूसरे का उत्कर्ष सहन नहीं कर पाता। यह ईर्ष्या कितनी हानि करती है इस विषय में इस सूक्त में कहा है कि—

(१) हृदयं शोकम्-अग्निम्—हृदय के अन्दर यह ईर्ष्या-शोक उत्पन्न करती है। शोक से हृदय जलने लगता है और यह अग्नि आयु का क्षय करती है। शोचतिर्ज्वलतिकर्मा निघ० ॥

(२) पतयिष्णुकं मनस्कम्—ईर्ष्या करनेवाले का मन गिरनेवाला और छोटा-संकुचित वा संकीर्ण वृत्तिवाला होता है। इसमें उदारता का अभाव होता है। इस प्रकार यह ईर्ष्या अत्यन्त घातिका होती है। यह हृदय को जलाती है, मन को मार देती है और हृदय तथा मन को संकुचित कर सब का पतन कराती हैं। इसलिए ईर्ष्या को मन से सदा दूर करना चाहिए। उसको अपने पास फटकने ही नहीं देना चाहिए। ईर्ष्या दूर होने से हृदय शान्त होगा, मन में सजीव चैतन्य वास करेगा और मन भी ऊपर उठानेवाले विचारों से परिपूर्ण होगा। इस कारण ईर्ष्या दूर होने से मनुष्य की उन्नति होती है और ईर्ष्या मन में रहने से हानि होती है। मनुष्य को विशेष प्रयत्न द्वारा अपने मन से ईर्ष्या को दूर रखना चाहिए। क्रोध के कारण ही अत्यधिक शान्ति भंग होती है। पारिवारिक जीवन तो इससे छिन्न-भिन्न हो जाता है। क्रोधवश पति-पत्नियाँ एक दूसरे को गाली-गलोज देते, मारते-पीटते और

कई बार हत्या तक करते देखे गये हैं। क्रोधावेश में मनुष्य के मुख से ऐसे-ऐसे शब्द निकल जाते हैं जिनसे समाजों में भयंकर लड़ाई-झगड़े खड़े हो जाते और सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है। राजपूतों के इतिहासों में क्रोधावेश-वश पड़ौसी राज्यों पर भी आक्रमण के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। महाराणा प्रताप के व्यंग्यपूर्ण शब्दों से चिढ़कर मानसिंह ने मुगल सेना के साथ उस शूरवीर क्षत्रिय का बदला निकालने और इस प्रकार देशद्रोह का जो कार्य किया, वह सर्वविदित है। राष्ट्रों के क्रोध, लोभ और ईर्ष्यावश जो परस्पर कलह होते हैं और जो कभी-कभी विश्वव्यापी युद्ध का भी रूप ग्रहण कर लेते हैं, इसे इतिहासकार जानते हैं। अतः वेदों में क्रोध और हिंसा को शुशुलूकयातु या भेड़िये की चाल कहकर उसको नष्ट करने का उपदेश दिया है। ऋग्वेद ८। ३२। २१ तथा सामवेद म० २२३ में कहा है कि—

अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपारणे। इमं रातं सुतं पिब॥

(ऋ० ८।३२।२१; साम० २२३)

इसका भाष्य स्वा० भगवदाचार्यजी ने साम संस्कार भाष्य में इस प्रकार किया है—

हे (इन्द्र) परमसमर्थ (मन्युषाविणम्) क्रोधोद्गारिणं क्रोधिनमिति भावः। (अतीहि) अतिगच्छ-अतिक्राम्यगच्छ मा तेषां समीपे गमस्त्वम्। (सुषुवांसम्) सम्यक् शान्त्या यस्तव भक्तिं सुनोति हृदयाद् हृदये वा प्रादुर्भावयति तं भक्तमहानुभावम् (उपारणे) उपगच्छ। अस्य च त्वद्भक्तस्य (रातौ) दाने हृदयप्रदाने तव चरणयोः समीपिते हृदये (सुतम्) उत्पादितं भक्तिरसं (पिब) अनुभवम्॥

भाषा भावार्थ—हे परमेश्वर! क्रोधी के पास आप न जाइये। श्रद्धा से भक्ति रस को उत्पन्न करनेवाले के यहाँ पधारिये। उसके हृदय में उत्पन्न हुए भक्ति रस का पान कीजिये। (साम संस्कार भाष्य, प्रथम खण्ड, पृ० ११५)

इससे स्पष्ट है कि क्रोध अत्यन्त निन्दनीय दुर्गुण है, जिसके कारण ईश्वर की प्राप्ति में भी भयंकर बाधा पड़ जाती है। अतः पूर्ण प्रयत्न करके उसके परित्याग का अभ्यास करना चाहिए, अन्यथा परिवार, समाज, राष्ट्र वा विश्व में शान्ति का राज्य स्थापित नहीं हो सकता।

ऋग्वेद १। २५ के निम्नलिखित मन्त्र भी इस सम्बन्ध में मननीय हैं जिसमें क्रोध को वश में रखने और क्रोधियों के संग तक को छोड़ने का आदेश दिया गया है। मन्त्र निम्न हैं—

मा नो वधाय हत्नवे जिहीळानस्य रीरधः। मा हृणानस्य मन्यवे॥ २॥
परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये। वयो न वसतीरुप॥ ४॥

(ऋ० १।२५।२, ४)

इस मन्त्र का भाष्य ऋषि दयानन्दजी सरस्वती ने इस प्रकार किया है—

म० १ पदार्थ—मा निषेधार्थे (नः) अस्मान् (वधाय) हननाय (हत्नवे) हनन करणाय (जिहीळानस्य) अज्ञानादस्माकमनादरं कृतवतो जनस्य अत्र पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् इत्यकारस्येकारः (रीरधः) संसाधय। अत्र रध-हिंसा संराध्यो-रस्माण्णिजन्ताल्लोडर्थे लुङ् (मा) निषेधे (हृणानस्य) लज्जितस्योपरि (मन्यवे) क्रोधाय।

भावार्थ—ईश्वर उपदिशति—हे मनुष्यः! यूयं बालबुभिरज्ञानादपराधे कृते हननाय मा प्रवर्तध्वम्। यदि कश्चिदपराधं कृत्वा लज्जां कुर्यात्, तस्योपरि क्रोधं मा निपातयतेति॥

भाषा भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो! जो अल्प बुद्धि अज्ञानी जन अपनी अज्ञानता से तुम पर अपराध करे तो तुम उसको दण्ड देने को प्रवृत्त न होओ, वैसे ही यदि कोई अपराध करके लज्जित होवे और तुम से क्षमा माँगे, तो उसके ऊपर भी क्रोध मत करो।

इस तथा अन्य वेद मन्त्रों का तात्पर्य स्पष्ट है कि मनुष्य को क्रोध को वश में रखने का सदा प्रयत्न करना चाहिए और क्रोधियों की संगति भी न करनी चाहिए।

विश्व शान्ति के कुछ आधुनिक साधन

वेदों में पञ्चशील का मूल

आधुनिक युग में विश्वशान्ति की स्थापना के लिए जिन महानुभावों ने विशेष रूप से प्रयत्न किया, उनमें स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री स्वर्गीय पं० जवाहरलालजी नेहरू थे। उन्होंने महात्मा गौतमबुद्ध के अहिंसा प्रेम इत्यादि विषयक उपदेशों से स्फूर्ति ग्रहण करके पञ्चशील को राजनैतिक क्षेत्र में प्रचलित करने का यत्न किया और इसके अनुसार चीन, रूस, युगोस्लाविया तथा अन्य अनेक देशों के प्रधानमन्त्रियों के साथ मिलकर संयुक्त विज्ञप्तियों द्वारा परस्पर सहयोग, अनाक्रमण, आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व आदि सिद्धान्तों को अपनाया। इन बातों को अब पञ्चशील के नाम से कहते हैं जो निम्न रूप में अभिव्यक्त होता है।

(१) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुता के विषय में पारस्परिक सम्मान (Mutual respect for each other's teritorial intergrity and sovereignty).

(२) परस्पर अनाक्रमण (Mutual non-aggression).

(३) Mutual non-interference in each other's internal affairs. अथवा एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप।

(४) समानता और पारस्परिक लाभ (Equality and mutual benefit).

(५) शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व (Peaceful co-existence) यदि सच्चे दिल से धार्मिक भावना तथा सत्यनिष्ठता के साथ सब राष्ट्र इस पञ्चशील को अपनाएँ, तो विश्वशान्ति की स्थापना में बड़ी सहायता मिल सकती है तथा अविश्वास और असहयोग के स्थान में विश्वास तथा सहयोग का वातावरण स्थापित हो सकता है। यदि हम इस पञ्चशील के मूलभूत तत्त्वों का गम्भीरता से विचार करें तो उनमें स्पष्टतया वैदिक उद्देश्यों की झलक दिखाई देगी। पञ्चशील का प्रथम अंश है एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुता के विषय में पारम्परिक सम्मान की भावना।

यह यजुर्वेद के अ० ४० के उस प्रथम मन्त्र के चतुर्थ चरण में अन्तर्निहित है जिसको हम पहले उद्धृत कर चुके हैं।

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ (यजु० ४०।१)

अर्थात् किसी के धन का लालच मत करो। यह नियम जैसे व्यक्तियों के विषय में है, वैसे ही राष्ट्रों के विषय में भी चरितार्थ होता है। साम्राज्यवाद (Imperialism) जिसमें बलपूर्वक दूसरे देशों पर अधिकार करके उनके निवासियों को दासता में रखने का यत्न किया जाता है, वेद के इस आदेश के विरुद्ध है। उपनिवेशवाद (Colonialism) आदि इसी के अन्तर्गत है, जिसका कटुफल भारतवासी तथा अन्य अनेक देशवासी चख चुके हैं।

(२) परस्पर अनाक्रमण का द्वितीय अंश भी बहुत कुछ इसी के अन्दर आ जाता है। आक्रमण ईर्ष्या, लोभ, क्रोध आदि के कारण किया जाता है और यह वेदों की—

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ (यजु० ३६।१८)

अर्थात् हम सब आपस में मित्र की प्रेमय दृष्टि से देखें, इस भावना के विरुद्ध है। परस्पर अनाक्रमण वेदोक्त मित्र दृष्टि का निषेधात्मक अंश है।

(३) एक दूसरे के मामलों में अहस्तक्षेप। यह पञ्चशील का तृतीय अंश है जिसमें स्वतन्त्रता का भाव आता है। वेद इस स्वतन्त्रता के संरक्षण पर बड़ा बल देते हैं।

उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों को देखिए—

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति॥

(अथर्व० ६।६।२)

अर्थात् हे (सोम) ऐश्वर्य युक्त परमेश्वर वा राजन् (यः दुःशंस) जो दुष्ट भाववाला पुरुष वा पुरुष समूह (सुशंसिनः नः) अच्छे भाव युक्त हम सज्जनों को (आदिदेशिति) अपने आदेश या अधीनता में रखना चाहता है, (अस्य मुखम्) उस नीच के मुख को (वज्रेण जहि) वज्र से काट डाल (सः) वह नीच (सम्पिष्ट) चूर-चूर होकर (अपायति) नष्ट हो जाए।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि दुःशंसः एक वचन है, सुशंसिनः बहुवचन है। जो एक नीच पुरुष सज्जनों पर शासन चलाना चाहता है, सज्जनों का कर्त्तव्य है कि राजा की वा प्रजा की सहायता से उसका नाश कर दें ताकि उनकी स्वतन्त्रता बनी रहे।

ऋग्वेद २।२३।१० में

मा नो दुःशंसो अभिदिप्सुरीशत प्र सुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि॥

(ऋ० २।२३।१०)

यह मन्त्र आया है जिसका अर्थ स्पष्ट है कि (दुःशंसः) दुष्ट भाववाला (अभिदिप्सुः) लोभी पुरुष (नः मा ईशत) हमारे ऊपर कभी शासन न करे। (सुशंसाः) अच्छे भावों से युक्त हम (मतिभिः) अपनी बुद्धियों से (प्र तारिषीमहि) सब दुःखों से तर जाएँ। यहाँ भी स्वतन्त्रता की रक्षा का भाव स्पष्ट है।

यजुर्वेद ३६।२४ में सब को यह प्रार्थना करने का आदेश है कि—

अदीनाः स्याम शरदः शतम्॥

अर्थात् सौ वर्षों तक अदीन वा स्वाधीन होकर जीवें।

(४) इस पञ्चशील का चतुर्थ अंश है—समानता और पारस्परिक लाभ।

(५) पञ्चशील का पञ्चम अंश है शान्ति पूर्ण सह अस्तित्व, इन उपर्युक्त दोनों अंशों का मूल हम स्पष्टतया ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्र में पाते हैं जिसका निर्देश यहाँ अत्यावश्यक है। ऋग्वेद के उस अन्तिम सूक्त (ऋ० १०।१९१) में वेद की शिक्षाओं को गागर में सागर की भाँति भर दिया गया है।

मन्त्र इस प्रकार है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋ० १०।१९१।४)

इस मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

हे मनुष्यो! (वः आकूतिः समानी) तुम्हारे संकल्प समानरूप से पवित्र परस्पर मानयुक्त और समानता के भाव से युक्त हों। (वः हृदयानि समाना) तुम्हारे हृदय समानता के भाव से भरे हुए और परस्पर प्रेम युक्त हो (वः मनः समानम्

अस्तु) तुम्हारा मन समानता के भाव से युक्त तथा अन्यों के प्रति मान युक्त हो (यथा वः सु सह असति) जिससे तुम्हारा उत्तम सह–अस्तित्व तथा परस्पर सहयोग हो सके।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि आज विश्वशान्ति के लिए जिस उत्तम शान्तिपूर्ण यह अस्तित्व की इतनी सर्वत्र चर्चा है और जिसके विना विश्वशान्ति को असम्भव माना जाता है, उसका ऋग्वेद में न केवल स्पष्ट रूप ही पाया जाता है, अपितु सुसह असति, ये शब्द भी पाये जाते हैं। हृदय की समानता तथा उत्तम सह–अस्तित्व से बढ़कर विश्वशान्ति का क्या साधन हो सकता है जिसका इस मन्त्र में इतनी स्पष्टता से प्रतिपादन किया गया है ? इस प्रकार यह भी स्पष्टतया ज्ञात होता है कि पञ्चशील का मूल वेदों में पाया जाता है यद्यपि पं० जवाहरलाल नेहरू ने ये शब्द बौद्धग्रन्थों से लिये थे। इसके साथ ही हमारे देश की किसी सैनिक गुट में न मिलने की नीति जिसे अंग्रेजी में non-alighnment के नाम से कहते हैं, उससे जहाँ हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा हुई है, वहाँ विश्वशान्ति में भी उससे पर्याप्त सहायता मिली है। इसके कारण हमारे देश को औद्योगिक तथा शैल्पिक और सुरक्षा वा विज्ञानादि की दृष्टि से विकसित करने के लिए रूस, अमरीका, इंग्लैंड, जर्मनी इत्यादि अनेक अंशों में परस्पर विरुद्ध विचारधाराओं को अपनानेवाले देशों की सहायता प्राप्त हुई, क्योंकि सौभाग्यवश हमारे देश के मान्य नेताओं ने ''यथा वः सु सहासति'' में निर्दिष्ट सहयोग तथा मित्रता की भावना को अपनाया।

निशस्त्रीकरण की समस्या—

इसके अतिरिक्त एक और विषय है जिसका विश्वशान्ति के साथ सम्बन्ध है और वह है निशशस्त्रीकरण (Disarmament)। निशशस्त्रीकरण से तात्पर्य यहां सब अस्त्र–शस्त्रों के पूर्णतया परित्याग का नहीं (क्योंकि यह न केवल वर्तमान परिस्थिति में सम्भव नहीं अपितु अच्छे से अच्छे युगों में भी यह सम्भव न था)। कुछ न कुछ दस्यु या दुष्ट सदा रहें हैं और अब तो दुर्भाग्यवश वेदविद्या के अधिकतर लुप्त होने के कारण, उनकी संख्या बहुत अधिक है। इन दुष्टों के दमन के लिए क्षत्रियों और अस्त्र–शस्त्रों की आवश्यकता सदा बनी रहेगी। किन्तु जब निशशस्त्रीकरण वा (Disarmament) की बात कही जाती है (जिसके लिए विश्वयुद्ध के पश्चात् बहुत अधिक चर्चा होती रही है) तो उसके वास्तविक स्वरूप को जानना आवश्यक है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए हम इसे नोबल पुरस्कार विजेता मि० फिलिप नोयल बेकर (Philip Noel Baker) के "What interests you most in the world today" नामक श्री जुली मेडलोक द्वारा सम्पादित अत्युत्तम पुस्तक में प्रकाशित "The most urgent Issue-

Disarmament". (अत्यधिक आवश्यक प्रश्न निश्शस्त्रीकरण) शीर्षक लेखक से उद्धृत कर रहे हैं—

१. Reduction of Army, Navy and, Air forces in all countries to much lower levels than at present. अर्थात् सब देशों में नौ, थल और वायुसेना में वर्तमान की अपेक्षा बहुत अधिक कमी करना।

२. Corresponding reduction of conventional armaments-heavy mobile guns, tanks, military crafts, warships; भारी तोप, बन्दूक, टैंक, सैनिक हवाई जहाज इत्यादि युद्धोपकरणों में आनुपातिक न्यूनता करना।

३. Corresponding reduction in budgetary expenditure. युद्धविषयक खर्च के बजट में आनुपातिक न्यूनता करना।

४. Total abolition of all nuclear weapons by the steps proposed by the Western Powers in 1955. सन् १९५५ में पाश्चात्य महाशक्तियों द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम के अनुसार सब आण्विक शस्त्रास्त्रों को सम्पूर्णतया नष्ट करना।

५. Abolition of other weapons of mass destruction, poison gases biologicals, incendiary and radiological weapons. सामूहिक नाश के अन्य सब शस्त्रास्त्रों जहरीली गैस, कीट तथा रेडियो शस्त्रादि का सम्पूर्ण नाश।

६. "Institition of an effective system of control which would operate from start to finish, through the whole disarmament programme." नियन्त्रण की एक ऐसी प्रभावशालिनी प्रणाली की स्थापना जो आदि से अन्त तक निश्शस्त्रीकरण के सारे कार्यक्रम को क्रियात्मक रूप दे सके। निःसन्देह यदि विश्व में शान्ति स्थापित करनी है और उसको सुरक्षित रखना है, तो निश्शस्त्रीकरण की कोई ऐसी क्रियात्मक योजना बनानी होगी जिससे राष्ट्रों की आय का बहुत बड़ा भाग अस्त्र-शस्त्रों की होड़ और युद्धोपकरणों के तैयार करने में खर्च न हो; अपितु शिक्षा प्रचार, शिल्पोद्योग व्यवस्था, दीन जन सहायता, आर्थिक और सामाजिक उन्नति आदि रचनात्मक कार्यों में उसका सदुपयोग हो। इस निश्शस्त्रीकरण के कार्यक्रम में सब से अधिक बल आण्विक शस्त्रों तथा अन्य सामूहिक विनाश के साधनों को नष्ट करने अथवा उनके प्रयोगों पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाने पर है क्योंकि इनके जगद् विनाशकारी परिणाम से सभी वैज्ञानिक तथा अन्य सब मनीषी भयभीत हैं। कुछ ही मिनटों में यह आशा की जाती है कि इन शक्तिशाली उद्रजन बम (Hydrogen Bomb)

आदि के द्वारा बड़े से बड़े नगरों को नष्ट किया जा सकता है और इनके प्रयोग से दूषित वायु कणों का प्रभाव भावी उन्नति पर भी अति भयंकर रूप में पड़ेगा। समय–समय पर इनके जो परीक्षण समुद्र तथा द्वीपों में किये गये हैं, उनका भी बड़ा भयंकर परिणाम हो रहा है, जैसा कि अमरीका के एक नोबल पुरस्कार विजेता डॉ० पालिंग (Dr. Pauling) नामक जीवन रसायन शास्त्री ने बताया है।

"Dr. Pauling, Nobel Prize-winning American Bio-chemist claims that testing at the present rate will create 1% increase in mutation rate leading to heredity defects in 7,50,000 additional children every year. Strontium 90 is a dangerously poisonous long-lasting element. It is likely to produce Leukaemia, cancer and other genetic injuries to thousands of children each year".

(Topics of the Day by Mehar Novasha P. 81)

सारांश यह है कि वर्तमान में जो आण्विक बम आदि के परीक्षण हो रहे हैं उनसे स्ट्रोण्टियम ९० आदि की उत्पत्ति होती है जो स्थायी प्रभाववाला अत्यन्त संकट जनक (खतरनाक) विष तत्त्व है। इनसे प्रतिवर्ष ७,५०,००० अतिरिक्त बच्चों में आनुवंशिक त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाएगी और ल्यूकेमिया, कैन्सर तथा अन्य अनेक बीमारियाँ प्रतिवर्ष बच्चों को होने की सम्भावना है।

बड़े–बड़े वैज्ञानिकों का कथन है कि भावी युद्ध में इनके प्रयोग से कुछ ही क्षणों में सारे जगत् का विनाश हो सकता है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि इनके प्रयोग पर सम्पूर्ण प्रतिबन्ध हो और नेता मिलकर परस्पर प्रेम विश्वास और विश्वकल्याण की भावना से ऐसा निश्चय करके उसे क्रियान्वित करें।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋ० १०।१९१।४; अथर्व० ६।६४।३)

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्॥

(ऋ० १०।१९१।२; अथर्व० ६।६१।१)

यदि हम उपर्युक्त वैदिक आदेशों के अनुसार कार्य करने लगें जिनकी व्याख्या हम इसी अध्याय में कर चुके हैं, तो इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि अणुबम तथा अन्य जगत्संहारकारी शस्त्रास्त्रों पर पूर्ण प्रतिबन्ध के उद्देश्य में अतिशीघ्र सफलता हो सकती है। जब तक वेदों के अनुसार **समाना हृदयानि वः, समानमस्तु वो मनः।** (ऋ० १०।१९१।४; अथर्व ६।६४।३) अथवा

समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥ (अथर्व० ६।६४।२)

के अनुसार विभिन्न राष्ट्रों और महाशक्तियों के नेताओं का परस्पर हृदयों और मनों का मेल नहीं होता, तब तक कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकल सकता। वेदों का उपदेश तो परिवारों, समाजों और राष्ट्रों, सबके लिए एक समान है।

यदि विभिन्न देशवासी इस निम्नलिखित मन्त्र

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्व० ३।३०।१)

जिसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं आचरण करें तो परस्पर द्वेष और वैर विरोध के स्थान पर सहृदयता, सामञ्जस्य और अविद्वेष की भावनाओं द्वारा विश्वशान्ति की स्थापना हो सकेगी।

अध्याय सार और उपसंहार—

इस प्रकार इस अध्याय में हमने वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और विश्वशान्ति की समस्या पर विचार करते हुए दिखाया है कि वेदों में व्यक्ति, परिवार, समाज और विश्व सब में शान्ति पर न केवल बल दिया गया है, बल्कि उसके साधनों का भी उत्तमता से उपदेश दिया गया है। इनमें मुख्य (१) शान्ति के स्रोत भगवान् का वैयक्तिक और सामूहिक भजन। (२) वाणी, मन, इन्द्रियों का सदुपयोग, (३) पृथ्वी को माता मानकर सबको अपने भाई और बन्धु समान मानना, (४) विश्व कल्याण की भावना से प्रेरित होकर सब कार्य करना, (५) सब राष्ट्रों के निवासियों का परस्पर सहयोग और प्रेमपूर्ण सह अस्तित्व, इत्यादि हैं। प्रसंगवश पञ्चशील, तटस्थता, निश्शस्त्रीकरण आदि पर भी हमने तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए यह दिखाने का सप्रमाण यत्न किया है कि विश्वशान्ति विषयक समस्त समस्याओं का सर्वोत्तम समाधान वेदों में ही पाया जाता है।

अध्याय-१२

मानव मात्र की एकता व विश्वप्रेम

वैयक्तिक और विश्वशान्ति की समस्या पर विचार करते हुए हमने वेदों के—

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

(यजु० ३६।१८)

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि॥

(अथर्व० ६।४०।३, १७)

इत्यादि मन्त्रों को अर्थ सहित उद्धृत किया था जिनमें यह उपदेश है कि हमें सब प्राणियों (केवल मनुष्य मात्र को ही नहीं) को मित्र की दृष्टि से-प्रेम से देखना चाहिए। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, किसी भी दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो।

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ (अथर्व० १९।१५।६)

सब दिशाओं के सब निवासी हमारे मित्र बन जाएँ। हमें सबके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि—

"May all beings look on me with the eye of a friend,
May I look on all beings with the eye of a friend,
May we look on one another with the eye of a friend.
May all the directions be my friend."

इन मन्त्रों का इस प्रकार का अनुवाद ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी किया है। इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि वेद विश्व मैत्री व विश्व प्रेम की शिक्षा देते हैं। यहाँ यह बात भी स्मरणीय है कि वेदों में मनुष्य मात्र को सम्बोधन "सखाय:" ना जनास:, पुरुषा:, इत्यादि रूप में किया गया है जिससे उनकी सार्वभौमता स्पष्टतया सूचित होती है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों में भी सब मनुष्यों को "सखाय:" या मित्रों इस रूप में सम्बोधन किया गया है—

सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत॥

(ऋ० ९।१०४।१; साम० ५६८)

तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत॥

(ऋ० ९।१०५।१; साम० ५६९)

तं सखायः पुरोरुचं यूयं वयं च सूरयः।
अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम्॥

(ऋ० ९।९८।१२; साम० १६८०)

कृणोत धूमं वृषणं सखायः॥ (ऋ० ३।२९।९)

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥

(ऋ० ८।१।१; साम० २४२)

सखाय आ नि षीदत सविता स्तोम्यो नु नः। दाता राधांसि शुम्भति॥

(ऋ० १।२२।८)

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत। सखायः स्तोमवाहसः॥

(ऋ० १।५।१; साम० १६४, ७१४)

एता धियं कृणवामा सखायोऽप या माताँ ऋणुत व्रजं गोः॥

(ऋ० ५।४५।६)

सखायः क्रतुमिच्छत॥ (ऋ० ८।७०।३)

प्राञ्चं यज्ञं प्र णयता सखायः॥ (ऋ० १०।१०१।२)

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः॥ (ऋ० १०।१०१।१)

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः॥

(ऋ० १०।५३।८; यजु० ३५।१०)

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्॥

(ऋ० १२।२।२७)

इस प्रकार चारों वेदों से हमने नमूने के तौर पर १२ मन्त्र उद्धृत किये हैं। अन्य भी अनेक उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें सब मनुष्यों को "सखायः" या मित्रो सम्बोधन करते हुए परमेश्वर की उपासना और गुणगान करने, समान मनवाले होकर जागरूकता से सब शुभ कर्म करने, मिलकर एक दूसरे के अवलम्बन से संसार महानदी को पार करने तथा सदा शुभ संकल्प रखने का उपदेश दिया गया है। ये मन्त्र इस दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं कि किस प्रकार वेदों में विश्व प्रेम और मनुष्य मात्र की एकता की भावना का सार्वभौम उपदेश पाया जाता है जिससे सब का कल्याण हो सकता है।

"सखायः" के अतिरिक्त एक अन्य सम्बोधन, जो वेदों में अनेक स्थानों पर

पाया जाता है, वह जनासः, पुरुषसः, पुरुष इत्यादि रूप में है। उदाहरणार्थ—

इदं जनासो विदर्थ महद् ब्रह्म वदिष्यति।
न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः॥
(अथर्व० १।३२।१)

इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते॥ (अथर्व० २०।१२७।१)

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥
(अथर्व० ८।१।६)

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्बीशमवमुञ्चमानः।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः॥
(अथर्व० ८।१।४)

एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमाञ्जनान्त्संमनसस्कृधीह॥
(अथर्व० ६।७४।३)

इन मन्त्रों में जनासः, जनाः, जनान्, पुरुष इत्यादि का सब मनुष्यों के लिए प्रयोग करते हुए उन्हें परम ब्रह्म परमेश्वर के आदेश का श्रवण करने, सदा उन्नत होकर अन्यों को भी ज्ञान का उपदेश देने, कभी पतित न होने, सब मनुष्यों को समान मनवाले बनाने का सार्वभौम उपदेश है जो अत्यन्त उदात्त भावना का द्योतक है। जातियों, वर्गों, सम्प्रदायों वा देशों में सीमित न करके मनुष्य मात्र को ही नहीं, प्राणिमात्र को उन्नत और सुखी करने की यह वैदिक भावना कितनी उत्तम है।

मानव मात्र की एकता का प्रतिपादन करते हुए वेदों में इस प्रकार के उपदेश दिये गये हैं—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
(ऋ० १०।१९१।२)

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ३ ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ४ ॥
(ऋ० १०।१९१।३-४)

१. अर्थात् हे मनुष्यो! तुम सब मिलकर चलो, मिलकर परस्पर प्रेम से बोलो, तुम्हारे मन अच्छी प्रकार ज्ञान युक्त और सुसंस्कृत हों। जिस प्रकार पहले से सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग उत्तम ज्ञान सम्पन्न होकर अपने कर्त्तव्य भाग का भली-भाँति पालन करते हैं, ऐसे ही तुम भी करो।

२. तुम्हारा उद्देश्य व मन्त्र समान हो, तुम्हारी सभाएँ समान हों, उनमें किसी

पर कोई अनुचित प्रतिबन्ध न हो, तुम्हारा मन और चित्त समान हों। मैं तुम्हें समान रूप से सब के कल्याणार्थ वेद मन्त्रों का उपदेश देता हूँ। तुम सब को उपभोगार्थ समान रूप से पृथिवी–जल आदि पदार्थों को देता हूँ।

३. तुम्हारे संकल्प एक जैसे पवित्र, परस्पर मान युक्त और समानता भाव युक्त हों। तुम्हारे हृदय समान रूप से शुद्ध, निर्मल और एक दूसरे के प्रति आदर युक्त हों। तुम्हारा मन समान रूप से पवित्र और मान युक्त हो जिससे तुम्हारा परस्पर हार्दिक सहयोग और प्रेमपूर्ण सह अस्तित्व रह सके। इसको हम विश्वशान्ति के प्रकरण में उद्धृत कर चुके हैं अतः अधिक व्याख्या अनावश्यक है।

यह ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त (१०।१९१) है जिसके तीन मन्त्रों को हमने अर्थ सहित ऊपर उद्धृत किया है। इसमें ऋग्वेद की शिक्षाओं का सारांश इन अत्यन्त उदात्त शब्दों में दिया गया है जिनकी तुलना संसार के किसी अन्य धर्म ग्रन्थ के साथ नहीं की जा सकती। यूरोप के अपने समय के सुप्रसिद्ध प्राच्य विद्या विशारद माने जानेवाले प्रो० मैक्समूलर ने सन् १८८५ ई० में दिये गये विश्व प्राच्य परिषत् (The World Oriental Conference, London) के अपने अध्यक्षीय अभिभाषण के अन्त में इन मन्त्रों का अर्थ पढ़कर सुनाया था। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों का अनुवाद पूर्णतया शुद्ध और प्रामाणिक नहीं, तथापि उससे वैदिक शिक्षा की उदात्तता का कुछ आभास मिल सकता है। ग्रिफिथ आदि का अनुवाद इस प्रकार है—

Walk together, speak together
Let your minds be all alike
May your aim be common, your assembly common
Common the idea and the thoughts of those united
A common purpose do I lay before you,
And worship with your common oblation.
Common be your aim and your hearts united,
Your mind be one so that all may happily live together.

or

May your decisions be unanimous,
Your minds being of one accord.
May the thoughts of all be united, so that
There may be a happy agreement among you.

(Griffith's Translation)

ऋग्वेद के समान अथर्ववेद में भी इसके साथ मिलते हुए मन्त्र ६।६४ में पाये जाते हैं। थोड़े से शब्द भिन्न हैं पर वे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है मानो कि इन

भावों की सुन्दर व्याख्या की गयी हो। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के संगच्छध्वं संवदध्वम् के स्थान में वहाँ पाठ संज्ञानीध्वं सं पृच्छध्वम् है जिसका अर्थ यह है कि तुम अच्छी प्रकार मिलकर जानो और भली–भाँति परस्पर मिल जाओ। अंग्रेजी में उसका अनुवाद "Agree and hold together" कर सकते हैं। ह्विटनी वे इसका अनुवाद "Do ye concur, be ye closely combined" यह किया है।

अथर्ववेद के इस ६।६४ का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥

(अथर्व० ६।६४।२)

इस में शेष शब्द ऋग्वेद के मन्त्र के समान है। समानं मनः के स्थान पर यहाँ समानं व्रतम् है जिसका अर्थ है कि तुम्हारा सत्य, अहिंसादि का व्रत समान हो। सब प्रकार के शुभ व्रतों का धारण करनेवाले बनो। अन्तिम चरण अत्यधिक प्रभाव जनक रूप से एकता का बोधक है कि तुम समानं चेतो अभिसंविशध्वम्, एक समान चित्त के अन्दर चारों ओर से मिलकर प्रवेश कर जाओ। एकता के लिए इससे उत्तम उद्बोधन और क्या हो सकता है। ह्विटनी का अनुवाद "Do ye enter together into the same thought" यह है। (Whitney)

यदि संसार के सब देशों के नर–नारी इन पवित्र वैदिक उपदेशों के अनुसार आचरण करने लगे तो उनके परस्पर हार्दिक सहयोग में फिर क्या कमी हो सकती है। देश–विदेश के सब लोग एक ही परमेश्वर के पुत्र हैं, अतः उन सब के साथ हमारा व्यवहार प्रेमपूर्ण होना चाहिए। विदेशियों के साथ व्यवहार में भी हमारी ओर से कोई अपराध, संकुचित हृदयता वा अनुदारता का कारण न होना चाहिए। यह बात.....

अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारेणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥

(ऋ० ५।८५।७)

इत्यादि मन्त्रों में कही गयी है। मन्त्र का अर्थ यह है कि हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ प्रभो! हम (अर्यम्यम्) न्यायाधीश (मित्र्यम्) सर्वस्नेही, ब्राह्मण वर्ग (सखायं वा) समान नाम पदवाले मित्र वर्ग (सदम्) साथ बैठनेवाले (भ्रातरं वा) भाई के प्रति (वा) अथवा (वेशम्) सब के प्रवेश योग्य सभा स्थान (अरेण वा) अथवा अपरिचित विदेशी इत्यादि के प्रति (यत्सीम् आगः चकृम) जो कभी अपराध करें (तत् शिश्रथः) उसको तू शिथिल कर दे। उस अपराध पर नियन्त्रण करके हमें अपराध न करने दिया कर। ऐसे सब अपराधों से तू हमें बचा। वेद हमें शिक्षा देते

हैं कि परमेश्वर हम सब का समान रूप से पिता है, अतः हमें किसी से भी रंग, जाति, देश, वर्ग, सम्प्रदाय आदि के नाम पर घृणा न करनी चाहिए। सब के लिये साधारण (एक समान पिता) परमेश्वर का सदा स्मरण करना चाहिए। जिससे यह बात हमारे मन में जमी रहे।

यच्चिद्धि शश्वतामसीन्द्र साधारणस्त्वम्। तं त्वा वयं हवामहे॥

(ऋ० ४।३२।१३)

हे (इन्द्र) परमेश्वर (यत् चित्त हि त्वम्) जो तू (शश्वताम्) सदा तथा नित्य जीवों का (साधारणः असि) साधारण एक समान पिता है (तं त्वा) ऐसे तुझ को (वयम्) हम (हवामहे) पुकारते हैं। यही बात ऋग्वेद ८।९९।८ में भी कही गयी है।

समानमिन्द्रमवसे हवामहे॥ (ऋ० ८।९९।८)

सब के लिये समान रूप से विद्यमान परमेश्वर को हम अपनी रक्षा के लिए पुकारते हैं।

यह सब प्राणिमात्र के एक समान पिता परमेश्वर की उपासना एकता में बड़ी सहायिका है। अथर्ववेद ७।५४।१ में भी अपने पराये, परिचित, अपरिचित, स्वदेशी, परदेशी, सबके प्रति मेल–मिलाप रखने का उपदेश है।

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्॥

(अथर्व० ७।५२।१)

हे (अश्विना) इन्द्रियरूपी अश्वों को वश में रखनेवाल संयमी अध्यापको–उपदेशको! (नः स्वेभिः संज्ञानम्) हमारा अपने लोगों से–परिचित, सम्बन्धी व स्वदेशवासी लोगों से (संज्ञानम्) ज्ञानपूर्वक मेल हो। (अरणेभिः संज्ञानम्) अपरिचितों, असम्बन्धियों तथा विदेशवासियों से भी हमारा ज्ञानपूर्वक मेल हो। (युवम्) तुम दोनों (इह) इस संसार में (अस्मासु) हम में (संज्ञानं नियच्छतम्) सदा मेल–जोल को स्थापित करो।

प्राणिमात्र की हित भावना—

न केवल मनुष्य मात्र अपितु प्राणिमात्र के कल्याण की भावना हमारे मन में रहनी चाहिए तथा उसके लिए सब नर–नारियों को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह वेदों में उपदेश दिया गया है। इस विषय में निम्नलिखित मन्त्र विशेष रूप से मननीय है—

सोमो अस्मभ्यं द्विपदे चतुष्पदे च पशवे। अनमीवा इषस्करत्॥

(ऋ० ३।६२।१४)

(सोमः) सर्वोत्पादक परमेश्वर (षू–प्रसवैश्वर्ययोः) (अस्मभ्यम्) हमारे

लिए तथा (द्विपदे) द्विपाद सब मनुष्यों और (चतुष्पदे पशवे) चौपाये पशुओं के लिए (अनमीवा:) रोग रहित करनेवाली (इषः) अन्नादि सामग्री को (करत्) प्रदान करो। अथर्व १।३१।४ में सब प्राणिमात्र के कल्याणार्थ यह प्रार्थना है—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥

(अथर्व० १।३१।४)

(नः मात्रे उत पित्रे स्वस्ति अस्तु) हमारे माता और पिता को सुख हो (गोभ्यः स्वस्ति) गौओं को सुख हो (पुरुषेभ्यः स्वस्ति) सब पुरुषों को सुख हो (जगते) जगत् के सब प्राणियों को (स्वस्ति) स्वास्थ्य, सुख, कल्याण वा उत्तम अस्तित्व की प्राप्ति हो। (नः विश्वम्) हमारा समस्त संसार (सुभूतम्) उत्तम विभूति से युक्त तथा (सुविदत्रम्) उत्तम ज्ञान से सम्पन्न हो और हम (ज्योक् एव) चिरकाल तक–दीर्घ आयु तक (सूर्यं दृशेम) सूर्य और ज्ञान प्रकाशक परमेश्वर का दर्शन करते रहें।

प्राणिमात्र की ईश्वर पुत्र के रूप में एकता को मानकर यह कैसी उदात्त प्रार्थना सब के कल्याणार्थ है। यजु० ११।४५ में विद्वानों को सब प्राणियों के लिए कल्याणकारक होने का उपदेश इन शब्दों में दिया गया है—

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः।
मा द्यावापृथिवीऽअभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन्॥

(यजु० ११।४५)

हे (अंगिर) अग्नि के समान तेजस्विन् अथवा अपने प्राणवत् सब को प्रेम करनेवाले (अंगिरा उह्यग्निः–शत० १।४।१४।२४), (अंगिरा वा अग्निः–शत० ६।४।४।४) तथा (प्राणो वा अंगिराः–शत० ६।५।२।३।४) विद्वान् (त्वम्) तू (मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः) सब मानव प्रजाओं के लिए (शिवः भव) कल्याणकारी हो। तू (द्यावा पृथिवी) आकाश और पृथिवी, इन दोनों के प्राणियों को (मा अभिशोची) संतप्त मत कर (शोचतिर्ज्वलतिकर्मा–निघं० १।१६) (अंतरिक्षं मा अभिशोचीः) अन्तरिक्षस्थ प्राणियों को भी मत सता (वनस्पतीन् मा) वनस्पतियों को भी व्यर्थ नष्ट मत कर। इस प्रकार सब प्राणिमात्र के कल्याण की यह कितनी उत्तम भावना है। अंगिराः इस सम्बोधन से बताया गया है, यह भी द्योतित किया गया है कि विद्वान् सब प्राणियों को आत्मवत् जानें।

आत्मवत् सर्वभूतानि, यः पश्यति स पंडितः॥

इस सुप्रसिद्ध श्लोक द्वारा इसी वैदिक भावना को अभिव्यक्त किया गया है। जैसे पुरुषों को वैसे स्त्रियों को भी यही प्राणियों के कल्याण की भावना सदा मन में रखकर काम करना चाहिए। इस बात का उपदेश अथर्ववेद ३।२८।३ में इन

शब्दों में दिया गया है—

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥

(अथर्व० ३।२८।३)

हे देवि ! तू सब पुरुषों, गौओं, घोड़ों तथा अन्य पशुओं के लिए शिवा-कल्याणकारिणी हो। इस सारे अपने कार्य क्षेत्र के लिए तू कल्याणकारिणी हो। और हमारे लिए इस गृह में भी सदा कल्याणकारिणी बनकर निवास कर। (इसे स्त्री कर्त्तव्यों में पहले उद्धृत किया जा चुका है) अथर्व १९।४८।५ में उन्हीं को ज्ञानी माना गया है जो सब प्राणियों की रक्षा करते हैं और सब पशुओं के हित के विषय में भी जागरूक रहते हैं।........

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति ।
पशून्ये सर्वान्रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति॥

(अथर्व० १९।४८।५)

जो (रात्रिमनु तिष्ठन्ति) रात्रि में उपासनादि का अनुष्ठान करते हैं (ये च भूतेषु जाग्रति) जो सब प्राणियों के विषय में जागरूक रहते हैं कि उन्हें कोई कष्ट न पहुँचे। (ये सर्वान् पशून् रक्षन्ति) जो सब पशुओं की रक्षा करते हैं (ते नः आत्मसु जाग्रति) वे हम आत्माओं के कल्याण के लिए ज्ञानोपदेश द्वारा सदा प्रयत्नशील रहते हैं। (ते नः पशुषु जाग्रति) वे हमारे पशुओं के कल्याण में भी जागृत रहते हैं, उन्हें भी सदा सुख पहुँचाने का यत्न करते हैं। ऐसे ही ज्ञानी योगियों के लिए भगवद् गीता में सर्व भूत हिते रताः (भगवद् गीता ५।२५), इस विशेषण का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में न केवल मनुष्य मात्र, अपितु प्राणिमात्र की एकता तथा विश्व प्रेम का अत्यन्त उत्तम सर्वकल्याण साधक उपदेश दिया गया है।

द्वेष के सर्वथा परित्याग का उपदेश—

यह बात भी स्मर्तव्य है कि वेदों में सर्वत्र द्वेष के सर्वथा परित्याग का उपदेश और तदर्थ प्रार्थना पाई जाती है। इसके लिए निम्नलिखित कुछ मन्त्रों वा मन्त्र खण्डों का उद्धरण देना ही पर्याप्त होगा क्योंकि विश्वप्रेम और सब के कल्याण की भावना में उसका समावेश है जिसे ऊपर अनेक वेद मन्त्रों द्वारा दिखाया जा चुका है। ऋग्वेद २।७।३ में सब द्वेष भावनाओं से पार होने की प्रार्थना है—

विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव। अति गाहेमहि द्विषः॥

(ऋ० २।७।३)

यहाँ अग्नि के नाम से सर्वज्ञ सर्व नेता भगवान् को स्मरण करते हुए प्रार्थना की गयी है कि (त्वया) तेरी सहायता से (वयम्) हम (उदन्याः धारा इव) जल की धाराओं की तरह (विश्व द्विषः) सब द्वेष की भावनाओं को (अति गाहेमहि) पार कर जायें। हमारे अन्दर कोई द्वेष की भावना किसी प्राणी के लिए न रहे।

ऋग्वेद १।९७।७ में प्रार्थना है कि—

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय। अप नः शोशुचदघम्॥

(ऋ० १।९७।७)

हे (विश्वतोमुख) सर्वव्यापक परमेश्वर (नः नावा इव) हमें नौका से जैंसे नदी को पार किया जाता है, वैसे अपनी कृपा रूप नौका से (द्विषः अतिपारय) द्वेष भावनाओं से पार कर दे। (नः अघम्) हमारा सारा पाप (अपशोशुचत्) जल जाये। कोई द्वेष भावना और पाप हमारे अन्दर न रहने पाये।

ऋग्वेद ५।४५।५ में कहा है—

आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम॥ (ऋ० ५।४५।५)

हम (सनुतः) सदा (द्वेषांसि) द्वेषभावों को (आरेदधाम) दूर रखें।

यजुर्वेद १२।२९ में प्रार्थना है कि—

अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम॥ (यजु० १२।२९)

अर्थात् इस सब द्वेष रहित द्युलोक और पृथिवी लोक को पुकारते हैं। हम पृथिवी और द्युलोकवासी किसी प्राणी से कोई द्वेष न रखें। हम सब को प्रेम से पुकारें।

यजुर्वेद १२।४३ में कहा है—

युयोध्यस्मद् द्वेषांꣳसि॥ (यजु० १२।४३)

हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (अस्मत्), हम से (द्वेषांसि) सब द्वेष की भावनाओं को (युयोधि) दूर कर दे। (यु–अमिश्रणे)

विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्॥ (ऋ० ४।१।४)

(अस्मत्) हमसे (विश्वा द्वेषांसि) सब द्वेष भावनाओं को (प्र मुमुग्धि) छुड़ा दे। हम सर्वथा द्वेष रहित हो जाएँ।

अथर्ववेद २०।१२५।६ में कहा है—

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥

(ऋ० २०।१२५।६)

(सुत्रामा स्ववान्) सर्वरक्षक सर्वज्ञ परमेश्वर (अवोभिः) अपनी रक्षा शक्तियों से (नः) हमारे लिए (सुमृडीकः भवतु) उत्तम सुखदायक हो वह (विश्व वेदाः इन्द्रः) सब कुछ जाननेवाला अथवा सारे धन का स्वामी परमेश्वर (नः द्वेष

बाधताम्) हमारी द्वेष की भावना को नष्ट कर दे। हम (सुवीर्यस्य पतयः स्याम) उत्तम वीर्य के रक्षक हो जाएँ।

अथर्ववेद २०।१२५।७ में कहा है—

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।

(अथर्व० २०।१२५।७)

(सः सुत्रामा स्ववान् इन्द्रः) वह सर्वरक्षक, परमेश्वर (अस्मत्) हम से (द्वेषः) द्वेष की भावना को (सनुतः) सदा (आरात चित् युयोतु) बहुत दूर कर दे। हमारे अन्दर द्वेषभावना सर्वथा न रहे। ऐसी शक्ति वह परमेश्वर हमें प्रदान करे।

वेदों में सर्वताति वा सर्वोदय की भावना—

एक और बात जो इस विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय है वह यह है कि वेदों में सर्वोदय की भावना बहुत से मन्त्रों में सर्वताति के नाम से प्रकट की गयी है। सर्वताति का शब्दार्थ सर्व अर्थात् सब का ताति सब प्रकार का विकास अथवा उन्नति है। इसी को सर्वोदय के नाम से कह सकते हैं जो महात्मा गाँधीजी का प्रिय शब्द था और जिसको आचार्य विनोबा भावे तथा उनके सहयोगी श्री जयप्रकाश नारायण आदि ने अपनाया।

इस विषय के प्रतिपादक कुछ मुख्य मन्त्र निम्नलिखित हैं।

ऋग्वेद ६।९६।४ में निम्न मन्त्र आता है—

अजीतयेऽहतये पवस्व स्वस्तये सर्वतातये बृहते।
तदुशन्ति विश्व इमे सखायस्तदहं वश्मि पवमान सोम॥ ४॥

(ऋ० ९।९६।४)

हे (पवमान सोम) सब को पवित्र करनेवाले जगदुत्पादक और शान्ति के स्रोत परमेश्वर, (अजीतये) किसी से पराजित न होने (अहतये) न मारे जाने (स्वस्तये) स्वास्थ्य और (बृहते सर्वतातये) बहुत बड़ी विशाल सबकी उन्नति अथवा सर्वोदय के लिए (नः पवस्व) तू हमें पवित्र कर (इमे विश्वे सखायः तत् उशन्ति) ये सब मित्र यही चाहते हैं। सब सज्जन इसी प्रकार के सर्वोदय की कामना करते हैं। (अहं तत् वश्मि) मैं भी, हे देव! इसी को चाहता हूँ। कृपा करके हमारी इस शुभकामना को पूर्ण करो।

ऋग्वेद १०।३५।११ में आदित्यों अर्थात् आदित्य के समान तेजस्वी, ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेवाले विद्वानों को सम्बोधित करते हुए प्रार्थना की गयी है कि—

त आदित्या आ गता सर्वतातये वृधे नो यज्ञमवता सजोषसः।

(ऋ० १०।३५।११)

(ते आदित्याः) सूर्य के समान तेजस्वी महाविद्वान् महानुभावो, वे आप

(सर्वतातये) सब मनुष्यों के कल्याण और उनको सब प्रकार से उन्नत करने के लिए (आगत) आइये (सजोषसः) परस्पर और सब के साथ प्रेम करनेवाले और समान रूप से सब की सेवा करनेवाले (जुषी–प्रीतिसेवनयोः)। (वृधे) हमारी वृद्धि के लिए (यज्ञम् अवत) यज्ञ की लोकोपकारक श्रेष्ठ कर्मों की रक्षा करो। ऋग्वेद १०।३६।१४ में "सविता" के नाम से सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक (षू–प्रसवैश्वर्ययोः) भगवान् को सम्बोधित करते हुए, यह प्रार्थना की गयी है कि—

स॒वि॒ता प॒श्चाता॑त्सवि॒ता पु॒रस्ता॑त्सवि॒तोत्त॒रात्ता॑त्सवि॒ताध॒रात्ता॑त्।
स॒वि॒ता नः॑ सुवतु स॒र्वता॑तिं सवि॒ता नो॑ रासतां दी॒र्घमायुः॑॥

(ऋ० १०।३६।१४)

(सविता) सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक परमेश्वर पश्चिम, पूर्व, उत्तर, दक्षिण सब दिशाओं में व्यापक है। वह परमेश्वर (नः सर्वतातिं सुवतु) हमारी सर्वशक्तियों को विकसित करे तथा सब मनुष्यों को उन्नत करे। यह (सविता) जगदुत्पादक जगदीश्वर (नः दीर्घम् आयुः रासताम्) हमें दीर्घ आयु प्रदान करे। ऋग्वेद १०।१०० में १२ मन्त्र हैं जिनमें से ११ मन्त्रों की टेक है—

आ स॒र्वता॑ति॒मदि॑तिं वृणीमहे॥

अर्थात् हम (सर्वतातिम्) सब मनुष्यों और शक्तियों को विकसित करनेवाली (अदितिम्) अविनाशिनी माता को (दो–अवखंडने तद्रहिता आखण्डिता–अविनाशिनी आदितिरदीना देवमातेति निरुक्ते "अदितिर्माता स पिता" ऋ० १०।१००।११। हम (आवृणीमहे) चारों ओर से–सम्पूर्ण हृदय से वरण करना चाहते हैं। उसकी कृपा से सब मनुष्यों का सब प्रकार से कल्याण और उन्नति हो।

इस प्रकार वेदों में सर्वोदय की भावना पायी जाती है, यह स्पष्ट है। इस भावना का आधार विश्वप्रेम और मानव मात्र की परमेश्वर पुत्र होने के कारण एकता पर है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता।

आर्य और दस्यु–क्या ये पृथक् जातियाँ हैं? यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है जिसका विवेचन करना इस प्रसंग में आवश्यक प्रतीत होता है। बहुत से पाश्चात्य और कुछ भारतीय विद्वानों का ऐसा विचार है कि आर्य और दस्यु, जिनका वेदों में वर्णन आता है दो पृथक्–पृथक् जातियाँ थीं। दस्यु आदि निवासी थे जिन पर आर्यों ने आक्रमण करके उनको नष्ट कर दिया। जब स्वयं वेदों में दस्युओं के नाश के उपदेश हैं, जो आर्यों से भिन्न एक जाति के थे, तो यह कैसे माना जा सकता है कि वेदों में मनुष्य मात्र की एकता और विश्वप्रेम के उदात्त सिद्धान्त का प्रतिपादन है? सबसे प्रथम हमें, मुख्यतया वेदों के आधार पर, यह दिखाना पड़ेगा कि आर्य कौन होते हैं और क्या आर्य और दस्यु कोई पृथक् जातियाँ हैं?

आर्य शब्द का अर्थ—

ऋग्वेद १०।६५।११ में आर्यों के विषय में बताया गया है कि—

आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि ॥ (ऋ० १०।६५।११)

अर्थात् आर्य वे कहलाते हैं जो भूमि में सत्य, अहिंसा, पवित्रता, परोपकारादि व्रतों को विशेषरूप से धारण करते हैं। आर्य शब्द ऋ धातु से बनता है जिसका अर्थ "गतिप्रापणयो:" है अर्थात् गति–ज्ञान गमन और प्राप्ति करने और प्राप्त करानेवाले को आर्य कहते हैं। इस धात्वर्थ के अनुसार आर्य वे हैं जो ज्ञान सम्पन्न है, जो सन्मार्ग की ओर सदा गति करनेवाले पुरुषार्थी है और जो ईश्वर तथा परमानन्द को प्राप्त करते तथा तदर्थ प्रयत्नशील होते हैं। इसी को लेकर संस्कृत के शब्द कल्पद्रुम, वाचस्पत्य बृहदभिधान आदि कोषों में आर्य शब्द के निम्नलिखित अर्थ पाये जाते हैं।

आर्य–पूज्य:, श्रेष्ठ:, धार्मिक:, धर्मशील:, मान्य:, उदारचरित:, शान्तचित्त, न्याय पथावलम्बी, संतत कर्त्तव्यकर्मानुष्ठाता यथोक्तम् वसिष्ठ स्मृतौ—

कर्त्तव्यमाचरन् कार्यम्, अकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे, स तु आर्य इति स्मृतः॥

अर्थात् आर्य का अर्थ सद्‌गुणों के कारण पूजनीय, श्रेष्ठ, धर्मात्मा, सदा धर्मयुक्त स्वभाव और आचरणवाला, माननीय, संकुचित भावनाओं का परित्याग करके उदारचरित्रवाला ऐसा व्यक्ति है, जिसका चित्त ईश्वर भक्ति तथा भगवान् में पूर्ण विश्वास के कारण सदा शान्त रहता है; जो न्याय के मार्ग का सदा अवलम्बन करता और कभी अधर्म में प्रवृत्त नहीं होता, जो कर्त्तव्य कर्म का सदा निरन्तर अनुष्ठान करता रहता है। जैसे कि वसिष्ठ स्मृति आदि में कहा है आर्य वह कहाता है जो कर्त्तव्य कर्म का सदा आचरण करता और अकर्तव्य कर्म, अर्थात् पापादि से दूर रहता है और जो पूर्ण सदाचारी है।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० भगवान् दासजी ने अपनी "Essential Unity of all Religions" पुस्तक में ऋ धातु के अर्थ को लेकर एक विद्वान् व आर्य का यह लक्षण बड़े आदर के साथ उद्धृत किया है, जो बड़ा भावपूर्ण है—

निवारणार्थमार्तीनाम् अर्तु योग्यो भवेत् तु यः।
अर्थत सततं चार्तैः स आर्य इति कथ्यते॥

(सब धर्मों की बुनियादी एकता डॉ० भगवान् दासजी कृत पुस्तक के पृ० ६३ में उद्धृत)

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जो कष्ट के निवारणार्थ सदा गति करनेवाला होता और इसलिए आर्त व पीड़ित लोग सदा जिसके पास आते हैं, उसे आर्य कहते हैं।

महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में निम्न ८ गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को आर्य कहा

है—

ज्ञानी तुष्टश्च दान्तश्च, सत्यवादी जितेन्द्रियः।
दाता दयालुर्नम्रश्च, स्यादार्यो ह्यष्टभिर्गुणैः॥

(महाभारते)

अर्थात् जो ज्ञानी हो, सदा सन्तुष्ट रहनेवाला हो, मन को वश में रखनेवाला, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, दानी, दयालु और नम्र हो, वह आर्य कहाता है।

निरुक्त में आर्य शब्द का अर्थ महामुनि यास्क ने आर्य—ईश्वर पुत्रः (निरुक्त ६।२६) ऐसा किया है क्योंकि निघण्टु २।२२ में अर्य—ईश्वरं नाम (निघण्टु २.२२)।

इस प्रकार आर्य शब्द को ईश्वर वाचक माना गया है। जो सर्वजगत् के स्वामी ईश्वर के सच्चे पुत्र अर्थात् उसकी आज्ञाओं का सदा पालन करनेवाले हों, वे आर्य कहाते हैं। इसीलिए वेदों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत इत्यादि सब प्राचीन ग्रन्थों में सज्जनों के लिए आर्य और दुर्जनों के लिए अनार्य शब्द का प्रयोग पाया जाता है। श्रीराम के उत्तम गुणों का वर्णन करते हुए वाल्मीकि रामायण में नारद मुनि ने कहा है—

आर्यः सर्वसमश्चायं, सोमवत् प्रियदर्शनः॥

(वा० रा० १।१६)

अर्थात् श्रीराम–धर्मात्मा, सदाचारी, सब को समान दृष्टि से देखनेवाले और चन्द्र की तरह प्रिय दर्शनवाले थे।

भगवद् गीता में श्रीकृष्ण महाराज ने जब देखा कि वीर अर्जुन अपने क्षात्र धर्म के आदर्श से च्युत होकर मोह में फँस रहा है, तो उसको सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं, विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरमर्जुन॥

(गीता २।३)

अर्थात् हे अर्जुन! यह अनार्यों वा दुर्जनों द्वारा सेवित नरक में ले जानेवाला, अपयश करानेवाला पाप इस कठिन समय में तुझे कैसे प्राप्त हो गया।

कैकेयी ने जब श्रीरामचन्द्रजी को अरण्य भेजने की माँग की, तो राजा दशरथ ने उसके लिए अनार्या शब्द का अनेक बार प्रयोग किया। यथा—

मृते मयि गते रामे वनं ममुज पुंगवे।
हन्तानार्ये ममामित्र, सकामा सुखिनीभव॥

(वा० रा० २०।१३।५)

स्वयं वाल्मीकि मुनि ने भी कैकेयी के लिए इस अनार्योचित बुरी माँग के

कारण—

तदप्रियमनार्यायाः, वचनं दारुणोपयम्।
श्रुत्वागतव्यथो रामः, कैकेयी वाक्यमब्रवीत॥

(वा० रा० २०।१९।१९)

इत्यादि में अनार्या शब्द का प्रयोग किया है।

दस्यु कौन है—

दस्यु शब्द दसु-उपक्षये, इस धातु से बनता है। इसलिए उसकी व्युत्पत्ति और अर्थ करते हुए यास्काचार्य ने निरुक्त ७।२३ में लिखा "दस्यु-दस्यते" उपक्षयार्थात् उपदस्यत्यस्मिन् रसाः उपदासयति कर्माणि। (निरुक्त ७।२३)

अर्थात् दस्यु वह है जिसमें रस अथवा उत्तम गुणों के सार भाग कम होते हैं और जो यज्ञादि उत्तम कर्मों का नाश करता अथवा उनमें बाधा डालता है। उसका लक्षण वेदों के शब्दों में निम्न प्रकार है—

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्यामित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय॥

(ऋ० १०।२२।८)

अर्थात् दस्यु वह है जो (अकर्मा) अच्छे कर्म न करनेवाला और निकम्मा है जो (अमन्तुः) विचारशील नहीं है, सोच विचार कर कर्म करनेवाला नहीं है। (अन्यव्रतः) जो सत्य, अहिंसा, परोपकारादि अच्छे व्रतों को न ग्रहण करके इनसे भिन्न प्रकार के हिंसा, असत्य, चोरी, छल-कपटादि के संकल्पों को करता है। और इस प्रकार जो (अमानुष) मनुष्यता के प्रति पवित्र भावना न रखता हुआ, क्रूर, कठोर केवल स्वार्थ साधक होने के कारण, सच्ची मानवता से दूर है। ऐसे दस्यु का ही हे इन्द्र! तुम नाश करो। इसी प्रकार के विशेषण दस्यु के लिए सर्वत्र प्रयुक्त हुए हैं यथा ऋग्वेद १।५१।८ के सुप्रसिद्ध मन्त्र में आर्यों और दस्युओं का भेद बताते हुए कहा गया है कि—

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥

(ऋ० १।५१।८)

इसमें दस्युओं का विशेषण अव्रत रखा गया है। जहाँ आर्य "आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि" (ऋ० १०।६५।११) के अनुसार सत्य, अहिंसा, परोपकारादि व्रतधारी होते हैं, वहाँ दस्यु अव्रत अर्थात् इन उत्तम व्रतों से रहित होते हैं। इसे ही मुख्यतया आर्यों का दस्युओं से अन्तर जानो। इस मन्त्र की जो व्याख्या आचार्य दयानन्द सरस्वती ने की है, वह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। उन्होंने लिखा है—

हे यथायोग्य सब को जाननेवाले ईश्वर! आप (आर्यान्) विद्या धर्मादि उत्कृष्ट स्वभावाचरण युक्त आर्यों का (विजानीहि) जानो (ये च दस्यवः) और जो नास्तिक डाकू, चोर, विश्वासघाती, मूर्ख, विषय लम्पट, हिंसादि दोषयुक्त, उत्तम कर्म में विघ्न करनेवाले, स्वार्थी, स्वार्थ साधन में तत्पर, वेद विद्या विरोधी अनार्य मनुष्य (बर्हिष्मते) सर्वोपकारक यज्ञ के विध्वंसक हैं, इन सब दुष्टों को आप (रन्धय) समूलान् विनाशय-मूल सहित नष्ट कर दीजिये और (शासदव्रतान्) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासादि धर्मानुष्ठान व्रत रहित, वेद मार्गोच्छेदक, अनाचारियों का यथायोग्य शासन कीजिये। (शीघ्र उन पर दण्ड निपातन करो) जिस से वे भी शिक्षा युक्त होके शिष्ट हों अथवा उनका प्राणान्त हो जाये वा हमारे वश में ही होकर रहें। शाकीभाव तथा जीव को परम शक्ति युक्त, शक्ति देने और उत्तम कामों से निरोधक हों। (विश्वेत् ता ते सधमादेषु चाकन) में उत्कृष्ट स्थानों में निवास करता हुआ तुम्हारी आज्ञानुकूल सब उत्तम कर्मों की कामना करता हूँ सो आप पूरी करें। (आर्याभिविनय, प्रथम प्रकाश, म० १०)

इस प्रकार आर्यों दस्युओं के स्वभाव में भी अन्तर है। और इसीलिए ऐसे दस्युओं के नाश पर वेदों में बल दिया गया है क्योंकि वे न केवल स्वयं दुष्ट होते हैं, अपितु समाज और राष्ट्र के विघातक भी होते हैं। ऋग्वेद १।११७।३ में दस्यु का विशेषण "अशिवस्य" अर्थात् अशान्तिकारक, दुःखप्रद आया है। "मिनन्ताद-स्योरशिवस्य मायाः।" अर्थात् अश्विनौ-संयमी सूर्य-चन्द्र की तरह विद्यमान् अध्यापकोपदेशक अशिव-अकल्याणकारी दस्यु की दुष्ट बुद्धियों का नाश करनेवाले होते हैं।

ऋग्वेद ४।१६।९ में दस्यु का विशेषण "मायावानब्रह्मा दस्युः" आया है अर्थात् जो छल-कपट करनेवाला, ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद को न माननेवाले तथा संकीर्ण हृदय हो (बृह-वृद्धौ) उसका इन्द्र शक्तिशाली राजा अवश्य नाश करता है—ज्ञानादि का प्रसार करके अब्रह्मत्व व अज्ञान का नाश करता है।

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम्।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि॥

(ऋ० ६।२२।१०)

ऋग्वेद का यह मन्त्र भी इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय है जिसमें इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् राजा को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि तुम (वृत्रा दासानि नाहुषाणि आर्याणि अकरोः) धर्म कार्यों में विघ्न डालनेवाले तथा उनका नाश करनेवाले दासों को भी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ, धर्मात्मा, सदाचारी, धर्म, कर्म परायण कर देते हो। श्री सायणाचार्य का भाष्य भी इसी भाव का समर्थक है जो निम्न प्रकार है—

हे इन्द्र शत्रूणां तरणाय महतीम् (अमृध्राम) अहिंसिताम् (संयतम्) संगच्छमानाम्

(स्वस्तिम्) क्षेमलक्षणं सम्पदम् अस्मभ्यम् आभार हे (वज्रिन्) वज्रोवन्निन्द्र यया स्वस्त्या (दासानि) कर्महीनानि मनुष्यजातानि (आर्याणि) कर्मयुक्तानि अकरोः (नाहुषाणि) मनुष्य सम्बन्धीनि नहुष इति मनुष्यनाम (निघं० २।३) (वृत्रा) वृत्राणि शत्रून् (सुतुकाः) शोभनहिंसोपेतानि अकरोः।

(ऋग्वेदसायणाभाष्यम् तिलक वै० संस्थान भाग ३ पृ० ९१)

यहाँ जो बात विशेष उल्लेखनीय है वह यह कि श्री सायणाचार्य के अनुसार भी इन्द्र का कार्य उत्तम–कर्म विहीन मनुष्यों को श्रेष्ठ कर्मकारी आर्य बनाना है। इससे स्पष्ट है कि यह आर्य दस्यु का अन्तर कर्मों के कारण है, जाति के कारण नहीं।

वेदों के उपदेश पतितों को उन्नत करने, पापियों में भी धर्म भावना को जागृत करके नवजीवन का संचार करने और सारे विश्व को आर्य (श्रेष्ठ सदाचारी) बनाने का है। यह निम्नलिखित तीन मन्त्रों से स्पष्टतया सूचित होता है—

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥

(ऋ० १०।१३७।१)

इन्द्रं वर्धन्तो असुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अराव्णः॥

(ऋ० ९।६३।५)

अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्॥ दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम्॥

(साम० १०५)

१. (देवाः) हे सत्यनिष्ठ विद्वानो! (सत्य संहिता वै देवाः ऐत० १६ सत्यमया उदेवाः। कोषी० २।८ विद्वांसो हि देवाः शत० ३।७।३।१९) तुम (अवहितम्) नीचे गिरे हुए पतित मनुष्य को (उन्नयथ) ऊपर उठाते हो। हे देवो! (उत) और (आगः चक्रुषम्) अपराध वा पाप करनेवाले को भी उस पाप से मुक्त करके (पुनः जीवयथ) फिर उसमें नव जीवन का संचार करते हो। यह देवों (सत्यनिष्ठ ज्ञानियों) के स्वभाव का वर्णन है।

२. इन्द्र वर्धन्तो असुरः—यह मन्त्र इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आर्यों ने इसे अपने लिए आदर्श वाक्य बना लिया है। तुम (इंद्रं वर्धन्तः) ज्ञानैश्वर्य अथवा आत्मिक शक्ति को बढ़ाते हुए (असुरः) कर्मशील, पुरुषार्थी प्रमाद रहित होकर (अप इति कर्मनाम निघं० २।१ अप्सुत्वरन्त इति असुरः पुरुषार्थिनः कर्मशीलाः)। (आराव्णः अपघ्नन्तः) अदानाभाव, कृपणता आदि का नाश करते हुए (विश्वम् आर्यम् कृण्वन्तः) सारे संसार को आर्य, श्रेष्ठ, धर्मात्मा सदाचारी बनाते हुए जगत् में विचरण करो। इस वैदिक आदेश के अनुसार अनार्यों, दासों और दस्युओं को भी आर्य बनाने का प्रयत्न करना, आर्यों का

कर्त्तव्य है। इसीलिए विजानीह्यार्न् ये च दस्यवः की आर्याभिविनय में व्याख्या करते हुए आचार्य दयानन्द सरस्वती ने लिखा है कि वे (दस्यु, डाकू, चोर, विश्वासघाती, विषय-लम्पटादि दुष्ट मनुष्य) भी शिक्षायुक्त होके शिष्य हों अथवा आर्यों के आधीन होकर रहें। और जो इतने नीच हो चुके हों कि उनका सुधार ही सर्वथा असम्भव हो जाये, जो समाज और राष्ट्र के विघातक हों, उनका प्राणान्त हो जाये, जिससे समाज की उन्नति में बाधा न पड़े।

३. तृतीय मन्त्र में इस बात के अधिक स्पष्ट किया गया है कि जिस का अर्थ यह है कि हे (सत्पते) श्रेष्ठों के रक्षक (त्यम्) उस (वृजिनम्) पापी (स्तेनम्) चोर (दुराध्यम्) दुष्ट बुद्धिवाले (रिपुम्) इसलिए सज्जनों के शत्रु को (अपद-विष्ठम् अस्य) हम से बहुत दूर रख अथवा उस दुष्ट दुर्मार्गगामी को भी (सुगं कृधि) उत्तम मार्ग पर चलनेवाला बना दे।

इन आदेशों और प्रार्थनाओं के अनुसार आर्य लोग दस्युओं को भी आर्य बनाने का यत्न करते थे, किन्तु जो अत्यधिक दुष्ट, समाज विनाशक होते थे, उनका नाश करना वे समाज रक्षार्थ अपना कर्त्तव्य समझते थे। दुष्टों के नाश में वे अन्य किसी बात का विचार न करते थे। आर्यवेश होकर भी जो दुष्ट, कार्यों में प्रवृत्त होते थे, उनका भी नाश करना क्षत्रिय अपना कर्त्तव्य समझते थे यदि ब्राह्मण, ज्ञान प्रसाद द्वारा उनको सन्मार्ग में प्रवृत्त करने में असफल होते थे। यह निम्नलिखित मन्त्रों द्वारा स्पष्ट ज्ञात होता है—

ऋग्वेद ६।३३।३ में निम्न मन्त्र आता है—

त्वं ताँ इन्द्रोभयाँ अमित्रान्दासा वृत्राण्यार्या च शूर।
वधीर्वनेव सुधितेभिरत्कैरा पृत्सु दर्षि नृणां नृतम॥

(ऋ० ६।३३।३)

इसमें इन्द्र अथवा शूरवीर सेनापति सेनेन्द्रस्य पत्नी गोपथ उ० २।९ अतः सेनापतिः-इन्द्रः। को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि हे (नृणां नृतम्) नेता मनुष्यों में श्रेष्ठ, तुम (उभयान् अमित्रान्) दोनों प्रकार के शत्रुओं को (दासा वृत्राणि आर्या) स्वभाव से ही वृत्र दास-अच्छे कामों में बाधा डालनेवाले हो अथवा आर्य वंशज होकर भी जो आर्यत्व से गिर गये हों, और नीच कर्म में प्रवृत्त हो गये हों, उनको तुम नष्ट कर देते हो।

इससे किसी अन्य जाति विशेष के प्रति द्वेष का भाव सूचित नहीं होता किन्तु समाज रक्षार्थ सब दुष्टों के नाश का भाव ही द्योतित होता है।

ऋग्वेद ७।८३।१ में इन्द्रावरुणौ (राजा और उसके प्रधानमन्त्री, जो अत्यन्त वरणीय तथा प्रजा के कष्टों के निवारक हो) को सम्बोधन करते हुए कहा गया है—

युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः।
दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम्॥

(ऋ० ७।८३।१)

यहाँ वृत्र–दास अर्थात् स्वभाव से अच्छे कार्यों में बाधा डालनेवाले पुरुषों के नाश का जहाँ वर्णन है वहाँ आर्य वंशज होकर भी ऐसे बुरे कार्य करनेवालों के भी वध का स्पष्ट निर्देश है। दासा च वृत्रा हतम् आर्यापि च। जिससे न्याय पूर्ण समदृष्टि ही सूचित होती है, किसी द्वेषादि वा हिंसा का भाव नहीं।

ऋग्वेद १०।१०२।३ का निम्न मन्त्र भी इसी बात को स्पष्टतया प्रमाणित करता है—

अन्तर्यच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभिदासतः।
दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम्॥

(ऋ० १०।१०२।३)

हे (इन्द्र) शूरवीर सेनापते (अभीदासतः) हमें दास बनाने की इच्छा करनेवाले और हमारे यज्ञादि शुभ कर्मों में बाधा डालनेवाले का तुम नाश करो, चाहे वह (दासस्य वा आर्यस्य वा) स्वभावतः दास दस्यु दुष्ट हो और चाहे आर्य वंशज होकर दुष्टों की संगति से दुष्ट स्वभाववाला बन गया हो।

इस प्रकार भी दस्युओं के एक जाति विशेष होने का भाव वेदों द्वारा समर्थित नहीं होता। वेदों के अनुसार तो जिस प्रकार के दस्यु को मारने का विधान है, उसका लक्षण पहले—

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।

इस ऋग्वेद १०।२२।८ के मन्त्र को उद्धृत करके बताया जा चुका है। ऋग्वेद ८।७०।११ का निम्न मन्त्र भी उसी बात को बताता है—

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः॥

(ऋ० ८।७०।११)

यहाँ दस्यु के विशेषण (अन्यव्रतम्) सत्य अहिंसा परोपकार आदि से भिन्न असत्य, हिंसा, स्वार्थ साधनादि संकल्प रखनेवाला (अमानुषम्) मानवता की सहानुभूति, प्रेम, दया आदि भावनाओं से रहित (अयज्वानम्) यज्ञ की त्याग, परोपकारादि भावनाओं से शून्य (अदेवयुम्) दिव्यगुणों तथा सत्यनिष्ठ विद्वानों की कामना न करनेवाला, ये आये हैं। उसके विषय में मन्त्र कहा है कि (सखा) प्रजा का मित्र (पर्वतः) पालनकारक साधनों से सम्पन्न होकर (पर्वतः मेघवत्) शस्त्रवर्षी और पर्वत के समान अचल होकर (सुघ्नाय) अच्छी प्रकार दण्ड देने

के लिए ऐसे (दस्युम्) दुष्ट पुरुष को (स्वः) सुख से–सुगमता से (अवदुधुवीत) कम्पा कर गिरा दे।

ऋग्वेद ७।६।३ का निम्न मन्त्र भी ऐसे ही दुष्ट लोगों के लिए दस्यु शब्द का प्रयोग करते हुए, उनके अग्नि अर्थात् अग्रणी–ज्ञानी नेता द्वारा विनाश का वर्णन करता है—

न्यक्रतून्ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥

(ऋ० ७।६।३)

(पूर्व) सब से मुख्य (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष (अक्रतून्) सत्कर्म हीन (ग्रथिनः) कुटिलाचारी (मृध्रवाचः) दूसरों को पीड़ा देनेवाली असत्य अप्रियवाणी के बोलनेवाले (पणीन्) असत्य व्यवहारी और (अश्रद्धान्) सत्य वचन, कर्म आदि को न धारण करनेवाले, श्रद्धा रहित (अयज्ञान्) यज्ञ, सत्संग, दान, उपासनादि से रहित और (तान्) उन–उन नाना (अपरान्) अन्य (अयज्यून्) विद्वानों का सत्संग और सत्कार न करनेवाले लोगों को (प्रविवाय, निचकार) दूर करे और पराजित करे।

दृश्यन्ते मानवे लोके सर्व वर्णेषु दस्यवः।
लिंगान्तरे वर्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि॥

(म० भा० शान्ति पर्व अ० ६५।२३)

अतः दस्युओं, दासों अथवा प्राणियों को आर्यों से भिन्न जाति का अथवा भारत का मूल निवासी समझना और यह कहना कि वेद में उनके प्रति द्वेषभाव रखने का उपदेश है, सर्वथा अशुद्ध है। उनके लिए कुछ थोड़े से स्थानों पर यदि "असिवर्नी त्वचम्" जैसे शब्दों का प्रयोग हो भी तो प्रकरण देखने से स्पष्ट है कि वह आलंकारिक भाषा में है क्योंकि उसी मन्त्र में.........

ऋचाशेचन्तः सं दहन्तो अव्रतान्, त्वचमसिवनी भूमनो दिवस्परि॥

(ऋ० ७३।५)

अव्रतों को ही मेघ की उपमा से काला कहा गया है। ऐसे ही प्रयोग दूसरे ग्रन्थों और भाषाओं में भी पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ गाथा उस्तवैती में जरदुश्त ने जो कहा है उसका अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

"That I will ask Thee, tell it right thou living. God who is the religious man and who the impious, after whom I wish to inquire, With whom of the both is the black spirit and with whom the bright one? Is it not right to consider the impious man who attacks me and Thee, to be a black

one."

यहाँ दुष्ट दुराचारी पुरुषों को पहले तो Black Spirit अथवा काली आत्मावाले और फिर काले कह दिया गया है। ऐसे ही प्रयोग जिन्दा वस्ता के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों और भाषाओं में भी होते हैं अत: बहुत थोड़े से स्थानों पर ऐसे प्रयोग को देखकर यह न समझना चाहिए कि आर्य लोग श्वेत वर्ण के थे और दस्यु वा दास काले इसलिए आर्य उनसे घृणा करते थे। आर्यों और दस्युओं का यह भेद गुण, कर्म, स्वभाव पर आश्रित था न कि जाति भेद (Racial difference) पर। दस्यु भी अपने गुण, कर्म, स्वभाव में परिवर्तन करके आर्य बन सकते थे और आर्य वंशोत्पन्न यहाँ तक कि पुलस्त्य जैसे ब्रह्मर्षि के कुल में उत्पन्न होकर भी रावण के समान दुराचारी दस्यु वा राक्षस कहलाते थे। वास्तविक बात यह है कि ऐसे कोई जातीय युद्ध आर्यों और दस्युओं वा दासों के बीच हुए ही न थे। आर्य कहीं बाहर से आये ही न थे। किन्तु वे इसी देश के मूल निवासी थे। वे तिब्बत से यहीं आकर बस गये थे।

हम यहाँ जगद्विख्यात योगी श्री अरविन्दजी के वेदरहस्य प्रथम भाग (आचार्य अभय देवजी द्वारा अनूदित) के अन्धकार के पुत्र अ० २५ और दस्युओं पर विजय ३। २३ में से कुछ उद्धरण देना उचित समझते हैं जिनसे इस विवादास्पद विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है और आर्य वर्ग दस्युवर्ण आदि शब्दों का भी स्पष्टीकरण होता है। श्री अरविन्दजी ने अनेक वेद मन्त्रों की आध्यात्मिक हृदयंगम व्याख्या करते हुए लिखा—

एक बार नहीं बल्कि कई बार हम यह देख चुके हैं कि यह सम्भव ही नहीं है कि अंगिरसो, इन्द्र और सरमा की कहानी में हम पणियों की गुफा से उषा, सूर्य व गौओं की विजय करने का यह अर्थ लगावें कि यह आर्य आक्रान्ताओं तथा गुफा निवासी द्रविड़ियों के बीच होनेवाले राजनैतिक व सैनिक संघर्ष का वर्णन है। यह तो वह संघर्ष है जो प्रकाश के अन्वेष्टाओं और अन्धकार की शक्तियों के बीच में होता है।.......इसके अनुरूप ही पणियों को इस रूप में लेना चाहिए कि वे अन्धकार गुहा की शक्तियाँ हैं। दस्यु हैं पवित्र वाणी से घृणा करनेवाली ये वे हैं जो हवि को या सोम रस को देवों के लिए अर्पित नहीं करते, जो गोओं व घोड़ों की दौलत को तथा अन्य खजानों को अपने ही लिए रख लेते हैं और उन चीजों को द्रष्टाओं (ऋषियों) के लिए नहीं देते, ये वे हैं जो यज्ञ नहीं करते।

........इतना तो पूर्णतया निश्चित है कि ऋग्वेद में जिस युद्ध और विजय का वर्णन हुआ है, वह कोई भौतिक युद्ध और लूटमार का नहीं है। बल्कि एक आध्यात्मिक संघर्ष और आध्यात्मिक विजय हैं (वेदरहस्य भाग १ पृ० ३।८ । ३०८)

इन दस्युओं के सामान्य स्वरूप को बतानेवाले मूल सूत्र के तौर पर हम ऋग्वेद ५.१४.४ को ले सकते हैं।

अग्निर्जातो अरोचत घ्नन्दस्यूञ्ज्योतिषा तमः। अविन्दद् गा अपः स्वः॥

(ऋ० ५।१४।४)

अग्नि पैदा होकर चमकी, ज्योति से दस्युओं को, अन्धकार को हनन करता हुआ, उससे गौओं को, जलों को, स्वः को पा लिया।

...........क्योंकि सारी लड़ाई प्रकाश और अन्धकार के बीच सत्य और अनृत के बीच, दिव्य माया और अदिव्य माया के बीच है, इसलिए सभी दस्यु यहाँ एक समान अन्धकार से अभिन्न रूप मान लिए गये हैं और यह अग्नि पैदा होने और चमकने लगने पर होता है कि ज्योति उत्पन्न हो जाती है जिसके द्वारा वह दस्युओं का और अन्धकार का हनन करता है ऐतिहासिक व्याख्या से वहाँ बिल्कुल भी काम न चलेगा।

मेरी सम्मति से सत्य के प्रकाश का, आर्य ज्योति का चमकीलापन ही आर्य वर्ण है अर्थात् उन आर्यों का वर्ण जो ज्योतिरग्राः (ज्ञान ज्योति से प्रकाशित है) अज्ञान की रात्रि कालापन पणियों का रंग है। दास वर्ण, इस प्रकार प्रायः वर्ण का अर्थ होगा स्वभाव अथवा वे सब जो उस स्वभाववाले हैं क्योंकि रंग स्वभाव का द्योतक है और यह बात कि यह विचार प्राचीन आर्यों के अन्दर प्रचलित विचार था मुझे इससे इसकी पुष्टि होती प्रतीत होती है कि बाद के काल में भिन्न-भिन्न रंग सफेद, लाल, पीला और काला चार वर्णों में भेद करने के लिए व्यवहृत हुए हैं।

(वेदरहस्य भाग १ पृ० ३११)

इसलिए यह स्पष्ट है कि ये पणि दस्यु अनृत और अज्ञान की कुटिल शक्तियाँ हैं जो अपने मिथ्या ज्ञान को, अपने मिथ्या बल, संकल्प और कर्मों को देवी, आर्यों सच्चे ज्ञान, सच्चे बल, सच्चे संकल्प और कर्मों के विरोध में लगाती हैं। प्रकाश की विजय से अभिप्राय है इस मिथ्या ज्ञान वा दानवीय ज्ञान पर सत्य के दिव्य की विजय। (वेदरहस्य भाग १ पृ० ३१७)

योगी श्री अरविन्दजी के अपने शब्द "The Secret of the Vedas" शीर्षक की मूल लेखमाला में ये थे—

"The straight and the crooked are constantly synonymous in Veda with the truth and the falsehood. Therefore, it is clear that Pani Dasyus are crooked powers of the faleshood and ignorance, their false strength, will and work against the true knowledge, their time strength, will and work of the gods and the Aryans. The triumph of the light is the triumph of the divine knowledge of the truth against and darkness of this false or demoniac knowledge, that victory is the ascent of the Sun, the bird of the Days, the ad-

vent of the Dawn, the release of the herds of the shining Rays and their mounting to the world of Light".

(On the Vedas by Shri Autabindo P. 262)

श्री निवास आयंगार का लेख—

श्री पी० टी० एस० आयंगार एक सुप्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं जिन्होंने अपनी पुस्तक "Dravidian Studies" में आर्यों और दस्युओं के भेद को जातीय भेद न मानकर गुण, स्वभाव पर आश्रित भेद ही माना है। उन्होंने लिखा है—

"The Aryas and Dasyus or Dasas are referred to not indicating different races.........The words refer not to race but to cult. The Dasyus are without rites, fireless, non-sacrificers, without prayers, without Ricks, haters of prayers. Thus the difference between Aryas and Dasyus was not of race, but of cult"

(Dravidian Studies by P. T. S. Iyangar).

अर्थात् आर्यों और दस्युओं का जो वेदादि में निर्देश है वह पृथक्-पृथक् प्रजातियों के भेद को सूचित नहीं करता। किन्तु भिन्न क्रिया-कलाप और पूजा पद्धति आदि को सूचित करता है। दस्यु अयज्या (यज्ञ न करनेवाले) अकर्मा (श्रेष्ठ कर्म न करनेवाले) प्रार्थना न करनेवाले, वेद रहित (अब्रह्मा) प्रार्थना के द्वेषी (ब्रह्मष्टि) हैं। इस प्रकार इन आर्यों और दस्युओं का भेद प्रजातियों का नहीं अपितु सांस्कृतिक भेद है। दक्षिण भारत के एक सुशिक्षित विद्वान् का यह लेख अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

श्री रामचन्द्र दीक्षितार का मत—

मद्रास युनिवर्सिटी के श्री वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार नामक विद्वान् ने १९, ३० नव०, १९४० ई० में मद्रास विश्वविद्यालय में दो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये थे जो ऐडयार लायब्रेरी से सन् १९४७ में "Origin and spread of the Tamils" इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए हैं। इस विद्वान् ने अपने इन व्याख्यानों में आर्यों, दस्युओं वा द्राविड़ों के जातीय भेद का प्रबल खण्डन करते हुए कहा—

"The Fact is that the Dasyus were not non-Aryans. The theory that the Dasyu-Dravidians inhabited the Punjab and the Ganges Valley at the time of the so called Aryan invasion of India and overcome by the latter. they fled to South India and adopted it as their home, can not stand. To say that all India was a wild country once and that it was

civilised by the invading Dravidians first and by the invading Aryans next, can not carry conviction home."

(Origin and Spread of Tamils by V. R. Rama Chandra Dikshitar P. 14)

सच्चाई यह है कि दस्यु (जातीय भेद की दृष्टि से) अनार्य वा आर्येतर न थे। यह वाद कि दस्यु, द्राविड़ लोग पंजाब और गंगा की घाटी में रहते थे जब आर्यों ने भारत पर तथाकथित आक्रमण किया और आर्यों से पराजित होकर वे दक्षिण भारत में भाग गये और उसी को उन्होंने अपना घर बना लिया, ठहर नहीं सकता, प्रामाणिक नहीं है। यह कहना कि सारा भारत एक जंगली प्रदेश था और इसको पहले आक्रान्ता द्राविड़ों और फिर आक्रान्ता आर्यों ने सभ्य बनाया, यह भी विश्वसनीय नहीं।

आर्य जाति की तरह द्राविड़ जाति के बाद को भी हमें देखना चाहिए। यदि आर्य जाति का वाद कल्पित है तो द्राविड़ जाति का वाद उससे भी अधिक कल्पित है। द्राविड़ शब्द तमिल, मलयालम, कन्नड़ और तेलगू आदि दक्षिण भारतीय भाषा वर्ग के बोलनेवालों का नाम है।

कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों की साक्षियाँ—

पाश्चात्त्य विद्वानों में से जिन्होंने आर्य द्राविड़ दस्यु आदि के विषय में बहुत सा संग्रह किया और बहुत कुछ लिखा है, म्यूर महोदय का नाम सुप्रसिद्ध है। उन्होंने "Original Sanskrit Texts" Vol. II, P. 387 में स्पष्ट लिखा—

"I have gone over the names of Dasyus or Asuras mentioned in the Rigveda with the view of discovering whether any of them could be regarded as of non-Aryan or indigenous origin, but I have not observed that appear to be of this character". (Original Sanskrit Texts Vol. II, P. 387)

अर्थात् मैंने ऋग्वेद में आये हुए दस्युओं अथवा असुरों के नाम पर इस दृष्टि से विचार किया था कि क्या उनमें से किसी को अनार्यों या मूल निवासियों की उत्पत्ति का समझा जा सकता है। किन्तु मुझ को इस प्रकार को कोई नाम नहीं मिला।

प्रो० मैक्समूलर की सम्मति—

"Dasyu simply means enemy, for instance, when Indra is praised because he destroyed the Dasyu and protected the Aryan colour."

अर्थात् दस्यु का अर्थ केवल शत्रु है जैसे कि उस वाक्य में है जहाँ इन्द्र की इसलिए प्रशंसा की गयी है कि उसने दस्यु का नाश कर आर्य वर्ण की रक्षा की। एक अन्य स्थान पर यातुधान और राक्षस के विषय में प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है—

"They (The epithets) are too general to allow us the inference of any ethnological conclusion."

अर्थात् उक्त दोनों शब्द (राक्षस और यातुधान) बहुत साधारण हैं और उनसे कोई मनुष्य जातीय भेद सम्बन्धी परिणाम नहीं निकाल सकता।

आर्य जाति वा Aryan Race का वाद भी अधिकतर प्रो० मैक्समूलर का चलाया हुआ है किन्तु अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में सन् १८८८ ई० में उन्होंने लिखा—

"I have declared and again that if I say Aryan, I means neither blood nor bones, nor hair nor skull, I mean simply those who speak an Aryan Language..........To me an ethnologist who speaks of Aryan Race, Aryan blood, Aryan eye and hair, is as great a sinner as a linguist who speaks of a dolichocephalic dictonary of a blachycephialic Grammer".

(Biographies of words and the Home of the Aryans, London 1888 P. 120)

इन वाक्यों द्वारा प्रो० मैक्समूलर ने आर्य जाति की पृथक् जाति के रूप में सत्ता का खण्डन किया और कहा जो ऐसा कहता है वह एक पाप करता है। आर्यों से उन्होंने अपना तात्पर्य आर्य भाषाओं के बोलनेवालों से बताया। उन्होंने कहा मैंने बार-बार यह घोषणा की है कि यदि मैं आर्य कहता हूँ, तो किसी विशेष प्रकार के रुधिर, हड्डियों, बालों, खोपड़ीवालों से मेरा तात्पर्य नहीं होता, किन्तु मेरा मतलब केवल आर्य भाषा बोलनेवालों से होता है।

प्रो० रौथ का अभिप्राय—

सुप्रसिद्ध संस्कृत जर्मन कोष के निर्माता प्रो० रौथ ने लिखा—

"It is but seldom, if at all, that the explanation of Dasyu as referring to the non-Aryans, the barbarians is advisable."

(P. 285)

अर्थात् यदि ऐसे स्थल हैं तो वे बहुत ही कम होंगे, जहाँ दस्यु का अर्थ आर्येतर वा बर्बर किया जा सके।

नैसफील्ड की सम्मति—

नैसफील्ड नामक विद्वान् ने "Brief Review of the caste system of the North West Provinces and Oudh" नाम की अपनी पुस्तक में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

"There is no division of the people as the Aryan conqueress of India and the aboriginees of the country. That division is modern and that there is essential unity of the Indian races. The great majority of the Brahmins are not of lighter complexion or of finer or better red features than any other caste or distionct in race and blood from the scavangers who swept the roads."

(Brief veiw of the Caste System of the North-West Provinces and Oudh by Nesfield (P. 27)

अर्थात् भारतीयों में आर्य विजेता और मूल निवासी ऐसा कोई विभाग नहीं है। ये विभाग बिल्कुल आधुनिक है। यहाँ तो समस्त भारतीय जातियों में एकता है। ब्राह्मणों की बहुसंख्या रंग रूप में अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक अच्छी अथवा सुन्दर हो या सड़कों पर झाड़ू देनेवाले मेहतरों से प्रजाति और रुधिर की दृष्टि से सर्वथा भिन्न हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक सुप्रसिद्ध पौर्वात्य और पाश्चात्त्य विद्वानों के ग्रन्थों से उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनसे आर्यों और दस्युओं में जातीय भेद का खण्डन होता है, किन्तु निबन्ध विस्तार के भय से इतना ही पर्याप्त है।

वेदों में जन्म सिद्ध जाति भेद का सर्वथा अभाव—

उन बातों को जो विश्व प्रेम और मानव मात्र की एकता की भावना के सर्वथा विरुद्ध कही जा सकती है, उनमें जन्म सिद्ध जाति भेद ही प्रथम है। हमने पहले जिस वेदानुकूल वर्णव्यवस्था का सप्रमाण प्रतिपादन किया है, वह जन्म सिद्ध जाति भेद की प्रथा से सर्वथा भिन्न है क्योंकि उसका आधार गुण, कर्म, स्वभाव पर है न कि जन्म पर। इस बात को हम स्पष्ट कर चुके हैं। वेदों का तो स्पष्ट सिद्धान्त है—

अ॒ज्ये॒ष्ठासो॑ अक॑निष्ठास ए॒ते सं भ्रात॑रो वावृधुः सौभ॑गाय।
युवा॑ पि॒ता स्वपा॑ रु॒द्र ए॑षां सु॒दुघा॒ पृश्निः॑ सु॒दिना॑ म॒रुद्भ्यः॑॥

(ऋ० ५।६०।५)

मनुष्यों के जाति, रंग, देश आदि के कारण, कोई बड़ा–छोटा नहीं। ये सब भाई हैं और इस भ्रातृभाव को धारण करने से ही इनकी सौभाग्य के लिए वृद्धि वा

उन्नति होती है। इन सब मनुष्यों का उत्तम कर्म करनेवाला दुष्टों को रुलानेवाला, सदा युवा, सर्वशक्तिशाली भगवान, पिता और उत्तम दूध देनेवाली गौ के समान भूमि, सब की समान माता है। हम इस तथा ऐसे अन्य अनेक मन्त्रों को अर्थ सहित उद्धृत कर चुके हैं।

यजु० २६।१५ में स्पष्ट कहा है कि—

धिया विप्रोऽअजायत॥ (यजु० २६।१५)

अर्थात् उत्तम बुद्धि और कर्मों के कारण ही मनुष्य विप्र ब्राह्मण बनता है। धीरिति कर्म नाम (निघं० २।१) धीरिति प्रज्ञा नाम (निघं० ३।९) इसी आधार पर हमने भी बुद्धि और कर्म दोनों का ग्रहण किया है। वेदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब को प्रेम से देखने का उपदेश है। केवल हम वेदानुयायी ही ऐसी बात कहते हैं, यह बात नहीं है। अनेक पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी इस बात को बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर, जिन्हें अपने समय में सबसे बड़े प्राच्य विद्या विशारद माना जाता है, अपने प्रख्यात ग्रन्थ "Chips from a German Workshop" लिखा है—

"If then, with all the documents before us we ask the question; Does caste as we find it at the present day, form the part of the most ancient religious teaching of the Vedas, we can answer with a decided no."

(Chips form a German Workshop by Prof. Max Muller, Vol. II, P. 807)

अर्थात् यदि हम से यह प्रश्न किया जाय कि क्या आज जाति भेद, जिस रूप में विद्यमान है, वह प्राचीनतम वेदों की धार्मिक शिक्षा का भाग था, तो हम निश्चयात्मक रूप से उत्तर दे सकते हैं कि "नहीं".......प्रो० बीबर ने "The History of Indian Literature" नामक अपनी पुस्तक में इसी बात को इन शब्दों में कहा है—

There are no castes as yet (in the Vedic age).

The people are still one, united, whole and bear but one name that of vishas.

(Indian Literature by Weber P. 38)

अर्थात् वैदिक युग में कोई जातियाँ नहीं। सब लोग परस्पर मिले हुए हैं और उनके लिए एक नाम विश: वा प्रजाओं का प्रयोग होता है।

कर्नल आल्काट ने भी इसी बात को इन शब्दों में प्रकट किया—

"The people were not as now, irrevocably walled in

by castes, but they were free to rise the highest social dignities or sink to the lowest position according to the inherent qualities they might possess".

अर्थात् वैदिक युग में अब की तरह लोग अलोप्य रूप में जातियों से बँधे हुए नहीं थे, किन्तु वे अपने आन्तरिक गुणों के अनुसार उच्चतम सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने अथवा उनके अभाव में हीनतम स्थिति में गिरने को स्वतन्त्र थे।

वेदों में अस्पृश्यता का विधान नहीं—

जन्म सिद्ध जाति भेद का ही परिणाम अस्पृश्यता है। जब वेदोक्त गुण, कर्म, स्वभावानुसारिणी वर्णव्यवस्था का रूप स्वार्थ और अज्ञानवश विकृत होकर जन्म सिद्ध जाति भेद के रूप में परिणत हो गया तो हजारों जातियाँ उप जातियाँ बन गयीं और लाखों लोगों को अस्पृश्य वा अछूत भी माना जाने लगा। वेदों में जब जन्म सिद्ध जाति भेद का ही कहीं विधान ही नहीं बल्कि यह प्रथा वेद की शिक्षाओं के सर्वथा विरुद्ध है, तो उनमें अस्पृश्यता का प्रतिपादन हो ही कैसे सकता है? विश्वप्रेम और मानव मात्र की एकता का अस्पृश्यता के साथ समन्वय सर्वथा असम्भव है। यजुर्वेद अ० ४० में मन्त्र आता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥

(यजु० ४०।६)

यजुर्वेदीय काण्व संहिता में अन्तिम चरण का पाठ—

ततो न विजिगुप्सते॥ (यजुर्वेदीय कण्व संहिता)

यह है! क्योंकि शाखाओं में उपलभ्यमान पाठ मूल मन्त्र संहिताओं की व्याख्या रूप है। अतः विचिकित्सति का अर्थ विजिगुप्सते इसी रूप में लेना उचित है। इस अवस्था में मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है कि—(यः तु सर्वाणि भूतानि) जो तो सब प्राणियों को (आत्मन् एव अनुपश्यति) आत्मा-परमेश्वर में ही उसके ही आधार पर स्थित देखता है। (सर्वभूतेषु च आत्मानम् अनुपश्यति) और सब प्राणियों में उस विश्वात्मा-परमेश्वर को व्यापक देखता है (ततः) उसके पश्चात् अथवा इस कारण से यह (विचिकित्सति न) प्राणियों में एक परमेश्वर को व्यापक और उसके आधार पर सब प्राणियों को स्थित मानने और ऐसा अनुभव करनेवाला व्यक्ति कभी किसी से घृणा नहीं कर सकता। यदि विचिकित्सति का साधारणतया प्रचलित सन्देह करने का अर्थ करे, तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। ऐसे ज्ञानी को परमेश्वर की सर्वव्यापकता में कोई सन्देह नहीं होने पाता। वह सब प्राणियों में निःसन्देह रूप से परमेश्वर की सत्ता को अनुभव करनेवाला सब से प्रेम करने लग जाता है। वेदों में सर्वत्र चार ही वर्णों का प्रतिपादन है। इसीलिए

मनुस्मृति और महाभारतादि में वेदानुसार यह घोषणा की गयी है कि—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णाद्विजातयः।
चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः॥

(मनु० १०।४)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन द्विज और चतुर्थ शूद्र नामक ये चार ही वर्ण हैं। पञ्चम कोई नहीं। यही बात महाभारत अनुशासन पर्व ४७। १८ में कही गई है—

स्मृतास्तु वर्णश्चत्वारः पंचमी नाधिगम्यते॥

(म० भा० अनु० पृ० ४७।१९)

अर्थात् चार ही वर्ण वेदादि सत्य शास्त्रों में बताये गये हैं। पञ्चम वर्ण कोई नहीं।

ऐसी अवस्था में करोड़ों व्यक्तियों को पञ्चम अथवा अस्पृश्य समझना किस प्रकार वेदशास्त्रानुकूल हो सकता है।

वेदों में जिस पञ्चम जनशब्द का प्रयोग कई स्थानों पर पाया जाता है उसका अर्थ निरुक्त ३।८ में औपमन्यव आचार्य के अनुसार इस प्रकार बताया गया है—

पंचजनाः चत्वारो वर्णा निषादः पंचम इत्यौपमन्यवः॥

(निरुक्ते ३।८)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण और निषाद। निषाद की निरुक्ति ३।२।५ में इस प्रकार बताई गयी है।

निषण्यमस्मिन् पापकमिति॥ (निरुक्ते३।२।५)

जिसके अन्दर पाप मानो जमा हुआ हो, ऐसे पापी पुरुष को निषाद के नाम से कहा जा सकता है, चाहे उसका जन्म किसी भी कुल में हुआ हो। वेद में पञ्चजनों का मिलकर भगवान की स्तुति और अग्निहोत्रादि यज्ञ करने का विधान है। उदाहरणार्थ निरुक्त में ही ऋग्वेद १०।५३।४ का निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत किया गया है—

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्॥

(ऋ० १०।५३।४)

इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि जिस श्रेष्ठ वाणी के द्वारा देव (विद्वान्) सत्यनिष्ठ लोग असुरों (असुर वा राक्षसीय भावों वा व्यक्तियों) पर विजय प्राप्त करते हैं, उसी वाणी के द्वारा उत्तम अन्य, रस का सेवन करते और (यज्ञियासः) पवित्र बनते हुए (पंचजनाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद, सब मनुष्यों, तुम परमेश्वर की स्तुति और अग्निहोत्र का (जुषध्वम्) प्रेमपूर्वक सेवन करो। निघण्टु

२।३ में पञ्चजना इति मनुष्यनाम (निघं० २।३), ऐसा स्पष्ट ही लिखा है अतः पञ्चजनों से सब मनुष्यों का ग्रहण करना सर्वथा उचित है। इस प्रकार जब सब के सब मनुष्यों को मिलकर परमेश्वर की स्तुति और अग्निहोत्र करने का वेदों में विधान है, तब अस्पृश्यता का समर्थन उनमें हो ही कैसे सकता है ? ऋग्वेद १०।५३।५ में भी इसी प्रकार का आदेश है—

पञ्च जना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासः॥

(गोजाताः) पृथिवी पर उत्पन्न सामान्य और जो (यज्ञियासः) यज्ञ के योग्य तथा पवित्र (पंचजनाः) मनुष्य है, वे सब (मम होत्रं जुषन्ताम्) मेरी स्तुति और अग्निहोत्रादि को (जुषन्ताम्) प्रेमपूर्वक सेवन करें।

(गौरिति पृथिवी नाम निघं० १।१)

इस प्रकार सब गो जातों अर्थात् पृथिवी पर उत्पन्न मनुष्यों (पंचजनाः) को सब परमेश्वर की स्तुति और अग्निहोत्र का अधिकार वेदों में दिया गया है। अब अस्पृश्यता जैसी संकुचित भावना का स्थान ही कहाँ हो सकता है।

जना यदग्निमयजन्त पञ्च॥ (यजु० १२।२३)

इत्यादि मन्त्रों में भी सब पञ्चजनों अर्थात् मनुष्यों के विषय में कहा है कि वे अग्नि यज्ञ मिलकर करते हैं। इस तरह यज्ञ जिसका एक अर्थ संगति करण है, सब को मिलानेवाली वस्तु है, जातियों, उपजातियों और अस्पृश्यतादि के द्वारा विभक्त करनेवाली नहीं।

अतः यह स्पष्ट है कि वेदों में न जन्म सिद्ध जाति भेद का प्रतिपादन वा समर्थन है और न अस्पृश्यता का। सार्वभौम विश्वप्रेम और मानवमात्र बल्कि प्राणिमात्र की एकता का प्रतिपादन करनेवाले उपदेश हैं। इनकी उदात्त शिक्षाओं पर आचरण करने से ही मनुष्यमात्र का कल्याण हो सकता है।

इस अध्याय में प्रजातिवाद (Racialism) पर विचार इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि प्रजातियों (Races) में मनुष्य जाति का कल्पित वर्गीकरण विश्वप्रेम और मानवजाति की एकता में बड़ा बाधक सिद्ध हुआ है। यह Race वा प्रजाति शब्द जिसका कई ऐतिहासिकों तथा कुछ लेखकों द्वारा अपने ग्रन्थों में प्रयोग किया जाता है, सर्वथा अस्पष्ट है। इसका कोई भी स्पष्ट लक्षण आज तक नहीं किया जा सका है। इसे कितने भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है, यह किसी भी अच्छे शब्दकोश वा डिक्शनरी को देखने से ज्ञात हो सकता है। उदाहरणार्थ The Concise Oxford Dictionary नामक सुप्रसिद्ध कोष में इसके निम्नलिखित अनेक अर्थ पाये जाते हैं—

Race-Group of persons or animals or plants connected by common descent posterity of (person) house, family,

tribe or nation regarded as of common stock, distinct ethnical stock (The concasian, mongolian etc) genus or species or breed or variety of animals or plants, any great division of living creatures (the human, feathered) four footed, finny etc) descent, kindred (of noble, oriental etc separate in language) class of persons etc. with some common feature (the race of poets, dandies etc).

इसमें Race के परस्पर सर्वथा भिन्न अर्थों का निर्देश किया गया है। न केवल मनुष्यों, अपितु पशुओं और वनस्पतियों में भी अनेक भेदों को Race के नाम से कहा जाता है। प्रो० जुलियन हक्सले (Julian Huxley) नामक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने "Race in Europe" नामक अपनी पुस्तक में रेस के विषय में बहुत अच्छा विवेचन किया है। राजनीतिज्ञों के विषय में, जो ब्रिटिश रेस, जर्मन रेस, ऐंग्लो सेक्सन रेस, ज्यूइश रेस जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जुलियन हक्सले ने कहा है कि—

Our statesmen, who should know better, often speak of the **British race,** the **German race,** the Anglo-sexon race, the Jewish race etc. **Such phrases are devoid of any scientific significance.** The speakers should usually substitute some such word as "People" or group, for the word "race" if they desire to convey any meaning, ("Race in Europe" by Julian Huxley-Oxford Pamphlets on World Affairs P. 11).

प्रो० जुलिनय हक्सले ने ठीक ही कहा है कि सब वर्गों और जातियों के लोगों में हजारों लाखों वर्षों से इतना रुधिर मिश्रण होता रहा है कि रक्त की शुद्धि और अपनी तथाकथित प्रजाति की श्रेष्ठता का दावा सर्वथा असत्य और कपोलकल्पित है। वह लिखते हैं—

"How can there be an" Anglo-sexon race", a German race, a French race and still less a Latin race or an Aryan race. Historically all the great modern nations are well-known to be conglomerations and amalgamations of many tribes and of many waves of immigration throughout the long periods of time that make up their History.

("Race in Europe" P. 14)

"The existence of anything that can be called a "race", under such conditions is a mere fantacy". (P. 15)

इसके अधिक विस्तार में न जाते हुए यहाँ केवल इतना निर्देश पर्याप्त है कि इस प्रजातिवाद (Racialism) के कारण भी घोर अनर्थ हुआ है। जर्मनी के अधिनायक हिटलर ने आर्य जाति की एक अशुद्ध कल्पना करके किस प्रकार लाखों यहूदियों पर अत्याचार किये और आइन्स्टीन, जैसे बड़े वैज्ञानिकों को भी यहूदी होने के कारण जर्मनी छोड़कर अमरीका में शरण लेनी पड़ी। अंग्रेज शासकों ने भी अपने को उच्च ऐंग्लो सेक्सन रेस का मानकर किसी समय यह दावा किया था कि वे भगवान् के चुने हुए लोग (Chosen people) हैं जबकि एशिया के लोग जिनमें भारतवासी भी सम्मिलित थे, शासन करने के अयोग्य हैं। यहूदी भी अपने को ईश्वर की चुनी हुई जाति के लोग समझते थे। इस प्रकार प्रजातिवाद (Racialism) ने एक संकीर्ण भावना को उत्पन्न किया है तथा अपने क्षेत्र के बाहर के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखना सिखाया है। अतः इसके विरुद्ध प्रबल आन्दोलन की आवश्यकता है। प्रो० जुलियन हक्सले जैसे वैज्ञानिकों ने उदाहरण देकर इस प्रजातिवाद की अवैज्ञानिकता और निस्सारता को सिद्ध कर दिखाया है। किन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। हक्सले ने अपने Race विषयक निबन्ध का उपसंहार इन शब्दों में किया है—

"Racialism is a myth and a dangerous myth. It is a **cloak for selfish economic aims** which, in their uncloaked nakedness, would look ugly enough. And it is **not scientifically grounded.** The essence of science is the appeal to fact and all the facts are against the existence in modern Europe of anything in the nature of separate human races". (P. 32)

रेशियलिज्म (प्रजातिवाद) एक कल्पित तथा सर्वथा कल्पितवाद है। यह सर्वथामय उन आर्थिक उद्देश्यों के लिए एक बहाना वा आवरण है जो अपनी अनावृत नग्नता में पर्याप्त भद्दे मालूम होंगे। इसका कोई वैज्ञानिक आधार भी नहीं है। विज्ञान तथ्यों पर आधारित होता है। और सारे तथ्य यूरोप में पृथक् मानव प्रजातियों वा Races की सत्ता के विरोधी हैं।

रंग भेद विश्व प्रेम और मानव मात्र की एकता में बाधक—

इस प्रसंग में यह बात भी उल्लेख करने योग्य है कि गोरे और काले रंगवालों में भेद और काले रंगवालों से घृणा जो द० अफ्रीका यूरोप और अमरीका के बहुत से भागों में प्रचलित रही है, विश्व प्रेम में बाधक है। सुप्रसिद्ध Encyclopedia

of Religion and Ethics edited by Histings. में जो Race पर लेख प्रकाशित है, उसमें से निम्न शब्द इस विषय में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है—

"The Colour barrier presented itself to the European as insurmountable. Instead of classifying mankind into Christians and pagans transmutable into one another by conversion, he now clasified them as the white race and the black race divided from one another by external objective characteristics, which no act or will on either side could surmount".

(Encyclopedia of Religion and Ethics on Race P. 551)

अर्थात् रंग की रोक ने यूरोप वासियों के सम्मुख अपारणीय रूप में अपने को प्रस्तुत किया। मनुष्य मात्र का ईसाई और विधर्मी व गैर ईसाई के रूप में जिनको मतान्तर के द्वारा एक दूसरे में परिणत किया जा सकता है विभक्त करने के स्थान में उन्होंने श्वेत और काली जाति के लोगों के रूप में वर्गीकरण किया जिनको बाह्य वस्तुगत विशेषताओं से विभक्त किया जा सकता है और जिनको कोई भी क्रिया या इच्छा पार नहीं कर सकती।

इस प्रामाणिक विश्वकोष के आधार पर लेख लिखते हुए श्री एस० ई० स्टोक्स ने Failure of European Civilisation (योरुपीय सभ्यता की विफलता) नामक अपने ग्रन्थ में लिखा—

"One fact that clearly emerges is that this modern civilisation stands for a definite cleavage of the human race upon a permanent basis for the setting up of a colour bar. In other words, it stands for the erection of an impassable social barrier between the white world and the world of colour".

(Failure of European Civilisation as a World culture by S.E. Stokes P. 17-18)

अर्थात् एक सच्चाई, जो स्पष्टतया इससे प्रकट होती है, वह यह है कि आधुनिक सभ्यता मनुष्य जाति को रंगभेद के आधार पर निश्चयात्मक और स्थायी रूप में विभाजन के लिए खड़ी है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि यह श्वेत जगत् और अश्वेत जगत् अथवा गोरे और काले रंगवालों के बीच एक ऐसी सामाजिक रोक को लगाने के पक्ष में है जिसको पार नहीं किया जा सकता।

ऐसी सभ्यता को विश्वप्रेम और मानव मात्र की एकता में सहायक मानना

असम्भव है यह जो परिणाम श्री स्टोक्स ने निम्न शब्दों में इसी पुस्तक में प्रकट किया, उससे किसी भी विचारशील व्यक्ति को आपत्ति नहीं हो सकती। उन्होंने अपनी उपरिनिर्दिष्ट पुस्तक के पृ० ५३ पर लिखा—

"A civilisation which is worthy of the cooperation of all the world, must be built up with reference to the interests and needs of all mankind. European civilisation, on the contrary, is deeply committed to the principle of race segregation upon a basis which enormously favours the interests of the white races".

(Failure of European Civilisation P. 53)

अर्थात् एक सभ्यता, जो इस योग्य है कि उसे सारे जगत् का सहयोग प्राप्त हो सके, सारी मनुष्य जाति के हितों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखने पर आश्रित होनी चाहिए। इसके विपरीत, यूरोपीय सभ्यता जाति पार्थक्य के ऐसे सिद्धान्त की ओर गम्भीरता से झुकी हुई है, जो श्वेत जातियों के स्वार्थों का बहुत अधिक पक्षपात करती है।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि वर्तमान पाश्चात्य सभ्यता कि जो गोरी और काली जातियों में जगत् का विभाग करने के पक्ष में है, और जो केवल गोरी जातियों के ही स्वार्थ का ख्याल करते हुए अन्य जातियों को पैरों तले कुचलने तक में संकोच नहीं करती, जगत् में शान्ति स्थापित करने में बिल्कुल असमर्थ है।

यह प्रसन्नता की बात है कि अब यूरोप, अमरीका तथा अन्य पाश्चात्य देशों के कई उदार हृदय नर-नारियों ने भी इस रंगभेद के विरुद्ध आन्दोलन करते हुए ऐसे कानून बनवाने का प्रशंसनीय यत्न किया है जिनमें काले रंगवाले नीग्रो आदि को सब सार्वजनिक स्थानों विद्यालयों, महाविद्यालयों, भोजनालयों, स्नानागारों आदि में जाने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। जुलाई २, १९६४ को अमरीका के राष्ट्रपति जान्सन ने उस नागरिक अधिकार विधेयक (Civil Rights Bill) पर हस्ताक्षर किये थे जिसके अनुसार नीग्रो लोगों को अमरीका की सभी ५० रियासतों में कानून की दृष्टि में गौरांग नागरिकों के समान अधिकार प्राप्त हो गये हैं। राष्ट्रपति जान्सन ने इस अवसर पर कहा कि यह हमारे लिए एक अत्यन्त गौरवपूर्ण क्षण (Proud Moment) है जब अमरीका ने मानव अधिकारों में अपने विश्वास को पूर्ण रूप से प्रकट किया और समानता के अधिकारों की रक्षा का दृढ़ निश्चय प्रकट किया है।

अब समय है कि अमरीकन सरकार दृढ़ता से काम ले और इस कानून को पूर्ण क्रियात्मक रूप दे। जहाँ कहीं इसका उल्लंघन हो उसके अपराधियों को

उचित कठोर दण्ड दे तथा उसके पक्ष में सब प्रकार का प्रचार किया जाए जिससे इस प्रकार के विरोध (जो ईश्वरीय आदेश के सर्वथा विरुद्ध, अन्याययुक्त और संकीर्ण हृदयता का सूचक है) दूर हों।

दक्षिण अफ्रीका की सरकार चिरकाल से इस रंगभेद की नीति पर चल रही है। जिसके लिए विश्ववंद्य महात्मा गाँधीजी और उनके अनुयायियों ने सन् १९०८ में सत्याग्रह किया और कुछ अंश तक सफलता भी प्राप्त की थी किन्तु अब वहाँ की सरकार सब रंगवालों के विरुद्ध चाहे वे भारतीय हों अथवा अफ्रीकन कठोर नियम बना रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ में दक्षिण अफ्रीका सरकार की इस नीति के विरुद्ध कई बार प्रस्ताव पारित हो चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा यह निर्देश दे चुकी है कि दक्षिण अफ्रीका की जातीय भेद की निरन्तर नीति के प्रतिवाद में आर्थिक और राजनीतिक बहिष्कार किया जाये किन्तु दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया बल्कि वह इस निन्दनीय पार्थक्य नीति (Apart heid) को और अधिक कठोर बना रही है।

अध्याय-१३

आन्तरिक व बाह्य आक्रमण का प्रतिरोध

पिछले अध्याय में हमने विश्वप्रेम और मानव मात्र की एकता के विषय में वेद की उदात्त सार्वभौम शिक्षाओं को प्रस्तुत करते हुए उन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है। इस अध्याय में हम इस बात का विवेचन करना चाहते हैं कि विश्वप्रेम की भावना रखते और उसके अनुसार आचरण का पूर्ण प्रयत्न करते हुए भी जब समाज और राष्ट्र पर दुष्ट अन्यायी लोगों की ओर से आक्रमण हों, तो उसका प्रतिरोध किया जाय, या नहीं; यदि किया जाए तो किस रूप में ? यदि सत्याग्रह वा अहिंसात्मक प्रतिरोध सफल वा सम्भव न हो तो हिंसात्मक साधनों का अवलम्बन करना चाहिए वा नहीं ? क्या ऐसे साधनों का अवलम्बन पाप जनक तो न होगा ? वेद इस प्रकार की क्रियात्मक समस्या का क्या समाधान प्रस्तुत करते हैं और वह समाधान वर्तमान अवस्थाओं में कहाँ तक सन्तोषजनक है।

ब्राह्मण और संन्यास धर्म में पूर्ण अहिंसा

इस विषय में पहली बात जिसका हम निर्देश करना चाहते हैं वह यह है कि वेदों में जिस वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रतिपादन है, उसके अनुसार ब्राह्मणों और संन्यासियों के लिये पूर्ण अहिंसा का विधान है।

ब्राह्मणों और संन्यासियों के लिए वेद में कहा है कि वे—

तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्॥ (ऋ० ३।३०।१)

मनुष्यों द्वारा की हुई हिंसा अथवा गाली-गलौच, निन्दादि को भी सहन करते और उसका बदला नहीं निकालते। ऋग्वेद १।५३।४ में ऐसे ब्राह्मणों और संन्यासियों के मुख से कहलाया गया है—

युतद्वेषसः समिषा रभेमहि॥ (ऋ० १।५३।४)

अर्थात् हम सर्वथा द्वेष रहित होकर (इषा सम् आरभेमहि) ज्ञान पूर्वक कर्मों की अच्छी प्रकार मिलकर आरम्भ करें। (इष-गतौ गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च अत्र ज्ञानार्थग्रहणाम्) ऋ० ८।४५।३ और सामवेद १३४० में ऐसे सार्वभौम अहिंसा व्रत का पालन करते और परमेश्वर के सच्चे भक्त ब्राह्मणों और संन्यासियों के विषय में कहा है कि—

अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः। येषामिन्द्रो युवा सखा॥
(ऋ० ८।४५।३; सा० १३४०)

अर्थात् (येषां युवा इन्द्रः सखा) जिनका नित्य युवा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर मित्र होता है—जो उस सर्वशक्तिमान् भगवान् को अपना सहायक मानकर कार्य करते और अपनी आत्मिक शक्ति को पूर्णतया विकसित करते हैं, ऐसे (अयुद्ध शूरः इत्) युद्ध वा हिंसात्मक प्रतिरोध न करते हुए भी वीर (युधावृतम्) युद्ध साधनों से सम्पन्न दुष्ट वर्ग को (सत्वभिः) अपनी आत्मिक दिव्य शक्तियों से (आ अजति) दूर फेंक देते हैं (अज–गतिक्षेपणयोः) इस मन्त्र में परमेश्वर के सच्चे भक्त, आत्मिक शक्ति को पूर्णतया विकसित करनेवाले ब्राह्मणों और संन्यासियों के अपनी आत्मिक शक्तिरूप शस्त्रों द्वारा विना युद्ध के भी दुष्ट शक्तिशाली शत्रुओं को पराजित करने का वर्णन है। महात्मा गाँधीजी तथा उनके अनुयायियों ने अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा प्रबल ब्रिटिश शक्ति का कैसे प्रतिरोध करके अन्त में सन् १९४७ में स्वराज्य के प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली, यह उदाहरण हमारे सम्मुख है। उन्होंने जो कार्य बिना युद्ध करके दिखाया, वह उनकी अद्भुत आत्मिक शक्ति और ईश्वर विश्वास का परिणाम था। इसमें सन्देह नहीं।

इस प्रकार जहाँ वेदों में ब्राह्मणों और संन्यासियों तथा अन्य अत्यन्त उच्च जीवन व्यतीत करनेवालों के लिए पूर्ण अहिंसा धर्म के पालन करने का उपदेश और उसकी महिमा बतलाई गयी है। वहाँ इस तथ्य को बार–बार स्पष्ट किया गया है कि इस प्रकार के अहिंसात्मक प्रतिरोध और सत्याग्रह से सर्वत्र काम नहीं चल सकता। कई ऐसे समाज घातक और मदोन्मत्त दुष्ट अत्याचारी लोग होते हैं जो ऐसे अहिंसात्मक प्रतिरोध की परवाह नहीं करते बल्कि इसको निर्बलता समझकर और भी अन्याय तथा अत्याचार करने पर उतारू हो जाते हैं। अतः ऐसे लोगों का प्रतिरोध करना आवश्यक है, चाहे वह अहिंसात्मक हो और चाहे हिंसात्मक (अस्त्र–शस्त्रों के प्रयोग द्वारा)–यदि वह समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए अनिवार्य हो जावे।

इसलिए वेदों में मरुतों अथवा समाज और देश की रक्षा के लिए मरने–मारने के लिए उद्यत वीरों को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि—

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥

(ऋ० १। ३९। २)

हे वीर क्षत्रियो! (वः आयुधा) तुम्हारे अस्त्र–शस्त्र (पराणुदे) तुम्हारे शत्रुओं के पराजय के लिए, जिससे तुम्हारे कोई दुष्ट शत्रु लोग तुम्हें दुःख न दे सकें (उत प्रतिकर्म) और शत्रुओं के वेग को थामने के लिए (स्थिराः सन्तु उत वीळू सन्तु) स्थिर और दृढ़ प्रभावशाली हों। (युष्माकं तविषी पनीयसी अस्तु) तुम्हारी सेना

अपने बल के कारण सारे संसार में प्रशंसित हो जिससे तुमसे लड़ने का शत्रु का कोई संकल्प भी न हो (मा मर्त्यस्य मायिनः) जो दुष्ट बुद्धि युक्त छली-कपटी-अन्यायी हो, उसका बल और राज्यैश्वर्यादि कभी न बढ़े, अपितु उसकी सदा पराजय हो।

इस तरह वेदों में अपनी क्षात्र सेना को अत्यन्त अधिक शक्ति सम्पन्न और ऐसी अक्षत वा मजबूत बनाने का उपदेश है, जिससे किसी को उपद्रव, अन्याय और आक्रमण करने का साहस ही न हो।

ऋग्वेद ३।३०।१७ में इन्द्र-शूरवीर सेनापति को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि—

उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि।
आ कीवतः सललूकं चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य॥

(ऋ० ३।३०।१७)

हे (इन्द्र) शत्रु हनन समर्थ शूरवीर सेनापते, (उद्वृह) तू स्वयं उन्नत होकर बढ़ (रक्षः सहमूलम् वृश्च) राक्षस, विघ्नकारी, दुष्ट पुरुष को मूल सहित काट डाल, उसके (मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि) बीच के और आगे बढ़े हुए अगले भाग को भी नष्ट कर। (आकीवतः) कितनी भी दूरी पर विद्यमान् (सललूकम्) अत्यन्त लोभी वा पापी पुरुष को (सललूकं संलुब्धं भवति पापकमिति नैरुक्ताः-यास्काचार्यकृते निरुक्ते अ० ३।१) (चकर्थ) मार और (ब्रह्म द्विषे) ज्ञान और ज्ञानी पुरुषों से द्वेष करनेवाले दुष्ट के लिए (तपुषिं हेतिम् अस्य) तापदायी, ज्वलनशील, आग्नेय अस्त्र को फेंक।

इस मन्त्र में क्षात्र धर्म का उपदेश बड़ी स्पष्टतया से दिया गया है कि जो लोग राक्षस हों-समाज और राष्ट्र की उन्नति में बाधक, स्वार्थपरायण और घातक वृत्तिवाले हों, जो सललूक अर्थात् अत्यन्त लोभी-लोभवश अन्यों की हिंसा करनेवाले और पापी हों, तथा ज्ञान और ज्ञान सम्पन्न सज्जनों के साथ भी द्वेष करनेवाले हों, उन पर दया न दिखानी चाहिए। किन्तु समाज और राष्ट्र की रक्षा को अपना कर्त्तव्य समझते हुए, उनका समूल नाश करने के लिए तापदायी ज्वलनशील आग्नेयमय शस्त्र आदि का उन पर प्रहार करना चाहिए।

अथर्ववेद १।७।४ में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण आदेश है कि पहले ब्राह्मण को अपनी आत्मिक शक्ति के प्रयोग द्वारा यातुधानों अर्थात् हिंसक राक्षसों को अपनी बुराई से छुड़ाने और सन्मार्ग पर लाने का यत्न करना चाहिए। जब उसमें उसको पूर्ण यत्न करने पर भी सफलता प्राप्त न हो, तब क्षत्रिय को अपनी सारी शारीरिक शक्ति का प्रयोग करना चाहिए जिससे दुष्ट अपनी दुष्टता का परित्याग करके अधीन होकर रहे। वह मन्त्र यह है—

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्।
ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य॥

(अथर्व० १।७।४)

(अग्निः) ज्ञानी अग्रणी ब्राह्मण (पूर्व आरभताम्) पहले अपने दुष्टों के सुधार कार्य को प्रारम्भ करे, जब उसे पूर्ण सफलता न हो तभी (बाहुमान् इन्द्रः प्रनुदतु) बाहुबल सम्पन्न क्षत्रिय विशेष को प्रेरणा करे जिससे (सर्वः यातुमान्) सब हिंसक दुष्ट वर्ग (एत्य) आकर (ब्रवीतु) बोलें (अयम् अहम्अस्मि) यह मैं हूँ। यहाँ अग्नि से ज्ञानी नेता धर्मोपदेश का और इन्द्र से शत्रु नाशक क्षत्रिय का ग्रहण है। इसके स्पष्ट निर्देश इस सारे सूक्त (१।७) में विद्यमान हैं। अग्नि के लिए निम्नलिखित विशेषणों का इस सूक्त में प्रयोग हुआ है—

१. जातवेदा–जातानि वेद अथवा ज्ञात वेदः सब पदार्थों के स्वरूप को और वेद को ठीक–ठीक जाननेवाला।

२. परमेष्ठी–परमे पदे स्थाता–परम पद में ठहरनेवाला अर्थात् समाधि की अन्तिम अवस्था को जो प्राप्त है। जिसने आत्मानुभव प्राप्त किया और जो तुर्या–चतुर्थ अवस्था का अनुभव रखनेवाला है।

३. तनूवशी–अपने शरीर और इन्द्रियों को वश में रखनेवाला–इन्द्रिय संयमी (आसन प्राणायामादि के अभ्यास से जिसने काम सिद्धि और शरीर पर सम्पूर्ण संयम प्राप्त किया है)।

४. नृचक्षाः–स्पष्ट शब्दों द्वारा मनुष्यों को धर्म का उपदेश देनेवाला और उनकी ठीक अवस्था को देखनेवाला (चक्षिङ्–व्यक्तायां वाचि अयं धातुर्दर्शन–कर्मा च)।

५. दूतः–धर्म का सन्देशवाहक।

ये विशेषण ज्ञानी, योगी, संयमी, धर्मोपदेशक पर ही घट सकते हैं। इन्द्र से इस सूक्त में क्षत्रिय का ग्रहण है। इसके लिए मन्त्रों में स्पष्ट अनेक निर्देश हैं। इन्द्र शब्द की एक निरुक्ति यास्काचार्य ने "इन्+द्रः" यह बताई है जिसका अर्थ शत्रुनाशक है। उसका विशेषण चतुर्थ मन्त्र में बाहुमान् दिया है, जिसका अर्थ विशेषण बाहुबल सम्पन्न–पराक्रमी है।

उसी के लिए सप्तम मन्त्र में कहा है कि (इन्द्र वज्रेण शीर्षाणि वृश्चतु) इन्द्र, पराक्रमी क्षत्रिय दुष्ट हिंसकों के, जो ज्ञानी योगी ब्राह्मण के बार–बार समझाने और पूर्ण प्रयत्न करने पर भी अपनी हिंसक वृत्ति तथा बुराइयों का परित्याग न करें, समाज–राष्ट्र रक्षार्थ वज्र से सिर काट दे। इस प्रकार अग्नि और इन्द्र अर्थात् ज्ञानी ब्राह्मण नेता और पराक्रमी क्षत्रिय के परस्पर सहयोग का सूक्त में उत्तम उपदेश है। पहले हम यह दिखाना चाहते हैं कि ज्ञानी योगी धर्मोपदेशक ब्राह्मण को अपनी

आत्मिक शक्ति का प्रयोग करते हुए, कैसे कार्य करना चाहिए। इस दृष्टि से इस सूक्त के प्रथम छः मन्त्र मननीय हैं।

प्रथम मन्त्र में कहा है—

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम्।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ॥

(अ० १।७।१)

हे (अग्ने) ज्ञानी ब्राह्मणनेतः! (स्तवानम्) स्तुति करनेवाले (यातुधानम्) घातक शत्रुओं को (आवह) यहाँ ले आ (हि) क्योंकि हे देव, निश्चय से (वन्दितः त्वम्) नमन को प्राप्त हुआ तू (दस्योः) डाकू इत्यादि दुष्टों का (हन्ता) नाश करनेवाला, उनकी दुष्टता का विनाशक (बभूविथ) होता है।

मन्त्रों का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी, योगी, धर्मोपदेशक ऐसे दुष्ट डाकू आदियों में धर्मोपदेश के लिए जायें, उनको सत्यमार्ग का उपदेश करें। चोरी, हिंसा आदि पाप कर्म हैं। यह उनको समझावें, उनको इन दुष्ट कर्मों से उपदेश द्वारा निवृत्त करें। जब वे ठीक प्रकार से जान जायेंगे कि चोरी, डाका, हिंसा आदि कार्य बुरे हैं और मानवों की रक्षा करनेवाला सच्चा धर्म ही है और वह सच्चा धर्म इस ज्ञानी से प्राप्त हो सकता है, तब वे इसके पास श्रद्धा भक्ति से जायेंगे, इसकी प्रशंसा करेंगे और इसके सामने सिर झुकायेंगे। जब उनमें इतनी श्रद्धा भक्ति बढ़ेगी, तो उनके डाकूपन का नाश या हनन स्वयं ही हो जायेगा। इसलिए मन्त्र में कहा है कि धर्मोपदेशक ज्ञानी ब्राह्मण नेता दुष्ट मनुष्यों को अपने उपदेश द्वारा अपने प्रशंसक और अनुयायी बनाकर अपने समाज में ले आयें और उनसे नमस्कार प्राप्त करके उनके दस्युत्व का हन्ता—विनाशक बने। जब दुष्ट मनुष्य धार्मिक बन जाता है, उस समय वह पहले धर्मोपदेशक के सामने अपना सिर झुकाता है और सिर झुकाने पर दुष्ट मनुष्य के रूप से मरकर धार्मिक नव जीवन प्राप्त करने के द्वारा वह मानो नया ही मनुष्य बन जाता है। यदि एक डाकू धर्मोपदेश सुनकर धार्मिक मनुष्य बन गया तो उसका सामाजिक दृष्टि से सत्य अर्थ यही है कि एक डाकू मर गया और सच्चा धार्मिक मनुष्य नया पैदा हुआ।

इस सूक्त के तृतीय मन्त्र में उपदेश है—

वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम्॥

(अथर्व० १।७।३)

(ये) जो (यातुधानाः) दुष्ट (अत्रिणः) भटकनेवाले और (किमीदिनः) घातक हैं, वे (विलपन्तु) विलाप करें और (अथ) अब हे (अग्ने) ज्ञानी धर्मोपदेशक (इदं हविः) यह हविदान, तू (इन्द्रः च) और इन्द्र—पराक्रमी क्षत्रिय राजा (प्रतिहर्यतम्)

स्वीकार करो। तात्पर्य यह है कि सच्चे ज्ञानी धर्मोपदेशक के धर्मोपदेश को सुनकर दुष्ट लोगों को अपने दुराचार का पश्चात्ताप होवे और वे रो पड़ें तथा जनता ऐसे धर्मोपदेशकों को, और उनके सहायक क्षत्रियों को भी यथाशक्ति दान देती रहे। **जनता द्वारा धनादि की सहायता से ही धर्मोपदेश का कार्य चलता रहे।**

चतुर्थ मन्त्र—अग्निः पूर्व आरभतां प्रेन्द्रोनुदतुबाहुमान् का अर्थ हम संक्षेप से पहले बता ही चुके हैं। उसका तात्पर्य स्पष्ट है कि धर्मोपदेशक देश–देशान्तर में, जहाँ–जहाँ वे पहुँच सकें, वहाँ निर्भय होकर धर्म–प्रचार का कार्य जोर–शोर से करते रहें। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी वे न डरते हुए अपने कर्त्तव्य के पालन में तत्पर रहें। पीछे से क्षत्रिय उनकी उचित सहायता दुष्ट सुधारार्थ राजकीय अनुदानादि द्वारा करके, क्षात्रबल के जोर पर धर्म–प्रचार का कार्य चलावें, यह ठीक नहीं। इसलिए वेद का कथन है कि धर्मोपदेशक ब्राह्म, क्षात्रबल के भरोसे से अपने धर्म का प्रचार का कार्य न करें; प्रत्युत धर्म–प्रचार का परिणाम यह हो कि सब दुष्ट दुराचारी मनुष्य अपना आचरण सुधार लें और खुले दिल से उपदेशकों के पास आकर कहें कि अब हम आपकी शरण में आ गये हैं। यह धर्म–प्रचार का साध्य है। धर्म–प्रचार से दुराचारी डाकू, चोर आदि भी सुधर जायें और अच्छे धार्मिक बनें। वे अपने पूर्व दुराचार के लिए पश्चात्ताप करें तथा जब पूर्व दुराचार का स्मरण करें, तो उस समय उनको रोना आ जाये। क्षत्रिय के बल की अपेक्षा न करते हुए, केवल ब्राह्मण ही अपनी धार्मिक और आत्मिक दिव्यशक्ति से यह कार्य करें। पीछे से क्षत्रिय उनको आवश्यक सहायता दें।

इस सूक्त का पञ्चम मन्त्र निम्नलिखित है—

पश्या॑म ते वी॒र्यं᳡ जातवेद॒: प्र णो॑ ब्रूहि यातु॒धाना॑न्नृचक्षः।
त्वया॒ सर्वे॒ परि॑तप्ताः पु॒रस्ता॒त्त आ य॑न्तु प्रब्रु॒वा॒णा उपे॒दम्॥

(अथर्व० १। ७। ५)

इसका अर्थ यह है कि (जातवेदः) ज्ञानी ब्राह्मण, (ते वीर्यं पश्याम) हम तेरे पराक्रम को देखें हे (नृचक्षः) मनुष्यों के मार्गदर्शन (यातुधानान्) दुष्टों को (नः) हमारा आदेश (प्रब्रूहि) विशेष रूप से कह दे। (त्वया) तुझ से (पुरस्तात्) पहले (परितप्ताः) तपे हुए (ते सर्वे) वे सब (इदं ब्रुवाणाः) यह कहते हुए (उप आयन्तु) हमारे पास आ जायें। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त प्रकार का सच्चा धर्मोपदेशक जिस समय धर्मोपदेश के लिए चलने लगता है, उस समय लोग उसे कहते हैं कि हे धर्मोपदेशक हम देखेंगे कि तुम अपने परिशुद्ध सदुपदेश से कितने लोगों के हृदय में परिवर्तन उत्पन्न कर देते हो और कितनों को सत्य धर्म की दीक्षा देते हो। इसी से तुम्हारे पराक्रम और तुम्हारी आत्मिक शक्ति का हमें पता लग जाएगा। तुम जाओ, हम तुम्हारा वन्दन करते हैं। सत्य धर्म का सन्देश जनता तक पहुँचाओ,

तुम्हारे उपदेश की ज्ञानाग्नि से तपे हुए और पश्चात्ताप को प्राप्त हुए लोग हमारे पास आएँ और कहें कि हमने अब धर्मामृत का पान किया है और हम सब आपके बन गये हैं। तप्त, सन्तप्त, परितप्त ये शब्द पश्चात्ताप के सूचक हैं। अग्नि तपकर सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुओं को शुद्ध करता है। इसी प्रकार यहाँ का अग्नि, जो ज्ञानी धर्मोपदेशक है, वह अपनी ज्ञानाग्नि में सब दुष्टों को तपाता है और अच्छी प्रकार उनके मलों को दूर करता है। शुद्धि की यही विधि है।

इस सूक्त का षष्ठ मन्त्र इस प्रकार है—

आ रंभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान्वि लापय॥

(अथर्व० १।७।६)

हे (जातवेदः) ज्ञानी पुरुष (आरभस्व) अपने धर्मोपदेश और सुधार कार्य को आरम्भ करो (अस्माकार्थाय जज्ञिषेः) तुम हमारे प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए उत्पन्न हुए हो। हे (अग्ने) ज्ञानी ब्राह्मण (त्वम्) तुम (नः दूतः भूत्वा) हमारे धर्म सन्देश पहुँचानेवाले दूत बनकर (यातुधानान् विलापय) दुष्टों को पश्चात्ताप से हिला दो।

धर्म-प्रचार के लिए बाहर जानेवाले उपदेशक को लोग कहते हैं कि अब तुम अपना धर्म-प्रचार कार्य शुरू कर दो। निर्भय होकर देश-देशान्तरों में धर्म सत्य का प्रचार करो। यही हमारा प्रिय कार्य है और इसी कार्य के लिए तुम्हें आगे भेजा जाता है अथवा आगे रखा जाता है। हमारा धार्मिक सन्देश जगत् में फैलाना है, इस सन्देश को स्थान-स्थान में फैला दो और इस समय तक जो लोग अधार्मिक वृत्ति से रहते हैं, उनको अपने सदुपदेश द्वारा शुद्ध करो तथा उनको अपने पूर्व दुराचार का पूर्ण हार्दिक पश्चात्ताप होने दो। उनके दिलों को ऐसे बदल दो जिससे वे अपने पूर्वाचरण का स्मरण करके रोने लगें। इस प्रकार जगत् का सुधार करने के लिए धर्मोपदेशकों को भेजा जाता है जो अग्नि के समान दुष्टों के पाप मल को नष्ट कर देते हैं। इस वेदोपदेश के उदाहरण के रूप में एक सत्य घटना का उल्लेख अनुचित न होगा। जिला रोहतक (पंजाब) [अब हरियाणा] में मुगला नामक एक प्रसिद्ध डाकू था जिसकी गिरफ्तारी के लिए सरकार की ओर से इनाम घोषित किया हुआ था। एक बार अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् उपदेशक पं० गणपतिजी शर्मा (जिनकी दार्शनिक योग्यता के कारण लोग उन्हें कणाद मुनि के नाम से भी पुकारते थे) आर्यसमाज रोहतक के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुए उत्सव में उनका व्याख्यान हो रहा था जिसका विषय था कर्मफल। मान्य पण्डितजी ने प्रबल युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया कि मनुष्य जैसे कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है। जो जैसा बोएगा, वैसा ही काटेगा—

अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

अर्थात् किये हुए कर्मों का फल अवश्य मिलेगा। चाहे वे भले हों वा बुरे। जो करता है वही भोगता है। दूसरा उसके स्थान पर नहीं भोग सकता। यदि मैं रोटी खाऊँ तो मेरी ही भूख निवृत्त होगी, मेरे भाई की नहीं। यदि मैं डाका डालकर या चोरी करके धन लाता हूँ और उससे सारा परिवार पलता है, तो डाका अथवा चोरी का फल तो मुझे ही भुगतना पड़ेगा, न कि घरवालों को क्योंकि घरवाले मुझे यह तो नहीं कहते कि मैं चोरी या डाका मारकर रुपया–पैसा कमाऊँ। हाँ, यदि वे ऐसा कहते, तो कुछ अंश में वे भी फल के भागी हो सकते थे, अन्यथा नहीं।

मुगला डाकू भी पुलिस की दृष्टि से बचता–बचाता इस भीड़ में, जो उस अवसर पर एकत्रित थी, सम्मिलित होकर व्याख्यान सुनने लगा। जब उसने सुयोग्य उपदेशक महानुभाव के प्रभावशाली उपदेश तथा सहज से समझ में आनेवाली प्रबल युक्तियों को सुना, तो उसका समस्त शरीर काँप उठा। उसने सोचा कि क्या मुझ अकेले को ही सारे अशुभ कर्मों का फल भुगतना पड़ेगा, यह तो बड़े दु:ख की बात है। उत्सव समाप्त होने पर उसने लोगों से पूछा कि व्याख्यानदाता कौन था, लोगों ने बतलाया कि ये प्रसिद्ध विद्वान् व्याख्याता पं० श्री गणपतिजी शर्मा हैं। डाकू मुगला पूछता हुआ उनके स्थान पर पहुँचा और उसने हाथ जोड़कर उनसे प्रश्न किया—महाराज, जब खाने में सब घरवाले सम्मिलित होते हैं, तो कर्म फल भोगने में वे क्यों न होंगे? पं० गणपतिजी ने उसे बड़ी नर्मी और प्रेम से समझाया कि वेद और सत्य शास्त्र यही शिक्षा देते हैं कि जो करता है और जैसा करता है, वही और वैसा ही भोगता है। मुगला डाकू पर पण्डितजी के इस हृदयग्राही सदुपदेश का इतना प्रभाव पड़ा कि उसने उसी क्षण से चोरी और डाके जैसे निन्दनीय कार्यों के त्याग का दृढ़ निश्चय कर लिया और बेधड़क स्वयं थाने में चला गया तथा थानेदार से कहने लगा कि आइये, मुझे हथकड़ी लगाइये। मैं मुगला ही हूँ किन्तु वह मुगला नहीं जिसके पकड़ने के लिए सरकार की ओर से विज्ञापन निकाले गये हैं। किन्तु मैं अन्य ही मुगला बन चुका हूँ। ऐसे अन्य सैकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आत्मानुभवी विद्वान् धर्मोपदेशकों के अनुभव सिद्ध भाषणों का दुष्ट से दुष्ट लोगों पर भी कैसा आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ जाता है। सत्य के इस अद्भुत प्रभाव के विषय में वेदों में ठीक कहा है—

ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥

(ऋ० ४।२३।८)

ऋत—सत्य का शब्द ऐसा तेजस्वी और जागृत करनेवाला होता है कि बधिर कर्णों में भी–जो दूसरी तरह के शब्दों को सुनने को भी तैयार न हों—जाकर

अपना प्रभाव उत्पन्न कर देता है। अग्नि–ज्ञानी धर्मोपदेशक नेता को प्रथम मन्त्र में जो दस्योर्हन्ता बभूविथ कहा है, वह इसी अर्थ में है। जो दुष्टगण धर्मोपदेश सुनने पर भी नहीं सुधरें और अपना दुराचार जारी रखें, और जनता को चोरी–डकैती आदि से अत्यन्त कष्ट देते ही रहते हैं, उनको उचित दण्ड देना ब्राह्मण का कार्य नहीं, वह कार्य क्षत्रिय का है। यह बात इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में कही है—

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु॥

(अथर्व० १।७।७)

(अग्ने) हे ज्ञानी अग्नि समान तेजस्वी धर्मोपदेशक, तुम्हारे पूर्ण प्रयत्न करने पर भी जो दुष्ट डाकू आदि अपना दुराचार नहीं छोड़ते, उन (यातुधानान्) दुष्ट हिंसकों को (उपबद्धान्) बाँधते हुए अर्थात् बाँधकर (इह आ वह) यहाँ ले आओ (अथ) इसके पश्चात् (इन्द्रः) शत्रु नाशक पराक्रमी क्षत्रिय (वज्रेणापि) अपने वज्र से भी (एषां शीर्षाणि वृश्चतु) इनके सिर काट डाले।

तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठ धर्मोपदेशक ज्ञानी ब्राह्मण अपना धर्मोपदेश करने का प्रयत्न करे और दुष्टों को पवित्र धार्मिक बनाने का प्रयत्न करे। जो सदाचारी बनेंगे, वे श्रेष्ठ नागरिक समाज में सम्मिलित हो जायेंगे, परन्तु जो बार–बार प्रयत्न करने पर भी अपना दुष्ट आचार जारी रखेंगे उनको दण्ड देना आवश्यक ही है, क्योंकि सब शासन व्यवस्था समाज की रक्षा और शान्ति के लिए ही है। परन्तु दुष्टों को भी सुधरने का पूरा अवसर देना चाहिए। जब बारम्बार प्रयत्न करने पर भी वे सुधरेंगे नहीं तो क्षत्रिय राज्याधिकारी आगे बढ़ें और अपना कठोर दण्ड आगे करें। क्षत्रिय उन अत्याचारी दुष्टों को बाँधकर यदि वे अत्यन्त नीच हों, जिनके सुधरने की कोई आशा न हो, तो उनके सिर को काट दें। इससे अन्यों को भी यह उपदेश मिल सकता है कि हम भी धार्मिक बनने से ही बच सकते हैं, नहीं तो हमारी भी यही अवस्था होगी।

ब्राह्मणों और क्षत्रियों के प्रयत्नों का परिणाम

इस सूक्त में ब्राह्मण के प्रयत्न के लिए ६ मन्त्र हैं। और एक ही मन्त्र में क्षत्रियों के कठोर दण्ड को आगे करना सूचित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि कम से कम छह गुणा प्रयत्न ब्राह्मण अपने सदुपदेश से करें। इतना प्रयत्न करने पर भी यदि वे दुष्ट न सुधरें, छह बार अवसर देने पर भी जो अपनी दुष्टता ना छोड़ें, उन पर ही क्षत्रिय का वज्र प्रहार होने योग्य है क्योंकि जिनको जन्म से ही दुष्टता करने का अभ्यास होगा वे एक बार के उपदेश से पलट जायेंगे अथवा सुधरेंगे यह आशा नहीं की जा सकती। इसलिए भिन्न–भिन्न उपायों से उनको अधिक अवसर देने चाहिए। इतना करने पर भी जो नहीं सुधरते, उनको या तो

बन्धन में डालना चाहिए और या अन्तिम साधन के रूप में समाज रक्षार्थ उनका शिरछेदन कर देना चाहिए। ब्राह्मण भी हनन करता है और क्षत्रिय भी, किन्तु दोनों के हनन के प्रकार में बड़ा अन्तर है। पहले ६ मन्त्रों में ब्राह्मण की रीति बताई है और सप्तम मन्त्र में क्षत्रिय की पद्धति बता दी है। क्षत्रिय की रीति यही है कि तलवार लेकर दुष्ट का गला काट देना अथवा इतना गम्भीर अपराध न हो तो दुष्टों को कारागार में बाँधकर रखना। ब्राह्मण की रीति इससे भिन्न है। ब्राह्मण उपदेश करता है, उपदेश द्वारा श्रोताओं के हृदय को परिवर्तित कर देता है। उनको अपना अनुगामी बना देता है और उनकी दुष्टता का नाश करता है। दोनों का उद्देश्य दुष्टों की संख्या कम करने का ही होता है। किन्तु ब्राह्मण दुष्टों को सुधारने का प्रयत्न करता है, उनका हृदय शुद्ध बनाता और दुष्टों की संख्या को घटाता है और क्षत्रिय ऐसे समाज व राष्ट्र विघातक दुष्टों की हत्या करके दुष्टों की संख्या घटाता है। इसलिए ब्राह्मण के प्रयत्न सबसे श्रेष्ठ और क्षत्रिय के दूसरे दर्जे के हैं। दुष्टनाश के लिए दोनों प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। अतः वेदों के अनुसार ब्राह्मणों और क्षत्रियों का परस्पर सहयोग समाज तथा राष्ट्र रक्षा के लिए अनिवार्य है। यजुर्वेद २०। २५ में कहा है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥

(यजु० २०।२५)

(यत्र) जहाँ (ब्रह्म च क्षत्रं च) ब्रह्म, ब्राह्मणगण और वेदज्ञान तथा क्षात्रबल, शौर्य–वीर्य और क्षत्रियगण दोनों (सम्यंचौ) अच्छी प्रकार से पुष्ट और प्रगतिशील तथा पूजित होकर–अंचु–गतिपूजनयोः। (सह) एक साथ, मिलकर (चरतः) विचरण करते हैं, विद्यमान रहते हैं मैं (तं लोकम्) उस दर्शनीय जन समाज अथवा देश को (पुण्यं प्रज्ञेषम्) पुण्य, निष्पाप, पवित्र और उत्कृष्ट जानता हूँ। (यत्र) जहाँ (देवाः) विद्वान् और विजयशील सैनिक (दिवु–क्रीडा विजिगीषा व्यवहार द्युतिस्तुति मोद मद स्वप्न कान्तिगतिषु) (अग्निना) तेजस्वी अग्रणी नेता एवं नायक सेनापति के साथ निवास करते हैं।

(ब्रह्म वै ब्राह्मणः–शत० १३।१।५।३; तै० ३।९। १४।२;
क्षत्रं राजन्यः–ऐत० ८।६; शत० ५।१।५।३)

इस प्रकार ब्रह्म शक्ति–ज्ञानादि और क्षात्र शक्ति–बल पराक्रम तथा तत्सम्पन्न ब्राह्मणवर्ग और क्षत्रियवर्ग का जहाँ पूर्ण सहयोग होता है, वहीं समाज और राष्ट्र निष्पाप, पुण्य और पवित्र बनता है। यह इस मन्त्र में बड़ी उत्तमता से बताया गया है। यजुर्वेद ३२। १६ में भी इस बात को प्रार्थना के रूप में कहा गया है।

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्॥ (यजु० ३२।१६)

प्रत्येक राष्ट्रवासी यह प्रार्थना परमेश्वर से करे कि (इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं) ये मेरा ब्राह्मणवर्ग और क्षत्रियवर्ग तथा ज्ञान और बल-पराक्रम (उभे श्रियम् अश्नुताम्) दोनों परस्पर अनुकूल होकर उत्तम शोभा को प्राप्त हों और हम सब राष्ट्रवासी सर्वोत्तम विद्यादि लक्षण युक्त महाराज्य श्री को प्राप्त हों।

जहाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों का वेदों के अनुसार परस्पर सहयोग नहीं रहता और क्षत्रिय शक्ति मदोन्मत्त होकर ब्राह्मणों का परित्याग कर देते हैं, वहाँ जो अवस्था होती है उसका वर्णन महाभारत पर्व राजधर्म अ० ७३ में इन शब्दों में किया गया है।

नैषामर्थो वर्धते जातु गेहे नाधीयते तत्प्रजा नो यजन्ते।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति, ये ब्राह्मणान् क्षत्रियाः सत्यजन्ति ॥

जो क्षत्रिय ब्राह्मणों का परित्याग कर देते वा सच्चे ब्राह्मणों की आज्ञा का पालन नहीं करते, उनके घर में ऐश्वर्य की वृद्धि नहीं होती, उनकी प्रजाओं के अन्दर उत्तम शिक्षा और यज्ञ इत्यादि धार्मिक कृत्यों का प्रचार नहीं होता, इस तरह वे दस्यु रूप हो जाते हैं।

दुष्ट दमन क्षत्रियों का परम कर्त्तव्य

ऋग्वेद १।८।३ में कहा है—

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि। जयेम सं युधि स्पृधः ॥

(ऋ० १।८।३)

स्कन्द स्वामी ने इसका अर्थ इन शब्दों में किया है—

हे (इन्द्र) त्वोतासः त्वषाषालिख वयं त्वद्गस्ताद् वज्रं, घना घनं सुवीरं हन्तृ वा शत्रूणाम् (आदिदीमहि) गृह्णीयाम गृहीत्वा जयेम सं-सम्यग जयेम (युधि) युद्धे कान् (स्पृधः) स्पर्धितृन् अथवा स्पृध इति ग्रामनाम तं करोति-स्पृधयतिण्यन्तात् विवस्पृधः-संग्राम कारिण इत्यर्थः।

अर्थात् हे परमेश्वर तुझसे पालित होकर हम शत्रु नाशक शस्त्र को ग्रहण करें और युद्ध में स्पर्धा करनेवाले अथवा संग्रामकारी शत्रुओं को अच्छी तरह से जीतें।

इसी सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में पुनः कहा है—

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः ॥

(ऋ० १।८।४)

इस मन्त्र को वेंकटमाधव कृत सरल अर्थ इस प्रकार है—

वयं समरे यातुधानां क्षेसृभिः त्वया च सहायेनाभि भवेम संग्रामं कर्तुमिच्छतः। पुनर्वयमिति पूरणम्। अर्थात् हम अस्त्र-शस्त्रों को फेंकनेवाले शूरवीरों और हे इन्द्र! तेरी सहायता से संग्राम करने की इच्छा करनेवाले लोगों को पराजित कर दें।

दोनों मन्त्रों में यह स्पष्ट है कि युद्ध अन्तिम साधन के रूप में ही किया जाता है और वह भी तब जब कि दुष्ट संग्राम की इच्छा करनेवाले अर्थात् लोभादिवश हमारे ऊपर आक्रमण करनेवाले हों। ऐसे लोगों के अन्याय और अत्याचार का विरोध करना तथा इस प्रकार दुष्ट दमन करना क्षत्रियों का धर्म है जिसमें फिर कोई संकोच न करना चाहिए।

इस विषय में कुछ और मन्त्रों को देखिए—

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँ रभिभूत्योजाः॥

(ऋ० ३।३४।६)

(अस्य इन्द्रस्य) इस सेनापति के (मही) पृथिवी पर (महानि पुरूणि सुकृता) महान् बड़े भारी पुण्य कर्मों की लोग (पनयन्ति) प्रशंसा करते हैं कि (वृजनेन) अपने बल से वह (वृजिनान् संपिपेष) पापियों को अच्छी तरह से पीस डालता है। (आभिभूत्योज) शत्रुओं को पराजित करनेवाले बल से सम्पन्न होकर वह (दस्यून्) दुष्ट लोगों को (मायाभिः) उत्तम बुद्धियों या चतुरताओं से पीस डालता है— सर्वथा नष्ट कर देता है।

ऋग्वेद १।१३२।१ में कहा है—

त्वया वयं मघवन्पूर्व्ये धन इन्द्र त्वोताः सासह्याम पृतन्यतो वनुयाम वनुष्यतः।

(ऋ० १।१३२।१)

हे (मघवन्) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर! (वयम्) हम लोग (त्वया) तेरी सहायता से और (त्वा उताः) तेरे से रक्षित होते हुए (पृतन्यतः) अपनी बहुत-सी सेना वृद्धि करके युद्ध करने के इच्छुक शत्रुओं को (पूर्व्ये धने) मान्य पूर्वज पुरुषों द्वारा सम्पादित धनैश्वर्य की रक्षा के लिए (सासह्याम) पराजित करें और (वनुष्यतः) हम पर प्रहार करने के इच्छुक शत्रुओं पर (वनुयाम) हम प्रहार करें।

(वनुष्यतिः कुध्यति कर्मा-निघं० २।१२ वनु-हिंसार्थः)

जो बात इस तथा अन्य अनेक मन्त्रों में देखने योग्य है वह यह कि जिनके साथ क्षत्रियों को देश तथा उसकी सम्पत्ति की रक्षार्थ युद्ध करना अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए उनके लिये पृतन्यतः अथवा वनुष्यतः-इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग है अर्थात् जो सेना लेकर आक्रमण करना चाहते हैं, जो हम पर प्रहार करते हैं, जो हमारी हिंसा करते हैं।

ऐसे शत्रुओं का भी, जो हम पर आक्रमण करते और हमारी हिंसा करते हैं डटकर मुकाबला न करना, वैदिक आदेश के विरुद्ध है। वेदों में बताया गया है कि ऐसे आक्रमणकारी दुष्टों का बड़ी वीरता से मुकाबला करना और उन्हें पीस

डालना चाहिए। उन पर दया नहीं दिखानी चाहिए। इसलिए शान्ति प्रधान सामवेद के अन्तिम २१वें अध्याय में इन्द्र–सेनापति के लिए अदयः, शतमन्युः, दुश्च्यवनः, पृतनाषट् आदि विशेषणों का प्रयोग करते हुए कहा है—

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्यो३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥

(साम० १८५५)

जो इन्द्र–सेनापति दुष्ट अत्याचारी आक्रमणकारी शत्रुओं के प्रति (अदयः) दया रहित (शतमन्युः वीरः) सैकड़ों गुण शक्तिवाले मन्यु से युक्त हो (दुश्च्यवनः) जिसको गिराना, नीचा दिखाना अत्यन्त कठिन है (पृतनाषाट्) जो शत्रुओं की सेना को पराजित करने का सामर्थ्य रखनेवाला और स्वयं (अयुध्यः) इतना शक्तिशाली हो कि उससे युद्ध करने का किसी में सामर्थ्य वा साहस न हो, ऐसा इन्द्र–सेनापति (युत्सु) संग्रामों में (अस्माकं सेनाः प्र अवतु) हमारी सेनाओं की अच्छी तरह से रक्षा करे। ऋग्वेद १।१३२।६ में इन्द्र, सूर्य के समान शत्रुओं के नाश करने हारे सेनापति और पर्वत–पर्वत के समान अचल, मेघ के समान शत्रुओं पर शस्त्रवर्षी सेनापति को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि—

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तन्तमिद्धतं वज्रेण तन्तमिद्धतम्। दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्। अस्माकं शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः॥ (ऋ० १।१३२।६)

हे (इन्द्रा पर्वता) सूर्य के समान शत्रुओं के नाशक सेनापते तथा पर्वत के समान अचल या पर्वत–मेघ (पर्वतइति मेघनाम–निघं० १।१०) के समान शत्रुओं पर शस्त्रवर्षी उप सेनापतेः (यः) जो (नः) हम पर (पृतन्यात्) सेना लेकर आक्रमण करे, (पुरोयुधा) सब से आगे जाकर युद्ध करनेवाले होकर, (युवम्) आप दोनों (वज्रेण) वज्रादि शस्त्रास्त्र समूह से, (तम् तम् इत्) उस उसको ही (हतम्) मारो, (यदि) यदि वह शत्रु कपट से (गहनम्) वन में (नक्षत्) चला जाये और भाग जाये, तो भी (दूरे चत्ताय) दूर चले गये ऐसे दुष्ट आक्रमणकारी अत्याचारी शत्रु को भी, (छत्सत्) पकड़ लो, हे शूरवीर! (अस्माकं शत्रून्) हमारे शत्रुओं को (विश्वतः दर्मा) सब तरफ से छेदता हुआ बेधता हुआ तू (विश्वतः) सब प्रकार से (परिदर्षीष्ट) चारों ओर से काट–छाँट डाल, उन्हें छिन्न–भिन्न कर डाल (दृ–विदारणे)।

इस प्रकार वेद आक्रमणकारियों को चारों ओर से भली–भाँति छिन्न–भिन्न करने, उन पर किसी तरह की दया न दिखाते हुए कुचल डालने का उपदेश हैं, उनके आगे सिर झुकाने अथवा घुटने टेक देने का नहीं।

ऋग्वेद १।८६।९ में मरुतों–वीर सैनिकों को राक्षसों को वैद्युत अस्त्रों से

मारने का उपदेश है—

यूयं तत्सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना। विध्यता विद्युता रक्षः॥

(ऋ० १।८६।९)

हे (सत्यशवसः) सच्चे बलवाले वीर सैनिकों (यूयम्) तुम (महित्वना) अपनी महिमा से (तत् अविष्कर्त) उस अद्भुत बल को प्रकट करो जिससे (विद्युता) विद्युत से बने अस्त्र-शस्त्रों से (रक्षः विध्यत) राक्षसों को बींध डालो।

ऋ० ७।९४।७ में भी स्पष्टतया यह भावना भरने का उपदेश है कि—

मा नो दुःशंस ईशत॥ (ऋ० ७।९४।७)

कोई (दुःशंसः) दुष्ट विचारवाला और बुराइयों की भी प्रशंसा करनेवाला नीच (नः मा ईशत) हमारे ऊपर कभी शासन न करे।

इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्॥ (ऋ० ७।४८।२)

इन्द्र-परमेश्वर और शत्रु नाशक सेनापति की सहायता से (वृत्रं तरुषेम्) पापियों को (पापमा) वै वृत्रः-शतः ११।१।५।७) नष्ट कर दें। पापियों के नाश के लिए वेद में यह स्पष्ट शब्दों में आदेश है पापियों की अधीनता स्वीकार करना पाप को प्रोत्साहित करना और पाप को बढ़ाना है।

ऋ० ९।३५।३ में कहा है—

त्वया वीरेण वीरवोऽभि ष्याम पृतन्यतः॥ (ऋ० ९।३५।३)

अर्थात् हम (वीरवः) वीर और पराक्रमी बनकर (त्वया वीरेण) तुझ वीर सेनापति के साथ मिलकर (पृतन्यतः अभिष्याम) जो सेना लेकर हम्मारे ऊपर आक्रमण करते या करना चाहते हैं, उनको पराजित कर दें।

ऋग्वेद ९।६१।२१ में भी इसी बात को इन शब्दों में कहा गया है—

अस्य ते सख्ये तयं तवेन्दो द्युम्न उत्तमे। सासह्याम पृतन्यतः॥

(ऋ०९।६१।२९)

हे (इन्दो) ऐश्वर्यवान्! (अस्य तव सख्ये) इस तेरी मित्रता में रहकर (ते वयम्) वे हम लोग (उत्तमे द्युम्ने) उत्तम यश, धन और अन्नादि को प्राप्त करने के निमित्त (पृतन्यतः सासह्याम) संग्राम करनेवाले शत्रुओं को वश में करें। उन्हें पराजित करें। (द्युम्नमिति धननाम-निघं० २।१०; द्युम्नं द्योततेर्यशो वा अन्नं वा-निरुक्ते ५।१।६।३३)

• यहाँ भी पृतन्यतः शब्द विशेष रूप से मननीय है। जो सेना लेकर आक्रमण करने के लिए आये, वेद उनको पराजित करने का ही आदेश देते हैं, उनकी उपेक्षा करने वा उनकी अधीनता स्वीकार करने का नहीं।

ऋग्वेद ९।५३।३ में आदेश है कि—

रुज यस्त्वा पृतन्यति॥ (ऋ०९।५३।३)

(सः त्वा पृतन्यति) जो सेना लेकर तुझ पर आक्रमण करता वा करना चाहता है, उसको तू (रुज) नष्ट-भ्रष्ट कर दे (रुजो-भंगे) ऋग्वेद ७।१०४।२४ तथा अथर्व० ८।४।२४ में आततायी के वध का चाहे वह पुरुष हो वा स्त्री, इन प्रबल शब्दों में आदेश दिया गया है—

इन्द्र॒ ज॒हि पुमां॑सं यातु॒धान॑मु॒त स्त्रियं॑ मा॒यया॒ शाश॑दानाम्।
विग्री॑वासो॒ मूर॑देवा ऋदन्तु॒ मा ते दृ॑श॒न्त्सूर्य॑मु॒च्चर॑न्तम्॥

(ऋ० ७।१०४।२४; अथर्व० ८।४।२४)

हे (इन्द्र) राजन् अथवा सेनापते! (यातुधानम्) परपीड़ादायी (पुमांसम्) दूसरों का विनाश करनेवाली (स्त्रियम्) स्त्री को भी (जहि) मार दे, उसका नाश कर दे। (मूरदेवाः) दूसरों के प्राणघात करके अपना विनोद करनेवाले लोग (विग्रीवासः) गर्दन रहित या विकृत ग्रीवावाले होकर (ऋदन्तु) नाश को प्राप्त हों, कष्ट पावें कि (ते) वे (उच्चरन्तम्) ऊपर उदित होते हुए सूर्य को भी (मा दृशन्) न देख सकें।

वेद के इस आदेश के आधार पर ही धर्मशास्त्रों में आदेश है कि—

आततायिन मायान्तं, हन्यादेवाविचारयन्। (मनु० ६।३५०)

आततायी का लक्षण इस प्रकार पाया जाता है—

अग्निदो गरदश्चैव, शस्त्रोन्मत्तो धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैतान्, षड्विधादाततायिनः॥ (शुक्रनीतौ)

अर्थात् आततायी वह कहलाता है जो (१) आग लगानेवाला हो, (२) विष देनेवाला हो, (३) शस्त्र से उन्मत्त होकर प्रहार करनेवाला हो, (४) धन का अपहरण करनेवाला हो, (५) खेत का अपहरण करनेवाला और (६) स्त्री का अपहरण करनेवाला हो। वेद में इस प्रकार की गणना तो नहीं की गई। वहाँ आततायी से तात्पर्य जिसके वध का आदेश है, बहुत बड़े अपराधी-हिंसक, दुष्ट व्यक्ति का है जिसमें थोड़े से धन और क्षेत्र को अपहरण करनेवाले की गणना नहीं हो सकती। नीति शास्त्रकार का तात्पर्य भी सर्वस्व अपहरण करनेवाले और बहुत बड़े भूमि खण्ड पर अधिकार जमानेवाले का होना सम्भव है।

ऋग्वेद ९।६३।२८ में भी राक्षसों के हनन का आदेश है—

ज॒हि रक्षां॑सि सुक्रतो॥ (ऋ० ९।६३।२८)

हे (सुक्रतो) उत्तम कर्म करनेवाले वीर (रक्षांसि जहि) दुष्ट राक्षसों का नाश कर दे। रक्षः-का अर्थ निरुक्तकार यास्काचार्य ने रक्षः-रक्षितव्यमस्मात्, रहसिक्षिणोतीति वा ४।३।१८ इत्यादि रूप में किया है। राक्षस वे हैं जिनसे हमें अपनी रक्षा करनी चाहिए अथवा जो एकान्त में या छिपकर मनुष्य का नाश कर देते हैं। ऐसे समाज वा राष्ट्र की रक्षा आवश्यक है।

वेदों में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना और राष्ट्र की स्वाधीनता को स्थिर रखना, प्रत्येक व्यक्ति तथा देशवासी का कर्त्तव्य बताया गया है। इसलिए जो दुष्ट अन्यायी दास बनाना चाहता है, उसके नाश का आदेश है। इस विषय में निम्न मन्त्र विशेष रूप से मननीय हैं—

वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
योऽअस्माँ२ ॥ऽअभिदासत्यधरं गमया तमः॥

(यजु० १८।७०; साम० १८६८)

हे (इन्द्र) राजन् वा सेनापते! (नः मृधः विजहि) हमारे हिंसकों को मार डाल (पृतन्यतः नीचा यच्छ) जो सेना लेकर हमारे ऊपर आक्रमण करते हैं, उन्हें नीचा दिखा। (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें चारों ओर से दास बनाना चाहता है, उसे (अधरं तमः गमय) नीचे अन्धकार में गिरा दे। उसे कारागार में डाल तथा अन्य प्रकार का कठोर दण्ड दे। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के समान ही आदेश स्वतन्त्रता संरक्षण और दुष्ट दमन के विषय में अथर्ववेद में पाये जाते हैं। अथर्ववेद ६।६।२ में आदेश है—

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति॥

(अथर्व० ६।६।२)

हे (सोम) ऐश्वर्य युक्त सेनापते! (यः दुःशंसः) जो दुष्ट, बुराइयों की भी प्रशंसा करनेवाला (सुशंसिनः नः) अच्छे भाव रखनेवाले सज्जनों को (आदिदेशति) आदेश देकर अपने शासन में रखना चाहता है (अस्य मुखं वज्रेण अपजहि) उसके मुख को वज्र से नष्ट कर दे, (संपिष्टः सः) अच्छी प्रकार से पीसा या कुचला हुआ वह, (अपआयति) नीचे गिर पड़े। उसका सर्वथा नाश हो जाये। जिससे फिर उसे या उसके साथियों को ऐसा नीच कार्य करने का दुस्साहस न हो। तात्पर्य यह है कि देशवासियों और समाज के सज्जनों को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा सदा करनी चाहिए और कभी दुष्टों का शासन उन पर न होने देना चाहिए। अथर्व० १९।४७।६ में इस बात को और भी स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत मा नो दुःशंस ईशत।
मा नो अद्य गवां स्तेनो मावीनां वृक ईशत॥

(अथर्व० १९।४७।६)

हे परमेश्वर! (रक्षा) हमारी रक्षा करो (अघशंसः) पाप की प्रशंसा करनेवाला चोर (अघशंस इति स्तेननाम) [निघं० ३।२४] (नः मा ईशत) कभी हमारा स्वामी न बने (दुःशंसः नः मा ईशत) दुष्ट भाव रखनेवाला हमारे ऊपर कभी शासन न करे (गवांस्तेनः) गौओं का चोर वा घातक (अवीनां वृकः) भेड़ों के

लिए भेड़िये के समान निर्बलों और दीनों को शक्ति मदमत्त होकर सतानेवाला पापी (नः अद्य मा ईशत) कभी हमारे ऊपर शासन न करे। इस प्रकार के दुष्टों को हम कभी अपने ऊपर शासन न करने दें।

इस तरह हमने चारों वेदों के अनेक मन्त्रों को उद्धृत करके दिखाया है कि उनमें दुष्ट राक्षसों, अन्यायकारियों, अत्याचारियों का मुकाबला करने और उनको मारने की आज्ञा है क्योंकि इसके विना समाज और राष्ट्र की रक्षा असम्भव है।

अथर्ववेद ६।१३४।३ में भी इस विषय पर उत्तम प्रकाश डाला गया है कि किस की और कब हिंसा करना उचित और धर्म सम्मत है। उस मन्त्र में कहा है—

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि॥

(अथर्व० ६।१३४।३)

ये दण्डधर राज पुरुष, (यः जिनाति) जो जनता को हानि पहुँचाता है (तम् अनु इच्छ) उसका पीछा कर (यो जिनाति) जो जनता वा राष्ट्र को हानि पहुँचाता है (तम् इत् जहि) उसी को मार। इस प्रकार समाज और राष्ट्र घातक व्यक्ति वा व्यक्ति समूह के मारने का वेद उपदेश करते हैं। (जब दुर्भाग्यवश ब्राह्मणों के सब प्रयत्न ऐसे दुष्टों को सन्मार्ग पर लाने के असफल हो जाएँ)

किन्तु इस प्रसंग को समाप्त करने से पूर्व एक और बात का उल्लेख हमें अत्यावश्यक प्रतीत होता है जिसे हम वेदों की शिक्षा की बड़ी अपूर्वता और अद्भुत विशेषता समझते हैं। वह यह है कि जहाँ क्षत्रियों और राजपुरुषों के लिए दुष्ट समाज राष्ट्रघातकों, अन्यायियों और अत्याचारियों, राक्षसों तथा आततायियों के मारने का स्पष्ट विधान है (जैसे कि हमने चारों वेदों में से अनेक मन्त्रों को उद्धृत करके दिखाया है), वहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वेद ऐसे दुष्टों के प्रति समाज रक्षार्थ अपने कर्त्तव्य पालन का उपदेश देते हुए भी उनके प्रति वैर-द्वेष रखने का उपदेश नहीं देते। यह आश्चर्य की बात है कि ऋग्वेद १०।६६।८ में जो क्षत्रियों का लक्षण दिया गया है (जिसे हम पहले उद्धृत कर चुके हैं) उसमें सच्चे क्षत्रियों के लिए एक विशेषण 'अद्रुहः' दिया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये॥

(ऋ० १०।६६।८)

इस मन्त्र का अर्थ पहले वर्णधर्म प्रकरण में लिखा जा चुका है। यहाँ तो केवल इतना निर्देश करना पर्याप्त है कि क्षत्रियों को भी इस मन्त्र में 'अद्रुहः' किसी के साथ द्रोह, ईर्ष्या, द्वेष न करनेवाले कहा है। यह विशेष अद्भुत है। क्षत्रिय लोग समाज और राष्ट्र रक्षार्थ दुष्टों का नाश करें, किन्तु उनके प्रति भी द्रोह वा द्वेष

बुद्धि न रखें। ऐसा भाव वेदों को छोड़कर कहीं नहीं पाया जाता। बौद्ध, जैन, ईसाई आदि मतों में जहाँ अहिंसा का उपदेश है, वहाँ इस प्रकार दुष्टों के नाश की बात नहीं पाई जाती और इससे समाज और राष्ट्र रक्षा, उन उपदेशों पर चलने से सम्भव नहीं प्रतीत होती। किन्तु वेदों के अद्भुत उपदेशानुसार जहाँ क्षत्रिय और राज्याधिकारी ऐसे दुष्ट आततायियों और आक्रमणकारियों के विरुद्ध युद्ध करें, वहाँ भी उन्हें उपदेश है कि उनके प्रति मन में द्वेष का भाव न रखें।

अथर्ववेद १९।१४।१ इस विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय है जहाँ विजय के अनन्तर विजयी राजा हारे हुए पुरुष को सम्बोधन करते हुए कहा है—

असपत्ना प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥

(अथर्व० १९।१४।१)

अर्थात् मेरे लिए सब दिशाएँ शत्रु रहित हों। तेरे साथ भी हम द्वेष नहीं करते। सब ओर से हमें निर्भयता प्राप्त हो। जिस प्रकार एक न्यायाधीश वा जज किसी अपराधी को कैद और यहाँ तक कि कानून के अनुसार, मृत्युदण्ड तक देते हुए भी उस व्यक्ति के लिए किसी प्रकार का द्वेष का भाव नहीं रखता, वैसे ही क्षत्रियों को दुष्ट दमन रूप धर्म का पालन करते हुए और शस्त्रास्त्र का प्रयोग करते हुए भी, द्वेष का भाव न रखना चाहिए। यह वैदिक भाव इस तथा अन्य अनेक मन्त्रों में स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया गया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अद्भुत है। मरुतों–समाज और राष्ट्र की रक्षार्थ मरने–मारने को उद्यत वीर सैनिकों को सम्बोधित करते हुए ऋग्वेद १०।७७।६ में कहा गया है कि—

आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोत॥ (ऋ० १०।७७।६)

अर्थात् तुम (द्वेषः) द्वेष के भाव को (सनुतः) सदा (आरात् चित्) अत्यन्त दूर (युयोत) स्थापित करो। उसको अपने पास न आने दो।

यह बात कुछ विचित्र लगती है कि कर्त्तव्य पालनार्थ दुष्टों का नाश किया जो, किन्तु द्वेष का भाव अपने अन्दर न आने दिया जाए। किन्तु वस्तुतः यही सबसे अधिक क्रियात्मक और श्रेष्ठ शिक्षा है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता।

कई कट्टर अहिंसावादी, जो अपने को महात्मा गाँधी का अनुयायी कहते हैं, इस विषय में आपत्ति उठाते और कहते हैं कि महात्मा गाँधीजी तो अहिंसा को परम धर्म कहते थे। उनके अनुसार किसी भी प्रकार की हिंसा को उचित नहीं माना जा सकता, किन्तु वस्तुतः यह बात नहीं।

अहिंसा के अत्यन्त प्रबल समर्थक होते हुए भी महात्मा गाँधीजी उसके अनेक अपवादों को स्वीकार करते थे।

अपने यंग इण्डिया (अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र) के ११ अगस्त, सन् १९२० के अंक में महात्मा गाँधीजी ने स्पष्ट लिखा था कि—

"I do believe that where there is only a choice between cowardice and violence, I would advise violence."

(Young India Aug. 11, 1920)

अर्थात् जहाँ भीरुता और हिंसा में से किसी एक को चुनने का प्रश्न हो, वहाँ मैं हिंसा की सलाह दूँगा।

इसका उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा था कि जब मेरे ज्येष्ठ पुत्र ने मुझ से प्रश्न किया कि जब सन् १९०८ में मुझ पर एक पठान ने घातक आक्रमण किया, तब यदि मैं उपस्थित होता, तो मुझे क्या करना चाहिए था—भाग जाना या हिंसा का प्रयोग करना। तो मैंने कहा कि हिंसा का प्रयोग करके भी रक्षा करना उसका कर्त्तव्य था। यही कारण है कि मैंने बोर युद्ध तथा पिछले महायुद्ध (जो सन् १९१४ से १९१८ ई० तक रहा) में भाग लिया था। इसी प्रसंग में उन्होंने लिखा—

"I would rather have India resort to arms in order to defend her honour, than that she should be in a cowardly manner become or remain a helpless witness to its own dishonour".

(Young India 11-8-1920)

अर्थात् अपेक्षा इसके कि भारत भीरुता से अपने अपमान का एक असहाय साक्षी बना रहे, मैं इस बात को पसंद करूँगा कि वह अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए शस्त्र ग्रहण करे।

इस विषय में महात्मा गाँधीजी से किये कुछ प्रश्न और उनके उत्तर विशेष उल्लेखनीय हैं। महात्मा गाँधीजी से किसी ने प्रश्न किया—कल्पना कीजिये कि कोई आया और उसने आपका खुला अपमान किया, तो क्या आप अपना इस तरह अपमान होने देंगे?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महात्मा गाँधीजी ने लिखा—

यदि तुम अपमानित अनुभव करो तो तुम्हारे लिये अपमानकर्त्ता के मुख पर चपत मारना अथवा आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अन्य कोई भी आवश्यक कार्य करना सर्वथा न्याय संगत होगा। यदि तुम भीरु नहीं हो तो इन परिस्थितियों में शारीरिक शक्ति का प्रयोग स्वाभाविक परिणाम होगा। तुम्हारा अहिंसात्मक व्यवहार या तो आक्रान्त को लज्जित करके अपमान को रोक देगा अथवा तुम्हें इसके विरुद्ध सुरक्षित कर देगा, जिससे तुम उस अपमान से जरा भी प्रभावित न होगे।

दूसरा प्रश्न जो पू० महात्माजी से किया गया वह यह था—

कल्पना कीजिये एक पागल है, जो हत्या पर तुला हुआ है और आप उस समय वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। एक उत्तेजित भीड़ अत्यधिक क्षुब्ध अवस्था में है और आप अपने को विवश अथवा असहाय अनुभव करते हैं, ऐसी अवस्था में

क्या आप उस पागल को रोकने के लिए शारीरिक बल और उस भीड़ को तितर-बितर करने के लिए अश्रु गैस आदि के प्रयोग का अनुमोदन करेंगे ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महात्मा गाँधीजी ने लिखा है कि—

मैं इस प्रकार के बल प्रयोग के लिए सदा क्षमा कर दूँगा, किन्तु मैं यह न कहूँगा कि अहिंसात्मक दृष्टिकोण से यह ठीक है। मैं कहूँगा कि आपके अन्दर अहिंसा की उतनी मात्रा न थी जो आपको विशुद्ध अहिंसात्मक व्यवहार में विश्वास उत्पन्न करावे। यदि आपमें पूर्ण अहिंसा होती तो आपकी केवल उपस्थिति ही उस पागल को शान्त करने के लिए पर्याप्त होती। तुम्हारे अन्दर बुरा कार्य करनेवाले के प्रति भी प्रेम और दया का प्रवाह होना चाहिए। जब वह विद्यमान होगा तो अपने को वह किसी क्रिया द्वारा प्रकट करेगा।

अश्रु गैस आदि के प्रयोग के सम्बन्ध में महात्माजी ने लिखा है कि अहिंसा के आदर्श की दृष्टि से अश्रु गैस का प्रयोग भी उचित नहीं, किन्तु मैं सारे संसार के विरुद्ध भी इसके प्रयोग का समर्थन करूँगा। यदि मैं अपने को किसी ऐसे कोने में पाऊँ जहाँ मैं इसके प्रयोग के बिना किसी असहाय कन्या की रक्षा करने और उत्तेजित भीड़ के पागलपन को रोकने में अपने को असमर्थ पाऊँ। परमेश्वर मुझे क्षमा नहीं करेगा, यदि मैं उसके सामने यह निवेदन करूँ कि मैं इन घटनाओं में अपने अहिंसा में विश्वास के कारण नहीं रोक सका।

महात्माजी के अंग्रेजी लेख के निम्नलिखित मूल शब्द अन्तिम महत्त्वपूर्ण वाक्य ये हैं—

"God would not excuse me, if I were to plead before Him, that I could not prevent these things from happening, because I was held back by my creed of non-violence".

(Gandhia's Wisdom Box. P. 52)

एक सज्जन ने महात्मा गाँधीजी से प्रश्न किया—

Can a state carry on strictly according to the principles of non-violence?

अर्थात् क्या कोई राष्ट्र पूर्णतया अहिंसा के सिद्धान्तानुसार चल सकता है ?

यह प्रश्न वस्तुतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इस अध्याय में हमने वेदों के उन आदेशों के प्रकाश में इसी पर विचार किया है। हम वेदों के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर "हाँ" में नहीं दे सकते। अब हम देखते हैं कि महात्मा गाँधीजी ने जो अहिंसा धर्म के प्रबलतम समर्थक थे, क्या उत्तर दिया। मूल प्रश्न और उत्तर क्योंकि अंग्रेजी में थे अतः उत्तर महात्माजी के अपने मूल शब्दों में ही हम यहाँ उद्धृत करते हैं। पूज्य महात्माजी ने उपर्युक्त प्रश्न का यह उत्तर दिया—

"Government can not succeed in becoming entirely non-violent, because it represents all people. I do not conceive of such a Golden Age. But I do believe in the possiblility of pre-dominatly non-violent society. And I am working for it. Any Government, representing such society, will use the least amount of force. But no Government, worth its name, can suffer anarchy to prevail. Hence I have said that even under a Government based primarily on non-violence, a small police force will be necessary"

(Gandhi's Wisdom Box P. 52-53)

अर्थात् एक सरकार सर्वथा अहिंसात्मक होने में सफल नहीं हो सकती क्योंकि यह सब लोगों की प्रतिनिधि है। मैं आज ऐसे स्वर्ग युग की कल्पना नहीं करता। किन्तु मेरा एक मुख्यतया अहिंसात्मक समाज की सम्भावना में विश्वास है और मैं उसके लिए प्रयत्नशील हूँ। इस प्रकार के समाज की प्रतिनिधि मूलभूत सरकार शक्ति वा हिंसा का कम से कम प्रयोग करेगी। परन्तु कोई भी सरकार अराजकता की अनुमति नहीं दे सकती। इसलिए मैंने कहा है कि मुख्यतया अहिंसा पर आश्रित सरकार में भी थोड़ी-सी पोलिस शक्ति आवश्यक होगी।

इन वाक्यों में क्षात्रशक्ति के उपयोग की आवश्यकता को महात्मा गाँधीजी ने स्वीकार किया ही है। उनके जीवन काल में और विश्वस्त सूत्रानुसार उनका आशीर्वाद प्राप्त करके हमारी राष्ट्रीय सरकार ने स्व० पं० जवाहरलालजी नेहरू ने प्रधानमन्त्रित्व में कश्मीर में पाकिस्तान की सहायता से किये गये आक्रमण के मुकाबले में अपनी सेना भेजी थी जिस कार्य की सभी ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी ? यदि कोई कट्टर अहिंसावादी या विश्व प्रेम का पक्षपाती यह कहे कि पाकिस्तान की सक्रिय सहायता से किये गये काश्मीर पर इस आक्रमण अथवा चीन द्वारा सन् १९६२ में किये गये आक्रमण के सम्मुख भारतीयों को सिर झुका देना चाहिए था, तो ऐसी बात सर्वथा वैदिक भावना के विरुद्ध और अन्याय, अत्याचार वर्धक होगी। हमें अब तक ज्ञात नहीं हो सका कि "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" यह वचन किस ग्रन्थ का है किन्तु मनुस्मृति का—

या वेद विहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामवेतां विद्याद् वेदाद्धर्मोहिनिर्बभौ॥

(मनु० ५।४४)

यह वचन तो सुप्रसिद्ध है। इन वचनों का हम यही तात्पर्य समझते हैं कि ऐसे समाज-राष्ट्र विघातक दुष्टों, अत्याचारियों, दस्युओं, आततायियों आदि की तथा

हिंसक जन्तुओं की समाज–राष्ट्र सज्जन रक्षार्थ हिंसा, जिसका वेदों में विधान किया गया है, उसे हिंसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वेद से धर्म निकला है और वेद में इस प्रकार दुष्टों की समाज रक्षार्थ हत्या को क्षत्रियों का कर्त्तव्य बताया गया है।

हिंसा अहिंसा का प्रश्न—

यमों में अहिंसा का प्रथम स्थान है। अतः उसका आचरण विरक्त योगियों, ब्राह्मणों, संन्यासियों तथा उन सब को जो अत्यन्त उच्च जीवन व्यतीत करना चाहते हैं ब्राह्मण, महात्मा, वानप्रस्थी आदि को पूर्णतया करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस अहिंसा का लक्षण महर्षि व्यास ने पातञ्जल योगदर्शन के भाष्य में—

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।

इस रूप में किया है कि सब प्रकार से, सदा सर्वप्राणियों के प्रति अद्रोह–द्वेष का अभाव अहिंसा कहलाती है। अहिंसादि यमों के सार्वभौम महाव्रत के विषय में योगदर्शन का सूत्र है—

जातिदेशकाल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥

(योगदर्शन २।३१)

इसके भाष्य में महर्षि व्यास ने लिखा है—

एभिर्जाति देश काल समयैनवच्छिन्ना अहिंसादयः, सर्वथैव परिपालनीयाः, सर्वभूमिषु सर्व विषय्येषु। सर्वथेवाविदित व्यभिचाराः सार्वभौमामहाव्रतमित्युच्यन्ते॥

अर्थात् जाति, देश, काल समय की सीमा के रहित अहिंसादि यमों का सर्वथा ही पालन करना चाहिए। सब स्थानों में, सब विषयों में बिल्कुल ही जब इनका कहीं उल्लंघन नहीं होता, तो इन्हें सार्वभौम महाव्रत कहते हैं।

इस विषय में वर्तमान काल के एक बहुत बड़े योगी योगीराज स्वामी योगेश्वरानन्दजी ने अपनी बहिरंगयोग नामक अत्युत्तम पुस्तक में ठीक ही लिखा है कि—

योग सूत्रोक्त सार्वभौम अहिंसा व्रत का प्रतिपादन केवल उन मोक्षार्थी जनों के लिए किया गया है जो ऐहलौकिक, भौतिक भोगों से परितृप्त वा विरक्त होकर केवल आत्म–परमात्म चिन्तन में रत रहना चाहते हैं। यही कारण है कि अन्यत्र धर्म–ग्रन्थों में अहिंसा के लिए नहीं, यम–नियमों के विषय में भी वर्ण-आश्रम तथा जाति–देश–काल के भेद से इनके आचरण करने का विधान मिलता है। मोक्षार्थी संन्यासी के लिए आवश्यक है कि वह जाति, देश–काल का, हानि–लाभ का, मान–अपमान का, जीवन–मरण का विचार किये विना अहिंसादि व्रतों का पालन मन, वचन, कर्म से करे। परन्तु गृहस्थी योगी इतना नहीं कर सकता। उसके लिये

ऐसा कर सकना सम्भव नहीं है। चक्की–चूल्हा, अन्न–भण्डार, जल स्थानों में कीट, पतंगें, चींटियों आदि का वध अनायास अति सावधानी बरतने पर भी होता रहता है। ऐसी हिंसा की निवृत्ति के लिए शास्त्रों में पञ्चमहायज्ञों को नित्य करने का विधान है। अग्निहोत्र करनेवाला ब्राह्मण प्रजारक्षक राजा और राजपुरुष, कृषि और व्यापार करने, करानेवाला वैश्य, सेवा कर्म विरत शूद्र तथा लोहार–तरखान, इञ्जीनियर, सेना आदि सब (पूर्ण) अहिंसक रह ही नहीं सकते। इसीलिए स्मृतियों में इनके वर्ण धर्म पृथक्–पृथक् है, आश्रम धर्म भी पृथक्–पृथक् नियत है। खेती–बाड़ी को नष्ट करनेवाले पशु–पक्षियों को मार देना राजपुरुषों के लिए धर्म है। गृहस्थी, राजा आदि को हानि–लाभ का सन्तुलन करना ही होता है। मनुष्य वा पशु–भक्षक सिंह, व्याघ्र आदि को प्रजा की रक्षार्थ मार देने से लाभ है। सर्व कृषि को उजाड़नेवाले मनुष्य, पशु–पक्षी आदि का वध करना श्रेष्ठ है। प्रजा पीड़क दस्यु, डाकू, शत्रु आदि को मारकर अनन्त प्रजा की रक्षा में धर्म अधिक है, पाप अतिन्यून है। इस प्रकार सर्वत्र लाभ–हानि का सन्तुलन करते हुए ही संसारी जनों को चलना होता है। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए आप्त जनों ने व्यक्ति और समाज के कर्त्तव्यों का विस्तार से शास्त्रों में वर्णन कर दिया है। यथा आयान्तमाततायिनं हन्यात्।

तथा वेदों में भी अपनी तथा प्रजा की रक्षा करना धर्म है। अनेक सूक्त ऐसा ही प्रतिपादन करते हैं। कई बार किसी महापुरुष की, राजा राजपुरुष, सेनानायक की, किसी वैज्ञानिक योगी आदि की रक्षार्थ अनेक प्राणियों की आहुति दे देनी पड़ती है। कई बार सैकड़ों की अपेक्षा एक व्यक्ति का महत्त्व तुच्छ हो जाता है। इस भाँति सांसारिक क्षेत्र में यम–नियमों का महत्त्व प्राय: हानि–लाभ को समक्ष रख कर ही आँका जाता है। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसा नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोत्तम अहिंसा पालक संन्यासी होता है। हो सकता है दूसरी श्रेणी में ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी, तृतीय श्रेणी में गृहस्थी और चौथी श्रेणी में राज कर्मचारी तथा राजा को गिना जा सकता है।

(बहिरंगयोग–स्वा० योगेश्वरानन्दजी कृत, पृ० ११–१२)

यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि ऋषि दयानन्दजी सरस्वती ने अहिंसा का अर्थ अधिकतर वैर त्याग किया है।

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमा:॥ (योग० २।३०)

की व्याख्या में उन्होंने अहिंसा का अर्थ वैर त्याग किया है। ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के उपासना प्रकरण में उन्होंने अहिंसा पर व्यास भाष्य को उद्धृत करते हुए लिखा है—

अहिंसा अर्थात् सब प्रकार से, सब काम में, सब प्राणियों के साथ वैर छोड़

के प्रेम प्रीति से वर्तना।

अहिंसमैव भूतानां, कार्य, श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुराश्लक्ष्ण, प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥

(मनु० २।१५९)

इस श्लोक का अनुवाद करते हुए आचार्य दयानन्दजी ने लिखा है—

विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैर बुद्धि छोड़ के, सब मनुष्यों को कल्याण के मार्ग का उपदेश करें और उपदेष्टा सदा मधुर सुशीलता युक्त वाणी बोलें। जो धर्म की उन्नति चाहे, सदा सत्य का उपदेश करे।

(सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३)

महर्षि वेदव्यासजी ने अहिंसा का अर्थ करते हुए अपने योगदर्शन भाष्य में अनभिद्रोह: शब्द का प्रयोग किया है। द्रुह–जिघांसायाम्–यह धातु है। जिघांसा का अर्थ मारने की इच्छा है। अत: अनभिद्रोह और वैर बुद्धि त्याग का एक ही तात्पर्य है। वनस्पति भक्षण में इसीलिए हिंसा का पाप नहीं लगता क्योंकि वहाँ वैर बुद्धि वा अभिद्रोह नहीं है। वृक्ष वनस्पतियों में जीव सुषुप्ति अवस्था में है। इस कारण भी वहाँ हिंसा का प्रश्न नहीं।

अध्याय सार–उपसंहार

इस प्रकार इस अध्याय में हमने वेदों के आधार पर यह बताया है कि—

१. ब्राह्मण और संन्यास धर्म में तथा मुमुक्षुओं के लिए पूर्ण अहिंसा का प्रतिपादन है जिसे योगदर्शन में सार्वभौम महाव्रत के नाम से कहा है।

२. क्षत्रियों के लिए वेदों का आदेश दुष्ट, अन्यायी, अत्याचारी, राक्षसों, दस्युओं और आततायियों के वध का है, और उन्हें समाज तथा राष्ट्र रक्षार्थ यह कार्य करना चाहिए।

३. ब्राह्मणों को धर्मोपदेश के द्वारा दुष्टों, दस्युओं की दुष्टता और दस्युता की हत्या का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। अपनी आत्मिक शक्ति को उन्हें इतना विकसित करना चाहिए कि वे अपने इस श्रेष्ठ कर्त्तव्य का भली–भाँति पालन कर सकें। जब अपनी ओर से पूर्ण प्रयत्न करने पर भी, वे दुष्टों की दुष्टता का नाश करने में सफल न हो सकें, तभी क्षत्रियों को शारीरिक शक्ति तथा शस्त्रास्त्र के प्रयोग द्वारा दुष्टों की हत्या का उन्हें आदेश देना चाहिए। इस प्रकार ब्राह्मणों और क्षत्रियों की दुष्ट हत्या के प्रकार में भेद हैं। इन दोनों में आपस में सहयोग होना चाहिए।

४. जो दुष्ट अन्यायी अत्याचारी, राष्ट्र पर आक्रमण करें, उनका डटकर मुकाबला करना और उन्हें कुचल डालना चाहिए। ऐसा करने में कोई हिंसा का

पाप नहीं लगता।

५. क्षत्रियों को दुष्ट दमन और युद्ध करते हुए भी मन में द्वेष भाव नहीं रखना चाहिए। यह वैदिक शिक्षा की अद्भुत विशेषता है।

पुनश्च

यह प्रसन्नता की बात है कि हमारे इस उपर्युक्त वेदाचित व्यवस्था का समर्थन स्व० भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् जी की पुस्तक "The Heart of Hindustan" में भी निम्नोक्त शब्दों में मिलता है।

"The Kshatriya is called upon to fight in a spirit of brotherliness, without hate and out of sense of duty, and not in a vindictive mood that he who has made me suffer must suffer too. If a Kshatriya acts in this spirit of humanity, he will rise in spiritual status and rely less on brute force, until at last he becomes a Brahmin incapable of infuriating any living thing on earth. Though violent resistance is allowed, the end is to transcend it."

(Heart of Hindustan by Dr. Radha Krishnan, P. 23)

तात्पर्य यह है कि क्षत्रिय को भ्रातृत्व की भावना से ही युद्ध करने का आदेश है। केवल कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर, विना घृणा के, प्रतिशोध की भावना से नहीं कि जिसने मुझे दुःख पहुँचाया है उसे भी दुःख दिया जाये। यदि एक क्षत्रिय इस मानवता की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होगा और शारीरिक शक्ति पर कम निर्भर होगा। यहाँ तक कि अन्त में वह एक ब्राह्मण बन जाता है जो किसी भी जीवित प्राणी को हानि पहुँचाने के लिए सर्वथा असमर्थ हो जाता है। यद्यपि हिंसात्मक प्रतिरोध की अनुमति दी गयी है तथापि उसका उद्देश्य इससे परे चला जाता है।

अध्याय-१४

श्रद्धा व तर्क का समन्वय

इस समय संसार के सब देशों के विचारशील लोगों के सामने जो समस्याएँ हैं उसमें श्रद्धा और तर्क के समन्वय की भी एक प्रमुख समस्या है जिस पर हम मुख्यतया वेदों की ओर उसके पश्चात् अन्य विषयों की तरह तुलनात्मक दृष्टि से विचार प्रस्तुत करेंगे।

श्रद्धा शब्द का अर्थ और वेदों में उसका महत्त्व

श्रद्धा शब्द श्रत्+धा से मिलकर बना है। श्रत् का अर्थ निघण्टु ३।१० के अनुसार सत्य है। श्रत् इति सत्यनाम (निघं० ३।१०) धा धातु के धारण और पोषण, ये दो अर्थ धातु पाठ में पाये जाते हैं। इसलिए श्रद्धा का अर्थ सत्य को धारण करना और उसे परिपुष्ट करना या प्रबल बनाना है। (डुधाञ् धारणपोषणयोः)

श्रत् सत्यं दधाति यथेच्छया सा श्रद्धा अर्थात् जिससे मनुष्य सत्य को धारण करता है, उस इच्छा को श्रद्धा कहते हैं। संस्कार विधि के वानप्रस्थ प्रकरण में आचार्य दयानन्द सरस्वती ने श्रद्धा का अर्थ 'सत्य धारण में प्रीति और सत्य धार्मिक जनों में प्रीति' यह किया है।

ऋग्वेद ७।३२।१४ के भाष्य में श्रद्धा का अर्थ 'सत्ये प्रीतिः' और यजु० २०।२४ के भाष्य में श्रद्धा का अर्थ सत्यधारिका किया, यह ऋषि दयानन्दजी सरस्वती ने और 'विश्वासः' यह महीधराचार्य ने किया है। उव्वटचार्य ने श्रद्धा का विवरण नहीं दिया।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(यजु०१९।३०)

यह यजुर्वेद १९।३० का एक सुप्रसिद्ध मन्त्र है।

इसका अर्थ उव्वटाचार्य ने निम्न प्रकार किया है—

हुतोच्छिष्टभक्षश्चतूराश्रमग्निहोत्रं जुहोतीति।
अनेन व्रतेन दीक्षामाप्नोति। दीक्षयादक्षिणमाप्नोति।
दक्षिण दक्षिणयेति विभक्तिव्यत्ययः।
श्रद्धामाप्नोति। श्रदिति सत्यामासु पठितम्।

तदस्यांधीयते आस्तिक्यैनैवमेतदिति सा श्रद्धा पुण्यकृतो मनोविशेषः। श्रद्धया सौत्रामण्यां सत्यमाप्यते। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म त्रयीलक्षा वा॥

(उव्वटभाष्ये)

महीधर ने प्रायः अक्षरशः उव्वटभाष्य को ही उद्धृत कर दिया है। श्रद्धा का अर्थ उन्होंने इन शब्दों में रखा है—

श्रदितिसत्यनाम। श्रत् सत्यं धीयते यस्यां सा श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः पुण्यवेतां मनोविशेषः॥ श्रद्धया सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्माप्यते–प्राप्यते। श्रद्धां विना ज्ञानाभावात्॥

यहाँ दोनों वेद भाष्यकारों ने श्रद्धा का अर्थ निघण्टु ३।१० के श्रत् इति सत्यनाम को उद्धृत करते हुए उसका अर्थ सत्य जिसमें स्थापित किया जाता है, ऐसी आस्तिक्य बुद्धि जो पुण्यकारियों की मनोविशेष वा मनोवृत्ति है, ऐसा किया है। उव्वटाचार्य ने श्रद्धा को सौत्रामणी तक सीमित कर दिया है। जो आश्चर्यजनक है। ऋषि दयानन्दजी ने इस महत्त्वपूर्ण मन्त्र की निम्न व्याख्या की है—

यदा मनुष्यो धर्म जिज्ञासते, सत्यं चिकीर्षति तदैव सत्यं विजानाति तत्र मनुष्यैः श्रद्धेयं नासत्ये चेति। यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति। तदादीक्षाम्–उत्तमाधिकारं प्राप्नोति (दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्) यदा दीक्षितः सन् उत्तम गुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति, यास्य दक्षिणा भवति तां दीक्षया शुभ गुणाचरणेनेवाप्नोति। दक्षिण श्रद्धामाप्नोति। सा दक्षिण यदा ब्रह्मचर्यादि सत्यव्रतैः सत्काराय स्वयान्येषां च भवति तदाचरणे श्रद्धां दृढ विश्वासमुत्पादयति कुतः सत्याचरणमेव सत्कार कारकमतस्त्यतः। श्रद्धया सत्यमाप्यते। यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धेत तदातया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते नान्यथेति। अतः किमागतं सत्यप्राप्त्यर्थे सर्वदा श्रद्धोत्साहादि पुरुषार्थो वर्धितव्यः॥

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम्)

भाषानुवाद—इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है, तभी सत्य को जानता है। उसी सत्य में मनुष्य को श्रद्धा करनी चाहिए। असत्य में कभी नहीं। (व्रतेन दीक्षामाप्नोति) जो मनुष्य सत्य के आचरण

को दृढ़ता से करता है, तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है। जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है, तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं क्योंकि धर्मादि शुभ गुणों से ही उस दीक्षा को मनुष्य प्राप्त होता है। अन्यथा नहीं। जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है क्योंकि सत्य धर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार करानेवाला है। (श्रद्धया सत्यमाप्यते) फिर सत्य के आचरण में जितनी-जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती है, उतना-उतना ही मनुष्य लोग परमेश्वर और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं। अधर्माचरण से नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिए श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायें जिससे सत्य धर्म की यथावत् प्राप्ति हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा का सत्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और उस सत्य के धारण की इच्छा, उसकी धारण करनेवाली क्रिया, सत्य और सत्यवादियों में प्रीति और दृढ़ विश्वास, इनको श्रद्धा के नाम से कहा जाता है। इस तरह इसका अन्धविश्वास से भेद अत्यन्त स्पष्ट है। सत्य को दृढ़तया धारण कर लेना और बड़ी से बड़ी आपत्ति और प्रलोभनों के आने पर भी उससे विचलित न होना, यह सच्ची श्रद्धा है।

ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध श्रद्धा सूक्त (१०।१५१) में जिसकी ऋषिका वा मन्त्र दृष्टि भी श्रद्धा के प्रचार के कारण श्रद्धा के नाम से प्रख्यात हुई। प्रथम मन्त्र में ही इस सत्य को प्रकाशित किया गया है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥

(ऋ० १०।१५१।१)

श्रद्धा से अग्नि प्रदीप्त की जाती है। न केवल अग्निहोत्र की बाह्य भौतिक अग्नि को श्रद्धा पूर्वक उसके जलवायु पवित्र करने इत्यादि गुणों में विश्वास के कारण प्रदीप्त किया जाता है, प्रत्युत परमात्मा वा आत्मा (ब्रह्माग्निः-शत० १।२।३।१९; आत्मैवाग्निः-शत० ६।७।१।२०) रूप अग्नि अथवा ज्ञानाग्नि को श्रद्धा के द्वारा ही प्रदीप्त किया जाता है। इसीलिए भगवत् गीता में योगिराज श्रीकृष्ण महाराज ने कहा है कि—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः॥ (गीता ४।३९)

अर्थात् जितेन्द्रिय, ज्ञान की प्राप्ति में निरन्तर लगे हुए श्रद्धालु पुरुष को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।

(श्रद्धया हूयते हविः) श्रद्धा से ही आहुति दी जाती है अथवा दान दिया जाता है। हु-दानादानयोः इस धातु के दान अर्थ को लेकर यहाँ दानपरक अर्थ का ग्रहण करना उचित ही है। इसीलिए तैत्तिरीयोपनिषत् में कहा है कि श्रद्धयादेयम्- श्रद्धा से

दान देना चाहिए। ऐसा दान ही सर्वोत्तम होता है। इसलिए वेद भगवान मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ यह घोषणा करते हैं—

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

हम इस बात की घोषणा करते हैं कि ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य के मस्तक पर श्रद्धा है, इसका स्थान मस्तक के समान सबसे ऊपर है। अपने वचन द्वारा सब को इस तथ्य का बोध कराते हैं।

भग शब्द के—

ऐश्वर्यस्य समग्रतस्य, धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव, षण्णां भग इतीरणा॥

ये अर्थ कोषकारों ने दिये हैं। विश्व कोष में इस शब्द के इन ६ के अतिरिक्त कुछ अन्य भी अर्थों का निर्देश किया गया है—

भगमैश्वर्यमाहात्म्य ज्ञानवैराग्ययोनिषु।
यशोवीर्य प्रयत्नेच्छा श्री धर्म रविमुक्तिषु॥

(इति विश्वः)

यहाँ उपरिलिखित ६ के अतिरिक्त माहात्म्य, वीर्य, प्रयत्न, इच्छा, मुक्ति, इन अर्थों का भी निर्देश है। भग की व्युत्पत्ति भज–सेवायाम् इस धातु से है। अतः सेवनीय अनेक पदार्थों का उससे ग्रहण होता है। तात्पर्य स्पष्ट है कि धर्म, यश, ज्ञान, वैराग्य इत्यादि में सर्वप्रथम स्थान श्रद्धा को धारण और विकसित करने का रहे। इस सूक्त के दूसरे और तीसरे मन्त्र में श्रद्धापूर्वक दान से कल्याण बताते हुए चतुर्थ मन्त्र में कहा है—

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य१याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥

(ऋ० १०।१५१।४)

(देवाः) सत्यनिष्ठ विद्वान् (वायुगोपा यजमानाः) और प्राण वायु जिनका रक्षक है अथवा प्राणायामाभ्यासी यज्ञकर्ता (श्रद्धाम् उपासते) श्रद्धा की उपासना करते हैं जो सत्य धारणमयी हैं (हृदय्या आकूत्या श्रद्धाम् उपासते) ऐसे सब साधारण और विशिष्ट विद्वान् हृदयगत मनोभाव से श्रद्धा की उपासना करते हैं। (श्रद्धया वसु विन्दते) इस श्रद्धा–सत्यधारण–से ही उपासक परम ऐश्वर्य ज्ञानादि को भी प्राप्त करता है।

इस सूक्त का पञ्चम और अन्तिम मन्त्र यह है—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

(ऋ० १०।१५१।५)

इसका श्री सायणाचार्य भाष्य निम्न शब्दों में है—

(श्रद्धाम्) श्रद्धां देवीं (प्रातः) पूर्वाह्णे (हवामहे) तथा (मध्यन्दिनं परि) मध्यन्दिनं परिलक्ष्य मध्यन्दिन इत्यर्थः मध्याह्नेऽपि तां श्रद्धाम् आह्वामहे (सूर्यस्य) सर्वस्य प्रेरकस्यादित्यस्य (निम्रुचि) अस्तमय वेलायां सायं समये अपि (श्रद्धाम्) तामेव श्रद्धाम् आह्वयामहे (श्रद्धे) इंदृग्रूपे हे श्रद्धे (नः) अस्मान् (इह) लोके कर्माणि वा (श्रद्धापय) श्रद्धावतः कुरु॥

(श्री सायणाचार्यकृत ऋक् संहिता १०।१५१ भाष्ये)

तात्पर्य यह है कि हम प्रातः, मध्याह्न, सायं सूर्यास्त के समय हर समय श्रद्धा देवी का ही हृदय में आवृतान करें। हमारा कोई काम श्रद्धा से रहित, रूखा, सूखा न हो। सच्ची श्रद्धा से प्रेरित होकर जो कार्य किये जाते हैं, उन्हीं में से मनुष्य को सच्चे सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में श्री सायणाचार्य ने श्रद्धा का अर्थ पुरुषगतोऽभिलाषी विशेषः श्रद्धा अथवा आदरातिशयः, यह किया है। श्रद्धा के अन्य अर्थों का हम ऊपर निर्देश कर ही चुके हैं।

श्रद्धापूर्वक ईश्वराराधन का लौकिक फल—

ऋग्वेद २।२६।३ में श्रद्धापूर्वक ईश्वर के आराधन का निम्नलिखित फल बताया गया है जो स्मर्तव्य है।

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्॥

(ऋ० २।२६।३)

(यः) जो पुरुष (श्रद्धामनाः) श्रद्धायुक्त मनवाला होकर (हविषा) ग्रहण करने योग्य भक्ति से (देवानां पितरम्) सब ज्ञानियों के पालक (ब्रह्मणस्पतिम्) ज्ञान के स्वामी परमेश्वर की (आविवासति) पूजा करता है, (स इत्) वही (जनेन) उत्तम मनुष्यों से (स विशा) वह प्रजा से (स जन्मना) वह अपने जीवन से (स पुत्रैः) वह अपने पुत्रों से (वाजम्) ज्ञान और बल को (भरते) धारण करता है। (नृभिः) अपने सम्बन्धी अथवा अनुयायी मनुष्यों के द्वारा वह पुरुष (धना भरते) धन से परिपूर्ण होता है।

इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखने से मनुष्य को अच्छे सहायक, मित्रादि प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा उसे ज्ञान और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। उसकी सन्तान भी उत्तम गुणयुक्त होती है। दयामयी जगन्माता के प्रति जो अपने को समर्पित कर देते हैं, निश्चय से उनका संसार में कभी अमंगल नहीं हो सकता।

सामवेद में श्रद्धा माता का प्रतिपादन

सामवेद मं० ९० में श्रद्धा को माता के रूप में बताया गया है—

जातः परेण धर्मणा यत् सवृद्भिः सहाभुवः।
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः॥

(साम० ९०)

हे परमेश्वर आप दया, प्रेम, उदारता आदि धर्मों से युक्त होकर भक्त मनुष्य के हृदय में सदा प्रकट होते हैं। जो भक्त एक चित्त होकर आपकी उपासना करते हैं, आप सदा उनके निकट निवास करते हैं। अज्ञानियों के भी रक्षक आप हैं। (कश्यपस्य) अविद्यारूपी मदिरा का पान करनेवाले जीव की (श्रद्धामाता) श्रद्धा ही माता होती है। जैसे माता का आज्ञाकारी पुत्र उत्तम मार्गगामी होता है, वैसे जो श्रद्धारूप माता का अनुसरण करता है, वह अवश्य सन्मार्गगामी बन जाता है। (कविः) क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी (मनुः) मननशील ज्ञानदाता उस श्रद्धा माता के अनुगामी का उपदेशक बन जाता है। इससे उसका अज्ञान दूर होकर उसे आप (भगवान्) की प्राप्ति होती है।

स्वामी भगवदाचार्यजी ने अपने साम संस्कार भाष्य में इस महत्त्वपूर्ण मन्त्र का संस्कृत में भाष्य इस प्रकार किया है—

(अग्ने) परमात्मन् (परेण) सर्वोत्कृष्टेन (धर्मणाः) कारुण्य वात्सल्यौदार्या-दिरूपेण (जातः) प्रादुर्भूतस्त्वमसि। (यत्) यस्त्वं (सवृद्भि) सह वर्तमानैः सह वर्धमानैर्वा भक्तेः (सह) वर्तस इति तात्पर्यम् (यत्) यश्चायमग्निः सर्वत्र गमनशीलो व्यापकोऽपि (कश्यपस्य) अविद्या-मदिरापानवतोजीवस्य (पिता) रक्षकः तस्याज्ञान-समाकलितस्य जीवस्य (माताश्रद्धा) यथा मातृवशगः पुत्रः सन्मार्गगामी भवति तथैव श्रद्धारूपां मातरं योऽनु सरतिसोऽवश्यं सन्मार्गे प्राप्नोति (कविः) क्रान्तदर्शी महाविद्वान् तस्य (मनुः) ज्ञानदातोपदेशकश्च भवति। परमात्मा यं रक्षितुमिच्छति तं श्रद्धा विद्वान् गुरुश्च स्वयमेव प्राप्नुत इतिभावः॥ (साम संस्कार भाष्ये प्रथम खंडे पृ० ८०)

श्रद्धेय महात्मा मुन्शीरामजी के जीवन में हमें इस वैदिक सत्य का स्पष्ट साक्षात्कार होता है। मुन्शीरामजी युवावस्था में मांस, मद्य, द्यूतादि सभी व्यसनों में फँसे हुए थे। किन्तु जब ऋषि दयानन्दजी सरस्वती के उपदेश से वे कल्याणमार्ग के पथिक बने, तथा उन्होंने श्रद्धा को माता की तरह समझकर, उसे पूर्णतया अपना लिया, तो वे विश्ववन्द्य महात्मा श्रद्धानन्द बन गये। सचमुच उन्होंने श्रद्धा के आनन्द को अनुभव करते हुए और योगदर्शन के भाष्य में महर्षि वेदव्यास के इन महत्त्वपूर्ण शब्दों का ही कि—

सा (श्रद्धा) जननीव कल्याणी योगिनं पाति।

श्रद्धा कल्याणमयी माता की तरह योगी की रक्षा करती है। उच्चारण करते

हुए १० अप्रैल सन् १९१७ में हमारे सम्मुख मायापुर वाटिका हरद्वार में संन्यास की दीक्षा ली। उन्होंने उस समय घोषणा की थी कि गत लगभग ३० वर्षों से श्रद्धा माता की तरह मेरी रक्षा करती रही है। जिस प्रकार सामवेद मं० ९० में श्रद्धा के लिये 'माता' शब्द का प्रयोग है, वैसे ही तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।८।८ में भी किया गया है। उस वचन में कहा है—

श्रद्धां कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि॥

(तैत्ति० ब्राह्मण २।८।८।८)

अर्थात् हम (कामस्य) शुभ कामना करनेवाले जीव की (मातरं श्रद्धाम्) माता श्रद्धा को (हविषा) त्याग, योगाभ्यास तथा भक्ति विशेष द्वारा अपने अन्दर (वर्द्धयामसि) बढ़ाते हैं। छान्दोग्योपनिषत् में इस श्रद्धा के विषय में वेद के अनुसार कहा है कि—

यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।

(छान्दो० ३।१।१०)

जो काम विद्या (ज्ञान) और श्रद्धापूर्वक किया जाता है, वही अधिक प्रभावजनक होता है।

यजु० अ० १९ मं० ७७ में इस बात का उपदेश दिया गया है कि भगवान् ने सदा सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा स्थापित की है। अतः मनुष्य को सदा सत्य में ही श्रद्धा रखनी चाहिए।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳसत्ये प्रजापतिः॥

(यजु० १९।७७)

इस मन्त्र का उव्वटाचार्य ने इस प्रकार भाष्य किया है—

(दृष्ट्वा) उपलभ्य (रूपे) सत्यानृतयोः इदं सत्यमेवरूपम् इदमनृतमेवं रूपमिति (व्याकरोत्) व्याकरणं पृथक्कार्यावस्थानम् कथं व्याकरोत् (अश्रद्धाम्) (अनृतेऽदधात्) अनृतनिमित्तत्वात्+अश्रद्धायाः (श्रद्धाम्) आस्तिक्यं (सत्ये) कः अदधात् (प्रजापतिः) महीभटाचार्य ने भी लगभग अक्षरशः ऐसा ही अर्थ किया है। श्रद्धा का अर्थ उसने आस्तिक्यबुद्धिः यह किया है। आचार्य दयानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—

"प्रजापतिः परमेश्वरो धर्ममुपदिशति सर्वैर्मनुष्यैः सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीया असत्ये चाश्रद्धेति। (प्रजापतिः) परमेश्वरः (सत्यानृते) धर्माधर्मौ (रूपे) प्रसिद्धाप्रसिद्ध लक्षणो (दृष्ट्वा) (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तो कृतवानस्ति। कथमित्यत्राह (अश्रद्धामनृतेअदधात्) सर्वेषां मनुष्याणाम् अनृतेअधर्मे अन्याये अश्रद्धामदधात्। अर्थादधर्मे अश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति तथैव वेदशास्त्रप्रति-

पादितेसत्ये प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते पक्षपातरहित न्याय्ये धर्मे (प्रजापतिः) सर्वज्ञ ईश्वरः (श्रद्धां चादधात्) एव सर्वैः मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सदैव कार्यमिति।'' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम्)

भाषानुवाद—इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी है वह सब मनुष्यों के लिए धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से कालों में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिए। असत्य में कभी नहीं। (प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है जिनके प्रकट और गुप्त लक्षण हैं। जितना धर्म-अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टा के साथ सम्बन्ध रखता है, वह प्रकट और जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है, वह गुप्त कहाता है। (व्याकरोत्) उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक-ठीक विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है सो वह इस प्रकार से है कि (श्रद्धाम् अनृते अदधात्) हे मनुष्य लोगो! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में अश्रद्धा रखो अर्थात् प्रीति कभी मत करो वैसा ही (श्रद्धां सत्ये अदधात्) सत्य अर्थात् जो वेद शास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गयी हो वा की जाय, वही पक्षपात् से अलग न्याय रूप धर्म है। उसके आचरण में सब दिन प्रीति रखो और जो-जो तुम लोगों के लिए मेरी आज्ञा है, उस उसमें अपने आत्मा प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य में ही प्रवृत्त करो।

इस प्रकार वेदों में पाये जानेवाले श्रद्धाविषयक अनेक मन्त्रों के अनुशीलन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वेदों में जिस श्रद्धा की महिमा गायी गयी और जिसे हर समय धारण करने का उपदेश दिया गया है, वह अन्धविश्वास नहीं, अपितु प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों द्वारा परीक्षित सत्य धर्म में प्रीति और सत्य को दृढ़ता से धारण करने की इच्छा और क्रिया तथा आस्तिक्य है। श्रद्धा माता की तरह हमारी रक्षा करती तथा सत्य मार्ग में सदा प्रवृत्त कराती है। वेदों में इस धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और यश इत्यादि सेवनीय पदार्थों का मस्तक श्रद्धा ही बताया गया है। इसके धारण किये बिना मनुष्य का कभी कल्याण नहीं हो सकता, न उसे जीवन में सच्चे सुख, शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। उसके बिना मनुष्य का जीवन सर्वथा नीरस-रूखा बना रहता है।

श्रद्धा का अर्थ योगचित्त की सदा उत्तम प्रसन्नता भी किया है जो परमेश्वर, धर्म और सत्य में विश्वास से ही रह सकती है। जो परमेश्वर, धर्म और सत्य में श्रद्धा रखता है, वह भयंकर से भयंकर आपत्ति के आने पर भी कभी घबराता नहीं। उसका चित्त सदा शान्त और प्रसन्न बना रहता है।

वेदों में मेधा का महत्त्व—

वेदों के अनुसार जहाँ श्रद्धा का इतना महत्त्व है कि उसे माता के नाम से पुकारा गया है और प्रातः, मध्याह्न, सायं हर समय उसे पुकारने का आदेश दिया गया है, वहाँ साथ ही मेधा अर्थात् सत्य, असत्य, धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेचन करनेवाली शुद्ध तर्क के लिए वेदों में इसी प्रकार हर समय प्रार्थना करने और उसे धारण करने का उपदेश है। अथर्ववेद ६। १०८ का सूक्त मेधा सूक्त है जिसमें ५ मन्त्र हैं जिनको अर्थ सहित उद्धृत करना यहाँ उचित प्रतीत होता है। उसके पश्चात् बुद्धिविषयक अन्य मन्त्रों को उद्धृत किया जायेगा जिससे यह ज्ञात हो सके कि वेदों में श्रद्धा के समान ही शुद्धि, बुद्धि व तर्क को भी कितना ऊँचा स्थान दिया गया है और किस तरह श्रद्धा और मेधा के समन्वय पर बल दिया गया है। यह श्रद्धा-मेधा समन्वय, वैदिक धर्म की बड़ी भारी विशेषता है।

अथर्ववेद ६। १०८ के मेधा सूक्त के पाँच मन्त्र निम्नलिखित हैं—

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि।
त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया॥

(अथर्व० ६। १०८।१)

हे (मेधे) धारणावती शुद्ध बुद्धे! (त्वं नः गोभिः अश्वेभिः आगहि) तू हमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के साथ प्राप्त हो। (गम् धातु के ज्ञान गमन प्राप्ति में से ज्ञान अर्थ को लेकर यह अर्थ यहाँ किया गया है।) वीर्यं वा अश्वः-शत० १।१। १।४, २।३।२।४। बलयुक्त कर्मेन्द्रियाँ अथवा अशूङ् व्याप्तौ इस धातु से अश्व का प्रयोग वेदों में अनेक स्थानों पर कर्मेन्द्रियों के लिए है जैसे कि इन्द्रियाणि हयानाहुः, इस कठोपनिषत् १।३।४ के वचन में भी कहा है। (त्वम्) तू (सूर्यस्य) सब के प्रेरक परमात्मारूपी सूर्य की (रश्मिभिः) ज्ञानमय किरणों के साथ हमें प्राप्त हो (त्वं हि) तू निश्चय से (यज्ञिया असि) संगति करने योग्य और पूजनीय है।

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥

(अथर्व० ६। १०८।२)

(अहम्) मैं (प्रथमाम्) श्रेष्ठ, सबसे प्रथम, उत्तम गुणवाली (ब्रह्मण्वतीम्) वेद ज्ञान से युक्त (ब्रह्मपूजताम्) ब्रह्मज्ञानियों से सेवित (ऋषि-स्तुताम्) ऋषियों द्वारा प्रशंसित (ब्रह्मचारिभिः प्रपीताम्) ब्रह्मचारियों द्वारा खूब उत्तम रीति से पान की गयी (मेधाम्) धारणावती शुद्ध बुद्धि को (अवसे) अपनी रक्षा और ज्ञान के लिए (हुवे) पुकारता हूँ। उसको अपने पास बुलाता और उसके लिए प्रार्थना करता हूँ।

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि॥

(अथर्व० ६।१०८।३)

(यां मेधाम्) जिस मेधा धारणावती शुद्ध-बुद्धि को (ऋभवः) सत्य के प्रकाशित होनेवाले विद्वान् (ऋतेन भान्तीति ऋभवः-निरुक्ते ११।३।१३) और शिल्पी लोग (विदुः) जानते और प्राप्त करते हैं (यां मेधाम्), जिस मेधा को (असुराः विदुः) प्राण विद्या का जाननेवाले, प्राणायाम के अभ्यासी लोग जानते और प्राप्त करते हैं, (या भद्रां मेधाम्) जिस कल्याणकारिणी, सुख प्रदा मेधा को (ऋषयः) ऋषिगण (विदुः) जानते और प्राप्त करते हैं (ताम्), उस शुद्ध-बुद्धि को (मयि) अपने आत्मा में (आवेशयामसि) हम धारण करें। सब सत्य से प्रकाशमान विद्वानों, शिल्पियों, ऋषियों और प्राणायाम का अभ्यास करनेवाले योगियों द्वारा सेवित कल्याणकारिणी शुद्ध-बुद्धि को हम अपने अन्दर सदा धारण करें।

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु॥

(अथर्व० ६।१०८।४)

(यां मेधाम्)-जिस मेधा-शुद्ध-बुद्धि को (भूतकृतः) उत्पन्न समस्त पदार्थों का उपयोग करनेवाले अथवा पञ्चभूतों की साधना करनेवाले, उन पर वशीकार साधना करनेवाले (मेधाविनः) मेधा सम्पन्न बुद्धिमान् पुरुष (विदुः) जानते और उसका लाभ करते हैं। हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (तया मेधया) उस मेधा से (अद्य) आज-सदा (मां मेधाविनं कृणु) मुझे मेधावी-प्रतिभाशाली बना।

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे॥

(अथर्व० ६।१०८।५)

हम लोग (सायम्) सायंकाल, सूर्यास्त के समय (मेधाम्) मेधा नामक शुद्ध-बुद्धि का ध्यान करें, (प्रातः मेधां वेशयामहे) प्रातः सूर्योदय के काल में हम बुद्धि प्राप्त करने की प्रार्थना करें और उसे अपने में प्रविष्ट करें। (मध्यन्दिनं परि मेधाम्) मध्याह्नकाल में भी हम मेधा बुद्धि को प्राप्त करने की प्रार्थना करें। हम (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की किरणों के साथ और उसके प्रकाशक परमेश्वर के (वचसा) उपदेश वचनों से मेधा-बुद्धि को अपने में (आवेशयामहे) स्थापित करें। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा की तरह वेदों में मेधा-सत्य, असत्य, धर्म, अधर्म, पाप-पुण्य में भेद करनेवाली धारणावती शुद्ध-बुद्धि को ऋषियों, ज्ञानियों,

शिल्पियों तथा अन्य सब विद्वानों द्वारा सेवित तथा प्रशंसित और अतएव यज्ञिया–पूजनीय तथा संगति करने योग्य बताते हुए प्रातः, मध्याह्न, सायं, प्रत्येक समय उसे अपने अन्दर धारण करने का उपदेश दिया गया है।

यजुर्वेद अ० ३२ में निम्नलिखित २ मन्त्र मेधा के लिए प्रार्थना के रूप में आये हैं जिनसे उसका महत्त्व स्पष्टतया ज्ञात होता है।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥

(यजु० ३२।१४)

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा॥

(यजु० ३२।१५)

इन दो मन्त्रों का सरल अर्थ इस प्रकार है—

हे (अग्ने) सर्वज्ञ परमात्मन्! (यां मेधाम्) जिस विज्ञानवती यथार्थ धारणावाली बुद्धि को (देवगणाः) विद्वानों के वृन्द (उपासते) धारण करते हैं तथा (पितरः च) यथार्थ विज्ञानवाले पितर जिस बुद्धि के उपाश्रित होते हैं (तया मेधया अद्य मां) (मेधाविनं कुरु) उस बुद्धि के साथ इसी समय कृपा से मुझको मेधावी कर (स्वाहा) इसको आप अनुग्रह और प्रीति से स्वीकार कीजिए जिससे मेरी जड़ता सब दूर हो जाय।

२—हे सर्वोत्कृष्टेश्वर! आप (वरुणः) वरणीय आनन्दस्वरूप हो, कृपा करके मुझ को मेधा–सर्वविद्या सम्पन्न बुद्धि दीजिए तथा (अग्निः) विज्ञानमय विज्ञानप्रद (प्रजापतिः) सब संसार के अधिष्ठाता पालक (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (वायुः) विज्ञानवान् अनन्तबल वा –गतिगन्धनयोः (धाता) तथा सब जगत् का धारण और पोषण करनेवाले आप डुधाञ् धारण पोषणयोः मुझको अत्युत्तम मेधा बुद्धि दीजिए। (स्वाहा) मैं आपके प्रति अपने को पूर्णतया समर्पित करता हूँ।

उव्वटाचार्य और महीधर ने उपासते का अर्थ पूजयन्ति करते हुए अन्त में लिखा है कि देवपितृमान्याबुद्धिरस्माकमस्त्वित्यर्थः अर्थात् हमें देवों और पितरों से मान्य बुद्धि प्राप्त हों।

यह मेधा बुद्धि जिसके लिए इन तथा अन्य वेद मन्त्रों में प्रार्थना की गयी है, वह शुद्ध–बुद्धि है जिसके द्वारा सत्य, असत्य, धर्म, अधर्म, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, यथार्थ, अयथार्थ सबका ठीक–ठीक बोध हो सकता है, इसलिए उसे दूसरे शब्दों में शुद्ध तर्क वा जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट के शब्दों में Pure Reason भी कह सकते हैं।

ऋग्वेद १।७३।७ में शुद्ध बुद्धि की प्रार्थना इन शब्दों में की गयी है—

त्वे अ॑ग्ने सुम॒तिं भिक्ष॑माणा दि॒वि श्रवो॑ दधिरे य॒ज्ञिया॑सः॥

(ऋ० १।७३।७)

हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (त्वे) तुझ में (सुमतिं भिक्षमाणाः) उत्तम बुद्धि को माँगते हुए (यज्ञियासः) पूजनीय विद्वान् (दिवि) प्रकाशमय अवस्था में (श्रवः दधिरे) यश को धारण करते हैं। श्रेष्ठ बुद्धि की भिक्षा सब से उत्तम भिक्षा है। सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में, जिसको वेद माता के नाम से भी कहा जाता है, इसी श्रेष्ठ बुद्धि की प्रार्थना है—धियो योः नः प्रचोदयात्, वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वदुःख निवारक सुख स्वरूप आनन्दमय सर्वोत्पादक सर्वप्रकाशक परमेश्वर जिसके श्रेष्ठ वरणीय तेज का हम ध्यान करते हैं, हमारी बुद्धियों को पवित्र करे तथा उसकी पवित्र प्रेरणा हमें प्राप्त हो, यह गायत्री (सावित्री) मन्त्र का तात्पर्य है।

ऋ० १।९४।४ में बुद्धि की तीव्रता के विषय में निम्न प्रार्थना है—

जी॒वात॑वे प्रत॒रं सा॑धया॒ धियोऽग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑॥

(ऋ० १।९४।४)

हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (जीवातवे) उत्तम जीवन को व्यतीत करने के लिए (नः धियः) हमारी बुद्धियों को (प्रतरं साधय) उत्तमता से सिद्ध करो-खूब अच्छी तरह से विकसित करो (ते सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं मा रिषाम) हम कभी पीड़ित न हों।

ऋ० १।१३१।७ में प्रार्थना की गयी है कि—

रि॒ष्टं न याम॒न्नप॑ भूतु दु॒र्मति॒र्विश्वाप॑ भूतु दु॒र्मतिः॥

(ऋ० १।१३१।७)

(यामन् रिष्ट न) मार्ग में आये विघ्न के समान (दुर्मतिः) (अपभूतु) दुर्बुद्धि दूर हो जाय (विश्वादुर्मतिः अपभूतु) सब प्रकार की दुर्बुद्धि दूर हो जाये।

ऋ० १।३१।१८ में उत्तम बुद्धिविषयक निम्न प्रार्थना है—

सं नः सृज सुम॒त्या वाज॑वत्या॥ (ऋ० १।३१।१८)

हे परमेश्वर! (नः) हमें (वाजवत्या) उत्तम ज्ञान और शक्ति युक्त (सुमत्या) श्रेष्ठ बुद्धि से (संसृज) अच्छी प्रकार से सम्पन्न कर।

इन्द्र॑ मृ॒ळ मह्यं॑ जी॒वातु॑मिच्छ चो॒द॒य॒ धिय॒मय॑सो॒ न धारा॑म्।
यत्किं चा॒हं त्वा॒यु॒रि॒दं वदा॑मि॒ तज्जु॑षस्व कृ॒धि मा॑ दे॒ववन्तम्॥

(ऋ० ६।४७।१०)

हे (इन्द्र) परमेश्वर्य सम्पन्न जगदीश्वर! (मृड) मुझे सुखी कर (मह्यं जीवा तुमिच्छ) मुझे उत्तम जीवन व्यतीत करने की शक्ति दे। (अयसः धारां न धियं चोदय) लोहे की बनी छुरी की धार की तरह मेरी बुद्धि को तीव्र और पवित्र कर।

(त्वायुः) तेरी कामना करता हुआ (त्वायत् किं च वदामि) मैं तुझे जो कुछ कहता हूँ–तुझ से जिस वस्तु की प्रार्थना करता हूँ (तत्–जुषस्व) उसे तू स्वीकार कर और (मा देववन्त कृधि) मुझे दिव्य गुणों से युक्त भक्त बना दे।

यहाँ छुरे की धार की तरह तेज बुद्धि की प्रार्थना की गयी है। साथ ही सच्चे भक्त बनने की प्रार्थना है। यह मेधा और श्रद्धा का अद्भुत समन्वय है जिस पर वेदों में सर्वत्र बल दिया गया है।

ऋ० ८।६।३२ में बुद्धि वृद्धि की प्रार्थना इस प्रकार है—

इमां म इन्द्र सुष्टुतिं जुषस्व प्र सु मामव। उत प्र वर्धया मतिम्॥

(ऋ० ८।६।३२)

हे (इन्द्र) परमेश्वर! (मे इमां सुष्टुतिं जुषस्व) मेरी इस उत्तम स्तुति को प्रेमपूर्वक स्वीकार करो। (माम्) मुझे (प्र सु अव) बहुत अच्छी तरह से रक्षित करो। (उत्) और (मति प्रवर्धय) मेरी बुद्धि को प्रकृष्टता से–खूब अच्छी तरह से बढ़ाओ।

ऋ० ८।४२।३ में प्रार्थना की गयी है—

इमां धियं शिक्षमाणस्य देव क्रतुं दक्षं वरुण सं शिशाधि।
ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम॥

(ऋ० ८।४२।३)

हे (वरुण देव) सर्वप्रकाशक वरणीय परमेश्वर! (इमां धियं शिक्षमाणस्य) इस ज्ञान और कर्म का अनुष्ठान करने और अन्यों को उपदेश देनेवाले की (क्रतुं दक्षम्) बुद्धि और बल को (सं शिशाधि) अच्छी तरह से तीक्ष्ण कर (यया) जिससे हम (विश्व दुरिता) सब दुष्कर्मों को (अतितरेम) पार कर जायें तथा सब बुराइयों के भी पार हो जायें और (सुतमर्णिं नावम्) सुख से पार उतारनेवाली नौका वत् वेदवाणी पर (अधिरुहेम) चढ़ जायें। उसका आश्रय लेवें। प्रभु कृपा को भी नौका के समान समझा जा सकता है।

ऋग्वेद १०।४२।७ में परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है—

इन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम्॥ (ऋ० १० ।४२।७)

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (जरित्रे) स्तुति करनेवाले भक्त की (धियम्) बुद्धि को (वाजरत्नाम्) ज्ञान और बल रत्न से युक्त (कृधी) बना दे। ज्ञान और बल युक्त बुद्धि की भावना कितनी उत्तम है। ऋग्वेद १०।१०।१२ में मनुष्यों को उपदेश किया गया है—

धिय आ तनुध्वम्॥

हे मनुष्यो! तुम (धियः) अपनी बुद्धियों को (आतनुध्वम्) चारों ओर से–सब प्रकार से विस्तृत और विकसित करो। (तनु विस्तारे)

ऋग्वेद ३।५७।६ में सर्वज्ञ भगवान् से प्रार्थना की गयी है कि—

तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदो वसो रास्वं सुमतिं विश्वजन्याम्॥

(ऋ० ३।५७।६)

(जातवेद:) हे सर्वव्यापक और सर्वज्ञ परमेश्वर जाते–जाते विद्यत इति वा जातानि वेदेति वा जातवेदा: तत्सम्बुद्धौ यास्कीय निरुक्ते ७।४।१९। (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (तां प्रमतिम्) उस प्रकृष्ट–अत्यन्त तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि को (रास्व) प्रदान कर (वसो) हे सब के वसानेवाले–सर्वाधार जगदीश्वर, हमें (विश्व जन्यां सुमतिम्) सब मनुष्यों के लिए हितकारिणी उत्तम बुद्धि को दो।

इसी तरह हम देखते हैं कि वेद में न केवल बुद्धि की पवित्रता की प्रार्थना है, अपितु उसकी सूक्ष्मता, तीव्रता और विकास की भी। वेद हमें 'धिय आतनुध्वम्' ऋ० १०।१०।१२ इत्यादि द्वारा बुद्धि को विकसित करने का सब प्रकार से बढ़ाने का उपदेश देते हैं जिससे उसके द्वारा हम शुद्ध तर्क प्राप्त करके सत्यासत्य का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकें। अथर्ववेद ७।१५।१ में विश्ववारा सुमति–सब के लिए वरणीय उत्तम बुद्धि की प्रार्थना, इन शब्दों में की गयी है—

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय॥

(अथर्व० ७।१५।१)

हे (सवित:) सारे जगत् के उत्पादक और प्रेरक प्रभो! (अहम्) मैं (सत्यसवाम्) सत्य ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली (सुचित्राम्) अत्यन्त अद्भुत अथवा पूजनीय (विश्ववाराम्) सब के लिए वरणीय (ताम्) उस (सुमतिम्) उत्तम बुद्धि को (आवृणे) चारों ओर से वरण करता हूँ। (अस्य) इसकी (याम्) जिस (सहस्रधाराम्) हजारों पदार्थों के ज्ञान को धारण करनेवाली (प्रपीनाम्) अत्यन्त हृष्ट–पुष्ट गौ के समान आनन्द रस का पान करनेवाली दिव्य शक्ति को (भगाय) ज्ञान, धर्मादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (महिष:) महान् (कण्व:) मेधावी–प्रतिभाशाली पुरुष (अदुहत्) दोहता है—प्राप्त करता है। (महिष इति महन्नाम–निघं० कण्व इति मेधाविनाम–निघं० ३।१५)

यह सत्यसवा, विश्ववारा, सुचित्रा, सुमति की प्रार्थना कितनी उत्तम है। यदि ऐसी अद्भुत सत्य ज्ञानोत्पादिका, सब के लिए वरणीया उत्तम बुद्धि हमें प्राप्त हो जाय तो हमारा जीवन कितना दिव्य बन जाय!

अथर्व० २०।२१।५ में भी देवी प्रमत्या को प्राप्त करके उसके द्वारा कर्म आरम्भ करने की प्रार्थना है—

सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्र्याश्वावत्या रभेमहि॥

(अथर्व० २०।२१।५)

हे परमेश्वर! हम (वीर शुष्मया) प्राणों के बल से युक्त (प्राण वेदशवीराः–शत० १२।८।१।२२; शुष्ममिति बलनाम–निघं० २।९) (गो अग्रया) ज्ञानेन्द्रियों को आगे रखनेवाली (अश्वावत्या) कर्मेन्द्रियों के बल से भी युक्त (देव्या) देवी–अत्यन्त पवित्र, सात्त्विक (प्रमत्या) प्रकृष्ट–सूक्ष्म और तीव्र बुद्धि से (आरभेमहि) कार्यों को आरम्भ करें। अन्य भी सैकड़ों मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है किन्तु इतने ही मन्त्र इस बात को दिखाने के लिए पर्याप्त है कि वेदों में बुद्धि की बड़ी महिमा मानी गयी है और उसे न केवल पवित्र और निर्मल, अपितु तीव्र सूक्ष्म और विकसित बनाने के लिए भगवान् से प्रार्थना तथा ऐसी पवित्र और तीव्र बुद्धि के द्वारा सब कार्यों को आरम्भ करने का उपदेश है। यह बात इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि अन्य प्रायः सभी मत–मतान्तरों में केवल विश्वास Faith या ईमान पर बल दिया गया है। और यहाँ तक माना गया है कि मजहब की बातों में अक्ल का दखल नहीं अथवा धर्म की बातों में बुद्धि का प्रवेश नहीं।

श्रद्धा मेधा समन्वय

इस विषय में वैदिक आदेश यह है कि श्रद्धा और मेधा (विश्वास और तर्क) का समन्वय किया जाय तब अन्धविश्वास वा मूढ़ भक्ति को फैलने की कोई सम्भावना न रहेगी तथा श्रद्धा के कारण सच्चे आनन्द और शान्ति की भी प्राप्ति होगी, जो शुष्क तर्क से कभी प्राप्त नहीं हो सकती, वह चाहे कितना भी शुद्ध क्यों न हो। वेदों के अनुसार हमारी प्रार्थना यह होनी चाहिए—

अग्नें समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे।
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्र यच्छतु॥

(अथर्व० १९।६४।१)

(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप सर्वनेता जगदीश्वर! (बृहते जातवेदसे) आप जो सब से बड़े और सर्वव्यापक सर्वज्ञ हैं, मैं ऐसे आपके लिए (समिधम् आहार्षम्) प्राणरूपी समिधा को लाता हूँ–उसके प्रति अपने को पूर्ण समर्पित करता हूँ। (प्राणा वै समिधः ऐतरेय २–४ शत० १।५।४।१ प्राणा वै समिधः प्राणा वै समिधः प्राणा ह्येतं समिन्धते–शत० ९।२।३।११) (स जातवेदाः) वह सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमेश्वर (मे) मुझे (श्रद्धा च मेधां च) श्रद्धा और मेधा–शुद्ध धारणावती बुद्धि को (प्रयच्छतु) प्रदान करे।

इस प्रकार श्रद्धा और मेधा दोनों के समन्वय से सब कार्य ठीक तौर पर सम्पन्न होते हैं और किसी प्रकार की हानि की संभावना नहीं होती। इसी बात को वेद में इस काव्यभाषा में कहा गया है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः॥

(अथर्व० १०।२।२६)

(अथर्वा) थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषधेः निरु० ११।२।१७ निश्चल स्थित प्रज्ञ योगी (अस्य मूर्धानम्) अपने मस्तिष्क को और (यत् च हृदयम्) जो हृदय है, इनको (संसीव्य) अच्छी प्रकार से सीकर मिलाकर (पवमानः) सबको पवित्र करनेवाला बनकर अपने प्राण को (शीर्षतः अधि, मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः) सिर के बीच में किन्तु मस्तिष्क के ऊपर की ओर (प्रेरयत्) प्रेरित करता है।

इस मन्त्र में कहा है कि अथर्वा–निश्चल योगी को चाहिए कि वह मस्तिष्क (दिमाग) और हृदय (दिल) को सीकर कार्य करे। सीने का तात्पर्य एक कार्य में लगाना है। सिर विचार कर कार्य करता है और हृदय भक्ति में तल्लीन होता है। तर्क का स्थान मस्तिष्क और श्रद्धा विश्वास का स्थान हृदय में है। तर्क और श्रद्धा को मिलाकर कर्म करने से ही निश्चल योगी का तथा अन्य सब का सच्चा कल्याण होता है। केवल तर्क बढ़ने पर नास्तिकता और केवल भक्ति बढ़ने पर अन्धविश्वास होना स्वाभाविक है। इसलिए वेद ने इस मन्त्र के द्वारा उपदेश दिया है कि सिर और हृदय को सी दो। ऐसा करने से सिर अपने तर्क भक्ति के साथ करेगा और नास्तिक नहीं बनेगा। तथा भक्ति करते–करते हृदय अन्धा बनने लगेगा तो सिर उसको ज्ञान नेत्र देगा। इस प्रकार दोनों का लाभ है। सिर में ज्ञान नेत्र है और हृदय की भक्ति में बड़ा बल है। इसलिए दोनों के एकत्रित होने से ही बड़ा लाभ है।

शिक्षा का विचार करनेवालों को भी इस मन्त्र से बड़ा बोध मिल सकता है। शिक्षा की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि जिससे पढ़नेवालों के सिर की विचार शक्ति बढ़े और साथ–साथ हृदय की भक्ति भी बढ़े। जिस शिक्षा प्रणाली से केवल तर्क शक्ति बढ़ती है, अथवा केवल भक्ति बढ़ती है, वह बड़ी घातक शिक्षा है। सिर और हृदय को एक मार्ग में लाकर उनको साथ–साथ चलाने का जो स्पष्ट उपदेश इस मन्त्र में है, वह किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं है। वेद की प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ के रूप में यह सब से बड़ी विशेषता है।

अन्य मत–मतान्तरों में केवल विश्वास पर बल होने से जो अत्याचार बुद्धिमान् तार्किक, विचारशील, नर–नारियों पर किये गये, उनका कारण यह श्रद्धा और मेधा अथवा विश्वास और तर्क के समन्वय का अभाव ही था। उदाहरणार्थ (१) एरियस नामक अलैक्जेण्ड्रिया के दार्शनिक पर इस विचार के प्रकट करने पर कि पिता और पुत्र की आयु समान नहीं हो सकती, जिसका निर्देश ईसा मसीह पुत्र Holy Son और पवित्र पिता Holy Father पवित्रात्मा Holy Ghost इस Trinity के सिद्धान्त की ओर था, जैसे कि सुप्रसिद्ध Nicene Creed में ईसाई मत का यह विश्वास प्रकट किया गया है कि—

"Such as the Father is, such is the son, such is the Holy Ghost. The father is un-created, The Son is un-created, the

Holy Ghost is un-created. The Father is God, the son is God, the Holy Ghost is God."

यह Athanasian Creed में Nicene Creed की व्याख्या है जिसका मतलब है कि जैसा पिता है, जैसा ही पुत्र है और वैसा पवित्रात्मा है। पिता अनुत्पादित (नित्य) है, पुत्र अनुत्पादित (नित्य) है, पवित्रात्मा अनुत्पादित (नित्य) है, पिता ईश्वर है, पुत्र ईश्वर है, पवित्रात्मा ईश्वर है।

१. सर्वथा बुद्धि और तर्क विरुद्ध ईसाई मन्तव्य के विरोध में यह तर्कसंगत कथन करने पर जिसकी सत्यता एक छोटा बालक भी सुगमता से समझ सकता है, ईसाईयों की कोंसिल की ओर से भीषण अत्याचार किये गये और उसके इस तर्क सम्मत कथन की घोर निन्दा की गयी। कौन्स्टेण्टाइन (सम्राट्) ने यहाँ तक आज्ञा दे दी कि जो इस अविश्वासी की पुस्तक को न जलाए, उसे भी मार डाला जाय।

२. नैस्टर नामक ऐण्टियोक के पादरी को यह युक्तियुक्त विचार प्रकट करने पर कि ईश्वर की कोई माता नहीं हो सकती (जिसका निर्देश ईसा मसीह को ईश्वर मानते हुए जैसे कि ऊपर उद्धृत कथन और एथेनेशियन क्रीड् के वाक्यों में बाइबल के मन्तव्यानुसार स्पष्ट है) उसका संकेत माता मरियम को मानने के ईसाई सिद्धान्त की ओर था, देश निकाला दे दिया गया।

३. पैलेगियस नामक एक अन्य यूनानी दार्शनिक को इस विचार के प्रकट करने पर कि जगत् में मृत्यु, आदम के पाप के फलस्वरूप नहीं हो सकती, जैसे कि बाइबल के Old Testament के Genesis वा उत्पत्ति की पुस्तक अ० ३ के अनुसार ईसाई मानते हैं, सेण्ट आगस्टाइन की प्रेरणा से उस समय के ईसाई सम्राट् ने देश निकाला दे दिया और उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली।

४. यूनान देश की अपने समय की प्रसिद्ध दार्शनिक महिला हिपेश्टिया को, जो अफलातून (Plato) और (Aristotle) के विचारों का प्रचार करती थी, बिशप साहरिल की आज्ञा से एकदम नग्न कर दिया गया और चर्च में धक्केल कर डण्डे की नार से उसकी जान निकाल दी गयी।

"Hypatia was stripped naked in the street, she was dragged into a Church and there killed..."

(History of the Conflict between Religion and Science by W. Draper, M.A.L.L.D., P. 55)

गैलीलियो, ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों पर ईसाई धर्म गुरुओं की ओर से जो अत्याचार किये गये, उनका वर्णन हम धर्म और विज्ञान के समन्वय विषयक अध्याय में करेंगे।

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं वे History of the Conflict between Religion and Scince by William Draper नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक से दिये गये हैं। जो इस विषय को अधिक विस्तार से जानना चाहते हैं उन्हें यह पुस्तक जिसमें धर्म और विज्ञान के विरोध का इतिहास वर्णित है, अवश्य पढ़नी चाहिए। मन्तव्य है कि ईसा मसीह ईश्वर का इकलौता बेटा है और उस पर विश्वास रखने से ही मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है अन्यथा कभी नहीं।

ईसाई तथा कई अन्य धर्मों की बहुत–सी अवधारणायें बुद्धि वा तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं।

ईसाई मत में बुद्धि वा तर्क विरुद्ध बातों का विवरण देते हुए जगद्विख्यात मनीषी तालस्ताय ने "What is Religion" नामक अपनी पुस्तक में लिखा है—

"No religion has ever preached things so evidently incompatible with contemporary knowledge or so immoral as the doctrines preached by Church Christianity. Not to speak of all the absurdities of the Old Testament such as the creation of light before the sun, the creation of the world six thousand years ago, the housing of all the animals in the Ark, or of the many immortal horrors, such as injunctions to massacre children and whole population at God's command, not to speak of the absurd Sacrament of which Voltaire used to say that though there have been and are many absured religious doctrines, there never before was one in which the chief act of religion consisted in eating one's own God, not to dwell on all that, what can be more absurd than that the mother of God was both mother and a virgin, that the sky opened and voice spoke up from there, that Christ flew into the sky and sits some where up there at the right hand of his father, or that God is both one and three, not three Gods like Brahma, Vishnu and Shiva, but one and yet three, and what can be more immoral than the terrible doctrine that an angry and revengeful God punished all men for Adam's sin and sent this son on earth to save them, knowing before and that men would kill him

and would, therefore, be damned; and that salvation from sin consists in being baptised, or in believing that all these things really happened and that the son of God was killed by men that men might be saved and that God will punish with eternal torments those who do not believe this."

(What is Religion by Leo Tolstoy. P. 18-19)

किसी धर्म ने वर्तमान ज्ञान से स्पष्टतया असंगत और अनैतिक बातों का इतना प्रचार नहीं किया जितना गिरजाघरों द्वारा प्रचारित ईसाई धर्म ने। इसे याद रखना चाहिए, ओल्ड टेस्टेमेण्ट या पुरानी बाइबल में जो असंगत बातें हैं उन्हें यदि हम छोड़ भी दें यथा—

१. सूर्य की उत्पत्ति से पूर्व प्रकाश का पैदा करना।

२. ६००० वर्ष पूर्व संसार की उत्पत्ति।

३. नूह की नौका (Arch) में सब जानवरों को एकत्रित करना।

४. खुदा की आज्ञा से बच्चों और सारे नर–नारियों को मारने की अनैतिक कार्यवाही।

५. असंगत संस्कार (Sacrament) जिनके विषय में वोल्टेयर कहा करता था कि यद्यपि असंगत कोई सिद्धान्त पहले कभी प्रचारित नहीं किया गया जिसमें मुख्य क्रिया अपने ईश्वर को खाना हो।

६. इन सब बातों पर हम यदि कुछ भी न कहें तो भी इससे बढ़कर असंगत क्या हो सकती है कि ईश्वर (ईसामसीह) की माता मेरी (Mary) माता भी थी और उसी समय कुमारी भी थी।

७. आकाश खुल गया और एक आवाज वहाँ से बोल पड़ी।

८. ईसा मसीह आकाश में उड़ गया और अपने पिता ईश्वर के दायें हाथ में वह कहीं बैठा है।

९. ईश्वर एक भी और तीन भी। जैसे कि ईसाई Trinity वा त्रयी सिद्धान्त द्वारा मानते हैं। पौराणिकों के ब्रह्मा, विष्णु, शिव की तरह तीन ईश्वर नहीं, किन्तु एक और फिर भी तीन।

१०. इससे बढ़कर अनैतिकता क्या हो सकती है कि क्रुद्ध और बदला निकालनेवाला ईश्वर आदम की आज्ञा भंग के पाप के लिए सब मनुष्यों को दण्ड देता है। जैसा कि Original sin के सिद्धान्तानुसार ईसाई मानते हैं और जिसको न मानने पर पैलेगियस को सेण्ट आगस्टाइन की प्रेरणा से, उस समय के ईसाई

सम्राट् ने देश निकाला दे दिया और उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली। और उसने अपने पुत्र (ईसा मसीह) को पृथिवी पर भेजा। उनको बचाने के लिए, पहले से यह जानते हुए कि लोग उसकी हत्या कर देंगे और इस कारण नरक में डाल दिये जायेंगे।

११. पाप से मुक्ति इस बात से मिलती है कि बप्तिस्मा ग्रहण किया जाय और इस बात में विश्वास रखा जाये कि ये सब बातें वस्तुतः हुईं जिनका बाइबिल में वर्णन है।

१२. यह मानना कि ईश्वर पुत्र को इसलिए मारा गया कि मनुष्यों का बचाव वा उद्धार हो सके और ईश्वर उन सब को शाश्वत यातना का दण्ड देगा जो इन सब बातों को नहीं मानते।

उपसंहार करते हुए महामनीषी तालस्ताय ने लिखा है कि—

"The very foundations of this religion, admitted by all and formulated in the nicene creed are so absurd and immoral, and are so counter to right feeling and to commonsense, that men can not believe in them. Men may repeat any form of words with their lips but they can not believe things that have no meaning. It is possible to say with one's lips "I believe the world was created six thousand years ago," or "I believe Christ flew up into the sky and sat down next to his Father's" or "God is one and at the same time three-but no one can believe these things; for the words have no sense. And, therefore, men of our modern world who profess this perverted form of Christianity, really believe in nothing at all."

(What is Religion by Leo Tolstoy, P. 19)

इस सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि—

सब के द्वारा स्वीकृत और नाहसीन् क्रीड में प्रतिपादित इस ईसाई मत के आधार इतने असंगत और अनैतिक हैं और वे यथार्थ मनोभावों और सामान्य बुद्धि के इतने विरुद्ध हैं कि मनुष्य उन पर विश्वास नहीं कर सकते। मनुष्य अपनी जबान से किसी प्रकार के शब्दों को दुहरा दें, किन्तु वे उन चीजों में विश्वास नहीं कर सकते जिनका कुछ मतलब नहीं अथवा जो निस्सार हैं। अपनी जबान से किसी के लिए यह कहना सम्भव है कि मैं यह विश्वास करता हूँ कि संसार को बने ६००० ही वर्ष हुए हैं या मैं विश्वास करता हूँ कि ईसा मसीह आकाश में उड़

गया और अपने पिता (ईश्वर) के पास उससे दूसरी ओर बैठ गया या ईश्वर एक है किन्तु उसी समय तीन है। किन्तु कोई इन बातों पर विश्वास नहीं कर सकता क्योंकि इन शब्दों का कुछ भी मतलब नहीं है और इसलिए हमारे समय के लोग जो इस ईसाइयत के विकृत रूप के अनुयायी होने का दावा करते हैं, वस्तुतः किसी चीज में विश्वास नहीं करते।

हम महामनीषी तालस्ताय के इस विश्वास से सहमत हैं कि ईसा ने चरित्र शुद्धि और हृदय की पवित्रता पर बल दिया और उसने किन्हीं सिद्धान्तों वा Dogmas का प्रचार नहीं किया तथापि गिरजाघरों के द्वारा जिन ईसाई मन्तव्यों का दिन-रात सारे भूमण्डल में विविध भाषाओं द्वारा प्रचार किया जा रहा है, उसके जगद्विख्यात् विचारक तालस्ताय द्वारा कृत विवेचन का हमने दिग्दर्शन कराना इस प्रसंग में इसलिए उचित समझा है ताकि श्रद्धा वा विश्वास से, बुद्धि और तर्क से, वेद के शब्दों में मेधा से अलग करने पर वह कैसे भयंकर अविश्वास का रूप ग्रहण कर लेती और इसलिए विचारशील बुद्धिमानों के लिए अनुपादेय तथा अविश्वसनीय बन जाती है (जैसे कि तालस्ताय ने अनेक उदाहरण देकर बताया है)।

अन्य मत-मतान्तरों की कुछ तर्क विरुद्ध बातों का दिग्दर्शन

जैसे ईसाइयत में ईसा मसीह पर विश्वास को मोक्ष की प्राप्ति के लिए अनिवार्य माना गया है, वैसे मुसलमानी मत में पैगम्बर मुहम्मद साहेब पर अन्तिम पैगम्बर के रूप में विश्वास को अनिवार्य माना गया है जिसके बिना कोई उच्चतम व्यक्ति भी स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी नहीं बन सकता। इस विषय में निम्नलिखित वाक्य मुसलमान भाइयों के मत के आधारभूत ग्रन्थ कुरान शरीफ से मौलवियों द्वारा किये प्रामाणिक अनुवादों से उद्धृत किये जाते हैं—

१. "जो लोग दीन इस्लाम से मुन्किर हैं, अल्लाह के यहाँ न तो उनके माल ही उनके कुछ काम आयेंगे और न उनकी औलाद ही। और यही दोज़ख के इन्धन होंगे।" (मौलाना नजीर अहमद कृत कुरान शरीफ के उर्दू अनुवाद का ख्वाजा हसन निजामी कृत हिन्दी अनुवाद म० ७२ यह कुरान शरीफ के सू० ३ स० २ आ० ९ का उर्दू हिन्दी अनुवाद है)

२. "जिन लोगों ने हमारी आयतों से इन्कार किया हम उनको कियामत के दिन दोज़ख में ले जाकर दाखिल करेंगे। जब उनकी खालें गल जायेंगी तो हम इस गर्ज से कि अजाब (पीड़ा) का मजा अच्छी तरह चखें, गली हुई खालों की जगह उनकी दूसरी नयी खालें पैदा कर देंगे। बेशक अल्लाह बड़ा जबर्दस्त तदबीर है।" (कुरान शरीफ के सू० ४ आ० ५६ का मौलाना नजीर अहमद कृत उर्दू अनुवाद)

३. "बेशक अल्लाह ने काफिरों को फटकार दिया है और उनके लिए यह दहकती हुई आग तैयार कर रखी है। उसमें वे सदा को, हमेशा रहेंगे और न किसी

को अपना हिमायती पायेंगे और न मददगार। यह वह दिन होगा जब इनके मुँह सीख के कवाब की तरह दोज़ख की आग में उलट–पुलट किये जायेंगे और अफसोस के तौर पर कहेंगे कि ऐ काश, हमने रसूल का ही कहना माना होता।" (हसन निजामी कृत कुरान शरीफ के पृ० ६०४ पर उद्धृत मौलाना नजीर अहमद कृत अनुवाद जो सूरत ३३ आ० ६४ का है)

अब हम कुछ और बातों को रखना चाहते हैं जिनका विचारशील व्यक्ति स्वयं अन्दाजा लगा सकते हैं कि वे कहाँ तक तर्क और प्रकृति नियम के अनुकूल है।

कुरान सू० २ पा० २ में कहा गया है—

अल्लाह ने फरमाया अच्छा तो चार (भिन्न–भिन्न प्रकार के) पक्षी ले आओ। उन्हें अपने पास रखकर हिलाओ और उनकी सूरतें (आकृतियाँ) अपने जेहन में जमा लो और फिर उनके टुकड़े–टुकड़े करके उनका एक–एक टुकड़ा पहाड़ों पर डाल दो और इसके पश्चात् उन्हें पुकारो। वह तुम्हारे पास दौड़ते हुए आ जायेंगे और उसी से तुमको समझ लेना चाहिए कि अल्लाह बड़ा बुद्धिमान् और शक्तिशाली है। (हसन निजामी कृत कुरान शरीफ का हिन्दी अनुवाद पृ० ६२)

कुरान सी० १ सूरे बकर आ० ५९ में लिखा है कि—

हजरत मूसा ने डंडा मारकर पत्थर में से पानी के १२ स्रोत निकाल दिये। बनी इसराइल ने अच्छे प्रकार तृप्त होकर पानी पिया।

कुरान सी० ९ सूरा आराफ आ० ११७–११८ में लिखा है कि मूसा की लाठी का खुदा ने बड़ा भारी साँप बना दिया जिसको देखकर फरआन, जो एक नास्तिक राजा था, डर गया। उसने समझा कि मूसा एक जादूगर है। उसने मूसा को रस्सियों से बाँधकर उनके चारों ओर साँप डाल दिये। मूसा भी यह दृश्य देखकर डर गया। खुदा ने उसी समय फरिश्ता भेजा कि मूसा मत डर तू जीत जायेगा। अपनी लाठी पृथिवी पर फेंक दे। मूसा ने खुदा की आज्ञानुसार अपना डण्डा पृथिवी पर दे मारा। वह देखते ही देखते एक भारी अजगर बन गया और जादूगरों के डण्डों और रस्सों से बनाये हुए साँपों को खा गया इत्यादि। (हसन निजामी कृत अनुवाद)

क्या इन बातों को तर्क वा बुद्धि संगत माना जा सकता है?

जैन पौराणिक आदि मतों में भी तर्क तथा प्रकृति नियम विरुद्ध बहुत–सी बातें पायी जाती हैं जिनका दिग्दर्शन ही पर्याप्त है।

जैनियों के सुप्रसिद्ध रत्नसार नामक ग्रन्थ में लिखा है—

१. ऋषभदेव तीर्थकर का शरीर ५०० धनुष लंबा (साढ़े ३ हाथ का एक धनुष होता है) और ८४ लाख वर्ष की आयु थी।

२. अजित नाथ तीर्थंकर का ४५० धनुष लम्बा शरीर और ७२ लाख वर्ष आयु थी।

३. सम्भवनाथ तीर्थंकर का ४०० धनुष लम्बा शरीर और ६० लाख वर्ष आयु थी।

४. अभिनन्द तीर्थंकर का ३५० धनुष परिमाण शरीर और ५० लाख वर्ष आयु थी।

५. सुमतिनाथ तीर्थंकर का ३०० धनुष परिमाण शरीर और ४० लाख वर्ष आयु थी।

६. पद्म प्रभु तीर्थंकर का १४० धनुष परिमाण शरीर और ३० लाख वर्ष आयु थी।

(क्या मानव शरीर का इतना परिमाण और इतनी लाखों की आयु को बुद्धि स्वीकार कर सकती है?)

७. कल्पभाष्यपोथा नामक जैन ग्रन्थ में लिखा है कि—

नागकेत ने ग्राम के बराबर एक शिला अंगुली पर धर ली।

८. महावीर तीर्थंकर ने पृथिवी को अंगूठे से दबाया तो शेषनाग काँप गया।

९. महावीर ने अपने पैर पर खीर पकाई पर पैर न जला।

१०. महावीर ने छोटे से पात्र में ऊँट बुलाया। (कल्पभाष्य पोथा)

पौराणिक मत के ग्रन्थों में भी ऐसी बहुत-सी बातें पायी जाती हैं जो तर्क, बुद्धि तथा प्रकृति नियम के सर्वथा प्रतिकूल हैं। मूर्ति पूजा, अवतार, मृतक श्राद्ध आदि विषयों को यदि अभी छोड़ भी दिया जाय तो भी निम्न विषय इतने स्पष्टतया तर्क, सामान्य बुद्धि और प्राकृतिक नियमों के इतने प्रतिकूल हैं कि इन पर विश्वास कैसे किया जा सकता है?

१. गंगा नदी के माहात्म्य के विषय में ब्रह्मपुराण १७५।८२ में निम्नलिखित सुप्रसिद्ध श्लोक पाया जाता है—

गंगा गंगेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्व पापेभ्यो विष्णु लोकं स गच्छति॥

(ब्रह्मपुराण १७५।८२)

अर्थात् जो सैकड़ों योजनों की दूरी पर (१ योजन ४ कोस का होता है) बैठे हुए भी "गंगा, गंगा" ऐसे बोल देता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है और विष्णु लोक व स्वर्ग को चला जाता है।

ऐसे ही तीर्थ स्थानों और तीर्थ नदियों के माहात्म्य से पुराणों का बहुत-सा भाग भरा पड़ा है। यह विश्वास न केवल बुद्धि विरुद्ध अपितु पापवर्धक भी है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं। यदि मांस (यहाँ तक कि गो मांस) मद्य सेवन

चोरी, जुआ, असत्य, छल–कपट आदि पाप करके गंगा यमुनादि नदियों में स्नान करने से मनुष्य पाप मुक्त हो जाये, तो निष्पापता के प्रयत्न की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ?

२. परमेश्वर का स्मरण और नाम ग्रहण अच्छा है यदि भगवान् को सर्वव्यापक सर्वज्ञ मानकर मनुष्य पापों से मुक्त होने और परमेश्वर के सत्य, न्याय, दया आदि गुणों को अपने अन्दर धारण करने का प्रयत्न करे, किन्तु पुराणों में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि—

स्तेनः सुरापो मित्रदुग्, ब्रह्माहा गुरु तल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता, ये च पातकिनोऽपरे॥
सर्वेषामप्यधवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नाम व्यावहरणं विष्णोर्यतस्तदिवषयाआतेः॥
सांकेत्य पारिहास्यं वा, स्तोभं हेलनमेव च।
वैकुंठ नामग्रहणम्, अशेषाघहरं विदुः॥

(भागवत पुराण स्कन्ध ६ अ०)

अर्थात् चोर, शराबी, मित्रों के साथ द्रोह करनेवाला, ब्राह्मणों का घात करनेवाला, गुरुपत्नी से व्यभिचार करनेवाला, स्त्री, राजा, पिता और गौ की हत्या करनेवाला और भी जो पापी हैं, उन सब पापियों का विष्णु के नारायणादि नामों का उच्चारण ही उत्तम प्रायश्चित है। वैकुण्ठ के नाम का ग्रहण यदि संकेत, मखौल या तिरस्कार के रूप में भी किया जाय, तो भी उसे विद्वान् सर्वपापनाशक जानते हैं।

इसी प्रकार शैव पुराणों में शिव, ब्रह्म पुराणादि में ब्रह्मा तथा देवी भागवत में देवी के नाम स्मरण, जप आदि से सर्वपाप नाश माना गया है।

३. पुराणों में ईश्वर के जो १० मुख्य अवतार माने गये हैं उनमें से एक मत्स्यावतार भी है। उनके विषय में भागवत स्कन्ध ८ अ० २४ श्लोक ४४ में कहा है कि—

एक शृंगधरो मत्स्यो हैमो नियुत योजनः॥

(भाग० ८।२४।४४)

अर्थात् एक सींगवाले मत्स्य का शरीर सोने का बना हुआ है और १० लाख योजन अर्थात् ४० लाख कोस का था।

हमारी पृथिवी की परिधि २५००० मील की है। उसमें ५० लाख मील लम्बी मछली कहाँ ठहरी होगी। सोचने की बात है।

४. भागवत स्क० ५ अ० १६। १६ में लिखा है कि—

मन्दरोत्संग एकादशशतयोजनोत्तुगदेवृचतशिरसो।
गिरिशिखरस्थूलानि फलयान्यमृतकल्यानिर्भवन्ति॥

(भागवत ५।१६।१६)

अर्थात् मन्दराचल के मध्य में ११००० योजन अर्थात् ४४००० मील ऊँचा देवताओं का एक आम वृक्ष हैं उस पर से पर्वत के शिखर के समान मोटे, अमृत के समान फल नीचे गिरते हैं।

यहाँ यह स्मर्तव्य है कि हिमालय की सबसे ऊँची चोटी केवल ५.१/२ मील के लगभग ऊँची है।

५. भागवत स्कन्ध ५ अ० १६।७ में लिखा है कि—

एषां मध्ये इलावृतं नाभाभ्यंतरवर्ष यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मरुर्द्वीपायामसमन्नाह! कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्यमूर्धनि द्वात्रिंशत्सहस्त्रयोजन विततो मूले षोडशसहस्त्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः॥

(भागवत ५।१६।७, गीता प्रेस सं० पृ० २८३)

अर्थात् जम्बूद्वीप के मध्य में इलावृत नाम का खण्ड है जो इसके मध्य में स्थित है और पर्वतों का राजा चारों ओर सुवर्ण का मेरु पर्वत है जो ३२००० योजन अर्थात् १२८००० कोस दूर फैला हुआ है। मूल या जड़ में वह १६ हजार योजन वा ६४००० कोस विस्तृत है और उतना ही भूमि में प्रविष्ट है।

इस पर क्या टिप्पणी की जाए? कौन बुद्धिमान् इस बात को मान सकता है?

६. ४०० कोस ऊँचा महल

विष्णु पुराण अंश १ अध्याय १९ में लिखा है—

हिरण्यकश्यप ने कहा—

दुरात्मा पात्यतामस्मात्, प्रासादाच्छतयोजनात्।
गिरिपृष्ठे पतत्वस्मिन्, शिलाभिन्नांग संहतिः॥

(विष्णु पुराण अंश १ अ० १९ श्लोक ११)

यह प्रह्लाद बड़ा दुरात्मा है। इसको इस १०० योजन अर्थात् ४०० कोस ऊँचे महल से गिरा दो, जिससे यह पर्वत के ऊपर गिरे और शिलाओं से इसके अंग छिन्न-भिन्न हो जायें।

७. भागवत महापुराण स्कन्ध ३ अध्याय १३ श्लोक १६-१८ में लिखा है—
ब्रह्माजी की नाक से सुअर का बच्चा निकला।

परमेष्ठीत्वयां मध्य, तथा सन्नामवेक्ष्यगाम्।
कथमेनां समन्वेष्य इति दध्यो धिया चिरम्॥
इत्यमिध्यायतो नाशा-विवरात्सहसानघ।
वराहतोको निरगात्, अंगुष्ठपरिमाणकः॥

अर्थात् ब्रह्माजी जल के बीच में भूमि को पड़ी हुई देखकर अपनी बुद्धि से चिरकाल तक ध्यान करने लगे कि मैं कैसे इसका उद्धार करूँगा।

इतने में एक दम उनकी नाक में से एक अंगूठे के परिमाणवाला सुन्दर सुअर का बच्चा निकल पड़ा।

८. लगभग ४ करोड़ आचार्य भागवत स्कन्ध १० अध्याय ९० श्लो० ४१ में लिखा है कि—

तिस्रः कोट्यः सहस्त्राणमष्टाशीतिशतानि च।
आसन् यदुकुलाचार्याः, कुमाराणामितिश्रुतम्॥

अर्थात् यदुवंश के कुमारों को शिक्षा देनेवाले ३ करोड़ ८८ लाख आचार्य थे। जहाँ ३ करोड़ ८८ लाख आचार्य हों वहाँ कितने विद्यार्थी होंगे? द्वारकापुरी में इतने आचार्यों और करोड़ों विद्यार्थियों की बात क्या विश्वसनीय है? यह एक किंवदन्ती प्रतीत होती है!

हमने इस अध्याय में विभिन्न मत-मतान्तरों के ग्रन्थों की अनेक तर्क, सामान्य बुद्धि और प्रकृति विरुद्ध बातों का उल्लेख इसलिए किया है कि पाठकों को यह मालूम हो सके कि ईमान वा श्रद्धा के नाम पर किस तरह धर्म का स्वरूप विकृत हो गया है तथा वह विचारशील लोगों की दृष्टि में हास्यास्पद बन गया है। अब आवश्यकता इस बात की है कि वेदों में श्रद्धा और मेधा के समन्वय पर जो बल दिया गया है, उसको सब अपना लें और इस दृष्टि से अपने वक्तव्यों पर पक्षपात रहित होकर पुनः गम्भीर विचार करें। तब अन्ध विश्वास दूर हो जायेगा।

तर्क के द्वारा इतना तो ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि इस अद्भुत जगत् का कर्ता जिसमें इतनी व्यवस्था और अटल नियम ज्योतिष शास्त्र तथा अन्य विज्ञानों से प्रकट होते हैं (जैसे कि हम अनेक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों के लेखों में संक्षेप से आगे दिखायेंगे) कोई सर्वज्ञ शक्तिमान् भगवान् है। किन्तु जब तक हम श्रद्धापूर्वक उस भगवान् की जो सच्चिदानन्द स्वरूप है, उपासना नहीं करेंगे, तब तक सच्ची शान्ति और आनन्द से वञ्चित रह जायेंगे। यह आनन्द, तर्क का विषय नहीं, यह तो श्रद्धा भक्ति और उपासना द्वारा प्राप्तव्य है। अतः केवल तर्क को ही सब कुछ समझ लेना और श्रद्धा की उपेक्षा करना भी सर्वथा अनुचित है। तर्क के द्वारा अर्थात् सत्य का (श्रत इति सत्य नाम-निघं० ३।१०) कुछ ज्ञान हो सकता है किन्तु वहीं न ठहरते

हुए उसे अपने अन्दर पूर्णतया धारण करना और बड़ी–से–बड़ी आपत्ति तथा प्रलोभन के आने पर भी उसे न छोड़ना श्रद्धा है। श्रद्धा का अर्थ प्रत्येक सुनी–सुनाई बात को विना विचारे अथवा मनन किये मान लेना नहीं, यह तो अन्धविश्वास हो जाता है। इससे तो धर्म का रूप ही विकृत हो जाता है। अतः इस विषय में विवेक से काम लेने और वेदों के आदेशानुसार मेधा और श्रद्धा, तर्क और विश्वास का समन्वय करने तथा मूर्धा और हृदय–दिमाग और दिल को स्वीकार करके काम करने की आवश्यकता है। तब जहाँ मेधा वा शुद्ध बुद्धि के प्रयोग से हमें धर्म का शुद्ध रूप में ज्ञान प्राप्त हो सकेगा, वहाँ परमेश्वर, धर्म और वेद, यज्ञादि में श्रद्धा के कारण हमें सच्ची शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी।

शुष्क तर्क मनुष्य के जीवन को नीरस बना देता है। केवल विश्वास धर्म के सच्चे ज्ञान से मनुष्य को वञ्चित कर देता है। अतः हमारा धर्म तर्क संगत होना चाहिए। केवल तर्क की पहुँच के परे जो अपरोक्ष सूक्ष्म तथा गूढ़ आत्मा परमात्मा आदि विषय हैं, उनमें तर्क द्वारा जितना ज्ञान प्राप्त हो सकता है, उसे प्राप्त करके श्रद्धा से आन्तरिक अनुभूति लेने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार करने से जहाँ धर्म का रूप विकृत न होगा, वहाँ हमें श्रद्धा के द्वारा आनन्द और शान्ति की भी प्राप्ति होगी जो केवल तर्क द्वारा प्राप्तव्य नहीं है। जगद्विख्यात मनीषी तालस्ताय ने सच्चे धर्म का जो लक्षण अपने "What is Religion" धर्म क्या है इस पुस्तिका में किया है वह वैदिक विचारधारा से बहुत मेल खाता है। यह वस्तुतः वैदिक धर्म पर ही चरितार्थ होता है। प्रचलित मत–मतान्तरों पर नहीं—

"True religion is a relation, accordance with reason and knowledge, which man establishes with the infinite life surrounding him, and it is such as binds his life to that Infinity and guides his conduct."

(What is Religion, by Leo Tolstoy P. 10)

अर्थात् सच्चा धर्म एक ऐसा सम्बन्ध है जो कि तर्क और ज्ञान के अनुकूल है, जिसे मनुष्य उस अनन्त सत्ता के साथ जो सर्वत्र ओत–प्रोत है स्थापित करता है और यह ऐसा है जो उसके जीवन को उस अनन्त के साथ बाँध देता है और उसके आचरण का पथ प्रदर्शन करता है। इस प्रकार इस अध्याय में हमने तर्क और विश्वास के समन्वय की समस्या का तुलनात्मक अनुशीलन करते हुए वेदों की मेधा, श्रद्धा समन्वय विषयक शिक्षा के द्वारा ही उसका समाधान हो सकता है, यह दिखाया है।

अध्याय-१५

ज्ञान, कर्म भोग व त्याग

संसार में हम देखते हैं कि कई व्यक्ति और सम्प्रदाय ज्ञान पर इतना बल देते हैं कि कर्म तथा भक्ति को अनावश्यक बतलाने लगते हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत यहाँ तक कहते हैं कि सभी कर्म बन्धनों का कारण है अतः जो मोक्ष के अभिलाषी हैं उन्हें सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों का परित्याग कर देना चाहिए। ऐसा कर्मों का पूर्ण त्याग वा संन्यास किये विना मोक्ष लाभ नहीं हो सकता। मोक्ष की प्राप्ति केवल ज्ञान से ही हो सकती है अन्य किसी साधन से नहीं। "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" अर्थात् ज्ञान के विना मुक्ति नहीं। यह इन ज्ञानमार्गियों का मूल मन्त्र है।

दूसरी ओर कर्म मार्ग के अनुयायी कर्म को ही स्वर्ग, मोक्ष इत्यादि की प्राप्ति का एक मात्र साधन मानते हैं। वे मीमांसक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान पर इतना बल देते हैं कि ज्ञान और भक्ति सर्वथा अनावश्यक प्रतीत होने लगती है। यज्ञ यागादि कर्मों के विधिपूर्वक अनुष्ठान से ही स्वर्ग अथवा श्रेष्ठ सुखमय लोकों की प्राप्ति होती है, ऐसा इस के केवल कर्म मार्ग के अनुयायियों का कथन है।

तीसरा मत व सम्प्रदाय भक्ति मार्गियों का है जो मानते हैं कि भक्ति से ही ईश्वर और मुक्ति की प्राप्ति होती है। उसके लिए ज्ञान, कर्म की आवश्यकता नहीं। मध्य काल के अनेक भक्ति मार्गी साधु सन्तों ने वेदों की निन्दा करने में भी संकोच नहीं किया और कह डाला कि "ढाई अक्खर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय।"

इस प्रकार इतने विभिन्न मार्गों और उनके प्रतिपादक मतों को देखकर यह समस्या खड़ी हो गई है कि इनमें से कौन-सा विचार वा मार्ग श्रेष्ठ है। हम इस अध्याय में संक्षेप से सप्रमाण यह विचार करना चाहते हैं कि वेदों ने इस समस्या का क्या समाधान प्रस्तुत किया है। साथ ही भोग और त्याग के विषय में भी इसी प्रकार की समस्या है। कई चार्वाक जैसे भौतिकवादी आत्मा, परमात्मा, वेद, पुनर्जन्म इत्यादि को न मानते हुए भोग को ही मनुष्य जीवन का ध्येय बताते हुए कहते हैं—

यावजीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

(चार्वाक दर्शन)

जब तक मनुष्य जिए, सुख से जिये। यदि उसके पास स्वयं घी आदि भोग्य

पदार्थों पर खर्च करने के लिए धन नहीं है, तो दूसरों से ऋण लेकर भी घृत तथा उससे बने स्वादिष्ट पदार्थों का भक्षण करे। एक बार जब शरीर भस्मीभूत हो गया तो कोई आत्मा नाम की नित्य वस्तु नहीं जो फिर आये।

यूरोप में ऐपीक्योरियन्स (Epicureans) का सिद्धान्त भी इन चार्वाक सम्प्रदायोंवालों जैसा था जो कहते थे कि—

"Eat, drink and be merry
Because tomorrow we may die."

अर्थात् खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ क्योंकि हो सकता है कि कल ही हम मर जाएँ तब क्यों कोई हमारी भोगेच्छा अतृप्त रह जाए।

एक ओर यहाँ ऐसे भोगवादी हैं वहाँ दूसरी ओर ऐसे भी वेदान्ती, बौद्ध तथा अन्य विचारधारावाले त्यागवादी संन्यास मार्गी हैं जो संसार को मिथ्या वा "सर्वं दुःखम्" सब कुछ दुःख ही दुःख मानते हुए इसको छोड़ देने का उपदेश देते रहते हैं। ये इस त्याग को ही मोक्ष का साधन मानते हैं।

कैवल्योपनिषत् नामक एक अर्वाचीन वेदान्त सम्प्रदाय के उपनिषत् में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—

न कर्मणा न प्रजया धनेन, त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः॥

(कैवल्योपनिषत् २)

अर्थात् न कर्म से, न प्रजा से और न धन से किन्तु केवल त्याग से ही बहुतों ने मोक्ष को प्राप्त किया है। अतः जो मोक्षाभिलाषी हैं, उन्हें सब वस्तुओं और सांसारिक सुखों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए।

ऐसे त्यागवादी धन को सब बुराइयों की जड़ मानते हुए धन की निन्दा करते और उसके सर्वथा परित्याग का उपदेश करते हुए यहाँ तक कह देते हैं कि—

"It is easier for a camel to enter into the eye of a needle than for a rich man to enter into the Kingdom of God."

(New Testamcnt. Mathhew 19.24 mark 10.25)

अर्थात् यह अधिक सुगम है कि एक ऊँट सुई के छिद्र में घुस जाए अपेक्षा इसके कि एक धनी व्यक्ति परमेश्वर के राज्य में प्रवेश पा सके। यह ईसा मसीह का वचन है जो बाइबल में पाया जाता है। ईसा मसीह का मन्तव्य इससे स्पष्ट झलकता है।

इस प्रकार यह एक समस्या है कि भोग और त्याग मार्ग में से कौन-सा मार्ग उपादेय है तथा इनका समन्वय कहाँ तक और कैसे सम्भव हो सकता है? हम इस अध्याय में सप्रमाण बताना चाहते हैं कि वेद इस समस्या का क्या समाधान प्रस्तुत करते हैं।

वेदों में ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन—

वेदों में ज्ञान के विषय में जो उत्तम शिक्षाएँ हैं, उनमें से कइयों का हम शिक्षा विषयक अध्याय में निर्देश कर चुके हैं। ब्रह्म ज्ञान के महत्त्व के विषय में वेद में कहा है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(यजु० ३१.१८)

(अहम्) मैं (एतं महान्तं पुरुषं वेद) इस महान् संसाररूप पुर में निवास करनेवाले सर्वव्यापक परमेश्वर को जानता हूँ जो (आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्) अन्धकार से परे और सूर्यादि का भी प्रकाशक है। (तम् एवं विदित्वा) उसी परमेश्वर को जानकर मनुष्य (मृत्युम् अतिएति) मृत्यु के पार चला जाता है—मोक्ष प्राप्त कर लेता है (अयनाय) मुक्ति की प्राप्ति के लिए (अन्यः पन्था न विद्यते) और कोई मार्ग नहीं है।

ब्रह्म ज्ञान के विना कभी मुक्ति नहीं मिल सकती—यह वेदों में स्पष्टतया बताया गया है। आत्म ज्ञान के विषय में भी इसी प्रकार का उपदेश मिलता है। जब तक मनुष्य को अपने आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, तब तक वह इधर-उधर भटकता फिरता है। वेद शास्त्र के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से परमेश्वर की कृपा से जब आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है तभी मनुष्य को सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है—ऐसा वेद में बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

(ऋ० १।१६४।३७)

(यत् इव) जिस तरह का (इदम् अस्मि) यह मैं हूँ सो (न विजानामि) मैं विशेष रूप से नहीं जानता। इसलिए मैं (मनसा) अपने मन से (संनद्धः) अच्छी प्रकार बँधा हुआ और (निण्यः) उसी में छिपा हुआ (चरामि) विचरण करता हूँ। (यदा) जब (ऋतस्य प्रथमजाः) सत्यस्वरूप परमेश्वर की सबसे प्रथम सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न वेदवाणी (मा आगन्) मुझे प्राप्त होती है (आत् इत्) तभी (अस्या वाचः भागम्) इस वाणी के भाग अर्थात् प्रतिपाद्य आत्मादि विषयक सत्यज्ञान को (अश्नुवे) प्राप्त करता हूँ।

वेदों में कर्म का महत्त्व—

जैसे ज्ञान के महत्त्व का वेदों में प्रतिपादन है, वैसे ही कर्म के महत्त्व का न केवल प्रतिपादन है, अपितु उसके जीवन भर श्रद्धापूर्वक करने का उपदेश है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(यजु० ४०।२)

मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि कुर्वन् एव) कर्मों को करता हुआ ही (शतं समा जिजीविषेत्) सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे। (एवं त्वयि नरे कर्म न लिप्यते) इस प्रकार कर्म करनेवाले तुझ नेता में कर्म का लेप नहीं होता—तू निष्कामभाव से कर्म का अनुष्ठान करके अनासक्त रह सकता है। (इतः अन्यथा न अस्ति) इसके अतिरिक्त अनासक्त वा निर्लेप रहने का और कोई उपाय नहीं है कि कर्त्तव्य भावना से शुभ कर्मों का जीवन पर्यन्त अनुष्ठान किया जाए।

यह कर्मयोग का मूल मन्त्र है जिसके विषय में सुप्रख्यात मनीषी डॉ० सम्पूर्णानन्दजी (भूतपूर्व राज्यपाल राजस्थान) का ठीक कथन है कि सम्पूर्ण भगवद्गीता इस वेद मन्त्र की विस्तृत व्याख्या है। इस मन्त्र में कर्मयोग के तत्त्व का कितना उत्तम निरूपण किया गया है।

कर्मयोग का स्पष्ट प्रतिपादन करनेवाले कुछ और वेद मन्त्रों का भी इस प्रकरण में हम अर्थ सहित निर्देश करना चाहते हैं जिससे ज्ञात होगा कि वेदों के अनुसार ज्ञान और कर्म का विरोध नहीं है। हमारे सब शुभ कर्म ज्ञानपूर्वक होने चाहिएँ और ज्ञान का पर्यवसान शुभ कर्म में होना चाहिए तथा इन दोनों के साथ परमेश्वर में अचल भक्ति होनी चाहिए। इन ज्ञान, कर्म, भक्ति के समुच्चय से ही मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति का अधिकारी बनता है। केवल ज्ञान, केवल कर्म अथवा केवल भक्ति से नहीं। इस विषय का स्पष्ट प्रतिपादन निम्नलिखित वेद मन्त्र में है जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, इन तीनों वेदों में पाया जाता है।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांꣳसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्॥

(ऋ० १।२२।२१; यजु० ३४।४४; साम० १६७३)

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि (विप्रासः) ज्ञानी मेधावी (विप्र इति मेधावि नाम–निघं० ३।१५) (विपन्यवः) भक्त (वि उपसर्ग पूर्वक पनव्यवहारे स्तुतौ च) विशेषरूप से भगवान् की स्तुति भक्ति करनेवाले (जागृवांसः) कर्म करने में सदा जागरूक, आलस्य प्रमाद रहित पुरुष (विष्णोः यत् परमं पदम्) सर्वव्यापक परमेश्वर का जो परम प्राप्तव्य सच्चिदानन्द स्वरूप है (तत्) उसे (सम् इन्धते) अच्छी प्रकार अपने अन्दर प्रदीप्त करते हैं—उसका साक्षात्कार करते हैं। विप्रासः, विपन्यवः, जागृवांसः इन शब्दों से क्रमशः ज्ञानी, भक्त और कर्म योगी का ग्रहण है और इस प्रकार **वेदों के अनुसार ज्ञानभक्ति और कर्म के समुच्चय द्वारा भगवान् का साक्षात्कार तथा परमानन्द मोक्ष की प्राप्ति होती है—यह स्पष्टतया ज्ञात होता है।**

इसके साथ मिलता जुलता एक मन्त्र ऋग्वेद ३।१०।९ में भी आता है—

तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। हव्यवाहममर्त्यं सहोवृधम्॥

(ऋ० ३।१०।९)

(विप्राः) ज्ञानी (विपन्यवः) विशेष रूप से भगवान् की स्तुति करनेवाले भक्त और (जागृवांसः) कर्म करने में सदा जागरूक, अप्रमत्त कर्मयोगी (हव्यवाहम्) ग्रहण करने योग्य सब उत्तम पदार्थों को प्राप्त करनेवाले (हु दानादनयोः आदाने च, वह प्रापणे) और (अमर्त्यम्) अमर (तं त्वा) उस तुझ परमेश्वर को (सम् इन्धते) अपने अन्दर अच्छी तरह प्रदीप्त करते हैं—तेरा साक्षात्कार करते वा तुझे प्राप्त करते हैं।

यहाँ भी पूर्व मन्त्रवत् विप्राः, विपन्यवः, जागृवांसः—ये शब्द क्रमशः ज्ञानी, भक्त और कर्मयोगी को सूचित करते हैं। इस प्रकार इस मन्त्र द्वारा भी ज्ञान, भक्ति और कर्म का समुच्चय वेदों के अनुसार मुक्ति की प्राप्ति का साधन है, यह स्पष्टतया सूचित होता है।

यजुर्वेद ३।४७ में निम्नलिखित मन्त्र आता है जिसमें ज्ञान और कर्म के सुन्दर समन्वय का प्रतिपादन है—

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः॥

(यजु० ३।४७)

इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है—

(कर्मकृतः) कर्म करनेवाले सब लोग (मयोभुवा वाचा सह) सुख को उत्पन्न करनेवाली सत्य और प्रिय वाणी के साथ (कर्म अक्रन्) कर्म करते हैं। (देवेभ्यः कर्म कृत्वा) देवों–सत्य निष्ठ विद्वानों अथवा दिवधातु के व्यवहार अर्थ को ग्रहण करने पर सब व्यवहारी लोगों के कल्याण के लिए कर्म करके (सचाभुवः) परस्पर प्रेम से मिलकर रहनेवाले तुम (अस्तं प्रेत) अपने घर जाओ।

यद्यपि कुछ भाष्यकारों ने यहाँ प्रयुक्त कर्म कृतः और कर्म शब्द को वरुणप्रधानादि संकुचित अर्थ में ले लिया है किन्तु मन्त्र में इस प्रकार का कोई शब्द नहीं है जिससे उसके अर्थ को, जो सब शुभ कर्मों का प्रतिपादक है, संकुचित रूप में ले लिया जाए। यह वस्तुतः खेद की बात है कि मध्यकाल के कुछ भाष्यकारों ने वेदमन्त्रों की उदात्त शिक्षाओं को प्रधानतया यज्ञ–यागादि कर्मकाण्ड परक मानकर संकुचित, सीमित और संकीर्ण कर दिया। ऋषि दयानन्द सरस्वती ने मन्त्र में प्रत्युक्त कर्म, कर्मकृतः इत्यादि शब्दों का विस्तृत कर्म परक अर्थ लेकर इसके भावार्थ में लिखा है कि—

''मनुष्यैर्नित्यं पुरुषार्थे वर्तितव्यम्, न कदाचिदालस्ये स्थातव्यम्।''

तथा वेदविद्या संस्कृतया सत्यप्रियमंगलकारिण्या वाण्या सह भवितव्यं न च मूर्खत्वेन। सदा परस्परं प्रीत्या सहायः कर्तव्यः, ये चैव भूतास्ते दिव्यसुखयुक्तं मोक्षाख्यं व्यावहारिकं चानन्दं प्राप्य मोदन्ते न चैवमलाः ॥ (यजु० भाष्ये ३।४७)

भाषा भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि सर्वथा आलस्य को छोड़कर पुरुषार्थ में ही निरन्तर रह के मूर्खपन को छोड़ के वेद विद्या से शुद्ध की हुई, सत्य, प्रिय, मंगलकारिणी वाणी के साथ सदा वर्तें और परस्पर प्रीति करके एक दूसरे की सहायता करें। जो इस प्रकार के मनुष्य हैं वे ही दिव्य सुख युक्त मोक्ष वा इस लोक के सुखों को प्राप्त कर आनन्दित होते हैं, अन्य अर्थात् आलसी पुरुष आनन्द को कभी नहीं प्राप्त होते। यह प्रसन्नता की बात है कि स्वामी भगवदाचार्यजी ने भी यहाँ विस्तृत अर्थ में कर्म को लेते हुए निम्न प्रकार से मन्त्र का भाष्य किया है—

(कर्मकृतः) शुभ कर्म कृतो मानवाः (मयोभुवा) मनो भावयित्र्या सुख प्रदात्र्येति यावत् मयः सुखम् (वाचा) स्तुतिरूपया स्तुति रूपं भगवतः (अक्रन्) कृतवन्तः हे (सचाभुवः) सह निवासशीलाः (देवेभः) सज्जनेभ्यः (कर्मकृत्वा) कर्म सम्पाद्य (अस्तम्) गृहम् (अस्तमिति गृहनाम-निघं० ३।४।५) गृहान् (प्रेत्) गच्छत **सज्जनानामुपकारसम्पादनं प्रथमो धर्म इत्युपदेशाशयः ॥**

(शुक्ल यजुर्वेद संस्कार भाष्ये, पृ० १४३)

भाषा भावार्थ—सत्कर्म करनेवाले मनुष्य सुख देनेवाली स्तुति रूप वाणी से भगवान् की स्तुति करते हैं। एवं सज्जनों की सहायता के लिए किये गाये कर्म को समाप्त करके ही घर जाते हैं। यह सब के लिए उपदेश है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में थोड़े से अन्तर के साथ पाये जानेवाले निम्नलिखित मन्त्र में कर्मयोग का कितना सुन्दर प्रतिपादन है।

ऋग्वेद १०।५३।८ में मन्त्र इस प्रकार है—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥

(ऋ० १०।५३।८)

इस मन्त्र का सरल अर्थ यह है कि (अश्मन्वती नदी रीयते) विघ्न-बाधा रूप पाषाणों से भरी हुई यह संसार रूपी नदी बह रही है। (सखायः) हे मित्रो! (संरभध्वम्) मिलकर पुरुषार्थ वा उद्योग करो (उत्तिष्ठत) उठो और (प्रतरत) इस नदी को अच्छी तरह से तैर जाओ। (ये अशेवा असन्) जो दुःखदायक काम-क्रोध लोभादि दुर्गुण हैं उनको (अत्र जहाम) यहीं छोड़ देते हैं (वयम्) हम (शिवान् वाजान् अभि) कल्याणकारक ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, अन्न आदि को लक्ष्य करके (वाजः-वजगतौ गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च वाज इति अन्न नाम-

निघं० २।७ वाज इति बल नाम–निघं० २।९) (उत् तरेम) इस नदी को पार कर लें।

पाषाणमयी संसाररूपी नदी को देखकर व्याकुल नहीं हो जाना चाहिए किन्तु इसे पार करने के लिए कमर कसकर तैयार हो जाना चाहिए। आलस्य प्रमाद का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। परस्पर मित्र भाव को धारण करके एक दूसरे को सहायता देनी चाहिए। बुराइयों का परित्याग करके ज्ञान, बल, अन्न, आदि की प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील होना चाहिए। इस प्रकार करने से मनुष्य का कल्याण होता है। यही मन्त्र का उपदेश है।

यजुर्वेद ३५।१० में यह मन्त्र बिल्कुल थोड़े से अन्तर से आया है—

अश्मन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽअसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥

(यजु० ३५।१०)

ऋग्वेद के "अशेवाः" के स्थान पर जिसका अर्थ शेवम् इति सुखनाम–निघ० ३।६ अत्र दुःखदायक है यजुर्वेद के मन्त्र में पाठ "अशिवाः" है जिसका अर्थ कल्याणकारी या शुभ है। शेष ऋग्वेद के मन्त्र के समान है। अथर्ववेद १२।२।२६ और १२।२।२७ में इसके साथ मिलते हुए ये दो मन्त्र हैं—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन्दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्॥

(अथर्व० १२।२।२६)

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्॥

(अथर्व० १२।२।२७)

इन दो मन्त्रों में ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्र के समान ही अधिकतर शब्द हैं जिनका अर्थ पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं।

1. "The stony river flows; take ye hold together; play the hero, passover O friends; quit here them that are of evil courses; may we pass up upto powers, that are free from disease.

2. Stand up, pass over O friends; the stony river here runs; quit Ye here them that are unpropitious; may we pass up into propitious pleasant powers." (Whitney's translation)

जो नवीन शब्द इन मन्त्रों में पाये जाते हैं हम उनका अर्थ सहित निर्देश करते हैं। (वीरयध्वम्) वीरों जैसा आचरण करो। वीर–विक्रान्तौ विक्रमी पराक्रमी बनो (दुरेवाः) दुष्ट कामनाएँ तथा आचरण अथवा तत्सम्पन्न नीच पुरुष, इन सबका

यहीं परित्याग कर दो, इनका संग कभी न करो नहीं तो संसाररूपी नदी को पार न कर सकोगे। दुर्विचारों, दुष्ट कामनाओं और दुष्ट पुरुषों के साथ नदी में डूब जाओगे। हम (अनमीवान् वाजान् उत् तरेम) रोगों और दुःखों से रहित वाजान्–उत्तम सुखमय लोकों को प्राप्त हों (वाजो वै स्वर्गो लोकः–ताण्ड्य महा ब्राह्मण १८।७।१२; गोपथ ३।५।८) (स्योनान्!) सुखकारक (स्योनम् इति सुखनाम–निघं० ३।६) इन चारों मन्त्रों में कर्मयोग का अत्यन्त स्फूर्तिदायक उपदेश है जिस पर आचरण करने से समाज और राष्ट्रवादियों का कल्याण हो सकता है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं।

ऋग्वेद ८।७०।१३ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निम्न सुभाषित हैं—

सखा॑यः क्रतु॑मिच्छत ॥ (ऋ० ८।७०।१३)

हे मित्रो! (क्रतुम् इच्छत) ज्ञान और कर्म की इच्छा करो। क्रतु एक ऐसा अद्भुत शब्द है जिसके ज्ञान और कर्म दोनों अर्थ हैं। (क्रतुरिति कर्म नाम–निघं० २।१; क्रतुरिति प्रज्ञानाम–निघं० ३।९) प्रज्ञा का अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान वा बुद्धि होता है। मन्त्र का भाव यह है कि मनुष्यों को बुद्धि सम्पन्न होने, ज्ञान प्राप्त करने और तदनुसार शुभ कर्म करने की इच्छा मन में सदा धारण करनी चाहिए। ऋग्वेद १०।२२।८ में बताया गया है कि जो कर्म नहीं करता, निकम्मा बन जाता है वह भी दस्यु हो जाता है क्योंकि आलसी बनकर बैठे रहने से मन बुराई में प्रवृत्त हो जाता है।

अ॒क॒र्मा दस्युः॑ ॥ (ऋ० १०।२२।८)

अतः अच्छे वेदोक्त कर्मों का मनुष्य को कभी परित्याग न करना चाहिए।

ऋग्वेद १०।४२।३ में एक बड़ी सुन्दर प्रार्थना आई है जिसमें ज्ञान कर्म का समन्वय सूचित किया गया है।

अप्न॑स्वती॒ मम॒ धीर॑स्तु शक्र ॥ (ऋ० १०।४२।३)

हे (शक्र) सर्वशक्तिमान् परमेश्वर (मम) मेरी (धीः) बुद्धि (अप्नस्वती) कर्मवाली (अस्तु) होवे (अप्न इति कर्मनाम–निघं० २।१) हमारी बुद्धि शुद्ध, पवित्र, निर्मल और सूक्ष्म तो होनी ही चाहिए, किन्तु वेद के अनुसार यह भी आवश्यक है कि वह बुद्धि हमें आलसी बनानेवाली न हो अपितु कार्यों में सदा प्रवृत्त करनेवाली हो। क्योंकि यह प्रार्थना शक्र–सर्वशक्तिमान् इन्द्र-परमेश्वर से भक्तिभाव से की गई है, अतः इस प्रार्थना द्वारा भी ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का मेल सूचित होता है।

ऋग्वेद ५।४४।१४ तथा सामवेद १८२६ में निम्नलिखित मन्त्र आता है जो कर्त्तव्य कर्म में जागरूकता का उपदेश देते हुे बताता है कि सच्चे कर्मयोगी को ही वेदों का ज्ञान चाहता है तथा परमात्मा भी उसी का मित्र बनता है। जो केवल ज्ञान

को पाकर कर्त्तव्य कर्म का परित्याग कर देते हैं, वे भगवान् के सखा या मित्र नहीं बन सकते क्योंकि भगवान् तो वेदों के अनुसार "स्वधाः" या "सुदंसाः" सदा शुभ कर्म करनेवाला है। यदि हम उसके सखा–समान ख्यातिवाले–समान गुण, कर्म, स्वभाववाले बनना चाहते हैं, तो हमें भी शुभ कर्म करने में सदा तत्पर रहना चाहिए। इन सब शुभ कर्मों को भी ब्रह्मार्पण बुद्धि से करना चाहिए। जैसे कि यजुर्वेद में कहा है—

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ (यजु० ४०।४)

अर्थात् जीव अपने कर्मों को उस ब्रह्म में समर्पित कर देता है।

प्रस्तुत है ऋग्वेद और सामवेद का जागरूकता महत्त्व प्रतिपादक मन्त्र—

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

(ऋ० ५।४४।१४; साम० १८२६)

(यः जागार) जो कर्त्तव्य कर्म के पालन में जागरूक वा अप्रमत्त रहता है (तम् ऋचः कामयन्ते) ऋग्वेद की ऋचाएँ उसी की कामना करती हैं (यो जागार) जो जागरूक रहता है (तम् सामानि यन्ति) सामवेद के मन्त्र उसी को प्राप्त होते हैं (यः जागार) जो कर्त्तव्य कर्म में सदा जागृत रहता है (तम् अयं सोमः आह) उसको यह शान्ति का स्रोत परमेश्वर मानो कहता है कि (अहम्) मैं (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (निओकाः अस्मि) नितराम या निरन्तर निवास करनेवाला हूँ।

इसलिए वेदों का स्पष्ट उपदेश है कि भगवान् और उसके भक्त वेदज्ञों का प्रिय बनने के लिए हमें शुभ कर्मों का सदा कर्त्तव्य भावना से अनुष्ठान करते रहना चाहिए। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र का रोहित को उपदेश है कि "चरैवेति चरैवेति" विचरण करते रहो, विचरण करते रहो, सुस्त बनके मत बैठो।

अथर्व० ६।२३।३ में सब मनुष्यों को भगवान् की आज्ञानुसार शुभ कर्म करने चाहिए, इस बात का बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन है—

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।

(अथर्व० ६।२३।३)

(सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक, सर्वप्रकाशक सुखदाता परमेश्वर की (सवे) सृष्टि में और उसकी आज्ञा में रहते हुए (षु–प्रसवैश्वर्ययोः) (मानुषाः) मनुष्य (कर्म कृण्वन्तु) सदा उत्तम कर्म करते रहें।

यहाँ केवल छोटे–मोटे अच्छे–बुरे सब प्रकार के कर्मों को करने का ही उपदेश नहीं, अपितु वेदानुकूल लोकोपकारक, सर्वहितकारक कर्म करने का विधान है। यहाँ भी ज्ञान, कर्म, भक्ति का समन्वय सूचित होता है।

अथर्व० ७।५६।१ के निम्नलिखित मन्त्र में वेदों का अध्ययन करके उनके अनुसार कर्म करने का विधान है—

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः॥

(अथर्व० ७।५४।१)

हम विद्वान् लोग (ऋचम्) ऋग्वेद और (साम) सामवेद मन्त्र पाठ और उनके गायन का (यजामहे) अपने शिष्यों को उपदेश देते हैं—उन्हें उनके ज्ञान से संयुक्त करते हैं (यज-देवपूजा संगति करण दानेषु) (याभ्याम्) जिन दोनों के द्वारा (कर्माणि) समस्त यज्ञ कर्म और लौकिक तथा पारमार्थिक कर्म (कुर्वते) लोग किया करते हैं। यहाँ ऋक् और सामवेदों के उपलक्षण समझे जा सकते हैं जो प्रधानतया ज्ञान और उपासना के प्रतिपादक हैं।

यहाँ भी ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय सूचित किया गया है क्योंकि जैसे अन्यत्र भी वेद में कहा है कि—

मन्त्रश्रुत्यं चरामसि। (ऋ० १०।१३४।७; साम० १७६)

हम मन्त्रों में जो कुछ श्रवण करते हैं उसके अनुसार आचरण करते हैं। केवल मन्त्रों का पाठ और उनका अर्थ ज्ञान सार्थक तथा सफल नहीं हो जाता जब तक उनके अनुसार आचरण न किया जाए।

अथर्व० १९।६८।१ भी ज्ञान और कर्म के समन्वय पर विशेष प्रकाश डालता है—

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे॥

(अथर्व० १९।६८।१)

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि (अव्यसः) अव्यापक अल्प शक्ति जीव और (व्यचसः) व्यापक परमेश्वर के (बिलम्) भेद या गूढ़ रूप-रहस्य को (मायया) बुद्धि से (मायेति प्रज्ञानाम-निघं० ३।९) (विष्यामि) विवेचन करता हूँ। (ताभ्याम्) उन दोनों के ज्ञान के लिए (वेदम् उद्धृत्य) वेद को उद्धृत करके-वेद के द्वारा ब्रह्म और आत्मा का स्वरूप समझकर (अथ) उसके बाद (कर्माणि) यज्ञादि तथा लौकिक कर्मों का (कृण्महे) अनुष्ठान करता हूँ। मन्त्र का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपनी बुद्धि के द्वारा-पवित्र और सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा परमात्मा और आत्मा के स्वरूप का विवेचन करके फिर वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान करने में तत्पर रहना चाहिए। बिना विद्या वा ज्ञान के जो कर्म किये जाते हैं, वे प्रभावजनक और सफल नहीं होते। विद्या वा ज्ञान के साथ जो कर्म किये जाते हैं, वही प्रभावोत्पादक होते हैं जैसे कि ''यदेव विद्यया श्रद्धया उपनिषदा करोति तदेव

वीर्यवत्तरं भवति" (छान्दोग्योप० ३।१।१०)। क्योंकि कर्म के बिना केवल ज्ञान भी अधूरा रहता है, इसलिए वेद में उपदेश है कि वेदशास्त्र और अपनी बुद्धि की सहायता से ब्रह्म और आत्मा आदि के स्वरूप को जानकर तब शुभ कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

ऋग्वेद ८।३६।७ और ८।३७।७ में यह बताया गया है कि भगवान् उसी की प्रार्थना को सुनते हैं जो कर्म करनेवाला होता है।

श्यावाश्वस्य सुन्वतस्तथा शृणु यथाशृणोरत्रेः कर्माणि कृण्वतः।

(ऋ० ८।३६।७)

श्यावाश्वस्य रेभतस्तथा शृणु यथाशृणोरत्रेः कर्माणि कृण्वतः।

(ऋ० ८।३७।७)

हे इन्द्र (यथा कर्माणि कृण्वतः अत्रेः) नाना शुभ कर्म करनेवाले त्रिविध दुःख और बन्धन रहित पवित्रात्मा की प्रार्थना को (अशृणोः) तू श्रवण करता है (तथा) वैसे ही (रेभतः श्यावाश्वस्य) पूजा स्तुति और उपदेश करनेवाले (रेभृ-शब्दे रेभृ-अर्चति कर्मा-निघं० ३।१५) जितेन्द्रिय पुरुष के वचनों को भी (शृणु) श्रवण कर उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर।

इस उपमा के द्वारा जो दोनों मन्त्रों में प्रयुक्त है यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि जो जीवन्मुक्त हो जाए, उसे भी कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए, तभी भगवान् उसकी प्रार्थना को श्रवण और स्वीकार करते हैं। ज्ञान और कर्म के समन्वय का यह स्पष्ट प्रतिपादन है साथ ही भक्ति का क्योंकि प्रार्थना सच्ची भक्ति के साथ ही की जा सकती है।

दोनों मन्त्रों में जिस अत्रि शब्द का प्रयोग है उसके कुछ और भी अर्थों का निर्देश यहाँ उचित प्रतीत होता है यथा १. "त्रिभिः काम क्रोध लोभ दोषैः रहितः" (काम, क्रोध, लोभ इन दोषों से रहित), २. "अविद्यमाना आत्मिक वाचिक शारीरिक दोषा यस्मिन् सः" अर्थात् जिसमें आत्मिक, वाचिक और शारीरिक दोष नहीं हैं, ३. "अत्रिः सततं गन्ता परिव्राजकः अत-सातत्यगमने इति धातोः" इन अर्थों को ग्रहण करके भी (जिनका स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेद भाष्यों में निर्देश किया है) मन्त्र का अर्थ भली-भाँति खुल जाता है। **निरन्तर गति करनेवाले संन्यासी के लिए भी इस प्रकार कर्म करने का स्पष्ट निर्देश है।** सम्भवतः इसी के आधार पर योगिराज श्रीकृष्ण महाराज ने भगवत गीता में कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं, कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च, न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ६।१)

अर्थात् जो कर्मफल पर आश्रित न होकर कर्त्तव्य कर्म को करता रहता है, वही संन्यासी और योगी होता है न कि अग्नि और कर्म का परित्याग करनेवाला। अन्त में हम उन तीन यजुर्वेदीय मन्त्रों का उल्लेख करते हैं जिनमें विद्या, अविद्या के नाम से ज्ञान और कर्म में से किसी एक में आसक्ति का कुपरिणाम बताकर दोनों को मिलाकर करने का स्पष्ट उपदेश है। वे ३ मन्त्र निम्नलिखित हैं—

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायांश्ररताः॥

(यजु० ४०।१२)

अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽअन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥

(यजु० ४०।१३)

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयंसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

(यजु० ४०।१४)

इन मन्त्रों में जो विद्या और अविद्या शब्द आये हैं उनके अर्थ महाविद्वान् स्वामी श्री शंकराचार्यजी, स्वामी शंकरानन्द, आनन्द भट्ट, महीधर और स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि भाष्यकारों ने ज्ञान और कर्म किये हैं। अविद्या से तात्पर्य यहाँ "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिर-विद्या" (योगदर्शन २।५) इस लक्षणवाले मिथ्या ज्ञान का नहीं है क्योंकि उसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता जैसे कि यजुर्वेद अ० ४० के १४वें और ईशोपनिषत् के मं० ११ में कहा है कि—अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा अविद्या से विद्या को तर कर।

अतः स्वामी शंकराचार्यजी ने ईशोपनिषत् के भाष्य में अविद्या की व्याख्या करते हुए कहा है—

विद्याया अन्या अविद्या तां कर्म इत्यर्थः।

अर्थात् विद्या से भिन्न कर्म को यहां अविद्या कहा गया है। ऐसा ही अनेक अन्य भाष्यकारों ने लिखा है। इस प्रकार इन तीन मन्त्रों का अर्थ यह बनता है कि—

(१) (ये अविद्याम् उपासते) जो कर्म की उपासना करते हैं, दिन-रात केवल कर्मों में ही आसक्त रहते हैं (ते अन्धं तमः प्रविशन्ति) वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं (ततः भूयः इव ते तमः) वे उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं (ये उ विद्यायां रताः) जो केवल विद्या वा ज्ञान में ही आसक्त रहते हैं—जिन्हें अपनी विद्या का अभिमान हो जाता है और जो ज्ञान के अनुसार शुभ कर्मों

का अनुष्ठान नहीं करते।

(२) (विद्यायाः विद्यया ईशो) विद्या का (अन्यत् एवं आहुः) अन्य ही फल ज्ञानी बताते हैं (अविद्यायाः–अविद्यया) अविद्या–कर्म का फल (अन्यत्) उससे भिन्न बतलाते हैं (इति धीराणां शुश्रुम) यह हमने ध्यानी धैर्यशील विद्वानों के मुख से सुना है (ये नः तत् विचचक्षिरे) जिन्होंने सारे हित के लिए उन विद्या अविद्या की व्यवस्था की है।

(३) (विद्यां च अविद्यां च) विद्या और अविद्या–कर्म को (यः तत् उभयं सह वेद) जो इन दोनों को साथ–साथ जानता है वह (अविद्यया) कर्म के द्वारा (मृत्युं तीर्त्वा) मृत्यु अथवा उसके भय को तरकर (विद्यया अमृतम् अश्नुते) विद्या–ज्ञान से अमृत–मोक्ष को प्राप्त करता है।

इन मन्त्रों में ज्ञान और कर्म इन दोनों में से किसी एक में आसक्त हो जाने और दूसरे का परित्याग करने का फल घोर और घोरतर अन्धकार में प्रवेश तथा दोनों के पृथक्–पृथक् फल को बतलाकर अन्त में दोनों को मिलाने का उपदेश है।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक विज्ञान भिक्षु ने अपने सांख्य प्रवचन भाष्य में "तद् योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्" (सांख्य दर्शन १।५५) की व्याख्या करते हुए ठीक ही लिखा है कि—

प्राचीनास्तु वेदान्तिनो मोक्षेऽपि कर्मणो ज्ञानांगत्वामाहुः।
विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।
इतिश्रुता सहकारित्वेन चेति वेदांतसूत्रे चांगांगिंभावेन ज्ञानकर्मणोः सहकारित्वावधारणात्॥
ज्ञानिनाऽज्ञानिना वापि, यावद् देहस्य धारणम्।
तावद् वर्णाश्रमप्रोक्तं, कर्तव्यं कर्म मुक्तये॥ इत्यादि स्मृतेश्च॥

अर्थात् प्राचीन वेदान्ती तो मोक्ष में भी कर्म की ज्ञानांगता को बतलाते हैं। विद्यां चाविद्यां च.....विद्ययामृतमश्नुते। ऐसा श्रुति वा वेद में कहा है। सहकारित्वेन च (वेदान्त ३।४।३३) इस वेदान्त सूत्र में ज्ञान और कर्म को अंगांगिभाव से मानकर उनके मोक्ष में सहकारित्व का निश्चय किया गया है। स्मृति में भी ज्ञानिनाऽज्ञानिना वापि–कर्तव्यं कर्म मुक्तये। इस श्लोक द्वारा उपदेश है कि चाहे ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी, जब तक यह शरीर विद्यमान है, तब तक सब को अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार मुक्ति के लिए कर्त्तव्य कर्म करना ही चाहिए।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजु० ४०।१४ के भाष्य में लिखा है—

(अविद्यया) शरीरादिजडेन पदार्थ समूहेन कृतेन पुरुषार्थेन (मृत्युम्)

मरणदु:खमयम् (तीर्त्वा) उल्लंघ्य (विद्यया) आत्मशुद्धान्तकरण संयोग धर्मजनितेन यथार्थ दर्शनेन (अमृतम्) नाशरहितं स्वरूपं परमात्मानं वा (अश्नुते)

भावार्थ—न केवलेन जडेन न केवलेन चेतनेन, अथवा **न केवलेन कर्मणा, न केवलेन ज्ञानेन** काश्चिद्धर्मादिसिद्धि कर्तु समर्थोभवति ॥ (यजुर्वेद ४० अ० भाष्ये) भाव यह कि अविद्या से–शरीरादि जड़ पदार्थ समूह से किये पुरुषार्थ से मरण दु:ख के भय को उल्लंघन कर आत्मा और शुद्ध अन्त:करण के संयोग में जो धर्मादि, उससे उत्पन्न हुए यथार्थ दर्शन रूप विद्या से नाश रहित अपने स्वरूप वा परमात्मा को प्राप्त होता है। न केवल जड़ और न केवल चेतन से अथवा **न केवल कर्म से तथा न केवल ज्ञान से कोई** धर्मादि पदार्थों की सिद्धि करने में समर्थ होता है। इस प्रकार वेदों में ज्ञान और कर्म को मिलाकर कर्त्तव्यानुष्ठान करने का विधान है तथा इनके समन्वय से ही मनुष्य का कल्याण होता है—यह स्पष्टतया ज्ञात होता है।

आत्मक्रीड: आत्मरति: क्रियावान्, एष ब्रह्मविदां वरिष्ठ: ॥

(मुण्डक० ३।१।४)

तदेत् दृचाभ्युक्तं क्रियावन्त: श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा:, स्वयं जुह्वते एकर्षिं श्रद्धयन्त:।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत, शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्॥

(मुण्डक० ३।२।१०)

इत्यादि उपनिषद् वचनों में इसी वैदिक सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए आत्मज्ञ को भी क्रियावान् होना चाहिए। वही ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ है जो आत्मा, परमात्मा के ज्ञान का सम्पादन करके भी शुभ कर्त्तव्यों के अनुष्ठान में निष्कामभाव से तत्पर है, यह सूचित किया गया है। जहाँ कर्म की निन्दा है वहाँ ज्ञान रहित कर्म की है। जो केवल बाह्य यज्ञादि में ही आसक्त होकर नान्येच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा: ॥ अत्यन्त मूढ होकर इस यज्ञयाग के अतिरिक्त न अन्यत् श्रेय: और कुछ कल्याणकारक नहीं है ऐसा मानकर ज्ञान की भी उपेक्षा करते हैं, उनकी उपनिषत्कारों ने निन्दा की है, कर्ममात्र की नहीं।

वेदों में भक्ति कर्म समुच्चय—

वेदों में ज्ञान और कर्म का समन्वय प्रतिपादित है जिसके आधार पर योगिराज श्रीकृष्ण महाराज ने कहा है—

सक्ता: कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुलोक संग्रहम्॥

(गीता ३।२५)

अर्थात् जैसे अविद्वान् कर्मों में आसक्त होकर काम करते रहते हैं, ऐसे

विद्वानों को चाहिए कि वे अनासक्त होकर लोक संग्रह वा लोगों को सन्मार्ग पर चलाकर उनके हित करने की भावना से कार्य करें।

नारद भक्ति सूत्र के अनुसार भक्ति का लक्षण निम्न प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। (नारद भक्ति सूत्र २)

अर्थात् परमेश्वर में परम प्रेम है। ऐसा परम प्रेम वेदों में—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥

(ऋ० ८।९८।११; साम० ११७०)

आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये। सखा सख्ये वरेण्यः॥

(ऋ० १।२६।३)

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्।

(ऋ० १०।७।३)

त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्॥

(ऋ० ६।१।५)

इत्यादि मन्त्रों द्वारा सूचित किया गया है जिसका अर्थ यह है कि—

(१) हे अनन्त ज्ञान और कर्मवाले सर्वाधार परमेश्वर! आप हमारे पिता हैं और आप ही हमारी माता हैं, अतः हम आपसे सुख–शान्ति की प्रार्थना करते हैं।

(२) हे परमेश्वर! आप पुत्र के लिए पिता के समान हैं। बन्धु बन्धु की सहायता किया ही करता है, अतः सहायक होने से आप हमारे बन्धु हैं। आप हम मित्रों के लिए वरणीय अति श्रेष्ठ मित्र हैं।

(३) मैं ज्ञान स्वरूप परमेश्वर को अपना पिता, माता, बन्धु, भ्राता और सदा मित्र मानता हूँ।

(४) हे परमेश्वर! आप संसार सागर से तरने के लिए हमारे लिए जानने योग्य हैं अर्थात् आपको जाने विना हम कभी संसार सागर पार नहीं जा सकते। सब मनुष्यों के आप ही पिता और माता हैं।

ऐसे ही हजारों मन्त्र सच्ची वेदोक्त भक्ति भावना को प्रकट करने के लिए उद्धृत किये जा सकते हैं।

किन्तु वेदोक्त भावना ज्ञान विरहित भक्ति और कर्म त्याग का उपदेश देनेवाली नहीं है। वह ज्ञान मूलक है। जब तक उपास्य के स्वरूप का ही ठीक ज्ञान न हो तो शुद्ध रूप में उपासना कैसे की जा सकती है? अतः वेदों में परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप का निरूपण बहुत से मन्त्रों में हुआ है जिनमें अत्यन्त प्रमुख और प्रसिद्ध निम्न मन्त्र हैं।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(यजु० ४०।८)

इसका महा विद्वान् मेधावी स्वामी शंकराचार्यजी ने ईशोपनिषत् मं० ८ के भाष्य में इस प्रकार अर्थ किया है—

(सः) यथोक्त आत्मा (पर्यगात्) परि समन्तात् अगात् गतवान् आकाशवद् व्यापी इत्यर्थः। (शुक्रम्) शुद्धं ज्योतिष्मद् दीप्तिमानित्यर्थः। (अकायम्) अशरीरो लिंगशरीरवर्जित इत्यर्थः (अव्रणम्) अक्षतम् (अस्नाविरम्) स्नावाः शिरा यस्मिन् न विद्यन्त इत्यस्नाविरम् अव्रणमस्नाविरम् इत्याभ्यां स्थूल शरीर प्रतिषेधः। (शुद्धम्) निर्मलम् अविद्यामलरहितम् इति कारणशरीरप्रतिषेधः। (अपापविद्धम्) धर्माधर्मादिपाप वर्जितम्। शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुल्लिंगत्वेन परिणेयानि। स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुल्लिंगत्वेनोथ संहारात्। (कविः) क्रान्तदर्शीसर्वदृक् (मनीषी) मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः। (परिभूः) सर्वेषां परिउपरिभवतीति परिभूः। (स्वयम्भूः) स्वयमेव भवतीति। स नित्यमुक्त ईश्वरः (याथातथ्यतः) सर्वज्ञत्वाद् यथा तथा भावो याथातथ्यं तस्माद् यथाभूत कर्मफल साधनतः (अर्थान्) कर्तव्य पदार्थान् (व्यदधात्) विहित वान् यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः। (शाश्वतीभ्यः) नित्याभ्यः (समाभ्यः) संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः ॥ (ईशोपनिषद् भाष्ये)

यह पूर्वोक्त आत्मा सब ओर गया हुआ है अर्थात् आकाश के समान सर्वव्यापक है, शुद्ध ज्योतिष्मान् यानी दीप्तिवाला है, अकाय–अशरीरी अर्थात् लिंग शरीर से रहित है, अव्रण यानी अक्षत है, अस्नाविर है जिसमें स्नायु अर्थात् शिराएँ–नस–नाड़ियाँ न हों उसे अस्नाविर कहते हैं। अव्रण और अस्नाविर इन दो विशेषणों से स्थूल शरीर का प्रतिषेध किया गया है तथा शुद्ध निर्मल, यानी अविद्यारूप मल से रहित है, इससे कारण शरीर का प्रतिषेध किया गया है। अपापविद्ध–अधर्म रूप पाप से रहित है। कवि–क्रान्तदर्शी यानी सर्वदृक्–सर्वद्रष्टा है। (मनीषी) मन का ईशन करनेवाला अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर। परिभू–सबके ऊपर है, इसलिए परिभू है। स्वयम्भू–स्वयं ही होता है। उसका कोई उत्पादक नहीं हो सकता। उस नित्यमुक्त ईश्वर ने सर्वज्ञ होने के कारण यथाभूत कर्म, फल और साधन के अनुसार अर्थों–कर्त्तव्य पदार्थों का यथातथ्य विधान किया अर्थात् यथायोग्य रीति से उनका विभाग किया। यथा तथा के भाव को यथातथ्य कहते हैं। उसने शाश्वत–नित्य सभाओं अर्थात् संवत्सर नामक प्रजापतियों को उनकी योग्यता के अनुसार कर्तव्य विभाजन किया। यह श्री शंकराचार्यजी के संस्कृत भाष्य का भाषानुवाद है। इस भाष्य में अन्तिम चरण का भाव बहुत स्पष्ट नहीं प्रतीत होता है। अन्य अनेक विद्वान्

भाष्यकारों ने इसका अर्थ (यथातथ्यतः) यथार्थ (अर्थात्) वेद के द्वारा सर्वान् पदार्थान् (वि) विशेषणे (अदधात्) विद्यत्ते (शाश्वतीभ्यः) सनातनीभ्योऽनादि-स्वरूपाभ्यः स्वरूपेणोत्पत्तिविनाशरहिताभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यः अर्थात् वह सर्वव्यापक निराकार शुद्ध, पवित्र, सर्वज्ञ, स्वयम्भू परमेश्वर सनातन अनादिस्वरूप अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाश रहित जीवरूप प्रजाओं के लिए यथार्थ भाव से वेद द्वारा सब पदार्थों को विशेषकर बताता है, उनका ज्ञान देता है, इस प्रकार किया है जो अधिक स्पष्ट है।

ऐसे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् निराकार सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर की भक्ति और उपासना का वेदों में विधान है। उसके प्रति अपने तथा अपने कर्मों को पूर्णतया समर्पित कर देना चाहिए—ऐसा वेदों में स्थान–स्थान पर बताया गया है।

ऋग्वेद १।५७।४ तथा साम० ३७३ में कहा गया है—

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः॥

(ऋ० १।५७।४; साम० ३७३)

हे (इन्द्र) परमेश्वर (इमे वर्तते) ये हम तेरे भक्त तेरे ही हैं (ये) जो हे (पुरुष्टुत) बहुत से साधु सन्तों महात्माओं द्वारा स्तुति किये गये प्रभो (प्रभूवसो) सब को बसानेवाले सर्वेश्वर्य सम्पन्न! (त्वा आरभ्य चरामसि) तेरा नाम लेकर सदा विचरण करते हैं, तेरा नाम लेकर सब कार्यों को प्रारम्भ करते हैं, हे (गिर्वणः) वाणी द्वारा सेवनीय (त्वत् अन्यः गिरः न सघत्) तेरे अतिरिक्त कोई हमारी वाणियों का सेवन नहीं करता–कोई हमारी प्रार्थनाओं को नहीं सुनता। (क्षोणीः इव) जिस प्रकार पृथ्वी ऊपर फेंके हुए पदार्थों को भी अपने आकर्षण नियम से अपनी ओर खेंचती है, ऐसे ही तू (नः वचः प्रति हर्यं) हमारे वचन को चाह–हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर।

यहाँ भक्ति भावना के साथ परमेश्वर का नाम लेकर उसके आश्रय से प्रत्येक कार्य को प्रारम्भ करने और उस सर्वशक्तिमान् की सहायता से निर्भय होकर सर्वत्र विचरण करने का भाव है। इन्द्र, पुरुष्टुत, प्रभूवसो, गिर्वणः इत्यादि द्वारा भजनीय परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान, 'त्वा आरभ्य चरामसि' इन पदों द्वारा कर्मशीलता और 'क्षोणीरिव प्रतितद्धर्य नो वचः।' द्वारा भक्ति पूर्ण प्रार्थना का निर्देश करते हुए ज्ञान, कर्म, भक्ति का समुच्चय स्पष्टतया सूचित किया गया है।

ऋग्वेद ८।६६।१३ में भी इसी आशय का मन्त्र आया है जिसमें ईश्वर प्रणिधान की भावना का अत्युत्तम प्रतिपादन है—

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ॥

(ऋ० ८।६६।१३)

हे (इन्द्र) परमेश्वर! हम निश्चय से तेरे हैं (त्वे इत् उ विप्रा अपि स्मसि) हम तेरे ही अन्दर रहकर सर्वथा त्वदर्पित होकर विप्र–मेधावी ज्ञानी बनते हैं। हे (पुरुहूत मघवन्) बहुतों से पुकारे गये परमैश्वर्य युक्त प्रभो (त्वत् अन्यः) तेरे से भिन्न (कश्चन) कोई भी (मर्डिता न अस्ति) सच्चे सुख का देनेवाला नहीं है। सच्चे सुख और सच्ची शान्ति को देनेवाला एकमात्र परमेश्वर है। हमें सदा उसका उपासक और सेवक बनकर रहना चाहिए। उसकी कृपा से ही मनुष्य को सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है और मनुष्य मेधावी बनता है। अतः मेधावी बनकर सब कार्यों को उसी के अर्पित कर देना चाहिए।

ऋग्वेद ८।२।१७ और सामवेद ७२० में कहा है—

न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ। तवेदु स्तोमं चिकेत ॥

(ऋ० ८।२।१७; साम० ७२०)

हे (वज्रिन) पापवर्जक, न्याय रूप वज्रधारक परमेश्वर, मैं (अपसः नविष्टा) कर्म के प्रारम्भ में (अन्यत् न घेम आपपन) किसी और की स्तुति नहीं करता। (तव इत् उ स्तोमं चिकेत) केवल तेरी ही स्तुति करना जानता हूँ।

यहाँ भी ज्ञान, कर्म, भक्ति तीनों का अद्‌भुत समन्वय है।

'तवेदुस्तोमैश्चिकेत' इन शब्दों द्वारा ज्ञान सूचित होता है (काशकृत्स्न धातुपाठे) स्तुति तभी यथार्थ होती है जब वह ज्ञानपूर्वक हो। अपसोनविष्टौ, इन शब्दों द्वारा कर्म सूचित किया गया है जिसके प्रारम्भ में भगवान् को स्मरण करने का भाव मन्त्र में है। नघेमन्यदापपन और किसी की स्तुति मैं नहीं करता, इन शब्दों के द्वारा अनन्य भक्ति भावना को दर्शाया गया है। इस प्रकार इस छोटे से मन्त्र में ज्ञान, कर्म और भक्ति का कितना सुन्दर सम्मिश्रण और समन्वय सूचित किया गया है।

सामवेद मं० १५४० में भी ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का बड़ा सुन्दर समन्वय है—

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥

(साम० १५४०)

हे (वृषन्) सुख शान्ति की वर्षा करनेवाले सर्वशक्तिमन् परमेश्वर (अग्ने) ज्ञान स्वरूप हमारे नेताः (वयम्) हम (वृषणम्) सुख शान्ति के वर्षक (बृहत् दीद्यतम्) बहुत अधिक चमकनेवाले ज्योतिर्मय (त्वा) तुझ को (वृषणः) सुख शान्ति की वर्षा करनेवाले होकर (सम् इधीमहि) अपने अन्दर अच्छी तरह चारों

ओर से प्रदीप्त करते हैं। तेरा साक्षात्कार करते हैं। इस मन्त्र में समिधीमहि में साक्षात् ज्ञान का भाव प्रकट होता है, साथ ही उपासना की पराकाष्ठा क्योंकि भक्ति की चरमसीमा सुखवर्षक आनन्दमय भगवान् का साक्षात्कार है। वृषण: के द्वारा ऐसे कर्मों को करने का आदेश है जिससे हम वृषा–सुख शान्ति की वर्षा करनेवाले बन जाएँ। हम शुभ कर्म और परोपकार करते हुए ही सुख शान्ति के वर्षक बन सकते हैं अन्यथा नहीं। अत: सुखवर्षक भगवान् के ज्ञान और ध्यान के साथ हमें शुभ परोपकारक कर्मों द्वारा लोगों के कष्टों को दूर करने और उन पर सुख, शान्ति और आनन्द की वर्षा करने का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए तभी हम भगवान् के साक्षात्कार करने के अधिकारी बन सकेंगे।

ऋग्वेद ७।२५।४ में भगवान् की प्रसन्नता और उसकी आज्ञा के पालन के लिए कर्म करने का विधान है।

त्वावतो हीन्द्र क्रत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूर रातौ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्रँ ओकः कृणुष्व हरिवो न मर्धीः॥

(ऋ० ७।२५।४)

हे (इन्द्र) परमेश्वर (त्वावत:) मैं तेरे जैसे सच्चे स्वामी के (क्रत्वे अस्मि) कार्य करने के लिए ही हूँ। मेरा जीवन इसलिए है कि तुझ जैसे स्वामी की आज्ञा का पालन करता रहूँ। हे (शूर) पाप ताप विनाशक (शृ–हिंसायाम्) मैं (त्वावत: अवितु: रातौ) तेरे जैसे सर्वरक्षक प्रेममय प्रभु के दान में हूँ। तेरा दान मुझे सदा प्राप्त हो रहा है। हे (तविषीव: उग्र) सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर! हे (हरिव:) सब मनुष्यों के सच्चे स्वामिन् (हयि: इति मनुष्यनाम–निघं० २।३) (विश्वा इत् अहानि) सब दिनों के लिए–सदा के लिए तू मेरे हृदय मन्दिर में (ओक: कृणुष्व) गृह बना ले–तेरे अपने अन्दर बाहर होने की मुझे सदा अनुभूति से वञ्चित रखकर न मरने दे। भगवान् के ज्ञान, ध्यान और अनुभूति से अपने को वञ्चित रखना आत्मिक मृत्यु के समान है क्योंकि उसके दर्शन विना शान्ति और आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस मन्त्र में भी ज्ञान, कर्म, भक्ति तीनों का सुन्दर समन्वय और समुच्चय सूचित किया गया है। इन्द्र, शूर, तविषीव:, उग्र, हरिव:, अविता इत्यादि स्तुति वाचक शब्दों द्वारा भगवत्स्वरूप विषयक ज्ञान का परिचय मिलता है। त्वावतो हीन्द्र क्रत्वे अस्मि, इन शब्दों द्वारा भगवान् की प्रसन्नता और उसकी आज्ञा के पालन के लिए कर्म करने का स्पष्ट विधान है। विश्वेदहानि ओक: कृणुष्व, न मर्धि, इन शब्दों द्वारा भक्ति अर्थात् भगवान् में परम प्रेम की पराकाष्ठा सूचित की गई है क्योंकि उपासक एक क्षण के लिए भी भगवान् से विमुख नहीं होना चाहता, वह सदा उसका स्मरण, चिन्तन और उसकी आज्ञा को पालने के लिए शुभ कर्म करते हुए ही जीना चाहता है।

इस प्रकार वेदों में ज्ञान, कर्म, भक्ति–इन तीनों में विरोध नहीं, अपितु इन तीनों के समन्वय का अत्युत्तम उपदेश है, इसी से मनुष्य मात्र का कल्याण हो सकता है, यह हमने सप्रमाण दिखाने का प्रयत्न किया है। अन्य किसी भी धर्मग्रन्थ में ज्ञान, कर्म, भक्ति के समन्वय विषयक समस्या का इतना उत्तम समाधान देखने में नहीं आता।

भोग और त्याग के समन्वय की समस्या

भोग और त्याग की समस्या भी मानव जाति की प्रमुख समस्याओं में से एक है क्योंकि इसके सम्बन्ध में दो परस्पर विरुद्ध धाराएँ हैं जिनका हमने पहले निर्देश किया है। कट्टर त्यागवादियों के अनुसार वेदों में धन की निन्दा नहीं की गई। उनमें तो धन के स्वामी बनने की बार–बार प्रार्थना है। ऐसे मन्त्रों में से कुछ का अर्थ सहित निर्देश इस प्रकरण में आवश्यक प्रतीत होता है।

ऋग्वेद १०।१२१।१०; यजुर्वेद १०।२० तथा २३।६५ और अथर्ववेद ७।८०।३ में निम्न मन्त्र थोड़े से अन्तर से आया है।

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒ताति॒ परि॒ ता ब॑भूव।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम्॥

(ऋ० १०।१२१।१०)

यह मन्त्र ऋग्वेद १०।१२१।१० में इसी रूप में आया है। यजुर्वेद में विश्वाजातानि के स्थान पर 'विश्वारूपाणि' यह पाठ है जिनमें अन्तर नाम मात्र है। जातानि में उत्पन्न पदार्थों का भाव आता है जबकि रूपाणि में सभी रूपवान् पदार्थों का जिनमें परिबभूव क्रिया के द्वारा प्रजापति परमेश्वर की व्यापकता बताई गई है। अथर्ववेद ७।८०।३ में केवल दूसरे चरण में विश्वरूपाणि परिभूर्जजान यह पाठ है जिसका अर्थ है कि प्रजापति परमेश्वर परिभूः सर्वव्यापक है और उसने 'विश्वारूपाणि जजान' सब रूपवाले पदार्थों को उत्पन्न किया है। शेष मन्त्र भाग तीनों वेदों में समान है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

हे (प्रजापते) सारी प्रजा के स्वामी परमेश्वर (त्वत् अन्यः) तुझ से भिन्न कोई (एतानि ता विश्वा जातानि) उन इन सब उत्पन्न प्राणियों और पदार्थों में (न परिबभूव) नहीं व्याप रहा—तू ही सर्वव्यापक और सारे संसार का स्वामी है। (यत् कामाः ते जुहुमः) जिस–जिस कामनावाले होकर हम (जुहुमः) तेरा आवाहन करते हैं–तेरी पुकार करते हैं (तत् नः अस्तु) वह–वह हमारी कामना तेरी कृपा से पूर्ण हो (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम सब प्रकार के ऐश्वर्यों के स्वाम्नी और पालक बनें।

यह सब प्रकार के ऐश्वर्य (भौतिक और आध्यात्मिक) की प्रार्थना वेदों में बार–बार आती है क्योंकि दोनों प्रकार के ऐश्वर्य के विना मनुष्य का काम नहीं

चल सकता। ऋग्वेद ४।३२।२० में प्रार्थना है—

भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्या भर। भूरि घेदिन्द्र दित्ससि॥

(ऋ० ४।३२।२०)

हे (इन्द्र) परमेश्वर्य सम्पन्न प्रभो! (भूरिदाः) तू बहुत देनेवाला है इसलिए (नः भूरि देहि) हमें बहुत दे (मा दभ्रम्) थोड़ा मत दे। (भूरि आभर) बहुत ऐश्वर्य से हमें भरपूर कर दे। तू (घा) निश्चय से (भूरि दित्ससि) हमें बहुत ऐश्वर्य ही देना चाहता है।

ऋग्वेद ९।१९।१ तथा साम० ९९९ में भगवान् से प्रार्थना की गई है—

यत्सोम चित्रमुक्थ्यं दिव्यं पार्थिवं वसु। तन्नः पुनान आ भर॥

(ऋ० ९।१९।१; साम० ९९९)

हे (सोम) सर्वजगदुत्पादक परमेश्वर (यत्) जो (चित्रम्) अद्भुत (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (दिव्यम्) दिव्य–आध्यात्मिक ज्ञान, शान्ति, आनन्दादि रूप और (पार्थिवम्) भौतिक (वसु) धन है (पुनानः) पवित्र करनेवाला तू (तत्) उस दोनों प्रकार के धन को (नः आभर) हमें चारों ओर से प्राप्त करा–उससे हमें भरपूर कर दे।

अथर्ववेद ६।७९।२ में दम्पती की प्रार्थना है—

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय। आ पुष्टमेत्वा वसु॥

(अथर्व० ६।७९।२)

हे (नभसः पते) द्युलोक तथा अन्य लोकों के स्वामिन्! तू (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (ऊर्जम्) अन्न, रस और बल पराक्रम को (धारय) धारण करा। हमें तेरी कृपा से (पुष्टं वसु) पुष्टिकारक धन (आएतु) चारों ओर से प्राप्त हो।

अथर्व० ७।१७।१ में प्रार्थना है—

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः। स नः पूर्णेन यच्छतु॥

(अथर्व० ७।१७।१)

(धाता) जगत् का धारक (ईशानः) शासक (जगत् स्वामी) सारे संसार का स्वामी परमेश्वर (नः रयिं दधातु) हमारे धन को धारण और पुष्ट कराए। (सः) वह (नः) हमें (पूर्णेन यच्छतु) हमारे पूर्ण पुरुषार्थ के अनुसार दे।

अथर्व० १९।३१।१२ में भगवान् से प्रार्थना है—

रयिरसि रयिं मे धेहि॥ (अथर्व० १९।३१।१२)

हे परमेश्वर! तू (रयिः असि) सारे धन का स्वामी है सर्वैश्वर्य सम्पन्न है (मे रयिं धेहि) मुझे भी धन ऐश्वर्य को (आध्यात्मिक और भौतिक) धारण करा।

इस प्रकार हजारों मन्त्रों में ऐश्वर्य के लिए प्रार्थना है। यदि वेदों के अनुसार धन सर्व अनर्थों का मूल और अतएव त्याज्य होता (जैसे मध्यकाल के कई साधु-सन्तों तथा अन्य महात्माओं ने समझकर उसकी भरपेट निन्दा की), तो उसके लिए इतनी प्रार्थनाएँ न पाई जातीं क्योंकि प्रार्थना उत्तम वस्तु और गुण के लिए ही की जाती है। अत: स्पष्ट है कि वेदों के अनुसार धन का उपार्जन और उसका उपभोग निन्दनीय नहीं है, किन्तु वह धन धर्मयुक्त पुरुषार्थ से कमाया गया होना चाहिए और उसके साथ त्याग भावना होनी चाहिए जिससे धन को लोकोपकार के कामों में लगाया जाये। इसलिए वेद का स्पष्ट आदेश है कि—

तेन॑ त्य॒क्तेन॑ भुञ्जीथा॒ मा गृ॑ध॒: कस्य॑ स्वि॒द्धन॑म्॥

(यजु० ४०।१)

सर्वव्यापक परमेश्वर ने जो कुछ धनादि तुम्हें दिया है (तेन त्यक्तेन भुंजीथा:) उसका त्यागपूर्वक भोग करो (मा गृध:) लोभ मत करो, इस बात का विचार करो कि (कस्यस्विद् धनम ?) यह धन किसका है ? हे मनुष्य ! जिस धन को तू अपना समझकर अभिमान करता और केवल अपने स्वार्थ साधन अथवा भोग-विलास में लगाना चाहता है, वस्तुत: वह धन तेरा नहीं है, यह तो (कस्यधनम्) क-प्रजापति (को हि प्रजापति:-शत० ६।२।२।५ को हि प्रजापति उ० ५।३ प्रजापतिर्वै क: ऐतरेय २।३८ ताण्ड्य महाब्राह्मण ७।८।३) सारी प्रजा के स्वामी परमेश्वर का है। अत: उसका सारी प्रजा के कल्याणार्थ ही उपयोग करना चाहिए-यह वेद का भोग त्याग समन्वयात्मक उपदेश है।

ऋग्वेद ४।४।१० में कहा गया है—

यस्त्वा॒ स्वश्व॑: सुहि॒रण्यो॑ अग्न उप॒याति॒ वसु॑मता॒ रथे॑न।
तस्य॑ त्रा॒ता भ॑वसि॒ तस्य॒ सखा॒ यस्त॑ आति॒थ्यमा॑नु॒षग्जुजो॑षत्॥

(ऋ० ४।४।१०)

हे (अग्ने) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (य:) जो (स्वश्व:) उत्तम इन्द्रियों वा अश्वोंवाला (सुहिरण्य:) उत्तम स्वर्णादि धनवाला (वसुमता रथेन) ऐश्वर्य युक्त रथ से सम्पन्न होकर भी (त्वा उपयाति) तेरे समीप आता है-तेरी उपासना करता है, तू (तस्य) उसका (त्राता) रक्षक और (तस्य सखा) उसका मित्र होता है, (य:) जो (आनुषक्) अनुकूलता से (ते) तेरा (आतिथ्यं जुजोषत्) अतिथि की तरह पूजन और प्रेमपूर्वक तेरा सेवन करता है।

कितनी स्पष्टता से मन्त्र में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि धनी होना भगवान् की प्राप्ति में बाधक नहीं है। जो अश्व, ऐश्वर्ययुक्त उत्तम रथ और सुवर्णादि धन से युक्त होकर भी भगवान् की श्रद्धापूर्वक उपासना करता है और अतिथि की तरह उसका प्रेम से पूजन करता है, भगवान् उसका रक्षक और मित्र

होता है।

अतः वेदों के अनुसार धन बुरी वस्तु नहीं, किन्तु उसका सदुपयोग करना और धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उसे कमाना चाहिए। इसीलिए अक्षैर्मा दीव्यः (ऋ० १०।३४।१०) इत्यादि के द्वारा जुए तथा तत्समान सट्टेबाजी आदि अनुचित साधनों का निषेध किया गया है। वेदों में पुण्योपार्जित शुभ लक्ष्मी को भूल से भी बुरे कर्मों में नष्ट न करने का उपदेश है।

अथर्ववेद ७।११५।४ में आदेश है—

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्॥

(अथर्व० ७।११५।४)

(खिले) बाड़े में (विष्ठिताः) एकत्र बैठी हुई (गा इव) गौओं को जैसे ग्वाला अलग-अलग पहचानता है, वैसे मैं भी (एताः) इन (एनाः) नाना प्रकार की लक्ष्मी तथा उससे क्रीत वस्तुओं को (विआकरम्) विशेषरूप से पृथक्-पृथक् विवेचन करके देखता हूँ। (याः) जो (पुण्याः लक्ष्मीः) पुण्य कर्मोपार्जित उत्तम लक्ष्मियाँ हैं, (रमन्ताम्) वे मेरे साथ रमण करें मेरे पास रहें, मैं उनका सत्कार्यार्थ उपभोग करूँ (याः पापीः) जो पाप कर्मोपार्जित लक्ष्मी के विविध रूप हैं, (ताः अनीनशम्) उनको मैं नष्ट कर देता हूँ, उन्हें दूर फेंक देता हूँ।

इस प्रकार वेद हमें धन को जैसे-तैसे-छल-कपट से उपार्जन करने का नहीं, अपितु सदा पुण्य कार्यों से ही एकत्र करने और शुभ कार्यों में ही उसके विवेक पूर्वक उपयोग का आदेश देते हैं। यही सबसे अधिक व्यावहारिक उपदेश है क्योंकि धन के विना कोई विद्या प्रचार, धर्म-प्रचार, समाज सुधार तथा लोकोपकार का कार्य नहीं हो सकता।

इस अथर्व० ७।११५ के अन्य मन्त्रों में भी बुरे साधनों से कभी धन न कमाने और यदि कभी ऐसा धन आ जाए, तो उसको दूर फेंक देने का उपदेश है। उदाहरणार्थ सूक्त के इस मन्त्र में कहा है—

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत्सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥

(अथर्व० ७।११५।२)

(या) जो (लक्ष्मीः) घर की लक्ष्मी होकर भी (पतयालूः) नीचे दुराचार में गिरानेवाली (अजुष्टा) प्रेम से रहित होकर (या) मुझे (अभिचस्कन्द) ऐसे चिपटे हुई है जैसे (वृक्षम्) वृक्ष को (वन्दनेव) वन्दन नामक विष बेल चिपट जाती है, और उस पर छाकर वृक्ष को सुखा डालती है तथा उसे बढ़ने नहीं देती, हे

(सवितः) सर्वप्रेरक परमेश्वर! (ताम्) उस नागिन के समान लक्ष्मी को (इतः अन्यत्र) यहाँ से दूर (अस्मत्) हमसे पृथक् (धाः) रख और (हिरण्यहस्तः) सारा ऐश्वर्य और तेज जिसके हाथ में है, ऐसा तू (नः) हमें (वसु) सब लोगों को बसानेवाला लोकोपकारक उत्तम धन (रराणः) प्रदान कर।

छल-कपट, हिंसा, जुए इत्यादि से कमाई लक्ष्मी पतयालूः-मनुष्य को पतित करनेवाली और इसलिए धार्मिक सज्जनों द्वारा अजुष्टा-असेवित होती है। जैसे विषलता वृक्ष को सुखा देती है, वैसे वह भी मनुष्य के नाश का कारण बन जाती है। अतः ऐसे धन का कभी उपभोग न करना चाहिए, हाँ पुण्यकर्मों से परिश्रमपूर्वक कमाई हुई लक्ष्मी का उचित उपभोग अपनी आवश्यकताओं और परोपकार के लिए करना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता, वह वेदों के अनुसार धन या अन्न का भोग नहीं करता, अपितु पाप का ही भोग करता है।

ऋग्वेद १०।११७ के दान सूक्त में इसके सम्बन्ध में कहा है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋ० १०।११७।६)

(अप्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञान से रहित अविवेकी मूर्ख (मोघम् अन्नं विन्दते) व्यर्थ अन्न-धनादि को प्राप्त करता है। उसका धन निष्फल होता है, केवल इतना ही नहीं (सत्यं ब्रवीमि) मैं सच कहता हूँ (स तस्य वध इत्) वह धन-अन्नादि उसके नाश का ही कारण बनता है। (न अर्यमणम्) जो न तो न्यायकारी सज्जनों और उत्तम संस्थाओं का पोषण करता है (नो सखायम्) और न अपने मित्रों की आपत्ति के समय सहायता करता है, ऐसा (केवलादी) केवल अपने लिए अन्न और धन का सेवन करनेवाला (केवलाघः भवति) केवल पाप को खानेवाला होता है।

कितने प्रबल शब्दों में त्याग और दान भावना रहित स्वार्थी की निन्दा की गई है।

अथर्ववेद ३।२४।५ में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आदेश है—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।
कृतस्य कार्य॑स्य चेह स्फातिं समावह॥

(अथर्व० ३।२४।५)

हे मनुष्य! तू (शतहस्तः) सौ हाथोंवाला होकर (समाहर) धनादि का सञ्चय कर, खूब परिश्रम और सत्यनिष्ठा से धनोपार्जन कर, इसमें किसी प्रकार की कमी न रख किन्तु (सहस्रहस्त) हजारों हाथोंवाला होकर, बड़ी उदारता से

सञ्चित धन को (संकिर) बखेर दे। देश काल पात्र का विचार करके सहायता पात्रों की बड़ी उदारता से सहायता कर। इसमें कभी कृपणता से काम न ले। (कृतस्य कार्यस्य च) किये हुए और आगे किये जानेवाले काम की (इह स्फातिं सम् आवह) यहाँ सफलता वा विस्तार को प्राप्त कर। (स्फाति वृद्धौ) इस प्रकार का प्रयत्न कर जिससे तेरे परिश्रम से किये तथा भविष्य में किये जानेवाले काम में वृद्धि होती जाए।

यहाँ भोग और त्याग के कितने सुन्दर समन्वय का उपदेश है। यदि इस पर धनी लोग आचरण करने लग जाएँ तो फिर पूंजीपतियों और श्रमियों, धनियों और निर्धनों, स्वामियों और सेवकों के बीच विवादों के लिए स्थान ही कहाँ रह सकता है?

वेदों के अनुसार धन सफल ही उनका होता है जो उसका अधिकतर उपयोग सत्पात्रों में दान के लिए करते हैं। इस विषय में ऋग्वेद ५।४२।८ का मन्त्र मननीय है—

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः॥

(ऋ० ५।४२।८)

हे (बृहस्पते) वेद ज्ञान के पालक (ये) जो (तव ऊतिभिः) तेरे रक्षोपायों से (सचमानाः) सुसम्बद्ध होकर (मघवानः) ऐश्वर्यवान् और (सुवीराः) उत्तम वीर तथा वीर सन्तानवाले हो जाते हैं, उनमें से (ये अश्वदाः) जो अश्वों का दान करनेवाले होते हैं (उत वा सन्ति गोदाः) अथवा गौओं का सत्पात्रों में दान करनेवाले होते हैं, (ये वस्त्रदाः) जो वस्त्रों का सत्पात्रों में दान करनेवाले होते हैं, (तेषु) उनमें (रायः) धन (सुभगाः) उत्तम रूप से सफल तथा धर्म और कीर्ति वर्धक होते हैं।

इस प्रकार मन्त्र में अश्व, गौ, वस्त्रादि के सत्पात्रों में दान का विधान करके कहा गया है कि इस प्रकार उदारतापूर्वक अपने पास विद्यमान अश्व, गौ, वस्त्रादि (ये उपलक्षण हैं) का दान देनेवालों का धन ही सफल होता तथा दाताओं के धर्म और यश को बढ़ानेवाला होता है।

ऋग्वेद १।५४।९ में इन्द्र–परमेश्वर्ययुक्त राजादि को सम्बोधन करते हुए उपदेश दिया गया है कि—

व्यश्नुहि तर्पया काममेषामथा मनो वसुदेयाय कृष्व।

(ऋ० १।५४।९)

(वि अश्नुहि) तुम्हारे पास जो धन–सम्पत्ति तथा उत्तम पदार्थ हैं, उनका अच्छी तरह उचित उपभोग करो। (एषां कामं तर्पय) ये जो तुम्हारे आश्रित सज्जन

हैं, जिन्हें तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है, और जो किसी शुभ कामना की पूर्ति करवाने तुम्हारे पास आते हैं, इनकी कामनाओं को तृप्त करो, पूरी करो। वे तेरे पास से कभी निराश होकर न जाएँ। (अथो) और इसके पश्चात् आश्रितों की कामनाओं को तृप्त करने के पश्चात् अन्यत्र भी जहाँ बाहर धर्म–प्रचार, शिक्षा प्रसार, दलितोद्धार, समाज सुधार आदि शुभ कार्यों में सहायता की आवश्कता हो, वहाँ उदारता पूर्वक (वसुदेयाय मनः कृण्व) हे मनुष्य धन देने के लिए अपना मन बना। तेरे मन में सत्पात्रों की उदार भाव से दान करने की इच्छा सदा बनी रहे। तू कृपण न बन।

ऋग्वेद १०।११७।५ के दान सूक्त में से एक दो मन्त्रों का हम पहले अर्थ सहित उल्लेख कर चुके हैं उनमें से निम्न मन्त्र का प्रसंगवश अर्थ सहित उल्लेख करना यहाँ आवश्यक समझते हैं क्योंकि इसमें दीर्घ दृष्टि रखते हुए और धन की अस्थिरता को ध्यान में रखते हुए दान देने की प्रबल प्रेरणा की गई है—

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥

(ऋ० १०।११७।५)

(तव्यान्) जो महान्, समृद्ध है वह (नाधमानाय) याचना करनेवाले के लिए (चाहे वह वैयक्तिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो अथवा सम्राज कल्याणार्थ) (पृणीयात् इत्) अवश्य दान करे, पालन और आवश्यकताओं की पूर्ति करे (पृण–प्रीणने) सबको तृप्त करे। ऐसे मनुष्य को चाहिए कि वह संकुचित दृष्टिवाला न होकर (द्राघीयांसं पन्थाम् अनुपश्येत) दीर्घ, विस्तृत मार्ग को अनुकूलता से देखे। विशाल दृष्टि सम्पन्न होकर समाज और राष्ट्र हित आदि का चिन्तन करे। उसे स्मरण रखना चाहिए कि (रायः) धन (रथ्या चक्रा इव) रथ के चक्रों की तरह (ओ हि वर्तन्ते) ऊपर नीचे फिरते रहते हैं। (अन्यम् अन्यम् उपतिष्ठन्त) वे कभी एक और कभी दूसरे के पास जाते रहते हैं। इसलिए इनके लिए मनुष्य को कभी अभिमान न करना चाहिए, प्रत्युत दीर्घ दृष्टि तथा उदार भावना रखते हुए निर्धन व्यक्तियों और उत्तम संस्थाओं की सहायता के कार्य में सदा तत्पर रहना चाहिए। ऐसे सैंकड़ों उदाहरण हैं जहां अत्यन्त धनी–मानी पुरुष मिट्टी में मिल गये और अत्यन्त निर्धन भिश्ती, चमार, गुलाम आदि भी राजा तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति बन गये। अतः कभी मनुष्य को धनमदोन्मत्त न होकर उदार दानी बनना चाहिए। यह दान और निर्धनों की सहायतार्थ कितनी प्रेरणा है! इस तथा ऐसे अन्य सूक्तों को ध्यान में रखते हुए Vedic India ''वैदिक इण्डिया'' नामक पुस्तक के अंग्रेज लेखक और सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक रागोजिन ने ठीक ही लिखा है कि—

"Vedic hymns greatly confirm us in the impression that the Aryan

Moral Code, as mirrored in the Rigveda, bore on the whole, a singularly **pure** and elevated **character.** So nothing can be more **nobly beautiful** in feeling and wording than the following on alms giving or rather **on the duty of giving or helping generally.**" (Rig. x. 117)
(Vedic India by Ragozin P. 374)

अर्थात् वैदिक सूक्त हमारे इस विचार का प्रबल समर्थन करते हैं कि वैदिक आचार शास्त्र सम्पूर्णतया अत्यधिक पवित्र और उत्कृष्ट था। उदाहरणार्थ दान अथवा सहायता देने के विषय में (जो ऋग्वेद १०।११७ में वर्णित है) और शिक्षा भावना और भाषा की दृष्टि से इससे अधिक सुन्दर नहीं हो सकती।

ऋग्वेद ८।५१।६ में कहा है—

यस्मै त्वं वसो दानाय शिक्षसि स रायस्पोषमश्नुते।

(ऋ० ८।५१।६)

हे (वसो) सबको बसानेवाले सर्वाधार परमेश्वर! (यस्मै त्वं दानाय शिक्षसि) जिसको तू दान के लिए शिक्षा देता है (सः) वह (रायस्पोषम् अश्नुते) धन की पुष्टि का उपयोग करता है। जैसे कि अन्यत्र वेद में कहा है—

उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते॥

(ऋ० १०।११७।१)

(उत उ) और (पृणतः) दूसरों को दान देकर तृप्त करनेवाले का (रयिः) धन (न उपदस्यति) नहीं क्षीण होता (उत) तथा इसके विपरीत (अपृणन्) अन्यों को दान देकर तृप्त न करनेवाला कृपण–कञ्जूस मक्खीचूस आवश्यकता पड़ने पर (मर्डितार न विन्दते) सुख नहीं पाता।

दूसरों को दान देना, सहायता करना, एक पुण्य कार्य है। इसलिए वेद के भाव को लेकर योगिराज श्रीकृष्ण ने कहा है कि—

नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

(गीता ६।४०)

हे प्रिय! कोई कल्याणकारी उत्तम कार्य करनेवाला दुर्गति को नहीं प्राप्त होता, उसका स्वयं कल्याण होता है। ऋग्वेद ८।५२।६ में इसी बात को थोड़े से परिवर्तन के साथ इन शब्दों में कहा गया है—

यस्मै त्वं वसो दानाय मंहसे स रायस्पोषमिन्वति।
वसूयवो वसुपतिं शतक्रतुं स्तोमैरिन्द्रं हवामहे॥

(ऋ० ८।५२।६)

हे (वसो) सबको बसानेवाले सर्वाधार परमेश्वर! (त्वम्) तू (यस्मै) जिसको

(दानाय मंहसे) दान के लिए बढ़ाता है (सः) वह (रायः पोषम् इन्वति) धन की पुष्टि को व्याप लेता है, वह सब प्रकार से समृद्ध बन जाता है। अतः हम (वसूयवः) भौतिक अथवा आध्यात्मिक विद्या, शान्ति, आनन्दादि रूप धन की कामना करते हुए (वसुपतिम्) धन के स्वामी और पालक तुझ (इन्द्रम्) परमेश्वर को (स्तोमैः हवामहे) स्तुतियों से पुकारते हैं, तुझे सदा स्मरण करते हैं।

ऋग्वेद १०।१४१।६ में जिसका देवता अग्नि है, यह प्रार्थना की गई है कि—

त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥ (ऋ० १०।१४१।६)

हे ज्ञानस्वरूप सब के सच्चे नेता परमेश्वर! तू (देवतातये) दिव्य गुणों और कर्मों के विस्तार अथवा यज्ञादि शुभकर्मों के लिए (देवतातेति यज्ञनाम-निघं० ३।१७) (नः) हमारे (रायः) धनों को (दानाय चोदय) दानार्थ प्रेरित कर। हमें तेरी ऐसी शुभ प्रेरणा सदा प्राप्त हो कि हम अपने धन का उपयोग दिव्य गुणों और यज्ञादि शुभ कर्मों की वृद्धि के लिए सदा करते रहें।

राजा तथा भगवान् के विषय में अथर्व० ३।२०।८ में कहा है—

उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् ॥ (अथर्व० ३।२०।८)

वह (प्रजानन्) प्रकृष्ट ज्ञानयुक्त भगवान् और उसका सच्चा भक्त राजा (अदित्सन्तम्) जो नहीं देना चाहता, उसको भी (दापयतु) दिलावे।

ऋग्वेद १०।१०८।४ में भी अदानी कृपण व्यापारियों के विषय में, जो अपनी ही स्वार्थ पूर्ति में तत्पर रहते हैं कहा है—

हुता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ॥ (ऋ० १०।१०८।४)

हे (पणयः) स्वार्थपरायण व्यापारियो! तुम (इन्द्रेण हताः) परमेश्वर द्वारा मारे हुए (शयध्वे) सोओगे। परमात्मा तुम्हारा नाश कर देगा क्योंकि तुम दानी, परोपकार परायण न होकर केवल अपने स्वार्थ की यथा कथञ्चित् छल-कपट करके भी पूर्ति में तत्पर हो।

पणि वे धनी व्यापारी होते हैं जो छल-कपट, मित्र द्रोह, अस्तेय, भ्रष्टाचार (आजकल के प्रचलित शब्दों में) चोरबाजारी, घूसबाजी इत्यादि अनुचित साधनों से धन कमाकर उसे अपनी स्वार्थ साधना में लगाते हैं। वेद में ऐसे प्राणियों की कठोर शब्दों में निन्दा करते हुए कहा गया है कि न्यायकारी भगवान् उन का नाश कर देता है। इसलिए आत्मा के लिए परमात्मा का स्पष्ट शब्दों में उपदेश है कि—

शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः ॥

(ऋ० ८।९५।८; साम० २४०३)

हे सौम्य! तू (शुद्धः) शुद्ध, निर्मल, पाप रहित होकर शुद्ध पवित्र धर्मयुक्त

साधनों से (रयिं निधारय) धन को निरन्तर धारण कर और उसे पुष्ट कर (डुधाञ्-धारण-पोषणयो:) (शुद्ध) शुद्ध पवित्र होकर (ममद्धि) सदा तृप्त और प्रसन्न हो (मदी-तृप्तियोगे अथवा मद-हर्षे) ऋग्वेद ८।९५।९ और सामवेद मं० १४०४ में इसी बात को जोर देने के लिए दूसरे शब्दों में कहा गया है—

इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि॥

(ऋ० ८।९५।९; साम० १४०४)

हे (इन्द्र) परमैश्वर्य युक्त! तू (शुद्धः) शुद्ध, पवित्र निष्पाप होकर (हि) ही, निश्चय से (रयिम्) धन को (नः) हमारे लिये, सब के कल्याण के लिए सम्पादन कर, धनोपार्जन कर (शुद्धः) निर्मल होकर (दाशुषे) जो तेरे प्रति अपने को समर्पित करता है, ऐसे आश्रित सेवक वर्ग के लिए (रत्नानि) रमणीय उत्तम पदार्थों को प्रदान कर। (शुद्धः) पवित्र होकर तू (वृत्राणि) पापों को (जिघ्नसे) नष्ट करता है (शुद्धः) शुद्ध, पवित्र होकर (वाजम्) अन्न और धन को (सिषाससि) बाँटना चाहता है, सब को देना चाहता है (षण-संभक्तौ तथा षणु-दाने)।

इस प्रकार इन मन्त्रों में कितनी उत्तमता और प्रबलता से धन को पवित्र धर्म युक्त साधनों से कमाने और उसे लोगों के कल्याणार्थ बाँटने का उपदेश है।

इस तरह हमने देखा कि वेदों में गृहस्थों के लिए धन को धर्मयुक्त साधनों से कमाने का और उसके उचित उपभोग का स्पष्ट आदेश है। अथर्ववेद ९।३ तथा अन्य शाला सूक्तों में छः, आठ, दस तक कमरोंवाले सुन्दर विशाल मकान बनाकर उनमें सुखपूर्वक निवास की गृहस्थ नर-नारियों को आज्ञा दी गई है।

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भइवा शये॥

(अथर्व० ९।३।२१)

इस मन्त्र में २, ४, ६, ८, १० कमरोंवाली शाला (मकान) का निर्माण कराकर उसमें सुखपूर्वक निवास के लिए कहा गया है।

अथर्ववेद ६।१०६।१ में घर के चारों ओर दूर्वा पुष्प तालाब आदि बनवाने का इस प्रकार आदेश है—

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः।
उत्सो वा तत्र जायतां हृदो वा पुण्डरीकवान्॥

(अथर्व० ६।१०६।१)

गृहों की रक्षा और सुन्दरता के लिए उत्तम उपायों का उपदेश करते हैं। हे शाले! (ते) तेरे (आ-अयने) अंगों के आगे के स्थान में और (परा-अयने) पीछे

के या दूर के स्थानों में भी (पुष्पिणीः) फूलोंवाली (दूर्वाः) दूब और नाना वनस्पतियों (रोहन्तु) खूब उगें। और (तत्र) वहाँ (उत्सः वा) कुँआ भी (जायताम्) हो (वा) और (पुण्डरीकवान्) कमलोंवाला (ह्रदः) तालाब भी हो! रहने के घर के समीप और दूर तक भी हरा-भरा मैदान, फुलवाड़ी, कुँआ और पुष्करिणी (पखुरिया) होनी चाहिएँ। ऐसे घरों में अग्नि आदि का भी भय नहीं रहता। शाला (मकान) में भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए पृथक्-पृथक् कमरे बनवाने का भी अथर्व० ९।३।७ में विधान है यथा—

ह॒वि॒र्धान॑म॒ग्निशा॒लं पत्नी॑नां॒ सद॑नं॒ सदः॑। सदो॑ दे॒वाना॑मसि देवि शाले॥

(अथर्व० ९।३।७)

घर में एक (हविर्धानम्) होम करने के पदार्थ रखने का स्थान (अग्निशालम्) अग्निहोत्र का स्थान अथवा रसोई घर (पत्नीनाम्) स्त्रियों के (सदनं सदः) रहने का स्थान (देवानाम्) पुरुषों और विद्वानों के रहने, बैठने, मेल-मिलाप करने और सभा का (सदः) स्थान तथा स्नान, भोजन, ध्यान आदि का भी पृथक्-पृथक् एक-एक कमरा बनावे। इस प्रकार की (देवि) दिव्य, कमनीय (शाले) बनाई हुई (शालाअसि) शाला सुखदायिनी होती है।

जहाँ सर्वसाधारण गृहस्थों के लिए भी वेदों में उत्तम गृहों में रहने का विधान है, वहाँ राजा और राजा के प्रधानमन्त्री जैसे उच्च शासनाधिकारियों के लिए सहस्रस्तम्भोंवाले सभा भवनों में निवास का भी प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद २।४१।५; साम० ९११ में मित्रावरुणौ (जिन शब्दों से सब के मित्र कष्ट निवारक-प्रधानमन्त्री और प्रजा द्वारा चुने हुए राजा का ग्रहण है) को सम्बोधन करते हुए कहा गया है—

राजा॑ना॒वन॑भिद्रुहा ध्रु॒वे सद॑स्युत्त॒मे। स॒हस्र॑स्थूण आसाते॥

(ऋ० २।४१।५; साम० ९११)

हे (अनभिद्रुहा) किसी के साथ तथा परस्पर कभी द्रोह न करनेवाले (राजानौ) गुणों से प्रकाशमान राजन् तथा प्रधानमन्त्रिन्! तुम दोनों (सहस्र स्थूणे) हजारों स्तम्भोंवाले (ध्रुवे) पक्के और (उत्तमे) उत्तम (सदसि) भवन वा सभास्थान में (आसाते) बैठते हो।

वेदों में विविध यानों का, जिनमें विद्युद् रथ, विमानादि भी सम्मिलित हैं, वर्णन स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है। इस बात को हम धर्म और विज्ञान के समन्वय के प्रकरण में दिखाएँगे। अब इस अध्याय का उपसंहार करते हुए हम इतना और कहना आवश्यक समझते हैं कि वेदों में धन के धर्मपूर्वक संग्रह, उसके उचित उपभोग और लोकहितार्थ दान की जो बात है, वह गृहस्थों के लिए है और वह भी विशेषतः वैश्यों के लिए, क्योंकि वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था के

अनुसार (जिसका हम पहले निर्देश कर चुके हैं) आश्रमों में से गृहस्थी और वर्णों में से वैश्यों का ही काम धन का संग्रह और उसके उपयोग के साथ विभाजन है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी त्यागवृत्तिवाले होते हैं। उनके लिए धनोपार्जन निषिद्ध है। वर्णों में से ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र आजीविकार्थ थोड़ा धन लेकर उससे सन्तुष्ट होते हैं। उनके लिए अधिक धनोपार्जन की शास्त्रीय आज्ञा नहीं है। इस प्रकार भोग और त्याग में वेद की शिक्षा के अनुसार पूर्ण समन्वय स्थापित हो सकता है यदि—

(१) धनोपार्जन करते हुए इस बात का ध्यान सदा रखा जाए कि केवल धर्मयुक्त पुरुषार्थ से धन कमाया जाए। अधर्म, असत्य, छल–कपट आदि अनुचित साधनों से नहीं।

(२) उस धन का अधिक उपयोग समाज तथा राष्ट्रहित और अन्य लोकोपकारक कार्यों तथा दीन–दरिद्रों, अनाथों, पीड़ितों, अपंगों, रोगियों की सहायता के लिए किया जाए।

(३) इस प्रकार परोपकार के कार्यों में व्यय करने के पश्चात् जो बचे ''तेन त्यक्तेन'' इस वैदिक आदेशानुसार उसको ही अपनी सुख–सुविधा तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लगाया जाए।

अध्याय-१६

स्वदेश भक्ति, उग्र राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

स्वदेश भक्ति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्या भी इस युग की प्रमुख समस्याओं में से एक है। इनमें विशेषतः राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में कहाँ तक और किस रूप में समन्वय वा सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है– यह एक अत्यन्त विचारणीय विषय है। इस पर हम वेदों के प्रकाश में पहले विचार प्रस्तुत करके तुलनात्मक दृष्टि से अन्य प्रसिद्ध विचारकों और मनीषियों के विचारों का प्रसंगानुसार उल्लेख करेंगे। इस विवेचन के प्रारम्भ में स्वदेश भक्ति, जिसे अंग्रेजी में Patriotism कहते हैं, और राष्ट्रीयता (Nationalism) में भेद का निर्देश करना आवश्यक है। हमारे देश के जगद्विख्यात योगी और मनीषी श्री अरविन्द ने बंगला में लिखी हुई अपनी "धर्म और जातीयता" नामक पुस्तक में इस विषय का बड़ा उत्तम विवेचन किया था। उसमें उन्होंने यह बताया था कि स्वदेश भक्ति का भाव एक सात्त्विक भाव है। यह अपनी मातृभूमि के साथ माता की तरह प्रेम करना, इसके लिए सब प्रकार का त्याग करना तथा अपनी सारी शक्ति को इसके समस्त निवासियों के कल्याण और उद्धार के लिए लगाना दिखाती है। यह सब के लिए उपादेय है। किन्तु उग्र राष्ट्रीयता (Nationalism), जिसके लिए उन दिनों (जब सम्भवतः १९०७ ई० के लगभग वह पुस्तक लिखी गयी) "जातीयता" शब्द प्रचलित था, एक राजसिक भाव है। यह न केवल अपने देश के साथ प्रेम करना और अपने देश की प्रत्येक वस्तु का समर्थन करना, अपितु अन्य देशों और राष्ट्रों को जानबूझकर हानि पहुँचाने में भी कोई पाप नहीं समझती। यह अपने देशवासियों के साथ प्रेम के अतिरिक्त अन्य देशों और राष्ट्रों से घृणा का भाव भर देती है। यह प्रायः उग्र और आक्रमणात्मक (Aggressive) हो जाती है और तब अनेक अत्याचारों और अनर्थों का भी कारण हो जाती है। उस समय अपने राष्ट्र के हित को बढ़ाने के लिए अन्य राष्ट्रों के प्रति असत्य तथा छल-कपट के आश्रय को भी बुरा नहीं समझा जाता। इसके लिए वर्तमान युग के इतिहास में जर्मनी के अधिनायक हिटलर का उग्र राष्ट्रवाद कुख्यात है। इस विषय में हम कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पं० जवाहरलालजी नेहरू इत्यादि जगद्प्रसिद्ध मनीषियों के विचारों को प्रस्तुत करेंगे।

वेदों में विशुद्ध देश भक्ति

यहाँ हम वेद मन्त्रों के प्रमाणों से यह दिखाना चाहते हैं कि वेदों में विशुद्ध देश भक्ति के भावों का कितनी उत्तमता से प्रतिपादन है। सैकड़ों स्थानों पर वेदों में भूमि के लिए "माता" शब्द का प्रयोग किया गया है। मातृभूमि और राष्ट्र के हित की ओर भी वेदों में अनेक बार ध्यान आकर्षित किया गया है। ऋग्वेद में मरुतों अर्थात् देश रक्षार्थ दुष्टों के मारने और स्वयं मरने को तैयार शूरवीर पुरुषों तथा अन्य श्रेष्ठ मनुष्यों के विषय में जो सूक्त आते हैं, उनके लिए बार-बार पृश्निमातरः, विशेषण प्रयुक्त किया गया है।

उदाहरणार्थ ५।५७।२ में कहा है—

स्वश्वाः रथ सुरथा पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्॥

(ऋ० ५।५७।२)

हे (मरुतः) वीर सैनिको! तुम (स्वश्वाः) उत्तम अश्वोंवाले (सुरथाः) उत्तम रथोंवाले (पृश्निमातरः) पृथिवी को माता माननेवाले (स्वायुधाः) उत्तम अस्त्र-शस्त्र सम्पन्न हो। ऐसे तुम (शुभ याथना) उत्तम धर्म और न्याय युक्त मार्ग पर सदा चलो। अपने वीरोचित कर्त्तव्यों का अच्छी तरह से पालन करो।

पृश्नि का अर्थ हमने जो भूमि या पृथिवी किया है, इसके लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्नलिखित स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं—

हयं (पृथिवी) वै वशा पृश्निः॥ (शत० १।८।३।१५)

हयं (पृथिवी) वै वशा पृश्निरयं दिदमस्याम्।
मूलिचामूलं चान्नाघं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निः॥

(शत० ५।१।३।३)

हयं पृथिवी से पृश्निः॥ (तैत्तिरीय० १४।२।५)

५।५९।६ में इन मरुतों के विषय में कहा है—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥

(ऋ० ५।५९।६)

इस मन्त्र में सब मरुतः अर्थात् वीर मनुष्य समानता के सत्य सिद्धान्त को समझते हुए (उद्भिदः) सदा ऊपर उठते हुए (महसा) अपने तेज से (विवावृधुः) विशेष उन्नति करते हैं। वे सब (पृश्निमातरः) भूमि को माता के समान माननेवाले और (दिवो मर्याः) प्रकाशमय परमेश्वर के पुत्र अर्थात् परमेश्वर को अपना सच्चा पिता माननेवाले हैं। इस प्रकार उनका उत्तम जन्म है। अथवा वे शूरवीरता, मातृभूमि भक्तता आदि गुणों के कारण (सुजाताः) उत्तमता से प्रसिद्ध हैं। ऐसे हे

मरुतो ! तुम (नः अच्छा जिगातन) हमें अच्छी तरह प्राप्त होओ। इस समय के एक अति प्रसिद्ध विद्वान् महामण्डलेश्वर ब्रह्मनिष्ठ–निगमागम शास्त्र निर्णायक परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी महेश्वरानन्दजी गिरि ने ''चातुर्वर्ण्यं समीक्षाया'' नामक अपने नवीन अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में की है। हम उनकी व्याख्या के कुछ शब्दों से पूर्णतया सहमत नहीं क्योंकि मन्त्र में भारत या किसी अन्य देश का नाम नहीं है। तथापि उसे उनकी अपनी व्याख्या समझकर आदर के साथ उसे उद्धृत करते हैं। उनकी भावना अति भव्य है।

वेदोपदेशः

ते अ॑ज्ये॒ष्ठा अक॑निष्ठास उ॒द्भिदोऽः अच्छा॑ जिगातन॥

(ऋ० ५।५९।६)

अर्यमर्थः

ये (जनुषा) जन्मना (उत्पत्या) (पृश्निमातरः) पृश्नेः–पृथिव्याः–भारत भूमातुः–पुत्राः पृश्निः भूमिर्माता येषां ते इति पृश्निमातरः–पावन भारत भूमि–निवासिनः–भारत मातृ भवता इति यावत्। माता भूमिः पुत्रोअहं पृथिव्याः।

(अथर्व० १२।१।१२)

इति श्रुत्यन्तरात्। कीदृशस्ते सन्ति इत्यत आह (दिवः) स्वर्ण स्वर्ग लोकात् (सुजातासः) सुसुष्ठु संभूताः महर्षीणां पावने धर्म प्रधाने देशे समुत्पन्नाः–शुभ संस्कार पुण्य कर्म संयुक्ता इति यावत्। गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारत भूमि भागेतिस्मृतेः। पुनः कीदृशास्ते (उद्भिदः) शत्रूणां–बाह्याभ्यान्तरा–अामातता निमामुद्भेद मितारः–विनाशयितारः–शूरवीराःपुनः कीदृशाः (अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः) परस्परं ज्येष्ठ कनिष्ठभाव–उत्तमाधमभाव रहिताः (अमध्यमासः) नवा मध्यमाः सन्ति किन्तु ते सर्व प्रकारैः समाः–समान वैदिक धर्माः–सम्मान प्रेम सद्भावाः–समान विद्या बल धनसमाः (मर्याः) मनुष्या, सन्ति ते (महसा) तेजसा दीप्त्या वेनाप्यनभिभूत विद्यादि पराक्रमेण (विवावृधुः) विवर्धन्तां, सोम्ननाम–भिवृद्धिमाप्नुवन्तु। ते सर्वे भद्र–पुरुषाः भव्य विचाराः समुदाराः प्रेम संघंब लवन्तो सूर्य (नः) अस्मान् भगवत्स्वरूप देवान्–उपासितुमिति शेषः (अच्छा) साधु यथा स्यात् तथा अस्मदभि मुखम् (आजिगातन) आगच्छ तात्पर्यः। (महामण्डलेश्वर स्वा० महेश्वरानन्द गिरि कृतायां चातुवर्ण्य भारत समीक्षा १२६। २७ पृ०)

कनखल के महामण्डलेश्वर स्वा० महेश्वरानन्दजी गिरि के उपरि लिखित मन्त्र भाष्य में जो विशेष उल्लेखनीय बात है वह यह है कि ''मरुतः'' का अर्थ उन्होंने मनुष्यपरक किया है। प्रायः यह माना जाता है कि मरुतः आँधी के देवता हैं जो आकाश में रहते हैं। प्रो० मैक्समूलर, ग्रिफिथ, विल्सन आदि ने भी मरुतः का अर्थ वा आँधी के देवता कर दिया है किन्तु स्वामी महेश्वरानन्दजी जैसे महान् विद्वान्

ने जो मनुष्यपरक अर्थ किया है, उसके प्रबल प्रमाण स्वयं मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं। सायणाचार्य, उव्वटाचार्य, महीधर, माधव, भरत स्वामी इत्यादि भाष्यकारों को भी अनेक स्थानों पर इस मरुतों के मनुष्य परक अर्थ को स्वीकार करना पड़ा है। निघण्टु ३।१८ में स्पष्ट ही "मरुतेति अत्विङ्नामसु" तथा ५।५ में "मरुतेति पदनामसु" पड़ा है जिसके ज्ञान, गमन, प्राप्ति लेकर अनेक अर्थ निकल सकते हैं।

वेदों में मरुतों के लिए नरः, मर्याः, मानुषसः इत्यादि का प्रयोग है। उदाहरणार्थ ऋ० १।३९।८, १०; १।६४।१०; १।८९।८; ५।५२।५ में 'नरः' शब्द का मरुतों के लिए प्रयोग है।

ते म आहुर्य आययुरुप द्युभिर्विभिर्मदे।
नरो मर्या अरेपस इमान्पश्यन्निति ष्टुहि॥

(ऋ० ५।५३।३)

यहाँ कहा गया है कि इन मरुतों को देखते हुए यह स्तुति करो कि ये (अरेपसः) पाप रहित पूर्ण सदाचारी (नरः) नेता (मर्याः) मनुष्य हैं, नरः का प्रयोग भी मनुष्यों के लिए होता है किन्तु यहाँ वह मर्य रूप में आया है अतः उसका अर्थ नायक वा नेता लेना उचित है। इससे बढ़कर मरुतों का मनुष्यपरक अर्थ लेने के लिए स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है। अथर्ववेद ७।७७।३ के निम्न मन्त्र में मरुतों के लिए मानुषासः शब्द का प्रयोग है। यथा—

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः।
ते अस्मत्पाशान्प्र मुञ्चन्त्वेनसः सान्तपना मत्सरा मादयिष्णवः॥

(अथर्व० ७।७७।३)

इसमें मरुतः के लिए (स्वर्काः) उत्तम ज्ञानवान् तथा पूजनीय (उरुक्षयाः) बड़े विशाल भवनों में निवास करनेवाले (सगणाः) अपने सहायकारी समूह सहित (सान्तपनाः) दुष्टों, अत्याचारियों को अच्छी प्रकार से तपानेवाले (मत्सराः) स्वयं तृप्त और सन्तुष्ट तथा (मादयिष्णवः) अन्यों को आनन्दित करनेवाले (मानुषासः) मननशील मनुष्य, ऐसे विशेषण आये हैं। अतः मरुतों के मनुष्यपरक होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इन मननशील मनुष्यों को पाप बन्धन से रहित कराने की प्रार्थना की गयी है।

ऋग्वेद के ५।५३।३ (जिसको हमने ऊपर उद्धृत किया है) ५, ५९, ६, ५, ६१, १०, ७७, २ इत्यादि में मरुतों के लिए मर्याः का प्रयोग है जिसका अर्थ मरणशील मनुष्य प्रसिद्ध है। सुप्रसिद्ध चतुर्वेद भाष्यकार सायणाचार्य ने भी ऋग्वेद १०।७७।२ के.....

श्रिये मर्यासो अञ्जीँरकृण्वत सुमारुतं न पूर्वीरति क्षपः।

(ऋ० १०।७७।२)

इस मन्त्र के भाष्य में लिखा है मयसिः-मारकाः, मनुष्यरूपा वा मरुतः पूर्व मनुष्याः सन्तः पश्चात्। सुकृतविशेषणाह्यमरा आसन् ॥

(श्री सायणाचार्य कृते ऋक्संहिताभाष्येतिलक सं० सं० खंड ४ पृ० ५५२)

इसमें मरुतः का अर्थ मनुष्य रूप करते हुए लिखा है कि पहले वे मनुष्य थे फिर विशेष पुण्य कर्मों से वे अमर हो गये।

ऋग्वदे ८।८९।१ में तथा सामवेद २५८ में निम्न मन्त्र आया है—

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥

(ऋ० ८।८९।१; साम० २५७)

इसके भाष्य में श्री सायणाचार्य ने मरुतः की व्याख्या करते हुए लिखा है—

हे मरुतः मितराविणः स्तोतारः (बृहते) मरुते (वः) स्तुत्यस्तोतृत्व लक्षणेन सम्बन्धेन युष्मदीयाय इन्द्राय। (ब्रह्म) सामलक्षणं स्तोत्रं (प्रार्वत प्रोच्चारयत)।

ऋग्वेद ८।८९।३ में निम्न मन्त्र आया है—

प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥

(ऋ० ८।८९।३; साम० २५७)

यहाँ भी श्री सायणाचार्य ने मरुतः का अर्थ मितराविणः, स्तोतारः अथवा मितभाषी स्तोता किया है।

भरत स्वामी ने अपने सामवेद भाष्य में मन्त्र २५७ की व्याख्या करते हुए मरुतः का अर्थ स्तोतारः—महद्रू वन्तीति मरुतः, इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्तोता किया है।

नारायण पुत्र माधव ने (जिसका काल षष्ठ शताब्दी माना जाता है) और जो सायणाचार्य से बहुत पूर्व के सामवेद भाष्यकार हैं, अपने सामवेद भाष्य में "मरुतः" का अर्थ "ऋत्विजः" किया है।

(सामवेद संहिता माधव भरत स्वामी भाष्य संहिता, डॉ० कुन्हन् राज संपादिता ऐडयार पृ० १८९-१९०)

यजुर्वेद २०।३० में "बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्" आया है। इसके भाष्य में उव्वचाटार्य ने लिखा है—

ऋत्विजो वा मरुतः (उव्वटाचार्यो यजुर्भाष्ये)

महीधर ने लिखा है—मरुतः-ऋत्विजः

प्रसंगवश हमें मरुतः के मनुष्यपरक अर्थ के विषय में इसलिए भी कुछ

अधिक लिखना पड़ा क्योंकि हमने मरुद् देवता के कई मन्त्रों का पहले उल्लेख किया है और आगे भी करेंगे। हम चाहते हैं कि इस मनुष्यपरक अर्थ में किसी विद्वान् को शंका न हो। ऋग्वेद १०।१८ में कई मन्त्र मातृभूमि की स्तुति के विषय में आये हैं। उदाहरणार्थ मन्त्र १० में उपदेश है—

उप॑ सर्प मा॒तरं॑ भूमि॑मे॒ताम्॥ (ऋ० १०।१८।१०)

(एताम्) इस (मातरं भूमिम्) मातृभूमि की (उप सर्प) सेवा करो।

मन्त्र ११ में मातृभूमि से एक सच्चे भक्त की प्रार्थना है—

उच्छ्व॑ञ्चस्व पृथिवि॒ मा नि बा॑धथाः सूपाय॒नास्मै॑ भव सूपवञ्च॒ना।
मा॒ता पु॒त्रं यथा॑ सि॒चाभ्ये॑नं भूम ऊर्णु॑हि ॥

(ऋ० १०।१८।११)

हे (पृथिवी) मातृभूमे! (उच्छ्वंचस्व) तू हमें सदा उन्नत करके सुख दे (मा निबाधथा:) कभी हमें कष्ट न दे (अस्मै) इस भक्त के लिए तू (सूपायना सूपवंचना) उत्तम वस्तुओं को प्राप्त करानेवाली हो। (माता पुत्रं यथा) जिस प्रकार माता पुत्र के साथ प्रेम करती है, वैसे तू (सिच) हमारे साथ प्रेम कर। (एनम् अभि ऊर्णहि) इस भक्त व सेवक को सब ओर से ढक दे-सुरक्षित कर दे। ऊर्णुहि-आच्छादने। इसमें स्वदेशीय वस्त्रों द्वारा अपने को आच्छादित करने का भाव भी आता है।

मातृभूमि के प्रति यह हार्दिक प्रार्थना है। जब तक हम अपनी मातृभूमि को केवल अचेतन समझते हैं, तब तक उसके साथ अपना आन्तरिक प्रेम प्रकट नहीं कर सकते, अतः काव्य दृष्टि से वेदों में उपर्युक्त प्रकार के वर्णन को प्रधानता दी गयी है। देवों का वर्णन करते हुए ऋ० १०।६२।३ में....

अप्र॑थयन्पृथि॒वीं मा॒तरं॒ वि। (ऋ० १०।६२।३)

ये शब्द आये हैं जिनका अर्थ यह है कि ये देव अपने शुभ कर्मों से (पृथिवी मातरं वि अप्रथयन्) पृथिवी माता व मातृभूमि के यश का विस्तार करते हैं। अब यजुर्वेद के एतद्विषयक कुछ मन्त्रों को देखते हैं। यजु० २।१० में ये शब्द आये हैं—

उप॑हूता पृथि॒वी मा॒तोप॒ मां पृ॑थि॒वी मा॒ता ह्व॑यताम्॥

(यजु० २।१०)

इनका भाव यह है कि मैंने पृथिवी को (माता उपहूतो) माता के रूप में अपने हृदय में पुकारा है। (पृथिवी माता माम् उपहूयताम्) पृथिवी माता व मातृभूमि भी मुझे अपने पुत्र के रूप में पुकारे, स्वीकार करे। प्रत्येक पुरुष यदि अपने देश को माता के समान समझे तो निःसन्देह मातृभूमि का हित होता है और

पुत्रों का कल्याण होता है। यह भाव यजुर्वेद ९ के निम्नलिखित मन्त्र में आया है—

अस्मे वोऽअस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चाᳬंसि सन्तु वः।
नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै ॥

(यजु० ९।२२)

यहाँ देव अर्थात् सत्य निष्ठ विद्वानों से प्रार्थना है। (अस्मे) हमारे अन्दर (वः इन्द्रियम् अस्तु) तुम्हारे जैसा बलयुक्त इन्द्रिय समूह हो (नृम्णम्) तुम्हारे जैसा बल और धन हो (नृम्णमिति बलनाम–निघं० २।९; नृम्णमिति धननाम–निघं० २।१०) (उत क्रतुः) और कर्म करने का उत्साह तथा उत्कृष्ट बुद्धि हो (क्रतुरिति कर्मनाम–निघं० २।१; क्रतुरिति प्रज्ञानाम–निघं० ३।९) (अस्मे वः वर्चांसि सन्तु) हमारे अन्दर तुम्हारे जैसा सब प्रकार का तेज हो (नमः मात्रे पृथिव्यै) माता पृथिवी वा मातृ भूमि को हमारा नमस्कार हो (नमो मात्रे पृथिव्यै) माता पृथिवी को हमारा नमस्कार हो। जिस मातृ भूमि वा पृथिवी माता के तुम्हारे जैसे योग्य धर्मात्मा सदाचारी विद्वान् पुत्र हैं, उस माता को हम नमस्कार करते हैं और साथ ही इन्द्रिय, धन, बल, कर्म करने का उत्साह बुद्धि और तेज आदि को धारण करते हुए हम भी उस मातृभूमि वा पृथिवी माता की सेवा में तत्पर रहेंगे। यह भाव यहाँ सूचित किया गया है।

यजुर्वेद अध्याय १० मन्त्र २३ में—

पृथिवी मातर्मा मा हिᳬंसीर्मोऽअहं त्वाम्॥ (यजु० १० ।२३)

ये शब्द आये हैं जिनमें पृथ्वी को माता मानते हुए कहा है कि तू हमें कभी कष्ट न दे, मैं तुझे कभी कष्ट न दूँ। अभिप्राय यह है कि मैं कभी भूलकर भी ऐसा काम न करूँ जिससे मातृभूमि का अहित हो। इस प्रकार करने से पृथिवी माता वा मातृभूमि द्वारा मेरा सदा कल्याण होगा। इसमें सन्देह नहीं।

यजुर्वेद अध्याय १७ मन्त्र ४३ में प्रार्थना है—

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं याऽइषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीराऽउत्तरे भवन्त्वस्माँ२॥ऽउ देवाऽअवता हवेषु॥

(यजु० १७।४३; साम० १८५९)

यहाँ अपने देश के वीरों की विजय कामना करते हुए कहा गया है कि हमारी ध्वजाएँ सदा ऊँची रहें। हमारे बाण सदा विजयी हों। हमारे वीर शत्रुओं को परास्त करनेवाले हों। हे सत्यनिष्ठ विद्वान् लोगो! हमारी पुकार पर आप हमारी सदा रक्षा करें और हमें उन्नत करें।

यजुर्वेद अ० २२ का २२वाँ मन्त्र वैदिक राष्ट्रीय भाव की कल्पना के कारण

अत्यन्त सुप्रसिद्ध है। अतः उसका उल्लेख करना भी यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्यो-ऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ (यजु० २२।२२)

इस मन्त्र में ब्राह्मण (परमेश्वर और वेद वेत्ता) हमारे राष्ट्र में सच्चे ब्रह्म तेज को धारण करनेवाले हों, क्षत्रिय, शूरवीर, शस्त्रास्त्र संचालन में निपुण महारथी हों, वैश्य उत्तम गौ–बैल आदि से युक्त हों, स्त्रियाँ भी (पुरन्धिः) बुद्धि और कर्म बहुल शक्तिशाली हों। धी शब्द के निघण्टु में बुद्धि और कर्म दोनों अर्थ दिये हैं तथा निरुक्ति में यास्काचार्य ने पुरन्धिः का अर्थ पुरुधीः किया है। यजमान का युवा पुत्र उत्तम रथों में सवारी करनेवाला विजयी और सभ्य हो। समय पर हमारे राष्ट्र में बादल वर्षा करें, ओषधि वनस्पतियाँ समय पर अच्छी प्रकार से पकें और हमारा सब प्रकार से योगक्षेम अथवा कल्याण, प्राप्त की रक्षा और अप्राप्त का लाभ हो। इस प्रकार की जो प्रार्थना इन मन्त्रों में की गयी है वह विशाल सात्त्विक देशभक्ति के भाव को सूचित करती है। ऐसी प्रार्थना सब देशवासियों को सदा करनी चाहिए।

अब हम अथर्ववेद में पाये जानेवाले देश भक्ति अथवा मातृ भूमि प्रेम के भावों और राष्ट्रीय कर्त्तव्यों पर दृष्टिपात करेंगे।

अथर्व० ३।५।२ में प्रार्थना करने के लिए कहा गया है—

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥

(अथर्व० ३।५।२)

अर्थात् मैं अपने राष्ट्र के जन समुदाय में अत्यन्त उत्तम वा श्रेष्ठ बनूँ। प्रत्येक पुरुष को इस प्रकार अत्यन्त उत्तम बनने की भावना धारण करनी चाहिए ताकि सारा राष्ट्र उन्नत हो सके। अथर्व० ३।८।१ में कहा है—

अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु॥

(अथर्व० ३।८।१)

अर्थात् (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ वरणीय परमात्मा वा पाप निवारक विद्वान् (वायुः) वायुवत् बलवान् गतिशील पुरुष (अग्निः) अग्रणी–ज्ञानी नेता ये सब (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (बृहत्) बड़ा–सब प्रकार से समृद्ध और (संवेश्यम्) शान्ति युक्त (दधातु) करें। इस मन्त्र के अन्दर राष्ट्र को उन्नत और शान्ति युक्त रखने का भाव स्पष्टतया पाया जाता है।

अथर्व० ३।१९।५ में ब्राह्मण पुरोहित प्रधानामात्य के रूप में निम्नलिखित शब्दों का उच्चारण करता है—

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥

(अथर्व० ३।१९।५)

(अहम्) मैं (एषाम्) इन सब के (आयुधा) अस्त्र-शस्त्रों को (संस्यामि) तीक्ष्ण करता हूँ (एषां राष्ट्रम्) इनके राष्ट्र को (सुवीरं वर्धयामि) अच्छे वीर पुरुषों से युक्त करके उन्नत करता हूँ। (एषां क्षत्रम्) इस राष्ट्र के लोगों का क्षत्रिय समुदाय (जिष्णु) विजयशील और (अजरम् अस्तु) अविनाशी हो (विश्वेदेवाः) सब सत्यनिष्ठ ज्ञानी ब्राह्मण (एषाम्) इन देशवासियों के (चित्तम् अवन्तु) (चिती संज्ञाने) ज्ञान की रक्षा करें और उसे बढ़ावे। इस मन्त्र में निम्नलिखित भाव आये हैं—

१. शस्त्रास्त्रादि की ठीक व्यवस्था करना और राष्ट्र को वीर बनाकर उन्नत करना, ब्राह्मणों, विशेषतः प्रधानामात्यादि का कर्त्तव्य है।

२. क्षत्रियों की शक्ति को बढ़ाने की ओर प्रत्येक देशवासी का ध्यान होना चाहिए।

३. प्रजा को सुशिक्षित करने का काम ब्राह्मणों के हाथ में होना चाहिए।

अथर्व० ६।३९।२ में निम्नलिखित प्रार्थना है—

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम।
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥

(अथर्व० ६।३९।२)

अर्थात् हे परमैश्वर्य सम्पन्न प्रभो! तुझ अत्यन्त यशस्वी की हम भी कीर्तिवर्धक उत्तम कर्मों से पूजा करते हैं। तू हमें (इन्द्रजूतम्) परम ऐश्वर्य द्वारा सेवित (इदि परमैश्वर्ये) धन-धान्य सम्पन्न (राष्ट्रं रास्व) राष्ट्र दे ताकि (ते रातौ) तेरे दान में हम (यशसः स्याम) अत्यन्त यशस्वी होवें।

इस मन्त्र में परमैश्वर्य युक्त राष्ट्र की जो प्रार्थना की गयी है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे वेदों में राष्ट्रहित की भावना को कितना महत्त्व दिया गया है, इस बात का परिचय मिलता है।

अथर्व० ७।६।२ में मातृभूमि को किस प्रकार उन्नत करने का यत्न करना चाहिए, इस बात को निम्न शब्दों में बताया गया है—

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्॥

(अथर्व० ७।६।२; यजु० २१।५)

इस मन्त्र में मातृ भूमि के लिए निम्न विशेषण आये हैं—

१. सुव्रतानाम् ऋतस्य पत्नीम्—उत्तम व्रत धारण करनेवालों के ज्ञान की रक्षा करनेवाली।

२. तुविक्षत्राम्—बहुत क्षात्रबल व शक्ति से युक्त।

३. अजरन्तीम्—जीर्णावस्था व अवनति को न प्राप्त होनेवाली।

४. उरुचीम्—अत्यन्त विस्तृत अथवा प्रगतिशील।

५. अदितिम्—बन्धन रहित अथवा स्वतन्त्र (दो–अव खंडने)

६. सुशर्माणम्—उत्तम सुख देनेवाली (शर्मेति सुखनाम–निघं० ३।६) अथवा उत्तम गृहोंवाली (शर्मेति गृहनाम–निघं० ३।४)

७. सुप्रणीतिम्—उत्तम प्रकृष्ट नीति से युक्त।

इन विशेषणों का मनन करने से भूमि माता अथवा मातृ भूमि के विषय में वैदिक कल्पना समझ में आ सकती है। प्रत्येक पुरुष का, चाहे वह किसी भी वर्ण व आश्रम का हो, यह कर्त्तव्य है कि वह उपर्युक्त गुणों से अपनी मातृ भूमि को सम्पन्न करने के लिए अपनी योग्यतानुसार प्रयत्न करे।

अथर्ववेद का १२वाँ काण्ड सारा ही राष्ट्रीय गीत है। इसमें भूमि माता अथवा मातृ भूमि के प्रति जो प्रेम और गौरव का भाव प्रकट किया गया है वह अद्भुत है।

१. **माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।** (अथर्व० १२।१।१२)
२. **सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥** (अथर्व० १२।१।१०)
३. **तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥** (अथर्व० १२।१।२६)

इत्यादि मन्त्र मातृ भूमि के प्रति विशुद्ध भक्ति भाव को प्रकट करनेवाले हैं जिनका सरल अर्थ है कि—

१. भूमि मेरी माता है और मैं इस पृथ्वी का पुत्र हूँ।

२. वह हमारी पृथ्वी माता मुझ पुत्र को दुग्धादि सब वस्तुएँ प्रदान कर पुष्ट करे जैसे माता पुत्र को दूध पिलाकर करती है।

३. स्वर्णादि जिसके अन्दर विद्यमान है, उस ऐसी पृथ्वी को मैं नमस्कार करता हूँ।

अथर्ववेद १२।१।५६ में कहा गया है—

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥

(अथर्व० १२।१।५६)

अर्थात् जो हमारे ग्राम हैं, जो जंगल हैं, जो इस भूमि में सभाएँ हैं, जो संग्राम

स्थल हैं तथा जो समितियाँ हैं, उनमें से किसी भी स्थान में मैं रहूँ, हे मातृ भूमे! तेरे विषय में सदा उत्तम बातें कहूँ। तेरे हित का विचार मेरे अन्दर सदा बना रहे और उसको मैं सदा स्पष्ट रूप से और उत्तमता से प्रकट करूँ, चाहे मैं किसी भी स्थान में होऊँ।

इसी सूक्त के ६२वें मन्त्र में कहा है—

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥

(अथर्व० १२।१।६२)

हे (पृथिवि) भूमि मातः अथवा मातृ भूमे! हम (ते उपस्थाः) तेरी सेवा में सदा उपस्थित रहें। हम (अनमीवा) रोग रहित हों (अयक्ष्माः) क्षय रोगादि से सर्वथा रहित, स्वस्थ हों (ते प्रसूताः अस्मभ्यम् सन्तु) तुझ में उत्पन्न व निर्मित जो पदार्थ हैं, वे हमारे लिए हों अर्थात् हम स्वदेशी वस्तुओं का सदा सेवन करनेवाले हों। (नः दीर्घम् आयुः) हमारी आयु दीर्घ हो (प्रतिबुध्यमानाः) ज्ञान सम्पन्न तथा स्वकर्त्तव्य में सदा जागृत होकर (वयम्) हम (तुभ्यं बलिहृतः स्याम्) तेरे हित के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों की भी बलि देनेवाले हों। तेरे लिए बलिदान करने को हम सदा उद्यत रहें।

स्वदेशी वस्त्र तथा अन्य पदार्थों के उपयोग करने, सदा ज्ञान सम्पन्न, नीरोग और स्वस्थ होकर देश की सेवा करने और आवश्यकतानुसार मातृ भूमि की रक्षार्थ प्राणों की बलि तक दे देने की भावना इस मन्त्र में कितनी उत्तमता से प्रतिपादित है।

इस १२।१ का प्रथम मन्त्र जिसमें भूमि माता अथवा मातृ भूमि को धारण करनेवाले गुणों का प्रतिपादन है, अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः हम उसका उल्लेख किये विना नहीं रह सकते। उसमें जिन गुणों को मातृ भूमि के धारक बताया गया है, उनके अधिक से अधिक मात्रा में धारण करने से ही किसी राष्ट्र का कल्याण हो सकता है।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

(अथर्व० १२।१।१)

(सत्यम्) सत्य (बृहत् ऋतम्) विस्तृत ज्ञान (ऋ—गति प्रापणयोः गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च—अत्र ज्ञानार्थ ग्रहणम्) (उग्रम्) उग्रता—तेजस्विता क्षात्रबल (दीक्षा) ब्रह्मचर्यादि की दीक्षा (तपः) शीतोष्ण, सुख—दुःख, हानि-लाभ, जय—पराजय, शोक—हर्ष, निन्दास्तुति, मान—अपमानादिद्वन्द्व सहिष्णुता (ब्रह्म) धन ब्रह्मज्ञान और अन्न (ब्रह्मेति धननाम्—निघण्टु २।१० ब्रह्मेति अन्ननाम—निघं० २।७) (यज्ञः) यज्ञ ये (पृथिवीं धारयन्ति) पृथिवी को धारण करते हैं। इनके

बिना किसी भी राष्ट्र का धारण नहीं हो सकता, कोई भी राष्ट्र उन्नत नहीं हो सकता। जिस राष्ट्र में लोग सत्य के व्रत का पालन करते हैं, विस्तृत अनिवार्य शिक्षा का (जिसमें ऋत अथवा अचल नियमों का प्रतिपादन करनेवाला भौतिक विज्ञान भी सम्मिलित है) जहाँ प्रबन्ध होता है, जहाँ क्षात्रबल उग्र रूप में विद्यमान रहता है, जहाँ लोग ब्रह्मचर्य आदि की दीक्षा लेकर अपने को सर्वथा पवित्र बनाते हैं, जहाँ शीतोष्ण सुख दुःखादि द्वन्द्वों को सहन करके लोग कर्त्तव्य के पालन में तत्पर रहते हैं, जहाँ ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त धन और अन्न को भी बढ़ाने का भाव लोगों के मन में रहता है और जहाँ यज्ञ अर्थात् देव पूजा विद्वानों का सत्कार, संगतिकरण–परस्पर प्रेम और सहयोग तथा दान की भावना मनुष्यों में सदा रहती है, उसी राष्ट्र का सदा कल्याण होता है। मन्त्र का यह उपदेश स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

यह बात विशेष स्मरण रखने योग्य है कि वेदों की शिक्षाएँ सार्वभौम हैं। अतः वेदों के इस प्रकार के उपदेश सभी देशों या राष्ट्रों के लिए लागू हैं। अपनी माता से प्रेम करने का अर्थ अन्यों की माताओं के साथ द्वेष करना नहीं है। इतना अवश्य है कि स्वदेश भक्ति की इन शिक्षाओं में से एक अपने देश बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा करना भी है। (जिस पर हम पहले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं)। हमने अथर्व १२।१ के मन्त्रों का ऊपर भी उल्लेख किया है। निम्न मन्त्र—

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥

(अथर्व० १२।१।१४)

हे (पृथिवि) मातृ भूमे! (यः) जो (नः द्वेषत्) हमारे साथ द्वेष करता है (यः पृतन्यात्) जो हम पर सेना से आक्रमण करता है और (यः) जो हमें (मनसा अभिदासात्) मन से चारों ओर से दास बनाना चाहता है, (यो वधेन) जो अपने शस्त्रों से हमें दास बनाना या हमारा नाश करना चाहता है, हे (पूर्व कृत्वरि भूमे) पूर्व से ही शत्रुओं के नाश करने योग्य बनाई हुई मातृ भूमे! तू (तम्) उस दुष्ट पुरुष का (नः) हमारे लिए (रन्धय) विनाश कर, उसे हमारे वशीभूत कर दे।

तात्पर्य यह है कि अपनी मातृ भूमि की रक्षा करना देशवासियों के पवित्र कर्त्तव्यों में से है। जो द्वेष करते हों, जो मन से हमें दास बनाना चाहते हों (जैसे कि चतुर अंग्रेज शासक थे) अथवा जो सेना द्वारा आक्रमण करके शस्त्रास्त्रों द्वारा हमें अपने अधीन करना चाहे, उनका डटकर मुकाबला करना और अपनी मातृ भूमि की स्वाधीनता तथा अखण्डता की रक्षा करना, वेदों के अनुसार सब देशवासियों का कर्त्तव्य है। वीर राणा सांगा, महाराणा प्रताप, छत्रसाल, राठौर दुर्गादास आदि

राजपूतों और छत्रपति शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह आदि ने इसी देश भक्ति के शुद्ध भाव से प्रेरित होकर अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए अनेक कष्ट सहे। महर्षि दयानन्दजी की गणना यद्यपि प्रायः राजनैतिक नेताओं में नहीं की जाती क्योंकि उनका मुख्य कार्य वैदिक धर्म का उद्धार और समाज सुधार रहा, तथापि देश-भक्ति की वैदिक भावना उनके अन्दर कूट-कूट कर भरी हुई थी। उनके निम्नलिखित कुछ वाक्य इस विषय में उद्धरणीय हैं जो भारतीय काँग्रेस के जन्म से भी बहुत वर्ष पूर्व सन् १८७५ ई० के लगभग लिखे गये थे जब अंग्रेजों का राज्य अपने पूर्ण यौवन पर था। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "सत्यार्थप्रकाश" में लिखा—

आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन और निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ भी है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। (सत्यार्थप्रकाश, समु० ८) माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है।

हे परमेश्वर! स्वदेशस्थ आदि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर, प्रीतिमान् पाखण्ड रहित करें। अन्योन्य प्रीति से परम वीर्य पराक्रम से निष्कंटक चक्रवर्ती राज्य भोंगे। हम में सब नीतिमान् सज्जन पुरुष हों।

(आर्याभिविनय, द्वितीय प्रकाश म० १)

हे महाराजाधिराज परब्रह्मन् (क्षत्रीय) अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिए शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट करें। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों। (आर्याभिविनय, प्रकाश २ म० ३१)

"हम और आपको अति उचित है कि जिस देश पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें।" (स०प्र०, समु० ११)

ऋषि दयानन्द की प्रबल देश-भक्ति और निर्भयता का निम्न उदाहरण देना इस प्रसंग में उचित प्रतीत होता है—

वेदों में जिस स्वतन्त्रता की रक्षा का उपदेश किया गया है, उस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए वे कितने अधिक उत्सुक थे, यह भी इस संवाद से जो जनवरी १८७३ ई० में उनका उस समय के वायसराय लार्ड नार्थब्रुक से हुआ, भली प्रकार ज्ञात हो सकता है। घटना इस प्रकार है।

ऋषि दयानन्दजी सरस्वती ने कलकत्ता में कुछ सार्वजनिक भाषण दिये थे।

कभी-कभी कलकत्ता के एक प्रमुख बिशप सभा की अध्यक्षता किया करते थे। वे ऋषि दयानन्दजी के इस्लाम और ईसाईयत आदि के सम्बन्ध में अगाध ज्ञान को देखकर विस्मित हो गये और उनके समाज सुधार सम्बन्धी विचारों से वे बहुत अधिक प्रभावित हुए। कलकत्ता के उन आर्चबिशप से तत्कालीन वायसराय लार्ड नार्थब्रुक ने स्वामी दयानन्दजी की विलक्षण प्रतिभा की बात सुनकर उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने उनसे दुभाषिये के द्वारा बातचीत की। इस बातचीत से स्वामीजी के हृदय की उज्ज्वल देश-भक्ति और स्वतन्त्रता प्रेम की प्रदीप्त भावना प्रकट होती है। लार्ड नार्थब्रुक ने इस बातचीत का विवरण इण्डिया आफिस को भेजते हुए लिखा था कि सरकार को इस विद्रोही फकीर पर सतर्कतापूर्ण दृष्टि रखनी चाहिए। इण्डिया आफिस को भेजे विवरणानुसार यह बातचीत निम्न प्रकार से हुई। वायसराय ने कहा—मुझे बताया गया है कि आप अन्य धर्मों पर जो कटु प्रहार करते हैं, उससे हिन्दुओं और मुसलमानों में आपके प्रति विरोध भाव पैदा हो गया है। क्या आपको यह भय है कि आपके विरोधी आप पर कोई आक्रमण करेंगे, विशेषरूप से मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या आपको हमारी सरकार की ओर से किसी प्रकार के संरक्षण की आवश्यकता है?

स्वामी दयानन्दजी—मुझे इस राज्य में अपने विश्वास के अनुसार प्रचार करने की पूरी स्वतन्त्रता है। मुझे अपने ऊपर किसी के द्वारा आक्रमण का किसी प्रकार का भय नहीं है।

वायसराय—पं० दयानन्द, यदि ऐसी बात है तो क्या आप इस देश को ब्रिटिश शासन द्वारा दिये गये शान्ति और सुख के वरदान के सम्बन्ध में अपनी प्रशंसा के कुछ उद्गार प्रकट करेंगे और अपने उपदेशों के साथ की जानेवाली प्रार्थनाओं में भारत पर ब्रिटिश शासन की स्थिरता बने रहने की चर्चा करेंगे।

स्वामी दयानन्द—मैं किसी भी स्थिति में इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि यह मेरा दृढ़ विचार है कि मेरे देशवासियों के विकास के लिए और संसार के राष्ट्रों में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिए, भारतवर्ष शीघ्र स्वाधीनता प्राप्त करे, यह आवश्यक है।

मैं प्रतिदिन प्रातः-सायं भगवान् से प्रार्थना करते हुए यह माँगता हूँ कि दयालु भगवान् मेरे देश को विदेशी शासन से शीघ्र मुक्त करें।

लार्ड नार्थब्रुक ने तो इस स्पष्ट और निर्भीक उत्तर की कतई कल्पना भी नहीं की थी। उसने एकदम बातचीत समाप्त कर दी। इस बातचीत ने वायसराय के हृदय में ऋषि दयानन्द के उद्देश्यों और कार्यों के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न कर दिया। तभी उन्होंने सरकार को इस विद्रोही फकीर (Rebel Fakir) से सावधान रहने की सलाह दी थी। (दैनिक हिन्दुस्तान, नयी देहली १३ मई, १९६१ ई०)

इतनी उज्ज्वल देशभक्ति और स्वतन्त्रता की भावना रखते हुए भी स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किस प्रकार एक महाराज सभा अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज सभा की कल्पना की थी—इसे हम अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रसंग में आगे बतायेंगे।

स्वामी विवेकानन्द की उज्ज्वल देशभक्ति—

स्वामी दयानन्दजी सरस्वती के समान स्वामी विवेकानन्दजी के अन्दर भी उज्ज्वल देशभक्ति की भावना विद्यमान थी। उनके एतद्विषयक अनेक व्याख्यानों और लेखों में से निम्न उद्धरण देना इस प्रकरण में आवश्यक प्रतीत होता है जिसमें उन्होंने यह भी बताया है कि सच्ची देशभक्ति क्या है। युवकों को सम्बोधित करते हुए भारत माता के सुपुत्र और विदेशों में उसके मुख को उज्ज्वल करनेवाले स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—

"Do you feel? Do you feel that millions and millions of the descendents of gods and sages have become next door neighbours to brutes? Do you feel that millions are starving for ages? Do you feel that ignorance has come over the land as a dark cloud? Does it make you restless? Does it make you sleepless? Has it gone into your blood, coursing through your veins, becoming consonant with your heart beats? Has it made you almost mad? Are you seized with that one idea of the misery of ruin and have you forgotten all about your fame, your wives, your children, your property, even your own bodies? Have you done that? That is the first step [to become a partiot], the very first step." (Complete Works of Swami Vivekananda Vol. III, P. 225)

इसका यह तात्पर्य है कि क्या तुम अनुभव करते हो, क्या तुम यह अनुभव करते हो कि देवों और ऋषियों के लाखों करोड़ों वंशज जानवरों के समान बन गये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि लाखों आज भूख से तड़प रहे हैं और लाखों इसी तरह चिरकाल से भूख से तड़पते रहे हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान काले बादल की तरह इस भूमि पर छा गया है? क्या तुम्हें यह दृश्य व्याकुल बना देता है? क्या यह तुम्हें उन्निद्र बना देता है, क्या यह तुम्हारे रक्त में प्रविष्ट हो गया है और तुम्हारे हृदय के स्पन्दन के साथ मिल गया है? क्या इसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या तुम्हें विनाश के दुःख के इस एक भाव ने पकड़ लिया है

और क्या तुम अपने यश, अपनी पत्नी, बच्चों, अपनी सम्पत्ति और अपने शरीर तक को बिल्कुल भूल गये हो ? क्या तुमने ऐसा कर लिया है ? देश-भक्त बनने के लिए यह प्रथम पग है, केवल प्रथम पग। (...स्वामी विवेकानन्द)

उज्ज्वल और सात्त्विक देशभक्ति की भावना का यह कितना स्फूर्तिदायक दिग्दर्शन है, पर यह संकीर्ण देश-भक्ति व उग्र राष्ट्रीयता न थी जिसका स्वामी विवेकानन्दजी ने प्रचार किया। एक अन्य भाषण में उन्होंने कहा—

"With all my love for India, and with all my partiotism and veneration for the ancients, I can not but think that we have to learn many things from other nations....We can not do without the world outside India."

(Complete Works Vol. III, P. 272)

अर्थात् भारत के प्रति मेरे प्रेम के साथ, मेरी सारी देशभक्ति और प्राचीन पूर्वजों के प्रति आदर के साथ, मैं यह सोचे विना नहीं रह सक़ता कि हमने अन्य जातियों व राष्ट्रों से अभी बहुत-सी बातें सीखनी हैं। हम भारत से बाहर के संसार के विना भी नहीं रह सकते। इत्यादि......

जैसे कि सर्वविदित है, स्वामी रामतीर्थ जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द की तरह जापान, अमरीका आदि में धर्म-प्रचार करके भारत माता का मुख उज्ज्वल किया, एक ब्रह्मनिष्ठ महात्मा थे। उनमें भी सात्त्विक देशभक्ति की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी जैसे कि उनके बनाये निम्नलिखित राष्ट्रीय गीत से (जो अंग्रेजी में सम्भवतः अमरीका में रहते हुए बनाया गया था) स्पष्टतया ज्ञात होता है—

National Anthem

God bless our ancient Hind
Ancient Hind, once glorious Hind,
From Sagar island to the Sind,
From Kashmir to Cape Camorin,
May perfect peace e'er reign therein
God bless our peaceful Hind,
Let all her sons in love unite
And make them do their duty aright.
Fill them with knowledge ever true
And let their virtue shine anew.
Your aid the country doth implore

Give her a hearing, Oh, once more.
National Spirit in her do pour,
Extend her fame from shore to shore,
God bless once powerful Hind.

(Poem of Rama, P. 1-2)

इस अत्युत्तम कविता का भावार्थ यह है कि परमेश्वर हमारे पुराने हिन्द को पुराने और कभी यशस्वी हिन्द को आशीर्वाद प्रदान करें। सागर द्वीप से सिन्ध तक, काश्मीर से कन्याकुमारी तक, पूर्ण शान्ति का राज्य हो। भगवान् हमारे शान्तिमय हिन्द को आशीर्वाद दें।

उसके सब पुत्र प्रेम में परस्पर मिल जायें और अपने कर्त्तव्य का अच्छी प्रकार पालन करें। उनको सदा सत्यज्ञान से भरपूर करो और उनके गुणों को फिर से चमकाओ।

देश तुम्हारी सहायता की याचना करता है। प्रभो ! उसकी प्रार्थना को फिर सुनो। उसके अन्दर राष्ट्रीय भावना भर दो और दिग्दिगन्त में उसकी कीर्ति को विस्तृत कर दो। परमेश्वर शक्तिशाली हिन्द को आशीर्वाद दें।

लोकमान्य तिलक की उज्ज्वल देशभक्ति—

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की उज्ज्वल देशभक्ति इतनी अधिक प्रसिद्ध है कि उसके विषय में कुछ अधिक लिखना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। उनका सारा जीवन स्वार्थ-त्याग-पूर्वक देशवासियों में स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम और सेवा की भावना भरने में व्यतीत हुआ। "स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर ही रहूँगा।" उनका यह सिंहनाद कौन भूल सकता है।

कितनी ही बार उन्हें जेल यातनाएँ सहनी पड़ीं किन्तु वे अपने प्रशंसनीय उद्देश्य से एक क्षण भर के लिए भी विमुख न हुए। ऐसे सच्चे कर्मयोगी देशभक्त को हम शतशः प्रणाम करते हैं। लोकमान्य तिलक निर्भयतापूर्वक अपने विचारों को प्रकट करते थे और भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे। उन्हें काँग्रेस में गर्म व उग्र दल का नेता माना जाता था। श्री अरविन्द की राजनैतिक विचारधारा भी बहुत कुछ लोकमान्य तिलक से मिलती थी। पंजाब केसरी लाला लाजपतरायजी भी इसी प्रकार के अत्यन्त निर्भीक स्वार्थत्यागी देशभक्त थे जिन्होंने अपनी उज्ज्वल देशभक्ति और भारत को स्वतन्त्र कराने के प्रयत्न के कारण अनेक यातनाएँ सहीं और अन्त में साइमन कमीशन के बहिष्कार के लिए आयोजित जलूस का लाहौर में नेतृत्व करते हुए ब्रिटिश पुलिस अधिकारियों की लाठियों का शिकार बने और उसके परिणाम स्वरूप १७ नवम्बर १९२८ में उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी।

कवीन्द्र रवीन्द्र की विशुद्ध देशभक्ति की कल्पना

नोबल पुरस्कार विजेता कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लोकमान्य तिलक अथवा लाला लाजपतराय की तरह प्रत्यक्षत: राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय भाग नहीं लिया, किन्तु वे भी अपने देश के प्रति बड़ी उच्च भक्ति भावना रखते थे जिसका झुकाव राष्ट्रीयता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अधिक था। उन्होंने अपने उद्गारों को कविता के रूप में प्रकट किया है। इनमें से एक को हम गीताञ्जलि में से भाषानुवाद सहित उद्धृत करते हैं। यह देश की स्वतन्त्रता और विशाल भावना के लिए कितनी अच्छी प्रार्थना है—

"Where the mind is without fear and the head is held high, where knowledge is free;

Where the world has not been broken up into fragments by narrow domestic walls;

Where words come out from the depth of truth;

Where tireless striving stretches its arms towards perfection;

Where the clear stream of reason has not lost its way into the dreary desert sand of dead habit;

Where the mind is led forward by Thee into ever widening thought and action-

Into that heaven of freedom, my father, let my country awake." (Gitanjali Song No. 35)

इसका स्वर्गीय सत्यकाम विद्यालंकार कृत भाषानुवाद यह है—

जहाँ हृदय में निर्भयता है और मस्तक अन्याय के सामने नहीं झुकता, जहाँ ज्ञान का मूल्य नहीं लगता, जहाँ संसार घरों की संकीर्ण दीवारों में खण्डित और विभक्त नहीं हुआ, जहाँ शब्दों का उद्भव केवल सत्य के गहरे स्रोत से होता है, जहाँ अनथक उद्यम पूर्णत: आलिंगन के लिए ही भुजाएँ पसारता है, जहाँ विवेक की निर्मल जलधारा पुरातन रुढ़ियों के मरुस्थल में सूख कर लुप्त नहीं हो गयी, जहाँ मन तुम्हारे नेतृत्व में सदा उत्तरोत्तर विस्तीर्ण होनेवाले विचारों और कर्मों में रत रहता है, हे मेरे पिता! उस दिव्य स्वतन्त्रता के प्रकाश में मेरा देश जागृत हो।

(गीताञ्जली : डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अमरकृति पं० सत्यकाम विद्यालंकार द्वारा अनूतित, पृ० २२९)

महात्मा गाँधीजी के देशभक्ति विषयक कुछ वचन—

१. अगर देशभक्ति का मतलब व्यापक मानव मात्र का हित चिन्तन नहीं है,

तो उसका कोई अर्थ नहीं है।

२. जिस तरह देशभक्ति हमें यह सिखाती है कि व्यक्ति परिवार के लिए, परिवार गांव के लिए, गाँव जिले के लिए, जिला प्रान्त के लिए और प्रान्त देश के लिए मरे, उसी प्रकार किसी भी देश को आजाद इसलिए होना चाहिए कि वह जरूरत पड़ने पर संसार के हित के लिए मर सके।

३. उस देशभक्ति का त्याग करना चाहिए जो दूसरे राष्ट्रों को आफत में डालकर बड़प्पन पाना चाहती है।

४. देशभक्ति मनुष्य का पहला गुण है। इसके बिना वह संसार में सिर उठाकर नहीं चल सकता।

५. संसार के देशभक्तों ने ही आजादी के मार्ग को प्रशस्त किया है।

६. देशभक्तों की चरण रज माथे पर लगाने को मिले तो अहोभाग्य, संसार के गुलाम देशों को आजाद करने में उन्होंने नींव के पत्थर का काम किया है।

(गाँधीजी की सूक्तियाँ–सम्पादक–ठाकुर राजबहादुर सिंह
हिन्द पॉकिट बुक शाहदरा, देहली, पृ० ५६)

स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू की देशभक्ति—

स्वर्गीय पं० श्री जवाहरलाल नेहरू जी की देशभक्ति सुप्रसिद्ध है। उठते–बैठते, खाते–पीते, सोते–चलते, हर समय उन्हें देशवासियों को शिल्प, विज्ञान आदि की दृष्टि से उन्नत करने की चिन्ता थी। नयी–नयी योजनाएँ बनाकर उनको कार्य में शीघ्र परिणत कराने का वे सदा यत्न करते रहते थे। जीवन के अन्तिम क्षण (२७ मई १९६४ ई०) तक वे देश की सेवा में निरन्तर लगे रहे। उनका देश प्रेम उन शब्दों से भी टपकता है जो उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखे थे— यदि मेरी समाधि बने तो उसके ऊपर उत्कीर्ण करने के लिए उपयुक्त शब्द ये होंगे—

"यहाँ वह व्यक्ति सोया है जो अपने हृदय और मस्तिष्क की पूरी शक्ति के साथ भारत और भारतीयों को प्रेम करता था और जिसे भारत के लोगों ने इतना प्रेम दिया जितना स्यात आज तक किसी को न मिला हो।"

"मिलाप" के सम्पादक श्री रणवीरजी ने श्री नेहरूजी के आकस्मिक देहावसान के पश्चात् लिखी "मेरे देवता की स्मृति में" इस शीर्षक से जो लेखमाला उर्दू में प्रकाशित की वह "वेदवाणी" वाराणसी के जुलाई १९६४ के अंक में सम्पूर्णतया हिन्दी में प्रकाशित हुई, अपने साथ बीती एक घटना का उल्लेख किया है जो उज्ज्वल देशभक्ति का जीवित जागृत चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करती है। श्री रणवीरजी ने लिखा है—मुझे स्मरण है, एक दिन मैं उनसे मिलने गया। रविवार का दिन था। भारत का सारा सचिवालय बन्द था। चारों ओर शान्ति, प्रत्येक दिशा में सन्नाटा केवल पूज्य पण्डित जवाहरलालजी अपने कार्यालय में बैठे

थे। उनका निजी सेवक भी वहाँ था। शेष केवल मिलनेवाले थे। एक के पश्चात् एक उनसे मिला। मैं उनके कमरे में पहुँचा तो देखा कि वे थके हुए प्रतीत हो रहे थे। दुःख के साथ मैंने कहा—भाईजी, आपके लिए क्या कोई कानून नहीं ? आपने देश के प्रत्येक उद्योग के लिए, प्रत्येक कार्यालय के लिए नियम बना दिया है कि निश्चित समय से अधिक कोई आदमी काम न कर सके। आपके उनके लिए कानून बनाये हैं। उन्हें सप्ताह में एक अवकाश अवश्य हो। दुकानें भी सप्ताह में एक दिन बन्द रहें। सब के लिए आपने कानून बनाये। क्या आपके लिए कोई कानून नहीं है ? आप रविवार के दिन भी कार्यालय में क्यों बैठे हैं और अब सायंकाल हो रहा है, रविवार न हो तो भी कार्यालय का समय बीत चुका है। क्या आप कभी आराम नहीं कर सकते ? क्या आपको विश्राम की आवश्यकता नहीं ? वे धीमे से बोले—बैठ जाओ, क्रोध न करो। तुम भूलते हो मैं किसी कारखाने व कार्यालय का नौकर नहीं। इस देश का नौकर हूँ। देश का काम बहुत है। मैं ही आराम करने लगूँ, तो यह काम होगा कैसे ? (वेदवाणी, जुलाई, १९६४)

इस प्रकार वेदों की देशभक्ति विषयक शिक्षाओं को दर्शाकर हमने उन अनेक सुप्रसिद्ध भारतीय नेताओं के तद्विषयक वचनों को उद्धृत किया है जिन्होंने उन वैदिक शिक्षाओं के अनुसार आचरण करके अपने नाम को उज्ज्वल और अमर कर दिया।

उग्र राष्ट्रीयता की भयंकर असहिष्णु मनोवृत्ति—

इस तरह जहाँ विशुद्ध देशभक्ति एक अत्यन्त प्रंशसनीय उपादेय वस्तु है, वहाँ उग्र राष्ट्रीयता (Aggressive Nationalism) देश प्रेम के साथ-साथ एक असहिष्णुता और घृणा पूर्ण मनोवृत्ति को उत्पन्न करती है जिसके बड़े अनिष्टकारक परिणाम होते हैं। इससे प्रेरित होकर उग्र राष्ट्रीयतावादी असत्य भाषण और छल-कपट का आश्रय ग्रहण करने में भी संकोच नहीं करते। अन्य राष्ट्रों और उनके निवासियों को वे तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगते हैं और उनको बदनाम करने में कोई कसर नहीं छोड़ते।

इस विषय का सर्वोत्कृष्ट विवेचन कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इंग्लैंड, जापान और अमरीका में दिये हुए अपने व्याख्यानों में किया था जो Nationalism नामक पुस्तक में सन् १९२३ ई० में छपे थे। उनमें से प्रथम व्याख्यान में उन्होंने कहा था कि—

"We have felt its iron grip at the root of our life, and for the sake of humanity, we must stand up and give warning to all that this nationalism is a cruel epidemic of evil that is sweeping over the human world of the present age

and eating into its moral vitality."

(Nationalism by Dr. R.N. Tagore, P. 16)

अर्थात् इस राष्ट्रीयता के जीवन पर हानिकारक प्रभाव का अनुभव करते हुए मानवता की रक्षा के लिए हमें खड़े हो जाना चाहिए और सब को चेतावनी दे देनी चाहिए कि यह राष्ट्रीयता एक बुराई की क्रूर महामारी है जो वर्तमान समय में सारे संसार में फैलती जा रही है और जगत् की नैतिक शक्ति को नष्ट करती जा रही है। यह उग्र राष्ट्रीयता, जिसके विषय में मनीषी डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कठोर शब्दों का प्रयोग किया है, क्या है और वह क्यों निन्दनीय है, इस विषय में उन्होंने उसी व्याख्यान में आगे कहा—

"And this terror is the parent of all that is base in man's nature. It makes one almost openly unashamed of inhumanity. Clever lies become matters of self-congratulation. Solemn pledges become a farce, laughable for their very solemnity. Nation is the greatest evil for the nation. Its one wish is to trade on the feebleness of the rest of the world."

(Nationalism in the West, P. 29-30)

यह भय जिसे उग्र राष्ट्रीयता उत्पन्न करती है मानव प्रकृति में सब प्रकार की नीचता का जनक है। यह अमानवीय कार्य करने में भी लोगों को खुले तौर पर लज्जाहीन बना देती है। चालाकी से भरे हुए झूठ, प्रसन्नता और बधाई के विषय बन जाते हैं। गम्भीरता से की हुई प्रतिज्ञाएँ केवल एक ऐसा तमाशा बन जाती है जिनकी गम्भीरता पर हँसी आती है। राष्ट्र का एक मात्र उद्देश्य शेष जगत् की निर्बलता से लाभ उठाना रह जाता है। इस प्रकार एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के लिए एक बुराई बन जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उग्र राष्ट्रीयता जगत् के लिए एक अभिशाप सिद्ध होती है। वह राष्ट्रों के परस्पर द्वेष और वैर-विरोध का कारण बन जाती है। अत: अवाञ्छनीय है। वेदोक्त स्वदेश भक्ति अथवा शुद्ध रूप में राष्ट्रीयता इससे सर्वथा भिन्न वस्तु है।

अन्तर्राष्ट्रीयता का वैदिक आदर्श—

मानवमात्र बल्कि प्राणिमात्र की एकता के विषय में पहले विश्व प्रेम-विषयक अध्याय में हमने जिन मन्त्रों को अर्थ सहित उद्धृत किया था, वे अन्तर्राष्ट्रीयता के द्योतक हैं—

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

(यजु० ३६।१८)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋ० १०।१९१।४)

युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

(ऋ० ५।६०।५)

इत्यादि मन्त्रों में संसार के सब प्राणियों को मित्र वा प्रेममय दृष्टि से देखने की शिक्षा है। वेदों का उपदेश है कि हे मनुष्यो! तुम सब के संकल्प समान हों, तुम्हारे हृदय मिले हुए हों, तुम्हारा मन समान रूप से निर्मल तथा परस्पर मानयुक्त हो जिससे तुम्हारा प्रेमपूर्ण सह अस्तित्व और सहयोग हो सके।

सब मनुष्य भाई–भाई हैं। इनमें जन्म, देश, रूप, रंग इत्यादि भेद के कारण कोई ऊँच–नीच नहीं। इस भ्रातृ भावना को रखने से ही सब की उन्नति हो सकती है। उत्तम कर्मों को करनेवाला, न्यायकारी होने के कारण दुष्टों के लिए भयंकर परमात्मा सब का एक पिता और भूमि सब की एक समान माता है, जो मनुष्यों के लिए सौभाग्यप्रद है। वेदों की ये शिक्षाएँ उदात्त अन्तर्राष्ट्रीयता की भावनाएँ भरनेवाली हैं।

अन्तर्राष्ट्रीयता पर श्री अरविन्द के विचार—

सुप्रसिद्ध योगी और मनीषी श्री अरविन्द ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "The Ideal of Human Unity" के ३२वें अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीयता व Inter-Nationalism का लक्षण इस प्रकार किया है—

"Inter-Nationalism is the attempt of the human mind and life to grow out of the national idea and form and even in a way, to destroy it in the interest of the larger synthesis of mankind."

(The Ideal of Human Unity, American Edition P. 292)

अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीयता मानवीय मन और जीवन का राष्ट्रीय भावना से बाहर निकलकर व ऊपर उठकर एक प्रकार से मानव जाति के समन्वय के हित में उसे (राष्ट्रीय भावना को) नष्ट करने का प्रयत्न है।

मानव एकता की स्थापना कैसे हो सकती है, इस विषय पर विस्तृत विचार करते हुए श्री अरविन्द ने इस पुस्तक के अन्तिम ३५वें अध्याय में सार और उपसंहार में लिखा है—

"The Unity of the human race can only be secured and can only be made real if the religion of humanity, which is at present the highest active ideal of mankind,

spiritualises itself and becomes the general inner law of human life." (Summary and Conclusion P. 316)

अर्थात् मानव जाति की एकता प्राप्त की जा सकती और वास्तविक बनाई जा सकती है यदि मानव धर्म, जो इस समय मात्र का उच्चतम सक्रिय आदर्श है, अपने को आध्यात्मिकतामय बना लेता है और मानव जीवन का सामान्य आन्तरिक नियम बन जाता है।

वह मानव धर्म क्या है जिसके आधार पर मानवमात्र की एकता स्थापित हो सकती है? इसके सम्बन्ध में श्री अरविन्द ने कहा है कि—

"A religion of humanity means the growing realisation that there is a secret Spirit, a Divine Reality, in which we are all one, the humanity is its highest present vehicle on earth, that the human race and the human beings are the means by which it will progressively reveal itself here. It implies a growing attempt to live out this knowledge and bring about a kingdom of this Divine spirit upon earth. By its growth with-in us, one-ness with our fellow-men will become the leading principle of all our life, not merely a principle of co-operation, but a deeper brotherhood, a real and an inner sense of unity and equality and a common life. There must be the realisation by the individual that, only in the life of his fellow-men, is his own life complete, There must be the realisation by the race, that only on the free and full life of the individual can its own perfection and permanent happiness be founded. ....The truth of the spirit may step in and lead humanity to the path of its highest possible happiness and perfection."

(The Ideal of Human Unity by Shri Aurobindo P. 323-324)

सदा बढ़ता हुआ अनुभव

अर्थात् मानव धर्म का अर्थ यह है कि एक गुप्त आत्मा है, एक दिव्य वास्तविक सत्ता व यथार्थ तत्त्व है जिसमें हम सब एक हैं, मानवता इस का भूमि पर इस समय उच्चतम माध्यम है, मानव जाति और मानव प्राणी के वे साधन हैं जिनके द्वारा यह उत्तरोत्तर अपने को यहाँ प्रकट करेगा। इस मानव धर्म में इस बात का समावेश है कि इस प्रकार के ज्ञान के अनुसार आचरण के लिए अधिकाधिक

प्रयत्न किया जाये और भूमि पर इस दिव्य आत्मा के राज्य को लाने की कोशिश की जाये। इसके हमारे अन्दर विकास से अपने साथी सब मनुष्यों के साथ एकता हमारे जीवन का एक मुख्य सिद्धान्त नहीं, किन्तु एक गहरा भ्रातृत्व, एक वास्तविक और आन्तरिक एकता, समानता और समान जीवन की भावना है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर यह अनुभूति होनी चाहिए कि अपने साथी मनुष्यों के जीवन में ही उसके अपने जीवन की पूर्णता है। मानव जाति के अन्दर यह अनुभूति होनी चाहिए कि व्यक्ति के स्वतन्त्र और पूर्ण जीवन पर ही इसकी अपनी पूर्णता और शाश्वत प्रसन्नता निर्भर है.......आत्मा का सत्य आविर्भूत होगा और मानवता को अपने उच्चतम सम्भव सुख और पूर्णता की ओर ले जायेगा। इस मानव धर्म के आधार पर श्री अरविन्द ने एक विश्व राज्य (World State) की भी कल्पना की है किन्तु साथ ही उसकी शर्तों का भी निर्देश करते हुए उन्होंने कहा है कि—

"A free world-union must in its very nature be a complex unity based on a diversity and that diversity must be based on free self-determination." "....The people of humanity must be allowed to group themselves according to their free will and their natural affinities."

(The Ideal of Human Unity P. 283)

एक स्वतन्त्र विश्व संघ अपनी प्रकृति से ही एक जटिल एकता के रूप में होगा जिसमें स्वतन्त्र आत्म-निर्णय के आधार पर निर्मित विविधता होगी। ...मानव को विविध राष्ट्रों का अधिकार दिया जायेगा कि वे अपनी स्वतन्त्र इच्छा और स्वाभाविक सादृश्य के अनुसार अपने को वर्गों में विभक्त कर लें, इत्यादि।

इस प्रकार मनुष्य जाति के स्वतन्त्र वर्गीकरण को ही श्री अरविन्द ने आदर्श समाधान बताया है।

महात्मा गाँधी द्वारा मानवमात्र हितचिन्तन

महात्मा गाँधीजी सच्चे देशभक्त होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे वे राष्ट्रों में परस्पर सहयोग और मित्रता के प्रबल समर्थक थे। देशभक्ति के प्रकरण में हमने उनके जो वाक्य उद्धृत किये थे, उनमें से भी दो वाक्यों को यहाँ फिर से दुहराना अनुचित न होगा। उन्होंने लिखा था—

अगर देशभक्ति का मतलब व्यापक मानवतामात्र का हितचिन्तन नहीं है, तो उसका कोई अर्थ ही नहीं है। उन्होंने यहाँ तक कहने में संकोच नहीं किया था कि उस देशभक्ति का त्याग करना चाहिए जो दूसरे राष्ट्रों को आफत में डालकर बड़प्पन पाना चाहती है। (गाँधीजी की सूक्तियाँ, पृ० ५६)

महामान्य डॉ० राधाकृष्णन का विश्वैक्य विषयक विचार

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति एक विश्वविख्यात मनीषी और तत्त्वज्ञानी दार्शनिक थे। उन्होंने ६ नवम्बर १९६३ ई० को नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में भाषण देते हुए कहा था कि—

"Interdependence of nations is the supreme factor today and there is no doubt that the world is moving towards the idea of a unified authority." (Indian Express, Delhi 8th. Nov. 1963)

अर्थात् राष्ट्रों की अन्योन्याश्रितता आज एक उत्कृष्ट तत्त्व है। और इस में सन्देह नहीं कि विश्व एकीकृत शासन की ओर जा रहा है।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अमरीका के उस समय के प्रधान वुडरौ विल्सन के विशेष प्रयत्न से League of Nations व राष्ट्र संघ बना था। यद्यपि खेद है कि बड़े राष्ट्रों के पारस्परिक ईर्ष्या द्वेषों और स्वार्थों के कारण वह सफल न हो सका। उसके पश्चात् कुछ वर्ष पूर्व United Nations Organisation, U.N.O., अर्थात् संयुक्त राष्ट्र संघ बना जो इतना प्रभावशाली न होते हुए भी (जितने की सब राष्ट्रों के हार्दिक सहयोग से आशा करनी चाहिए थी) राष्ट्रों के विवाद मिटाने में प्रयत्नशील है। हेग का International Court. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय U.N.E.S.C.O. (United Nations Educational and Cultural Oranisation) W.H.O. (World Health Organisation). विश्व स्वास्थ्य संघ आदि संस्थाएँ विश्वैक्य की ओर कदम है, इसमें सन्देह नहीं। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ को अधिक सफलता नहीं मिल रही तो इसका कारण इस ऐक्य के विचार की त्रुटि नहीं, अपितु राष्ट्रों में हार्दिक सहयोग की न्यूनता, स्वार्थपरता तथा पारस्परिक अविश्वास की भावना है।

यदि सब राष्ट्र वेदों को इस भावना के अनुसार काम करने लग जाएँ कि—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

(अथर्व० ३।३०।५)

अर्थात् जो ज्ञान अनुभव वृद्ध हैं, उनका मान करते हुए (चित्तिनः) स्वयं ज्ञानी बनकर (मा वियौष्ट) परस्पर विरोध न करो (संराधयन्तः) मिलकर उत्तम सर्वहित कार्यों को सिद्ध करते हुए (सधुराः चरन्तः) एक जुए में लगे बैलों के समान प्रेम से एक-दूसरे से मिले हुए (अन्ये अन्यस्मै वल्गुवदन्तः) एक-दूसरे के लिए मधुर वचन बोलते हुए (एत) आवो, मैं (वः) तुम सब को (सध्रीचीनान) एक उद्देश्य की ओर मिलकर चलनेवाले और (संमनसः) समान मनवाले (कृण्णोमि) करता हूँ। यदि परिवारों, समाजों और राष्ट्रों के व्यक्ति इस वैदिक आदेश का

पालन करके परस्पर हार्दिक सहयोग करें, तो संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाएँ अपने शुभ उद्देश्य में सफल हो सकती हैं। अन्यथा नहीं। अब तो अमरीका, रूस, इंग्लैंड, फ्राँस, चीन इत्यादि राष्ट्रों का सुरक्षापरिषद् (Security Council) में आधिपत्य-सा है। इनमें से प्रत्येक को निषेध (Veto) करने का अधिकार है जिसके करने पर किसी प्रस्ताव पर विचार भी नहीं चल सकता।

यदि ईर्ष्या विषयक वेदों के इस उपदेश को कि—

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि॥ १॥
यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥ २॥
अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव॥ ३॥

(अथर्व० ६।१८।१-३)

१. दूसरे की उन्नति को देखकर हृदय में उत्पन्न होनेवाली ईर्ष्या के (प्रथमांध्राजिम्) प्रथम तीव्र वेग को (निर्वापयामसि) पहले ही शान्त कर लिया करें। यदि यह न हो सके तो (उत) फिर (प्रथमस्या उत अपराम्) पहले वेग से उत्पन्न दूसरा, उससे जो मन्दवेग होता है, उस दूसरे वेग को ही (निःवापयामसि) हम शान्त कर लेते हैं। हे पुरुष! समाज व राष्ट्र (ते) तेरे (तम्) उस पूर्वोक्त प्रकार के (हृदययम्) हृदय में सुलगनेवाले (अग्निम्) अग्नि रूप (तं शोकम्) उस शोक-विषाद को भी (निःवापयामसि) शान्त करें।

२. (यथा) जिस प्रकार (भूमिःमृतमनाः) यह भूमि, मिट्टी भरे दिलवाली अचेतन है और (मृतात्मृतमनस्तरा) यह मरे हुए मुर्दे से भी अधिक मुर्दा दिल है, (उत) और (तथा) जिस प्रकार (मम्रुषः मनः) मरे हुए मनुष्य का मन मर चुकता है, (एवा) उसी प्रकार (ईर्ष्याः) ईर्ष्यालु पुरुष का (मनःमृतम्) मन मरा हुआ-सा होता है उसकी मनन व विचारशक्ति समाप्त-सी हो जाती है। इसलिए ईर्ष्या कभी नहीं करनी चाहिए।

३. (यत्) क्योंकि (अदः) अमुक ईर्ष्या युक्त जो (मनस्कम्) तुच्छ मन (ते हृदि) तेरे हृदय में (श्रितम्) समाया है वह (पतयिष्णुयकम्) तुझे सदा नीचे गिरानेवाला है, इस कारण से (ते ईर्ष्याम्) तेरी ईर्ष्या को (मुंचामि) तुझसे छुड़ाता हूँ जैसे (दृतेः) चर्म की बनी धौंकनी से (ऊष्माणं निर्) गर्म वायु की फूँक निकाल दी जाती है।

सब राष्ट्रों के शासक और प्रतिनिधि यदि यह भाव हृदयंगम कर लें तो सर्वजन हितार्थ मिलकर कार्य करने में कुछ भी कठिनता न हो। ईर्ष्या व स्वार्थ के

कारण ही संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाएँ अपनी विश्व शान्ति स्थापना के उत्तम ध्येय में यथेष्ट सफल नहीं हो पातीं। उनकी आर्थिक अवस्था शोचनीय हो जाती है क्योंकि कई बार समृद्ध राष्ट्र भी उसकी योजनाओं को सफल बनाने में आर्थिक सहयोग नहीं देते। कई बड़े-बड़े राष्ट्रों पर लाखों रुपयों की राशि देय रूप में निकलती है जो बार-बार स्मरण करने पर भी वे नहीं देते। ऐसी अवस्था में कैसे यथेष्ट काम हो सकता है।

एक विश्व शासन की आवश्यकता (World Government)

वेदों में एक साम्राज्य व चक्रवर्ती राज्य का विचार कई स्थानों पर आया है। "चक्रवर्ती राजा"—यह शब्द तो वेदों में नहीं मिलता किन्तु सम्राट्, एक राष्ट्र साम्राज्याय आदि शब्द कई मन्त्रों में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों व मन्त्रांशों को देखिये—

बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसौ ॥ (यजु० ९।३०)

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥ (यजु० १०।२७)

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥
त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ २ ॥
(अथर्व० ३।४।१-२)

इन मन्त्रों में पुरोहित (जो राज्याभिषेक प्रजा के प्रतिनिधि रूप से करवाते हुए राजा से शपथ ग्रहण करवाता है, जिनका हम आगे वैदिक शासन पद्धति विषयक प्रकरण में उल्लेख करेंगे) राजा को सम्बोधन करते हुए कहता है कि मैं तुझे बड़े लोक-लोकान्तरों के स्वामी बृहस्पति परमात्मा के साम्राज्य से अभिषिक्त करता हूँ।

१. (वरुणः) प्रजाओं द्वारा वृत तथा कष्ट निवारक (धृतव्रतः) व्रतधारी (सुक्रतुः) सदा उत्तम बुद्धि और कर्मोंवाला राजा (साम्राज्याय) साम्राज्य के लिए (पस्त्यासु) प्रजाओं के मध्य में (आनिषसाद) अच्छी तरह से स्थित होता है, अपने कर्त्तव्य का दृढ़ता से पालन करता है।

२. तुझे (राष्ट्रम् आगन्) यह बड़ा राष्ट्र प्राप्त हो (वर्चसा सह उदिहि) तू अपने तेज से ऊपर उठता जा, उन्नत होता जा (प्राङ्) सदा आगे-आगे बढ़नेवाला (विशाम् एक राट् पतिः) प्रजाओं का एक-गुणों से चमकनेवाला पालक होकर (विराज) विराजमान हो। (राजन्) हे राजन्! (सर्वाः प्रदिशः त्वा ह्वयन्तु) सारी दिशाएँ तुझे पुकारें। तू (उपसद्यः) सब के लिए पहुँचने योग्य और (इह) यहाँ

(नमस्यः भव) नमस्कार करने योग्य, पूजनीय बन।

३. (विशः) प्रजाएँ (राज्याय) राज्य के लिए (त्वां वृणताम्) तेरा वरण-चुनाव करें-तुझे चुनें (इमाः पंचदेवाः दिशः) विद्वानों की बनी हुई पाँच उत्तम मार्ग दर्शानेवाली विद्वत्समितियाँ भी तुझे चुने। (राष्ट्रस्य) समस्त राष्ट्र के (वर्ष्मन) शरीर में (ककुदि) सब से उत्तम स्थान सिंहासन एवं श्रेष्ठ सम प्रदेश राजधानी में (श्रयस्व) तू आश्रय ले-राज सिंहासन पर विराजमान हो (ततः)। उसके बाद (उग्रः) सदा दुष्टों के लिए भयंकर तेजस्वी होकर (नः), हम प्रजाओं में यथोचित रीति से (वसूनि) राष्ट्र में बसाने योग्य जीवनोपयोगी धनों को (विभज) न्यायपूर्वक विभाग कर।

इन मन्त्रों में प्रजाओं द्वारा राजा के चुनाव और उसके न्यायपूर्वक धन वितरण या विभाजन की जो बात कही गयी है, उसका अपने-अपने प्रकरणों में निर्देश किया जायेगा।

इन उद्धरणों से उन लोगों को जो साम्राज्यवाद (Imperialism) के विरुद्ध भाषण और नारे सुनने के अभ्यस्त हैं, कुछ आश्चर्य होगा। क्या वेदों में भी आजकल के साम्राज्यवाद का प्रतिपादन है जो अत्याचार और स्वच्छन्द शासन का प्रतीक है। यह तो बड़ी आक्षेपयोग्य बात है।

इस विषय में निवेदन है कि जिस साम्राज्य की निन्दा यथार्थ है, वह पाशविक बल से दूसरों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध लादा हुआ शासन है। उदाहरणार्थ महाभारत के समय युधिष्ठिर से पूर्व जरासन्ध भारत के एक बड़े भाग का सम्राट् था। उसके साम्राज्य का साधन था पाशविक बल जैसे कि महाभारत सभापर्व अ० १५ श्लोक १८ में स्पष्ट लिखा है (जरासन्ध के विषय में)—

तस्मादिह बलादेव, साम्राज्य कुरुते हि सः। (सभा० १५।१८) वह भारत में शासन की विभिन्नता को मिटाना चाहता था। घर-घर का अपना राज्य हो और इस राज्य की अपनी राज्य प्रणाली हो, यह उसे असह्य था। १८ भोग कुलों को उसने तहस-नहस कर दिया। यादवों के संघ को मिटाकर उसकी जगह कंस को मथुरा का एक सम्राट् बनाया। कई गणराज्य (Republics) नष्ट-भ्रष्ट कर दिये। ८६ राजाओं को इस प्रकार बन्दी बना दिया और घोषणा की कि बन्दी राजाओं की संख्या १०० हो जाने पर इन्हें महादेव की बलि चढ़ाया जाएगा। योगिराज श्रीकृष्ण ने अपने जीवन का लक्ष्य भारत को जरासन्ध के फँदे से छुड़ाना और उसे आर्य साम्राज्य या दूसरे शब्दों में आत्म-निर्णय के मौलिक सिद्धान्त पर आश्रित भारतवर्ष के छोटे-बड़े एक राष्ट्र, बहुराष्ट्र, संघ श्रेणी, सभी प्रकार के राज्यों के संगठन (Common Wealth) की छत्रछाया में लाना निश्चित किया। यही वह गुरु भार था जिसके वहन का बीड़ा श्री कृष्ण ने उठाया। इस गुरु भार

कार्य के सफलतापूर्वक निभा देने के कारण शिशुपाल वधकाव्य में धर्मराज युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को सम्बोधन करते हुए कहा है—

साविभूतिरनुभाव सम्पदां भूमसी तवयदायतायति।
एतगूढगुरू भार भारतं, वर्षमेध्य मम वर्तते वशे॥

(शिशुपाल वध १४।५)

अर्थात् हे भारी भार सम्भाले श्रीकृष्ण! आपकी कृपा का यह कितना बड़ा चमत्कार है कि आज से सारा भारतवर्ष मेरे अधिकार में है।

साम्राज्य शब्द महाभारतादि में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसका एक अर्थ तो वही है जो अंग्रेजी शब्द एम्पायर (Empire) का। इसमें कई राज्य मिलकर किसी महान् सम्राट् के अधीन होते हैं। ऐसा साम्राज्य जरासंध का था जैसे कि ऊपर दिखाया गया है। साम्राज्य शब्द का एक और अर्थ है जिसे अंग्रेजी में कामनवेल्थ (Common Wealth) व राज्य संघ शब्द से प्रकट किया जाता है। इसके उदाहरण के तौर पर धर्मराज युधिष्ठिर के साम्राज्य को ले सकते हैं। शिशुपाल ने इसके विषय में कहा था कि—

वयं तु न भयादस्य, कौन्तेयस्यमहात्मनः।
प्रयच्छामः करान् सर्वे, न लोभान्न च सान्त्वनात्॥
अस्य धर्म प्रवृत्तस्य, पार्थिवत्वं चिकीर्षतः।
करानस्मै प्रयच्छामः, सोऽयमस्मान् न मन्यते॥

(म० भा०सभापर्व ३७।१९–२०)

अर्थात् हम इस महात्मा युधिष्ठिर के डर से या लोभ से या इससे सन्धि होने के कारण इसे कर नहीं देते। हम इसे धर्म में प्रवृत्त जानते हैं, इसलिए कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि युधिष्ठिर का साम्राज्य पाशविक बल पर नहीं, किन्तु धर्म पर समस्त राष्ट्रों की स्वसम्मति पर आश्रित था।

राजनीतिज्ञ शिरोमणि योगेश्वर श्रीकृष्ण ने साम्राज्यों की इस विभिन्नता और उसके कारणों का वर्णन सभापर्व अ० १५ के १५–१६ श्लोकों में इस प्रकार किया है—

जित्वा जय्यान् यौवनाश्विः, पालनाच्चभगीरथः।
कार्तवीर्यस्तपो वीर्याद्, बलास्तु भरतो विभुः॥ १५॥
ऋद्गयामरुत्तस्तान्, पंच सम्राजस्त्वनुशत्रुम्।
साम्राज्य मिच्छतस्ते तु, सर्वाकारं युधिष्ठिर॥ १६॥

(म० भा० सभापर्व अ० १५।१५– २६)

अर्थात् यौवनाश्वि जीतने योग्य शत्रु को जीतने से, भगीरथ सारी प्रजाओं का

अच्छी तरह पालन करने से, कार्तवीर्य तप की शक्ति से, प्रतापशाली भरत अपने बल से और मरुत्त ने प्रजाओं को सब प्रकार से समृद्ध बनाकर साम्राज्य प्राप्त किया, ऐसा हमने इन पाँच सम्राटों के विषय में सुना है। हे युधिष्ठिर! यदि तू सम्राट् बनना चाहता है तो तेरे पास तो ये सब गुण और साधन विद्यमान है।

मैत्रायणी शाखा की मैत्र्युपनिषत् में अनेक प्राचीन भारत के सम्राट् व चक्रवर्ती राजाओं का इस प्रकार वर्णन पाया जाता है—

अथ किमेतैर्वाअपरेअन्ये महाधनुर्धराचक्रवर्तिनः। के चित्सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्च यौवनाश्च॥ वध्र्यश्वाश्वपतिः शशबिन्दुर्हरिश्चन्द्रोअम्बरीयो ननक्तुः मर्यातिर्ययातिरनरण्यो अक्षसेनादयोअथ मरुत्तभरत प्रभृतयो राजानो भिषतो बन्धुवर्गस्य महर्ती श्रियं त्यक्त्वा अस्माल्लो कादमलो कं प्रयाता इति ॥

(मैत्र्युपनिषत् १, ४)

इसमें सुद्युम्न भूरिद्युम्न इन्द्रद्युम्न कुवलयाश्व यौवनाश्व वध्र्यश्व अश्वपति शशबिन्दु हरिश्चन्द्र अम्बरीष ननकु शर्याति ययाति अनरण्य अक्षसेन मरुत्त भरत आदि अनेक महाधुरन्धर चक्रवर्ती राजाओं व सम्राटों का नाम लेकर बताया गया है कि वे भी अन्त में अपनी बड़ी भारी सम्पत्ति का परित्याग करके, इस लोक से परलोक में चले गये।

जब साम्राज्य के लिए अभिषेक होता है तो निम्न वेद मन्त्र का विशेष रूप से उच्चारण किया जाता है—

उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव।
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनां
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥

(ऋ० १०।१३४।१)

इसका श्री सायणाचार्य ने इस प्रकार भाष्य किया है—

हे इन्द्र, उभे रोदसी—द्यावापृथिव्यौ यद्—यस्त्वम् आप प्राथतेमसा आप्रथयसि आपूरयसि प्रा—पूरणे (उषा इव) यथा उषाः स्वभाषा सर्वे जगदापूरयति तद्वत तं (महीनां महान्तम्) महतां देवानामपि महान्तम्—अधिकं (चर्षणीनाम्) मनुष्याणामपि (सम्राजम्) ईश्वरमिन्द्रं (त्वा) (त्वां) (देवी) देवन शीला (जनित्री) जन मित्रीयदितिः (अजीजनत्) अजनयत् यस्मादेषा जनित्री ईदृशं पुत्रमजनयत् अतः कारणात् सा (भद्रा) कल्याणी प्रशस्त जाता।

(श्री सायणाचार्य ऋक्संहिता भाष्ये १०।१३४।१)

इसमें सम्राट् को सम्बोधन करके कहा गया है कि अपने यश व तेज से तुम पृथिवी और आकाश दोनों को उषा की तरह व्याप्त कर लेते हो। तुम जो इतने महान्, मनुष्यों के सम्राट्, महाविद्वान् हो तुम्हें अदिति–अदीना माता ने उत्पन्न किया है, कल्याणकारिणी अदीना माता ने उत्पन्न किया है।

ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पञ्जिका के चतुर्थ अध्याय में सम्राट् के अभिषेक और प्रतिज्ञाओं का विस्तृत वर्णन है। उसमें कहा है कि जो ऋत्विक् इस रहस्य को समझता हुआ यह चाहे कि क्षत्रिय सब को जीत ले, सब लोकों को ले–ले और सब राजाओं में श्रेष्ठ और बड़ा हो जाए, साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य प्राप्त कर ले, सब जगह उसकी पहुँच हो, सब भूमि का मालिक हो, पूर्ण आयुवाला हो और पृथिवी पर समुद्र तक राज्य करे और संशय रहित हो, उस ऋत्विक् को चाहिए कि उस क्षत्रिय का इन्द्र के महाभिषेक की रीति से अभिषेक करे और उससे यह शपथ ले कि जिस रात्रि को तू पैदा हुआ उससे लेकर जिस रात्रि को तू मरेगा, उस घड़ी तक, जो कुछ तूने लोक के सुकृत किया था या आयु पायी या प्रजा मिली, उस सब को मैं छीन लूँगा अगर तूने मुझ से (प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में उसकी यह उक्ति है) द्रोह किया।

इसके पश्चात् वहाँ लिखा है—

स य इच्छेदेवंवित्क्षत्रियोऽहं सर्वाजितीर्जयेयमहं सर्वोंल्लोकान् विन्देयमहं सर्वेषां राज्ञां श्रेष्ठयमतिष्ठां परमतां गच्छेयं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं पारमैष्ठयं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमहं समन्तपर्यामीस्यां सार्वभौमः सर्वायुष आन्तादापरोर्धरत पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति स न विचिकित्सेत् स ब्रूयात सह श्रद्धया। यां च रात्रीमजायेअहं या च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टा पूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृंजीथा यदि ते द्रुह्येयमिति ॥ (ऐतरेय ब्राह्मण पञ्चिका ८ अ० ४)

अर्थात् ऐसा जाननेवाला क्षत्रिय यदि चाहे कि मैं सब को जीत जाऊँ, सब लोक मुझे मिल जाएँ, मैं सब राजाओं में श्रेष्ठ हो जाऊँ, साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, पारमैष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य (ये अनेक प्रकार के राज्य) मुझे प्राप्त हो जाएँ, सब भूमि, स्वर्ण, पूर्ण आयु मिल जाये और समुद्र तक पृथिवी का एक राजा हो जाऊँ, तो वह बिना शंका किये श्रद्धा के साथ ऐसी शपथ खाये कि अगर मैं तेरे (प्रजा के साथ जिसका प्रतिनिधि अथवा सर्वोच्च नेता पुरोहित यह शपथ खिलाता है) साथ द्रोह करूँ तो मुझ से जन्म से मृत्यु पर्यन्त जो कुछ मैंने पुण्य किया या आयु और प्रजा पाई, उसको छीन लेना।

इससे बढ़कर गम्भीर और भयंकर प्रतिज्ञा क्या हो सकती है। क्या कोई ऐसी शपथ खाकर भी प्रजा का अहित कर सकता है? कभी नहीं। यह साम्राज्य वा

राज्याभिषेक किस उद्देश्य से किया जाता था, इसका वर्णन यजु० २० । ३ में इन शब्दों में पाया जाता है—

अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि ॥ (यजु० २० । ३)

तात्पर्य यह है कि तुम्हारा यह अभिषेक इसलिए किया जा रहा है कि तुम्हारे राज्य में प्रजाओं को आरोग्य ब्रह्म तेज और वेदाध्ययन, सुशिक्षितावाणी, वीर्य, अन्नादि, परमेश्वर्य का धन, बल, राजलक्ष्मी, सत्कीर्ति इत्यादि की प्राप्ति और इनमें वृद्धि हो।

अतः यह स्पष्ट है कि वेदों में जिस साम्राज्य का निर्देश है, वह उच्छृंखल स्वच्छन्द शासन नहीं जिसकी Imperialism के नाम पर निन्दा की जाये। यह तो स्वेच्छा से अनेक राज्यों व संघों का धर्म रक्षार्थ और सारी प्रजा के हित के लिए संस्थापित राज्य है। इसे अंग्रेजी के शब्दों में Empire नहीं, Common Wealth of Nations कह सकते हैं, जिसमें—

राजानः समिताविव। (ऋ० १० । ९७ । ६)

के निर्देशानुसार विविध राज्यों के शासक व उनके प्रतिनिधि समिति में एकत्र होकर परस्पर परामर्श करते और तदनुसार शासन व्यवस्था सर्वहितार्थ करते हैं।

विश्वशासन की कल्पना—

वर्तमान काल के अनेक भारतीय और पाश्चात्त्य मनीषियों ने संसार के सब राष्ट्रों के परस्पर सहयोग के आधार पर विश्व शासन व World Government की कल्पना की है। विश्व विख्यात मनीषी श्री अरविन्द और महामान्य राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् के विचारों का हम पहले उल्लेख कर ही चुके हैं। स्वर्गीय प्रधानमन्त्री पं० श्री जवाहरलाल भी इस प्रकार की कल्पना रखते और इसको प्रोत्साहित करते रहते थे। सन् १९२९ ई० में जब लाहौर में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ तो वहाँ उन्होंने अपने अध्यक्षीय अभिभाषण में भी कहा था कि—

"Having attained our freedom, I have no doubt that India will welcome all attempts at world co-operation and federation, and will even agree to give up part of her own independence to a larger group of which she is an equal member."

अर्थात् मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के पश्चात्

भारत संसार में सहयोग और विश्व संघ की स्थापना के सब यत्नों का स्वागत करेगा और यहाँ तक कि वह उस बड़े संघ के लिये अपनी स्वतन्त्रता के एक भाग को भी छोड़ने को तैयार हो जाएगा जिसका वह समान सदस्य होगा।

श्री मेहर नोवाशां ने "Topics of the day" नामक पुस्तक में World Government व विश्व शासन पर बड़ा अच्छा विवेचन किया है। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) को अपर्याप्त बताते हुए, विश्व शासन की आवश्यकता पर बल दिया है और कहा है कि—

"Nations like individuals must learn to live under the rule of law imposed by the world Government. The World Government would resolve any disputes between nations. It would naturally have the monopoly of arrms and armed forces and power to enforce its decisions on the nations."

(Topics of the Day by Mehar Novasha, P. 108)

अर्थात् राष्ट्रों को भी व्यक्तियों के समान विश्व संघ द्वारा निर्धारित कानून के अनुसार चलना सीखना चाहिए। राष्ट्रों के बीच में जो विवाद हों, उनका निपटारा विश्व संघ करेगा। इसके पास शस्त्रों और सशस्त्र सेनाओं का एकाधिकार होगा और राष्ट्रों के विषय में अपने निर्णयों को क्रियान्वित करने की शक्ति होगी। यह विश्व संघ क्या होगा इसका विवरण करते हुए सुयोग्य लेखक ने यह विचार व्यक्त किया है कि—

"The World Government or State would be an extension of the federal idea. It would be a federation of free and equal nations. The constitutent units or nations would enjoy internal autonomy or freedom." (Topics of the Day P. 114)

अर्थात् विश्व संघ व शासन, संघीय विचार का विस्तार होगा। यह स्वतन्त्र और समान राष्ट्रों का संघ होगा। इसके अंग भूत राष्ट्र आन्तरिक मामलों में सर्वथा स्वतन्त्र होंगे, इत्यादि।

इस विश्व संघ के विषय में एक अंग्रेजी के कवि की निम्नलिखित सुन्दर, हृदयंगम रचना के साथ लेखक ने अपने विश्व संघ विषयक लेख का उपसंहार किया है जो उल्लेखनीय है। यह किस कवि की रचना है यह पता नहीं।

"These things shall be, a loftier race,
Than e'er the world hath known shall rise,
With flames of freedom in their souls,
And light of knowldege in their eyes,

Nation with nation, land with land,
Unarmed shall live as Comrades free,
In every heart and brain shall throb,
The pulse of one fraternity."

भावार्थ यह है कि अब तक संसार ने जितना कुछ जाना है उससे उच्चतर मानव जाति प्रादुर्भूत होगी; जिसकी आत्माओं में स्वतन्त्रता की ज्वाला प्रदीप्त होगी और जिसके नेत्रों में ज्ञान की ज्योति होगी। राष्ट्र के साथ राष्ट्र, देश के साथ देश बिना शस्त्रों के परस्पर स्वतन्त्र मित्र और साथी के समान रहेंगे। एक भ्रातृभाव व बन्धुता का स्पन्दन प्रत्येक मस्तिष्क और हृदय में होगा। भगवान् करे कि इस कवि की उच्च भावना शीघ्र ही संसार में मूर्त रूप धारण करे। किन्तु यह तभी होगा जब लोग विश्व प्रेम और परस्पर हार्दिक सहयोग विषयक वैदिक भावनाओं को पूर्णतया क्रियात्मक रूप देंगे। सब सच्चे विश्व हितैषियों को इसके लिए मिलकर पूर्ण प्रयत्न करने में तत्पर रहना चाहिए।

अध्याय सार–उपसंहार

इस प्रकार इस अध्याय में हमने स्वदेश भक्ति के सात्त्विक वैदिक आदर्श को बताते हुए उसका उग्र राष्ट्रीयतावाद (Aggressive Nationalism) से स्पष्ट भेद प्रकट किया है। अन्तर्राष्ट्रीयता विषयक उच्च वैदिक भावों को भी हमने सप्रमाण प्रस्तुत किया है जिन पर आचरण करने से ही सारे विश्व का कल्याण हो सकता है। हमने यह भी दिखाने का यत्न किया है कि वेद हमारे सामने "**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।**" (यजु० ३७।१८) इत्यादि मन्त्रों द्वारा सर्वभूतवाद व Cosmopolitanism का आदर्श रखते हैं किन्तु साथ ही जैसे एक मकान पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सर्वभूत हितवाद रूपी मकान व अन्तिम मञ्जिल पर चढ़ने के लिए देश प्रेमादि आवश्यक सीढ़ियाँ हैं। इनको तुच्छ समझना उचित नहीं। इन सीढ़ियों के द्वारा मनुष्य जब अपनी दृष्टि को विस्तृत करता जाता है, तभी अन्त में सर्वभूतवाद के आदर्श तक पहुँचता है। इसलिए वेदों में सर्वभूतहितवाद के साथ–साथ ही देशभक्ति का भाव पाया जाता है। उनमें इन दोनों का विरोध बिल्कुल ही नहीं स्वीकार किया गया। ऋषि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द, महात्मा गाँधी आदि के विचार भी इस विषय में ऐसे ही समन्वयात्मक तथा वैदिक भावनानुकूल थे, यह तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करते हुए दिखाया गया है। मकान पर पहुँचकर सीढ़ियों को गिरा देना अथवा उन्हें निरर्थक बताना जैसे मूर्खता है, वैसे ही सर्वभूतवाद रूपी ऊँचे मकान

पर पहुँचने पर भी अपनी मातृभूमि के हित का विशेष ध्यान रखना तथा उसके लिये सब प्रकार का त्याग करने को उद्यत रहना किसी रूप में भी निन्दनीय नहीं। हाँ, पाश्चात्त्य देशों में, विशेष रूप से प्रचलित आक्रणात्मक राष्ट्रीयता, प्रशंसनीय नहीं और उसके विश्व शान्ति तथा विश्व बन्धुत्व की दृष्टि से भयंकर परिणाम हुए और हो रहे हैं, इस बात को कुछ उदाहरण तथा सुप्रसिद्ध मनीषियों के ग्रन्थों से उद्धरण देकर बताया गया है। वेदों में विश्व संघ की कल्पना का स्पष्ट निर्देश है तथा वैदिक साम्राज्य का क्या आदर्श है उसका स्वार्थ लाभ अहंकार मूलक साम्राज्य के विचार से जो भेद है उसका भी इस अध्याय में सप्रमाण निरूपण करते हुए अन्त में विश्व संघ व शासन विषयक श्री अरविन्द, श्री जवाहरलाल आदि सुप्रसिद्ध महानुभावों के विचारों का भी निर्देश किया गया है। स्वदेश भक्ति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता विषयक सब समस्याओं का सर्वोत्तम समाधान वेदों की शिक्षाओं द्वारा ही हो सकता है, यह इस अध्याय में सप्रमाण बताया गया है।

अध्याय-१७

विज्ञान व आध्यात्मिकता का समन्वय

आजकल विज्ञान का युग है। विज्ञान के चमत्कारों ने लोगों को चकित कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि इसने लोगों के भौतिक जीवन को अनेक अंशों में सुखमय बना दिया है, पर साथ ही इसने जहरीली गैस, अणुबम, उद्‌जन बम आदि के आविष्कारों द्वारा संसार को विनाश की ओर धकेल दिया है। (जैसे कि गत विश्वयुद्ध में सन् १९४५ में जापान के हीरोशिमा आदि नगरों पर गिराये गये अणुबम द्वारा कुछ ही क्षणों ६० हजार आदमी मारे गये)। अत: यह बड़ी समस्या है कि विज्ञान और आध्यात्मिकता का समन्वय हो सकता है वा नहीं? यदि हो सकता है तो कैसे? हम इसी समस्या पर वेदों की शिक्षाओं के प्रकाश में तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे।

विज्ञान या Science के लक्षण के विषय में कोई मतभेद नहीं है। अत: सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० पाल केरस अपने ग्रन्थ Religion of Science (विज्ञान का धर्म) में लिखते हैं—

Science is the methodical search for Truth and Truth is a correct, exhaustive and concise statement of facts.

(Dr. Paul Karus in "Religion of Science")

अर्थात् विज्ञान सत्य के लिए सुव्यवस्थित खोज है और सत्य, तथ्यों के यथार्थ, सर्वांगीण और संक्षिप्त विवरण का नाम है।

इस विज्ञान में केवल भौतिकी, रसायन जैसे विषयों का ही समावेश हो मनोविज्ञान, प्राणिशास्त्र तथा अध्यात्म शास्त्र का नहीं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं यद्यपि भौतिकवादी इसे ऐसा ही सीमित बना देते हैं। आध्यात्मिकता का लक्षण करना अधिक कठिन है। इसके लिए अंग्रेजी शब्द Spirituality है। हम यहाँ कुछ विख्यात मनीषियों द्वारा प्रस्तुत इसके चार लक्षणों के आधार पर आगे विचार करेंगे।

१. सबसे पहले हम जगद्‌विख्यात योगी और मनीषी श्री अरविन्द द्वारा प्रस्तुत आध्यात्मिकता के लक्षण को लेते हैं जो उनके अपने मूल अंग्रेजी में लिखे शब्दों में इस प्रकार है—

"The Divine perfection is always above us, but for man to become

Divine in consciousness and act and to live inwardly and outwardly Divine, is what is meant by spirituality. All lesser meanings given to the word are inadequate, fumblings or impostures".

(World Union and Goodwill, Oct. 1963, Volume III, No. v., P. 10)

अर्थात् परमेश्वरीय पूर्णता सर्वत्र हमारे ऊपर विद्यमान है, किन्तु आध्यात्मिकता का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने चैतन्य में दिव्य बने और अन्दर बाहर से ईश्वर के आदेशानुसार आचरण करते हुए जीवन व्यतीत करे। इस शब्द के और जो छोटे-मोटे अर्थ किये जाते हैं, वे अपर्याप्त, भद्दे और प्रवञ्चनमात्र हैं।

२. श्री अरविन्दाश्रम की संचालिका माता मीरा ने सच्ची आध्यात्मिकता (True Spirituality) के विषय में एक सन्देश में बड़ी अच्छी बात कही थी—

"True spirituality is not to renounce life, but to make life perfect with Divine perfection. This is what India should show to the world".

("Aditi", April 1963)

अर्थात् सच्ची आध्यात्मिकता यह नहीं है कि जीवन का परित्याग कर दिया जाय, किन्तु परमेश्वरीय पूर्णता के सम्पर्क द्वारा जीवन पूर्ण बनाया जाय। यह है वह जिसे भारत को संसार को दिखाना चाहिए।

३. आचार्य विनोबा भावे ने जो भूदान और सर्वोदय आन्दोलन के सुप्रसिद्ध नेता तथा एक प्रख्यात विद्वान् मनीषी थे, डॉ० जानसन्, स्मिथ आदि के साथ वर्धा में भेंट करते हुए यह प्रश्न उठाकर कि आध्यात्मिकता क्या है, उसका निम्न शब्दों में उत्तर दिया जो महत्त्वपूर्ण होने के कारण उल्लेखनीय है। आचार्य विनोबाजी ने कहा—

"Someone asked me to define spirituality as I think of it. I said," I will give you the minimum requirement of the case. Spirituality demands that one should have faith in absolute moral values, not relative moral values, some times truth, and somtimes falsehood, an opportunist attitude of a pragmatic way of thinking. That is not the way spirituality will look at human life. It should be based on some basic principles, some values which can not be changed; they will be absolute.

Second, I thought, should be the unity and sanctity of life. It is a very big thing to stomach the unity and sanctity of life, but that is the second thing and the third item should be, I suppose, continuity of life after death. These three things are inescapable from spirituality. We

can add much, but we can't reduce; this is irreducible minimum"....(Science & Spirituality-an exploration).

आचार्य विनोबा कहते हैं किसी ने मुझसे आध्यात्मिकता का लक्षण करने को कहा जो मेरे विचारानुसार ठीक हो। मैंने कहा, "मैं तुम्हें इस विषय में न्यूनतम आवश्यकताएं प्रस्तुत करूँगा। आध्यात्मिकता इस बात की माँग करती है कि एक व्यक्ति को निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में विश्वास वा श्रद्धा होनी चाहिए; सापेक्ष नैतिक मूल्यों में नहीं। कभी सत्य और कभी असत्य—यह एक अवसरवादी अभिवृत्ति वा मनोवृत्ति अथवा विचार करने की केवल व्यावहारिक प्रणाली है। यह आध्यात्मिकता नहीं जिसका आधार कुछ मौलिक सिद्धान्तों और अपरिवर्तनीय, निरपेक्ष मूल्यों पर होना चाहिए।

मैं समझता हूँ कि आध्यात्मिकता का दूसरा तत्त्व है जीवन की एकता और पवित्रता। जीवन की एकता और पवित्रता को पूर्णतया समझना-पचा लेना बहुत बड़ी चीज है। यह दूसरा तत्त्व है। आध्यात्मिकता का तृतीय तत्त्व मैं समझता हूँ कि मृत्यु के पश्चात् भी नैरन्तर्य है। जीव की अमरता है। ये तीन बातें आध्यात्मिकता के लिए अनिवार्य हैं। हम इनके साथ कई और बातों को जोड़ सकते हैं किन्तु हम इनको कम नहीं कर सकते। ये कम-से-कम आध्यात्मिकता के आवश्यक तत्त्व हैं जिनमें न्यूनता करना असम्भव है।"

इसी भेंट में आचार्य विनोबा ने ठीक ही कहा था कि—

"Science and spirituality should combine and that it was the only way to liberate not only India but the whole world. But there is no meaning to the liberation of the nation without the liberation of the mind. The mind should first be liberated, that is the main function of spirituality".

अर्थात् विज्ञान और आध्यात्मिकता को मिल जाना चाहिए और न केवल भारत अपितु संसार को बन्धन मुक्त करने का यही मार्ग है। किन्तु मन को स्वतन्त्र वा बन्धन मुक्त किये बिना किसी भी जाति वा राष्ट्र की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं। पहले मन को स्वतन्त्र करना चाहिए। यही आध्यात्मिकता का मुख्य आधार है।

४. उत्तर भारत के सुप्रसिद्ध योगिराज आदित्य ब्रह्मचारी स्वामी योगिश्वरानन्दजी, संस्थापक, योगनिकेतन, स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश ने आध्यात्मिकता वा अध्यात्मवाद के विषय में कुछ बड़ी अच्छी बातें कहीं थी। उन्होंने लिखा था—

"सुख और शान्ति अध्यात्मवाद में है। अध्यात्मवाद सिखाता है इन्द्रियों पर दमन करना, लगाम देना, बेलगाम न होने देना। इन्द्रियों में जितनी चञ्चलता होगी,

उतना दुःख बढ़ेगा। अध्यात्म मार्ग इसे भी बताता है कि यह शरीर ही मैं हूँ अथवा इससे भिन्न और कोई शक्ति है। वह शक्ति कहाँ से आयेगी ? कहाँ जायेगी, अपने स्वरूप का विज्ञान भी अध्यात्म विज्ञान ही सिखाता है। संसार का उपकार करनेवाला कौन है ? किसने ये नदी नाले, समुद्र, पर्वत, आकाशादि बनाये ? किसने सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारे रचकर आकाश में खड़े कर दिये जो बिना प्रत्युपकार के संसार का उपकार करते, सुख पहुँचाते, निरन्तर गतिमान् हो रहे हैं और हमारा कल्याण कर रहे हैं। ऐसे रचयिता महान् परोपकारी का हमें धन्यवाद देना चाहिए। कृतज्ञता प्रकट करने के लिये अध्यात्मवाद के द्वारा चित्त में एक भावना जागृत होती है कि जिस भगवान् ने इतने सुख के साधन पैदा किये उसका धन्यवाद देने के लिए हमारे पास एक ही साधन है और वह है अन्तःकरण। उस भगवान् के लिए एक भावना कृतज्ञता की होनी चाहिए। इत्यादि।" (यज्ञ योग ज्योति, ज्येष्ठ २०२१ वि०)

इस प्रकार हमने अध्यात्मिकता वा अध्यात्मवाद के मनीषियों द्वारा प्रस्तुत ४ लक्षणों को प्रकाशित किया है जिनमें वस्तुतः कोई विरोध नहीं अपितु वे परस्पर पूरक हैं। इस आध्यात्मिकता का विज्ञान के साथ मेल आवश्यक है। इस मेल के अभाव में जो शोचनीय दशा सभ्यताभिमानी पाश्चात्त्य सुशिक्षित लोगों की हो रही है, उसका चित्रण सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक और विचारक नोबल पुरस्कार विजेता डॉ० ऐलेक्सेस केरल ने अपनी Man, the Unknown (अज्ञात मानव) में, इन शब्दों में किया है—

"We are unhappy. We degenerate morally and mentally. We are the victims of the backwardness of the Sciences of Life over those of the matter. The only possible remedy for this evil is a much more profound knowledge of ourselves. The Science of man has become the most necessary of all Sciences."

(Man the unknown by Dt. Alexis Carrel, P. 38-39)

अर्थात् हम दुःखी हैं, सदाचार और मानसिक दृष्टि से हमारा पतन हो रहा है। यह इसी आत्म विद्या के अभाव के कारण है। इस बुराई का एक मात्र प्रतीकार यही है कि हम अपनी आत्मा का अधिक गम्भीर ज्ञान प्राप्त करें। वर्तमान अवस्था में तो आत्म विज्ञान अन्य सब विज्ञानों की अपेक्षा अधिकतम आवश्यक हो गया है।

आध्यात्मिकता के ऊपर जो ४ लक्षण गये हैं, उनके अनुसार इसमें परमात्मा, आत्मा और उसकी अमरता तथा पुनर्जन्म में विश्वास, दिव्य जीवन, ईश्वराज्ञानुसार व्यतीत करते हुए संसार को दिव्य बनाने के उद्देश्य से शुभ कर्मों का अनुष्ठान, ये बातें मुख्यतया समाविष्ट हैं। वेदों में इनमें श्रद्धा और विश्वास को आध्यात्मिकता

के विकास के लिये अत्यावश्यक माना गया है।

परमात्मा के विषय में यजु० ४०।८ में कहा गया है कि—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(यजु० ४०।८)

वह परमात्मा सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वथा निराकार, शुद्ध और सर्वपापरहित पवित्र है। वह सर्वज्ञ, स्वयम्भू, मन का साक्षी, नित्य जीव रूप प्रजा के लिए यथार्थ रूप से सब पदार्थों का निर्माण करता और वेदों के द्वारा उनका ज्ञान देता है।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋ० १०।१२१।१; यजु० २३।१)

(हिरण्य गर्भः) तेजो वै हिरण्यम् तैत्तिरीय० १।८।९।१ तेजो युक्त सूर्यादि जिसके गर्भ में है ऐसा परमात्मा सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान था। वही प्राणिमात्र का एक ही (एकः पतिः आसीत्) प्रसिद्ध स्वामी था। उसने ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश को धारण किया हुआ है। ऐसे (कस्मै देवाय) सुखस्वरूप सर्वप्रकाशक परमेश्वर की (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अति प्रेम से हम पूजा करें। जिस ऋ० १०।१२१ सूक्त का यह प्रथम मन्त्र है उसके विषय में प्रो० मैक्समूलर नामक सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ने अपनी "History of Ancient Sanskrit Literature" नामक पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि—

"I add only one more hymn. (Rig. 10.121). in which the idea of one God is expressed with such power and decision that it will make us hesitate before we deny to the Aryans, an instinctive monotheism"

(History of Ancient Sanskrit Literature by Prof. Max Muller)

अर्थात् मैं एक और ऋचा (ऋ० १०।१२१) का उल्लेख करना चाहता हूँ जिसमें एक ईश्वर का भाव इतनी प्रबलता और स्पष्टता के साथ प्रकट किया गया है कि हमें अत्यन्त संकोच करना पड़ेगा पूर्व इसके कि हम आर्यों के एक नैसर्गिक एकेश्वरवाद से इन्कार करें।

अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षममिमीत वरिमाणम्पृथिव्याः।
आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥

(यजु० ४।३०)

(वृषभः) सर्वशक्तिमान् सर्वसुखवर्धक परमात्मा ने द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक को धारण किया हुआ है। वह सब लोक–लोकान्तरों का

सम्राट्–महाराजाधिराज है। ये सब उस (वरुणस्य) सर्वोत्तम, सर्वदुःख निवारक परमेश्वर के व्रत वा अटल नियम हैं जो इन लोक–लोकान्तरों में काम कर रहे हैं।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

(अथर्व० १०।८।१)

जो परमेश्वर भूत, भविष्य, वर्तमान सबका अधिष्ठाता है, (यस्य स्वः केवलम्) जिसका सुख केवल (दुःख के मिश्रण से रहित) शुद्ध रूप है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस सबसे बड़े ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अथा ते सुम्नमीमहे॥

(साम० ११७०)

हे (वसो) सबको बसानेवाले सर्वाधार परमेश्वर (त्वं हि नः पिता) तू निश्चय से हमारा पिता है। हे (शतक्रतो) अनन्त ज्ञान और कर्मोंवाले जगदीश्वर (त्वं माता बभूविथ) तू ही हमारी माता है (अथा ते सुम्नम् ईमहे) इसलिए हम तुझसे ही सुख–शान्ति की प्रार्थना करते हैं।

इस प्रकार से हमने चारों वेदों से परमात्मा के विषय में एक–दो मन्त्र नमूने के तौर पर दिये हैं। प्रश्न यह है कि ईश्वर की सत्ता और स्वरूप का, जिसका वेदों में बार–बार प्रतिपादन है, तथा जिसमें श्रद्धा रखने का उपदेश किया गया है, क्या विज्ञान का उसके साथ समन्वय हो सकता है? प्रायः यह माना जाता है कि वर्तमान विज्ञान शुद्ध भौतिकवादी (Materialist) और अतएव अनीश्वरवादी (Atheistic) है। वैज्ञानिक, ईश्वर की सत्ता का सर्वथा निषेध करते हैं अतः इस विषय में आध्यात्मिकता और विज्ञान का समन्वय असम्भव है।

वस्तुतः यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अतः हम कुछ विस्तार से इस पर विचार करना चाहते हैं।

अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिक और ईश्वर विश्वास—

अनेक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों के ग्रन्थों और लेखों को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह एक भ्रान्तकल्पना है कि विज्ञान वा सब बड़े वैज्ञानिक जगत्कर्ता ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हैं। बहुत से प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में न केवल ईश्वर की सत्ता में अपना विश्वास प्रकट किया है, अपितु उसके लिए प्रबल कारणों का भी निर्देश किया है। उदाहरणार्थ वर्तमान विज्ञान के पिता (Father of Modern Science) के रूप में माने जानेवाले सर आइज़क न्यूटन ने अपने ज्योतिष शास्त्र विषयक Principia नामक ग्रन्थ के अन्त में लिखा था कि—

"All this material Universe is the handiwork of one Omniscient

and Omnipotent Creator." (Sir Issac Newton in "Principia")

अर्थात् यह सारा भौतिक जगत् एक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की रचना है। उसके गुणों का वर्णन करते हुए सर न्यूटन ने लिखा—

"We are, therefore, to acknowledge One God, Infinite, Eternal, Omnipresent, Omnipotent, the Creator of all things, most wise, most just, most good, most holy."

(Quoted from "The Mataphysical Foundations of Modern Science by Edwin Arthur Burtt.")

अर्थात् हमें एक परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार करना होगा जो अनन्त, नित्य, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिकर्ता, सबसे अधिक बुद्धिमान्, सबसे अधिक न्यायकारी और सबसे अधिक पवित्र है।

"Principia" के भाग २ पृ० ३११ में न्यूटन ने फिर लिखा है—

"This Being governs all things as Lord over all and on account of His dominion is one to be called Lord, God or Universe Ruler. The Supreme God is a Being, Eternal, Infinite, Absolutely Perfect. From His true dominion, it follows that the true God is a living, Intelligent and powerful Being; and from His other perfections, that He is Supreme or Most Perfect. We know Him only by His most wise and excellent contravances of things and final causes; we admire Him for His perfections, but we reverence and adore Him on account of His dominion, for we adore Him as His servants."

अर्थात् यह परमेश्वर सबका शासक और स्वामी है। वह नित्य, असीम, सर्वथा पूर्ण है। वह बुद्धिमान् और शक्तिशाली और सबसे अधिक पूर्ण है। हम उसे अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण वस्तुओं की व्यवस्था आदि के द्वारा ही जान सकते हैं। हम उसकी पूर्णता की प्रशंसा करते हैं। किन्तु उसके शासन के कारण हम उसका आदर और उसकी पूजा करते हैं क्योंकि हम उसके सेवक हैं।

कितनी प्रबलता से वैज्ञानिक शिरोमणि सर आइजक न्यूटन ने परमेश्वर के अस्तित्व का समर्थन किया है और उसमें अपनी श्रद्धा को प्रकट किया है।

लार्ड केल्विन की स्पष्टोक्ति—

लार्ड केल्विन ने, जो १९वीं सदी के एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक थे, यह स्पष्ट घोषणा की थी कि—

"Science positively affirms creative power. We are absolutely

forced by Science to believe with perfect confidence in a Directive Power, in an influence other than Physical or Electrical Forces"

(Quoted in Science & Religion)

अर्थात् विज्ञान, एक सृष्टिकर्ता की सत्ता का, स्पष्ट रूप में प्रतिपादन करता है। हमें विज्ञान इस नियामक शक्ति में पूर्ण विश्वास रखने के लिए बाधित करता है जो भौतिक और वैद्युतिक शक्तियों से भिन्न है।

लुई पेश्चर का स्मरणीय वाक्य—

लुई पेश्चर नामक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने जो अपने अनेक आविष्कारों के लिए ख्याति प्राप्त हैं, लिखा—

"Posterity will one day laugh at the foolishness of modern Materialistic Philosophers. The more I study nature, the more I stand amazed at the works of the Creator."

अर्थात् आगे आनेवाली संतति आधुनिक प्रकृतिवादी दार्शनिकों की मूर्खता पर हँसेगी। जितना अधिक मैं प्रकृति का अध्ययन करता हूँ, उतना ही मैं परमेश्वर के कार्यों को देखकर आश्चर्य चकित होता हूँ।

थौमस एडीसन के ईश्वर सत्ता समर्थक विचार—

थौमस एडीसन नामक सुप्रसिद्ध अमरीकन वैज्ञानिक और आविष्कारक ने ईश्वर सत्ता के विषय में अपने विचार इन स्पष्ट और प्रभावजनक शब्दों में प्रकट किये—

"Too many people have got a microscopic idea of the Creator. If they would only study His wonderful works, as shown in nature herself, laws of universe, they would have a much broader idea of the Great Engineer. One thing is certain. The universe is permeated by intelligence. I tell you, no person can be brought into close contact with the mysteries of the nature or make a study of Chemistry, without being convinced that **behind all, there is Supreme Intelligence.** I am convinced of that".

अर्थात् बहुत से मनुष्यों को जगत्कर्ता के विषय में अणु मात्र ज्ञान है। यदि वे प्रकृति और प्राकृतिक नियमों में उसके अद्भुत कार्यों का अनुशीलन करेंगे, तब उन्हें उस महान् यान्त्रिक का अधिक विस्तृत ज्ञान हो सकेगा। एक बात निश्चित है कि विश्व में बुद्धि व्याप्त है। मैं तुम्हें बताता हूँ कि कोई व्यक्ति प्रकृति के रहस्यों और रसायन शास्त्र का अध्ययन यह विश्वास धारण किये बिना नहीं कर सकता कि इन सबके पीछे एक (परमेश्वर की) सर्वोच्च बुद्धि कार्य कर रही है।

सर ऑलिवर लांज का ईश्वर विश्वास—

सर ऑलिवर लांज अपने समय के सबसे बड़े वैज्ञानिक और रॉयल सोसायटी तथा British Association of the Advancement of Sciences (विज्ञान वर्धिनी ब्रिटिश संस्था) के प्रधान थे। उन्होंने एक निबन्ध में लिखा था—

"We are deaf and dumb to the infinite grandeur around us unless we have insight to appreciate the whole and so to recognise in the woven fabric of existence flowing steadily from the loom in an infinite progress towards perfection, the ever growing garment of a transcedent God." (Is Modern Intelligence outgrowing God? P. 197)

भावार्थ यह है कि हम अपने चारों ओर जो असीम सौन्दर्य पाते हैं उसके विषय में बहरे और गूँगे रहते हैं जब तक हमारे अन्दर समस्त जगत् के महत्त्व को समझने और उसके अन्दर ओत-प्रोत व्यापक सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार करने की अन्तर्दृष्टि व सूक्ष्म बुद्धि न हो।

आइन्स्टीन का ईश्वर विश्वास—

जगद्विख्यात जर्मन वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने अपना ईश्वर में विश्वास निम्न शब्दों में प्रकट किया था—

"I belive in God who reveals Himself in the orderly harmony of the Universe. I believe that intelligence is manifested throughout all nature...........The basis of all scienctific work is the conviction that the world is an ordered and comprehensive entity and not a thing of chance." (Science and the Idea of God by W.M. Eatnest Hacking)

अर्थात् मैं इस ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखता हूँ जो अपने को जगत् की व्यवस्थित समता वा सामञ्जस्य के रूप में प्रकट कर रहा है। मैं यह विश्वास रखता हूँ कि सारी प्रकृति के अन्दर एक बुद्धिमत्ता प्रकट हो रही है। सारे वैज्ञानिक कार्य का आधार यह विश्वास ही है कि संसार एक व्यवस्थित सर्वांगपूर्ण सत्ता है न कि आकस्मिक सत्ता। वैज्ञानिक मूर्धन्य आइन्स्टीन का यह लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और यह उन लोगों के मुख पर ताला लगा सकता है जो कहते हैं कि सभी वैज्ञानिक अनीश्वरवादी होते हैं।

डॉ० मास्टर मैन की उक्ति—

"The more we discover of His handiwork, the more we become assured of His existence."

अर्थात् जितनी ही हम उस परमेश्वर की रचना की खोज करते हैं, उतना ही उसके अस्तित्व में हमारा विश्वास बढ़ता जाता है।

डॉ० मूर की महत्त्वपूर्ण धारणा—

डॉ० बी० मूर ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक "The Origin and Nature of Life" के पृ० २३ में लिखा है कि—

"The ordered beauty of the world and nature suggests an infinite intelligence with powers of action such as no man or other creature possesses". (The Origin and Nature of Life by Dr. Moore, P. 23)

अर्थात् भौतिक जगत् का व्यवस्था पूर्ण सौन्दर्य एक ऐसी असीम बुद्धि का परिचय देता है जिसके साथ क्रिया शक्ति संयुक्त है और जो मनुष्य अथवा किसी प्राणी में विद्यमान नहीं।

प्रो० होमिंग "The Supreme Intelligence in and above nature" विषय पर नवम्बर सन् १९१४ में लंदन के ब्राउनिंग हाल में आयोजित विज्ञान सप्ताह (Science week) में युक्तियुक्त सारगर्भित व्याख्यान देते हुए उसका उपसंहार इन महत्त्वपूर्ण शब्दों में किया—

"What Science yields? We can say that Scientific study most certainly shows us the presence in this physical universe of an order, stability, Directive power and intelligibility. These qualities are not spontaneously produced. They do not come by chance. This universe is not merely a thing. It is a thought and thought implies and necessitates a thinker. Hence there is in this Universe, a Supreme Thinker of Intelligence of which our own intelligence is but the faint copy."

(Science & Religion, By Seven men of Science, London, P. 48)

अर्थात् विज्ञान हमें क्या बतलाता है ? हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक अनुशीलन पूर्ण निश्चय के साथ इस भौतिक जगत् में क्रम व व्यवस्था स्थिरता, संचालन शक्ति और बुद्धिगम्यता को प्रदर्शित करता है। ये गुण स्वयं नहीं आ सकते। वे स्वयं चुनाव व अपनी पसंद द्वारा भी नहीं आते। यह संसार एक विचार का परिणाम है। इसलिए संसार में एक सर्वोत्कृष्ट महान् विचारक वा बुद्धिमान् है जिसके समक्ष हमारी अपनी बुद्धि एक धुंधली छाया-सी है। इन शब्दों द्वारा सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० होमिंग ने विज्ञान द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का प्रबल समर्थन किया है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं।

लोकोम्से दुन्वे नामक जगद्विख्यात वैज्ञानिक का ईश्वर विश्वास

लोकोम्से दुन्वे नामक एक जगद्विख्यात वैज्ञानिक ने अपनी लोकप्रिय पुस्तक "Human Destiny" में लिखा है—

"Indeed the respect of human personality is based on the

recognition of man's dignity as a worker for evolution, as a collaborator with God".

(Human Destingy, P. 98)

वस्तुतः मानवीय व्यक्तित्व का गौरव, विकास के लिए कार्यकर्ता, परमेश्वर के सहयोगी वा सहकर्मी के रूप में मनुष्य की प्रतिष्ठा की मान्यता पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में इस जगत् विख्यात जीव विज्ञान वेत्ता के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व का गौरव परमेश्वर को मानकर उसके सहकर्मी वा सहयोगी के रूप में शुभ कर्म करने से ही बढ़ सकता है।

आजकल बहुत से लोग अज्ञेयवादी और नास्तिक हो रहे हैं उनके विषय में इस विश्वविख्यात जीव विज्ञान वेत्ता ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि—

"The agnostic and the atheist do not seem to be in the least disturbed by the fact that our entire organised, living universe becomes incomprehensible without the hypothesis of God. Their belief in some physical elements, of which they know very little, has all the earmarks of an irrational faith, but they are not aware of it."

(Human Destiny, P. 133-134)

अर्थात् अज्ञेयवादी नास्तिक व्यक्तियों को इस तथ्य की कुछ भी चिन्ता नहीं प्रतीत होती कि हमारा सम्पूर्ण व्यवस्थित जीवित जगत् परमेश्वर की प्राक्कल्पना वा परिकल्पना के बिना अबोधगम्य वा अज्ञेय हो जाता है। कुछ भौतिक तत्त्वों में उनका विश्वास जिनके विषय में वे स्वयं बहुत कम जानते हैं, एक अयुक्तियुक्त वा तर्क विरुद्ध विश्वास का निर्देश करता है किन्तु वे इस बात को नहीं जानते। परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के विषय में इस सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने कहा है कि—

"The Omnipotence of God does not enter into the restricted pattern of our actual thought. It is no more shameful to confess it, than to confess our incapacity to conceive the electricity which we have domesticated."

(Human Destiny, P. 142)

अर्थात् परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता हमारे वर्तमान विचार के सीमित नमूने में प्रविष्ट नहीं होती। इस बात को स्वीकार कर लेना कुछ भी लज्जाजनक नहीं, जैसे कि विद्युदणु के विषय में इसके स्वरूप को समझने की अपनी अक्षमता को स्वीकार करने में कोई लज्जा की बात नहीं यद्यपि हमने इसे घरेलू-सा बना लिया है।

हेनरी ड्रम्मंड की विकासवाद विषयक महत्त्वपूर्ण उक्ति

कई लोग यह समझते हैं कि विकासवाद का ईश्वरवाद से पूर्ण विरोध है और क्योंकि बहुत-से (सब नहीं) वैज्ञानिक विकासवाद के माननेवाले हैं, अतः

वे सब निरीश्वरवादी ही होंगे। इस भ्रान्त धारणा का बड़ा उत्तम और प्रबल निराकरण हेनरी ड्रम्मंड नामक एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने करते हुए लिखा है—

"Evolution includes the whole man, all that is in man and all the work and thought and life and all aspirations of man. It all comes from the one Great Source, the Great Intelligence. From what other source could it come?.....Evolution shows God everywhere".

अर्थात् विकास का सम्बन्ध सम्पूर्ण मनुष्य, उसके कार्य, विचार, जीवन, अभीप्सादि के साथ है। यह सब ही महास्रोत से, जो सबसे अधिक बुद्धिशाली है, निकलता है और किससे यह निकल सकता था ?....विकास ईश्वर को सर्वत्र प्रदर्शित वा सिद्ध करता है।

केरलस लिनैयस वैज्ञानिक का कथन

केरलस लिनैयस नामक वनस्पति विज्ञान विशारद ने लिखा कि—

"In my Scientific studies of the plant world, I see God everywhere."

अर्थात् वनस्पति जगत् के वैज्ञानिक अनुशीलन में मैं परमेश्वर को सर्वत्र देखता हूँ।

ईश्वर सत्ता के विषय में मौरीसन का अति महत्त्वपूर्ण लेख

ईश्वर के अस्तित्व के विषय में वर्तमान काल के वैज्ञानिकों में से ए० क्रेम्सी मौरीसन नामक वैज्ञानिक का जो न्यूयार्क की विज्ञान परिषद् के प्रधान थे (Ex-President of the New-York Academy of Sciences), 'Reader's Digest' नाम की सुप्रसिद्ध लोकप्रिय पत्रिका के पहले जनवरी १९४८ ई० और फिर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के गणित विज्ञान के प्रोफेसर कौल्सन की विशेष सिफारिश पर नवम्बर १९६० के अंक में प्रकाशित......"Seven Reasons why a Scientist believes in God."

(सात कारण जिनसे वैज्ञानिक ईश्वर में विश्वास करता है।) इस शीर्षक का लेख अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस लेख का प्रथम परिच्छेद इस प्रकार है—

"We are still in the dawn of the scientific age and every increase of light reveals more brightly the handiwork of an Intelligent Creator. In the 90 Years since Darwin, we have made stupendous discoveries, with a spirit of Scientific humility and of faith grounded in knowledge, we are approaching even nearer to an awareness of God."

(The Reader's Digest, Nov. 1960, P. 45)

अर्थात् हम अभी वैज्ञानिक युग के उषाकाल में हैं और प्रकाश में प्रत्येक वृद्धि, एक बुद्धिमान् जगत्कर्ता के कार्य को अधिकाधिक दीप्ति के साथ प्रकट करती है। डार्विन से लेकर अब तक जो ९० वर्ष व्यतीत हुए हैं, हमने आश्चर्यजनक खोजें की हैं। वैज्ञानिक नम्रता की भावना और ज्ञान पर आश्रित श्रद्धा के साथ हम परमेश्वर के भान के समीप पहुँच रहे हैं।

विज्ञान के धर्म और ईश्वरवाद पर डॉ० पाल केरस—

ऐसा समझना ठीक न होगा कि कुछ वैज्ञानिक अपने वैयक्तिक रूप से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इस सन्दर्भ में हम डॉ० पाल केरस की "Religion of Science" (विज्ञान का धर्म) नामक पुस्तक से निम्न घोषणा को उद्धृत करना उचित समझते हैं। डॉ० पाल केरस ने लिखा है—

"While Science does not speak of God, it teaches God, for every law of nature is a part of God's being". (Religion of Science, P. 22)

"The Religion of Science is not atheistic, but theistic".

"God determines the laws of any possible kind of nature. God is that which determines the shape of nature and directs the course of energy". (The Religion of Science by Dr. Paul Carus, P. 23)

अर्थात्, ''यद्यपि विज्ञान ईश्वर के विषय में सीधा कुछ नहीं कहता, किन्तु वह ईश्वर के विषय में शिक्षा देता है क्योंकि प्रकृति का प्रत्येक नियम एक प्रकार से परमेश्वर की सत्ता का भाग है।''

''विज्ञान का धर्म नास्तिक वा निरीश्वरवादी नहीं, अपितु ईश्वरवादी है।''

''परमेश्वर, प्रकृति के नियमों और रूप का नियामक है और वही शक्ति की गति का प्रेरक है।''

इस प्रकार डॉ० पाल केरस ने स्पष्टतया घोषणा की है कि विज्ञान का धर्म ईश्वरवादी है निरीश्वरवादी नहीं। हमने ऊपर जो अनेक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों के ग्रन्थों और भाषण निबन्धादि से उद्धरण लिये हैं, उनसे डॉ० पाल केरस के इस यथार्थ कथन की पुष्टि ही होती है।

डॉ० पाल केरस ने जो बात लिखी है वही डेविड स्टार जोर्डन नामक एक अन्य सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने निम्न शब्दों में कही है—

"The infinite expanse of the Universe, its growth through immeasurable periods of time, the boundless range ot its changes and the rational order that pervades it, all demand an infinite Intelligence behind the manifestation"....

"Modern Science has no kinship with atheism".

(David Starr Jordan)

अर्थात् "विश्व की असीम विशालता, उसका विस्तार और इसके अन्दर परिपूर्ण, तर्कसंगत वा बुद्धिमत्ता पूर्ण व्यवस्था—ये सब इस चीज की माँग करती हैं कि इन अभिव्यक्तियों के पीछे एक अनन्त बुद्धि कार्य कर रही है।

वर्तमान विज्ञान का नास्तिकता से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परमेश्वर में विश्वास के सम्बन्ध में, जो आध्यात्मिकता का एक अपरिहार्य अंग है, विज्ञान का कोई विरोध नहीं बल्कि वह उसका प्रबल समर्थन करता है। अतः दोनों के समन्वय में कोई आपत्ति नहीं, बल्कि यह सर्वथा वाञ्छनीय और सम्भव है। ईश्वरवाद के विकृत रूप को, विशेषतः ईश्वर में मनुष्यत्वारोप (Anthromorphism) के कारण, कई वैज्ञानिकों ने ईश्वरवाद से इन्कार किया है। इन सब बातों को हम धर्म, विज्ञान और तत्त्वज्ञान के समन्वय की समस्या विषयक अगले अध्याय में दिखायेंगे। अभी इस विषय को यहीं समाप्त करके आत्मा की नित्यता और अमरता के विषय पर विचार करते हैं जो आध्यात्मिकता का अपरिहार्य अंग है।

वेदों में आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन

वेदों में आत्मा को इन्द्रिय, मन, बुद्धि, इत्यादि का अधिष्ठाता, चेतन, नित्य और अमर बताया गया है। इस विषय में यहाँ हम ३ मन्त्रों को प्रस्तुत करना पर्याप्त समझते हैं। ऋग्वेद १।१६४ में बताया गया है—

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥

(ऋ० १।१६४।३०)

परमेश्वर (पस्त्यानाम्) द्वारों–शरीरों के (मध्ये) बीच में रहनेवाले (ध्रुवम्) अविनाशी (तुरगातु) तीव्र गतिवाले (जीवम्) जीव को (एजत्) गति देता हुआ तथा (अनत्) प्राणशक्ति सम्पन्न करता हुआ (शये) रहता है (अमर्त्यः) मरण या विनाश रहित (जीवः) जीवात्मा (स्वधाभिः) अपने कर्मों के कारण अथवा अपनी शक्ति के कारण (मर्त्येन) मरण धर्मा शरीर के सतत कारण (मृतस्य) इस मरण धर्मा शरीर का (सयोनि) समान स्थानवाला होकर—इस मरण धर्मा शरीर से सम्बद्ध होकर जगत् में (आचरति) सब ओर विचरता है। अथवा (मृतस्य अमर्त्य जीवः) मृत–देह का स्वामी अमर्त्य–न मरनेवाला जीवात्मा (स्वधाभिः) अपने पुण्य–पाप रूप कर्मों के कारण (मर्त्येन सयोनिः) मरण धर्मा शरीर के साथ समान स्थानवाला होकर जगत् में (आचरति) बार–बार आता है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा नित्य है, देह अनित्य है। भले–बुरे कर्मों के कारण जीवात्मा को बार–

बार इस संसार में आना पड़ता है। शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। शरीर के अन्दर रहनेवाले इस देहाभिमानी जीवात्मा में जीवनाधार परमात्मा अनुशयन करते अर्थात् सर्वान्तर्यामिरूप से सदा विद्यमान रहते हैं। ऋग्वेद १।१७७।३ में आत्मा के विषय में ज्ञानी दृष्टा द्वारा कहलाया गया है कि—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

(ऋ० १०।१७७।३)

(आ च परा च) सीधे-उल्टे (पथिभिः) मार्गों से (चरन्तम्) विचरनेवाले और (अनिपद्यमानम्) नाश न होनेवाले (गोपाम्) इन्द्रियों के रक्षक और स्वामी आत्मा को (अपश्यम्) मैंने ज्ञान चक्षु से देख लिया है। (सः) वह (विषूची सध्रीचीः वसानः) उलटी-सीधी चालों को चलता हुआ अथवा अनुकूल-प्रतिकूल योनियों को प्राप्त करता हुआ (भुवनेषु अन्तः) संसार में या शरीरों में (आवरीवर्ति) बार-बार लौटता है।

इस मन्त्र में जीव को अनिपद्यमान-अविनाशी वा नित्य बताया गया है। "आ च परा च पथिभिः चरन्तम्" इससे जीव में प्रयत्न का प्रतिपादन किया गया है और उलटी-सीधी चाल का चलनेवाला। (सध्रीचीः स विषूचीः वसानः) कहकर उसमें इच्छा और द्वेष का भी निरूपण कर दिया गया है। इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में पुण्य-पाप के कारण जीव का संसार में पुनः-पुनः आना वर्णित किया गया है। संसार में पुनः-पुनः आने का अर्थ सुख-दुःखोपभोग है। (गोपाः) इन्द्रियों से पृथक् सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गौतम मुनि कृत—

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिंगम्॥ (न्याय १।१९)

इस सूत्र का मूल वेद मन्त्रों में है।

इसी सूक्त (ऋ० १०।१७७) के प्रथम मन्त्र का अर्थ सहित उल्लेख भी यहाँ उचित प्रतीत होता है—

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः॥

(ऋ० १०।१७७।१)

(असुरस्य) प्राणदाता ईश्वर की (मायया) कुशलता से (मायेति प्रज्ञानाम-निघं० ३।९) (अक्तम्) शरीर सम्बन्ध से व्यक्त हुए (पतंगम्) जीवात्मा को (विपश्चितः) ज्ञानी मेधावी जन (हृदा) हृदय की भक्ति से (मनसा) मनन शक्ति से (पश्यन्ति) देखते हैं—साक्षात्कार करते हैं। (कवयः) क्रान्तदर्शी महात्मा (समुद्रे अन्तः) अन्तःकरण में (समुद्र इति अन्तरिक्ष नाम-निघं० १।३ हृदयांतरिक्षे)

(विचक्षते) विशेष रूप से दर्शन करते हैं और (वेघस:) धारणा ध्यान करनेवाले मेधावी ध्यानी जन (विद्महि ति मेधाविनाम–निघं० ३।१५) (मरीचीनां पदम्) तेजों के–ज्ञान रश्मियों के मूल स्थान को (इच्छन्ति) प्राप्त करना चाहते हैं।

इस मन्त्र में जीवात्मा को पतंग कहा गया है। पतंग शब्द का अर्थ है जो गति द्वारा ही स्थानान्तर में (आ जा सके) अर्थात् जो सर्वव्यापक न हो। जीव को यहाँ अक्तम्–शरीर सम्बन्ध में प्रतीत होनेवाला कहा है। (अञ्जू–व्यक्तिम्रक्षण गति कान्तिषु) जीवात्मा अतीव सूक्ष्म है। शरीर सम्बन्ध के बिना साधारण जनों को इसकी प्रतीति नहीं हो सकती। इसी मन्त्र में जीवन को (मरीचीनां पदम्) अर्थात् प्रकाश का मूल स्थान कहा है। जिस प्रकार मरीचिमाली सूर्य आकाश में एक स्थान में रहता हुआ समस्त ब्रह्माण्ड में प्रकाश करता है, उसी प्रकार जीवात्मा शरीर में हृदयाकाश में रहता हुआ समस्त शरीर में चेतना शक्ति का संचार करता है। हृदयमनसा पश्यन्ति, इन शब्दों द्वारा जीवात्मा की सूक्ष्मता का निर्देश किया गया है।

इस प्रकार इन तीन मन्त्रों में जीवात्मा को शरीर से भिन्न इन्द्रियों का अधिपति, नित्य, अविनाशी और शुभाशुभ कर्मानुसार अनेक योनियों में विचरण करनेवाला बताया गया है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों द्वारा आत्मा की अमरता का समर्थन—

प्रश्न यह है कि यदि आत्मा की नित्यता, अमरता और पुनर्जन्म में विश्वास आध्यात्मिकता के अपरिहार्य अंग हैं, तो इसका विज्ञान के साथ समन्वय कैसे सम्भव है? क्या विज्ञान वा वैज्ञानिक भी भौतिकवादी होने के कारण नित्य आत्मा की सत्ता से इन्कार नहीं कर सकते? हमारा कथन यह है कि अनेक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आत्मा की नित्यता और अमरता का स्पष्टतया समर्थन करते हैं और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी विश्वास रखते हैं। उदाहरणार्थ सर आलिवर लॉज जैसे जगद्विख्यात वैज्ञानिक ने जो अपने समय में रॉयल सोसायटी और ब्रिटिश विज्ञानवर्धिनी संस्था (British Association for the Advancement of Sciences) के प्रधान थे, स्पष्ट घोषणा की थी कि—

"It is unreasonable that soul should jump out of existence when the body is destroyed. I say on definite scientific grounds that we shall continue to exist. We shall certainly survive. Survival of existence is scientifically probable by careful scientific investigation."

(Quoted in "Religion and Science by Seven men of Science", London, P. 25)

अर्थात् यह मानना कि शरीर के नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है सर्वथा युक्ति विरुद्ध है। मैं सर्वथा निश्चित वैज्ञानिक आधार पर इस बात को

कहता हूँ कि हमारी सत्ता (शरीर की मृत्यु के पश्चात् भी) विद्यमान रहेगी। हम निश्चय से मृत्यु के पश्चात् भी रहेंगे। यह सत्ता की निरन्तरता वैज्ञानिक रूप से ध्यानपूर्वक किये गये वैज्ञानिक अनुसंधानों से सिद्ध की जा सकती है।

फ्रेंच वैज्ञानिक फैलेमेरियों द्वारा समर्थन—

फ्राँस के एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक फेलेमेरियों ने अपनी पुस्तक "What do we know about the Beyond." (हम मरणोत्तर अवस्था के विषय में क्या जानते हैं) में स्पष्ट लिखा है कि—

"Long observation has shown clearly that there exists in us something unknown which has been systematically denied upto the present, in all scientific theories and that this something survives the disintegration of our earthly bodies and the transformation of our material molecules, which by the way, from a purely scientific point of view, are also indestructible. Whether we call it a principle, element, psychic atom, soul or spirit, there is no denying that this unknown something does really exist."

("What do we know about the Beyond", by M. Camille Flamarion)

अर्थात् चिरकाल तक निरीक्षण ने स्पष्टतया इस बात को दिखाया है कि हममें एक अज्ञात तत्त्व है जिसका अब तक वैज्ञानिक वादों में व्यवस्थित रूप से इन्कार किया गया है और यह अज्ञात तत्त्व हमारे भौतिक शरीर के विघटन के और हमारे प्राकृतिक अणुओं के रूपान्तरण के पश्चात् भी (जो शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से अविनाश्य हैं) बचा रहता है। इसको हम चाहे एक तत्त्व आत्मिक अणु, आत्मा किसी भी नाम से पुकारें, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस अज्ञात तत्त्व की वास्तव में एक सत्ता है।

डॉ० पाल केरस का आत्मा विषयक कथन—

विज्ञान का आत्मा के विषय में क्या मत है, इस विषय में डॉ० केरस ने "The Religion of Science" में लिखा है—

"Science rejects the assumption of a ghost soul, but it establishes at the same time, the reality of the continuance of man's soul after death." (The Religion of Science by Dr. Paul Carus, P. 62)

अर्थात् विज्ञान भूत-प्रेत रूप आत्मा की सत्ता का निषेध करता है, किन्तु वह मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व की सत्यता को प्रमाणित करता है।

नोबल पुरस्कार विजेता डॉ० अलेक्सिस केरल ने भी अपने ग्रन्थ "Man, the unknown" में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हुए उसके अज्ञान को ही

वर्तमान शोचनीय दशा का मुख्य कारण माना है।

अन्य वैज्ञानिकों द्वारा जीवन विषयक अज्ञान की स्वीकृति

यहाँ विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि जिन वैज्ञानिकों ने स्पष्टतया आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया, उन्हें यह स्वीकार करने को विवश होना पड़ा है कि उनको इस बात का ज्ञान नहीं कि जीवन क्या है और उसका उद्भव क्या है।

ऐसे कुछ प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के वचनों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं जिससे स्पष्टतया ज्ञात होगा कि चेतन आत्मा की सत्ता को स्वीकार किये बिना जीवन विषयक समस्या का कोई भी सन्तोषजनक समाधान सम्भव नहीं है।

प्रो० टिण्डल की स्पष्टोक्ति—

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० टिण्डल ने नौर्विच में ब्रिटिश एसोसिएशन (British Association) के सामने व्याख्यान देते हुए स्वीकार किया था कि—

"We are far as ever from the solution of the problem, how are these physical processes connected with the facts of consciousness."

अर्थात् हम इस समस्या के समाधान से अभी तक पूर्ववत् दूर हैं कि इन भौतिक प्रक्रियाओं का चैतन्य की यथार्थ घटना के साथ कैसे सम्बन्ध सम्भव होता है।

डॉ० हैल्डेन का स्पष्ट कथन

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० वी० बी०, एस० हैल्डेन ने Can we make life? अथवा "क्या हम जीवन का निर्माण कर सकते हैं", इस शीर्षक के लेख में स्पष्ट स्वीकार किया कि—

"We know a lot about life, but we do not know where and when it was born. Many people are content to give up the quest and to say that the origin of life is a mystery beyond the range of Science. This may prove to be true."

(V.B.S. Haldane-quoted here from "Hindustan Times", New Delhi, dated 29.4.1940)

अर्थात् हम जीवन के विषय में बहुत कुछ जानते हैं किन्तु हम यह नहीं जानते कि जीवन कहाँ और कब उत्पन्न हुआ? बहुत से मनुष्य इस प्रकार के प्रश्न को छोड़ देने पर सन्तोष कर लेते हैं और यह कहते हैं कि जीवन का उद्भव एक रहस्य है जो विज्ञान के क्षेत्र के बाहर है। सम्भव है यही सत्य सिद्ध हो।

मि० थौम्सन की अज्ञान-स्वीकृति

मि० थौम्सन नामक एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने "Introduction to Science" (विज्ञान की भूमिका) नामक पुस्तक में स्पष्ट रूप से और निष्कपटता से

स्वीकार किया है कि—

"How did living creatures begin to be upon the earth? In point of Science, we do not know."

(Introduction to Science by V.A. Thomson, M.A., P. 142)

अर्थात् जीवित प्राणी भूमि पर कैसे होने शुरू हुए ? विज्ञान की दृष्टि से हमारा उत्तर यह है कि हम नहीं जानते।

प्रो० पैट्रिक का स्पष्ट कथन

प्रो० पैट्रिक गेड्स ने अपनी पुस्तक "Evolution" में लिखा है—

"At some uncertain but inconceivably distant date, living creatures appeared on the scene. The question is What was the manner of their coming upon the previously tenantless earth?"

"Our answer must be that we do not know".

अर्थात् किसी अनिश्चित किन्तु कल्पनातीत दूरस्थ तिथि पर जीवित प्राणी प्रकट हुए। प्रश्न यह है कि पहले से न बसी हुई भूमि पर उनके प्रकट होने का प्रकार क्या था ? हमारा उत्तर यही होना चाहिए कि हम नहीं जानते।

मि० ब्राहट् की स्पष्टोक्ति

मि० ब्राहट् सेवल नामक ब्रिटिश वैज्ञानिक ने "Times of India" द्वारा प्रकाशित "Miracle of Life" (जीवन का चमत्कार) नामक पुस्तक में "The Dawn of Life" (जीवन का उषा:काल) इस शीर्षक से निबन्ध में लिखा—

"Every day of the year, our great libraries gather to themselves, scores of volumes, pamphlets and other publications, dealing with the visual world around us, But while every hour sees some former mystery explained, there still remains one outstanding question yet unanswered though not of necessity unanswerable : "How did it all begin?"

(The Miracle of Life, P. 10)

अर्थात् वर्ष के प्रत्येक दिन हमारे बड़े पुस्तकालय हमारे चारों ओर विद्यमान दृश्यमान जगत् के विषय में प्रकाशित बीसियों पुस्तकों, पुस्तकीय कार्यों तथा अन्य प्रकाशनों को संगृहीत करते हैं। किन्तु जबकि प्रत्येक घण्टे में किसी पूर्व रहस्य की व्याख्या दृष्टिगोचर होती है, एक अति विशिष्ट प्रश्न अब भी अनुत्तरित रूप में अवशिष्ट है। यद्यपि उसे अनुत्तरणीय नहीं कह सकते। और वह प्रश्न यह है कि यह सब कुछ कैसे प्रारम्भ हुआ ?

सर जेम्स जीन्स की स्पष्टोक्ति—

सब जेम्स जीन्स नामक सुप्रसिद्ध ज्योतिष शास्त्री और वैज्ञानिक ने "The

Mysterious Universe" (रहस्मय जगत्) नाम की अपनी पुस्तक में इस प्रश्न को उठाया है कि—

"Is a living cell non-ordinary atoms arranged in some non-ordinary way, or is it something more? Is it merely atoms, or is it atoms plus life? of to put it in another way, could a sufficiently skilful Chemist create life out of the necessary atoms, as a boy can create a machine out of "Meccanno"? and then make it go? **We do not know the answer**". (The Mysterious Universe by Sir James Jeans)

अर्थात् क्या एक जीवित कोषाणु साधारण अणुओं का किसी असाधारण रूप में व्यवस्थित समुदाय है अथवा यह इससे अधिक कुछ और है ? ये क्या केवल अणु है अथवा यह अणुओं से जीवन का योग है, अथवा दूसरे शब्दों में क्या एक पर्याप्त चतुर रसायन शास्त्री आवश्यक अणुओं से जीवन को बना सकता है जैसे कि एक लड़का मैंकानो से मशीन बना सकता और उसे चालू कर सकता है ? **इसके उत्तर को हम नहीं जानते।**

इस प्रकार इन उद्धरणों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आत्मा की सत्ता में विश्वास रखे बिना कोई भी बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक जीवन के उद्भव की व्याख्या नहीं कर सकता। यह प्रसन्नता की बात है कि अब बहुत-से बड़े वैज्ञानिक नित्य आत्मा की सत्ता और पुनर्जन्म में विश्वास करने लगे हैं। आत्मा की नित्यता और अमरता के साथ पुनर्जन्म का सम्बन्ध है तथापि इस विषय पर कुछ अधिक विस्तृत विचार हम धर्म, विज्ञान और तत्त्व ज्ञान में समन्वय की समस्या विषयक अगले अध्याय में प्रस्तुत करेंगे। इतने विवेचन से यह स्पष्ट है कि विज्ञान और आध्यात्मिकता का मेल न केवल अत्यधिक वाञ्छनीय है, अपितु उतना कठिन भी नहीं जितना वह ऊपर से प्रतीत होता है क्योंकि अब बड़े-बड़े वैज्ञानिक, आध्यात्मिकता से सम्बद्ध आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि विषयों में विश्वास करने लगे हैं।

आत्मा की नित्यता के विषय में एक और वेदमन्त्र का भी उल्लेख यहाँ अनुचित न होगा जो निम्न है—

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३ वर्धमानः॥

(ऋ० ६। ९।४)

जीवात्म वर्णन—(अयं प्रथमः होता) यह ही सबसे उत्तम सुखों का ग्रहण करने और देनेवाला है। हु-दानादनयोः आदाने च। (इमं पश्यत) इसको साक्षात् किया करो (मर्त्येषु) मर जानेवाले देहों में (इदम् अमृतं ज्योतिः) यह अमर कभी न मरनेवाली ज्योति है अर्थात् यह चेतन ज्योति कभी नाश को प्राप्त नहीं होती।

(अयं सः) यह वह (अमर्त्यः) कभी न मरनेवाला (तन्वा वर्धमानः) शरीर से बढ़ता हुआ (ध्रुवः) सदा स्थिर, नित्य होकर भी (आनिष ततःजज्ञे) शरीर या गर्भ में स्थिर होकर प्रादुर्भूत होता है—शरीर के साथ प्रकट होता है। कितनी स्पष्टता से आत्मा को अमृत ज्योति, ध्रुव, अमर्त्य आदि शब्दों से पुकार कर उसकी नित्यता और अमरता का प्रतिपादन किया है।

उपनिषदों के—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(कठो० १।२।१८)

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं, हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(कठो० १।२।१९)

तथा भगवत् गीता के—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भवितावानभूयः।
अजोनित्यः शाश्वतोअयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २........)

य एवं वेत्ति हन्तारं, यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(गीता २।१९)

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

(गीता २।२३)

ये वचन जीवात्मा की नित्यता विषयक इस तथा पूर्वोद्धृत वेदमन्त्रों की व्याख्या मात्र है। सबका मूल तो वेद ही है।

आचार्य विनोबाजी तथा अन्य विचारकों के अनुसार जो जीवन की एकता और पवित्रता आध्यात्मिकता का अपरिहार्य अंग है, उसके विषय में वेदों का स्पष्ट उपदेश है कि सब प्राणी एक ही परमेश्वर के पुत्र है। वही एक परमेश्वर सबका पिता माता है इस बात को—

१. यो नः पिता जनिता यो विधाता (ऋ० १०।८२।३)

२. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता (यजु० ३२।१०)

३. त्वं हिनः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ

(साम० ११७०)

४. **पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्** (ऋ० ६।१।५)

५. **स नः पिता जनिता स उत बन्धुः** (अथर्व० २।१।३)

इत्यादि वेद वचनों में स्पष्टतया बताया गया है (जो चारों वेदों से यहाँ संगृहीत किये गये हैं) जिनका सरल सुस्पष्ट अर्थ यह है कि—

१. जो परमेश्वर हमारा पिता, उत्पादक और कर्मफल प्रदाता है, उसी की, हे मनुष्यो! सदा उपासना करो।

२. वह परमेश्वर ही हमारा बन्धु, उत्पादक, पिता और कर्मफल का विधाता है।

३. हे अनन्त ज्ञान और कर्मोंवाले परमेश्वर! हे जीवनाधार! तू ही हमारा पिता और तू ही हमारी माता है।

४. परमेश्वर सदा ही सब मनुष्यों का पिता और माता है।

५. वह परमेश्वर ही सब प्राणियों का पिता (पालनकर्ता), उत्पादक और बन्धु है।

वेदों के अनुसार जब सब प्राणियों का एक परमेश्वर ही पिता है तो जीवन की एकता और पवित्रता स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसीलिए वेद सब प्राणियों को (केवल मानव मात्र को ही नहीं) मित्र की दृष्टि से देखने और सब पशुओं की रक्षा का उपदेश देते हैं, इस बात को विश्व प्रेम और प्राणिमात्र की एकता शीर्षक अध्याय में हम—

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

(यजु० ३६।१८)

इत्यादि मन्त्रों को अर्थ सहित उद्धृत करके दिखा चुके हैं अत: उनको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं।

"**द्विपादव चतुष्पात्पाहि**" (यजु० १४।८)

पशून् पाहि॥ (यजु० १।१)

पशूँस्त्रायेथाम्॥ (यजु० ६।११)

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥

(यजु० ३६।८)

इत्यादि मन्त्र भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है जिनमें उपदेश किया गया है कि तुम सब पशुओं की रक्षा करो। जो परमेश्वर सारे संसार का स्वामी है, वह हमारे सब मनुष्यों और पशु-पक्षियों की रक्षा करे।

श्री अल्बर्ट का प्राणिमात्र की एकता विषयक उत्तम कथन

तुलनात्मक दृष्टि से हम भी अल्बर्ट हब्बर्ड नामक पाश्चात्य विद्वान् के लेख

के निम्न अंश को यहाँ उद्धृत करते हैं, जो वैदिक भावना का पूर्ण समर्थक है—

"All life is one and we are brothers to the birds and trees. Our life is a necessary and integral part of the Energy that turns the wheeling planets and holds the world in space. All life is one, God is on our side. We are freed from fear, emancipated from apprehension and filled with kindness towards every living thing because all is ours, and we are a part of all we hear and fear and see".

(Elbert Hubbard—in "Immortal Words" Published by the B. Vidya Bhawan, Bombay, P. 133)

अर्थात् सम्पूर्ण जीवन एक है और हम पक्षियों और वृक्षों के भी भ्राता हैं। हमारा जीवन उस महाशक्ति का एक आवश्यक और मुख्य अंग है जो गतिशील नक्षत्रों को घुमाती और अन्तरिक्ष में इस संसार को धारण करती है। हमारा जीवन एक है। ईश्वर हमारी ओर है—हमारा सहायक है। हम भय से मुक्त हैं, सब प्रकार की आशंकाओं से भी मुक्त है और प्रत्येक प्राणी के प्रति दयाभाव से परिपूर्ण हैं क्योंकि सब प्राणी हमारे अपने हैं और हम जो कुछ सुनते, अनुभव करते और देखते हैं, उसके अवयव हैं।

मि० हेनरी वैलेस का ऐक्य सन्देश

"The west has too long focussed its attention upon physics and chemistry and not enough on psychology, sociology and biology. A powerful belief that all humanity is one, that the nations of the world are all parts of one family, leads to a further consideration. Perhaps the now common phrase The Brotherhood of man, is not inclusive enough; we may indeed be brothers to all living manifestations. Genuine reverence for life based on intimate first hand contacts is the highest attribute of man, and one to be nurtured in this and furture generations."

(Henry Wallace in an article on "Switch Emphasis from Atomic Energy to life energy" in "What interest you most in the world today" edited by Julie Medlock, P. 58)

अर्थात् पश्चिम ने चिरकाल तक अपना ध्यान भौतिकी और रसायन शास्त्र पर केन्द्रित किया है और मनोविज्ञान, समाज विज्ञान और जीव विज्ञान पर उसने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। एक प्रबल विचार शक्ति कि सारी मानव जाति एक है और यह कि संसार के सब राष्ट्र एक परिवार के अंग हैं, हमें आगे विचार की ओर प्रवृत्त करता है। सम्भवतः अब प्रचलित वाक्यांश मनुष्य मात्र का भ्रातृत्व, पर्याप्त

समावेशक नहीं है, वस्तुत: हम सारे जीवित प्राणियों के भाई हैं। मनुष्य का सबसे ऊँचा गुण, जीवन के लिए सच्चा आदर (जिसका आधार घनिष्ठ सम्पर्कों पर है), यह है और यह ऐसा उत्तम गुण है कि इसे इस ओर आगे आनेवाली पीढ़ियों में पोषित करने तथा इसकी शिक्षा देने की आवश्यकता है।

आजकल विज्ञान का युग है और भौतिक विज्ञान ने अनेक प्रकार के आविष्कार करके मानव जीवन को सुखी बनाया है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु आध्यात्मिकता से दूर रहकर, विज्ञान मानव मात्र को ही नहीं, अपितु समस्त जगत् को भयंकर विनाश की ओर ले जा रहा है। ऐसे भयंकर सर्वविनाशक अणु बम, उद्जन बम आदि का आविष्कार किया जा चुका है जो सारे विश्व को कुछ ही क्षणों में नष्ट कर सकेंगे। आध्यात्मिकता से वञ्चित विज्ञान, इस अणु शक्ति का प्रयोग विनाशक कार्यों के लिए कर रहा है, जब कि मानव कल्याण और रोग विनाशार्थ भी उनका प्रयोग किया जा सकता है। यदि विश्व कल्याण की आध्यात्मिक भावना वैज्ञानिकों के मन में उत्पन्न हो जाय। विज्ञान स्वयं कोई बुरी वस्तु नहीं, किन्तु आध्यात्मिकता के बिना उसका सदुपयोग नहीं किया जा सकता। वह विश्व विनाश का कारण बन जाता है। विज्ञान से रहित आध्यात्मिकता मानव जीवन को सुख समृद्धि सम्पन्न नहीं कर सकती, अत: आवश्यकता इस बात की है कि उन दोनों का समन्वय किया जाय और इनमें सामञ्जस्य स्थापित किया जाय। Science तथा Spirituality पर १९६२ में पटना में एक गोष्ठी के अवसर पर अपने सन्देश में स्व० श्री जवाहरलालजी नेहरू ने लिखा था—

"The subject of the Science is of high importance. The future of the world is tied up with the growth of Science and life becomes more and more dependent on Science. At the same time, life with Science only as its guide and without a spiritual basis is very likely to lead to disaster for humanity."

अर्थात् विज्ञान का विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण है। संसार का भविष्य विज्ञान के साथ बँधा हुआ है और जीवन अधिकाधिक विज्ञान पर निर्भर होता जाता है। किन्तु इसके साथ ही जीवन जिसका मार्गदर्शक केवल विज्ञान हो, और जो आध्यात्मिक आधार से शून्य हो, वह मनुष्य मात्र को महा विपत्ति की ओर ले जाएगा, यह सम्भावना बहुत अधिक है।

भारत के प्रथम महामान्य राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी ने विज्ञान और आध्यात्मिकता के समन्वय विषयक इस विचार गोष्ठी में अध्यक्ष रूप से अन्तिम भाषण करते हुए ठीक ही कहा था कि—

"I can only join you in the hope that attempts will continue to be

made to bring about rapproachment between Science and Spirituality, because without this rapproachment, there is no doubt that there is a real risk of mankind being, if not destroyed, at any rate, greatly crippled by the use of nuclear powers and other devices, which have now been achieved by Scientific Technology."

"It is necessary to emphasise that this rapproachment between Science and spirituality should be worked out, so that the knowledge that has come into man's possession may be utilised for his good and not for his destruction."

मैं आपके साथ इस आशा में सम्मिलित हो सकता हूँ कि विज्ञान और आध्यात्मिकता के समन्वय के लिये की जा रही कोशिशें जारी रहेंगी क्योंकि इस समन्वय के बिना इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य जाति के सम्पूर्णतया नष्ट नहीं तो कम से कम आणविक शक्ति तथा अन्य विनाशक उपायों से विकलांग होने का वास्तविक खतरा है, जो वैज्ञानिक शिल्प, विज्ञान द्वारा निर्मित किये गये हैं।

इस पर बल देना आवश्यक है कि विज्ञान और आध्यात्मिकता के बीच ऐसे समन्वय को स्थापित करना चाहिए जिससे मानव को जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका उपयोग करके उसके कल्याण के लिए हो, न कि विनाश के लिए। महामान्य डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी का यह सन्देश वस्तुतः कितना मर्मस्पर्शी है। इस दिशा में प्रयत्न विचार गोष्ठियों के सबसे बड़े–बड़े केन्द्रों में आयोजन, वैज्ञानिकों और आध्यात्मिकताओं के परस्पर निकट सम्पर्क, आकाशवाणी (Radio) द्वारा इन दोनों के समन्वय विषयक भाषणों, पुस्तकों, पत्रिकाओं, सभाओं, सम्मेलनों तथा अन्य साधनों द्वारा अवश्य किया ही जाना चाहिए अन्यथा इसका भयंकर परिणाम होगा। भारत के निवर्तमान महामान्य राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् जी ने १३ सितम्बर १९६० को (जब वे भारत के उपराष्ट्रपति थे) जो शब्द अध्यात्मवाद वा आध्यात्मिकता के विषय में सांगली में कहे थे वे भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। नवभारत टाइम्स पत्र के १४–९–१९६० ई० के अंक में उनके इस महत्त्वपूर्ण भाषण का सारांश प्रकाशित हुआ। उसका शीर्षक था विश्व समस्याओं का समाधान, अध्यात्मवाद से, इस भाषण में उन्होंने ठीक ही कहा था कि—

अन्ततः अध्यात्मवाद की विजय होगी और वही वर्तमान भय व घृणा के वातावरण को दूर करेगी। **वर्तमान विश्व समस्याओं का कारण यही है कि अध्यात्मवाद पर बुद्धिवाद हावी है। आध्यात्मिकवाद की विजय पर समस्त समस्याएँ मिट जायेंगी।**

अतः मानव मात्र के समस्त हितैषियों को वेद प्रदर्शित मार्ग से विज्ञान और आध्यात्मिकता में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न निरन्तर करते रहना चाहिए।

अध्याय-१८

धर्म व विज्ञान का समन्वय

धर्म और विज्ञान के समन्वय की समस्या भी आजकल की जटिल समस्याओं में से एक है। यह विज्ञान का युग है जिसका धर्म के साथ विरोध समझा जाता है। हमारे भारत के संविधान में इस राष्ट्र को धर्म निरपेक्ष घोषित किया गया है। इसका अर्थ भी प्राय: यह समझा जाता है कि यह धर्म विहीन राष्ट्र है यद्यपि हमारे महामान्य प्रथम राष्ट्रपति स्व० डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी और भूतपूर्व राष्ट्रपति स्वर्गीय डॉ० राधाकृष्णन् जी आदि नेता कई बार इस बात को कह चुके हैं कि सेक्युलर स्टेट् का अर्थ धर्म विहीन राष्ट्र नहीं, अपितु असाम्प्रदायिक राज्य है जिसमें धर्म, मत, सम्प्रदाय के भेदभाव के बिना सबको उन्नति के समान अवसर दिये जायेंगे। यह खेद की बात है कि समाजवाद और विशेषत: साम्यवाद (Communism) के धर्म विरोधी तथा निरीश्वरवादी प्रचार के कारण अनेक युवक-युवतियों की प्रवृत्ति धर्म विमुख हो रही है। इस अध्याय में हम इसी समस्या पर अनेक दृष्टियों से विचार करेंगे।

१. धर्म का लक्षण क्या है? विशेषत: वेदों के अनुसार धर्म किसे कहते हैं? उसके अन्य आर्य शास्त्रोक्त लक्षण क्या हैं?

२. क्या धर्म का विज्ञान के साथ विरोध है? क्या विज्ञान आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, प्रार्थना, यज्ञ इत्यादि धर्म के मुख्य तत्त्वों का विरोधी है?

३. क्या वेद केवल धर्म के ही मूल स्रोत हैं अथवा विज्ञान के भी ? यदि उनमें विज्ञान का भी मूल है और धर्म का भी, तो वैदिक धर्म में इन दोनों का विरोध हो ही कैसे सकता है?

४. धर्म और मत अथवा सम्प्रदाय में क्या अन्तर है? क्या ईसाई मत, इस्लाम, पौराणिक, जैन तथा अन्य मत-मतान्तरों का, विज्ञान के साथ सामञ्जस्य है अथवा विरोध? इस विषय में इतिहास की क्या साक्षी है?

५. क्या सच्चे धर्म और विज्ञान में समन्वय स्थापित करने में कोई कठिनाई है, यदि है तो क्या और उसको किस प्रकार दूर किया जा सकता है, इत्यादि।

धर्म का लक्षण

शास्त्रकारों ने धर्म के अनेक लक्षणों का स्थान-स्थान पर निर्देश किया है जिनमें से निम्न को उद्धृत करना पर्याप्त होगा। महाभारत में महर्षि वेदव्यास जी ने

धर्म शब्द का अर्थ और लक्षण इस प्रकार किया है—

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्माद् धारणं संयुक्तं स धर्म इति निश्चियः॥

(म०भा० ८६९)

धारण करने से धर्म कहा जाता है। जो व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और सारे जगत् को धारण करता है, इस प्रकार सारी प्रजा का जो धारण है, वह धर्म है। यह निश्चय है।

धर्म शब्द धृञ्-धारण, इस धातु से—

अर्तिस्तु-सुहुसृ-धृक्षि-क्षुभायावा-पदियक्षिनीप्यो मन्॥

इस उणादि सूत्र (१८०) द्वारा निष्पन्न होता है, अतः उसका अर्थ धारण करनेवाला है। यह धर्म का अति व्यापक अर्थ सदा स्मरणीय है। इसके अनुसार अग्नि, जल, वायु, विद्युत् आदि के धारण करनेवाले गुणों को भी धर्म के नाम से कहते हैं।

इसी धर्म के लक्षण और स्वरूप को ध्यान में रखकर तैत्तिरीयारण्यक के ऋषि ने कहा है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमय नुदन्ति, धर्मे सर्वे प्रतिष्ठितं, तस्माद् धर्मः परमं वदन्ति॥

(तैत्तिरीयारण्यके)

अर्थात् धर्म समस्त संसार की प्रतिष्ठा-आधारभूत तत्त्व है। लोक में धर्मात्मा के पास सारी प्रजाएँ आती हैं। धर्म के द्वारा लोग पाप का नाश करते हैं। उसे दूर भगाते हैं। धर्म में सब कुछ प्रतिष्ठित है। इसलिए धर्म को परम-बहुत बड़ी चीज-कहा जाता है। इस में यह जो बात कही गयी है कि—"**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, धर्मे सर्वे प्रतिष्ठितम्**", इसका आधार वेदों में निम्न प्रकार के वचन है—

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा॥

(अ० १२।१।१७)

यहाँ पृथ्वी भूमि अर्थात् विशाल पृथ्वी वा समस्त जगत् को धर्म से धारित कहा गया है। और उसकी सदा सेवा करने का आदेश दिया गया है। धर्मणा धृता, पृथ्वी भूमिः और धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, दोनों सर्वथा समानार्थक हैं।

इसी सूक्त के प्रथम मन्त्र में जो पृथ्वी के धारक गुण कहे गये हैं, वे भी सब धर्म के अन्तर्गत हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति॥

(अथर्व० १२।१।१)

सत्य, विस्तृत, ज्ञान, तेजस्विता, ब्रह्मचर्यादि दीक्षा, तप, ब्रह्म ज्ञान, यज्ञ, ये पृथ्वी को धारण करनेवाले हैं। धारण करने के कारण ये धर्म हैं।

ऋग्वेद १०।८५।१ में जो यह कहा गया है—

सत्येनोत्तभिता भूमिः। (ऋ० १०।८५।१)

अर्थात् सत्य ने भूमि को धारण कर रखा है। वह सत्य ही सबसे बड़ा धर्म है जैसे कि "नास्ति सत्यात् परो धर्मः"। इत्यादि सुप्रसिद्ध शास्त्र वचनों में कहा गया है। इसका स्पष्ट प्रतिपादन शतपथ ब्राह्मण १४।४।२।२६ के निम्न वचन में है—

यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मेव वदतीति।
धर्मे वा वदन्तं सत्यं वदतीति ॥

(शत० १४।४।२।२६)

अर्थात् जो धर्म है वही सत्य है, इसलिए सत्य बोलनेवाले को कहते हैं कि वह धर्म कहता है और धर्म की बात कहनेवाले को लोग कहते हैं कि वह सत्य बोलता है। इसलिए अथर्व १२।१।८ में भूमि के विषय में जो कहा है कि—

यस्या हृदयं परमे व्यो॒मन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥

(अथर्व० १२।१।८)

जिस भूमि का अमृत हृदय सत्य से आवृत है, वह भूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में तेज दीप्ति और बल को धारण करावे। यहाँ भी सत्य को धर्म का ही समानार्थक समझना चाहिए जैसे कि शतपथ ब्राह्मण के पूर्वोद्धृत वचन में स्पष्टतया बतलाया गया है।

वैशेषिक शास्त्रकार कणादमुनि ने १।१।२ में धर्म का निम्नलिखित लक्षण किया है जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है—

यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥ (वैशे० १।१।२)

जिससे अभ्युदय–ऐहलौकिक उन्नति और निःश्रेयस मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है। इस लक्षण द्वारा वे सब बातें जिनसे इस लोक में उन्नति होती है, साथ ही आत्मिक शान्ति, आनन्द और मोक्ष की प्राप्ति होती है धर्म के अन्तर्गत होती है। यह धर्म का कितना उदात्त, सर्वसंग्राहक और सार्वभौम लक्षण है।

इस उदात्त लक्षण का आधार वेद मन्त्र

हमारा यह निश्चित विश्वास है कि कणाद मुनि ने वैशेषिक शास्त्र में धर्म का यह जो लक्षण किया है, यह अपनी कल्पना से नहीं, अपितु इसका आधार

मुख्यतया निम्नलिखित २ मन्त्रों पर है—

पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम्।
कामान्त्समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः॥

(साम० १३०१)

पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम्।
पुण्याँश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति॥

(साम० १३०३)

यहाँ पवमान–सबको पवित्र करनेवाले परमेश्वर की दी हुई ऋचाओं को पावमानी के नाम से पुकारते हुए कहा गया है (पावमानीः) पवमान परमेश्वर की दी हुई ये ऋचाएँ या वाणियाँ (नः) हमें (इमं लोकम्) इस लोक का (अथो अमुम्) और उस पार मोक्ष को (दधन्तु) धारण करायें। ये (देवीः) सारे ज्ञान को प्रकाशित करनेवाली और इस प्रकार सुख देनेवाली (देवी) दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा–निरुक्ते। ये ऋचाएँ (नः कामान् समर्धयन्तु) हमारी कामनाओं को पूर्ण करें।

(पावमानीः स्वस्त्ययनी) पवित्र करनेवाली परमेश्वर द्वारा उपदिष्ट ये ऋचाएँ 'सुख का ज्ञान कराने, उसकी ओर ले जानेवाली और उसे प्राप्त करानेवाली है। (अय–गतौ गतेस्त्रयोअर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च ताभिः नान्दनं गच्छति) उनसे मनुष्य सब प्रकार की भौतिक और आत्मिक समृद्धि को प्राप्त करता है। (टुनदि–समृद्धौ) (पुण्यान् च भक्षान् भक्षयति) इनके ज्ञान तथा तदनुसार आचरण द्वारा मनुष्य पुण्य भोगों को भोगता है। लौकिक सुख समृद्धि को प्राप्त करता है। (अमृतत्वं च गच्छति) और शरीर के अवसान के पश्चात्, अमृतत्व मुक्ति या परमानन्द को प्राप्त कर लेता है।

हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मन्त्रों में प्रयुक्त 'दधन्तु इमं लोकमयो अमुम्' तथा 'पुण्याँश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति' को शास्त्रकार कणादमुनि ने 'यतोअभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इन शब्दों के रूप में रख दिया है जिनका अर्थ सर्वथा समान है।

मीमांसा दर्शनकार कृत धर्म लक्षण

मीमांसा शास्त्रकार जैमिनि मुनि ने धर्म का निम्न लक्षण किया है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। (मीमांसा १।२।३)

अर्थात् धर्म वह है जिसके लिये वेद की प्रेरणा व आदेश है। इस लक्षण से यद्यपि अन्य मतावलम्बी सहमत न होंगे, तथापि आस्तिक इस लक्षण को यथार्थ समझते हैं क्योंकि जैसे इस ग्रन्थ में हमने दिखाने का यत्न किया है और आगे भी

प्रकरणानुसार किया जाएगा, वेदों की शिक्षाएँ सार्वभौम और सार्वकालिक है, वे किसी देश विशेष व वर्ग-सम्प्रदाय विशेष के लिये नहीं है। साथ ही वेद ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण सब के लिए मार्ग दर्शक है, अतः उनके आदेश सर्वथा भ्रान्ति रहित, निष्पक्षपात और सबके लिये उपादेय हैं। इस पर आगे भी हम प्रकाश डालेंगे।

मनु महाराज कृत धर्म लक्षण—

मानव धर्म शास्त्र के निर्माता मनु महाराज ने धर्म का लक्षण २, ३ स्थानों पर किया है।

मनुस्मृति में २।१ में कहा है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

(मनु० २।१)

सदा राग और द्वेष से रहित विद्वान् सज्जनों द्वारा जो सेवित है और जिस की हृदय द्वारा अनुमति प्राप्त होती है—उसको धर्म जानो।

यह भी धर्म का पर्याप्त उदात्त लक्षण है।

मनुस्मृति अ० ६ में मनु महाराज ने धर्म के १० लक्षण इस प्रकार बताये हैं और उनका सेवन सब वर्णाश्रम के लोगों के लिए आवश्यक बताया है—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

(मनु० ६।९१-९२)

अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास इन चारों आश्रमों के सब लोगों को दस लक्षणोंवाले इस धर्म का प्रयत्न पूर्वक सेवन करना चाहिए। ये १० लक्षण धर्म के निमलिखित हैं—

१. धृति-सदा धैर्य रखना, २. क्षमा, ३. दमः-मन को सदा अपने वश में रखना और अधर्म की ओर उसको कभी जाने भी न देना, ४. अस्तेयम्-चोरी का सर्वथा त्याग अर्थात् बिना आज्ञा व छल, कपट, विश्वासघात व किसी अनुचित व्यवहार व वेद विरुद्ध उपदेश से पर पदार्थ का ग्रहण करना चोरी कहाती है, अतः उसको बिल्कुल छोड़कर सत्य निष्ठता से व्यवहार करना, ५. शौचम्-राग-द्वेष पक्षपात छोड़ के भीतर और मृत्तिका मार्जन, स्नान आदि से बाहिर की पवित्रता रखनी, ६. इन्द्रिय-निग्रहः-इन्द्रियों को अधर्म आचरण से रोकना और धर्म में ही सदा चलाना, ७. धीः-मादक द्रव्य, बुद्धिनाशक पदार्थ, दुष्टों का संग, आलस्य,

प्रमाद आदि को छोड़ के श्रेष्ठ पदार्थ सेवन, सत्संग, योगाभ्यासादि से बुद्धि को बढ़ाना, ८. विद्या–पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना और उनसे यथा योग्य उपकार करना, ९. सत्यम्–जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना, इस प्रकार मन, वचन और कर्म से सत्य के व्रत का पालन करना, १०. अक्रोधः–क्रोध न करके शान्ति आदि गुणों को ग्रहण करना। ये धर्म के दस लक्षण हैं। इस दस लक्षण युक्त, पक्षपात रहित, न्यायाचरण धर्म का सेवन चारों आश्रमवालों अथवा सब नर–नारियों को करना चाहिए। इनके अतिरिक्त वेदों में यज्ञ के लिये प्रथम धर्म शब्द का निम्न मन्त्र में प्रयोग आया है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

(यजु० ३१।१६; अथर्व० ७।५।१)

इस मन्त्र में जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण दो बार ऋग्वेद और एक–एक बार यजुर्वेद और अथर्ववेद में आया है—यह बताया गया है कि (देवाः) सत्यनिष्ठ विद्वान् (यज्ञेन) यज्ञ के द्वारा (यज्ञम्) यजनीयपूजनीय विष्णु–सर्वव्यापक परमेश्वर को (यज्ञं वै विष्णुः कौषी० ४।१, १८।८; ताण्ड्य ९।६।१०; शत० १।१।२।१३; गो० उ० ४।६; तैत्ति० १।२।५।१) (अयजन्त) पूजते हैं (तानि प्रथमानि धर्माणि आसन्) वे यज्ञ के अन्तर्गत देवपूजा, संगतिकरण और दान (यज–देवपूजा संगति करण दानेषु) प्रथम–सर्वोत्तम धर्म है। (ते महिमानः नाकं ह सचन्त) वे यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाले महात्मा दुःखरहित परमानन्द मय मोक्ष को प्राप्त करते हैं। (यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति) जहाँ पूर्ण अनुभवी साधना करनेवाले योगी विचरते हैं। इस मन्त्र के प्रथम चरण में "यज्ञेन" इस तृतीया एक वचन का प्रयोग करके "तानि धर्माणि प्रथमानि" यह जो बहुवचनान्त प्रयोग है, वह व्यर्थ नहीं है। इस यज्ञ शब्द में देव पूजा–देवाधिदेव परमेश्वर और सत्यनिष्ठ विद्वानों की पूजा व सत्कार, संगतिकरण, सब में परस्पर प्रेम भाव स्थापित करना, मिलकर लोक हित चिन्तन और दान–देश काल पात्र का विचार करके उत्तम विद्वानों और संस्थाओं की सहायता—इन तीन कर्त्तव्यों का समावेश होता है जिनका अपने से उच्च स्थिति–समान स्थिति और किसी भी दृष्टि से हीन व सहायता पात्र स्थिति से सम्बन्ध है। इस त्रिविध कर्त्तव्य के पालन करने में सहायक होने के कारण यज्ञ को श्रेष्ठ धर्म और दुःखरहित मोक्ष का साधक बतलाया गया है।

धर्म का प्रयोग प्राकृतिक और नैतिक अचल नियमों के अर्थ में

धर्म शब्द का प्रयोग वेदों में अनेक स्थानों पर परमेश्वर की अध्यक्षता में प्राकृतिक और नैतिक जगत् में कार्य करनेवाले अचल नियमों के लिए पाया जाता

है। जैसे कि ऋग्वेद ६।७०।१ में कहा गया है—

द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥

(ऋ० ६।७०।१)

अर्थात् बहुत बल व तेज से युक्त द्युलोक और पृथ्वी लोक (वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते) वरणीय, सर्वोत्तम परमेश्वर के धर्म–धारक सामर्थ्य तथा उसके अचल सर्वधारक नियमों के द्वारा थामे हुए हैं।

इस प्रकार के अचल नियमों का बनानेवाला सर्वज्ञ परमेश्वर है। अतः उसको वेदों में "धर्मकृत्" इस नाम से भी कहा गया है तथा ऋग्वेद ८।९८।१ में देखिये—

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥

(ऋ० ८।९८।१)

(बृहते) महान् (विप्राय) शान्ति और आनन्द से सबको विशेष रूप से पूर्ण कर देनेवाले (धर्मकृते) संसार के धारक प्राकृतिक और नैतिक नियमों के कर्ता (विपश्चिते) सर्वज्ञ (पनस्यवे) स्तुति करने योग्य (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त प्रभु के लिए (बृहत् साम गायत) बृहत् साम का गान करो।

क्योंकि इन प्राकृतिक और नैतिक जगत् में काम करनेवाले अचल नियमों का प्रतिपादन ब्रह्म–वेद में पाया जाता है और उस वेद ज्ञान का दाता भी करुणामय परमेश्वर है, अतः सामवेद ३८८ और १०२५ में जहाँ यह मन्त्र शेष सारे का सारा ऋग्वेद के ही तुल्य है, वहाँ "बृह्मकृते" यह पाठ "धर्मकृते" के स्थान पर आया है। इससे यह महत्त्वपूर्ण बात सूचित होती है कि जो परमेश्वर जगत् के धारक अचल नियमों का निर्माता है, वही उनके प्रतिपादक वेदों का भी कर्ता है, फिर उनमें विरोध हो ही कैसे सकता है। इस बात को वैदिक धर्म की दृष्टि से धर्म और विज्ञान के सम्बन्ध को समझने के लिए कभी न भूलना चाहिए। जैसे कि इसी अध्याय में हम आगे संक्षेप से दिखायेंगे, वेद न केवल धर्म के मूल स्रोत हैं, अपितु वही विज्ञान के भी मूल हैं, तब वैदिक धर्म और विज्ञान के विरोध का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है।

यह धर्म और विज्ञान का पूर्ण सामञ्जस्य और समन्वय वैदिक धर्म की बड़ी भारी विशेषता है जिसको अनेक निष्पक्षपात पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। इनमें से कुछ वचन हम तुलनात्मक दृष्टि से इस प्रसंग में देना उचित समझते हैं जिस से हमारे ऊपर किसी प्रकार के पक्षपात का आरोप लगाने का किसी को दुःस्साहस न हो।

१. इंग्लैण्ड के मि० ब्राऊन की स्पष्टोक्ति

"Vedic Religion is a thoroughly Scientific Religion where religion

and Science meet hand in hand. Here theology is based upon Science and Philosophy. It (Vedic Religion) recognises but one God."

(W.D. Brown in "Superiority of Vedic Religion")

अर्थात् वैदिक धर्म एक पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है जहाँ धर्म और विज्ञान हाथ में हाथ मिलाकर चलते हैं। यहाँ धार्मिक सिद्धान्त विज्ञान और फिलासफी (तत्त्वज्ञान) पर अवलम्बित है। यह धर्म केवल एक ईश्वर की पूजा स्वीकार करता और सिखाता है।

२. जैकोलियट् नामक फ्रैंच मनीषी का वक्तव्य

जैकोलियट् नामक फ्राँस देशीय विद्वान् ने (जो चन्द्र नगर—उस समय फ्रैंच राज्यान्तर्गत भारतीय प्रदेश) में अनेक वर्षों तक मुख्य न्यायाधीश (चीफ जस्टिस रहे थे) अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "The Bible in India" में ईश्वरीय ज्ञान माने जानेवाले विविध मत-मतान्तरों के ग्रन्थों का वेदों के साथ सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में तुलनात्मक विवेचन करते हुए बड़े आश्चर्य के साथ लिखा—

"The Hindu Revelation (Veda) is of all Revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern Science, as it proclaims the slow and gradual formation of the world".

(The Bible in India by Jacolliot Vol. II. Chap. I)

हिन्दुओं का ईश्वरीय ज्ञान 'वेद' ही जो लोकों की मन्द और क्रमिक रचना बतलाता है, सब ईश्वरीय ज्ञानों में एक ऐसा है जिसकी कल्पनाएँ आधुनिक विज्ञान के साथ पूर्ण रूप से मिलती हैं। भारत में बाइबिल जैको लियट् कृत Bible in India पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भाग-२, पृ० २४६।

३. अमेरिकन महिला के उद्‌गार

अमरीका की विदुषी महिला मिसेज व्हीलर विल्कौक्स (Mrs. Wheeler Wilcox) ने इस विषय में जो लिखा है, उसका भी उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। उस विदुषी देवी ने लिखा—

"We have all heard and read about the ancient religion of India. It is the land of the great Vedas-the most remarkable works containing not only religious ideas for a perfect life, but also facts which all science have since proved to be true. Electricity, radium, electrons, airships, all seems to be known to the seers who found the Vedas". (Mother America)

अर्थात् हमने प्राचीन भारत के धर्म के विषय में सुना और पढ़ा है। यह उन महान् वेदों की भूमि है जो अत्यन्त अद्भुत है, जिनमें न केवल पूर्ण जीवन के लिए

उपयोगी धार्मिक तत्त्व बताये गये हैं, बल्कि उन तथ्यों का भी प्रतिपादन किया गया है जिन्हें समस्त विज्ञान ने सत्य प्रमाणित किया है। बिजली, रैडियम, एलैक्ट्रोन्स, विमान और हवाई जहाज आदि सब चीजें वेदों के दृष्टा ऋषियों को ज्ञात प्रतीत होती हैं।

प्रो० मैक्समूलर की दो महत्त्वपूर्ण उक्तियाँ

जर्मन विद्वान् प्रो० मैक्समूलर का नाम प्राच्य विद्याविशारद् पाश्चात्त्यों में अपने समय के शिरोमणि विद्वानों में गिना जाता है। उन्होंने अपनी Biographical Essays (जीवन चरित्रात्मक प्रस्ताव) नामक पुस्तक में स्वामी दयानन्दजी सरस्वती के विषय में लिखा—

"To Swami Dayananda, everything contained in the Vedas was not only perfect truth, but he went one step further and by their interpretation succeeded in persuading others that everything worth knowing, even the most recent inventions of modern science, were alluded to in the Vedas-steam engine, electricity, telegraphy and wireless microgram were shown to have been known at least in the germs to the poets of the Vedas".

(Biographical Essays by Prof. Max Muller)

अर्थात् स्वामी दयानन्द के लिये वेदोक्त प्रत्येक बात न केवल पूर्ण सत्य थी, बल्कि वे एक कदम और आगे गये और अपन भाष्य से औरों को यह समझाने में सफल हुए कि प्रत्येक वस्तु, जो जानने योग्य है, यहाँ तक कि वर्तमान विज्ञान के नवीनतम आविष्कार–स्टीमएंजिन, बिजली, टेलिग्राफी, बेतार की तार आदि–कम से कम बीज रूप में वैदिक ऋषियों को ज्ञात थे।

इस वक्तव्य में यद्यपि प्रो० मैक्समूलर ने अपना कोई विचार प्रकट नहीं किया तथापि उनके एक और वक्तव्य से प्रतीत होता है कि वे स्वयं भी स्वामी दयानन्दजी के वेद भाष्य और वेद विषयक इस मन्तव्य से पर्याप्त प्रभावित हुए थे। उन्होंने लिखा—

"The distinguishing feature of Hinduism, however, is that it is a thoroughly scientific religion, religion and science went hand in hand in ancient India. The Religious tenets of other nations have been proved and are admitted by men of culture and thought, to be in conflict with the teaching of Modern Science. In India, however, theology is founded upon philosophy and science."

(Prof. Max Muller quoted here from "The India of Old" compiled

by Umrao Lal, Published by Hari Krishna astayalaya 66 Latouche Rd., Lucknow P. 40)

अर्थात् हिन्दू धर्म की विशेषता यह है कि यह एक पूर्ण तथा वैज्ञानिक धर्म है। प्राचीन भारत में धर्म और विज्ञान हाथ में हाथ मिलाकर चलते थे। अन्य जातियों के धार्मिक मन्तव्य वर्तमान विज्ञान की शिक्षा के विरुद्ध हैं—इस बात को सिद्ध किया जा चुका है। और सुसंस्कृत विचारशील व्यक्ति इस बात को स्वीकार करते हैं। किन्तु भारत में धर्म विज्ञान, फिलासफ़ी 'तत्त्वज्ञान' और साइंस 'विज्ञान' पर आधारित है।

प्रो० मैक्समूलर जैसे एक श्रद्धालु ईसाई के ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और ये हिन्दू धर्म के केवल उसी रूप पर लागू हो सकते हैं जिसका आधार वेदों पर है। प्रो० मैक्समूलर के इन शब्दों की पूर्वोद्धृत मि० ब्राऊन के शब्दों के साथ तुलना आश्चर्यजनक है। मि० ब्राउन ने बुद्धिमत्तापूर्वक "Vedic Religion" ''वैदिक धर्म'' शब्द का प्रयोग किया था और लिखा था कि—

Vedic religion is a thoroughly scientific religion.

अर्थात् वैदिक धर्म पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है।

ईसाई मत की अनेक बातों का विज्ञान से विरोध—

श्री जैकोलियट् और प्रो० मैक्समूलर ने मत-मतान्तरों की सृष्ट्युत्पत्ति आदि विषयक अनेक बातों का विज्ञान से जो विरोध प्रदर्शित किया है, उसका कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण इस प्रसंग में अनुचित न होगा ताकि वैदिक धर्म की एतद्विषयक विशेषता का स्पष्ट बोध हो सके।

जैकोलियट् ने The Bible in India में जो यह बात लिखी है कि ईश्वरीय ज्ञान माने जानेवाले ग्रन्थों के केवल हिन्दुओं का धर्म ग्रन्थ (वेद) ही है जिसके विचार वर्तमान विज्ञान से मेल खाते हैं, यह वस्तुत: सत्य है। प्रधानतया सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में मत-मतान्तरों के ग्रन्थों का विचार करते हुए जैकोलियट् ने बड़े आश्चर्य के साथ इस बात को लिखा। बाइबल की Genesis (उत्पत्ति पुस्तक) नामक पुस्तक में जो सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन है वह विज्ञान और तत्त्वज्ञान के विरुद्ध है। इस बात को निष्पक्षपात भाव से विचार करनेवाले प्राय: सभी विारकों ने स्वीकार किया है।

Genesis के प्रथम अध्याय के अनुसार ईश्वर ने कहा—

"God said, let there be light and there was light". (Genesis 1, 3

भारत लंका बाइबल समिति द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवाद में इसका अनुवाद इन शब्दों में है—

तब परमेश्वर ने कहा उजियाला हो, तो उजियाला हो गया। यह बात ध्यान में

रखने योग्य है कि बाइबिल के अनुसार प्रकाश पहले दिन उत्पन्न किया गया जबकि सूर्य–चन्द्र की उत्पत्ति चतुर्थ दिन हुई। Genesis के शब्द ये हैं—

1.4. And God saw the light, that it was good,
and God divided the light from the darkness,
1.5. And God called the light Day and the darkness
He called night. And the evening and the morning were the first day.

1.14. And God said, let there be lights in the firmament of the heaven to divide the day from the night, and let them be signs, for seasons, and for days and years.

1.16. And God made two great lights; the greater light to rule the day and the lesser light to rule the night; He made the stars also.

1.17. And God set them in the firmament of the heaven to give light upon the earth.

1.19. And the evening and the morning were the fourth day.

(Genesis Chap. I)

इसका भारत लंका बाइबल समिति द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

उत्पत्ति

१.४. और परमेश्वर ने प्रकाश को देखा, यह कि यह अच्छा था और परमेश्वर ने अन्धियारे को प्रकाश में परिवर्तित कर दिया।

१.५. और परमेश्वर ने उजियाले को दिन और अन्धियारे को रात कहा तथा साँझ हुई फिर भोर हुआ। इस प्रकार पहला दिन हो गया।

१.१४. फिर परमेश्वर ने कहा, दिन को रात से अलग करने के लिए आकाश के अन्तर में दो ज्योतियाँ हों, और वे चिह्नों और नियत समयों और दिनों और वर्षों के कारण हों।

१.१६ तब परमेश्वर ने दो बड़ी ज्योतियाँ बनाई, उनमें से बड़ी ज्योति को दिन पर प्रभुता करने के लिए और छोटी ज्योति को रात पर प्रभुता करने के लिए बनाया और तारागण को भी बनाया।

१.१७. परमेश्वर ने उनको आकाश के अन्तर में इसलिए रखा कि वे पृथ्वी पर प्रकाश दें।

१.१९ तथा साँझ हुई फिर भोर हुआ। इस प्रकार चौथा दिन हो गया।

(उत्पत्ति पुस्तक पृ० १)

इस प्रकार सूर्य–चन्द्र की उत्पत्ति चतुर्थ दिन और प्रकाश की उत्पत्ति पहले दिन की बात कितनी असंगत है। इसका सुप्रसिद्ध मनीषी तालस्ताय ने अपनी पुस्तक What is Religion (धर्म क्या है) में जिक्र किया है—

"Not to speak of all the absurdities of the old Testament such as the creation of the light before the sun, the creation of the world six thousand years ago........."

(Whast is Religion by Leo Tolstoy Tagore & Co. Madras P. 180)

इत्यादि शब्दों में किया है। इनको हम श्रद्धा और तर्क के समन्वय की समस्यावाले अध्याय १२ में उद्धृत कर चुके हैं। प्रकाश की सूर्य से पूर्व उत्पत्ति, सृष्टि की केवल ६००० वर्ष पूर्व उत्पत्ति आदि को उन्होंने बाइबल के पुराने वसीयत नामे की असंगत बातों में गिनाया है। Genesis के अध्याय द्वितीय के अनुसार ६ दिन में परमेश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की और ७वें दिन उसने आराम किया जैसे कि वहाँ लिखा है—

"And on the seventh day, God ended His work which he had made, and He rested on the Seventh day from all His work which he had made". (Genesis Chap. II.II)

अर्थात् ७वें दिन परमेश्वर ने अपने काम को समाप्त किया और फिर उस दिन सारे काम से आराम लिया। सृष्टि को ६००० वर्ष के लगभग मानना विज्ञान विरुद्ध है। इसको हम आगे इसी अध्याय में संक्षेप से दिखायेंगे। सृष्ट्युत्पत्ति के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों और अन्य विचारशील सज्जनों को जिस बात पर सबसे अधिक आपत्ति है, वह यह है कि बाइबिल के अनुसार अभाव से भाव हो गया। वैदिक धर्म के अनुसार सृष्टि अभाव से नहीं होती अपितु उसका उपादानकारण (Material Cause) नित्य प्रकृति है। इसको वेदों में सत्, आपः, अदिति, स्वधा, सलिलम्, अजा आदि अनेक नामों से कहा गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७२वें और १२९वें सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन आया है। अन्य भी अनेक सूक्तों में इस विषय का प्रतिपादन है जिनमें प्रकृति (अदिति, स्वधा, असत्, सलिलम्, अवि आदि पदवाच्य) को जगत् का उपादानकारण और परमेश्वर को निमित्तकारण (Efficient cause) बताया गया है। ऋग्वेद १०।७२।२ में कहा है—

ब्रह्म॑ण॒स्पति॑रे॒ता सं क॒र्मार॑ इवाधमत्। दे॒वानां॒ पूर्व्ये॑ यु॒गेऽस॑तः॒ सद॑जायत॥

(ऋ० १०।७२।२)

(देवानाम्) देवों के (पूर्व्ये युगे) आदि सर्ग काल में (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्माण्ड और वेद के स्वामी परमात्मा ने (एता) इन सब पदार्थों की उसी प्रकार (अजायत)

रचना की (कर्मारः इव) जिस प्रकार कोई शिल्पी वस्तुओं को बनाता है। उस समय सब जगत् (असतः) अव्यक्त अवस्था से (सत्) व्यक्त अवस्था में (अजायत) आ जाता है। अव्यक्त प्रकृति से सत्-व्यक्त जगत् हो जाता है।

ऋग्वेद १०।७२।३ में कहा है—

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत। तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥

(ऋ० १०।७२।३)

(वेदानां प्रथमे युगे) जब देवों के आदि सर्ग काल में सम्पूर्ण जगत् (असतः) अव्यक्त अवस्था अर्थात् प्रकृति की साम्यावस्था से (सत्) व्यक्त अवस्था अर्थात् कार्यरूप विषम अवस्था में (अजायत) आ जाता है (तदा) तब (आशाः) दिशाएँ (अनुअजायन्त) चारों ओर स्पष्ट प्रतीत होने लगती हैं। (तत्परि) और उसके अनन्तर संसार में (उत्तानपदः) वानस्पत्य प्राणी का प्रादुर्भाव होता है।

ऋग्वेद १०।७२।४ में कहा है—

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥

(ऋ० १०।७२।४)

(भूः उत्तानपदः जज्ञे) पृथ्वी वनस्पतियों को प्रकट करती है। (भुवः) पृथ्वी से (आशा) दिशाएँ (अजायन्त) सब ओर को स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। (उपरि) इस प्रकार (अदितेः) अचेतन प्रकृति से (दक्षः) चेतन अन्य देहधारी प्राणी तथा (दक्षात्) चेतन से (अदितिः) अचेतन (अजायत) प्रकाश में आते हैं।

इस चतुर्थ ऋचा में अन्य प्राणी जगत् की रचना का संकेत करते हुए चेतन और अचेतन के सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। वहाँ बताया है कि जब पृथ्वी पर प्राणियों की सृष्टि हो जाती है और पृथिव्यादि लोकों के आधार पर सब दिशाएँ प्रकट हो जाती हैं, तब हम इस बात को अच्छी तरह समझ पाते हैं कि किस प्रकार चेतन से अचेतन और अचेतन से चेतन प्रकाश में आते हैं। चेतन और अचेतन दोनों प्रकार की सत्ता सदा स्वतन्त्र रूप में विद्यमान रहती है, परन्तु प्रलयावस्था में किसी प्रकार का व्यवहार न होने के कारण इनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उस समय ये अप्रकाशित या अव्यवहार्य अवस्था में हैं। वस्तु स्थिति यह है कि अचेतन अर्थात् जड़ प्रकृति, कार्य जगत् के उपादान कारण रूप से प्रयोग में आती है। चेतन वर्ग में से सर्वशक्तिमान् परमात्मा चेतन, जगत् के सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि करनेवाला है। चेतन वर्ग में से जीव चेतन एक ऐसा वर्ग है जो प्रकृति में डूबता, उतरता, सदा इसको भोगता है। यह सब व्यवहार सर्ग काल में सम्भव है, भले ही चेतन अपनी सत्ता के कारण सदा प्रकाशमय हो। इसलिए जीव चेतन अपना प्रत्येक कार्य, प्रकृति के साथ सम्पर्क में आने पर कर सकता है। इसी

स्थिति में यह परमात्मा चेतन को समझता तथा प्राप्त करता है। ऐसी दशा में यह कथन सर्वथा सामञ्जस्य पूर्ण है कि अचेतन के द्वारा चेतन प्रकाश में आता है। इसी प्रकार अचेतन प्रकृति स्वयं अपनी सत्ता से कुछ कर नहीं सकती। चेतन की प्रेरणा के बिना उसमें कोई क्रिया व क्षोभ असम्भव है तथा चेतन भोक्ता के बिना उसका अस्तित्व और सर्ग, सब व्यर्थ है। इसलिए यह कथन भी सर्वथा सामञ्जस्य पूर्ण और यथार्थ है कि चेतन के द्वारा अचेतन प्रकाश में आता है। इसी भाव को इस चतुर्थ ऋचा में इन शब्दों के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि—

अदि॑ते॒र्दक्षो॑ अजायत॒ दक्षा॒द्वदि॑ति॒ः परि॑॥

मन्त्र में अदिति पद प्रकृति का बोधक है। निघं० ४।१ की व्याख्या में देवराज यज्वा लिखता है—"अदितिः–आत्मपक्षे प्रकृतिः" निरुक्त ४। २२।२३ की व्याख्या करते हुए स्कन्दस्वामी ने लिखा है—

अदितिः–अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः तथा अध्यात्ममपि।
अदितिः प्रकृतिः कारणं ब्रह्म ॥

(स्कन्दस्वामिकृत निरुक्त भाष्ये)

यजुर्वेद २९।६० में "अदित्ये विष्णुपत्न्ये" ये शब्द आये हैं। यहाँ अदिति का विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा की पत्नी के रूप में उल्लेख किया गया है जो अदिति के प्रकृति वाचक होने को ही सिद्ध करता है। अदिति को सर्वरूपा बताना भी उसके प्रकृति होने का साधक है। ऐतरेय आरण्यक ३।१।६ में कहा है—

"अदितिहदि सर्वं यदिदं किं च" (ऐतरेय आर० ३।१।६)

अर्थात् यह सब जो कुछ व्यक्त (दृश्य–अदृश्य) जगत् है यह सब अदिति है—यह सब अदिति–प्रकृति का विकार है। प्रकृति को अदिति इसलिए कहा जाता है कि 'अद्यते भुज्यत इत्यदितिः अद्–भक्षणे' जो भोगी जाती है। इस प्रकार वेदों के अनुसार अभाव से भाव नहीं होता बल्कि भाव रूप सूक्ष्म प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति विशेष क्रम से होती है जिसका निर्देश ऋग्वेद के इसी सूक्त के

अ॒ष्टौ पु॒त्रासो॒ अदि॑ते॒र्ये जा॒तास्त॒न्व१॒स्परि॑।
दे॒वाँ उप॒ प्रैत्स॒प्तभिः॒ परा॑ मार्ता॒ण्डमा॑स्यत्॥

(ऋ० १०।७२।८)

इस अष्टम मन्त्र में किया गया है और उसी के अनुसार सांख्य शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है। इस मन्त्र का शब्दार्थ है कि (अदितेः) अदिति–प्रकृति के (तन्वःपरि) अपने शरीर से (ये) जो सात पुत्रों बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्र रूप पुत्रों से वह (देवान्) दिव्य चेतन सत्ताओं को (उप प्रैत) प्राप्त होती है अर्थात् दिव्य चेतन सत्ताओं के साथ सम्बद्ध होती है और (मार्ताण्डम्) शेष अष्टम पुत्र

रूप–सम्पूर्ण महान् तथा अनन्त नाशवान् गोलों को (परा आस्यत्) दूर तक फेंक कर फैला देती है। इस वर्णन के द्वारा हम देखते हैं कि अदिति–प्रकृति के प्रथम सात पुत्र–बुद्धि, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र सूक्ष्म तथा अदृश्य रूप में रहते हैं और वे जीव–चेतन के साथ सदा सम्बद्ध रहते हैं। इन तत्त्वों के द्वारा बने हुए सूक्ष्म शरीर में जीवात्मा का निवास है और उसी स्थिति में वह जन्म–मरण आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता तथा सर्वत्र संचरण करता है। इनके अतिरिक्त अदिति (प्रकृति) का आठवाँ पुत्र ऐसा है जिसको उसने दूर–दूर तक फेंका या छिटकाया हुआ है। इसमें सम्पूर्ण दृश्यादृश्य जगत् का समावेश हो जाता है।

वेद में प्रकृति की उपादान कारणता का स्पष्ट प्रतिपादन

अथर्ववेद के १०।८।३० में प्रकृति का स्पष्ट प्रतिपादन है—

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
मही देव्यु१षसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे॥

(अथर्व० १०।८।३०)

(एषा) यह (सनत्नी) सद् सनातन–सदा रहनेवाली नित्य प्रकृति (सनम् एव) सदा ही (जाता) प्रसिद्ध है, विद्यमान है, अथवा कार्य उत्पन्न करती रहती है। (एषा पुराणी) यह पुरानी होती हुई भी नित्य नये रूप को धारण करनेवाली प्रकृति (सर्वम्) सब कार्यों में (परिबभूव) पूर्णतया रहती है। यह (मही) बड़ी तथा (देवी) कान्तिमयी है तथा (उषसः) कमनीय पदार्थों को (विभाती) विशेष रूप से प्रकाशित करनेवाली है। (सा) वह प्रकृति (एकेन एकेन) प्रत्येक (मिषता) गतिशील जीव के साथ (विचष्टे) अपना स्वरूप प्रकट कर रही है। इस मन्त्र में प्रकृति को नित्य कार्य रूप में परिणत होनेवाली तथा सब कार्यों का उपादान कारण बताया गया है। अथर्व १०।८।३१ में प्रकृति को अवि के नाम से पुकारते हुए बताया गया है कि—

अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥

(अ० १०।८।३१)

(वै) निश्चय से (अविः नाम) अवि–प्रकृति नामक एक (देवता) दिव्य गुणयुक्त पदार्थ है जो (ऋतेन) सत्य नियम से (परीवृता) आवृत्त (आस्ते) रहती है अर्थात् जिसमें सब परिणाम नियमानुसार होते हैं अथवा जो (ऋतेन) सर्वव्यापक परमात्मा से सब ओर अन्दर बाहर आच्छादित रहती है (तस्याः) उसी के (रूपेण) रूप से (इमे) ये (हरितस्रजः) हरी मालाओंवाले वृक्ष (हरिताः) हरे रहते हैं।

अविः–शब्द अव धातु से सिद्ध होता है जिसके अनेक अर्थों में से एक अर्थ **स्वाम्यर्थ**–स्वामी की सम्पत्ति है। सांख्यादि में पुरुष को प्रकृति का स्वामी और

प्रकृति को उसका स्व–धन–सम्पत्ति कहा गया है। इस सिद्धान्त को वेद का अविशब्द बताता है। प्रकृति के सब कार्य नियमों के अधीन है। इसका उपदेश "ऋते नास्ते परीवृता" से किया गया है। इस छोटे से वाक्य में परमेश्वर का प्रकृति में व्यापकत्व तथा संसार का नियम युक्त होना बताया गया है। वृक्ष से तात्पर्य प्राणी मात्र के शरीर है। ये सब शरीर प्राकृतिक हैं, अतः प्रकृति जन्य पदार्थों से ही इनका भरण–पोषण हो सकता है।

यह प्रकृति की नित्यता का वेद प्रतिपादित सिद्धान्त वर्तमान विज्ञान के Indestreectibility of Matter (प्रकृति की अविनाश्यता) के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। साथ ही वेद मन्त्र में जो यह कहा गया है प्रकृति ऋत वा, सत्य नियमों से आच्छादित है, यह भी विज्ञान के सर्वथा अनुकूल है। इन्हीं प्रकृति के नियमों का पता लगाना भौतिक विज्ञान का उद्देश्य है। इन शब्दों को पढ़ते हुए हमें सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन के उन शब्दों का पुनः स्मरण आता है जिनको हम गत अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं—

"I believe in God who reveals himself in the orderly harmony of the universe. I believe that Intelligence is manifested throughout all nature....The basis of all Scientific work is the conviction that the world is an ordered and comprehensive entity and not a thing of chance".

अर्थात् मैं उस ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता हूँ जो अपने को जगत् की व्यवस्थित समता के रूप में प्रकट कर रहा है। मैं यह विश्वास रखता हूँ कि सारी प्रकृति के अन्दर एक बुद्धिमत्ता प्रकट हो रही है। सारे वैज्ञानिक कार्य का आधार यह विश्वास ही है कि संसार एक व्यवस्था पूर्ण, सर्वांग पूर्ण सत्ता है न कि आकस्मिक घटना।

हम आगे दिखायेंगे कि ईसाई मत इत्यादि में बहुत–सी प्रकृति नियम विरुद्ध बातें हैं तथा चमत्कारादि (Miracles) का प्रतिपादन है जिनको विज्ञान कभी स्वीकार नहीं कर सकता।

वेदों में पृथ्वी को गोल और भ्रमणशील माना गया है—

वेदों के अनेक मन्त्रों में पृथ्वी के गोल और सूर्य के चारों ओर भ्रमण करने का प्रतिपादन है। इनमें से निम्नलिखित दो का ही उल्लेख यहाँ पर्याप्त होगा।

ऋग्वेद १०।१८९।१; यजु० ३।६ तथा अथर्व० ६।३१।१ में मन्त्र आता है—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥

(ऋ० १०।१८९।१; यजु० ३।६; अथर्व० ६।३१।१)

इस मन्त्र में गौः शब्द आया है जिसका निघण्टु में पृथ्वी के नामों में सबसे प्रथम पाठ है। इसकी निरुक्ति यास्काचार्य ने निरुक्त में "गच्छतीतिगौः" यह किया

है जिसका अर्थ गति करनेवाली है। यह आश्चर्य की बात है कि मध्यकालीन भाष्यकारों ने इस निघण्टु निरुक्त द्वारा प्रतिपादित सरलार्थ को छोड़कर इस का अर्थ इस मन्त्र में "गच्छतीतिगौः'" 'यज्ञनिष्पतये तत्तद् यजमान् गृहेषु गन्ता दृश्यमानो अग्निः' अग्नि कर दिया है यद्यपि गौ शब्द का पाठ अग्नि नामों में निघण्टु निरुक्तादि में कहीं दिखाई नहीं देता। न ब्राह्मण ग्रन्थादि में कहीं इसका समर्थक वाक्य प्रतीत होता है। अतः ऋषि दयानन्द सरस्वती ने निघण्टु निरुक्तादि के आधार पर "गौः" का पृथ्वी अर्थ लेकर मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—

पदार्थ—(आ) अभ्यर्थे (अयम्) प्रत्यक्षः (गौः) यो गच्छति स भूगोलः (गौरिति पृथ्वी नामासु पठितम्)। (निघं० १।१)

गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरं गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। (निरुक्ते २।५)

(पृश्निः) अन्तरिक्षे अत्र सुपां सुलुक्–अष्टा० ७।१।३९ इति सप्तम्येक वचने प्रथमैक वचनम्। पृश्निरिति साधारणनासु पठितम्–निघं० १।४ (अक्रमीत्) क्राम्मति (असदत्) स्वकक्षायां भ्रमति (मातरम्) स्वयो निमयः (जलनिमित्तेन पृथिव्युत्पत्तेः) (पुरः) पूर्व पूर्वम् (पितरम्) पालकम् (च) (प्रयन्) प्रकृष्टतया गच्छन् (स्वः) आदित्यम् स्वरादित्यो भवति। (निरु० २।१४)

अन्वयः—अयं गौः पृथिवी गोलः स्वः पितरं पुरः असदत् मातरम् प्रयन् पृश्निरन्तरिक्ष आक्रमीदाक्राम्यति समन्ताद् भ्रमति॥

भावार्थ—मनुष्यैर्यस्माज्जलाग्निनिमित्तयोरयं भूगोलोऽन्तरिक्षे स्वकक्षायाम् आकर्षणेन रक्षकस्य सूर्यस्याभितः प्रतिक्षणं भ्रमति तस्मादहोरात्र–शुक्ल कृष्णा पक्षर्त्वयनादयः कालविभागाः क्रमशः संभवन्तीति वेद्यम्।

भाषानुवाद—अब अग्नि के निमित्त से पृथिवी का भ्रमण होता है। इस विषय को मन्त्र में प्रकाशित किया है।

(अयम्) यह प्रत्यक्ष (गौः) गोल रूप पृथिवी (पितरम्) पालन करनेवाले (स्वः) सूर्यलोक के (पुरः) आगे (असदत्) चलती है और (मातरम्) अपनी योनि रूप जलों के साथ वर्तमान (प्रयन्) अच्छी प्रकार चलती हुई (पृश्निः) अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में (आक्रमीत्) चारों तरफ घूमती है।

भावार्थ—मनुष्यों को जानना चाहिए कि जिससे यह भूगोल–पृथिवी, जल और अग्नि के निमित्त से उत्पन्न हुई अन्तरिक्ष व अपनी कक्षा अर्थात् योनि रूप जल के सहित आकर्षण रूपी गुणों से सब की रक्षा करनेवाले सूर्य के चारों तरफ प्रतिक्षण घूमती है, इसी से दिन रात्रि शुक्ल व कृष्ण पक्ष ऋतु और समय आदि काल विभाग क्रम से सम्भव होते हैं। इस प्रकार इस मन्त्र से पृथिवी का गोल होना और सूर्य के चारों ओर भ्रमण करना स्पष्ट सिद्ध है (जिसको सब वर्तमान

वैज्ञानिक मानते हैं) यद्यपि ईसाइयों के मत ग्रन्थ बाइबल से इसका स्पष्ट विरोध है।

एक दूसरा मन्त्र, जिसको हम पृथिवी के सूर्य के चारों ओर भ्रमण के विषय में यहाँ प्रस्तुत करना चाहते हैं, निम्नलिखित हैं—

या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते॥

(ऋ० १० ।६५ ।६)

इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

(या गौः) जो भूमि (निष्कृतं वर्तनिं परिएति) ठीक प्रकार से बने मार्ग को तय करती है (पयो दुहाना व्रतनीरवारतः) जो गौ के समान ही संसार के प्राणियों के लिए पुष्टिकारक जल प्रदान करती हुई निरन्तर अन्न भी प्राप्त कराती है, वह (वरुणाय विवस्वते) सर्वश्रेष्ठ, विविध लोकों के स्वामी सूर्य के सामर्थ्य को (प्रब्रुवाणा) बतलाती हुई (देवेभ्यः) व्यवहार करनेवाले जीवों के लिए (हविषा) नाना अन्न से (दाशत्) जीवन प्रदान करती है।

अंग्रेजी में इन दोनों मन्त्रों का सार यह है कि—

"The earth moves in the heavens. It is enveloped by atmosphere just as a mother covers up her child. The sun is father of the earth, it being emanated from the sun."

The earth revolves around the sun on an orbit which is fixed.

गैलीलियो ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों पर अत्याचार—

हमने ऊपर दो मन्त्रों को अर्थ सहित उद्धृत करके यह बताया है कि वेदों के अनुसार पृथिवी गोल है और वह सूर्य की प्रदक्षिणा करती है। इसी बात को ज्योतिष के ग्रन्थ आर्य सिद्धान्त में—

प्रौणनैति कलां भूः॥ (आर्यसिद्धान्ते देश गौ० आर्या० ४)

व्याख्या—**पृथ्वी कलां कृत्वा गच्छति।**

पृथिव्याः गतिः कलात्मिका भवति॥

(क) **अनुलोमगतिर्नौः पश्यत्यचलं विलोभगं यद्वत्।**
अचलानि भानितद्वत् सपश्चिमगानि लंकायाम्॥

(आर्य सिद्धान्त गोल पादे)

(ख) **भपंजरस्थिरो भूरेवा वृत्या वृत्य प्रतिदैवसिकौ।**
उदयास्तमयौ सम्पादयति ग्रह नक्षत्राणाम्॥

(आर्य सिद्धान्त०)

(क) अर्थात् जैसे चलती हुई नाव पर बैठे मनुष्य को नाव स्थिर और किनारे के पेड़, घर आदि उल्टी दिशा में चलते हुए दिखाई पड़ते हैं, इसी तरह नक्षत्र चक्र, अचल होने पर भी घूमनेवाली पृथिवी पर चलनेवाले मनुष्यों को पश्चिम की ओर घूमता हुआ दीख पड़ता है।

(ख) सूर्यादि नक्षत्र स्थिर है, पृथिवी ही बार-बार अपनी धुरी पर घूमकर प्रति दिवस इनके उदय और अस्त का सम्पादन करती है।

किन्तु ईसाइयों के ईश्वरीय ज्ञान माने जानेवाले ग्रन्थ बाइबल में पृथिवी को स्थिर चपटी और सूर्य को उसके चारों ओर घूमनेवाला बताया गया है।

उदाहरणार्थ बाइबल के भाग जोशुआ (Joshua) अध्याय १० परिच्छेद १० में लिखा है—

10.12. Joshua said in the sight of Israil "Sun: stand thou still upon Gibeon".

10.13. "And the sun stood still and the moon stayed, untill people had avenged themselves upon their enemies".

So the sun stood still in the midst of heaven and hasted not to go down about a whole day.

Is not this written in the book of Joshua? So the sun stood still in the midst of heaven, and hasted not to go down about a whole day?

(Joshua Chap. 10)

इस का हिन्दी अनुवाद भारत लंका बाइबल समिति द्वारा प्रकाशित अनुवाद में इन शब्दों में है—

यहोशू-१०. १२. और उस समय जिस दिन यहोवा ने एमोरियों को इस्राएलियों के वश में कर दिया, उस दिन यहोशू ने यहोवा से इस्राएलियों के देखते हुए इस प्रकार कहा है—हे सूर्य! तू गिबोन पर और हे चन्द्रमा! तू अय्यालोन की तराई के ऊपर थमा रह।

१०.१३. और सूर्य उस समय तक थमा रहा और चन्द्रमा उस समय तक ठहरा रहा जब तक उस जाति के लोगों ने अपने शत्रुओं से बदला न लिया।

क्या यह बात याशार नामक पुस्तक में नहीं लिखी है कि सूर्य आकाश मण्डल के बीचों-बीच ठहरा रहा और लगभग ४ पहर तक न डूबा?

(बाइबल-धर्मशास्त्र का अनुवाद पृ० ३१९-३२०)

बाइबल के एक अन्य भाग Ecclesiastes के प्रथम अध्याय में भी इस विषय का निर्देश अनुवाद में इस प्रकार है—

1.4. "One generation passed away, and another generation

cometh; but the earth abideth for ever".

1.5. "The sun ariseth, and the sun goeth down and hasteth to his place where he rose".

इसका हिन्दी अनुवाद बाइबल के ''समोपदेशक'' शीर्षक भाग में इस प्रकार है—

१.४. ''एक पीढ़ी जाती है और दूसरी पीढ़ी आती है, परन्तु पृथ्वी सदा बनी रहती है।''

१.५. ''सूर्य उदय होकर अस्त भी होता है, और अपने उदय की दिशा को वेग से चला जाता है।'' (बाइबल–धर्मशास्त्र का हिन्दी अनुवाद पृ० ९६९)

बाइबल के इस पृथ्वी की स्थिरता और सूर्य की गति के सिद्धान्त को मानकर ईसाई गुरुओं ने गैलीलियो, ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों पर (जिन्होंने इस बात का प्रचार किया कि पृथ्वी गोल है और वह सूर्य की प्रदक्षिणा करती है, न कि सूर्य उसके चारों ओर घूमता है) जो अत्याचार किये उनका वृत्तान्त पढ़कर रोमांच हो उठता है।

गैलिलियो नामक इटालियन वैज्ञानिक को (१५६४–१६४२ ई०) इस बात का प्रचार करने और पुस्तक द्वारा प्रकट करने पर कि पृथ्वी गोल है और वह सूर्य के चारों ओर घूमती है, पोप की अध्यक्षता में (जिसे रोमन कैथोलिक ईसाई निर्भ्रान्त मानते हैं) Inquisition Court या धर्म परीक्षण समिति ने १० वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया और यह निर्णय इस सिद्धान्त के विषय में प्रकाशित किया—

"The first proposition that the sun is the centre and does not revolve about the earth, is foolish, absurd, false in theology and heretical, because expressly contrary to the Holy Scriptures".

"And the second proposition that the earth is not the centre but revolves about the sun is absurd, false in philosophy and from a theological point of view at least, opposed to the true faith".

अर्थात् यह कथन कि सूर्य केन्द्र हैं और पृथ्वी के चारों ओर नहीं घूमता, मूर्खतापूर्ण, धार्मिक सिद्धान्त विद्या की दृष्टि से असत्य, असंगत और धर्म विरुद्ध है क्योंकि यह स्पष्टतया हमारे धर्म ग्रन्थों के विरुद्ध है।

दूसरा विचार कि पृथ्वी केन्द्र नहीं प्रत्युत सूर्य के चारों ओर प्रदक्षिणा करती है असंगत, फिलासफी के दृष्टिकोण से असत्य और कम–से–कम, धार्मिक सिद्धान्त विद्या की दृष्टि से सच्चे धर्म के सर्वथा विरुद्ध है।

इटली के इस सुप्रसिद्ध और ६० वर्ष से अधिक आयु के वैज्ञानिक गैलीलियो

को १० वर्ष की कठिन सजा (Rigorous Imprisonment) दी गयी जिस के परिणामस्वरूप जेल में ही उसकी मृत्यु हो गयी। जर्मनी के सुप्रसिद्ध समाज सुधारक प्रोटेस्टेण्ट मत के प्रवर्तक मार्टिन लूथर के विषय में यह माना जाता है कि वह बड़े उदार विचारों का था और इस विचार में पर्याप्त सत्यता है। किन्तु यह पढ़कर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि उसने सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक कौपर्निकस के विषय में (जिसने इस पृथ्वी के गोल होने और सूर्य की प्रदक्षिणा करने के सिद्धान्त का १६वीं सदी में प्रचार किया) इस प्रकार के अपमानजनक शब्द बाइबल के उन वाक्यों का उल्लेख करते हुए (जिनको हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं) कहे। उसने कहा—

"This fool (Copernicus) wishes to reverse the entire science of Astronomy, but sacred scriptures tell us that God commanded the sun to stand still and not the earth". (Martin Luther)

अर्थात् यह मूर्ख सारे ज्योतिष शास्त्र को उलटना चाहता है, किन्तु हमारे पवित्र धर्मशास्त्र (बाइबिल) हमें बतलाते हैं कि परमेश्वर ने सूर्य को खड़े रहने का आदेश दिया न कि पृथ्वी को। बाइबल के इसी (विज्ञान विरुद्ध) सिद्धान्त के आधार पर ब्रूनो नामक एक–दूसरे वैज्ञानिक शिरोमणि वीर पुरुष के विरुद्ध भी इसी तरह की क्रूर कार्यवाही की गयी क्योंकि वह पृथ्वी को गोल बताता और यह सिद्ध करता था कि अनेक लोक–लोकान्तर हैं (Plurality of Worlds)। उसे १६ फरवरी सन् १६०० ई० को कई बार जेल यातनाएँ देने के पश्चात् जीवित अवस्था में ही तेल छिड़क कर जला दिया गया जिस पर उस वीर निर्भय वैज्ञानिक ने मुस्कराते हुए यह कहा कि—

"It is with greater fear that you pass sentence upon me rather than I receive it".

(See History of the Conflict between Religion and Science by Wiliam Draper, P. 160)

अर्थात् मुझे यह मृत्युदण्ड देते हुए मेरी अपेक्षा तुम्हें ही अधिक भय होगा क्योंकि तुम एक निरपराध को ऐसा कठोर दण्ड दे रहे हो जिस पर भावी संतति के विचारक तुम्हें क्या कहेंगे।

गैलीलियो और ब्रूनो के अतिरिक्त हजारों वैज्ञानिकों और तार्किकों पर भी ईसाई मताधिकारियों, विशेषत: Inquisition committee (धर्मपरीक्षण समिति) के अधिकारियों की ओर से भयंकर अत्याचार किये गये। जिस वर्ष इस धर्म परीक्षण समिति की तारिक्वमादा की अध्यक्षता में स्थापना की गयी, उसी वर्ष आंडेलूसिया में २००० व्यक्तियों को जीवित जला दिया गया, १७ हजार व्यक्तियों

पर ईसाईयत पर सन्देह के अपराध में जुर्माना किया गया या उन्हें आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया जैसे कि डॉ० विलियम ड्रेयर ने History of the Conflict between Religion and Science में लिखा है—

"In the first year of the Operation of the Inquisition in 1481, two thousand victims were burnt in Andalusia, seventeen thousand were fined or imprisoned for life." (P. 146)

लौरेण्टे नामक ऐतिहासिक ने इन्विक्जीशन कोर्ट के १८ वर्षों का इतिहास लिखते हुए बताया है कि—

"Lorente, the Historian of the Inquisition, computes that Torquemeda and his colloborators in the course of 18 years, burnt at the stake ten thousand and two hundred and twenty (10220) persons and otherwise punished 97421 persons."

(History of the Conflict between Religion and Science, P. 146)

अर्थात् तार्क्विमेदा और उसके साथियों ने १८ वर्षों में १०,२२० व्यक्तियों को जीवित जला दिया और ९७३२१ व्यक्तियों को अन्य अनेक प्रकार के दण्ड दिये। इनमें से अधिकतर व्यक्तियों को इसलिए भयंकर दण्ड दिये गये कि ये लोग तर्क या विज्ञान की दृष्टि से ईसाई मत की कई बातों पर सन्देह करते थे।

बिशप डॉ० बार्न्स का महत्त्वपूर्ण कथन—

ईसाईयत के विज्ञान से विरोध के मुख्य-मुख्य विषयों पर बर्मिघम के बिशप डॉ० बार्न्स (Dr. Barnes Bishop of Birmingharm) ने Religion and Science पर जो एक भाषण आकाशवाणी से (Broadcast Address) प्रसारित किया और जो The Religion and Science-A symposium- के पृ० ५७ पर छपा है, उसको उद्धृत करके हम आगे चलेंगे। यह उद्धरण कितना महत्त्वपूर्ण और विचारोत्तेजक है, इसे पाठक स्वयं जान सकते हैं। बिशप महोदय ने कहा—

"Now before I speak of such possibility of conflict (between Religion and Science), I wish to make it quite clear that many beliefs associated with Religious faith in the past must be abandoned. They have had to meet the direct challenge of Science and I believe, it is true to say that in every such direct battle since the Renaissance, Science has been the victor. Let me give definite instances.

1. First, the earth is not the fixed centre of the Universe, it is merely the moving satellite of a Sun which resembles innumerable other suns.

2. Secondly, man was not specially created.

3. Thirdly, no priest by ritual or formula, can attain spiritual properties to inanimate matter.

4. Fourthly, if by miracles, we mean large scale breaches in the Uniformity of Nature, such miracles do not occur in human experience. Here are four typical results of Scientific investigation at length we must accept". (Religion and Science, a Sympesium, London P. 57)

अर्थात् पूर्व इसके कि मैं धर्म और विज्ञान में संघर्ष की संभावना के विषय में कुछ कथन करूँ, मैं इस बात को सर्वथा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि भूतकाल में धार्मिक विश्वास से सम्बद्ध कई मन्तव्यों को अवश्य छोड़ ही देना चाहिए। विज्ञान ने उनको खुली चुनौती दी है और मेरा विश्वास है यह कहना सत्य है कि ऐसे प्रत्येक सीधे युद्ध में विज्ञान ही विजयी हुआ है। इसके मैं चार उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

१. पृथ्वी संसार का ध्रुव केन्द्र नहीं। यह तो अनेक सूर्यों में से एक सूर्य के चारों ओर गति करती है।

२. मनुष्य की ही विशेष रूप से रचना की गयी, यह कथन भी यथार्थ नहीं।

३. कोई पुरोहित किसी विधि, क्रियाकलाप अथवा सूत्र द्वारा जड़ प्रकृति में आध्यात्मिक गुणों का प्रवेश नहीं करा सकता।

४. यदि चमत्कारों का यह तात्पर्य है कि प्रकृति की एकरूपता में बड़ी मात्रा में अन्तर पड़ जाता है अथवा प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन हो जाता है, तो ऐसे चमत्कार मानवीय अनुभव में नहीं होते।

वैज्ञानिक अनुसंधान के ये चार स्पष्ट परिणाम हैं जिनको अन्त में प्रत्येक को अवश्य स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इनके प्रकाश में ईसाई मत के अनेक मन्तव्यों और बाइबल में वर्णित चमत्कारों में (जिनकी Holy Bible संख्या) पवित्र बाइबल के अन्त में दी सूची के अनुसार पुराने वसीयतनामे में ५८ और नये वसीयतनामे में ७० है और जिनमें ईसा मसीह की कुमारी मेरी से उत्पत्ति, अन्धों को आँखें देना, बहिरों को कान देना, मरे हुओं को जिलाना, समुद्र पर ईसा का चलना, आँधी-तूफान को शान्त कर देना, चार टुकड़ों से चार हजार का पेट भरकर भी बचे रहना, ईसा मसीह का मरकर तीन दिन बाद कब्र में से निकलना और उड़कर आकाश में जाना और अपने पिता परमेश्वर के दायें हाथ में बैठना (Resurrection and ascention) इत्यादि सम्मिलित हैं। इन विश्वासों का (जिनको सेण्टपाल के आर्च बिशप डॉ० मैन्सल और डॉ० मेजले आदि निम्न शब्दों द्वारा अनिवार्य बताते रहे हैं) परित्याग

करना होगा।

डॉ० मैन्सल ने चमत्कारों के ईसाइयत के साथ सम्बन्ध के विषय में लिखा था कि—

"If Miracles are denied, all Christianity, so far as it has any title to that name, so far as it has any special relation to Christ, is overthrown".

(Dr. Mansel in Aids to Faith P. 3)

अर्थात् यदि चमत्कारों से इन्कार किया जाय तो सारी ईसाइयत, जहाँ तक उसका ईसा मसीह से विशेष सम्बन्ध है, समाप्त हो जाती है। उसका परित्याग करना पड़ता है। डॉ० मैजले (Dr. Mazley) ने इस सम्बन्ध में यों लिखा था—

"Miracles and the Supernatural contents of Christianity must stand and fall together. Christianity can not be maintained as a Revelation undiscoverable by reason, a revelation of a supernatural scheme for man's salvation without the evidence of miracles".

(Bampton Lectures 1865)

अर्थात् चमत्कार और ईसाइयत के अभौतिक विश्वास—ये दोनों साथ रह सकते अथवा गिर सकते हैं। ईसाइयत को एक बुद्धि द्वारा अगम्य ईश्वरीय ज्ञान के रूप में अथवा मनुष्य की मुक्ति के लिए एक अभौतिक ईश्वरीय ज्ञान के रूप में चमत्कारों की साक्षिता के बिना नहीं माना जा सकता। ऐसे ही प्रकृति नियम विरुद्ध और अतएव विज्ञान विरुद्ध चमत्कारों का वर्णन इञ्जील, कुरान और अन्य मत-मतान्तरों के ग्रन्थों में है जिनका विज्ञान तर्क के साथ समन्वय असम्भव है।

वेदों में अटल नियमों पर बल

वेदों में प्रकृति नियम अथवा विज्ञान बातों का उल्लेख नहीं बल्कि परमेश्वर को सैकड़ों स्थानों पर "सत्य धर्मा" या सुधर्मा इत्यादि नामों से स्मरण किया गया है। इनका अर्थ ही यह है कि उसके धर्म व नियम सत्य और अटल हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद १।१२।७ में कहा है—

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥

(ऋ० १।१२।७)

ऋग्वेद १।२४।१० में वरुण-सर्वश्रेष्ठ वरणीय भगवान् के विषय में कहा है—

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि॥ (ऋ० १।२४।१०)

ऋग्वेद ७।३१।११ और सामवेद १७९४ में परमेश्वर के विषय में कहा है—

तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः॥ (ऋ० ७।३१।११; साम० १७९४)

यजुर्वेद ४।३० में (जिसे हम प्रसंगवश पहले भी उद्धृत कर चुके हैं) कहा है—

अदित्यास्त्वगस्यदित्यै सदऽआसीद ।
अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षमिमीत वरिमाणम्पृथिव्याः।
आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥

(यजु० ४।३०)

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्टतया बताया गया है कि उस सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वत्र विद्यमान की स्तुति करो जिसने अपनी अनन्त शक्ति से सूक्ष्म प्रकृति के द्वारा लोक–लोकान्तरों का निर्माण किया है और जिस के व्रत अथवा धर्म नियम अटल है। वह सत्य धर्मा–सत्य अटल नियमोंवाला परमात्मा है जिसने द्युलोकादि सब लोकों को बनाया है। वह सारे भुवनों का सम्राट् है।

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि॥ (ऋ० १।२४।१०)

उस वरणीय सर्वदुःख निवारक परमेश्वर के व्रत–भौतिक और नैतिक जगत् में काम करनेवाले नियम–नित्य और अटल है। धीर–धैर्ययुक्त ध्यानी ज्ञानी लोग उसके व्रतों–अटल नियमों का कभी उल्लंघन नहीं करते।

इन्हीं अटल नियमों को वेदों में ऋत के नाम से पुकारा गया है जिस का अर्थ नित्य नियम व Eternal Laws है। ऋग्वेद १।४१।४ में ऋत के अनुसार चलनेवाले के विषय में कहा है—

सुगः पन्था अनक्षर आदित्यास ऋतं यते। नात्रावखादो अस्ति वः॥

(ऋ० १।४१।४)

(ऋतं यते) परमेश्वर के बनाये अटल नियमों के अनुसार सत्य मार्ग पर चलनेवाले के लिए (सुगः) सुगम और (अनक्षरः पन्थाः) निष्कंटक मार्ग हो जाता है। (आदित्यासः) हे आदित्य–सूर्य के समान तेजस्वी विद्वानों (वः) तुम्हारे इस शुभ मार्ग में (अवखादः न) कोई भय नहीं है। जो लोग परमेश्वरीय अटल नियमों के अनुसार चलते हैं, वे ही सुखी होते हैं।

ऋग्वेद १।९१।७ में इस ऋत के विषय में कहा है—

त्वं सोम महे भगं त्वं यून ऋतायते। दक्षं दधासि जीवसे॥

(ऋ० १।९१।७)

जो ईश्वरीय नियमों का पालन करता है, वह चाहे युवक हो या वृद्ध, उसको परमेश्वर सुख और शान्ति देता है जिससे वह अपने जीवन को अच्छी तरह व्यतीत कर सके। ग्रिफिथ ने भी इसका अनुवाद इसी आशय के शब्दों में किया है जो उपादेय है—

"To him who keeps the law, whether old or young, Thou givest happiness and energy that he may live well".

न केवल यह कि विज्ञान से वेदों का कोई विरोध नहीं (जैसे कि अनेक पाश्चात्य निष्पक्षपात विद्वानों की भी साक्षी से हम दिखा चुके हैं) बल्कि धर्म की तरह विज्ञान का भी मूल वेद है। वेद का अर्थ ही ज्ञान है जिसमें मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ आवश्यक भौतिक और आध्यात्मिक, सब प्रकार के ज्ञान का समावेश है। विमान विद्या, ज्योतिष, कला शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, विद्युत् शास्त्र इत्यादि विविध विज्ञानों के मूलतत्त्व वेदों में विद्यमान है। इस बात को सैकड़ों उदाहरण देकर सिद्ध किया जा सकता है। यहाँ इस विषय का संक्षेप से दिग्दर्शन कराना उचित प्रतीत होता है।

वेदों में विविध विज्ञानों का मूल

विमान विद्या—

सब से पहले हम विमान विद्या को लेते हैं। विमान विद्या पर जो प्राचीन ग्रन्थ अंशतः उपलब्ध हुए हैं, उनमें महर्षि भरद्वाज कृत ''यन्त्र सर्वस्व'' नामक ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके वैमानिक प्रकरण के कुछ भाग बोधानन्द वृत्ति सहित प्राप्त हुए हैं जिनमें से १०-१३ श्लोकों में स्पष्ट कहा है—

निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधिं, भरद्वाजो महामुनिः।
नवनीतं समुत्पात्य, यन्त्र सर्वस्व रूपकम्॥ १०॥
प्रायच्छत् सर्व लोकानाम्, ईप्सितार्थ फल प्रदम्॥ ११॥
नाना विमानं वैचित्र्य रचना क्रम बोधकम्।
अष्टाध्यायैर्विभाजितं, शताधिकरणेयुतम्॥ १२॥
सूत्रैः पंचशतैर्युक्तं, व्योभया नप्रधानकम्।
वैमानिकाधिकरणाम्, उक्तं भगवतांस्फेुटम्॥ १३॥

(महर्षि भरद्वाज कृते यन्त्र सर्वस्वे)

अर्थात् महर्षि भरद्वाज ने वेदरूपी समुद्र का निर्मन्थन करके मनुष्य के लिये आदेश दिया कि—

समुद्रं गच्छ स्वाहान्तरिक्षं गच्छ स्वाहा॥ (यजु० ६।२१)

अर्थात् तू यानों द्वारा सुखपूर्वक समुद्र की यात्रा कर और अन्तरिक्ष की यात्रा कर।

अन्तरिक्ष की यात्रा के लिए मन के समान वेगवान् विमान रथ का स्पष्ट वर्णन अनेक मन्त्रों में आया है। उदाहरणार्थ ऋ० १।११९।१ में स्पष्ट कहा है—

आ वां रथं पुरुमायं मनोजुवं जीराश्वं यज्ञियं जीवसे हुवे।
सहस्रकेतुं वनिनं शतद्वसुं श्रुष्टीवानं वरिवोधामभि प्रयः॥

(ऋ० १।११९।१)

यहाँ रथ के विशेषणों में पुरु–मायम्, मनोजुवम्, सुष्टीवानम्, वरिवोधाम्, ये विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं जिनका तात्पर्य पुरुमायम् बहुत बुद्धि से संपादित (मायेति प्रज्ञानाम–निघं० ३।९) पुर्व्यामामया–प्रज्ञया सम्पादितम् (मनोजुवम्) मनोवद् वेगवन्तम्–मन की तरह वेगवाले (श्रुष्टीवानम्) श्रुष्टी:–क्षिप्रगतीर्वनतिभजयतिय स्तम् (श्रुष्टीति क्षिप्रनाम) शीघ्र गति करनेवाले (वरिवोधाम्) सुख सेवन करानेवाले। ये विशेषण साधारण यान पर चरितार्थ नहीं होते, किन्तु विमानादि पर ही अच्छी तरह लग सकते हैं। इसलिए ऋषि दयानन्द सरस्वती ने यहाँ रथ का अर्थ विमानादि यान किया है जो विशेषण और प्रकरणादि के अनुसार सर्वथा उचित ही है—

रथो ह वामृतजा अद्रिजूतः परि द्यावापृथिवी याति सद्यः॥

(ऋ० ३।५८।८)

इस मन्त्र में जिस शिल्पी सम्पादित रथ का वर्णन है उसके विषय में कहा है कि वह बहुत शीघ्र आकाश और पृथिवी की यात्रा करता है। उससे अश्विनौ, राष्ट्रपति और सेनापति यात्रा करते हैं। इसके भावार्थ में स्वामी दयानन्द ने ठीक ही लिखा है कि—

ये विमानादि यानान्यग्न्यादिभिर्निर्मिते ते अभीष्टानि सुखानि प्राप्य यत्रच्छा तत्र सद्यो गन्तुं शक्नुवन्ति॥

अर्थात् जो अग्नि विद्युत् आदि के उचित प्रयोग से विमानादि यानों का निर्माण करते हैं, वे अभीष्ट सुखों को प्राप्त करके जहाँ जाना चाहते हैं, वहाँ शीघ्र पहुँच जाते हैं। श्री सायणाचार्य ने मन्त्र का अर्थ लगभग ऐसा ही किया है। उन्होंने लिखा है—

(वाम्) युवयो: (रथ:) (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिव्यो (सद्य:) तदानीमेव (परियाति ह) सर्वत: प्राप्नोति खलु। अश्विनो रथस्य वेगतत्त्वे मन्त्र वर्ण:–यो वामश्विना मनसो जवीयान् रथ: स्वश्वो विशआजिणाति इति (ऋ० १।११७।२) (श्री सायणाचार्य भाष्ये)

अर्थात् तुम्हारा रथ अति शीघ्र ही द्युलोक और पृथिवी लोक को प्राप्त हो जाता है। इस अश्वियों के वेगवान् रथ के लिये उन्होंने ऋ० १।११७।२ के मन्त्र को उद्धृत किया है जिसमें अश्वियों के रहते रथ को मनसो जवीयान्, मन से भी अधिक वेगवान् कहा है। ऐसे ही ऋग्वेद २।४०।३ में नाम निर्देशपूर्वक विमान का वर्णन है—

सोमापूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम्।
विषूवृतं मनसा युज्यमानं तं जिन्वथो वृषणा पञ्चरश्मिम्॥

(ऋ० २।४०।३)

इसमें भी रथ का स्पष्ट वर्णन मनसा युज्यमानम् सप्त चक्रम्, विषूवृतम् इत्यादि विशेषणों द्वारा किया गया है जिनका अर्थ क्रमशः मनसा–अन्तः करणेन विचारेण युज्यमानम् अर्थात् मन अथवा मननपूर्वक निर्मित, सप्तचक्रयुक्त, दूर–दूर तक व्यापक गमन करनेवाले, इस प्रकार का है। विमान शब्द का अर्थ "वियतिगमकम्" आकाश में ले जानेवाला है। अतः ऋषि दयानन्द ने मन्त्र का भावार्थ ठीक ही दिया है कि—

मनुष्येरन्तरिक्षे गममितरं सप्तकलायन्त्र भ्रामणनिमित्तं।
सद्या गमयितारं रथं कृत्वा सुखमाप्तव्यम्॥

मनुष्यों को अन्तरिक्ष में ले जानेवाले, सात कलायन्त्रों को घुमानेवाले, शीघ्र जानेवाले रथ को बनाकर, सुख प्राप्त करना चाहिए। अथर्ववेद ३।१५।२ के—

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥

(अथर्व० ३।१५।२)

इस मन्त्र में आकाश और पृथिवी के मध्य देवों अर्थात् व्यापारी विद्वानों के जाने योग्य जिन भागों का निर्देश है, और जिनके विषय में वैश्य के मुख से यहाँ कहलाया गया है कि उन पृथिवी और आकाश के मध्यवर्ती भागों द्वारा यात्रा करके मैं खूब धन प्राप्त करूँ जो विमान द्वारा आकाश यात्रा पर आधारित है। इसमें सन्देह का अणुमात्र भी कारण नहीं।

विद्युत् रथों का वेदों में वर्णन—

अनेक प्रकार के अनश्व, विद्युत् आदि से चलनेवाले रथों का भी वेदों में स्पष्ट निर्देश है यथा—

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो३ रथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः।

(ऋ० ४।३६।१)

इस रथ में जिसका ऋभुओं अर्थात् वैज्ञानिकों में मेधावी शिल्पियों द्वारा निर्माण किया गया है (तदान् नासत्याभ्यां सुखं रथम्–ऋ० १।२०।३) न घोड़े हैं और न रस्सियाँ या लगामें। (अनश्वः, अनभीशुः अश्वः) किन्तु यह जल, स्थल, आकाश, तीनों में घूमनेवाला है और क्षेत्र परिवर्तन कर सकता है। जब चाहे जल में, जब चाहे स्थल में, जब चाहे आकाश में चले।

ऋग्वेद ३।५४।१३ में मरुतों का विशेषण "विद्युद्रथाः" दिया है। इसका

अर्थ बिजली से चलनेवाले रथोंवाले सैनिक है—

विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः ॥ (ऋ० ३।५४।१३)

ऋग्वेद १।८८।१ में—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः ॥

(ऋ० १।८८।१)

बिजली से चलनेवाले रथों का ''विद्युन्मद्भिः रथेभिः'' इन शब्दों द्वारा स्पष्ट निर्देश है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो, तथा गण बनाकर रहनेवाले वीरो! वायुगण जिस प्रकार (ऋष्टिमद्भिः) दीप्तिवाले (अश्वपर्णैः) सूर्य के पालन सामर्थ्यों और गमन वेगोंवाले (स्वर्कै) उत्तम किरणों से युक्त होकर (विद्युन्मद्भिः) बिजलियोंवाले मेघों सहित (वर्षिष्ठाया इषा) खूब जल वृष्टि से बढ़ी हुई अन्त सम्पत्ति से आते हैं, उसी प्रकार (मरुतः) विद्वान् वीर सैनिक आदि (विद्युन्मद्वः) विद्युत् युक्त (सुअर्कैः) उत्तम विचरित यन्त्रों से बनाये गये (ऋष्टिमद्भिः) शस्त्रास्त्रों से युक्त (अश्वपर्णैः) अग्नि आदि पदार्थों के द्वारा शीघ्र मार्ग में जानेवाले (रथेभिः) रथों व योग्य सवारियों द्वारा (आयात) आया जाया करो।

जल, स्थल, अन्तरिक्ष तीनों स्थानों में चलनेवाले रथ

ऋग्वेद ४।४६।४ में कहा है—

रथं हिरण्यवन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम्। आ हि स्थाथो दिविस्पृशम्॥

(ऋ० ४।४६।४)

(इन्द्रवायू) हे ऐश्वर्यवान् तथा बलवान्! आप दोनों (हिरण्यबन्धुरम्) लोह स्वर्ण आदि से बने सुदृढ़, सुबद्ध (दिविस्पृशन्) पृथ्वी पर स्पर्श मात्र करनेवाले और वेग से आकाश में जानेवाले (सुअध्वरम्) भीतर बैठे व्यक्तियों पर आघात लगने आदि की आशंका से रहित अर्थात् सुरक्षित (रथम् आस्थाथः) रथ व विमान पर बैठकर यात्रा किया करो।

भावार्थ—धनी-मानी लोग सुदृढ़ विमानों पर चढ़ें जो भूमि, जल और आकाश तीनों पर चल सकें। वे भूमि पर स्पर्श मात्र करें, भार से धँसे नहीं।

सास्मा अरं प्रथमं स द्वितीयमुतो तृतीयं मनुषः स होता।
अन्यस्या गर्भमन्य ऊं जनन्त सो अन्येभिः सचते जेन्यो वृषा॥

(ऋ० २।१८।२)

(सः) वह रथ (प्रथमं द्वितीयं तृतीयम् अरं सचते) पहले दूसरे, तीसरे अर्थात् भूमि, जल और अन्तरिक्ष, तीनों स्थलों में अच्छी प्रकार जाने में समर्थ हो (स मनुषः होता) वह ऐसा रथ मनुष्यों को सभी प्रकार का सुख देता है। (सः जेन्यः वृषा) वह विजय का साधन और खूब सुदृढ़ बन्धनों से बँधा होता है।

अत्यन्त दृढ़ होता है। अंग्रेजी में इसका अर्थ इस प्रकार हो सकता है—

"Conveyance which goes well on land, on water and in air provides all comforts and convenience for man and it is made of timber and metals and is driven by a pilot."

इस प्रकार के भूमि, जल और वायु में चलनेवाले रथ का अभी तक आविष्कार नहीं हुआ, किन्तु वेदों के अनेक मन्त्रों में इसका स्पष्ट निर्देश प्रतीत होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता किन्वर्तमान प्रचलित वस्तुओं को देखकर इसकी कल्पना वेद में कर ली गयी है, जैसे कि श्रद्धा विहीन केवल समालोचक कई बार कह देते हैं।

समुद्री जहाज का वेदों में स्पष्ट निर्देश—

विमान व हवाई जहाज के समान वेदों में समुद्री जहाजों का भी निर्देश अनेक स्थानों पर है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों का उल्लेख पर्याप्त है—

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥

(ऋ० १।११६।५)

इस मन्त्र में अगाध समुद्र में सैकड़ों अरित्रों व चप्पूवाली नौका अर्थात् जहाज के चलाने का निर्देश अत्यधिक स्पष्ट है। सैकड़ों चप्पूवाली नौका छोटी नौका नहीं हो सकती और न छोटी नौकाएँ बड़े समुद्रों में चल सकती हैं। अतः जहाज का अर्थ लेना ही सर्वथा उचित है—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः॥

(ऋ० १।२५।७)

इस मन्त्र में भी पक्षियों की तरह आकाश में उड़नेवाले विमानों और समुद्र में चलनेवाली नौकाओं की गति को जाननेवाला भगवान् और श्रेष्ठ विद्वान् को ही बताया गया है—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥

(ऋ० १०।६३।१०)

इस मन्त्र में अच्छे अरित्रों व चप्पुओंवाली दैवी नौका अर्थात् बिजली से चलनेवाली नौका (जहाज) पर कल्याण के लिए चढ़ने का उपदेश है जो (पृथिवीम्) बहुत विशाल हो (अनेहसम्) जो छिद्र रहित हो (सुशर्माणम्) जो उत्तम सुख देनेवाली (अदितिम्) अखण्डित और (सुप्रणीतिम्) अच्छी तरह से बनाई हुई हो।

पनडुब्बियों का स्पष्ट निर्देश—

ऋग्वेद ६।५८।३ में हवाई जहाजों और पनडुब्बियों (Sub-marines) का

कितना स्पष्ट निर्देश है—

यास्ते॑ पूष॒न्नावो॑ अ॒न्तः स॑मु॒द्रे हि॑र॒ण्ययी॑र॒न्तरि॑क्षे॒ चर॑न्ति।
ताभि॑र्यासि दू॒त्यां सूर्य॑स्य॒ कामे॑न कृत॒ श्रव॑ इ॒च्छमा॑नः॥

(ऋ० ६।५८।३)

समुद्रों की लहरों पर रहनेवाले क्रान्तदर्शी ज्ञानी शिल्पी अत्यन्त समुद्रों की लहरों पर धारण करता हुआ सब ओर चलाता है। अंग्रेजी का Car यह शब्द वैदिक है। यह भी इस मन्त्र से ज्ञात होता है।

रेलगाड़ी का वेद में वर्णन—

ऋग्वेद २।२।४ में निम्न मन्त्र आया है—

तमु॒क्षमा॑णं॒ रज॑सि॒ स्व आ दमे॑ च॒न्द्रमि॑व सु॒रुचं॑ ह्वा॒र आ द॑धुः।
पृश्न्याः॑ पत॒रं चि॒तय॑न्तम॒क्षभिः॑ पा॒थो न पा॒युं जन॑सी उ॒भे अनु॑॥

(ऋ० २।२।४)

(तम् उक्षमाणं सुरुचं ह्वार आदधुः) बहुत भारी सामानों को भी दूर तक ढो ले जाने में समर्थ, अति कान्तिमान् अग्नि को यन्त्रहार अर्थात् गुप्त सुरक्षित स्थान में स्थापित करते हैं और (पृश्न्याः पतरम्) पृथिवी के ऊपर वेग से चलनेवाले और (अक्षभिः चितयन्तम्) नाना धुरों से गति देनेवाले (स्वेदमे आदधुः) उसको अपने ऐसे स्थान में रखते हैं जहाँ से वह समस्त यन्त्र को चालित कर सके और उसको (पाथःपायुं न) जल के रक्षक के समान (उभे जनसी अनु) यन्त्र बन बैठने और उसको संचालन करनेवाले दोनों प्रकार के जनों के अनुकूल पड़नेवाले उचित स्थान में स्थापित करें। अंग्रेजी में इस का सारांश इस प्रकार है—

"Steam Engines, capable of carrying heavy load to long distances, should be made by keeping fire in concealed places (Boilers) by providing many axels".

वेदों में तार विद्या का निर्देश

यु॒वं पे॒दवे॑ पुरु॒वार॑मश्विना स्पृ॒धां श्वे॒तं त॑रु॒तारं॑ दुवस्यथः।
श॒र्यै॑र॒भिद्युं॒ पृत॑नासु दु॒ष्टरं॑ च॒र्कृत्य॒मिन्द्र॑मिव चर्षणी॒सह॑म्॥

(ऋ० १।११९।१०)

इस मन्त्र से तार विद्या का मूल जाना जाता है। इसका आर्ष भाष्य इस प्रकार है—

अस्मिन् मन्त्रे तारविद्या बीजं प्रकाश्यतो हे मनुष्याः! (अश्विना) अश्विनो गुणयक्तं (पुरुवारम्) बहुभि विद्विद्भिः स्वीकर्तव्यं बहूत्तम गुणयुवतम् (श्वेतम्) अग्निगुण विद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम् (अभिद्युम्) प्राप्त विद्युत् प्रकाशम् (पृतनासु दुष्टरम्) राज सेना कार्येषु दुस्तरं प्लवितुमशक्यं (चर्कृत्यम्) वारं वारं सर्व क्रियासु

योजनीयं (तस्तारम्) ताराख्यं यन्त्रं पूर्य कुरुत। कथंभूतेगुणर्युक्तम् (शर्यैः) पुनः पुनर्हनन प्रेरणगुणैर्युक्तम् कस्मै प्रयोजनाय (पेदवे) परमोत्तम व्यवहारसिद्धि प्रापणाय। पुनः कथं भूतम् (स्पृधाम्) स्पर्धमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम् पुनः कथंमतम् (चर्षणीसहम्) मनुष्यसेनायाः कार्यसहनशीलम् (युवम्) युवामश्विनौ (दुवस्यस्थः) पुरुष प्रत्ययेन पृथिवी विद्युद्ख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत् ताराख्यं यन्त्रं नित्यं से वर्ध्वामतिबोध्यम्।

इस मन्त्र से तार विद्या का मूल जाना जाता है। पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजली, इन दोनों के प्रयोग से तार विद्या सिद्ध होती है। क्योंकि द्यावापृथिव्याख्यिके, इस निरुक्त के प्रमाण से इनका अश्विनौ नाम जान लेना चाहिए। (पेदवे) वह अत्यन्त शीघ्र गमनागत का हेतु होता है। इसलिए (पुरुवारम्) इस तार विद्या से बहुत उत्तम व्यवहार के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं (स्पृधाम्) लड़ाई करनेवाले जो राज पुरुष होते हैं, उनके लिए यह अत्यन्त हितकारी है। (श्वेतम्) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिए। (अभिधुम्) विद्युत प्रकाश से युक्त (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिसका दुस्सह प्रकाश होता और उल्लंघन करना कठिन है (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के बारम्बार चलाने के लिए योग्य होता है (शर्यैः) अनेक प्रकार कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिए विद्युत् की उत्पत्ति करके उसका ताड़न करना चाहिए (तरुतारम्) जो इस प्रकार का तार नामक यन्त्र है उसको सिद्ध करके प्रीति से सेवन करो जिस प्रयोजन के लिए (पेदवे) परम् उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिए तार विद्या सिद्ध करनी चाहिए (चर्षणीसहम्) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्यों को सहन करनेवाला है (इन्द्रमिवं) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य करता है वैसे तार यन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है। (युवं दुवस्यथः) यह तार यन्त्र पूर्वोक्त अश्वियों के गुणों से ही सिद्ध होता है। इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिए।

प्राचीन भारत में वेदों के अनुसार तार विद्या को आर्य लोग जानते और प्रयोग में लाते थे। इसका एक स्पष्ट प्रमाण शुक्र नीतिसार में उपलब्ध होता है जहाँ राजा के लिए विधान है कि—

अयुतक्रोशजां वार्ता हरेदेक दिनेन वै। (शुक्रनीति)

अर्थात् १० हजार कोसों की दूरी पर जो बात हो रही है, उसको एक दिन में प्राप्त कर ले। यह तार के बिना कैसे सम्भव हो सकता है?

वेदों में विद्युत् विद्या

वेदों में विद्युत् के विषय में अनेक मन्त्र आये हैं जिन में से कुछ का उल्लेख

पहले किया जा चुका है। अथर्ववेद १।१३।१ का निम्नलिखित मन्त्र इस विषय में विद्युत् के गुणों को बताने के कारण उल्लेखनीय है—

नम॑स्ते अस्तु वि॒द्युते॒ नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑।
नम॑स्ते अ॒स्त्वश्म॑ने॒ येना॑ दू॒डाशे॒ अस्य॑सि॥

(अथर्व० १।१३।१)

इस विद्युत् का सदुपयोग (विद्युते) विशेष प्रकाश के लिए (द्युत दीप्तौ) (स्तयित्लवे) शब्द उत्पत्ति के लिए जैसे मोटरों के हार्न, रेडियो आदि (स्तन देव शब्दे) अश्मने व्यापकता के लिए जैसे चुम्बक शक्ति व अक्षरश्मि X-Rays L.B. गामा आदि अत्यन्त व्यापक होनेवाली किरणों के लिए कर सकते हैं।

अगले मन्त्र में कहा है—

नम॑स्ते प्रवतो नपा॒द्यत॒स्तप॑: स॒मूह॑सि।
मृ॒डया॑ नस्त॒नूभ्यो॒ मय॑स्तो॒केभ्य॑स्कृधि॥

(अथर्व० १।१३।२)

हे (प्रवतः नपात्) प्रपातों या वेगों से उत्पन्न होनेवाली विद्युत् (ते नमः) तेरा यह सामर्थ्य है कि (यतः) जिससे तू (तपः) इस दीप्यमान तेज को (समूहसि) अपने भीतर एकत्र कर लेती है। तू (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों के लिए (मृडय) सुखकारी हो (तोकेभ्यः) हमारी सन्तानों के लिए भी (मयः) कल्याण (कृधि) कर।

प्र॒वतो नपा॒न्नम॑ ए॒वास्तु॒ तुभ्यं॒ नम॑स्ते हे॒तये॒ तपु॑षे च कृण्मः।
वि॒द्म ते॒ धाम॑ पर॒मं गुहा॒ यत्स॑मु॒द्रे अ॒न्तर्निहि॑ता॒सि नाभि॑ः॥

(अथर्व० १।१३।३)

हे (प्रवतः नपात्) प्रपातों से उत्पन्न विद्युत् (तुभ्यं नम एवमस्तु) तेरे लिये वश करने का यह उपाय है (तपुषे) सन्तापकारी व अग्नि स्वरूप (हेतये) आघातकारी इस तेरी शक्ति का (नमःकृण्मः) हम उपयोग करते हैं (ते परमं धाम व्विद्य) तेरे सबसे उत्तम तेज को हम जानते हैं (यत्) कि (गुहा) तेरे भीतर छिपा हुआ है। (समुद्रे) अन्तरिक्ष और जलीय समुद्र के भीतर (समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम्न–निघं० १।३) और तू (नाभिः) मेघ को एकत्र बाँधनेवाली नाभि रूप है।

इस प्रकार इन मन्त्रों में विद्युत् के गुणों पर बहुत–सा प्रकाश डाला गया है। विस्तृत व्याख्या अनावश्यक है।

चन्द्रमा सूर्य द्वारा प्रकाशित

ज्योतिष विज्ञान इस बात को बताता है कि चन्द्रमा को प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है। वेदों में इस बात को कई स्थलों पर स्पष्टतया बताया गया है—

दिविसोमो अधिश्रितः ॥

अर्थात् चन्द्रमा का आधार सूर्य पर है—

असौद्योः विश्वकर्मा ॥ (तैत्ति० ३।२।३।७)

ऋग्वेद १।८४।१५ में कहा है—

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥

(ऋ० १।८४।१५)

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए यास्काचार्य ने निरुक्त में कहा है—

अत्रह गौः सममंस तादित्यरश्मयः स्वंनामापीच्यम।
अपचितमपगतमपहिमन्तर्हितं वा अमुत्र-चन्द्र-मसो गृहे ॥

(निरुक्ते नैगमककाण्डे ४, अ० पा० ४)

अर्थात् चन्द्रमा के गृह में सूर्य-रश्मियों में से एक सुषुम्णारश्मि जब प्रवेश करती है तब वह प्रकाशित होता है—

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः ॥ (यजु० १८।४०)

भूमि के आकर्षण का वेद में स्पष्ट निर्देश

ऋग्वेद १।५७।४ में सुप्रसिद्ध एक मन्त्र है जिसमें उपमा के द्वारा पृथिवी के आकर्षण का वैज्ञानिक सिद्धान्त स्पष्टतया प्रकट किया गया है। वह मन्त्र यह है—

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ॥

(ऋ० १।५७।४; साम० ३७३)

इसमें परमेश्वर को इन्द्र के नाम से सम्बोधन करते हुए यह कहा गया है कि हम भक्त तेरे हैं। तेरा ही नाम लेकर हम सब शुभकार्यों को प्रारम्भ करते हैं। तेरे अतिरिक्त हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाला कोई नहीं। जिस प्रकार पृथिवी सब वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है, इस प्रकार हमारी प्रार्थनाओं को अपनी ओर खींच अथवा उन्हें स्वीकार कर। "क्षोणीरिवप्रतिनो हर्य तद्वचः" यह उपमा स्पष्टतया पृथिवी में आकर्षण (Law of Gravitation) को सूचित कर रही है। इसके विषय में माना जाता है कि सर आइजक न्यूटन नामक इंग्लैंड के बड़े वैज्ञानिक ने १७वीं शताब्दी में सेब को नीचे गिरते देखकर पता लगाया था।

आयुर्वेद का मूल वेदों में

चिकित्सा विज्ञान के मुख्य ग्रन्थ चरक संहिता में लिखा है कि—

वेदोह्याथर्वणः चिकित्सांप्रह ॥ (चरक सूत्र अ० ३०।२०)

अर्थात् अथर्ववेद चिकित्सा का प्रतिपादन करता है। सुश्रुत सूत्र स्थान अ०

१० में भी लिखा है—

इहखल्वायुर्वेदोनाम यदुपांगमथर्ववेदस्य ॥ (सुश्रुत सू० स्था० १०)

अर्थात् आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है।

अथर्ववेद के अतिरिक्त ऋग्वेद के १०।९७, १०।१६१, १०।१६३, १०।१८६ तथा अन्य अनेक सूत्रों में भी ओषधियों द्वारा चिकित्सा, हवन यज्ञ द्वारा चिकित्सा, मन: शक्ति के प्रयोग द्वारा चिकित्सा तथा शुद्ध वायु सेवन द्वारा चिकित्सा और रोग निवारण का प्रतिपादन है। अत: आयुर्वेद को अनेक विद्वान् ऋग्वेद का उपवेद मानते हैं।

वेदों में जल चिकित्सा

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजः ॥

(ऋ० १।२३।२०)

तथा—

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥

(ऋ० १०।९।१)

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥

(अथर्व० ६।५७।२)

इत्यादि में जल और अग्नि द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है।

अथर्ववेद में अनेक ओषधियों का वर्णन

अथर्ववेद २।२५।२ में पृश्निपर्णी ४।१७।१९ और ऋ० ७।६५

(भेषजं वा अथर्वणानि (ताण्डय महाब्राह्मण १२।९-१०) सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण के इस वचन में भी स्पष्ट बताया गया है कि अथर्ववेद के मन्त्र ओषधियों के प्रतिपादक है।) में अपामार्ग, १९।४४ में आञ्जन, ६।५९ में अरुन्धति, ५।४।९ तथा १९।३६।४ में कुष्ठ, ६।२१।३, ६।१३७।१ इत्यादि में केश वर्धनी, २।२७ में पाठा, ६।१०९ में पिप्पली, ४।१२ में रोहणी ५।५ में लाक्षा, ६।१३९ में सहस्त्रपर्णी, ऋग्वेद के नवम मण्डल के अनेक सूक्तों, सामवेद के कई मन्त्रों तथा अथर्ववेद के बहुत से सूक्तों में सोम ओषधि का वर्णन है। इन ओषधियों के सेवन से ज्वर, क्षय रोग, नपुंसकता, उपद्रव, मूत्र रोग, नेत्र रोग, केशों का झड़ना, भूख न लगना, इत्यादि को दूर किया जा सकता है। ऐसा मन्त्रों में स्पष्ट बताया गया है। अथर्ववेद को भ्रम से जादू टोनों का वेद माना जाता है, किन्तु

वस्तुत: उसमें अद्भुत ओषधियों के सेवन, लेप तथा प्राकृतिक उपायों द्वारा चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है। वेदों में चिकित्सा विज्ञान के मूल को कई निष्पक्षपात पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ C.A. Parkhurst (परखुर्स्त) नामक पाश्चात्त्य विद्वान् ने "India-Then and Now" में लिखा है—

"In the Rigveda, there is a whole hymn describing how the disease of phisis should be treated. The Atharva Veda sheds further light on the subject. It gives a list of medical herbs to be used in the treatment of Leprosy, Janundice, Dropsy etc."

(C.A. Parkhurst in "India-then and now" Published by Macmillan & Co.)

अर्थात् ऋग्वेद में एक सारा सूक्त है जिसमें इस बात का वर्णन है कि क्षय रोग की चिकित्सा कैसे की जानी चाहिए। अथर्ववेद इस विषय पर और अधिक प्रकाश डालता है। इसमें अनेक ओषधियों, वनस्पतियों का वर्णन है जिनका कुष्ठ, पाण्डुरोग, ड्रांप्सी आदि रोगों की चिकित्सा में प्रयोग करना चाहिए। यहाँ लेखक ने ऋग्वेद के १०। १६१ का निर्देश किया है जिसमें निम्नलिखित ३ मन्त्रों का हम उल्लेख करना उचित समझते हैं—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥ १॥
यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय॥ २॥
सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
शतं यथेमं शरदो नयातीन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य पारम्॥ ३॥

(ऋ० १०।१६१।१-३)

इन मन्त्रों का सरल और स्पष्ट अर्थ यह है कि—

१. हे रोगिन्! तुझे अप्रकट अवस्थावाले और प्रकट राज रोग (तपेदिक) से सुखपूर्वक जीने के लिए छुड़वाता हूँ। यदि ग्राही नाम के शरीर को जकड़ देनेवाले रोग ने तुझे जकड़ लिया है तो उस रोग से भी विद्युत् और अग्नि के गुणवाली ओषधियाँ तुझे छुड़ाएँ।

२. यदि रोगी की जीवन शक्ति नष्ट हो गयी है, यदि वह सीमा से भी परे चला गया है, यदि वह मृत्यु के समीप पहुँच गया है, तो भी उस रोगी को मैं अति कष्टप्रद रोग के पञ्जे से छुड़ा लाऊँ और उस रोगी को सौ वर्षों के लिए बलयुक्त करूँ।

३. मैं इस रोगी को सहस्र गुणोंवाली, सौ वर्ष तक जीवन देने में समर्थ ओषधियों द्वारा रोग मुक्त करूँ, **जिससे प्राण इसे सौ वर्षों तक समस्त दुःखों के पास न पहुँचाएँ।** (प्राण इन्द्रः शत० ६।१।२।२८)

इन मन्त्रों में मुख्यतया हवन यज्ञ द्वारा चिकित्सा का प्रतिपादन है। रायबरेली के स्व० डॉ० फुन्दनलाल अग्निहोत्री एम०डी० ने इस वेदोक्त यज्ञ चिकित्सा के परीक्षणार्थ जबलपुर (म०प्र०) में एक आरोग्य सदन (सैनिटोरियम) की स्थापना की थी। उन्हें इस यज्ञ चिकित्सा के द्वारा क्षय रोग के ऐसे केसों में भी, जिन्हें अन्य डाक्टरों, वैद्यों, हकीमों ने सर्वथा असाध्य बता दिया था, अद्भुत सफलता मिली थी। इस यज्ञ चिकित्सा का अपने अनुभवों सहित विस्तृत प्रतिपादन डॉ० फुन्दनलालजी भू० मेडिकल आफिसर टी०वी० सेनेटोरियम्, जबलपुर, ने 'यज्ञ चिकित्सा' नामक पुस्तक में किया है जो यज्ञ चिकित्सा सेनेटोरियम जबलपुर से सन् १९४९ में प्रकाशित हुई थी और जिस पर सुयोग्य लेखक को उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत भी किया गया था।

क्षय रोग की चिकित्सा के लिए जिन वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है उनमें एक अति प्रमुख गुग्गुल है जिसके विषय में अथर्ववेद में कहा है—

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥

(अथर्व० १९।३८।१)

अर्थात् जिस के शरीर को रोग नाशक गुग्गुल का उत्तम गन्ध व्यापता है, उसको राज यक्ष्मा का रोग कभी पीड़ा नहीं देता और न दूसरे का शाप, गाली-गलौच आदि उस पर कोई प्रभाव करता है। इस वेदोक्त क्षय रोग की यज्ञ चिकित्सा का स्पष्ट प्रतिपादन चरक संहिता चिकित्सा स्थान अ० ८, श्लो० १२२ में इन शब्दों में किया गया है—

प्रयुक्तया यथा चेष्ट्या राजयक्ष्मापुराजितः।
तां वेदविहितामिष्टिम्, आरोग्यार्थी प्रयोजयेत्॥

(चरक चिकित्सा स्थान अ० ८।१२२)

अर्थात् जिस यज्ञ के प्रयोग से प्राचीन काल में राजयक्ष्मा रोग (T.B) नष्ट किया जाता था, उस पर विजय पायी जाती थी, आरोग्य चाहनेवाले मनुष्य को उसी वेद विहित यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए।

डॉ० फुन्दनलाल ने अपनी पुस्तक में अनेक भयंकर क्षयरोग से ग्रस्त नर-नारियों के अथवा उनके सम्बन्धियों के पत्र प्रस्तुत किये हैं जिनको अन्य किसी प्रकार की चिकित्सा से लाभ न होने पर हवन, यज्ञ, चिकित्सा से अति शीघ्र लाभ हुआ।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति॥

(ऋ० १।१।४)

इस चिकित्सा के लिए हवन सामग्री में ब्राह्मी, जीवन्ती, पुनर्नवा, जायफल, चन्दन, गुग्गल, केसर, कर्पूर, अगर, जटामांसी, जावित्री, देवदारु, मुनक्का, द्राक्षा, नारियल इत्यादि पदार्थ डाले जाते हैं। इनमें से अधिकतर पदार्थ पुष्टिदायक होने के अतिरिक्त, सुगन्धित भी है। वेदों में जहाँ—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥

(यजु० ३।१)

स हि क्षेमो हविर्यज्ञः॥ (ऋ० १०।२०।६)

इत्यादि में अग्नि में हवन सामग्री डालने का स्पष्ट विधान है और उस हविर्यज्ञ को अत्यन्त कल्याणकारी बताया है, वहाँ यह भी कहा है कि—

आते यज्ञस्तन्वे वयोधात्॥

यह यज्ञ तेरे शरीर के लिए दीर्घायु प्रद होवे। इस हवि में सुगन्धित पदार्थ होने चाहिएँ। गुग्गुल के अलावा अन्य सुगन्धित पदार्थ डालने का भी स्पष्ट निर्देश निम्नलिखित २ मन्त्रों में है—

यो हव्यान्यैरयता मनुर्हितो देव आसा सुगन्धिना।
विवासते वार्याणि स्वध्वरो होता देवो अमर्त्यः॥

(ऋ० ८।१९।२४)

यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि जो अग्नि में सुगन्धित पदार्थ डालकर उसके मुख को सुगन्धित कर देता है, उसे आरोग्य की प्राप्ति होती है।

ऋग्वेद १०।१५।१२ और अथर्व १८।३।४२ में भी कहा है—

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥

(ऋ० १०।१५।१२; अथर्व० १८।३।४२)

यहाँ सुगन्धित हवियों को अग्नि के द्वारा अन्तरिक्ष में पहुँचाने का वर्णन है।

इस प्रकार जो करते हैं उनका सदा कल्याण होता है। इस बात को ऋग्वेद १०।२०।८ में इन शब्दों में कहा है—

नरो ये चास्मदा विश्वेत्ते वाम आ स्युः। अग्निं हविषा वर्धन्तः॥

(ऋ० १०।२०।८)

अर्थात् जो अग्नि को हवि से बढ़ाते हुए हवन करते हैं, वे सदा उत्तम आरोग्य में रहते हैं।

डॉ० फुन्दनलालजी ने अपनी पुस्तक में इसके कई परीक्षण उद्धृत किये हैं

जिनमें से निम्न विशेष उल्लेखनीय है—

कुछ महत्त्वपूर्ण साक्षियाँ हवन से आरोग्य विषयक

१. फ्राँस के विज्ञान वेत्ता प्रो० टिलबर्ट साहब कहते हैं कि जलती हुई खाण्ड के धुएँ में वायु शुद्ध करने की बड़ी शक्ति है। इससे हैजा, तपेदिक, चेचक इत्यादि का विष शीघ्र नष्ट हो जाता है।

२. डॉ० टाटलिट् साहब ने मुनक्का, किशमिश आदि सूखे फलों को जलाकर देखा और मालूम किया है कि इनके धुएँ से टाइफाइड ज्वर के कीटाणु घण्टे दो घण्टे में समाप्त हो जाते हैं।

३. फ्राँस के डॉ० हेककिन साहब जिन्होंने चेचक के टीके का आविष्कार किया है कहते हैं कि घी जलाने से रोग कृमि मर जाते हैं।

वेद में भूगर्भ विद्या (Geology) का मूल—

अन्य विज्ञानों की तरह भूगर्भ विज्ञान् का मूल भी वेदों में विद्यमान है। इस बात को महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री भवानीराव पावगी ने अपनी "The Vedic Fathers of Geology" में—

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरणात ॥
स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसाऽधराचीनमकृणोदुपामपः।
(ऋ० २।१७।५)

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा ॥ (ऋ० १०।१२१।५)
या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। (ऋ० १०।९७।१)

इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या करके आगे लिखा है—

"I may take this opportunity to remind the reader without fear of contradiction, that the vedas contain many things not yet known to anybody, as they form a mine of inexhaustible literary wealth, that has only partially been opened and has still remained un-explored."

(The Vedic Fathers of Geology by N.B. Pavagee Introduction P. VI)

अर्थात् मैं बिना किसी विरोध के भय के पाठकों को याद कराना चाहता हूँ कि वेदों में बहुत-सी ऐसी बातें पायी जाती हैं जिनका अभी तक किसी को ज्ञान नहीं, क्योंकि वे उस साहित्यिक धन की अक्षुण्य खान हैं, जिनका अभी थोड़ा-सा ही अंश प्रकट हुआ है और जो अभी तक अज्ञात ही पड़ा है।

वेदों में जीव विज्ञान का मूल

विमान विज्ञान, ज्योतिष, चिकित्सा विज्ञान, यन्त्र तथा भूगर्भ विज्ञान आदि

की तरह जीव विज्ञान का Biology का भी मूल वेदों में पाया जाता है। इस बात को बम्बई के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० वी० जी० रेले ने "The Vedic Gods-as Figures of Biology" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में बड़ी अच्छी तरह से प्रमाणित किया है। उन्होंने बड़े आश्चर्य के साथ इस बात को लिखा है कि—

"Our present anatomical knowledge of the nervous system tallies so accurately with the literal description of the world given in the Rigveda that a question arises in the mind whether the Vedas are really religious books or whether they are books on anatomy and physiology of the nervous system, without the thorough knowledge of which, psychological deductions and philosophical speculations can not be correctly made". (The Vedic Gods by Dr. Rele. P. 30)

अर्थात् हमारा आजकल का नाड़ी संस्थान की रचना सम्बन्धी ज्ञान ऋग्वेद के जगत् विषयक वर्णनों से इतनी अच्छी तरह मेल खाता है कि मन में कई बार यह प्रश्न उठने लगता है कि क्या वेद वास्तव में धर्म ग्रन्थ हैं या वे शरीर विज्ञान और नाड़ी संस्थान की रचना विषयक ग्रन्थ हैं जिनके पूर्ण ज्ञान के बिना मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विचार ठीक तौर पर समझे ही नहीं जा सकते।

वास्तव में वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं। वे धर्म के प्रतिपादक ही नहीं अपितु सम्पूर्ण ज्ञान के आदि स्रोत हैं। परन्तु उस धर्म के अन्दर भौतिक और नैतिक जगत् में कार्य करनेवाले सब अचल शाश्वत नियमों का (जिन्हें वेदों में ऋत और सत्य के नाम से कहा गया है) समावेश है। उन नियमों का आत्मा, परमात्मा, उनके सम्बन्ध, कर्म नियम, पुनर्जन्म आदि विषयक सिद्धान्तों के साथ वेदों में प्रतिपादन है। यही वेदों की विशेषता है जो अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं पायी जाती।

डॉ० रेले प्राचीन वैदिक लोगों के विज्ञान के विषय में कहते हैं—

"If this be true, we can surely assume that the Ancients were as far advanced in all branches of Science as we are now; perhaps they knew much more than we know of Scientific subjects and specially of the nervous system of the human body; for the true significance of some passages and Richas of the Rigveda can not be made out, because of our imperfect knowledge of the nervous system."

(The Cedic Gods-as Figures of Biology by Dr. Rele P. 30, Published by Taraporevala Sons and Co., Bombay)

अर्थात् यदि यह सत्य है तो हम निश्चय से इस बात को मान सकते हैं कि प्राचीन लोग विज्ञान की सब शाखाओं में हमारे समान उन्नत थे; सम्भवतः उन्हें वैज्ञानिक विषयों का, विशेषतः शरीर के नाड़ी संस्थान का, हमसे भी अधिक ज्ञान था क्योंकि ऋग्वेद के कई वाक्यों और ऋचाओं का ठीक-ठीक अभिप्राय अपने नाड़ी संस्थान विषयक ज्ञान की अपूर्णता के कारण हम नहीं समझ सकते (ऋग्वेद १०।१६३) के—

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्॥ २॥
आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोर्हृदयादधि।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामि ते॥ ३॥
ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भंससो वि वृहामि ते॥ ४॥

(ऋ० १०।१६३।२-४)

इत्यादि मन्त्रों में शरीर विज्ञान का मूल है। इनका कविराज श्री गणनाथ सेन ने प्रत्यक्ष शारीरम् नामक अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की भूमिका में तथा श्री ब्रजेन्द्रनाथ सील ने Positive Sciences of the Hindus में भली-भाँति निर्देश किया है।

वेदों में भौतिकी और रसायन विज्ञान का मूल

वेदों में भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान के अनेक सिद्धान्त बड़े स्पष्ट रूप में पाये जाते हैं।

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता॥

(ऋ० १।२।७)

इस मन्त्र में मित्र पद से Hydrogen (उदजन) और वरुण से स्वीकारणीय ओषजन (Oxygen) का ग्रहण है जिनके मेल से H_2O) जल का निर्माण होता है। (घृतामिति जलनाम निघं० १।१२)

धुरन्धर विद्वान् पं० गुरुदत्तजी ने इस मन्त्र का अंग्रेजी में इस प्रकार अनुवाद किया है—

"Let one who is desirous to form water by the combination of two substances take pure hydrogen gas highly heated and Oxygen gas posessed of the property *rishads* and let him combine them to form water." (The Wisdom of the Rishis P. 102)

मित्र शब्द से क्यों उद्रजन (Hydrogen) और वरुण से ओषजन या (Oxygen) का ग्रहण किया जाय, इसके लिए पं० गुरुदत्तजी ने बड़े प्रबल प्रमाण दिये हैं। उन्होंने बताया है कि मित्र शब्द माङ् माने, इस धातु से बनता है। उद्रजन सब से हलका होने के कारण सबके माप का कारण होता है और यह ओषजन के साथ

मिल जाता है। उसका मित्र होता है। अतः इसे मित्र के नाम से पुकारा गया है। पूतदक्षम् का अर्थ पवित्र गत्यात्मक बलवाला (Pure, possessed of Kinetic Energy) है। ओषजन को वरुण इसलिए कहते हैं क्योंकि यह सबके लिए वरणीय या स्वीकारणीय है। सब इसे चाहते हैं। इसका विशेषण रिशादसम् आया है जिसका अर्थ सब हीन धातुओं को खानेवाला, जंग चढ़ानेवाला और हड्डियों को जलानेवाला (Which eats away or rusts all the base metals, which burns all the bones) है। अतः स्पष्ट है कि इस शब्द का प्रयोग यहाँ ओषजन या Oxygen के अर्थ में है। श्री पन्यमनसायण गौड़ (एडिन्वरा) ने सन् १९२० ई० में प्रकाशित "Introduction to the Message of the 20th. Century" नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक में इस बात को भलीभाँति सप्रमाण सिद्ध किया है कि वेदों में भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान के तत्त्व स्पष्टतया पाये जाते हैं।

ऋग्वेद और यजुर्वेद के विषयों का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा कि—

"The Rigveda deals with theorems and experiments, while the process of preparing the regents and apparatus is recorded in the Yajurveda which is in effect, a laboratory guide." (P. 71)

अर्थात् ऋग्वेद वैज्ञानिक सिद्धान्तों और परीक्षणों का वर्णन करता है जबकि उनके साधनों और उपकरणों के तैयार करने की प्रक्रिया यजुर्वेद में पायी जाती है, जो परिणाम स्वरूप एक परीक्षणशाला मार्ग दर्शक है। जो इस विषय को विस्तार से जानना चाहते हैं, उन्हें उपर्युक्त पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए।

वेदों में नक्षत्र विज्ञान व ज्योतिष का मूल

वेदों में ज्योतिष शास्त्र अथवा नक्षत्र विज्ञान का मूल पाया जाता है। इस के लिए अधिक प्रमाण इसलिए अनावश्यक है क्योंकि ज्योतिष एक वेदांग है। इसको सभी मानते और एक स्वर से स्वीकार करते हैं। सूर्य सिद्धान्त १ । ३ में लिखा है—

वेदांगमखिलं, ज्योतिषां गतिकारणम्॥ (सू० सि० १ । ३)

यहाँ ज्योतिष को एक श्रेष्ठ वेदांग बताया गया है जिसके द्वारा नक्षत्रों और ग्रहों की गति इत्यादि का ज्ञान होता है।

अथर्व १९ । ७ । २-५ में २८ नक्षत्रों के नाम निम्न मन्त्रों द्वारा बताये गये हैं—

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे॥ २॥
पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम्॥ ३॥
अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम्॥ ४॥

आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु॥ ५॥

(अथर्व० १९।७।२-५)

इन २८ नक्षत्रों का स्वरूप बताते हुए वेद में कहा है—

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।

(अथर्व० १९।७।१)

अर्थात् द्युलोक में चमकनेवाले चित्र-विचित्र एवं भाँति-भाँति के नक्षत्र परिधि मण्डल में एक साथ सर्पणशील है। परस्पर आकर्षण बल से वे युक्त रहते हैं।

ऋग्वेद १।१६४।४८ में १२ राशियों का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥

(ऋ० १।१६४।४८)

किसी यन्त्र में (द्वादश प्रधयः) १२ परिधियाँ हों (एकचक्रम्) और एक ही चक्र हो (त्रीणिनभ्यानि) तीन धुरे पर लगनेवाले पट्टे हों (कःउ तत् चिकेत) उसको कोई बिरला ही ठीक जान सकता है। उस चक्र में (त्रिशता सार्कषष्टिः) ३६० (शंकवः न) खूँटियों के समान (चलाचलासः) चलने और न चलनेवाली कलाएँ (अर्पिताः) लगी हुई हैं। इसी प्रकार काल चक्र में १२ मास १२ परिधियाँ हैं, संवत्सर का एक चक्र है। उसमें ३ मुख्य ऋतुएँ ३ धुरे पर स्थित पट्टे हैं। उसमें ३६० दिन रात्रि रूप ३६० शंकुओं के समान कला है। जिनके घुमाते ही रात्रि दिन होता है।

सूर्य के चारों ओर ग्रहों की परिक्रमा

ऋग्वेद १।६।१ में सूर्य के चारों ओर ग्रह तारों की परिक्रमा का प्रतिपादन इन शब्दों में किया गया है—

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥

(ऋ० १ ।६।१)

यहाँ कहा गया है सूर्य इतना बड़ा अग्निपुञ्ज है कि आकाश के समस्त ग्रह तारे उसकी परिक्रमा करते हैं। मन्त्र के ब्रध्नमरुषम् का अर्थ महान् अग्निपुञ्ज है। इसी मन्त्र की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

असौवा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषः॥ (शत० १३।२।६।१)

तथा '**ब्रध्नो महन्नाम**' (निघं० ३।२); '**अग्निर्वाअरुषः**' (तैत्ति० ३।९।४।१) इस प्रकार सिद्ध होता है कि सूर्य आकाश के गोलों में सबसे बड़ा है और ग्रह तारे उसकी परिक्रमा करते हैं।

वेदों में सूर्य ग्रहण का वर्णन

ऋग्वेद ५।४०।५ में सूर्य ग्रहण का वर्णन इन शब्दों में है—

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥

(ऋ० ५।४०।५)

इन मन्त्र में स्वर्भानुः शब्द सूर्य के छादक राहु के लिए आया है। ज्योतिष के ग्रन्थों में भी सूर्य ग्रहण करनेवाले छादक राहु को स्वर्भानु कहा है—

स्वर्भानोर्वेदतकीष्ट द्विशैलार्थ सकुंजरः। (सूर्यसिद्धान्त १२।२९)

वाल्मीकि रामायण में भी सूर्य ग्रहण करनेवाले छादक राहू को स्वर्भानु नाम दिया है।

आयधावत काकुस्थं स्वर्भानुखिभास्करम्॥ (बा० रा०)

युद्ध काण्ड सर्ग १०२।३१ अर्थात् राम के प्रति रावण ऐसा दौड़ा जैसे सूर्य के प्रति स्वर्भानु–राहु 'असुर इति मेघनाम' (निघं० १।१०) 'असुर इव आसुरः' हवाएँ 'छान्दसोअण्' असुर रात्रि को लक्ष्य करते हैं। अतः उससे सम्बन्ध रखनेवाला–रात्रि को करनेवाला असुर हुआ।

वेदोक्त ज्योतिष के अनुसार चन्द्रमा, पृथिवी के चारों ओर पश्चिम से पूर्व को घूमता हुआ, मास में एक बार सूर्य की दिशा में आता है। उस दिशा में पहुँचकर वह दीखना बन्द हो जाता है। उस तिथि को अमावस्या कहते हैं। फिर जिस अमावस्या में चन्द्रमा इस प्रकार आ जावे जब वह सूर्य और पृथिवी के बीच में गति करता हुआ सूर्य का आच्छादक बनकर सूर्य प्रकाश को पृथिवी तक न पहुँचने दे, किन्तु मेघ के सदृश अपनी छाया को पृथिवी पृष्ठ पर डाले, बस इस ही घटना का नाम सूर्य ग्रहण है। सूर्य सिद्धान्त आदि ज्योतिष ग्रन्थों में कहा भी है—

छादको भास्कर स्येन्दुरधः स्थोघनवद्भवेत्। (सूर्यसिद्धान्त ४।९)

अर्थात् सूर्य का छादक चन्द्रमा उसके नीचे मेघ के सदृश आ जाता है तथा 'छादयति शशी सूर्य, सूर्य शशिनं च भूच्छाया' (आर्यसिद्धान्त ३७) अर्थात् चन्द्रमा सूर्य को आच्छादित करता है और चन्द्रमा को पृथिवी छाया ढकती है।

वेद में चन्द्र ग्रहण का निर्देश

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।

(अथर्व० १।९९।१०)

हमारे लिये चन्द्रमा के ग्रहण सुखदायक हों तथा राहु अर्थात् सूर्य ग्रहण के साथ सूर्य भी सुखदायक हो। चन्द्रमा और सूर्य के बीच में सम रेखा पर पृथिवी के आ जाने से सूर्य के प्रकाश को पृथिवी चन्द्रमा पर पहुँचने से रोकती है, तब पृथिवी

की छाया चन्द्रमा पर पड़ने से चन्द्र ग्रहण पूर्णिमा को होता है।

वेद में दूरवीक्षण यन्त्र (दूरबीन) का निर्देश

ऋग्वेद ५।४०।६ में दूरवीक्षण यन्त्र (दूरबीन) का निर्देश निम्न शब्दों मे पाया जाता है—

स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः॥

(ऋ० ५।४०।६)

इन्द्रअधयत् दिवः अधः वर्तमानाः मायाः अत्रिः अवाह्न।

हे सूर्य ! फिर द्युलोक के इधर वर्तमान स्वर्भानु नामक छादक राहु की मायाओं-प्रभावों को अत्रि ने अर्थात् यहाँ ही तृतीय लोक का साक्षात् करनेवाले दूरदर्शी विद्वान् ने—

अत्रैव तृतीयम्च्छतेत्याहुः तस्मादत्रिः निरुक्ते॥ (३।१७)

हटा दिया। उस अत्रि द्युलोकदर्शी, नक्षत्रदर्शी, दूरदर्शी ज्योतिषी विद्वान् ने (अपव्रतेन तमसा गूढ सूर्ये तुरीयेण ब्रह्मणा अविंदत्) कर्म कलापनाशक (तृतमिति कर्म नाम-निघं० २।१) अन्धकार से गूढ़-ढके हुए तुझ सूर्य को तुरीय ब्रह्म नामक दूरवीक्षण यन्त्र (Telescope) से देख लिया।

इस प्रकार हमने वेदों में विविध विज्ञानों का दिग्दर्शन कराया है। जब वेद न केवल धर्म के अपितु विज्ञान के भी मूल है, तो उनके अनुसार धर्म और विज्ञान में विरोध की सम्भावना ही कहाँ हो सकती है।

अनेक आधुनिक विद्वानों द्वारा वेदों में विज्ञान का समर्थन

सब प्राचीन शास्त्रकार तथा विचारक विद्वान्, जिनमें सभी दर्शनकार सम्मिलित है, वेदों को अपौरुषेय, नित्य और सब विद्याओं का भण्डार मानते रहे हैं। इस बात को हम संक्षेप से पहले दिखा चुके हैं। कलियुग के आचार्यों में से स्वामी श्री शंकराचार्यजी का अत्यन्त उच्च स्थान है। उन्होंने वेदान्त दर्शन के "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्रह्म सूत्र १।१।३) इस सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा—

ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपवृहितस्य।
प्रदीपवत् सर्वाथावद्योतिनः सर्वज्ञ कल्पस्य योनिः।
कारणं ब्रह्म। नहींदृशस्य शास्त्रर्ग्वेदादिलक्षणस्य
सर्वज्ञ गुणान्वितस्य सर्वज्ञावन्यतः संभवोऽस्ति॥

(ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्ये १।१।३)

अर्थात् ऋग्वेद आदि शास्त्र का जो अनेक प्रकार की विद्याओं का भण्डार, सब पदार्थों का ठीक-ठीक बोध करानेवाला और सर्वज्ञ से भिन्न द्वारा उद्भव नहीं हो सकता।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी अपने समय के एक बहुत बड़े विद्वान् थे जिन्होंने बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता की ओर से वैदिक साहित्य के अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया और स्वयं भी ऐतरेयालोचनम्, निरुक्तालोचनम्, त्रयीचतुष्टयम्, त्रयीपरिचयः इत्यादि अनेक उत्तम विद्वत्ता पूर्ण ग्रन्थ लिखे। त्रयी परिचयः में उन्होंने लिखा—'सर्वेषामेव विद्यानां निधानानि इमे वेदाः' (त्रयी परिचयः पृ० ५) ये वेद सब विद्याओं के निधान का कोष है। इसी पुस्तक के पृ० ८६ पर उन्होंने लिखा—"अस्य आर्य धर्म मूलस्य सर्व विद्यानिधानस्य विद्या पर पर्यायस्य वेदस्य" (त्रयी परिचयः पृ० ८६) अर्थात् आर्य धर्म के मूल, सब विद्याओं के भण्डार वेद के जिसका पर्यायवाची शब्द विद्या है। इत्यादि सन् १८९७ ई० में प्रकाशित अपनी बंगाली भाषा की पुस्तक त्रयीभाषा की अंग्रेजी भूमिका में उन्होंने लिखा—

"This four-fold Trayi is the repository of all Aryan Knowledge, whether theological practical, scientific, ethical and social."

(Trayi Bhasha Introduction P. 2)

अर्थात् ये त्रयी नामक चारों वेद आर्यों के धर्म विज्ञान, व्यावहारिक, वैज्ञानिक, कर्त्तव्य शास्त्र तथा समाज शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान के भण्डार हैं। आगे इस भूमिका में उन्होंने अंग्रेजी में जो लिखा उसका हिन्दी भाषानुवाद इस प्रकार है—

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'त्रयी परिचय' की भूमिका में लिखा—"हमारी सम्मति में वैदिक युग में हमारे देश ने असाधारण उन्नति की थी। उन दिनों भूगर्भ विद्या, गणित और ज्योतिष शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि को आधिदैविक विद्या और शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान तथा धर्म विज्ञान आदि को अध्यात्मविद्या कहते थे। यद्यपि इन वैज्ञानिक विषयों के ग्रन्थ अब विलुप्त हो चुके हैं, तो भी वैदिक ग्रन्थों में इन विद्याओं के व्यापक ज्ञान के संकेत भरपूर मिलते हैं। वेदों के ये संकेत इसलिए समझ में नहीं आते क्योंकि भाष्यकारों को इन विद्याओं का ज्ञान न था। वेदों के कुछ स्थलों के अध्ययन से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें इतना ऊँचा विज्ञान भरा हुआ है कि उस तक आज के अमरीका और यूरोप के लोग भी नहीं पहुँच सके हैं। जब तक भाष्यकार को इन सब विद्याओं का ज्ञान नहीं होगा, तब तक वह सन्तोषजनक भाष्य नहीं कर सकता। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जो व्यक्ति कृषि विज्ञान, वाणिज्य, भूगर्भ शास्त्र, गणित और ज्योतिष, जल विद्या, अग्नि विद्या, वनस्पति शास्त्र, प्राणी शास्त्र, शरीर विज्ञान और युद्ध विद्या आदि विद्याओं को भली-भाँति जानता है, वही वेद का उपयुक्त भाष्यकार हो सकता है। और उसी का वेद भाष्य प्रामाणिक हो सकता है।"

(त्रयी भाषा की अंग्रेजी भूमिका का भाषानुवाद)

ऋषि दयानन्द सरस्वती का एतद्विषयक अभिनन्दनीय प्रयत्न

यदि यह कहा जाय कि इस युग में वेदों में अनेक प्रकार की विद्याएँ दिखाने का सबसे अधिक श्रेय ऋषि दयानन्द सरस्वती को है, तो इसमें जरा भी अत्युक्ति न होगी। उन्होंने ब्राह्मणग्रन्थ, निघण्टु, निरुक्त तथा अन्य प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के आधार पर लिखे वेद भाष्य तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदों को विविध विद्याओं का कोष सिद्ध करने का अत्यन्त अभिनन्दनीय प्रयत्न किया है। एक समय था जब आजकल के कई पुराने सम्प्रदायों के अनुयायी विद्वान् उनके इस प्रयत्न की कटु आलोचना करते और उपहास तक किया करते थे। किन्तु यह हर्ष की बात है कि अब उनका भी दृष्टिकोण बदल रहा है और वे भी वेदों के अन्दर भरे विज्ञान को खोजने और प्रकट करने में लग गये हैं। ऐसे विद्वानों में महामहोपाध्याय गिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी और उनसे पूर्ववर्ती स्वर्गीय मधुसूदनजी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्दजी द्वारा ऋषि दयानन्द का समर्थन

इस युग के जगद्विख्यात योगी और सुप्रसिद्ध मनीषी श्री अरविन्द ने ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य और वेदों में विज्ञान विषयक उनके मन्तव्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए "Dayananda and Veda" शीर्षक लेख में लिखा था कि—

"There is nothing fantastic in Dayananda's idea that Veda contains truth of Science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains the other truths of a Science, the Modern world does not at all possess and in that case, Dayananda has rather understated than overstated the depth and range of the Vedic Wisdom."

"If, as Dayananda held on strong enough grounds, the Veda reveals to us God, reveals to us the relation of the soul to God and Nature, what is it but a Revelation of Divine Truth? And if, as Dayananda held, it reveals them to us with a perfect truth, flawlessly, he might well hold it for an infallible scripture?..."

"In the matter of Vedic interpretation, I am convined that whatever may be the final complete interpretation, Dayananda will be honoured as the first discoverer of the right class. Amidst the chaos and obscurity of old ignorance and age long misunderstanding, his was the eye of the direct vision that pierced to the truth and fastened on to that which was essential. He has found the keys of the doors that time had closed

and rent asunder the seals of the imprisoned fountains."

(Dayananda and the Veda by Shri Aurobindo in the Vedic Magazine, Nov. 1916)

इसका भाव यह है कि दयानन्द की इस कल्पना में कि वेद में धर्म और विज्ञान दोनों की सच्चाइयाँ पायी जाती हैं, कोई उपहासास्पद व कल्पित बात नहीं है। मैं इसके साथ अपनी धारणा जोड़ना चाहता हूँ कि वेदों में एक–दूसरे विज्ञान की सच्चाइयाँ भी विद्यमान है जिनका आधुनिक जगत् को किंचिन्मात्र भी ज्ञान नहीं है और ऐसी अवस्था में दयानन्द ने वैदिक ज्ञान की गम्भीरता के विषय में अतिशयोक्ति से नहीं, अपितु न्यूनोक्ति से ही काम लिया है।

यदि यह बात ठीक है जैसे कि दयानन्द का प्रबल प्रमाणों के आधार पर विश्वास था कि वेद में परमेश्वर, प्राकृतिक नियम और परमेश्वर के आत्मा और प्रकृति के साथ सम्बन्ध, इन सब बातों के विषय में सत्य ज्ञान को प्रकाशित किया गया है, तो इसे ईश्वरीय सत्य के प्रकाशक के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है। और यदि जैसे कि दयानन्द का विश्वास था कि इन विषयों का ज्ञान वेदों में पूर्ण सत्य के साथ निर्दोष रूप में प्रकाशित किया गया है, तो उसका निर्भान्त धर्म ग्रन्थ के रूप में वेदों को मानना समुचित ही है।....

वैदिक व्याख्या के विषय में मेरा यह विश्वास है कि वेदों की सम्पूर्ण और अन्तिम व्याख्या कोई भी हो दयानन्द का यथार्थ निर्देशों के प्रथम आविर्भावक के रूप में सदा मान किया जाएगा। पुराने अज्ञान और पुराने युग की मिथ्या ज्ञान की अवस्था और अस्पष्टता के बीच में यह उसकी ऋषि दृष्टि थी जिसने सच्चाई को निकाल लिया और उसे वास्तविकता के साथ बाँध दिया। समय ने जिन द्वारों को बन्द कर रखा था, उनकी चाबियों को उन्होंने पा लिया और बन्द बड़े हुए स्रोत की मुहरों को उन्होंने तोड़कर परे फेंक दिया।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त विज्ञान और दर्शन सम्मत

धर्म और विज्ञान के समन्वय की समस्या पर विचार करते हुए पुनर्जन्म पर भी विज्ञान और दर्शन की दृष्टि से कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि यह वैदिक धर्म का ही एक अत्यावश्यक सिद्धान्त है। पारसी तथा अन्य कई मतों में भी इसको माना गया है। यद्यपि आजकल अधिकतर ईसाई और मुसलमान इसको नहीं मानते तथापि बाइबल और कुरान के अनेक वाक्यों से यह प्रतीत होता है कि उनमें भी इसका समर्थन पाया जाता है जैसे कि डॉ० भगवानदास ने अपने "Essential Unity of all Religions" नामक सुप्रसिद्ध विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में दिखाने का यत्न किया है।

वेदों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाले कुछ मन्त्र निम्नलिखित

हैं—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥
उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥

(अथर्व० १०।८।२७-२८)

इन मन्त्रों में आत्मा को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तू कभी स्त्री का रूप ग्रहण करता है कभी पुरुष का, कभी तू कुमार बनता है कभी कुमारी। तू कभी दण्ड लेकर वृद्ध रूप में चलता है और अपने कर्मानुसार चारों दिशाओं में अनेक रूपों में प्रकट होता है। यह आत्मा कभी इनका पिता बन जाता है, कभी पुत्र, कभी ज्येष्ठ भ्राता और कभी कनिष्ठ। यह एक आत्मा देव मन के अन्दर प्रविष्ट है और यही माता के गर्भ में प्रवेश करता है। पुनर्जन्म और आत्मा के विविध योनियों में कर्मानुसार संचार का यह कितना सुन्दर वर्णन है।

यजुर्वेद १२।३६ में भी पुनर्जन्म का अति स्पष्ट प्रतिपादन है। जहाँ 'गर्भे सन् जायसे पुनः' इन शब्दों का प्रयोग है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सञ्जायसे पुनः॥

(यजु० १२।३६)

इस मन्त्र में आत्मा को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि हे अग्नि के समान वर्तमान जीव, सहनशील! तू जलों और सोमलतादि ओषधियों को प्राप्त होता है और गर्भ में स्थिर होकर फिर जन्म ग्रहण करता है। इसके भाष्य में ऋषि दयानन्दजी ने लिखा है—

"ये जीवाः शरीरं त्यजन्ति ते वाय्वोषध्यादिषु च भ्रान्त्वागर्भैः प्राप्य यथाशरीरं सशरीरा भूत्वा पुनर्जायन्ते।" अर्थात् जो जीव शरीर को छोड़ते हैं, वे वायु और ओषधि आदि पदार्थों में भ्रमण करते-करते गर्भाशय को प्राप्त होके नियत समय पर फिर शरीर धारण करके प्रकट होते हैं। पुनर्जन्म सिद्धान्त का कितना स्पष्ट प्रतिपादन है।

ऋ० १०।५९।६ में मन्त्र आता है—

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति॥

(ऋ० १०।५९।६)

इस मन्त्र में 'पुनः अस्मासु चक्षुः पुनः प्राणं धेहि' इत्यादि प्रयोग आये हैं जिनमें पुनर्जन्म का निर्देश प्रार्थना रूप में किया गया है कि हे जीवन प्रदाता परमेश्वर! आप भविष्यकाल में मृत्यु के पश्चात् भी हमें फिर उत्तम दृष्टि दें,

उत्तम प्राण धारण करायें जिससे हम सूर्य को चिरकाल तक देखते रहें। आप हमें सुखी करें।

अथर्ववेद ११।४।२० में भी स उ जायते पुनः, इन शब्दों का प्रयोग करते हुए पुनर्जन्म के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन है।

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत्पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः॥

(अथर्व० ११।४।२०)

इस मन्त्र में कहा गया है कि वह जब माता के गर्भ में बार-बार प्रविष्ट होता है और अपने शुभ कर्मानुसार सत्यनिष्ठ विद्वानों के घर में जन्म लेता है। वह बार-बार जन्म लेता अर्थात् शरीर से संयुक्त होता है (स उ जायते पुनः) स्वयं अपनी नित्यता के कारण वह भूत, वर्तमान, भविष्य सब कालों में रहता है और जब वह पिता बनता है तो पुत्र के शरीर में अपनी शक्तियों के साथ संस्कारादि के रूप में वह मानो प्रवेश करता है।

आत्मा की नित्यता और अमरता का विवेचन गत अध्याय में करते हुए कई मन्त्रों में पुनर्जन्म का भी प्रतिपादन अर्थ सहित किया जा चुका है।

पुनर्जन्म सिद्धान्त का विज्ञान द्वारा समर्थन

आत्मा की नित्यता और अमरता का गत अध्याय में विवेचन करते हुए हमने सर आलिवरलाज, डॉ० पौल केरस आदि अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने किस प्रकार इस सिद्धान्त का समर्थन किया है, यह बताया है। इनसे जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त की पुष्टि होती ही है, तथापि कुछ और वैज्ञानिकों और दार्शनिक मनीषियों की साक्षी हम पुनर्जन्म के वेदादि सम्मत मन्तव्य के समर्थन में प्रस्तुत करते हैं। फ्राँस देशीय सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक फ्लैन्मैरियों (Flanmarion) ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विषय में "Death and its Mystery" (मृत्यु और इसका रहस्य) नामक पुस्तक में लिखा है—

"External life can be understood only according to the principle of re-incarnation laid down by Pythagoras, Oriegen, Gean Reyorand and so many other philosophers."

"The doctrine of re-incarnation is the only one which remains admissible after we have pondered all metaphysical considerations and it is the oldest of definite religious beliefs. There must be both a previous existence and an after life."

"Our life after death will vary according to our preparations for

it. We are what we make ourselves."

(Flammarion in "Death and its Mystery Vol. III, P. 338)

अर्थात् शाश्वत जीवन को पैथागोरस, ओरिजन, जीन रेयराण्ड और अन्य अनेक दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार ही समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं। तत्त्वमीमांसा विषयक सब वादों पर विचार करने के पश्चात् केवल पुनर्जन्म का ही सिद्धान्त है जो स्वीकरणीय अवशिष्ट रहता है और यह निश्चित धार्मिक विश्वासों में से सबसे पुराना है। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म दोनों को स्वीकार करना आवश्यक है। मृत्यु के पश्चात् हमारा जीवन इसके लिए हमारी तैयारी के अनुसार परिवर्तित होगा। हम जो कुछ अपने को बनाते हैं, वही हो जाते हैं।

फिगुइर नामक प्रख्यात पाश्चात्त्य वैज्ञानिक मनीषी ने अपनी सुप्रसिद्ध "Day after Death" नामक पुस्तक में संसार में पाई जानेवाली विषमता की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"If there are a few men well-organised, of good constitution and robust health, how many are infirm, idiotic, deaf, mute, blind from birth, maimed, foolish and insane. Some are born into opulence, others into the most dreadful want, some men are endowed with all benefits, of mind, others on the contrary are devoid of intelligence, penetration and memory".

"These differences and disparities are bewildering and can not be explained on any other hypothesis but that of re-incarnation".

"If we admit the plurality of human existence and incarnation, that is the passage of the same soul through several bodies-all this is made wonderfully clear". (Day after Death by Figuir P. 205)

अर्थात् यदि कुछ ऐसे आदमी है जो गठे हुए शरीर के स्वस्थ व्यक्ति है, कितने हैं जो निर्बल, निर्बुद्धि, बधिर, गूँगे जन्म से ही अन्धे, लंगड़े, मूर्ख और पागल हैं? कई बड़े सम्पन्न परिवारों में उत्पन्न होते हैं तो दूसरे कई ऐसे जो अन्यन्त भयंकर निर्धनता की परिस्थिति में जन्म लेते हैं। कइयों को सब प्रकार की मानसिक शक्ति प्राप्त है, इसके विपरीत दूसरे लोग बुद्धि, विवेक और स्मृति शक्ति से रहित है।

ये भेद और विषमताएँ विभ्रान्त कर देनेवाली है और इनकी व्याख्या पुनर्जन्म के अतिरिक्त अन्य किसी परिकल्पना से नहीं हो सकती।

यदि हम मानव जीवन और जन्म के बहुत्व को स्वीकार करें, अर्थात् आत्मा के कर्मानुसार अनेक शरीरों के धारण करने की बात को मान लें, तो यह सब आश्चर्यजनक रूप से स्पष्ट हो जाता है।

धर्म और विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ मनीषियों के वचन

१. अंग्रेजी में धर्म के लिए Religion शब्द का प्रयोग होता है। यद्यपि धर्म का व्यापक भाव इसमें नहीं आता। डॉ० पाल केरस ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "The Religion of Science" विज्ञान का धर्म, में धर्म और विज्ञान के सम्बन्ध में लिखा है—

"True Science and true Religion can never come in conflict. If there is any conflict between religion and science, it is a sign that there is something wrong in either our science or our religion and we shall do well to revise them both."

(The Religion of Science by Dr. Paul Carus. P. 72)

अर्थात् सच्चे विज्ञान और सच्चे धर्म में कभी विरोध नहीं हो सकता। यदि कभी धर्म और विज्ञान में विरोध होता है तो यह इस बात का चिह्न है कि या तो हमारे विज्ञान में अथवा हमारे धर्म में कुछ गलती है और हमारे लिये यह अच्छा होगा कि उन दोनों की फिर से जाँच कर लें।

२. प्रो० हक्सले ने धर्म और विज्ञान के सम्बन्ध के विषय में ये उल्लेखनीय शब्द लिखे थे—

अर्थात् सच्चा धर्म और सच्चा विज्ञान ये दो जुड़वा बहिनें हैं और एक को दूसरे से अलग करना दोनों की मृत्यु का कारण बन जाएगा।

३. डॉ० फ्लेमिंग ने २२ से २९ नवम्बर सन् १९१४ तक आयोजित Science Week में लंदन के ब्राउनिंग हाल में "The Supreme Intelligence in and above Nature" इस विषय पर भाषण देते हुए (जिसमें से कुछ उद्धरण हम ''तर्क और श्रद्धा के समन्वय की समस्या'' विषयक अध्याय में दे चुके हैं) धर्म और विज्ञान के सम्बन्ध के विषय में कहा था—

"Science and religion are not opposed. They are not enemies. They are not neutrals. They are allies. Rather are they two great departments of one vast domain".

(Religion and Science by Seven men of Science)

अर्थात् विज्ञान और धर्म एक-दूसरे के विरोधी नहीं। वे शत्रु नहीं। वे उदासीन भी नहीं। वे मित्र हैं। या ऐसा कहना चाहिए कि वे एक विशाल क्षेत्र के दो विभाग हैं।

४. जगद्विख्यात लेखक और विचारक बर्नार्डशॉ ने "Every body's Polictical-What is What" नामक अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक में "Religious Summary" शीर्षक अध्याय में लिखा—

"Science and Religion at logger head are reflected politically in a suicidal world war. The popular notion that one of the two must be all right and the other all wrong is what I call soot or white wash reasoning, it is not reasoning at all, but thoughtless unobservant jumping at conclusions. Both our science and our religion are gravely wrong, but they are not all wrong; and it is our urgent business to purge them of their errors and get them both as right as possible. If we could get them entirely right, the contradiction between them would disappear. We should have a religious science and scientific religion in a single synthesis."

"Meanwhile we must do the best we can instead of running away from the conflict as we are cowardly enough to do at present."

(Everybody's Political, What is What by Bernard Shaw, P. 362-363)

अर्थात् धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी बनकर राजनैतिक रूप से एक विश्वव्यापी युद्ध के रूप में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। यह लोकप्रिय धारणा कि इन दोनों में से एक बिल्कुल ठीक होना चाहिए और दूसरा बिल्कुल अशुद्ध, यह कोई तर्क संगत बात नहीं है; यह तो विचार शून्य रूप में बिना सूक्ष्म निरीक्षण के परिणाम पर पहुँचना है। दोनों हमारे धर्म और विज्ञान गम्भीर रूप में अशुद्ध है। किन्तु वे सम्पूर्णतया अशुद्ध नहीं और यह हमारा अत्यावश्यक कार्य है कि हम उन्हें अशुद्धियों से दूर करके इतना ठीक बना दें जितना सम्भव है। यदि हम ऐसा करते हैं तो उन दोनों में जो मतभेद दिखाई देता है वह बिल्कुल नष्ट हो जाएगा। हमें धार्मिक विज्ञान और वैज्ञानिक धर्म की एक समन्वित रूप में आवश्यकता है। इस बीच में इन दोनों के विरोध से भाग जाने के स्थान पर (जैसे कि आजकल हम भीरुता से कर रहे हैं) हम जो कुछ अच्छे–से–अच्छा कर सकते हैं, वह हमें करना चाहिए।

उपसंहार और अध्याय सार

इस प्रकार इस अध्याय में हमने पहले धर्म के अनेक शास्त्रानुसार लक्षणों पर विचार करते हुए वैशेषिक शास्त्रोक्त "यतोअभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः" इस लक्षण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझकर उसको वेदमूलक बताया है। वेदों में धर्म शब्द

का प्रयोग किन–किन अर्थों में पाया जाता है, इसका भी निरुपण करते हुए सप्रमाण बताया है कि प्राकृतिक और नैतिक जगत् के अन्दर काम करनेवाले शाश्वत नियमों के लिये भी वेदों में धर्म शब्द का प्रयोग पाया जाता है जिनका अधिपति, अध्यक्ष व अधिष्ठाता "विशां राजानमद्भुतम् अध्यक्षं धर्मणामिमम्। अग्निमीडे स उ श्रवत्" (ऋ० ८।४३।२४) इत्यादि मन्त्रों के अनुसार अग्नि–ज्ञानमय सर्व नेता भगवान् है। विज्ञान का काम इन धर्मों–अचल व शाश्वत नियमों का पता लगाना है। अत: वैदिक धर्म में धर्म और विज्ञान के विरोध का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वैदिक धर्म के सर्वथा विज्ञान और तर्क संगत होने के विषय में हमने मि० ब्राऊन, जैकोलियट, मिसेज विल्कौक्स, प्रो० मैक्समूलर आदि की साक्षियाँ भी प्रस्तुत की हैं जिन्होंने यह भी साथ–साथ निर्देश किया है कि ईसाइयत तथा मत–मतान्तरों के मन्तव्यों का विज्ञान तथा तर्क से अनेक स्थानों पर विरोध है। बर्मिधम के बिशप डॉ० बार्न्स के एतिद्विषयक स्पष्ट वचनों को भी हमने उद्धृत किया है। इसके पश्चात् वेदों में विमान नौ विद्या, तार, चिकित्सा विज्ञान, प्राणि विज्ञान, भौतिकी, रसायन, ज्योतिषी इत्यादि विविध विज्ञानों के मूल का दिग्दर्शन कराते हुए इस विषय में श्री अरविन्द, डॉ० रेले आदि महाविद्वानों की सम्मति का उद्धृत किया गया है। अन्त में धर्म और विज्ञान के समन्वय के विषय में बर्नार्डशॉ आदि मनीषियों के महत्त्वपूर्ण विचारों को उद्धृत करते हुए इस समन्वय विषयक समस्या का समाधान केवल वेदों द्वारा ही सम्भव है, यह दिखाने का प्रयत्न किया है।

अध्याय-१९

अधिकार व कर्त्तव्य

अधिकारों और कर्त्तव्यों के समन्वय की समस्या भी वर्तमान युग की जटिल समस्याओं में से एक है। यह समस्या इसलिए विशेष रूप से सम्मुख आती है क्योंकि आजकल प्रत्येक व्यक्ति और समाज का बल कर्त्तव्यों की अपेक्षा अधिकारों पर अधिक रहता है। कर्त्तव्य भावना बहुत कम हो गयी है। किन्तु अधिकारों के संगठनों (चाहे वे शिक्षकों के हों, व्यवस्थापकों के, मकान मालिकों के, किरायेदारों के, बैंक कर्मचारियों के, विद्यार्थियों के अथवा स्त्रियों के, यहाँ तक कि नाइयों और घरेलू नौकरों की माँगें इतना जोर पकड़ रही हैं कि समाचार-पत्रों के स्तम्भों के स्तम्भ उनसे भरे हुए होते हैं। जहाँ देखें वहीं हड़ताल हो रही है। तथाकथित सत्याग्रहों की जिनमें भूख हड़ताल भी सम्मिलित है) कोई कमी नहीं। अध्यापकों और उपाध्यायों के भी जलूस निकलते हैं, हड़तालें होती है और बड़ी-बड़ी सभाएँ होती हैं, जिनमें वे अपने अधिकारों की माँगें रखते हैं। फिर छात्रवृन्द का तो कहना ही क्या है ? वे कैसे-कैसे हीन कारनामों पर उतर आते हैं, इसका दिग्दर्शन हम छात्रों की अनुशासन हीनता की समस्या पर विचार करते हुए कर चुके हैं।

यह अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। कर्त्तव्य भावना की न्यूनता के कारण न सरकारी कार्यालयों में ठीक काम होता है, न न्यायालयों में और न दुकानों इत्यादि में। सब जगह शिकायत है कि लोग वेतन और भत्ते तो खूब लेना चाहते हैं, पर काम कम-से-कम करना चाहते हैं। इस तरह कैसे काम चल सकता है ? कर्त्तव्यों और अधिकारों का समन्वय कैसे हो, यह बड़ी समस्या है जिस पर वेदों की दृष्टि से विचार करके फिर हम तुलनात्मक दृष्टि से कुछ विचार प्रस्तुत करेंगे।

वेदों का कर्त्तव्यों पर अधिक बल

वेदों का कर्त्तव्यपालन पर बहुत अधिक बल है। कर्त्तव्य कर्मपालन के बिना जीवन को ही निरर्थक माना गया है। ज्ञान कर्म भक्ति समन्वय के प्रकरण में हम—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(यजु० ४०।२)

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः॥

(यजु० ३।४७)

देवस्य सवितुः सर्वैः कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।

(अथर्व० ६।२३।३)

इत्यादि मन्त्रों को उद्धृत कर चुके हैं कि जिनका तात्पर्य यह है कि मनुष्य सौ वर्ष तक कर्त्तव्य कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करे। ऐसा करने से मनुष्य में कर्म का लोप नहीं होता। अनासक्त होने का और कोई प्रकार नहीं है। कर्मशील, सुखदायिनी उत्तम वाणी के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं और विद्वानों तथा अन्य व्यवहारी लोगों के कल्याण के लिए कर्म करके अपने घरों में जाते हैं। सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक भगवान् के बनाये हुए इस मनुष्य-जगत् में सदा अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहें। वेदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों के नर-नारियों और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—इन आश्रमस्थ व्यक्तियों के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है जिसको व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध विषयक अध्याय में दर्शाया जा चुका है। वेदों में इन कर्त्तव्यों के पालन पर ही बल दिया गया है। जो इन कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता, वह पाप का भागी बनता है। इन उत्तम कर्त्तव्यों के पालन से ही मनुष्य की शोभा होती है। इसलिए वेद में सोम (शान्त स्वभाव के ज्ञानी) को सम्बोधन करते हुए कहा है—

चारु सुकृत्ययेमेह॥

आप (सुकृत्यया) उत्तम कर्त्तव्यपालन के कारण (चारु) सुन्दर हैं अतः हम (इमेह) आपको चाहते हैं अथवा आपसे उपदेश की प्रार्थना करते हैं ऋग्वेद ९।१०१।१० में और साम० ११०१ में सोमो (शान्त स्वभाव के विद्वानों विशेषतः संन्यासियों) को सम्बोधन करते हुए कहा है कि—

सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः।
मित्राः सुवाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः॥

(ऋ० ९।१०१।१०; साम० ११०१)

(इन्दवः) चन्द्र की किरणों के समान सबको आह्लादित करने अथवा जीवनों को भक्ति रस के संचार से सरस बनानेवाले, (अस्मभ्यं गातु वित्तमाः) हमारे लिए धर्म मार्ग को जाननेवालों में श्रेष्ठ, (गम्यतेअनेनेतिगातुः पन्थाः तद्वेत्तृवराः) (मित्राः) सबके सच्चे मित्र (सुवानाः) उत्तम जीवन बिताने अथवा उत्तम शब्दों का उच्चारण करनेवाले (सु-आनाः अन्-प्राणधारणे अथवा स्वन-शब्दे) (अरेपसः) पाप रहित (स्वाध्यः) उत्तम बुद्धि सम्पन्न अथवा अच्छी प्रकार भगवान् का ध्यान और कर्म करनेवाले (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त करानेवाले (विद्लृ-लाभे) ऐसे (सोमाः) सौम्य स्वभाववाले विद्वान् (पवन्ते) सबको पवित्र करते अथवा सर्वत्र गति करते हैं। (पुञ्-गतौ)

सौम्य विद्वानों के कर्त्तव्यपालन का कितना उत्तम निरूपण इस प्रकार के मन्त्रों में हुआ—

देवों (सत्यनिष्ठ निष्पाप विद्वानों) की विशेषता और महत्ता इसी में है कि वे अपने कर्त्तव्यों का सदा तत्परता से जागरूक और प्रमाद रहित होकर पालन करते रहें और इसलिए सामान्य मनुष्यों को भी उनके अनुसरण का उपदेश वेदों में दिया गया है।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

(ऋ० १०।१९१।२)

हे मनुष्यो! तुम मिलकर चलो, मिलकर प्रेम से भाषण करो और तुम्हारे मन प्रेम युक्त ज्ञान सम्पन्न तथा सुसंस्कृत हों। जैसे (संजानानाः पूर्वे देवाः) सम्यक् ज्ञान युक्त अनुभवी सत्यनिष्ठ विद्वान् (भागम् उपासते) भजनीय, सेवनीय कर्त्तव्य अथवा अपने कर्त्तव्य भाग का पालन सदा करते रहते हैं, वैसे तुम भी करो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में कर्त्तव्यपालन पर कितना बल दिया गया है। कर्त्तव्य पर जहाँ बल दिया जाता है, वहीं सुख और शान्ति का निवास होता है। जहाँ अधिकारों पर बल दिया जाता है, वहाँ संघर्ष और अशान्ति होना अनिवार्य है। किसी परिवार में यदि पति पत्नी अपने अधिकारों पर ही ध्यान रखें और कर्त्तव्यपालन की ओर ध्यान न दें, तो पारिवारिक शान्ति कैसे रह सकती है? शिक्षा संस्थाओं में यदि विद्यार्थी कर्त्तव्यपालन की ओर ध्यान न देकर अधिकारों के लिये ही लड़ते रहें, तो वे कैसे विद्योपार्जन कर सकते हैं? जो विद्या सच्चे विनय को उत्पन्न करती है और जिसकी शोभा ही विनय या नम्रता के साथ है, जैसे कि नीति शास्त्रकारों ने निम्न सुभाषितों द्वारा दर्शाया है—

विद्या ददाति विनयम्॥ (पञ्चतन्त्र)

विद्या विनयोपेता, हरति न चैतांसि कस्य मनुजस्य।
कांचनमणि संयोगो नो जनयति कस्य लोचनानन्दम्॥

इसी प्रकार यदि शिक्षक लोग भी विद्यार्थियों के प्रति अपने कर्त्तव्य का तत्परता से पालन करते हुए अपने वेतन, भत्ते और अधिक अवकाश तथा अन्य सुविधादि विषयक अधिकारों के लिये आन्दोलन तथा हड़तालें तक करते रहें, तो विद्यार्थियों को वे कैसे सुशिक्षित, विनीत, धर्मात्मा और सच्चरित्र बना सकते हैं? यदि श्रमिक (मजदूर) किसी भी उद्योगालय (फैक्टरी) कारखाने आदि में राष्ट्र के लिए आवश्यक वस्तुओं के अधिकतम मात्रा में उत्पादन के अपने कर्त्तव्य का तत्परता और सत्यनिष्ठा से पालन न करते हुए, उद्योगपतियों तथा व्यवस्थापकों के साथ अधिकारों के लिए संघर्ष में ही दिन-रात लगे रहें, तो इससे राष्ट्रीय हित को

कितना धक्का लगता है। इसको सब जानते हैं। इसी प्रकार इन उद्योगालयों और कारखानों के मालिक यदि श्रमिकों तथा अन्य कर्मचारियों के प्रति प्रेम और सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार रखने के अपने कर्त्तव्य का पालन न करके अपने लाभ, सुविधाओं वा अधिकारों का ही अधिक ध्यान रखें तो इसका परिणाम सिवाय संघर्ष, असन्तोष और राष्ट्रीय उत्पादन में कमी के और क्या हो सकता है ? इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि सबका ध्यान कर्त्तव्य-पालन की ओर हो, उसी पर अधिक बल हो। इसके साथ इस बात का भी ध्यान रखा जाये कि कार्य आत्म सम्मान पूर्वक हो और कोई अभिमान और स्वार्थवश किसी के उचित अधिकारों का अपहरण न कर सके। वेद के इस उपदेश को सब सदा याद रखें कि—

३ १ २ ३ १ २ ३२उ ३क २र ३ १ २र
अया सोम सुकृत्यया महान्त्सन्नभ्यवर्धथाः। मन्दान इद् वृषायसे॥

(साम० ५०७)

हे (सोम) सौम्य गुण युक्त पुरुष ! तू (अयासुकृत्यया) इस उत्तम कर्त्तव्य के पालन द्वारा ही (महान् सन) महान् बनकर (अभि अवर्धथा:) चारों ओर से वृद्धि को प्राप्त होता है, बढ़ता है और (मन्दान इत्) मस्त होता हुआ-अत्यन्त आनन्दित होता हुआ ही (वृषायसे) मेघ के समान सुख की वर्षा करता है।

यदि सब छात्र, कर्मचारी, अधिकारी, मन्त्री, मुख्यमन्त्री, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति इत्यादि वेदों के इस उपदेश के अनुसार आचरण करने लग जायें कि मनुष्य धन और प्रतिष्ठा, महल, गाड़ी और सम्पत्ति के कारण बड़ा नहीं बनता, अपितु उत्तम कर्त्तव्यपालन से ही वह महान् बन सकता है और स्वयं सुखी तथा आनन्दित होकर (मदी-हर्षे, तृप्तियोगे) सब पर मेघ की तरह सुख की वर्षा कर सकता है, तो पृथिवी सचमुच स्वर्ग वा सुखधाम बन जाय।

वेदों में कर्त्तव्यों और अधिकारों का समन्वय

इस प्रकार वेद एक ओर जहाँ कर्त्तव्यों पर इतना बल देते और उत्तम कर्त्तव्यपालन से ही मनुष्य चारु (सुन्दर) और महान् बनता है, यह बताते हैं, वहाँ वे साथ ही—

अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

(यजु० ३६।२४)

यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः॥

(ऋ० १०।१५२।४; साम० १८६८)

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति॥

(अथर्व० ६।६।२)

इत्यादि इन मन्त्रों द्वारा सौ वर्ष और उससे अधिक समय तक भी सदा अदीनता–स्वाधीनता पूर्वक जीवन व्यतीत करना, जो दुष्ट हमें दास बनाना चाहता है उसे नीचा दिखाना और यदि अन्य प्रकार से ऐसा दुःशंस–बुरी कामनावाला और बुराइयों की प्रशंसावाला व्यक्ति पद और धन के मद में मत्त होकर सज्जनों पर अनुचित प्रभुत्व जमाना चाहे, तो वज्रादि से उसके मुख पर प्रहार करना तक सिखलाते हैं। दोनों के समन्वय का प्रकार वेदों के अनुसार यह है कि प्रत्येक नर–नारी का अधिकतम ध्यान और बल अपने कर्त्तव्यपालन पर हो। किन्तु यदि अपने कर्त्तव्य का तत्परता और पूर्ण सत्य निष्ठता से पालन करते हुए भी कोई धन–मदमत्त उचित स्वतन्त्रता और अधिकारों का अपहरण करने पर उतारू हो जाये, तो दृढ़ता दिखानी चाहिए और अपनी सुख–सुविधाओं का परित्याग करके भी अपनी उचित स्वतन्त्रता की रक्षा करनी चाहिए, अन्यथा ऐसे धन पद मदमत्त निर्धनों पर मनमाने अन्याय और अत्याचार करने से बाज न आयेंगे। ऋषि दयानन्द सरस्वती ने तो इस विषय में यहाँ तक लिख दिया है कि—

"मनुष्य उसी को कहना कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख, दुःख और हानि–लाभ को समझे। अन्यायी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुण रहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ और महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही चले जायें, परन्तु इस मनुष्यपन धर्म से कभी पृथक् न होवे।"

(स्वमन्यव्यामन्तव्य प्रकाश)

सुप्रसिद्ध मनीषी एच० जी० वेल्स का मानव अधिकार घोषणा पत्र

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए हमारा ध्यान इंग्लैंड के जगद्विख्यात मनीषी स्व० ऐच० जी० वेल्स के सन् १९३९ में बनाये प्रारूप और पीछे से इंग्लैंड के भू०पू० लार्ड चान्सलर लार्ड सैन्की की कमेटी द्वारा दुहराये गए तथा मई १९४० में लन्दन के Picture Post (पिक्चर पोस्ट) नामक पत्र में प्रकाशित मानव अधिकार पत्र पर जाता है जिसके मुख्य अंश निम्नलिखित थे—

१. जीने का अधिकार (Right to live)

विधि (कानून) की दृष्टि में सब नागरिक सर्वथा समान है। अतः उन्हें जीने और अपने शारीरिक, मानसिक विकास के लिए उचित सुविधाएँ पाने का अधिकार

होना चाहिए।

२. अवयस्कों की रक्षा (Protection of minors)

पहला कर्त्तव्य और अधिकार अवयस्कों की रक्षा का माता-पिता का है उनके अभाव में समाज उचित शिक्षकों की व्यवस्था परिस्थिति अनुसार करेगा।

३. समाज के प्रति कर्त्तव्य

अपनी शक्ति और योग्यतानुसार समाज की सेवा करना प्रत्येक का कर्त्तव्य और साथ ही अधिकार है।

४. Right to knowledge—"Duty to the community" ज्ञान व शिक्षा प्राप्ति प्रत्येक नागरिक का अधिकार है। उचित शिक्षा प्राप्त करना उसका अधिकार है तथा इसके लिए उचित ज्ञान और सूचना देना समाज का कर्त्तव्य है।

५. विचार और पूजा की स्वतन्त्रता (Freedom of thought and worship)

६. कार्य करने का अधिकार (Right to work) जिससे प्रत्येक का निर्वाह और समाज का कल्याण हो सके।

७. वैयक्तिक सम्पत्ति में अधिकार (Right in personal property lawfully possessed) प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि सार्वजनिक या वैयक्तिक हिंसा, वञ्चन, बाधितता और तर्जन वा डाँट-डपट से उसे रक्षा मिले।

८. संचार की स्वतन्त्रता (Freedom of movement).

कोई भी मनुष्य अपने खर्च पर कहीं भी जाने-आने में स्वतन्त्र है, जब तक उसकी स्वतन्त्रता किसी दूसरे नागरिक की स्वतन्त्रता वा अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करती।

९. वैयक्तिक स्वतन्त्रता (Personal Liberty)

जब तक किसी न्यायालय ने किसी व्यक्ति को अपने और दूसरों के लिए संकट जनक (खतरनाक) न घोषित किया हो, मानसिक विकार के कारण (जिसका ७ दिनों के अन्दर अनुमोदन होना चाहिए और प्रतिवर्ष उस पर पुनर्विचार होना चाहिए) किसी निश्चित अपराध के लिए आरोप लगाये बिना उसको २४ घण्टों से अधिक रोका नहीं जा सकता और बिना अभियोग के ३ महीने से अधिक समय तक उसे कारागार में नहीं डाला जा सकता। अभियोग से पहले उसे आरोप पत्र देना होगा और यदि न्यायालय की उचित प्रक्रिया के द्वारा ३ मास के बाद भी उस पर अभियोग नहीं चलाया गया और उसे दण्डित नहीं किया गया, तो उसे दोषमुक्त और बन्धनमुक्त कर दिया जाएगा।

१०. हिंसा या पीड़ा से मुक्ति (Freedom from violence)

किसी को अंगच्छेदन (सिवाय अपनी अनुमति के) बलात् बन्धन तथा

अन्य प्रकार की हिंसा का पात्र नहीं बनाया जाएगा और न उसे अस्वास्थ्यकर, रोग ग्रस्त स्थानों में रखकर मानसिक रूप से पीड़ित किया जाएगा। हाँ, यदि वह किसी संक्रामक रोग से पीड़ित होने के कारण अन्यों के लिए स्वास्थ्य की दृष्टि से संकट जनक है, तो उसे संसर्ग प्रतिबन्ध (क्वारण्टीन) आदि में उचित समय तक रखा जा सकेगा।

११. कानून बनाने का अधिकार (Right of Law-making)

इस घोषणा पत्र में जिन मानव अधिकारों की घोषणा की गयी है वे मौलिक और अहस्तान्तर–करणीय (Inalienable) हैं। वे कानून बनाने का अधिकार प्रौढ़ मताधिकार (Adult franchise) के आधार पर चुने हुए व्यक्तियों को होगा और उन कानूनों के पालन के लिए उन्हें अपनी स्वतन्त्रता को कुछ अंश तक संकुचित भी करना होगा।

कर्त्तव्यों का घोषणा पत्र

भारत रत्न महामनीषी श्रद्धेय डॉ० भगवानदासजी ने अपनी ("World War and the only Cure-World Order and World Religion") नामक अत्युत्तम पुस्तक में उपरिनिर्दिष्ट मानवीय अधिकारों के घोषणा पत्र के साथ (जो संयुक्त राष्ट्र संघ में भी लगभग इसी रूप में स्वीकृत हो चुका है और भारतीय संविधान में अधिकतर समाविष्ट है) कर्त्तव्यों के घोषणा पत्र को जोड़ना आवश्यक समझा है।

१. उनका कथन ठीक है कि प्रत्येक अधिकार के साथ कर्त्तव्य भी जुड़ा हुआ है या होना चाहिए। कानून (Law का जो Leger धातु से बना हुआ शब्द है और जिसका अर्थ बाँधना होता है), का कार्य यह है कि वह अधिकार और कर्त्तव्य को इकट्ठा बाँध दे।

२. प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह विधानसभादि द्वारा घोषित समाज विरोधी कार्यों से अपने को सदा पृथक् रखे।

३. यह समाज का कर्त्तव्य है कि वह पर्याप्त, प्रबल और सक्षम एवं शैक्षणिक संस्थान बनाये जो शिक्षकों द्वारा निर्धारित प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति के अनुसार उसे सांस्कृतिक और व्यावसायिक शिक्षा दे।

४. समाज का कर्त्तव्य है कि एक पर्याप्त, प्रबल और सक्षम राजनैतिक संस्थान बनाये जो अपराधियों और आक्रान्ताओं से, बीमारियों से (भैषज्यसंस्थान द्वारा) अन्याय और शान्ति भंग और उपद्रव आदि से जनता की रक्षा कर सके।

५. समाज का कर्त्तव्य है कि वह आर्थिक संस्थान बनाये जो आवश्यक पदार्थों के उत्पादन और वितरण की उचित व्यवस्था कर सके।

६. समाज का कर्त्तव्य है कि वह शिल्पोद्योग संस्थान बनाये जो इस बात का

विश्वास दिला सके कि जितने शारीरिक श्रम की अन्य संस्थाओं का कर्त्तव्य होगा कि वे अपने सदस्यों में से जो सर्वोत्तम, बुद्धिमान्, अत्यन्त स्वार्थ रहित और अनुभवी व्यक्ति हों, उन्हें विधान सभाओं के लिए चुनकर भेजें और विधान सभाओं का यह कर्त्तव्य होगा कि वे उत्तम, बुद्धिमत्तापूर्ण कानून सबके हित के लिए बनाये।

७. इन विधान सभाओं का यह कर्त्तव्य होगा कि वे अपने में से जो सर्वोत्तम और सबसे अधिक बुद्धिमान् सदस्य हों, उन्हें उच्चतम विश्व विधान सभा के लिए चुनकर भेजें जिसका कार्य सब विधान सभाओं, समाजों और राष्ट्रों के कार्य को समन्वित करना होगा।

इस प्रकार अधिकारों और कर्त्तव्यों के समन्वय से सबका कल्याण हो सकता है, अन्यथा केवल अधिकारों पर सारा बल देने से सर्वत्र परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में अशान्ति और संघर्ष का साम्राज्य हो जाएगा। केवल कर्त्तव्यों को ही सब कुछ समझ लेने से सम्भव है कि बलशाली मदोन्मत्त, दुर्बलों पर अन्याय और अत्याचार करने लगें।

वेदोक्त वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा कर्त्तव्यों और अधिकारों का समन्वय

यह कर्त्तव्यों और अधिकारों का समन्वय वेदोक्त वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा ही सम्भव है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चार आश्रमों के नर–नारी जब अपने कर्त्तव्यों का भली–भाँति पालन करेंगे, तो सारे समाज और राष्ट्र में शान्ति का राज्य रहेगा। प्रजा द्वारा निर्वाचित सर्वोत्तम व्यक्ति राजा का कर्त्तव्य और साथ ही अधिकार होगा कि वह सबको अपने अपने वर्ण और आश्रम धर्म के पालन में सहायता दे, उनका समय–समय पर निरीक्षण करे, करावे और उत्पन्न कठिनाइयों तथा समस्याओं को दूर करने का प्रयत्न करें। इसीलिए मनु महाराज ने अपनी स्मृति में कहा है कि—

वर्णनामाश्रमाणानां च, राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥ (मनु०)

अर्थात् वर्णों और आश्रमों का अभिरक्षक राजा को बनाया गया है। हम

त्रीणि॑ राजाना वि॒दथे॑ पु॒रूणि॒ परि॒ विश्वा॑नि भूषथः॒ सदां॑सि।

(ऋ० ३।३८।६)

जिसको अर्थ सहित उद्धृत करके पहले बता चुके हैं कि राजा और प्रजा के पुरुष मिलके सुख प्राप्ति और विज्ञान वृद्धिकारक राजा प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में तीन सभाएँ यथा विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा और राजार्य सभा–नियत करके बहुत प्रकार के समग्र प्रजा सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को सब ओर विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें।

उपसंहार

जब विद्यार्य सभा द्वारा सर्वत्र सत्य विद्या का प्रचार किया जाएगा और अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा सबको दी जाएगी, जब धर्मार्य सभा द्वारा सबको सच्चे सार्वभौम असाम्प्रदायिक उदार धर्म की शिक्षा दी जाएगी, तो कर्त्तव्य पालन की ओर लोग अधिकाधिक प्रवृत्त हो जायेंगे और राजार्य सभा द्वारा उनके उचित अधिकारों की रक्षा की जाएगी। ब्राह्मणों को शिक्षा प्रसार तथा धर्म प्रचार रूप कर्त्तव्य पालन के बदले में सब से अधिक मान, क्षत्रियों को राज्य संरक्षण तथा दुष्ट अन्यायी आततायियों से समाज और राष्ट्र की रक्षा रूप कर्त्तव्य पालन के बदले में शक्ति और अधिकार, वैश्यों को धन और शूद्रों को आवश्यकताओं की पूर्ति प्रेम और सहानुभूति प्राप्त होंगे। इस तरह कर्त्तव्यों और अधिकारों का पूर्ण समन्वय वेदोक्त वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा और राजार्य सभा की सहायता से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार हमने देखा कि अधिकारों और कर्त्तव्यों के समन्वय की समस्या का सर्वोत्तम समाधान वेदों में ही पाया जाता है।

अध्याय-२०

विषाद व नैराश्य

आजकल की समस्याओं में से एक समस्या जिसने अमरीका जैसे समृद्धशाली, सम्पन्न देश के अधिकतर निवासियों को भी परेशान कर रखा है, वह विषाद और अवसाद तथा नैराश्य की है। यह समस्या अमरीका या किसी एक देश तक सीमित नहीं है, भारत और अन्य देशों के युवक भी इसके शिकार हैं। अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति जोन्सन ने एक भाषण में कहा था कि—"We have not been keeping faith with tomorrow or with ourselves."

अर्थात् हमारा कल (भविष्य) पर विश्वास नहीं और वस्तुत: हमें अपने पर भी विश्वास नहीं।

सीनेटर गोल्ड वाटर ने, जो अमरीका के राष्ट्रपतित्व के लिए १९६४ में उम्मीदवार थे, एक भाषण में कहा कि—"There exists a virtual despair among the many who look beyond material success to the inner meaning of their lives."

अर्थात् बहुत से लोगों में, जो भौतिक सफलता के परे जीवन के आन्तरिक तात्पर्य पर दृष्टिपात करते हैं अप्रत्यक्ष निराशा है।

उन्होंने इस शोचनीय अवस्था का उदाहरण देते हुए कहा—"There is violence in our streets, corruption in our highest offices, aimlessness in our youths and anxiety among the elderly."

अर्थात् हमारी गलियों में भी हिंसा है, हमारे बड़े-से-बड़े कार्यालयों और पदों में भ्रष्टाचार है, हमारे युवकों में निरुद्देश्यता है और वृद्ध लोगों में चिन्तातुरता है।

ये वाक्य यहाँ सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र इण्डियन एक्सप्रेस के New Delhi, 11-8-1964 अंक में प्रकाशित अमरीकी पत्रकार वाल्टर लिपमैन (Walter Lippman) वाशिंगटन के "Virtual despair and the modern Age." (अप्रत्यक्ष निराशा और वर्तमान युग) शीर्षक के लेख से लिए गये हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि इस समस्या ने अमरीका जैसे समृद्धिशाली सभ्यताभिमानी देश में भी कितना उग्र रूप धारण कर लिया है और किस प्रकार विचारक नेताओं का ध्यान इस ओर

आकृष्ट हो रहा है।

नोबल पुरस्कार विजेता डॉ० अलेक्सिस केरल (स्वीडन निवासी) के शब्दों को हम विज्ञान और आध्यात्मिकता की समस्या विषयक अध्याय में उद्धृत कर ही चुके हैं जिनमें उन्होंने "Man the Unknown" (अज्ञात मानव) नामक पुस्तक में इस विषाद और अवसाद की अवस्था का चित्र खींचा है—"We are unhappy. We degenerate morally and mentally." (Man the Unknown, P. 38)

अर्थात् हम अप्रसन्न हैं। नैतिक और मानसिक रूप में हमारी अवनति हो रही है, इत्यादि।

जब समृद्धिशाली पाश्चात्त्य देशवासियों की यह अवस्था है तो भारत जैसे निर्धन देशवासियों और विशेषत: युवकों की अवस्था के विषय में तो कहना ही क्या है। सुप्रख्यात अमरीकन लेखक ओरीसन् स्वेट मार्डन (Orison Swet Marden) ने इसी समस्या के समाधान के लिए "Cheerfulness" (प्रसन्न चित्तता) नामक अत्युत्तम पुस्तक लिखी है। इसके कुछ वाक्यों को हम वैदिक शिक्षा के तुलनात्मक अनुशीलन के रूप में प्रसंगानुसार उद्धृत करेंगे। श्री मार्डन ने इस बीमारी का नाम ही उपहास में Americanitis (अमेरिकनिटिस) रख छोड़ा है और अपनी पुस्तक में द्वितीय अध्याय The Cure for Americanitis अर्थात् 'अमेरिकनिटिस की चिकित्सा' पर ही लिखा है।

इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रिन्स वोल्कोस्की के अमरीका की यात्रा विषयक निम्न वाक्य उद्धृत किये हैं—

"There is no pleasure, no joy, no satisfaction. There is no standard, except that of profit." (Cheerfulness by Marden, P. 24)

कोई प्रसन्नता नहीं, कोई आह्लाद वा आनन्द नहीं, कोई सन्तोष नहीं। कोई मानदण्ड नहीं, सिवाय आर्थिक लाभ के।

इसके समर्थन में लेखक ने बोस्टन निवासी एक अमरीकी व्यापारी के वक्तव्य को उद्धृत किया है जिसने कहा है कि—

"I am anxious all day about making money, and worried all night for fear I should lose what I have made."

अर्थात् दिन भर मुझे धन कमाने की चिन्ता रहती है और सारी रात मुझे यह चिन्ता सताती है कि जो कुछ मैंने कमाया है, वह कहीं नष्ट न हो जाये।

एक प्रतिष्ठित दर्शक ने अमरीका की यात्रा के बाद जो शब्द कहे उनको लेखक ने इस रूप में उद्धृत किया है—

"In the United States, there is everwhere comfort, but no joy,

The ambition of getting more and fretting over what is lost, absorb life."

अर्थात् अमरीका में सब जगह आराम है किन्तु आह्लाद या आनन्द नहीं। अधिकाधिक कमाने की महत्वाकांक्षा और जो कुछ नष्ट हो गया हो उस पर खीजना, यहीं जीवन समाप्त हो जाता है।

समस्या को स्पष्ट करने के लिए हमने ये उद्धरण अमरीका निवासियों तथा अन्य पाश्चात्त्यों के विषय में दिये हैं, किन्तु भारत में भी हम यहाँ थोड़ी दूरी पर और थोड़ी देर के लिए भी चले जाएँ, यह विषाद और नैराश्य की अवस्था प्रायः दृष्टिगोचर होती है तथा बहुत से नर-नारियों के चेहरे पर तो यह स्पष्टतया लिखी प्रतीत होती है। अतः इस पर वेदों की दृष्टि से विचार करना हमें आवश्यक प्रतीत होता है। हम प्रसन्न चित्तता और उसके साधनों पर वैदिक शिक्षाओं को उद्धृत करके उनका तुलनात्मक अनुशीलन करेंगे।

प्रसन्नचित्त विषयक वैदिक शिक्षाएँ

ऋग्वेद ६।५२।५ में मन्त्र आया है जिसमें यह उपदेश है—

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।
तथा करद्वसुपतिर्वसूनां देवाँ ओहानाऽवसागमिष्ठः॥

(ऋ० ६।५२।५)

हम (विश्वदानीम्) सदा (सुमनसः स्याम) उत्तम मनवाले और प्रसन्न रहें (नु सूर्यम् उच्चरन्तं पश्येम) ज्ञान सूर्य को हम सदा उदित होते हुए देखें। (वसूनां वसुपतिः तथा करत्) सारे ऐश्वर्य और पृथिव्यादि वस्तुओं का भी आधारभूत परमात्मा ऐसी कृपा करें कि हम यह प्रसन्न चित्तता की अवस्था सदा रख सकें। (देवान् ओहानः अवसा आगमिष्ठः) हे परमेश्वर! आप दिव्य गुणों से हमें आच्छादित करते और विद्वानों का सत्संग लाभ हमें कराते हुए अपनी रक्षणशक्ति के साथ प्राप्त हों। मन्त्र का उपदेश अत्यन्त सरल और स्पष्ट है। हमें मन के अन्दर सदा उत्तम विचार रखने चाहिएँ और सदा प्रसन्न रहना चाहिए। वेद के सुमनसः शब्द के अन्दर ये दोनों भाव आते हैं। मन के अन्दर असत्य, ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट के विचार रहते हुए सच्ची प्रसन्नता असम्भव है। एक प्रसन्नता अज्ञान मूलक भी होती है। अफीम, भंग, चर, शराब इत्यादि का सेवन करनेवाले कुछ समय के लिए अपने दुःख और चिन्ता को भुलाने का यत्न करते हैं, किन्तु वह सच्ची प्रसन्नता नहीं। वेद मन्त्र में 'पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्' के द्वारा प्रार्थना ज्ञान मूलक प्रसन्नता की है। ज्ञान के सूर्य को हम प्रतिदिन उदित होते हुए देखें। हमारे ज्ञान की सदा वृद्धि होती चली जाये जिससे हमें सच्ची प्रसन्नता की प्राप्ति हो। सूर्य का अर्थ

वेदों में विद्वानों द्वारा प्राप्तव्य सूरिभिः यातव्यः सर्वप्रकाशक परमात्मा भी होता है। अतः यह भी मन्त्र का भाव है कि सर्वप्रकाशक परमपिता को अपने हृदयाकाश में हम उदित होते हुए देखें। उस मंगलमय भगवान् की सत्ता का अपने हृदय में और सर्वत्र अनुभव करें तथा उससे सच्चे हृदय से प्रार्थना करें कि यह प्रसन्नता की अवस्था सुख-दुःख, हानि, लाभ, जय, पराजय, प्रत्येक अवस्था में बनी रहे क्योंकि मंगलमय आनन्दप्रद परमेश्वर की कृपा और निरन्तर अभ्यास के विना यह अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती।

विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः प्रजावन्तो अनमीवा अनागसः।
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवेदिवे ज्योजीवाः प्रति पश्येम सूर्य॥

(ऋ० १०।३७।७)

हे (सूर्य) सर्वप्रकाशक (मित्रमहः) मित्रों वा भक्तों द्वारा पूजनीय परमेश्वर! हम (जीवाः) जीव (विश्वाहै) सर्वदा (सुमनसः) उत्तम मनवाले तथा प्रसन्न (सुचक्षशः) उत्तम नेत्रादि शक्ति सम्पन्न तथा उत्तम वाणीवाले (चक्षप्रकथने दर्शनेपिच) (प्रजावन्तः) उत्तम सन्तानवाले (अनमीवाः) रोग रहित (अनागसः) पाप रहित होकर (दिवे दिवे) प्रतिदिन (उद्यन्तं त्वा) हृदयाकाश में उदित होते हुए तुझे (ज्योक् प्रतिपश्येम) चिरकाल तक दीर्घ आयु तक देखते रहें। यदि भौतिक सूर्य अर्थ किया जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं। उस अवस्था में (मित्रमहः) का अर्थमित्रवत् हितकारक महः-तेजोयस्य-हितकारक तेजवाले ऐसा अर्थ लिया जायेगा। दोनों में से किसी भी अर्थ को ग्रहण किया जाय मन्त्र की मुख्य भावना सर्वदा प्रसन्न रहने, उत्तम सन्तान सम्पन्न, नीरोग, निष्पाप होकर दीर्घ जीवन प्राप्त करने की है। प्रसन्नचित्तता का दीर्घ जीवन के साथ सम्बन्ध भी मन्त्र में स्पष्ट द्योतित किया गया है। विषाद मानव जीवन के लिए घातक और आयु को कम करनेवाला है, यह भी यहाँ सूचित किया गया है। सच्ची प्रसन्नता के लिए मन में सदा उत्तम भाव रखना, वीर्य की रक्षा करते हुए उत्तम सन्तान पैदा करना, नीरोग रहना, पाप रहित रहना, उत्तम वाणी तथा इन्द्रियों का सदुपयोग—ये भी इस मन्त्र में बताया गया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऋग्वेद १०।१८।३ में इस प्रसन्नचित्तता का उपदेश निम्नलिखित स्फूर्तिदायक शब्दों में किया गया है—

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥

(ऋ० १०।१८।३)

(इमे जीवाः मृतैः विआववृत्रन्) इन जीवित जागृत प्राणियों का मरे हुओं से पृथक् करण रहे या ये मरे हुए बन्धु जनों से घिरे न रहें, उनसे दूर रहें। इनको मृत्यु

का शिकार न होना पड़े। ये मृत समान न होकर सच्ची जीवनी शक्ति से सम्पन्न हों, इसके लिए (अद्य) आज (नः) हमें (देवहूतिः) परमेश्वर की योगाभ्यास, ध्यान भजन द्वारा पुकार और सत्यनिष्ठ विद्वानों का आह्वान–सत्संग (भद्रा अभूत्) कल्याण और सुखकारक है। परमेश्वर के स्मरण–भजन कीर्तन तथा सत्संग से हमें सुख कल्याण और शान्ति की आज के समान सदा प्राप्ति होती रहे। हम (प्राञ्चः) परमेश्वर की अच्छी तरह पूजा करते हुए और प्रगतिशील होकर (अंचु–गति पूजनयोः) (नृतये हसाय) नृत्य हास्य–आनन्द प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए (प्रतरं द्राघीय आयुः दधानाः) अत्यन्त उत्कृष्ट दीर्घ आयु को धारण और पुष्ट करते हुए (धाञ् धारणपोषणयोः) (प्रांचः अगाम) आगे–आगे बढ़ते चले जाएँ।

इस मन्त्र में प्रसन्नचित्तता और उत्कृष्ट दीर्घ आयु का सम्बन्ध तृतीय चरण में स्पष्ट सूचित किया गया है। यदि हम चाहते हैं कि हमें उत्कृष्ट दीर्घ जीवन प्राप्त हो तो हमें रोते–खीजते–चिढ़ते और विषण्ण होते हुए नहीं, अपितु हँसते और नाचते हुए सदा प्रसन्न रहते हुए जीवन व्यतीत करने का अभ्यास करना चाहिए। इसके लिए हमें मंगलमय सुखवर्षक भगवान् का सदा ध्यान भजन कीर्तन तथा सत्य निष्ठ ज्ञानियों का आह्वान करना चाहिए। हमें आनन्दपूर्वक आगे ही आगे बढ़ते जाना चाहिए। मृत और जीवित प्राणियों के इस भेद को भी हमें समझ लेना चाहिए। रोते, पीटते, चिल्लाते, कुढ़ते, खीजते, जीवन व्यतीत करना मंगलमय भगवान् के भक्तों को कभी शोभा नहीं देता। इस मन्त्र में प्रसन्नचित्तता और उसके साधनों का कितनी उत्तमता से निरूपण किया गया है।

घोर विपत्तियों का भी स्वागत

विषाद और निराशा की अवस्था विपत्ति के आने पर घबराने से हो जाती है, अतः वेदों में साधारण आपत्ति ही नहीं, घोर आपत्ति का भी स्वागत करने का उपदेश है। अथर्ववेद के ६।६२।२ में निम्नलिखित मन्त्र इसके सम्बन्ध में आया है—

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽ यस्मयान्वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥

हे (तिग्मतेजः निर्ऋते) तीव्र तेजवाली घोर आपत्ते, (निर्ऋतिः कृच्छापत्तिरिति निरुक्ते) (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो–तेरा स्वागत हो! तू (अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत) लोहे की जञ्जीरों के समान कठिन बन्धनों को भी काट डाल। (यमः) सर्वनियन्ता न्यायकारी परमेश्वर (पुनः इत्) फिर (त्वान्) तेरे प्रति (मह्यं ददाति) मुझे देता है–वही तुझे मेरे पास भेजता है (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस सर्वनियन्ता देहबन्धन से मुक्त करनेवाले परमेश्वर के लिए नमस्कार

हो।

कितना उत्तम इस मन्त्र का उपदेश है कि जब कभी कोई घोर से घोर विपत्ति आ जाय तो रोना, पीटना नहीं शुरू कर देना चाहिए; न किसी प्रकार की व्याकुलता या घबराहट प्रकट करनी चाहिए अपितु उसका स्वागत करना चाहिए। यह समझना चाहिए कि इसे जगन्नियन्ता न्यायकारी परमात्मा ने हमारे बन्धनों को काटने के लिए, हमारे कल्याण के लिए भेजा है। यह विपत्ति उस हमारे प्रेमी भगवान् की दी गई भेंट है। इसका यदि हम स्वागत करेंगे, इसे अपने बुरे कर्मों का फल समझकर प्रसन्नता से सह लेंगे, तो कभी हम विषाद की अवस्था को प्राप्त नहीं होंगे। आगे से भी हम कभी पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होंगे। इस प्रकार इस विपत्ति को न केवल सहन कर लेने, अपितु उसका स्वागत करने में ही हमारा कल्याण है।

वेदोक्त यह उपाय सारी विषाद की समस्या का अचूक समाधान प्रस्तुत करता है। इस मनोवृत्ति को अपनाने से मनुष्य घोर से घोर विपत्ति के आने पर भी उद्विग्न नहीं होता। इसी को भगवद् गीता में स्थित प्रज्ञ मुनि की अवस्था बताया गया है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

(गीता २।५६)

जिसमें स्थित होकर मनुष्य बड़े-से-बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता, वह योग है।

ऐसी उत्तम स्थिति को प्राप्त करने का सब को सदा प्रयत्न करना चाहिए। गैरीसन नामक कवि की निम्न पंक्तियाँ जो उसने वौस्टन जेल में लिखी थीं, यहाँ उल्लेखनीय है। उसने लिखा था—

"I had two delightful companions-
a good conscience and a cheerful mind.
To live-as always seeing
The invisible Source of things
Is the blessedest state of being
For the quietude it brings." (Garrisdon)

अर्थात् उस जेल में मेरे दो बड़े आनन्ददायक साथी थे, एक तो अच्छी अन्तरात्मा और दूसरा प्रसन्न मन। सब वस्तुओं के अदृश्य स्त्रोत (भगवान्) को देखते हुए सदा जीवन व्यतीत करना-यह मनुष्य की धन्यतम अवस्था है क्योंकि यह शान्ति लाती है। वेदों में इसी अवस्था के लिए प्रार्थना तथा दृढ़ भावना है—

दृते दृꣳह मा। ज्योक्ते संदृशि जीव्यासं ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्॥

(यजु० ३६।१९)

हे (दृते) अज्ञानान्धकार नाशक (दृ-विदारते मादृंह) मुझे दृढ़ बनाओ मैं (ते सन्दृशि) तेरे सम्यक् दर्शन में (ज्योक् जीव्यासम्) चिरकाल तक जीता रहूँ, चिरकाल तक तेरे दर्शन करता हुआ जीता रहूँ।

यह मंगलमय भगवान् के सर्वत्र दर्शन करना, उसके अदृश्य हस्त को सब घटनाओं के पीछे अनुभव करना, विषाद और समस्त दुःख को दूर करने की रामबाण औषधि है।

वृषा (सुख आनन्द वर्षक) रूप में भगवान् का चिन्तन

भगवान् का चिन्तन भी अनेक रूपों में होता है। कई रुद्र रूप में ही उसका चिन्तन करते हुए भयभीत होते और बुरे कर्मों से बचते हैं। पर ऐसे चिन्तन से उन्हें आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। न्यायकारी के रूप में भगवान् का चिन्तन मनुष्य को पाप निवृत्त कर सकता है, पर केवल इतने से उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। रुद्र के साथ सोम रूप (शक्ति, शान्ति के स्रोत) में भी भगवान् का चिन्तन करना चाहिए-ऐसा वेदों में अनेक स्थानों पर उपदेश है। प्रातःकाल उठते ही जिन वेद मन्त्रों के पाठ करने का विधान है, उनमें से प्रथम ही मन्त्र में कहा है—

प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम॥ (ऋ० ७।५१।१; अथर्व० ३।१६।१)

हम प्रातःकाल (सोमम्) शान्ति के स्रोत और (रुद्रम्) दुष्टों को रुलानेवाले न्यायकारी परमात्मा को (हुवेम) पुकारें।

हम यहाँ विषाद को दूर करने और प्रसन्नता को प्राप्त करने के लिए भगवान् के जिस रूप में चिन्तन का वेदों के अनुसार निर्देश करना चाहते हैं, वह वृषा (सुख शान्ति आनन्द वर्षक) का है। वेदों का इस पर बड़ा बल दिया गया है। और सैकड़ों मन्त्रों में इसका प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ हम कुछ थोड़े से मन्त्रों को प्रस्तुत करते हैं—

वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः। वृषा धर्माणि दध्रिषे॥

(ऋ० ९।६४।१; साम० ७८१)

हे (सोम) शान्ति के स्रोत (देव) तू (वृषा) सुख और आनन्द वर्षक (द्युमान्) प्रकाशक (वृषव्रतः वृषा असि) सुखवर्षक व्रतोंवाला आनन्द वर्षक है। (वृषा धर्माणि दध्रिषे) तू सुखपूर्वक होकर ही अचल और जगद्धारक नियमों को धारण करता है। एक ही मन्त्र में ४ बार वृषा शब्द का प्रयोग कितना विषाद नाशक और आनन्द वर्षक है।

ऋग्वेद ५।४०।३ में वृषा रूप में भगवान् का स्मरण यों किया गया है—

वृषा त्वा वृषणं हुवे वज्रिंचित्राभिरूतिभिः। वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम्॥

(ऋ० ५।४०।३)

हे (वृत्र हन्तम्) पाप और विघ्ननाशक (वृषन् इन्द्र) सुख वर्षक (वज्रिन्) न्याय के वज्र को धारण करनेवाले परमेश्वर! मैं (वृषा) स्वयं सुखवर्षक होकर (वृषभिः चित्रभिः ऊतिभिः त्वा) सुखवर्षक आश्चर्यजनक रक्षाओं के साथ विद्यमान तुझ (वृषणन्) आनन्दवर्षक को (हुवे) पुकारता हूँ। स्वयं भी सुखवर्षक होकर सुख आनन्द शान्ति वर्षक भगवान् का स्मरण विषाद को दूर करने और प्रसन्नता को प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है। ऋग्वेद ८।३३।३३ में भी इसी मन्त्र के दो चरण आये हैं। दूसरों के लिए सुखवर्षक होकर सुख शान्तिवर्षक भगवान् के स्मरण का भाव अन्य भी अनेक वेदमन्त्रों में आता है यथा—

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यतं बृहत्॥

(साम० १५४०)

हे (वृषन्) सुख शान्ति वर्षक परमेश्वर! (वयम्) हम (वृषणः) सुखवर्षक होकर (वृषणं त्वा) शान्ति आनन्दवर्षक और (बृहत् दीद्यतन्) अत्यन्त प्रकाशवान् तुझ परमात्मा को (सम् इधीमहि) अपने हृदय में भली-भाँति प्रदीप्त करते हैं। सदा तेरी ज्योति से अपने अन्तःकरणों को प्रकाशित करते हैं। दूसरों पर सुख की वर्षा करना, दूसरों के कष्टों को दूर करके उन्हें सुखी बनाना, यह भी सच्ची प्रसन्नता की प्राप्ति का एक उत्तम साधन है। यह इस प्रकार के मन्त्रों से स्पष्ट है।

सिडनी स्मिथ नामक पाश्चात्य मनीषी ने स्वयं प्रसन्न रहने के लिए इसी उपाय के अवलम्बन का निर्देश किया है कि प्रतिदिन कम से कम एक आदमी को प्रसन्न करने का नियम बना लिया जाय। इस प्रकार १० वर्षों में वह कहता है कि तुम ३६,५०० व्यक्तियों को प्रसन्न बना लोगे। जो प्रसन्नचित्त है, वही उत्कृष्ट रूप में उपयोगी होता है।

"Sydney Smith recommends us to make at least one person happy everyday........one who is cheerful is pre-eminently useful."

(Cheerfulness, P. 93)

जैसे परमेश्वर का वृषा के रूप में चिन्तन मनुष्य को शोक, विषाद, निराशता को दूर करके उसके जीवन को आनन्दमय बनाता है, ऐसा वेदों के आधार पर हमने ऊपर बताया है कि ऐसा ही अनेक पाश्चात्य मनीषियों ने भी बताया है।

हेडन (Hayden) ने इस विषय में अपना अनुभव बताया है—

"When I think upon God, my heart is so full of joy that the notes leap from my pen." (Cheerfulness by Marden, P. 102)

अर्थात् जब मैं परमात्मा का चिन्तन करता हूँ तो मेरा हृदय आनन्द और उल्लास से इतना परिपूर्ण हो जाता है कि मेरी लेखनी से गीत निकलने लगते हैं।

हमने ऊपर आपत्तियों के स्वागत विषयक—

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽ यस्मयान्वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥
(अथर्व० ६।६३।२)

इस वेद मन्त्र का अर्थ सहित उल्लेख किया था। इसी भाव को मार्डन ने इन पंक्तियों में व्यक्त किया है—

"It is easy enough to be pleasant.
When life flows along like a song;
But the man worthwhile is the one
Who will smile
When everything goes dead wrong." (P. 111)

अर्थात् जब सब कुछ सरलता से गीत के समान चल रहा हो अथवा सब प्रकार की अनुकूलता हो तो प्रसन्न रहना बहुत सुगम है; किन्तु सुयोग्य प्रशंसनीय मनुष्य वह है जो इस अवस्था में भी, जब सब कुछ अपने प्रतिकूल हो रहा हो, मुस्कराता रहता है।

ऐसी अवस्था उपरिलिखित वेद मन्त्र के आदेशानुसार विपत्तियों का हर्षपूर्वक स्वागत करने से ही हो सकती है। परमेश्वर की कृपा के बिना यह श्रेष्ठ दशा प्राप्त नहीं हो सकती। अत: सर हैनरी वौल्ट (Sir Henry Wolton) ने Character of a happy life. (एक सुखी जीवन का चरित्र) शीर्षक कविता में ठीक ही कहा है—

"Who God doth late and early pray
More of His grace than gifts to lend
And entertains the harmless day
With a religious book or friend".

(Quoted in "Immortal Words". Published by the Bharatiya Vidya Bhavan, P. 90)

अर्थात् जो प्रात: और रात को परमेश्वर से अन्य उपहारों की अपेक्षा कृपा की अधिक प्रार्थना करता है और किसी धार्मिक पुस्तक या मित्र के साथ अपने अहानिकर दिन में मनोविनोद करता है, वही सुखी और प्रसन्न रहता है।

आत्मविश्वास

मंगलमय ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखते हुए विषाद और निराशा के लिए कोई

अवकाश रह ही नहीं सकता, किन्तु इसके साथ आत्मविश्वास भी आवश्यक है। वेदों में इस पर भी बल दिया गया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद १०।४८।५ में कहा गया है—

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन।

(ऋ० १०।४८।५)

(अहम् इन्द्रः) मैं आत्मा हूँ। (धनं न हत् पराजिग्ये) मैं अपने ज्ञान, शान्ति, इत्यादि रूप धन से कभी वञ्चित न होऊँगा—कभी इनका परित्याग न करूँगा (कदाचन मृत्यवे न अवतस्थे) मैं कभी मौत के लिए न ठहरूँगा। मृत्यु से भी मैं कभी भयभीत न होऊँगा क्योंकि मैं अमर अविनाशी हूँ।

जो आत्मा को अजर, अमर और शक्तिशाली जानकर ज्ञानपूर्वक शुभ कार्य करेगा, उसके पास विषाद और निराशा कभी कैसे फटक सकेंगी।

ऋग्वेद १०।१६६।२ में इस प्रकार की वीर भावना रखने का उपदेश दिया गया है—

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः॥

(ऋ० १०।१६६।२)

(अहं सपत्नहा अस्मि) मैं काम क्रोधादि समस्त आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं का नाश करनेवाला हूँ। (इन्द्रः इवरिष्टोः अक्षतः) मैं परमेश्वर और सूर्य की तरह रोगादि रहित हूँ। हमें (सर्वे सपत्नाः) ये सब शत्रु (मे पदोः अधः अभिष्ठिताः) मेरे पैरों के नीचे कुचले पड़े हैं।

यह कितनी स्फूर्तिदायिनी वीर भावना है। ऐसी भावना को जो रखेगा, उसके पास विषाद, निराशादि कहाँ आ सकते हैं? विघ्न बाधाओं के आने पर ही प्रायः लोग दुःखित और निराश हो जाते हैं। अतः वेदों में ऐसी उत्तम वीरता पूर्ण भावना रखने का उपदेश है।

अथर्ववेद ८।१।९ में स्पष्ट शब्दों में पुनः उपदेश दिया गया है—

मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः॥ (अथर्व० ८।१।९)

(अत्र) इस संसार में (पराङ्मना मा तिष्ठः) मुर्दा दिल, विषण्ण वा उदास होकर न रह। सदा प्रसन्न रह।

किसी कार्य के सफल न होने पर भी लोग प्रायः दुःखी और निराश हो जाते हैं। एक तो सुख–दुःख, हानि–लाभ, जय–पराजय में समचित्त रहने का अभ्यास करना चाहिए जिसको भगवद्गीता में योग का नाम दिया गया है—

योगस्थः कुरु कर्माणि, संगंत्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा, समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

हे अर्जुन्! तू योगस्थ होकर और आसक्ति का परित्याग करके सफलता, असफलता में समान रहते हुए कर्त्तव्य कर्म कर। इस प्रकार सफलता और असफलता में समता ही योग है। इसके अतिरिक्त वेदों के अनुसार मनुष्य को शुभ कार्य करते हुए यह भावना भी रखनी चाहिए कि—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।

(अथर्व० ७।५०।८)

अर्थात् मेरे दाहिने हाथ में कर्म है और बायें हाथ में विजय रखी हुई है।

ऋग्वेद १०।१६४।५ में यह भावना रखने का उपदेश है कि—

अजेष्माद्यासनाम चाभूमानागसो वयम्। (ऋ० १०।१६४।५)

(वयम्) हम (अजेष्म) जीत गये हैं–हमने विजय को प्राप्त कर लिया है। (असनाम) हमने दान करके गरीबों और पीड़ितों में धन का विभाजन कर लिया है। (षणु–दाने, षण सम्भक्तौ) और साथ ही हम (अनागसः अभूम्) पाप रहित हो गये हैं।

इस प्रकार दृढ़ संकल्पवाले व्यक्ति को अवश्य कार्य में सफलता और विजय प्राप्त होते हैं। यदि उसमें विलम्ब भी हो तो वह कभी विषाद और निराशा की तरंगों में नहीं बहता।

निर्भयता प्रसन्नचित्तार्थ आवश्यक

भय के कारण भी बहुत बार मनुष्य दुःखी हो जाता है अतः वेदों में निर्भयता पर बहुत बल है। परमेश्वर को सर्वशक्तिमान् मित्र जानते हुए फिर भय का काम ही क्या हो सकता है। अतः वेद में कहा है—

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम्॥

(ऋ० १।११।२; साम० ८२८)

हे (शवसस्पते इन्द्र) बल के स्वामी परमेश्वर! (ते सख्ये) तेरी मित्रता में (वाजिनः) ज्ञान और बल से सम्पन्न होकर हम (मा भेम) कभी भयभीत न हों। (जेतारम् अपराजितं त्वाम्) सब के विजेता और कभी किसी से न हारनेवाले तुझे (अभिप्रनोनुमः) चारों ओर से भली–भाँति प्रणाम करें। सदा तेरी ही अच्छी प्रकार स्तुति करें जिससे निर्भयता के कारण भी हमें अभिमान न हो।

सामवेद मं० १६०५ में निर्भयतादि की प्रार्थना इन शब्दों में है—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
मा भेम मा श्रमिष्मोग्रस्य सख्ये तव।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृतं पश्येम तुर्वशं यदुम्॥

(साम० १६०५)

हे परमेश्वर! (उग्रस्य तव सख्ये) तुझ तेजस्वी की मित्रता में हम (मा भेम) न कभी भयभीत हों और (न श्रमिष्म) न श्रम करके शीघ्र थक जाएँ। (वृष्णःते) सुख शान्ति वर्षक तेरी (कृतम्) रचना (महत्) बड़ी अद्भुत और (अभिचक्ष्यम्) प्रशंसनीय है हम इसको देखते हुए प्रसन्न रहें तथा सब मनुष्यों को (तुर्वशम्) चतुर्वशम्–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–इन चार पुरुषार्थों की कामना करनेवाले (वश–कान्तो) और इसके लिए (यदुम्) प्रयत्नशील होते हुए (पश्येम) देखें।

इस मन्त्र में निर्भयता के साथ यह कहा गया है कि हमें कर्मशील होना चाहिए और शीघ्र थक नहीं जाना चाहिए। सुखवर्षक भगवान् की अद्भुत रचना–सूर्य, चन्द्र, तारे, समुद्र, पर्वत, नदी, पुष्प आदि को देखकर आनन्दित होना चाहिए और मनुष्यों को सदा धार्मिक, उन्नत और प्रयत्नशील बनाने का यत्न करना चाहिए। इस प्रकार जहाँ हम स्वयं प्रसन्न होंगे, वहाँ औरों को भी प्रसन्न और सुखी बना सकेंगे। किसी कवि ने कितनी अच्छी बात कही है—

"Why this longing, this ever sighing for the far-off, unattained and dim, while the beautiful all around thee lying offers up its low, perpetual hymn".

अर्थात् इस प्रकार अप्राप्त और अस्पष्ट दूरस्थ पदार्थों की कामना करने और उनके लिए आहें भरने की क्या आवश्यकता है जब कि तेरे चारों ओर सुन्दर वस्तुएँ और दृश्य विद्यमान हैं जो तेरे आगे अपना शाश्वत स्तोत्र भेंट करते हैं।

भय के अतिरिक्त द्वेष और शत्रुता की भावना से भी सन्देहवश विषाद होने लगता है। इसलिए अथर्ववेद १९।१५।६ में निर्भयता के साथ–साथ सब प्राणियों के साथ मित्रता की भावना रखने की प्रार्थना है—

अभ॑यं मि॒त्रादभ॑यम॒मित्रा॒दभ॑यं ज्ञा॒तादभ॑यं पु॒रोक्षा॑त्।
अभ॑यं॒ नक्त॒मभ॑यं॒ दिवा॑ नः॒ सर्वा॒ आशा॒ मम॑ मि॒त्रं भ॑वन्तु॥

(अथर्व० १९।१५।६)

हमें मित्रों से जहाँ भय न हो वहाँ विरोधियों से भी भय न हो, जिनको हम जानते हैं, उनसे हमें भय न हो, जो पीठ पीछे वा अज्ञात है उनसे भी भय न हो। दिन और रात हर समय जहाँ हमें निर्भयता प्राप्त हो वहाँ उसके साथ (सर्वा आशाः मम मित्रं भवन्तु) सारी दिशाएँ अर्थात् उनके निवासी, सब प्राणी हमारे मित्र हों–स्नेही और मंगलाभिलाषी हों।

मि॒त्रस्या॒हं चक्षु॑षा॒ सर्वा॑णि भू॒तानि॒ समी॑क्षे। मि॒त्रस्य॒ चक्षु॑षा॒ समी॑क्षामहे॥

(यजु० ३६।१८)

यदि हम चाहते हैं कि सब दिशाओं के निवासी हमारे मित्र हों, तो हमें

भी उनको (सब प्राणियों को) मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए। हमें उन्हें अपना प्रेमी और मंगलाभिलाषी समझना चाहिए। व्यर्थ में यह भावना नहीं बना लेनी चाहिए कि वे हमारा अमंगल चाहते और हमारे विरोधी वा शत्रु हैं। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य अन्यों को अपना विरोधी और शत्रु समझने लगता है, उसकी प्रत्येक चेष्टा को सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है जिससे वह अपने को दुःखी और चिन्तित बना लेता है। जब कि प्रायः इस प्रकार का सन्देह काल्पनिक और असत्य सिद्ध होता है। इसलिए वेदों का मित्र दृष्टि का उपदेश विषाद और चिन्ता को दूर करने के लिए अत्युत्तम है।

विषाद के कुछ अन्य कारणों का दूरीकरण

इस प्रकार हमने वेदों के आधार पर विषाद और निराशा के कुछ कारणों और उनके दूरीकरण के उपायों पर प्रकाश डाला है। इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध मनीषी और लेखक रस्किन (Ruskin) ने अन्य कुछ कारणों का निर्देश इस प्रकार किया है। उन्होंने लिखा है—

"Cheerfulness is as natural to the heart of a man in strong health as colour to his cheek and wherever there is habitual gloom, there must be either bad air, un-wholesome food, improperly serene, din or erring habits of life. It is an erring habit of life if we are not first of all cheerful."

अर्थात् एक उत्तम स्वस्थ मनुष्य हृदय के लिए प्रसन्नता इतनी ही स्वाभाविक है जितनी उसके गालों पर लाली। जहाँ कहीं स्वभावतः विषाद वा उदासी हो तो या वहाँ की वायु दूषित होनी चाहिए, अहितकर वा अस्वास्थ्यकर भोजन, अनुचित रूप से गम्भीर (आनन्दशून्य) वातावरण या जीवन की अशुद्ध आदतें (स्वभाव)–इनमें से कोई कारण होगा। यदि हम सब से पहले प्रसन्नचित्त नहीं हैं, तो इसे जीवन का अशुद्ध स्वभाव समझना चाहिए। इनमें से कई बातों का सम्बन्ध स्वास्थ्य और भोजनादि के साथ है जिनके विषय में वैदिक उपदेशों और भावनाओं का हम कई प्रकरणों में निर्देश कर चुके हैं। केवल एक और निर्देश अथर्ववेद १९।६०।२ में से कर देना आवश्यक प्रतीत होता है—

अरि॑ष्टानि मे॒ सर्वा॒त्मानि॑भृष्टः॥ (अथर्व० १९।६०।२)

आँख, नाक, कान, दाँत इत्यादि सब अंगों का पूर्व मन्त्र में नाम लेकर इस मन्त्र में कहा गया है कि (मे सर्वा अरिष्टानि अंगानि) मेरे सब अंग रोगरहित, स्वस्थ और पूर्ण हों साथ ही (मे आत्मा अनिभृष्टः) मेरा आत्मा भ्रष्ट और दबनेवाला न हो। वह अधृष्य और शक्ति सम्पन्न हो। शुद्ध वायु के विषय में वेद में कहा है—

वात॒ आ वा॑तु भेष॒जं श॒म्भु म॑यो॒भु नो॑ हृ॒दे। प्र ण॒ आयूँ॑षि तारिषत्॥

(ऋ० १०।१८६।१)

(वातः) शुद्ध वायु (नः भेषजम् आवातु) हमारे लिए औषध का कार्य करता हुआ चारों ओर बहे (नः हृदे शम्भु मयोभु) वह हमारे हृदय के लिए कल्याण और सुखकारक हो। वह (नः आयूंषि प्रतारिषत्) हमारी आयु को बढ़ावे।

अतः प्रसन्नता को सदा स्थिर रखने के लिए आरोग्य के नियमों-शुद्ध नियमों-शुद्ध वायु में भ्रमण, उचित व्यायाम और भोजन द्वारा नीरोगता की प्राप्ति इत्यादि का भी ध्यान रखना वेदों के अनुसार आवश्यक है।

सब वस्तुओं और घटनाओं का उज्ज्वल पार्श्व देखने का विशेष रूप से अभ्यास करना चाहिए। इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री ग्लैडस्टन ने एक बड़ी अच्छी बात इस विषय में कही थी जो उसके जीवन की सफलता के रहस्य को प्रकट करती है कि—

"I have formed a habit of looking on the bright side of things and have not lost a moment's sleep by worrying about public business."

अर्थात् मैंने सदा सब वस्तुओं के उज्ज्वल पार्श्व को देखने की आदत बना ली है। और सार्वजनिक कार्य के विषय में व्यर्थ चिन्ता करके एक क्षण की भी निद्रा को नहीं नष्ट किया।

जीवन की सोद्देश्यता

अन्तिम चीज जिसका प्रसन्नता की प्राप्ति और विषाद के निवारण के लिए हम वेदों के अनुसार निर्देश करना आवश्यक समझते हैं वह मानव जीवन के उद्देश्य को समझने और सदा तदर्थ हर्षपूर्वक प्रयत्न करने की है। वेदों में इस मानव जीवन के उद्देश्य को इन अत्यन्त स्फूर्तिदायक उत्तम शब्दों में प्रकट किया गया है—

यत्र॒ ज्योति॒रज॑स्रं॒ यस्मि॑ँल्लो॒के स्व॑र्हि॒तम्।
तस्मि॒न्मां धे॑हि पवमाना॒मृते लो॒के अक्षि॑त॒ इन्द्रा॑येन्दो॒ परि॑ स्रव॥

(ऋ० ९।११३।७)

यत्राऽऽन॒न्दाश्च॒ मोदा॑श्च॒ मुद॑ः प्र॒मुद॒ आस॑ते।
काम॑स्य॒ यत्रा॒प्ताः कामा॒स्तत्र॒ माम॒मृतं॑ कृधीन्द्रा॑येन्दो॒ परि॑ स्रव॥

(ऋ० ९।११३।११)

१. हे (पवमान इन्दो) पवित्र करने और हमारे जीवनों को सरस बनानेवाले परमेश्वर! (माम्) मुझे उस (अमृते अक्षिते लोके धेहि) उस अमृत अहिंसित

अवस्था में स्थापित करो। (यत्र अजस्रं ज्योतिः) जहाँ ज्ञान की ज्योति निरन्तर जलती रहती है और इसलिए (यस्मिन् लोके स्वः हितम्) जहाँ सदा सुख का निवास होता है। हे प्रभो! (इन्द्रायपरिस्त्रव) मुझे आत्मा के लिए ऐसी शान्ति आनन्द धारा को बहाओ।

२. (यत्र आनन्दाः च मोदाः च मुदः प्रमुदः आसते) जहाँ आनन्द, मोद, प्रमोद, हर्ष, उल्लास का सदा निवास होता है। एक क्षण के लिए भी जहाँ विषाद, शोक, चिन्तादि का आक्रमण नहीं हो सकता (कामस्य कामाः यत्र आप्ताः) कामना करनेवाले जीव की सब कामनाएँ जहाँ समाप्त अथवा तृप्त हो जाती हैं, उस अमृतमय लोक वा अवस्था में हे आनन्दित करनेवाले प्रभो! मुझे सदा स्थापित करो। मेरे ऊपर आनन्द सुख शान्ति की धारा प्रवाहित करो।

मानव जीवन के इस शाश्वत अनन्त, मोद, प्रमोद की अवस्था की प्राप्ति को जो अपना उद्देश्य बनाकर सदा तदर्थ प्रयत्नशील रहेगा, और आनन्द के स्रोत, सुखवर्षक भगवान् का चिन्तन करते हुए कार्य में तत्पर रहेगा। भय, विषाद, निराशा, भयंकर से भयंकर आपत्तियों के आने पर भी उसके पास न फटक सकेंगीं। यह ध्रुव सत्य है। सच्चे आनन्द और सच्ची प्रसन्नता की प्राप्ति के यही उपाय हैं।

अध्याय-२१

भ्रष्टाचार व दुराचार निवारण

भ्रष्टाचार के मुख्य कारण

हमारे विचार में भ्रष्टाचार के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं जिनके निवारण के विना इसे दूर करना असम्भव प्राय है।

१. विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में तथा अन्यत्र धार्मिक नैतिक शिक्षा का अभाव जिसकी आवश्यकता और अनिवार्यता पर हम पीछे अपने तथा अन्य समाज राष्ट्र हितैषी अनेक सुप्रसिद्ध मनीषियों के विचार प्रकट कर चुके हैं। सभी शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक नैतिक शिक्षा की व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिए जिससे छात्र-छात्राओं में धार्मिक भावना जागृत हो और वे भ्रष्टाचार और दुराचार को महापाप समझने लगें। असाम्प्रदायिक राष्ट्र (Secular State) का यह अर्थ कभी नहीं कि धर्म की विशुद्ध भावना की उपेक्षा की जाय। पूर्व प्रधानमन्त्री स्वर्गीय श्री गुलजारीलाल नन्दा ने भी अपने "War on Corruption" "भ्रष्टाचार के विरुद्ध युद्ध" शीर्षक अत्युत्तम लेख में लिखा था कि—

"The obsession with material gain at all costs has to be countered. Efforts have to be made to develop a consciousness of moral and social responsibility and an appreciation of the place of moral values in the life of an individual and the country".

(Indian Express, Aug 15, 1964)

अर्थात् जैसे-तैसे भौतिक लाभ प्राप्त करने की धुन का हमें मुकाबला करना और उसे दूर करना होगा। नैतिक और सामाजिक उत्तरदायिता की जागृति को विकसित करने और व्यक्ति तथा देश के जीवन में नैतिक मूल्यों के स्थान को सादर स्वीकार करने-करवाने के लिए प्रयत्न करना होगा।

आगरा की एक सभा में भाषण देते हुए श्री गुलजारीलाल नन्दा ने ठीक ही कहा था कि—

"Moral instructions should be imparted in schools and colleges". (Indian Express, Delhi 19-7-1964)

(अर्थात् श्री नन्दाजी ने कहा कि विद्यालयों और महा विद्यालयों में नैतिक

सदाचार शिक्षा दी जानी चाहिए।)

२. जनता में साम्यवाद (कम्युनिज्म) तथा अन्य नास्तिक भावनाओं के प्रचार के कारण धार्मिक भावना का अभाव जो भ्रष्टाचार में प्रवृत्त होने से रोकें।

३. भ्रष्ट अश्लील साहित्य का युवक-युवतियों में बेरोकटोक प्रचार, खुले बाजार आम रास्तों पर बैठकर लोग ऐसे भ्रष्ट अश्लील साहित्य को युवक-युवतियों में बेचते देखे जाते हैं जो उन्हें दुराचारी और भ्रष्टाचारी बनाते हैं। हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में अश्लील भ्रष्ट साहित्य बड़ी मात्रा में निकल रहा है। विदेशों से भी ऐसा भ्रष्ट साहित्य पर्याप्त मात्रा में आता है जो युवक-युवतियों को दुराचारी और भ्रष्टाचारी बनाता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि सरकार इस ओर कठोरता से काम नहीं लेती।

४. नवयुवक-नवयुवतियों की सह शिक्षा उनके चरित्र को भ्रष्ट करती और उन्हें दुराचार तथा भ्रष्टाचार में प्रवृत्त करती है, यह हम पहले ही लिख चुके हैं। यह बड़े दु:ख की बात है कि सरकार की ओर से ऐसे सहशिक्षात्मक संस्थानों को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

५. भ्रष्ट चित्रपटों (सिनेमाओं) और नाटकों के कारण भी भ्रष्टाचार और दुराचार की वृद्धि हो रही है।

६. भ्रष्टाचार के कुछ और बड़े कारण हैं—सरकारी काम-काज और मामलों के निपटारे में देरी, अक्षमता (Inefficiency) और विवेक मूलक शक्तियों का दुरुपयोग है। इस बात को सब जानते हैं कि प्राय: कर्त्तव्य भावना और सत्यनिष्ठता की न्यूनता के कारण सब मामलों में असाधारण देरी रहती है। महीनों नहीं, वर्षों तक मामले और मुकदमे लटकाये जाते हैं, तारीखों पर तारीखें डलवाकर लोगों को परेशान किया जाता है। इस परेशानी से बचने के लिए वे घूस दे दिलाकर किसी तरह काम निकलवाने पर बाध्य हो जाते हैं। जब तक रेलवे, पुलिस, अदालत और अन्य विभागों के कर्मचारियों और कई बार बड़े-बड़े अधिकारियों की भी जेब गर्म न किये जायें, वे मामलों को टालते रहते हैं। अन्त में तंग आकर लोग भ्रष्टाचार की शरण लेकर अपने कार्यों को सिद्ध करवाते हैं।

पहले प्राय: यह समझा जाता था कि निर्धनता के कारण लोग प्राय: भ्रष्टाचार में प्रवृत्त होते हैं। किन्तु अब हजारों उदाहरणों से स्पष्ट है कि गरीब लोग इतनी संख्या में भ्रष्टाचार में प्रवृत्त नहीं होते जितने समृद्धिशाली, सम्पन्न, धनीमानी लोग। इस भ्रष्टाचार के निवारण के लिए किस प्रकार के प्रचार की आवश्यकता है, कैसे सज्जनों और देवियों का सहयोग एतद्विषयक विश्वव्यापी शुद्ध प्रचार के लिए प्राप्त किया जाना चाहिए तथा सरकार को ऐसे भ्रष्टाचारियों के विरुद्ध किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए, इसे हम वेदों के द्वारा दिखाने का प्रयत्न करेंगे।

भ्रष्टाचार और पाप से बचानेवाले पितर (अनुभवी विद्वान्)

ऋग्वेद १।१०६।३ में पितरों से प्रार्थना की गयी है—

अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥

(ऋ० १।१०६।३)

(नः) हमारी (सुप्रवाचनाः) उत्तम प्रवचन अर्थात् ज्ञान और धर्म का उपदेश करने में कुशल (पितरः) पालक अनुभवी गुरुजन (अवन्तु) रक्षा करें (उत) और (देवपुत्रे) विद्वान्, तेजस्वी किरणों के समान पुत्रों को उत्पन्न करनेवाले (ऋतावृधा) स्वच्छ जलों के समान सत्य ज्ञान और उत्तम आचरणों की वृद्धि करनेवाले (ऋतमिति उदकनाम-निघं० १।१२, ऋतमिति सत्यनाम-निघं० ३।१०) (देवी) भूमि और सूर्य के समान पुष्टि और शिक्षा के देने और ज्ञान का प्रकाश करनेवाले माता और पिता दोनों (नः अवताम्) हमारी रक्षा करें। वे सब (सुदानवः वसवः) सुखकारी जल की वृष्टि करनेवाले सूर्यादि लोगों के समान सब प्रजाओं को सुख से बसानेवाले जन (दुर्गात् रथं न) जिस प्रकार कुशल सारथि विषम स्थानों से रथ को बचाकर ले जाते हैं, इस प्रकार (विश्वस्मात् अंहसो) सब प्रकार के पाप (निःपपर्तन) सब रीति से बचावें उससे बिल्कुल निकाल दें।

तात्पर्य यह है कि पाप, भ्रष्टाचार और दुराचार से बचाने का कार्य अनुभवी पिता के समान ज्ञानोपदेश द्वारा पालन करनेवाले गुरुजनों और विद्वान् माता-पिता का है। उनको चाहिए कि वे ज्ञान और धर्म के उपदेश द्वारा अपनी सन्तान और प्रजाओं को अधर्म, पापाचार से बचावें। यदि वे अपने इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करते, तो वे पाप के भागी होते हैं। इससे पूर्व का मन्त्र भी जिसका देवता आदित्याः है, इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। इसमें आदित्य के समान तेजस्वी और अज्ञानान्धकार नाशक विद्वानों को सम्बोधन करते हुए पाप और भ्रष्टाचार निवारण की प्रार्थना की गयी है।

त आदित्या आ गता सर्वतातये भूत देवा वृत्रतूर्येषु शंभुवः।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥

(ऋ० १।१०६।२)

महा विद्वान् कपाली शास्त्रीजी ने अपने ऋग्वेद के भाष्य में इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

हे (आदित्याः) देवाः (ते) तादृशा यूयम् (आगत) आ गच्छत (सर्वतातये) सर्वैस्तायनाय सर्वैः कर्तव्याय प्रयासाय (भूत) सहायाः भवत। (वृत्रतूर्येषु) वृत्रा-असुराः (तूर्याः) हिंस्या येषु तेषु युद्धेषु (शम्भुवः) सुखस्य भावयिता भक्त। (दुर्गात्)

गन्तुं दुःखेन शवयात् निम्नोन्नतात् प्रदेशात् (रथं न) रथं यथा सारथयः पालयन्ति तद्वत् (वसवः) निवासयितारः (सुदानवः) शोभन दानोपेताः हे देवाः, (नः) अस्मान् (विश्वस्मात्) सर्वस्मात् (अंहसः) पापात् (निष्पपर्तन) निर्गय्यव पालयत ॥

(कपालिशास्त्रि कृते सिद्धाञ्जन भाष्ये द्वितीय खण्डे, पृ० ७९)

हे देवो ! तुम आओ। सबके करने योग्य जो प्रयत्न वा परिश्रम है उसके लिए तुम सहायक होवो। हे देवो ! तुम हमें सारे पाप से इस प्रकार निकाल कर पालन करो जैसे सारथी दुःख से जाने योग्य ऊँचे नीचे प्रदेश से रथ को बचाकर पालते हैं—गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देते हैं।

ऋग्वेद १०।१३७।१ में भी ऐसे सत्यनिष्ठ, पाप रहित विद्वानों से अपेक्षा की गई है कि वे भ्रष्ट तथा पतित व्यक्तियों का उद्धार करेंगे—

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषँ देवा देवा जीवयथा पुनः॥

(ऋ० १०।१३७।१)

हे (देवाः देवाः) सत्य के प्रकाशक विद्वानो ! (अवहितम् उत पुनः उन्नयथ) जो पतित और नीचे गिरा हुआ है उसको भी तुम फिर उठायो। हे (देवा देवाः) सुख देनेवाले सत्यनिष्ठ निष्पाप ज्ञानियो ! तुम (आगः चक्रुषं) पाप और अपराध करनेवाले को भी (पुनः जीवयथ) फिर जीवन दे देते हो, या दो। पाप करना एक प्रकार से आत्मिक दृष्टि से मर जाना है। सत्यनिष्ठ, निष्पाप विद्वान् इस प्रकार पाप करके मरे हुओं के अन्दर भी नवजीवन का संचार कर देते हैं। सचमुच भ्रष्टाचार और दुराचार में प्रवृत्त होना न केवल आत्मिक अपितु सामाजिक दृष्टि से भी मृत्यु के मुख में जाना है। सत्यनिष्ठ निष्पाप विद्वान् ऐसे नीच, मृत समान व्यक्तियों को भी उत्तम धर्मोपदेश देकर उनके अन्दर फिर पवित्र दिव्य जीवन का संचार करते हैं।

सत्य संहिता वै देवाः (ऐतरेय १।६) **सत्यमया उ देवाः॥**
(कौषीतकी ब्रा० २।८) **अपहतपाप्मानो देवाः॥**

(शत० २।१।३।४)

विद्वांसो हि देवाः॥ (शत० ३।७।३।१७)

सत्यनिष्ठ या निष्पाप विद्वान् ही भ्रष्टाचारी और दुराचारी पतित पुरुषों का उद्धार कर सकते हैं। उनके जीवन को पलट सकते हैं। उन्हें अपने इस पवित्र वेदोक्त कर्त्तव्य के पालन में सदा तत्पर रहना चाहिए, तभी भ्रष्टाचार और दुराचार का निवारण हो सकता है।

ऋग्वेद ८।४७।२ में इन आदित्य समान विद्वानों को सम्बोधन करके

प्रार्थना की गयी है कि—

विदा देवा अघानामादित्यासो अपाकृतिम् ।
पक्षा वयो यथोपरि व्य१स्मे शर्म यच्छतानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥

(ऋ० ८।४७।२)

हे (देवा आदित्यासः) सूर्य किरणवत् ज्ञान प्रकाश के देनेवाले आदित्य ब्रह्मचारियों तथा अन्य तेजस्वी पूज्य पुरुषो! आप लोग (अघानाम् अपाकृतिम्) पापों के दूर करने के उपाय को (विद) जानते हो। (यथा वयः पक्षा उपरिशर्म यच्छन्ति) जिस प्रकार पक्षी बच्चों के ऊपर दोनों पंखों को गृह के समान रक्षार्थ तान लेते हैं, उसी प्रकार (अस्मे उपरि) हमारे ऊपर (शर्मवियच्छत) सुख शरणादि विविध प्रकार से प्रदान करो (अनेहसः हा तयः व ऊ तयः सु ऊ तयः) तुम्हारी रक्षाएँ पाप रहित हैं और वे अत्यन्त उत्तम प्रशंसनीय और प्रबल हैं। यहाँ आदित्य के समान अज्ञानान्धकार निवारक विद्वानों को सम्बोधन करके यह जो कहा गया है कि आप पापों, भ्रष्टाचार, दुराचारादि के दूर करने का उपाय जानते हैं, अतः हमें भी उन पापों से सदा दूर रख के उत्तम सुख दीजिये, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्देश है। ऐसे निष्पाप तथा पाप निवारण में समर्थ विद्वानों का भ्रष्टाचार दुराचार निवारण में विशेष सहयोग लेना चाहिए।

ऋग्वेद ८।४७।८ में आदित्यों को सम्बोधन करके कहा है—

युष्मे देवा अपि ष्मसि युध्यन्त इव वर्मसु ।
यूयं महो न एनसो यूयमर्भादुरुष्यतानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥

(ऋ० ८।४७।८)

हे (देवाः) विद्वान् निष्पाप सत्यनिष्ठ जनो! (वर्मसु युध्यन्त इव) योद्धा लोग जिस प्रकार कवचों के अन्दर सुरक्षित रहते हैं, उसी प्रकार हम लोग भी (युष्मे अपि स्मसि) आप लोगों के बीच सुरक्षित रहें। (यूयम्) आप लोग (नः) हमें (महःएनसः) बड़े भारी पाप, भ्रष्टाचार और दुराचार और (अर्भात् एनसः) छोटे- छोटे से पापों से भी (उरु ष्यत) बचाइये। (अनहेसः वः ऊ तयः सुऊ तयो वः ऊ तयः) आपकी रक्षाएँ पाप रहित हैं, आपकी रक्षा शक्तियाँ अत्युत्तम है। यहाँ भी निष्पाप आदित्य ब्रह्मचारियों तथा सूर्य किरणों के समान अज्ञानान्धकार निवारक विद्वानों की शरण में जाकर सब प्रकार के छोटे तथा बड़े भ्रष्टाचार और पाप को दूर कराने की उनसे प्रार्थना की गयी है।

ऋग्वेद ८।४७।१३ में इसी प्रकार की एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रार्थना है—

यदाविर्यदपीच्यं१ देवासो अस्ति दुष्कृतम् ।
त्रिते तद्विश्वमाप्त्य आरे अस्मद्दधातनानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥

(ऋ० ८।४७।१३)

हे (देवासः) सत्यनिष्ठ विद्वानो! (यत दुष्कृतम् आविः) जो बुरा काम प्रकट रूप में है और (यत् दुष्कृतम् अपीच्यम् अस्ति) जो बुरा काम छुपा हुआ है, (त्रिते आप्त्य) शारीरिक, वाचिक, मानसिक तीनों प्रकार के पापों से रहित आप्त जन के आधीन हमें रखकर (अस्मत्) हम से (आरे दधातन) उस प्रकट या गुप्त पाप-भ्रष्टाचार को दूर रखो। आपकी रक्षाएँ निष्पाप और अत्युत्तम हैं।

किस प्रकार के नेता, महापुरुष, लोगों को भ्रष्टाचार और दुराचार से हटाकर उनको सन्मार्ग में प्रवृत्त कर सकते हैं, इस विषय में ऋग्वेद ९।१०१।१० तथा सामवेद मं० ५४८, ११०१ में कहा है कि—

सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः।
मित्राः सुवाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः॥

(ऋ० ९।१०१।१०; साम० ५४८, ११०१)

स्वर्गीय स्वामी श्री भगवदाचार्यजी ने साम संस्कार भाष्य में इसका भावार्थ इस प्रकार दिया है—

धर्मज्ञ, तेजस्वी, पवित्राचरणवाले, सर्वप्राणियों के मित्र, निर्दोष, पवित्र विचारवाले, परमेश्वर के रहस्य को जाननेवाले सौम्य भक्तजन लोगों के कल्याण के लिए जहाँ-तहाँ जाते-आते रहते हैं। वे लोगों को सदाचार में स्थापित तथा सब को पवित्र करते हैं। ये स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। ऐसे पवित्र आचार व्यवहारवाले सच्चे नेता ही लोगों को सदाचारी बनाने और सब प्रकार के भ्रष्टाचार और दुराचार को दूर करने में समर्थ हो सकते हैं। अन्य नहीं। जो स्वयं सर्वथा पवित्र आचार-विचार के नहीं हैं, वे दूसरों का सुधार करने वा उन्हें भ्रष्टाचार से दूर रखने में कैसे समर्थ हो सकते हैं?

इस समय हमारे देश की शोचनीय स्थिति का एक बड़ा कारण यह है कि जो नेता हैं, वे भी उन गुणों से प्रायः सम्पन्न नहीं है जिनका इस मन्त्र में सुवानाः (पवित्र जीवनवाले) अरेपसः (पापरहित) इत्यादि शब्दों द्वारा वर्णन किया गया है। बहुतों का अपना जीवन उच्च आदर्श से बहुत दूर है। ऐसी अवस्था में उनके कोरे उपदेशों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ सकता है?

अतः साधु संन्यासियों का सहयोग प्राप्त करना इस कार्य के लिए आवश्यक है। साधु शब्द का तो अर्थ ही 'साध्नोति पर कार्याणीति साधुः' है अर्थात् जो दूसरों के कार्यों को सिद्ध करनेवाला, परोपकारी है। ऐसे साधुओं के लिए वेदमन्त्र में (सोमाः) सौम्य (सुवानाः) पवित्र जीवनवाले (अरेपसः) पापरहित, निष्कलंक, आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है। ऐसे सच्चे साधु संन्यासियों को बहुत बड़ी संख्या में इस भ्रष्टाचार और दुराचार के निवारणार्थ अग्रसर होकर अपनी सेवाएँ समर्पित करनी चाहिए। इनका सम्बन्ध किसी एक राजनैतिक दल से न होना

चाहिए। उनका अपना जीवन इतना पवित्र, उच्च, तप और त्यागमय होना चाहिए कि वे नीच भ्रष्टाचारियों और दुराचारियों को सन्मार्ग पर लाने में समर्थ हो सकें। उनके अन्दर ऐसा आत्मविश्वास भी होना चाहिए जिसका प्रतिपादन अथर्ववेद ४।३६।७-८ में इन शब्दों में है—

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे॥
यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते॥

(अथर्व० ४।३६।७-८)

(यं ग्रामम् अहम् अविशे) जिस ग्राम में मैं प्रविष्ट होता हूँ उस ग्राम में (पिशाचैः न संशक्नोमि) दुष्टों, जनता का रुधिर चूसनेवाला राक्षसों के साथ, मेल नहीं कर सकता। (न स्तेनैः) न चोरों के साथ (न वनर्गुभिः) न जंगली डाकुओं के साथ मेल कर सकता हूँ। इसलिए (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उस ग्राम से पिशाच-जनता का रक्त पीनेवाले लोग नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

(मम इदम् उग्रंसहः) मेरा यह उग्रबल (यं ग्रामम् आविशते) जिस ग्राम में प्रविष्ट होता है (तस्मात् पिशाचाः नश्यन्ति) उससे जनता का रक्त पीनेवाले पिशाच नष्ट हो जाते हैं और (पापं न उपजानते) पापी जन पाप का सर्वथा परित्याग करके, अपने जीवन को धार्मिक जनों के प्रभाव से पवित्र बना लेते हैं।

सत्य का बल कितना बड़ा होता है, इसका मनोरञ्जक वर्णन इस सूक्त के मन्त्रों में किया गया है। सत्य का बल जिस ग्राम वा नगर के मनुष्यों में होता है, वहाँ के दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा वहाँ रहें भी तो वे अपने पापी विचार और आचार को त्याग देते हैं। इस प्रकार पूर्ण सत्यनिष्ठ धर्मात्मा अपने पवित्र आचरण और धर्मोपदेश से जनता का रक्त चूसनेवाले सब नर पिशाचों, चोरों और डाकुओं तक का जीवन परिवर्तन करने में समर्थ होते हैं।

सत्य के प्रभाव का वर्णन करते हुए ऋग्वेद ९।७३।८ में यहाँ तक कहा गया है—

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्री ष पवित्रा हृद्यन्तरा दधे।
विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभि पश्यत्यवाजुष्टान्विध्यति कर्ते अव्रतान्॥

(ऋ० ९।७३।८)

(ऋतस्य गोपाः) सत्य का रक्षक (सुक्रतुः) सदाचारी (न दभाय) नहीं दबता और न हिंसित होता है। (सः) वह तो (हृदि अन्तरा) हृदय के अन्दर (त्रीपवित्रा दधे) तीन पवित्रों को धारण किये हुए हैं। (सः विद्वान्) वह ज्ञानी (विश्वाभुवना) सब लोगों को (अभिपश्यति) सम्मुख देखता है (कर्ते) कर्त्तव्य

कर्म में (अव्रतान्) सत्य, सदाचार आदि व्रत रहितों और (अजुष्टान्) प्रीति रहित होकर जनता की सेवा न करनेवालों को (जुषीप्रीति-सेवनयोः) (अवविध्यति) बींध देता है।

इस पवित्र मन्त्र में बताया गया है कि सत्य का रक्षक कभी किसी से नहीं दबता। वह सर्वथा निर्भय होता है। वह अपने अन्दर पवित्रता धारण किये होता है। इसलिए उसके अन्दर अद्भुत दिव्य शक्ति विद्यमान होती है। जिसमें पवित्र विचार, पवित्र उच्चार वा वाणी और पवित्र आचार ये तीन गुण हैं, उसे कौन दबा सकता है। वह सब भुवनों तथा उनके निवासी प्राणियों को यथार्थ रूप में देखता है। ऐसा मनुष्य कर्त्तव्य भ्रष्टों को बींध देता है। उसके पवित्र जीवन और सदुपदेश से उनके हृदय में गहरी चोट लगती है। उन्हें अपनी दुरवस्था का बोध कराकर वह भ्रष्टाचार और दुराचार से ग्लानि करा देता है।

"तुम हो तो हीरे पर कीचड़ में पड़े हुए हो।" इन शब्दों से ऋषि दयानन्द-जी ने अमीचन्द्र के हृदय में पश्चात्तापाग्नि को प्रज्वलित करके उससे मांस, मद्य, द्यूत, भ्रष्टाचार और दुराचार का परित्याग करा दिया। पूर्ण सदाचारी, महाविद्वान् त्यागी तपस्वी पं० गणपति शर्मा जी के उपदेश से मुगला डाकू का चोरी डाका तथा अन्य सब कुकृत्य त्याग कर धर्मात्मा बन जाना, नारदादि महर्षियों के उपदेश से रत्नाकर का डाकूपन छोड़कर महर्षि वाल्मीकि के रूप में परिवर्तित होकर रामायण महाकाव्य के द्वारा समस्त संसार के सम्मुख उच्च सदाचार के आदर्श प्रस्तुत करना इत्यादि सच्ची घटनाएँ हमारे समक्ष हैं। ऋग्वेद ५।६५।१ में बताया गया है कि कौन उपदेश के अधिकारी है जिसका उपदेश प्रभावशाली हो सकता है—

यश्चिकेत स सुक्रतुर्देवत्रा स ब्रवीतु नः।

(ऋ० ५।६५।१)

(यः चिकेत) जो ज्ञानवान् है (सः सुक्रतुः) वह उत्तम बुद्धि और उत्तम कर्म करनेवाला भी हो (सः) वह (नः) हम (देवत्रा) विद्या के अभिलाषी जनों को (ब्रवीतु) उपदेश करे अथवा वह (देवत्रा) विद्या तथा धर्म के अभिलाषी जनों का रक्षक गुरु उपदेश करे। इस मन्त्र में कितनी उत्तम बात कही गयी है कि ज्ञान के साथ-साथ उत्तम बुद्धि और ज्ञान के अनुसार कर्म करना आवश्यक है, तभी वह इस योग्य बनता है कि सब को उपदेश दे सके और उस उपदेश से लोगों के जीवन को दिव्य बना सके। भ्रष्टाचार के निवारण के लिए ऐसे ही उच्च कोटि के ज्ञानी, बुद्धिमानी और निष्कलंक पवित्र जीवनवाले त्यागी तपस्वी महात्माओं के सहयोग की आवश्यकता है। इसीलिए अथर्ववेद १९।६३।१ में ब्रह्मणस्पति अर्थात् ब्रह्मवेद ज्ञान के स्वामी महाविद्वान् आचार्य को सम्बोधन करते हुए कहा

गया है—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान्यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥

(अथर्व० १९।६३।१)

हे (ब्रह्मणस्पति) वेद ज्ञान के स्वामी और रक्षक विद्वच्छिरोमणे (उतिष्ठ) उठो (देवान् यज्ञेन) समस्त विद्वानों को देव पूजा, संगतिकरण और दान से (बोधय) परिचित करा अथवा यज्ञ द्वारा सत्संग द्वारा सब को अपने कर्त्तव्य का बोध करा और इस प्रकार (आयु, प्राणं, प्रजां, पशून्, कीर्ति यजमानं च वर्धय) आयु, प्राण, प्रजा, पशुगण, कीर्ति और यजमान को भी बढ़ा।

ऋग्वेद २।२७।६ में मित्र, वरुण, अर्यमा और आदित्यों को सम्बोधन करते हुए उपदेश की प्रार्थना की गयी है—

सुगो हि वो अर्यमन्मित्र पन्था अनृक्षरो वरुण साधुरस्ति।
तेनादित्या अधि वोचता नो यच्छता नो दुष्परिहन्तु शर्म॥

(ऋ० २।२७।६)

हे (अर्यमन्) न्यायकारिन् (मित्र) सबके साथ मित्रता रखनेवाले सर्वस्नेही (वरुण) सर्वश्रेष्ठ, अज्ञान तथा दुःख निवारक हे (आदित्याः) उत्तम ज्ञानवान् अज्ञान विनाशक विद्वानो! (वः) आप लोगों का (पन्थाः) मार्ग (सुगः) अच्छी प्रकार योग्य (अनृक्षरः) कंटकरहित, निर्विघ्न (साधुः) उत्तम (अस्ति) है (तेन) उसी मार्ग से (नः) हमें (अधिवोचत) अधिकार पूर्वक अध्यक्ष रूप से आज्ञा दो (नः) हमें (दुष्परिहन्तु) कभी नाश न होनेवाला (शर्म यच्छत) सुख दो।

न्यायकारी, विश्वप्रेमी, सर्वश्रेष्ठ, अज्ञानादि निवारक, सूर्य के समान तेजस्वी विद्वानों का मार्ग अत्यन्त सरल, निश्छल, निष्कपट, निर्विघ्न और उत्तम होता है। भ्रष्टाचार का मार्ग तो वस्तुतः असत्य और छल-कपट से पूर्ण होता है। अतः ऐसे उत्तम पवित्राचार सम्पन्न विद्वानों से प्रार्थना की गयी है कि वे अपने सदुपदेश द्वारा सब को सन्मार्ग में प्रवृत्त करके सुखी करें।

ऋग्वेद ७।५१।१ में भी आदित्य के समान तेजस्वी और अज्ञानान्धकार निवारक विद्वानों से पाप निवारणार्थ प्रार्थना है—

आदित्यानामवसा नूतनेन सक्षीमहि शर्मणा शन्तमेन।
अनागास्त्वे अदितित्वे तुरास इमं यज्ञं दधतु श्रोषमाणाः॥

(ऋ० ७।५१।१)

समाज में ऐसे आदित्य के समान तेजस्वी, तपस्वी विद्वान् नेताओं और प्रचारकों की जितनी अधिकता होगी, उतना ही उनमें पवित्रता का संचार होगा जिसमें भ्रष्टाचार और दुराचार के लिए कोई स्थान ही न रह जाएगा।

इस प्रकार हमने वेदों के अनुसार भ्रष्टाचार और दुराचार के निवारणार्थ किस प्रकार के विद्वान् तपस्वी तेजस्वी साधु महात्माओं का सहयोग प्राप्त करना चाहिए, इस बात का सप्रमाण निर्देश किया है। अब वेदों के आधार पर इस विषय में शासकों के कर्त्तव्य का प्रतिपादन किया जाएगा।

भ्रष्टाचारियों के लिए अति कठोर दण्ड का प्रावधान

वेदों के अनुसार त्यागी, तपस्वी विद्वान् साधु महात्माओं के प्रेमपूर्वक समझाने पर भी जो भ्रष्टाचार और दुराचार का परित्याग न करके समाज के लिए विघातक हों, उनको अति कठोर दण्ड देना चाहिए, फिर उन पर दया न दिखानी चाहिए। ऋग्वेद १।३६।१४ में कहा है—

विश्वं सम॒त्रिणं॑ दह॥ (ऋ० १।३६।१४)

(विश्वम्) सब (अत्रिणम्) प्रजा के भक्षक, समाज विघातक, भ्रष्टाचारी वर्ग को (सन्दह) अच्छी प्रकार जला दे। ऐसों को जलाने का प्रावधान इसलिए है ताकि अन्यों को ऐसा निन्दनीय कर्म करने का साहस ही न हो। थोड़े से लोगों को भी ऐसा कठोर दण्ड देने से फिर लोग ऐसा कार्य करते हुए अत्यधिक भयभीत होंगे। छोटे–छोटे आर्थिक दण्ड देने से किसी को भी, विशेषतः धनी सम्पन्न लोगों को कोई भय नहीं होता। ऋग्वेद १।९४।९ में अग्नि–अग्रणी नेता शासनाधिकारियों को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि—

व॒धैर्दु॒ःशंसाँ॒ अप॑ दू॒ढ्यो॑ जहि दू॒रे वा॒ ये अन्ति॑ वा॒ के चि॑द॒त्रिणः॑॥

(ऋ० १।९४।९)

हे (अग्ने) ज्ञानवन् नायक! तू (दुःशंसान्) दुःखदायी और दुष्परिणाम जनक वचनों को कहनेवाले और लोगों को बुरी बात सिखानेवालों को (वधैः) नाना दण्डों से (अपजहि) पीड़ित करके राष्ट्र से दूर कर। (ये) लोग (दूरे वा अन्ति वा) दूर देश में और समीप में भी (केचित्) कोई भी (दूढ्यः) दुष्ट बुद्धि, दुःखदायी, हीन आचार चरित्रवाले और (अत्रिणः) प्रजा के माल को भ्रष्टाचार से हड़प जानेवाले, खाऊ लोग हैं (अद्–भक्षणे) उनको नाना दण्डों से दण्डित करके प्रजा से परे हटा, उनको प्रजा में मत रहने दे। उनको देश निर्वासन का दण्ड दे। वेदों में भ्रष्टाचारी समाज विघातक लोगों को कठोर दण्ड देने का विधान स्पष्ट है।

ऋग्वेद ६।५१।१४ में ऐसे ही स्पष्ट शब्दों में शासकों को आदेश है—

ज॒ही न्य१॒॑त्रिणं॑ प॒णिं वृको॒ हि षः॥ (ऋ० ६।५१।१४)

(अत्रिणं पणिम्) प्रजा का नाश करनेवाले, प्रजा के माल को उड़ानेवाले, खाऊ, दुष्ट व्यापारी को (पण–व्यवहारे स्तुतौ च) (जहि) मार डाल (हि) निश्चय

से वह (वृकः) भेड़िये के समान प्रजा का घातक अथवा चोर है। (वृक इति स्तेननाम–निघं० ३।२४)

भ्रष्टाचारियों के लिए वेद में अत्रि पणि और वृक जैसे शब्दों का प्रयोग है और उनमें से जो अत्यन्त अधिक नीच हों, उन्हें जला डालने या अन्य प्रकार से मार डालने (मृत्युदण्ड देने) और उससे कम विध्वंसकों को देश निर्वासन करने तथा अन्य इसी प्रकार के कठोर दण्ड देने का वेदों में विधान है। ऐसे दुष्ट समाज और राष्ट्र के शत्रु होते हैं। अतः अनेक वैदिक मन्त्रों में उनके हाथ काट डालने तक का विधान किया गया है। इनमें से तीन को हम यहाँ अर्थ सहित प्रस्तुत करते हैं—

अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः॥

(अथर्व० ३।१।१)

(अग्निः) आगे–आगे चलनेवाला, सेना का अग्रणी सेनापति (नःशत्रून्) हमारे शत्रुओं पर (प्रतिएतु) चढ़ाई करे और (विद्वान्) युद्ध विद्यादि और अपने कर्त्तव्यों को जानता हुआ (अभिशस्तिम्), सब ओर से घात करनेवाले, अनेक प्रकार से भ्रष्टाचार करनेवाले (अरातिम्) दान रहित, प्रजा को सुख न देकर दुःखदायी दुष्ट को (प्रतिदहन) अपने शस्त्रों से जलाता हुआ (सः) वह सेनापति (परेषां सेनाम्) पराये शत्रुओं की समस्त सेना को (मोहयतु) किंकर्तव्य विमूढ़ बना दे और वह (जातवेदाः) सब उत्पन्न हुई घटनाओं को जानने के द्वारा दुष्टों को (निर्हस्तान् कृण्वत्) हस्त रहित कर दे–उनके हाथ काट डाले जिससे वे चोरी डाका आदि कुकर्म न कर सकें। कहीं यह न समझा जाय कि यह विधान युद्ध में स्थित शत्रुओं के लिए है, शत्रुओं के लिए नहीं अतः हम अथर्ववेद ९।६५।३ के दो स्पष्ट प्रमाण इस विषय में प्रस्तुत करते हैं।

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः।
जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना॥

(अथर्व० ६।६५।३)

(इन्द्रः) राजा (प्रथमम्) पहले (असुरेभ्यः) प्राणों में रमण करनेवाले, अपने ही प्राण पोषण में तत्पर स्वार्थी लोभी समाज वा राष्ट्र घातक भ्रष्टाचारियों के लिए (नैर्हस्तं चकार) निर्हस्तता कर देता है; उनके हाथ कटवा डालता तथा उन्हें ऐसा कर देता है कि वे समाज विघातक बुरे कार्य कर ही न सकें। (मम) मेरे (सत्वानाः) वीर्यवान् नर (स्थिरेण) स्थायी (मेदिना) बलशाली (इन्द्रेण) सेनापति व राजा के साथ (जयन्तु) सब दुष्टों, अन्यायियों, अत्याचारियों पर विजय प्राप्त करें। यहाँ असुरों अर्थात् प्राणों में ही दिन रात रमण करनेवाले स्वार्थ परायण लोभी

व्यक्तियों को इन्द्र–परमैश्वर्य युक्त राजा वा सेनापति द्वारा निर्हस्त किये जाने का स्पष्ट निर्देश है। निर्हस्तता का अर्थ कई अनुवादक निहत्था या निरस्त कर देते हैं पर उसका सीधा शब्दार्थ क्यों न लिया जाय इसके लिए कोई प्रमाण नहीं।

अथर्ववेद ६।६६ में भी इसी प्रकार की निर्हस्तता का विधान है—

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै॥

(अथर्व० ६।६६।३)

(शत्रवः) प्रजा की हिंसा करनेवाले (शतृ–हिंसायाम्) (निर्हस्ताः सन्तु) हस्तरहित कर दिये जायें–उनके हाथ कटवा दिये जायें (एषाम्) इनके (अंग) अंगों को (म्लापयामसि) लुंजा पुंजा कर देते हैं। और हे (इन्द्र) सेनापते! (सेनेन्द्रस्य पत्नी) गोपथ ३।२।९ के अनुसार जब सेना इन्द्र की पत्नी है, तो इन्द्र का सेनापति यह अर्थ स्पष्ट है। (एषाम्) इन दुष्ट भ्रष्टाचारियों, अन्यायियों और अत्याचारियों के (वेदांसि) धनों को हम (शतशः) सैकड़ों प्रकार से (विभजामहै) बाँट लिया करें।

यहाँ भी समाज के हिंसक दुष्टों को निर्हस्त करने और उनके अंगों के छेदन अथवा लुंज पुंज करने का विधान है। इससे यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ निर्हस्तता का शब्दार्थ 'हाथ कटवा डालना' ही उचित है।

मनु महाराज ने अपनी स्मृति में विधान किया है कि—

येन येन यथांगेन स्तेनो नृशु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥

(मनु० ८।३३४)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसका भाषार्थ इस प्रकार किया है—

चोर जिस प्रकार जिस अंग से मनुष्यों में विरुद्ध चेष्टा करता है, उस–उस अंग को सब मनुष्यों की शिक्षा के लिए राजा हरण अर्थात् छेदन कर दे।

आजकल के कई लोग इस प्रकार के दण्ड विधान पर यह हस्तक्षेप करते हैं कि यह जंगलीपन को सूचित करता है। किन्तु यह आक्षेप निस्सार है। इस प्रकार के कठोर दण्ड का परिणाम यह होगा कि फिर किसी को ऐसे दुष्कार्य करने का साहस न हो सकेगा। इसीलिए स्वामी दयानन्द ने मनुष्यों की शिक्षा के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया है। इसके स्थान में छोटे–मोटे दण्ड, जुर्माना वा कुछ समय के कारागार का दण्ड देने से न उस भ्रष्टाचारी असुर पर कोई प्रभाव पड़ता है और न अन्यों को भय प्रतीत होता है। इससे अपराधियों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। इसीलिए वेदों में जला डालने तक का विधान है—

स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ (ऋ० १।७९।६)

हे अग्नि के समान तेजस्वी जन नायक राजन्! तू (तिग्म जम्भ) तीव्र नाशक शक्ति सम्पन्न (रक्षसः प्रति दह) राक्षसों को जला डाल।

भ्रष्टाचारियों को उनके अधिकारों से वञ्चित करना—

वेदों में यह भी स्पष्ट विधान पाया जाता है कि जो भ्रष्टाचारी अच्छे कार्यों की निन्दा करते और बुरे लोगों को प्रोत्साहित करते हैं, उन्हें अधिकार भ्रष्ट कर देना चाहिए चाहे वे मुख्यमन्त्री, मन्त्री, सचिव अथवा अन्य किसी पद पर भी पहले क्यों न नियुक्त हों। उदाहरणार्थ ऋग्वेद ५।४२।१० में कहा है—

य ओहते रक्षसो देववीतावचक्रेभिस्तं मरुतो नि यात।
यो वः शमीं शशमानस्य निन्दात्तुच्छ्यान्कामान्करते सिष्विदानः ॥

(ऋ० ५।४२।१०)

हे (मरुतः) विद्वान् बलवान् पुरुषो! (यः) जो पुरुष (देववीतौ) विद्वान् उत्तम पुरुषों के रक्षाकार्य में (रक्षसः ओहते) विघ्न करनेवाले दुष्ट-भ्रष्टाचारी पुरुषों को लगाता है, और (यः) जो (शशमानस्य) प्रशंसनीय भक्त पुरुष के (शमीम्) शान्तिकारक कर्म की (शशमानः अर्चति कर्मा) निघं० ३।१४ शमीति कर्मनाम निघं० २।१ शम् इति सुखनाम निघं० ३।६ (निन्दात्) निन्दा करे और जो (सिष्वदानः) स्नेहवश वा सन्मार्ग का परित्याग करके ञिष्वदा-स्नेह मोचनयोः। (तुच्छयान् कामान् करते) क्षुद्र पुरुषों की-सी स्वार्थमय अभिलाषाएँ करें, ऐसे क्षुद्र नीच भ्रष्टाचारी और दुराचारी पुरुष को आप लोग (अचक्रेभिः) चक्र अर्थात् राज्य चक्र वा सैन्य चक्र रहित-अधिकार शून्य पदों के द्वारा उनको पदच्युत करके (नियात) नीचे गिराओ।

यदि राज्य के प्रमुख अधिकारी वेदों की इस शिक्षा के अनुसार आचरण करें और भ्रष्टाचार और दुराचार में प्रवृत्त बड़े से बड़े पद पर स्थित व्यक्ति को भी पद भ्रष्ट करके अति कठोर दण्ड (निर्हस्त करना, अग्नि में डाल देना आदि) दें, तो भ्रष्टाचार कभी इस तरह पनप नहीं सकता जैसे कि शिथिल शासन में जहाँ केवल साधारण से आर्थिक दण्ड वा साधारण कारागार देकर समझ लिया जाता है कि हमने अपने कर्त्तव्य का पालन कर लिया।

भ्रष्टाचारियों के समान दुराचारी नर-नारियों के लिए भी वेदों में अति कठोर दण्ड का विधान है। उदाहरणार्थ यजु० २३।२१ में यह आदेश सभाध्यक्ष तथा विद्वानों के लिए दिया गया है—

उत्सक्थ्याऽअव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्। य स्त्रीणां जीवभोजनः ॥

(यजु० २३।२१)

इसका स्वामी दयानन्द के भाष्य का भाषानुवाद इस प्रकार है—

परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करनेवाले और उसको प्राप्त करानेवाले सभा अध्यक्ष सहित विद्वान् लोगो ! तुम सब एक सम्मतिवाले होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ा के न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो तथा जो कोई दुष्ट (जीव भोजनः) स्त्रियों में व्यभिचार करनेवाला, चोरों में चोर, ठगों में ठग, डाकुओं में प्रसिद्ध, दूसरों को बुरे काम सिखानेवाला, इत्यादि दोष युक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोष युक्त स्त्री हो, उसको ऊपर पग और नीचे सिर करके उसको टांग देना। उसकी अत्यन्त दुर्दशा करके मार डालना, जिससे प्रजा को सुख लाभ हो।

वेदों के ऐसे विधानों के अनुसार ही मनु महाराज ने अपनी स्मृति में व्यभिचारी पुरुष और स्त्री के लिए ऐसे अति कठोर दण्ड का विधान किया है यथा—

भर्तारं लंघयेद् यातु स्त्री, ज्ञाति गुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद्राजा, संस्थाने बहु संस्थिते॥ ३७१ ॥
पुमांसं दाहयेत्पापं, शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि, तत्र दह्येत पापकृत्॥ ३७२ ॥

(मनुस्मृति अ० ८)

अर्थात् जो स्त्री अपनी जाति गुण के घमण्ड से पति को छोड़ व्यभिचार करे उसको बहुत स्त्रियों और पुरुषों के सामने राजा कुत्तों से कटवाकर मरवा डाले। इसी प्रकार जो अपनी स्त्री को छोड़कर परस्त्री वा वेश्यागमन करे, उस पापी को लोहे के पलंग को अग्नि से तपा के लाल कर उस पर सुलाकर बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म कर दे।

वेद और मनुस्मृति के आदेशानुसार जब तक अत्यधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था भ्रष्टाचारियों और दुराचारियों के लिए न होगी, तब तक इनका निवारण सम्भव नहीं प्रतीत होता। अतः विद्वान् तपस्वी त्यागी साधु महात्माओं द्वारा प्रचार, छात्र–छात्राओं और युवक–युवतियों में धर्म शिक्षा के प्रसार के साथ–साथ यह भी आवश्यक है कि ऐसे समाज विघातक भ्रष्टाचारियों के लिए सार्वजनिक रूप में अति कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाय जैसे कि वेद और स्मृति में स्पष्ट आदेश दिया गया है।

वेदों में उचित कार्यों में शीघ्रता का आदेश

प्रायः सरकारी कार्यालयों और न्यायालयादि में प्रत्येक काम इतनी सुस्ती से होता है और उसमें इतनी अधिक देर लग जाती है कि शीघ्र काम निकालने के लिए लोग घूस देना आदि भ्रष्टाचार में प्रवृत्त हो जाते हैं। कई कर्मचारी भी घूस

लेने के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि वे जान बूझकर देर लगाते और मामलों को महीनों ही नहीं, वर्षों तक लटकाते रहते हैं जब तक उनकी मुट्ठी गरम न की जाये। इस प्रकार यह कार्यों में अनावश्यक देरी जो अधिकारियों की अक्षमता को सूचित करती है, वहाँ वह भ्रष्टाचार को भी जन्म देती है। इसलिए हम देखते हैं कि वेदों में प्रमाद, आलस्य और दीर्घसूत्रता की निन्दा करते हुए जागरूकता तथा अतुरता वा तूर्णिता (कार्यों में शीघ्रता) पर बड़ा बल दिया गया है।

इस सन्दर्भ में ऋग्वेद का एक मन्त्र उद्धृत किया जाता है—

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

(ऋ० ५।४४।१४; साम० १८२६)

इस मन्त्र में बतलाया गया है कि जो कर्त्तव्यपालन में सदा जागरूक रहता है, कभी उसमें आलस्य और प्रमाद नहीं करता, उसी को वेदों का ज्ञान प्राप्त होता है। जो जागरूक–कर्त्तव्य परायण व्यक्ति प्रमाद आलस्य का परित्याग कर देता है, उसी को (अयं सोम आह) यह सर्वोत्पादक परमेश्वर मानो यह कहता है कि (अहं तव सख्ये नि ओका: अस्मि) मैं तेरी मित्रता में निरन्तर निवास करनेवाला हूँ। अर्थात् जागरूक कर्त्तव्य परायण व्यक्ति ही परमेश्वर की मित्रता और सहायता का अधिकारी बनता है। आलसी प्रमादी नहीं।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥

(ऋ० ८।२।१८; साम० ७२१)

इस मन्त्र में स्पष्टतया कहा है कि देव (परमेश्वर और उसके उपासक सत्यनिष्ठ विद्वान्) यज्ञादि करनेवाले परिश्रमी को चाहते हैं, (न स्वप्नाय स्पृहयन्ति) सोनेवाले, आलसी को नहीं चाहते। वे (अतन्द्राः) आलस्य रहित पुरुषार्थी होकर (प्रमादं यन्ति) प्रसन्नता को प्राप्त करते हैं अथवा प्रमाद करनेवाले का नियन्त्रण करते हैं, उसे दण्ड देते हैं। देव (सत्यनिष्ठ विद्वान्) स्वयं प्रमाद, आलस्य रहित होते हैं। अन्य मन्त्रों में भी देवों के लिए तूर्णय: आदि विशेषणों का प्रयोग करते हुए उन्हें विना आलस्य, प्रमाद वा शिथिलता के शीघ्र कार्य करनेवाला कहा गया है यथा—

विश्वे देवासो अप्तुरः सुतमा गन्त तूर्णयः। उस्रा इव स्वसराणि॥

(ऋ० १।३।८)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार किया है—

ईश्वर ने इस मन्त्र में यह आज्ञा दी है, हे सब के सब विद्वानो! आप लोगों को विद्या आदि शुभ गुणों के प्रकाश करने में कभी भी विलम्ब वा आलस्य नहीं

करना चाहिए। जैसे दिन में सब मूर्तिमान् पदार्थ प्रकाशित होते हैं, वैसे ही आप लोगों को भी विद्या के विषयों का प्रकाश सदा करना चाहिए।

अतः वेदों के अनुसार सब विद्वानों और व्यवहारी लोगों को भी शीघ्र कार्यकारी होना चाहिए। इसको सब व्यवहारी जन और विद्वान् अपना लें तो भ्रष्टाचार का यह कारण दूर हो जाय।

अथर्ववेद १२।१७ में देवों के लिए अस्वप्नाः शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है कि वे भूमि माता की सदा प्रमाद रहित होकर रक्षा करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥

(अथर्व० १२।१।७)

(अस्वप्ना देवाः) कर्त्तव्य के पालन करने में कभी न सोनेवाले सदा जागरूक देव (अप्रमादम्) प्रमाद आलस्य रहित होते हुए (यां पृथिवीं भूमिम्) जिस विशाल पृथिवी की (विश्वदानीं रक्षन्ति) सदा रक्षा करते हैं (सा नः मधुप्रियं दुहाम्) वह हमें प्रिय मधुर फलादि प्रदान करे (अथो वर्चसा उक्षतु) और तेज से हमें सम्पन्न करे।

इन देवों के प्रभाव और अस्वप्नता के गुण को अपनाने से भ्रष्टाचार का एक बड़ा कारण दूर हो सकता है।

दूध, घी, मक्खन इत्यादि खाद्य पदार्थों में मिश्रण करके जो जनता के स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ करते और उन्हें रोगी बनाते हैं, ऐसे दुष्ट भ्रष्टाचारियों को भी अति कठोर दण्ड देना चाहिए ताकि ऐसे कुत्सित कर्म में कोई भूल कर भी प्रवृत्त न हो। अब तो थोड़े बहुत आर्थिक दण्ड देकर अधिकारी अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं जो दुःख की बात है।

उच्च अधिकारियों को स्वयं कर्त्तव्यपालन में सत्यनिष्ठता से तत्पर और जागरूक रहकर कर्मचारियों के कार्य का सावधानी से निरीक्षण करना चाहिए और भ्रष्टाचारी तथा अक्षम कर्मचारियों को कठोर दण्ड देकर उनके स्थान पर पूर्ण सदाचारी सुयोग्य व्यक्तियों की नियुक्ति करनी चाहिए।

वेदों के अनुसार मनु महाराज ने अपनी स्मृति के सप्तम अध्याय में भ्रष्टाचारी कर्मचारियों के प्रवासन के विषय में जो शब्द लिखे हैं, वे हमारे देश के शासकों के लिए विशेष ध्यान देने योग्य हैं। वेद के आदेशों का हम पहले अर्थ सहित उल्लेख कर ही चुके हैं। मनुजी ने लिखा है—

राज्ञो हि रक्षधिकृताः, परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण, तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव, गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय, राजा कुर्यात्प्रवासनम्॥

(मनुस्मृति अ० ७।१२३-१२४)

इसका अर्थ सत्यार्थप्रकाश में करते हुए स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने लिखा है—

राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे, वे धार्मिक सुपरीक्षित विद्वान् कुलीन हों, उनके अधीन प्रायः शठ और पर पदार्थ हरनेवाले चोर-डाकुओं को भी नौकर रख के उनको दुष्ट कर्म से बचाने के लिए राजा के नौकर करके उन्हीं रक्षा करनेवाले विद्वानों के आधीन करके उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करे। जो राज पुरुष अन्याय से वादी प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे, उसका सर्वस्व हरण करके यथा योग्य दण्ड देकर उसे ऐसे देश में रखे कि जहाँ से पुनः लौटकर न आ सकें। क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाय, तो उसको देख के अन्य राज पुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करेंगे। यदि उन्हें दण्ड दिया जाय, तो अन्य लोग बचे रहेंगे। इस प्रकार कठोर दण्ड व्यवस्था होना भ्रष्टाचार और दुराचार के निवारण के लिए आवश्यक है। योग्य धर्मात्मा तपस्वी साधु महात्माओं द्वारा प्रचार और सदाचारी समिति की शाखाओं की सर्वत्र स्थापना भी जरूरी है।

उपसंहार और अध्याय सार

इस अध्याय में हमने भ्रष्टाचार की व्यापकता और उसके निवारण की जटिल समस्या को प्रस्तुत करते हुए उसके अनेक मुख्य कारणों पर प्रकाश डाला है।

वेदों की दृष्टि से भ्रष्टाचार और दुराचार के निवारणार्थ यह दिखाया गया है कि अनुभवी ज्ञान तथा वयोवृद्ध, त्यागी, तपस्वी, सर्वथा निष्कलंक चरित्रवाले साधु संन्यासियों तथा महात्माओं का सहयोग लेकर उनके द्वारा देश व्यापी बल्कि विश्व व्यापी प्रचार करवाने की आवश्यकता है। उनके ही अन्दर ऐसी दिव्य शक्ति हो सकती है जो नीच से नीच भ्रष्टाचारियों के भी जीवन में काया कल्प कर दें।

हमने वेद और मनुस्मृति के आधार पर यह भी दिखाया है कि ऐसे समाज विघातक भ्रष्टाचारियों में उनको निर्हस्त करने-उनके हाथ कटवा डालने, उनको अधिकार भ्रष्ट करने और आग में जला डालने तक का विधान है। (यदि वे अनुभवी सुयोग्य साधु महात्माओं के समझाने बुझाने पर भी असन्मार्ग से निवृत्त न हों।) हमने यह भी दिखाने का यत्न किया है कि मनु महाराज ने वेदों के ही अनुसार भ्रष्टाचारियों और दुराचारियों के लिए अति कठोर दण्ड का विधान किया है, जो वस्तुतः अत्यन्त समुचित है।

देश में सर्वत्र सदाचार समितियों, केन्द्र में विजिलेंस कमीशन्स, भ्रष्टाचार

निरीक्षणायोग और प्रदेशों में भी ऐसे भ्रष्टाचार निरीक्षकों की स्थापना आदि के अतिरिक्त भ्रष्टाचारियों को सार्वजनिक रूप से अति कठोर दण्ड देना, उनका सामाजिक बहिष्कार करना, उनकी सम्पत्ति जब्त करना, सारे देश में धार्मिकता और नैतिकता का पवित्र वातावरण तैयार करना इत्यादि भ्रष्टाचार और दुराचार निवारण के प्रभावशाली साधन हैं जिनका वेदों के अनुसार हमने इस अध्याय में निरूपण किया है।

एक बड़ी बात जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है वह यह कि शासकों और उच्च अधिकारियों को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों और प्रजा के निवेदनों तथा शिकायतों को बहुत ध्यान से सुनना चाहिए और निष्पक्षपात जाँच करवाकर शिकायतों और कष्टों के निवारणार्थ पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। इसे उन्हें अपना परम कर्त्तव्य समझना चाहिए।

अध्याय-२२

मानव का रूपान्तरीकरण

मानव प्रकृति को कैसे रूपान्तरित किया जा सकता है? क्या ऐसा रूपान्तरण सम्भव भी है या यह प्रकृति ऐसी ही विकृत व दूषित रूप में चलती रहेगी? वेदों में इस विषय में क्या निर्देश उपलब्ध होते हैं जिन पर चलने से इसमें सफलता प्राप्त हो सकती है? इस दृष्टि से वेद शास्त्रोक्त संस्कारों की कोई उपयोगिता वा महत्त्व है या वे केवल निरर्थक क्रिया कलाप हैं? इन बातों पर हम इस अध्याय में विचार करेंगे।

मानव प्रकृति के शास्त्रों में सात्त्विक, राजस, तामस—ये तीन भेद किये गये हैं। भगवद् गीता १८।४० में लिखा है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा, दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं, यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥

(गीता १८।४०)

तात्पर्य यह है कि कहीं कोई प्राणी नहीं है जो प्रकृति के इन गुणों-सत्त्व, रज, तम से मुक्त हो। सत्त्व, रज, तम में से जिस गुण की प्रधानता होती है, उसके कारण व्यक्ति को सात्त्विक, राजस, तामस प्रकृति का कहा जाता है। गीता अ० १४ में इन गुणों का निरूपण करते हुए इनके चिह्नों को इस रूप में प्रकट किया गया है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्, प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेनबध्नाति, ज्ञानसंगेन चानघ॥
रजो रागात्मकं विद्धि, तृष्णासंगसमुदभवन्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय, कर्मसंगेन देहिनम्॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि, मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥

(गीता १४।६-८)

अर्थात् सत्त्व निर्मल-विशुद्ध होने से प्रकाशक और रोग उपद्रव रहित है और सुख और ज्ञान के संग से आत्मा को बाँध देता है। रजोगुण को रागात्मक

समझो जो तृष्णा और संग (आयुक्ति) से उत्पन्न होता है और मनुष्य को कर्म के संग से बाँध देता है। तम को अज्ञान से उत्पन्न समझो, जो सब प्राणियों को मोहित करनेवाला है और वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से मनुष्य को बाँध देता है।

इस दृष्टि से भगवद् गीता में आगे बताया गया है कि सत्त्व सुख में, रज कर्म में और तम ज्ञान को आवृत करके प्रमाद में डाल देता है। कभी सत्त्व, कभी रज और कभी तम की प्रबलता हो जाती है। शरीर के सब द्वारों में जब प्रकाश होने पर ज्ञान हो जाय तो समझना चाहिए कि सत्त्व गुण की वृद्धि हुई है। (१४।११) रजोगुण की वृद्धि होने पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति, स्पृहा (अनेक प्रकार की लौकिक इच्छाएँ) होती हैं। (१४।१२) तम की वृद्धि होने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह होते हैं। (१४।१३) अच्छे पुण्य कर्म का सात्त्विक निर्मल फल है, रज का फल दुःख और तम का फल अज्ञान है। (गीता १४।१६) सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है, रज से लोभ और तम से प्रमाद और मोह होते हैं। (१४।१७) इस सत्त्व, रज, तम के भेद से गीता में श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप, दान, कर्म, बुद्धि, धृति, कर्ता, आदि के अनेक भेद बताये गये हैं। ये आत्मनिरीक्षण के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र–इन चार वर्णों को भी भगवद्गीता में इन्हीं गुणों और कर्मों के आधार पर बताया गया है। (इसका हम पहले निर्देश कर चुके हैं।)

भगवद्गीता अ० ४।१३ में जो कहा गया है कि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः ॥ (गीता ४।१३)

इसकी व्याख्या करते हुए महामनीषी स्वा० शंकराचार्यजी ने लिखा है कि गुण कर्म विभाग से चातुर्वर्ण्य को बनाया गया। सत्त्व प्रधान ब्राह्मण के शम, दम, तप, शौच (पवित्रता) क्षमा, आर्जव (सरलता) ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य—ये सत्त्व स्वभावज कर्म हैं (गीता १८।१२)

सत्त्व मिश्रित रजः प्रधान क्षत्रिय के शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में अपलायन, दान, ईश्वरत्व (स्वामित्व)—ये स्वभावज कर्म हैं। तमो मिश्रित रजः प्रधान वैश्य के कृषि, गोरक्षा, व्यापार—ये कर्म हैं और रजो गुण मिश्रित तमः प्रधान, शूद्र का कर्म सेवा है। इस प्रकार वर्णों का आधार गुण और कर्म पर है।

गीता में तीन तरह की बुराइयों का वर्णन है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
यया धर्ममधर्मं च, कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति, बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥

अधर्मं, धर्ममिति या, मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(गीता १८।३०-३२)

अर्थात्—जो प्रवृत्ति निवृत्ति, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, भय, अभय, बन्ध और मोक्ष को ठीक-ठीक जानती है, वह सात्त्विक बुद्धि है। जो धर्म, अधर्म, कार्य, अकार्य को अयथार्थ रूप से जानती है वह राजसी बुद्धि है। जो तम से आवृत्त होकर अधर्म को धर्म मानती है और सारे अर्थों को विपरीत रूप में मानती है, वह तामस बुद्धि है।

आज मनुष्यों की बुद्धि सात्त्विक और शुद्ध बन जाय, उसकी तामसिकता सर्वथा नष्ट हो जाय तथा उसमें राजासिकता भी न रहे, जो उसे धर्म, अधर्म, कार्य, अकार्य का यथार्थ ज्ञान नहीं होने देती—यह मानव के रूपान्तरण का उपाय है। इस विषय में वेदों के निम्न मन्त्रों का मनन करना चाहिए—

त्रातारो देवा अधि वोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम॥

(ऋ० ८।४८।१४)

हे (देवाः) सत्यनिष्ठ ज्ञानी लोगों (नः अधिवोचत), आप हमें अध्यक्ष रूप से अधिकार पूर्वक उपदेश करें जिससे (नः निद्रा ईशत) हमारे ऊपर निद्रा प्रमाद (तन) का स्वामित्व न हो (मा उ जल्पिः ईशत) और न रजो जन्य व्यर्थ के अधिक भाषण का अधिकार हो। अर्थात् तम और रज के स्वामित्व से रहित होकर हम सात्त्विक बुद्धि और गुणों को धारण करें और (वयम्) हम (विश्वह) सदा (सोमस्य प्रियासः) शान्ति के स्रोत सर्वोत्पादक परमेश्वर के प्रिय और (सुवीरासः) उत्तम वीर तथा उत्तम सन्तानवाले होकर (विदथमा आवदेम) ज्ञान का चारों ओर उपदेश करें।

यह स्पष्ट है कि इस उपर्युक्त मन्त्र में निद्रा, तामस प्रकृति का और जल्पिः- राजस प्रकृति का बोधक है। इनका स्वामित्व वा शासन हमारे ऊपर न रहे। सत्यनिष्ठ ज्ञानी लोग जो स्वयं विशुद्ध सात्त्विक प्रकृति के हैं, हमें ऐसा उपदेश अधिकृत रूप से अपने अनुभव के आधार पर करते रहें, जिससे हम भी उत्तम वीर, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि से रज, तम के विकारभूत शत्रुओं के परास्त करनेवाले होकर, भगवान् के प्रिय बनें और फिर अनुभवी बनकर हम भी अन्यों को उत्तम ज्ञान का उपदेश देने के अधिकारी बनें। अथर्व ८।१।८ में भी तम से ज्योति की ओर जाने का उपदेश है।

आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे॥

(अथर्व० ८।१।८)

हे मनुष्य ! तू (तमसः) तामस अवस्था से–अन्धकार से (ज्योतिः आरोह) ज्ञान प्रकाश की ओर बढ़–चढ़ता (एहि) जा (आ ते हस्तौ आ रभामहे) हम आचार्यादि तेरे हाथ पकड़ते हैं। तुझे सहारा देते हैं। तुझे ऐसे साधनों का उपदेश करते हैं जिससे तेरा अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाय और तुझे ज्ञान प्रकाश की प्राप्ति हो।

अथर्व० ८।१।१० में पुनः कहा है—

तम॑ एतत्पुरुष मा प्र प॑त्था भ॒यं प॒रस्ता॑दभ॑यं ते अ॒र्वाक् ॥

(अथर्व० ८।१।१०)

हे पुरुष मनुष्या (एतत् तमः मा प्रपत्थाः) इस अज्ञानान्धकार में, जो तामसिक प्रकृति का परिणाम है, तू मत पतित हो। (अभयं परस्तात्) तेरा सारा भय दूर चला जाय। (अभयं ते अर्वाक्) निर्भयता तेरे आगे सदा रहे।

भय अज्ञान जन्य है। वह तम वा रज का परिणाम है। ज्ञान की ज्योति और शुद्ध सात्त्विक बुद्धि प्राप्त होने पर फिर भय का क्या काम !

अथर्व० ८।२।१ में कहा है—

आ र॑भस्वे॒माम॒मृत॑स्य॒ श्नुष्टि॒मच्छि॑द्यमाना ज॒रद॑ष्टिरस्तु ते।
असुं॑ त॒ आयुः॒ पुन॒रा भ॑रामि॒ रज॒स्तमो॒ मोप॑ गा॒ मा प्र मे॑ष्ठाः ॥

(अथर्व० ८।२।१)

हे पुरुष ! (इमाम्) इस (अमृतस्य श्नुष्टिम्) ज्ञान, शान्ति आनन्द रूप अमृत के भोग प्राप्त करने का (श्नुषु–अदने–आदने इत्येके) (आरभस्व) उद्योग कर (ते) तेरी (जरदष्टिः) जरावस्था तक की जीवन यात्रा तथा जीवन पर्यन्त उपभोग करने के निमित्त अन्न आदि सामग्री सदा (अच्छिद्यमाना) अविच्छिन्न रहे–सदा जुटी रहे। (ते) तेरे (असुन्) प्राण को और (आयुः) दीर्घ जीवन को (पुनः आभरामि) मैं फिर प्रदान करता हूँ। हे पुरुष तू (रजः तमः) राजस और तामस भोगों के समीप (मा उपगाः) मत जा और इस प्रकार (मा प्रमेष्ठाः) तू मृत्यु को मत प्राप्त हो अर्थात् सात्त्विक वृत्ति से जीवन निर्वाह करने और सात्त्विक जीवन बिताने से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। रज और तम से ऊपर उठकर सत्त्व के प्रकाश की ओर जाने की यह प्रेरणा कितनी स्फूर्तिदायिनी है।

मानव प्रकृति का रूपान्तरण शीघ्रता से होनेवाला नहीं है। उसके लिए महान् प्रयास और महती साधना की आवश्यकता है। परमेश्वर की कृपा के विना केवल अपने प्रयत्न से यह सिद्ध होनेवाला नहीं है। अतः वेदों में इसकी सिद्धि के लिए परमेश्वर की सच्चे हृदय से उपासना पर बड़ा बल दिया गया है। परमेश्वर जिसके रक्षक बन जाते हैं, जो उन्हें अपना एक मात्र रक्षक मानने लग जाता है, उसकी प्रकृति में यह रूपान्तरण सुगमता से होने लगता है। इस भाव को निम्न शब्दों में

कहा गया है—

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते॥

(ऋ० २।२३।५)

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञान के स्वामी परमेश्वर (सुगोपा त्वं यं रक्षसि) उत्तम रक्षक तू जिसकी रक्षा करता है (तम् अंहः न) उसके पास पाप फटक नहीं सकता (न दुरितं कुतश्चन) उसके पास दुःख और दुर्व्यसन कहीं से आ ही नहीं सकता (अरातयः न तितिरुः) काम, क्रोध, लोभादि आन्तरिक शत्रु और अदान कृपणता, केवल स्वार्थ परायणता की भावनाएँ (रा-दाने) उसको हिंसित नहीं कर सकतीं। (न द्वयाविनः) अन्दर से कुछ, बाहर से कुछ ऐसे कुटिल भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। (विश्वा इत् ध्वरसिः अस्मात् विबाधसे) सारी कुटिलताओं को (धृ-हूर्छने ध्वृ कौटिल्ये) तू उससे दूर कर देता है।

इस प्रकार परमेश्वर को जो अपना एक मात्र उपास्य, इष्ट देव और रक्षक मान लेता है, और सच्चे हृदय से उसकी उपासना करता है, उसके जीवन का कायाकल्प हो जाता है। उसके अन्दर कुटिलता नहीं रहती। वह बच्चों की तरह सरल स्वभाव का हो जाता है। वह काम, क्रोध, मद, लोभादि से रहित हो जाता है। इस प्रकार उसकी प्रकृति का रूपान्तर हो जाता है। मानव प्रकृति के सच्चे रूपान्तरण के लिए सर्वशक्तिमान् भगवान् की ऐसी कृपा अत्यावश्यक है।

ऋग्वेद १।९४।१ और सामवेद ६६, १०६० में भी आया मन्त्र इस विषय में मननीय है—

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(ऋ० १।९४।१; साम० ६६, १०६०)

(अर्हते जातवेदसे) पूजनीय सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमेश्वर के लिए (रथमिव) रथ की तरह (मनीषया) अपनी शुद्ध-बुद्धि के साथ (इमं स्तोतम् सं महेम) इस स्तुति को प्रेरित करते हैं। इस स्तोत्र के द्वारा भगवान् का भजन, कीर्तन और ध्यान करते हैं। हम क्यों उस सर्वव्यापक सर्वत्र भगवान् का ध्यान भजन करते हैं? क्योंकि (अस्य संसदि) इसकी संगति में इसकी उपासना के द्वारा (नः भद्रा प्रमतिः) हमारी अत्यन्त सुख और कल्याणकारिणी तीव्र बुद्धि हो जाती है। हे (अग्ने) ज्ञान स्वरूप अग्रणी-हमारे सच्चे नेता (तव सख्ये मा रिषाम्) हम तेरी मित्रता में कभी हिंसित व दुःखित न होवें।

इस मन्त्र का अभिप्राय स्पष्ट है कि भगवान् की सच्ची उपासना मनुष्य की बुद्धि को अत्यन्त सात्त्विक सुख कल्याणमयी और प्रकृष्ट-तीव्र तथा सूक्ष्म बना

देती है। इसे पाकर मनुष्य फिर कभी पाप नहीं कर सकता। दुःखी नहीं हो सकता। उसकी कोई हिंसा नहीं कर सकता। उसे कभी पीड़ित नहीं कर सकता। यह भगवान् की सच्ची अनन्य भक्ति और उपासना और उसकी कृपा का प्रसाद मानव प्रकृति को रूपान्तरित कर देता है।

जैसे हमने ऊपर लिखा है—मानव प्रकृति का यह रूपान्तरण कालपेक्षी है। यह कोई जादू नहीं जो मानव को दानव से देव बना दे। आवश्यकता है कि दानव (आसुरीप्रकृति) से पहले मनुष्य सच्चा मानव बने और मानव से (जिसमें साधारणतया सत्य, असत्य का, स्वार्थ परार्थ का मिश्रण होता है), वह देव बने जिनका लक्षण वेदों में इस प्रकार किया है—

ऋतावा॑न ऋ॒तजा॑ता ऋ॒तावृधो॑ घो॒रासो॑ अनृ॒तद्विषः।

(ऋ० ७।६६।१३)

अर्थात् वे मनुष्य देव कहाते है जो सत्यवाले, सत्य के कारण प्रसिद्ध, सत्य की वृद्धि करनेवाले वा समर्थक और असत्य के घोर विरोधी होते हैं। इसी वेद वचन के आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा गया है—

सत्यसंहिता वै देवाः (ऐत० १।६) **सत्यमया उ देवाः**। (कौषीतकी २।८)

वाक्यों में देवों को सत्यनिष्ठ बताया गया है। रूपान्तरण के लिए मनुष्य को अपनी प्रकृति को निरन्तर तामस से राजस और राजस से सात्त्विक बनाने का भी क्रमशः प्रयत्न करना पड़ता है। इसके लिए योगाभ्यास विशेष रूप से सहायक होता है। इसलिए यजुर्वेद ११।४ में कहा है—

यु॒ञ्जते॒ मन॑ऽउ॒त यु॒ञ्जते॒ धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चितः॑।
वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ऽइन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुतिः॥

(यजु० ११।४)

अर्थात् ज्ञानी योगी लोग सर्वज्ञ भगवान् के अन्दर अपनी बुद्धि और मन को जोड़ देते हैं। इस प्रकार करने से उन्हें सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है। और पवित्रता के स्रोत परमेश्वर की उपासना करने से, वे भी पवित्र हो जाते हैं। वह एक ही परमेश्वर है जिसने इन सब पदार्थों को बनाया और (वयुनाविद) जो सब जीवों के कर्मों को जाननेवाला है। उसी सर्वोत्पादक, सर्वप्रकाशक तथा सुख शक्ति आनन्ददाता परमात्मा की सबको स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए। योग के विषय में वेद का यह कितना उत्तम उपदेश है। तात्पर्य यह है कि उस सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक भगवान् के अन्दर अपनी बुद्धि और मन का योग करने से मानव प्रकृति का रूपान्तरण हो जाता है।

जगद्विख्यात योगी श्री अरविन्द ने लिखा है कि सम्पूर्ण योग का मुख्य उद्देश्य

ही रूपान्तरण है। इसके स्वरूप को बताते हुए उन्होंने लिखा—

"The transformation of our superficial narrow and fragmentary human way of thinking, seeing, feeling and being into a deep and wide spiritual consciousness and an integrated inner and outer existence and of our ordinary human living into the divine way of life, is the central purpose of this Yoga".

(Sayings of Shri Aurabindo and the Mother)

अर्थात् हमारी बहिःस्पर्शिनी, संकुचित और खण्डात्मक सोचने, देखने और अनुभव करने की मानव सरणी का रूपान्तरण और गम्भीर तथा विशाल आध्यात्मिक चेतना और एक अखण्ड आन्तरिक और बाह्य सत्ता में निवास तथा हमारे साधारण मानव जीवन का दिव्य जीवन में परिणत होना–यह इस योग का मुख्य उद्देश्य है। इस योग में मनुष्यों की जितनी प्रवृत्ति होगी, जितनी सच्ची लगन से श्रद्धापूर्वक साधना होगी, उतनी ही मात्रा में उनकी मानव प्रकृति का रूपान्तरण हो सकेगा।

इस कार्य को करने के लिए सच्चे मनुष्यों की आवश्यकता है जिनको वेदों में देवों के नाम से पुकारते हुए कहा गया है—

त्रातारो देवा अधि वोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।

(ऋ० ८।४८।१४)

हे सत्यनिष्ठ निष्पाप विद्वानो! (अपहृतपाप्मानो देवाः–शत० २।१। ३।४) आप रक्षक ज्ञानी लोग हमें अध्यक्ष रूप से ऐसा उपदेश करें जिससे हम निद्रा आदि तामस और व्यर्थ अधिक भाषण–असत्य तथा व्यर्थ भाषण रूप राजस विकारों के अधीन न हो जायें। जैसे देव–सत्यनिष्ठ, निष्पाप, अपहृत पाप विद्वानों की इस मानव प्रकृति के रूपान्तरण के लिए सहायता अपेक्षित है वैसे ही सत्यनिष्ठा निष्पापा विदुषी देवियों की भी। इसलिए वेदों में कहा है—

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः ॥

(ऋ० ७।३५।९; अथर्व० १९।१०।९)

अदितिः—अदीना देवमाता–दीनहीनता रहित विद्वानों की माता विदुषी हमारे लिए अपने उत्तम सत्य भाषण, अहिंसा, परोपकारादि व्रतों द्वारा शान्ति सुखदायिनी हो।

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।

(ऋ० ७।३५।११)

जहाँ (देवाः) ज्ञान प्रकाशक सब सत्यनिष्ठ निष्पाप विद्वान् हमारे लिए शान्ति सुखदायक हों वहाँ (सरस्वती) विदुषी (सृ–गतौ गतेस्त्रयोऽर्थाज्ञानं गमनं

प्रासिश्च अत्र ज्ञानार्थग्रहणम्) (धीभि: सह) अपनी शुद्ध बुद्धि और धारणाओं के साथ हमारे लिए (शम् अस्तु) शान्तिदायिनी हो।

महिलाओं की प्रकृति को दिव्य बनाने के लिए ऐसी विदुषी, निष्पापा, सत्यनिष्ठा देवियों के सहयोग की आवश्यकता है जो अपने पवित्र उपदेशों द्वारा अपवित्रता को दूर करके स्त्रियों में पवित्र भावनाओं को जागृत करें। ऐसे देव और देवियाँ जब परोपकार की भावना से प्रेरित होकर, अपनी असुविधाओं की चिन्ता न करते हुए, विकृत मानव प्रकृति के रूपान्तरित करने का निरन्तर प्रयत्न करेंगे, तब यह कार्य अवश्य शीघ्र सम्पन्न होगा।

स्वामी श्री विवेकानन्दजी की पुकार—

स्वामी विवेकानन्दजी ने इस सम्बन्ध में बड़ी अच्छी बात कही थी जिसका उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है। उन्होंने कहा था—

"Men, men, these are wanted, everything else will be ready, but strong, vigorous, believing young men, sincere to the backbone, are wanted, A hundred such young men and the world becomes revolutionsed".

(Swami Vivekananda-Complete works Vol. III, P. 223)

मनुष्यों की, मनुष्यों की आवश्यकता है और सब कुछ तैयार हो जाएगा किन्तु दृढ़, शक्तिशाली, श्रद्धालु युवकों की जो पूर्णतया सत्यनिष्ठ और निष्कपट हों, ऐसे सच्चे एक सौ मनुष्य मिल जायें–तो संसार में क्रान्ति मच जाएगी।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वामी विवेकानन्दजी का तात्पर्य यहाँ उन दिव्य गुण सम्पन्न नर–नारियों से है जिनकी संसार में मानव प्रकृति को रूपान्तरित करने के लिए आवश्यकता है।

डॉ० राधाकृष्ण का विश्व निर्माण के लिए आह्वान

भारत के महामहिम मनीषी पूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णजी ने ४ जनवरी १९६४ ई० को देहली में प्राच्य विद्या विशारदों की अन्तर्राष्ट्रीय महासभा के २६वें अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए निम्न शब्दों में नव विश्व निर्माण के लिए आह्वान किया—

"Through sheer political folly and fanatical zeal for our own view, we may bring about the end of the world. And the only antidote to this grim threat lay in learnng to be loyal to the whole human race".

"He called upon the 1200 Scholars from over 50 countries of the world, to dedicate themselves, in the spirit of scholarship which knows no frontiors, to the task of building a new world, to ridding

ourselves of every trace of hatred, intolerance and fanaticism of every variety". (Sunday Standard, Delhi 5. 1.1064)

अर्थात् केवल राजनैतिक महत्ता और अपने ही दृष्टि बिन्दु के लिए मतान्धतापूर्ण उत्साह से तो हम सम्भवतः संसार का ही अन्त ला दें। इस कठोर आशंका का एक मात्र विषहर प्रतीकार सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति निष्ठावान् होना सीखने में है।

सारे संसार के ५० से अधिक देशों के १२०० विद्वानों का राष्ट्रपतिजी ने आह्वान किया कि विद्वत्ता की भावना में जिसका कोई सीमा प्रदेश नहीं होता, वे अपने को नव विश्व निर्माण और घृणा, असहिष्णुता और प्रत्येक प्रकार की मतान्धता से सर्वथा मुक्त करने के कार्य के प्रति समर्पित कर दें।

नेहरूजी की यथायोक्ति

भारत के दिवंगत प्रधानमन्त्री पं० श्री जवाहरलालजी नेहरू ने भुवनेश्वर काँग्रेस के अवसर पर प्रकाशित स्मृतिचिह्न (Souvenir) में समाजवाद पर एक विचारोत्तेजक लेख में कहा था—

"It is after all men who count and it is the change in them that is necessary". (Indian Express 7.1.1964)

अर्थात् अन्ततः मनुष्य ही है जिनका महत्त्व है और यह मनुष्यों में परिवर्तन ही है जो आवश्यक है। जैसे कि पहले ऋग्वेद के ५।५३।६ का उल्लेख करते हुए जिसके अन्त में—

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥ (ऋ० १०।५३।६)

ये शब्द आये हैं जिनका सीधा अर्थ है कि तू (मनुःभव) मननशील सच्चा विद्वान् मनुष्य बन (विद्वांसस्ते मनवः) (शत० ८।६।३।१८) अग्निहोत्रा मनुवृतः-अयम् अग्निर्हि सर्वतो मनुष्येर्वृतः-ऐत० २।३४ और (दैव्यं जनं जनय) दिव्य मनुष्य सन्तान को उत्पन्न कर।

वैदिक संस्कारों का महत्त्व

वेदों और तन्मूलक शास्त्रों में १६ संस्कारों का विधान पाया जाता है जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जात कर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूड़ाकर्म, ९. कर्ण वेध, १०. उपनयन, ११. वेदारम्भ, १२. समावर्तन, १३. विवाह संस्कार, १४. वानप्रस्थ, १५. संन्यास और १६. अन्त्येष्टि।

संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक डुकृञ् करणे इस धातु से बनता है। इसका

अर्थ अच्छा बनाना, शुद्ध पवित्र करना व भली प्रकार उत्तमता से कर्म करना है। संस्कार मनुष्य को उन्नत बनाने के वैज्ञानिक बुद्धिपूर्ण साधन हैं। आर्य साहित्य में संस्कारों का विशेष महत्त्व है। आर्य लोग मनुष्य का पतन ही संस्कार भ्रष्ट होने से समझते थे। विधिपूर्वक व्यवस्थित जीवन बिताना संस्कारी जीवन (Cultured life) बिताना है।

भौतिक उन्नति के साथ-साथ जब तक श्रेष्ठ मनुष्य बनाने के लिए संस्कार-रूपी साधन काम में नहीं लाये जाते, तब तक मनुष्य को सच्चे सुख और शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इन संस्कारों द्वारा मनुष्य का शरीर और मन ये दोष रहित बनते हैं। उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रु दबा नहीं सकते। वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दृष्टि से इतना सुदृढ़ और पुष्ट हो जाता है कि उसको कोई शक्ति गिरा नहीं सकती। ये संस्कार किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के अर्थसूचक साधन है, व्यर्थ की चेष्टा, निरर्थक क्रिया कलाप या निष्प्रयोजन रस्मो-रिवाज नहीं। दुर्भाग्यवश इनका प्रचलित रूप बहुत कुछ विकृत हो चुका है।

मनुस्मृति में मनु महाराज ने इन संस्कारों का प्रयोजन बतलाते हुए कहा है कि—

गार्भहोमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥

(मनु० २।२७)

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

(मनु० २।२६)

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रेविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च, ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

(मनु० २।२८)

अर्थात् गार्भ होम (गर्भाधान के समय किये जानेवाले होम) जात कर्म, चूड़ा कर्म (मुण्डन) और मौञ्जी बन्धन (उपनयन संस्कार) इत्यादि के अनुष्ठान से द्विजों के गर्भ तथा बीज सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं।

मनु० २।२६ में कहा है कि द्विजों को गर्भाधान आदि शारीरिक संस्कार पुण्य वैदिक कर्मों के साथ करने चाहिए जो इहलोक तथा परलोक, दोनों को ही पवित्र करते हैं।

मनु० २।२८ में कहा गया है कि स्वाध्याय, व्रत, होम, वेदाध्ययन, यज्ञ, सुसन्तानोत्पादन, महायज्ञों (सन्ध्या देवयज्ञादि) और अन्य यज्ञों के अनुष्ठान से यह

शरीर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बनता है।

कर्मकाण्ड के एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वीर मित्र संस्कार भास्कर में किसी प्राचीन ग्रन्थ से यह श्लोक उद्धृत किया गया है। यह श्लोक इन संस्कारों के विषय में उल्लेखनीय है कि—

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वे सत्तैरनु संस्कृतः।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणे ब्राह्ममलौकिकः॥
ब्राह्म पदमवाप्नोति, यस्मान्न च्यवते पुनः॥

(वीरमित्र संस्कार भास्कर का०)

संस्कारों से संस्कृत तथा आठ आत्म गुणों से युक्त ब्राह्मण (जिनमें अहिंसा, सत्य, दया आदि सम्मिलित है) ब्रह्म प्राप्ति का अधिकारी बनता और मोक्ष प्राप्त करता है। स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने अपनी संस्कार विधि नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक के प्रारम्भ में ही इस पुस्तक के निर्माण का प्रयोजन बताते हुए लिखा है—

संस्कारैः संस्कृतं पद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते।
असंस्कृतं तु यल्लोके, तदमेध्यं प्रकीर्त्यते॥
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्द्धनः॥

अर्थात् जो संस्कारों से संस्कृत होता है, वह मेध्य (पवित्र) और उत्तम कहलाता है और जो संस्कार रहित है, वह अमेध्य (अपवित्र) कहा जाता है।

इसलिए बुद्धिमानों को चाहिए कि वे संस्कारों के करने में उद्यम करें। उचित शिक्षा और आवश्यकतानुसार, ओषधियों के सेवन के साथ यह कार्य सब प्रकार से सुख का वर्धक है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये संस्कार व्यक्तियों को सच्चा मनुष्य बनाने, मानव प्रकृति को दिव्य बनाकर उसको रूपान्तरण करने और मानव समाज को सब प्रकार से उन्नत करने में अत्यन्त सहायक है। इनमें से चूड़ाकर्म, कर्णवेध, आदि संस्कारों के जो आरोग्य सम्बन्धी अनेक लाभ है, वहाँ उपनयन, वेदारम्भ, वानप्रस्थादि संस्कारों का आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के भूतपूर्व महोपाध्याय डॉ० राजबली पाण्डेय ने संस्कारों के आध्यात्मिक महत्त्व पर अपनी हिन्दू संस्कार विषयक पुस्तक में इस आशय के शब्दों में प्रकाश डाला है—

हिन्दुओं के लिए प्रत्यक्ष अंग-उपांगों की अपेक्षा उनका बहुत अधिक महत्त्व है। उनकी दृष्टि में ये संस्कार व्यक्ति के आन्तरिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों के बाह्य प्रतीक थे। उसकी दृष्टि संस्कारों की बाहरी विधि-विधान से बहुत दूर

चली जाती है। और वह ऐसा अनुभव करता है कि जैसे कोई अदृश्य वस्तु उनके समस्त व्यक्तित्व को पवित्र कर रही हो। इस प्रकार संस्कार हिन्दुओं के लिए सजीव धार्मिक अनुभव थे, केवल बाहरी उपचार मात्र नहीं।

आध्यात्मिक प्रयोजन के अतिरिक्त संस्कारों का सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व भी अत्यधिक है। संस्कारों में प्रथम गर्भाधान संस्कार है जिसका प्रजनन शास्त्र की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। खेद है कि लोग न उसके महत्त्व को समझते हैं और न किसी विशेष भावना के साथ इसे करते हैं। केवल काम वासना की तृप्ति के लिए इसे करते हैं और सन्तान सौभाग्यवश हो ही जाती है।

हमारे आचार्यवर श्रद्धेय श्रद्धानन्दजी कहा करते थे कि वेदादि शास्त्रों में विधान बच्चों को पैदा करने का है, पर अब तो भोग विलास मैथुन करते हुए बच्चे पैदा हो जाते हैं, वे गम्भीर संकल्प पूर्वक पैदा नहीं किये जाते। इस बात में बड़ा तथ्य है।

(१) गर्भाधान संस्कार

वस्तुतः वेदों के अनुसार गर्भाधान एक पवित्र कृत्य है। संसार में एक नये जीव का लाना (जो न जाने कितना लोक कल्याणकारक सिद्ध हो) साधारण वा उपेक्षणीय कार्य नहीं है, यह कार्य एक पवित्र भावना के साथ मन्त्रपूर्वक किया जाना चाहिए। इसीलिए गर्भाधान के लिए मन्त्रों का विधान है। भगवान् का विष्णु (सर्व व्यापक) त्वष्टा (महान् शिल्पी) और प्रजापति तथा धाता के रूप में चिन्तन करते हुए उससे गर्भ के ठीक तरह से धारण करवाने और उसके रक्षण की प्रार्थना की जाती है—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥

(ऋ० १०।१८४।१)

सूक्त के द्वितीय मन्त्र में स्त्री को सिनीवाली तथा सरस्वती के नाम से सम्बोधन करते हुए कहा है—

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा॥

(ऋ० १०।१८४।२)

हे (सिनीवालि) उत्तम अन्न का सेवन करने-करानेवाली (सिनीति अन्ननाम-निघं० २।७) तथा प्रेम के बन्धन से बाँधनेवाली! (विषबन्धने) (गर्भं धेहि) तू गर्भ को धारण कर। (पुष्करस्रजा अश्विनौ देवौ ते गर्भम् आधत्ताम्) पुष्टिकारक वीर्य और रज को उत्पन्न करनेवाले, परस्पर व्याप्त होनेवाले (अशूङ्-व्याप्तौ) दोनों

के अंग तेरे भीतर गर्भ को धारण करावें। काम युक्त होने से दोनों स्त्री पुरुषों के अंग यहाँ देवौ कहे गये हैं। (दिवु–क्रीडा विजिगीषा द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति गतिषु) यहाँ कान्ति वा कामना के अर्थ का ग्रहण है।

तृतीय मन्त्र में कहा है—

हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे॥

(ऋ० १०।१८४।३)

(यं गर्भम्) जिस गर्भ से (हिरण्ययी अरणी) हित और रमण योग्य सुख से युक्त दो अरणियों के समान (अश्विना) परस्पर संगत तथा सूर्य और पृथिवी के समान विद्यमान स्त्री पुरुष परस्पर मिलकर (निर्मन्थतः) अग्नि के तुल्य बालक रूप से उत्पन्न करते हैं, (तं ते गर्भं दशमे मासि सूतवे हवामहे) उस तेरे गर्भस्थ सन्तान को हम दसवें मास में प्रसव होने के लिए सब प्रकार से स्वीकार करें। इन पवित्र मन्त्रों के साथ इनकी तथा निम्नलिखित सन्तान के गुण युक्त भावना को मन में रखकर गर्भाधान करना वेदानुमोदित है। इसके अनुसार आचरण करनेवाले आज कितने नर–नारी हैं?

इन तीन मन्त्रों का गर्भाधान संस्कार में उच्चारण किया जाता है और सर्वव्यापक प्रजा के पालक भगवान् से गर्भ धारण और संरक्षण की प्रार्थना की जाती है।

ऋग्वेद १०।४७ में वे विशेष मन्त्र हैं जिनकी भावना गर्भाधान के समय और उसके पश्चात् भी जब तक बालक का जन्म नहीं होता, सदा मन में होनी चाहिए। हम इनमें से कुछ मन्त्रों का प्रसंगवश पहले भी निर्देश कर चुके हैं। सन्तान के इन मन्त्रों में जिन गुणों का निर्देश किया गया है, जब तक पति–पत्नी, समागम के समय उनका चिन्तन न करें, तब तक केवल संस्कार की विधि पूरी कर लेने से लाभ नहीं हो सकता। इस सूक्त (ऋ० १०।४७) के सब मन्त्रों के अन्त में "अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः" ये शब्द आये हैं जिनका अर्थ हमारे लिये चित्र अद्भुत पूजनीय सुख वर्षक धन दे, यह होता है। किन्तु जिन विशेषणों का मन्त्रों में इस रयि (धन) के लिए प्रयोग किया गया है, वे भौतिक धन विषयक नहीं हो सकते। अतः श्री सायणाचार्य ने भी यहाँ २ से ७ मन्त्र तक "ईदृग् गुणविशिष्टं पुत्राख्यं रयिंदाः" ऐसे गुणों से युक्त पुत्र रूप धन दे यह अर्थ किया है जो उचित ही है। इस सूक्त के २, ३ और ८ मन्त्र का उल्लेख करते हैं जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं और जिनकी भावना को दम्पती जब तक मन में न रखें, सुसन्तान नहीं हो सकती (जिस पर वस्तुतः समाज और राष्ट्र का भविष्य निर्भर है)।

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥

(ऋ० १०।४७।२)

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें ऐसा पुत्र रूप धन दें जो उत्तम वज्रादि शस्त्र युक्त, अच्छी तरह से सज्जनों की रक्षा करनेवाला वा उत्तमता से धर्म मार्ग पर चलनेवाला, अत्यन्त प्रशंसनीय अपनी कीर्ति से चारों समुद्रों तक व्याप्त और सच्चे धनों का धारण करनेवाला, दुःख निवारक अथवा सबके लिए वरणीय हो।

सब ऐसी सन्तान चाहेंगे किन्तु कितने विरले हैं जो इस सुसन्तान की भावना से समागम करते हैं। इस मन्त्र में अधिकतर क्षत्रियोचित गुणों का वर्णन है। अतः विशेष रूप से क्षत्रिय सन्तान की कामना के समय इस मन्त्र का पाठ किया जा सकता है—

सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥

(ऋ० १०।४७।३)

इस मन्त्र में ऐसे पुत्र रूप धन के देने की भगवान् से प्रार्थना की गयी है जो उत्तम स्तुतिवाला (हमारे विचार में सुब्रह्माणम् उत्तम ब्रह्मा चारों वेदों का वेत्ता इस अर्थ का ग्रहण अधिक अच्छा और सरल होता है) देव–सर्वप्रकाशक परमेश्वर का भक्त, महान्, उदार भावनाओंवाला, गम्भीर और आसुरी भावनाओं तथा असुरों से अगम्य है जिसके पास भी न फटक सकें–बड़े मस्तिष्क वा दिमागवाला–ऋषियों को अपने ज्ञान और शुभ कर्मों से प्रसिद्ध करनेवाला अथवा प्रसिद्ध ज्ञानवाला, तेजस्वी, काम–क्रोधादि आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं के नाशक, पूजनीय, सुखवर्षक ऐसे पुत्र रूप धन को आप हमें प्रदान करें।

यह स्पष्ट है कि यह प्रार्थना अत्युत्तम पूजनीय, सुखवर्षक ब्राह्मण सन्तान के लिए है।

चौथे मन्त्र में (सनद् वाजन्) लब्धान्नम् उत्तम अन्न सामग्री जिसने प्राप्त की है (धनस्पृतम्) धनाना पूरकम्–धनों के पूरक–भरनेवाले (शुश्रुवांसम्) वर्धमानम्–सब तरह से बढ़ने वा उन्नत होनेवाले (सत्यम्) सत्य कर्माणम्–सच्चे कर्मांवाले इत्यादि विशेषणों से मुख्यतया सच्चे धर्मात्मा वैश्य के लिए प्रार्थना है जिसके अन्य विशेषण (विप्रवीरम्) मेधावी पुत्र (तरुत्रम्) तारकम् आपत्तियों से पार करनेवाले भी आये हैं।

मन्त्र ८ जो इस सूक्त का अन्तिम है, इस प्रकार है—

यत्त्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम्।
अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥

(ऋ० १०।४७।८)

हे (इन्द्र (त्वा) त्वाम् (यत्) वक्ष्यमाणं (यामि) याचामि वर्णलोपश्छान्वसः (तत्) याच्यमानं (नः) अस्मभ्यं (वर्द्धि) देहि (बृहन्तम्) महान्तम् (क्षयम्)

निवासं जनानां यजमानानाम् अन्येषाम् (असमम्) असाधारणं देहि। त्वया दातव्यं। द्यावा पृथिवी अभिगृणीताम् अभिमन्येतान्।

इन वैदिक भावनाओं को यदि दम्पती मन में रखकर गर्भाधान करें और जब तक शिशु गर्भ में है तब तक इन मन्त्रों, ऐसी सद्भावना वर्धक पुस्तकों और कथा, कहानियों, चित्रों आदि के द्वारा माता अपना समय व्यतीत करें और पिता इन भावनाओं के बढ़ाने में उसकी सहायता करें, दोनों प्रतिदिन सन्ध्या, हवन, स्वाध्याय यदि नित्य नियमों का पालन करें तथा शूद्र, मद्य, मांसाहारादि अभक्ष्य पदार्थ वर्जित और बल बुद्धि वर्धक पदार्थों का सेवन करते रहें, तो इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि सन्तान अत्यन्त धार्मिक, बलवान्, यशस्वी, नीरोग और दीर्घायु होगी।

इन संस्कारों के विषय में स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने संस्कार विधि में ठीक ही लिखा है—

जैसे सब पदार्थों को उत्कृष्ट करने की विद्या है वैसे सन्तान को उत्कृष्ट करने की यही विद्या है। इस पर मनुष्य लोग बहुत ध्यान दें क्योंकि इसके न होने से कुल की हानि, नीचता और होने से कुल की वृद्धि और उत्तमता अवश्य होती है। (संस्कार विधि–गर्भाधान प्रकरण)

(२) जातकर्म संस्कार

जातकर्म संस्कार के समय (जो सन्तान के उत्पन्न होते ही किया जाता है) बालक की जीभ पर मधु और घी मिलाकर स्वर्ण शलाका से ''ओ३म्'' लिखा जाता है और उसके कान में ''वेदोऽसि'' कहा जाता है और घृत मिश्रित मधु मन्त्र पूर्वक चटाया जाता है।

मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती।
मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ॥

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥

(ऋ० २।२१।६)

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव।
वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥

(मन्त्र ब्राह्मण १।५।१०)

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा शिशु की मेधा, सौभाग्य, नीरोगता, दीर्घायु इत्यादि के लिए सर्वशक्तिमान् भगवान् से प्रार्थना की जाती है। इन क्रियाओं और प्रार्थनाओं के द्वारा माता-पिता जन्म काल से ही बालक को आस्तिकतामय पवित्र धार्मिक वातावरण में पालने का प्रयत्न करते हैं जिसका उस पर धीरे-धीरे गुप्त रूप में प्रभाव अवश्य होता रहता है। जहाँ बालक इस प्रकार के पवित्र वातावरण में पलते

हैं, वहाँ उनके अन्दर वह दृढ़ता आ जाती है जो उनको कभी गिरने नहीं देती।

(३) नामकरण संस्कार

नामकरण संस्कार में इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि माता-पिता, बालक-बालिका को जिस प्रकार का बनाना चाहते हैं (ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य गुण-कर्म-स्वभाव का) तदनुसार उनका नाम रखा जाय ताकि वह स्फूर्तिदायक और उचित गुणों के विकास में सहायक हो। धर्मदेव, सत्यदेव, सत्यपाल, धर्मवीर, धर्मपाल, वीरेन्द्र, धनराज, विद्यावती, वेदवती, सुवीरा, सुशीला, सुनीति इत्यादि सार्थक और स्फूर्तिदायक नामों को रखना चाहिए ना कि नक्षत्र, राशि आदि का ध्यान रखते हुए घासीराम, घीसूमल, घमण्डीलाल, कूड़ामल, घसीटाराम, कालूलाल इत्यादि निरर्थक, नीचता सूचक, असंगत नाम। इनसे नामकरण संस्कार की उपयोगिता ही नष्ट हो जाती है।

(४) उपनयन संस्कार

उपनयन और वेदारम्भ संस्कार बालक-बालिकाओं के अन्दर उत्तम गुणों को विकसित करने और उन्हें ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास में प्रवृत्त करने के लिए अत्यावश्यक है। यज्ञोपवीत के ३ सूत्र शारीरिक, वाचिक, मानसिक प्रकार की पवित्रता, ज्ञान, कर्म, भक्ति द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति, शारीरिक, मानसिक आत्मिक शक्तियों के विकास, देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण—इन तीन प्रकार के अंशों से युक्त होने के भाव के सूचक हैं।

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतं नशीमहि॥

(ऋ० १०।५७।२)

(यः) जो (यज्ञस्य प्रसाधनः) यज्ञ को अच्छी तरह से करने का साधन और स्मारक रूप (तन्तुः) सूत्र-यज्ञोपवीत, ब्रह्म सूत्रादि वाच्य (देवेषु आततः) विद्वानों में विस्तृत है-जिसको सब सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग यज्ञ के साधन और स्मारक रूप में धारण करते हैं। (तम् आहुतं नशीमहि) उस आचार्य द्वारा प्रदत्त तन्तु-यज्ञोपवीत को (हु-दानादनयोः आदाने च) हम अपने आचरण में व्याप्त करें (नशत् व्याप्ति कर्मा-निघं० २।१८) यज्ञोपवीत जिन कर्त्तव्यों और गुणों का स्मरण कराता है उनको अपने जीवन में धारण करें।

तीन सूत्र यज्ञोपवीत के, शुभ कर्त्तव्य जताते हैं।
तुम कर्त्तव्य करो नित पालन, जिनको तुम्हें बताते हैं॥
पवित्रता को धारण कर लो, देह तथा मन वाणी की।
पवित्रता ही परम धर्म है, यह ये सूत्र सुनाते हैं॥
ज्ञान कर्म परमेश भक्ति ये, तीन मुक्ति के साधन हैं।
इनको प्राप्त करो उत्साही, बनकर वे सिखलाते हैं॥

तुम शरीर की मनवाणी की, शक्ति वृद्धि का यत्न करो।
समविकास को उत्तम गुरुजन, उन्नति तत्त्व बताते हैं॥
ऋण ईश्वर का माता पिता का, ऋषि गण का ये तीनों हैं।
तीन तार ये ब्रह्म सूत्र के, इनका स्मरण कराते हैं॥
चिह्न नहीं वे उच्च जाति के, किन्तु चिह्न कर्त्तव्यों के।
जो जाने उसकी उन्नति के, ये साधक बन जाते हैं॥
ज्ञान, कर्म, ईश्वर उपासना, ये वेदों के मुख्य विषय।
इससे वेदों के पढ़ने को, सूचित यही कराते हैं॥

यज्ञोपवीत द्वारा सूचित इन कर्त्तव्यों को हमने सर्वसाधारण के हितार्थ इस यज्ञोपवीत गीत के रूप में प्रस्तुत किया है।

(५) विवाह संस्कार

विवाह संस्कार होता अवश्य है पर एक तो पौराणिक नवग्रह पूजन आदि पद्धतियों का समावेश कर देने से उसका वैदिक रूप विकृत हो जाता है और जो प्रतिज्ञा मन्त्र वर–वधू को स्वयं गम्भीरता से अर्थ ज्ञानपूर्वक बोलने चाहिए वह भी दोनों पक्षों के पुरोहित ही बोल देते हैं। ये मन्त्र इस प्रकार हैं—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥

(ऋ० १०।८५।४७)

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

इत्यादि इन मन्त्रों में वर–वधू की यह गम्भीर घोषणा है कि सब यज्ञमण्डप में उपस्थित विद्वान् इस बात को जानें कि हमारे हृदय पानी की तरह शान्त और एक दूसरे से सदा मिले हुए रहेंगे। मैं (पति) अपने हृदय के साथ तेरे हृदय को मिलाता हूँ। तेरा चित्त मेरे चित्त के सदा अनुकूल रहे। मेरी बात को सदा एकाग्र होकर सुनना। प्रजापति परमेश्वर तुझे मेरे साथ सदा जोड़े रखे। ऐसी ही प्रतिज्ञा पत्नी की ओर से हृदय स्पर्श विधि के समय होती है। लाजाहुति के समय वधू आहुति देती हुई कहती है कि मेरे पतिदेव दीर्घायु हों। मेरे सब सम्बन्धी फले–फूलें इत्यादि।

(६) वानप्रस्थ

५० वर्ष की आयु के पश्चात् पुत्र का पुत्र होने पर शास्त्रों में वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश का विधान है। अब कहीं–कहीं वानप्रस्थाश्रम संस्कार किया जाता है किन्तु उसको करवाने और उसके नियमों को पालन करनेवालों की संख्या अंगुलियों पर

ही गिनी जा सकती है। यदि वेद शास्त्रोक्त वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार नर-नारी वृद्धावस्था प्रारम्भ होने पर वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेकर—

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम्॥

(यजु० २०।२४)

इत्यादि मन्त्रों के अनुसार ज्ञान स्वरूप परमेश्वर को सम्बोधन करके कहें कि हे (अग्ने) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर! हे (व्रतपते) व्रतों के स्वामिन्! मैं (त्वामि समिधम् अभ्यादधामि) तुझ में अपनी प्राणरूप समिधा को 'प्राणा वै समिधः प्राणाह्येतं समिन्धते' (शतपथ० ९।२३।४४) 'प्राणा वै समिध' (ऐतरेय २।४) चारों ओर से डालता हूँ। तेरे प्रति अपने को पूर्णतया समर्पित करता हूँ। (दीक्षितः अहम्) वानप्रस्थाश्रम में दीक्षित होकर मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होके (व्रतम्) व्रत और (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ तथा—

स्वाध्याये नित्ययुक्तःस्याद, दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता, सर्वभूतामुकम्पकः॥

(मनु० ६।८) के अनुसार सदा स्वाध्याय (वेदशास्त्रादि के अध्ययन और ओ३म् के जप) में युक्त, पूर्ण संयमी, सब को मित्र की दृष्टि से देखनेवाले और सब प्राणियों पर दया करनेवाले बनें तो उन्हें अत्यधिक शान्ति और आनन्द का अनुभव हो सकता है।

इस तपस्या और योगसाधना के द्वारा मानव प्रकृति का रूपान्तर होकर वह अधिकाधिक दिव्य और पवित्र बनने लगती है। नगरों के कोलाहल से दूर शान्त अरण्य वा तत्समीपस्थ प्रदेश में की गयी योगसाधना और स्वाध्याय सत्संग आदि का यह निश्चित परिणाम होता है यदि सत्यनिष्ठा और तत्परता के साथ यह सब किया जाय।

(७) संन्यास

वानप्रस्थ के पश्चात् ब्राह्मण वृत्ति के अति विद्वान् और पूर्ण वैराग्य सम्पन्न साधकों के लिए संन्यासाश्रम में प्रवेश का विधान है। इसमें सर्वप्रथम सब के सामने यह घोषणा की जाती है—

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु॥

अर्थात् मैंने पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैष्णा (पुत्र, धन और मान की इच्छा) इन सब का आज से परित्याग कर दिया। मुझे सब प्राणियों से निर्भयता प्राप्त हो। इस प्रकार राग-द्वेषादि रहित होकर संन्यासी दिन-रात ब्रह्मनिष्ठ बनकर धर्म और ज्ञान का प्रचार करते हुए निर्भय होकर सर्वत्र विचरण करें तथा असत्य, अत्याचार

और पाखण्ड का निराकरण करते हैं।

यह वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रकरण में वेदों के प्रमाण सहित दिखाया जा चुका है। अतः उन बातों को पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं। अपनी योगसाधना, पवित्रता और तपस्या के कारण बने सच्चे विरक्त संन्यासियों में मानव प्रकृति को रूपान्तरित करने की सब से अधिक शक्ति होती है।

अध्याय सार और उपसंहार

इस प्रकार इस अध्याय में हमने तीन प्रकार की तामस, राजस और सात्त्विक मानव प्रकृति का निरूपण करते हुए बताया है कि वर्तमान अवस्था में इसके रूपान्तरण करने की कितनी आवश्यकता है। तामस से राजस और राजस से सात्त्विक–इस प्रकार से ही यह रूपान्तरण परमेश्वर की कृपा, सत्यनिष्ठ निष्पाप विद्वानों के संग, योगाभ्यास और तपस्या के विना सम्भव नहीं है। वैदिक संस्कारों का सच्ची भावना के साथ यदि अनुष्ठान किया जाय तो वे मानव प्रकृति को रूपान्तरित करने में बहुत अधिक सहायक हो सकते हैं। यही उनकी उपयोगिता और महत्त्व है।

अध्याय-२३

मांसभक्षण व मद्यपान

भोजन का मनुष्य के स्वास्थ्य के साथ ही नहीं, मन और मस्तिष्क के साथ भी विशेष सम्बन्ध है। इसलिए कौन-सा भोजन उचित है जिसका सेवन करने से मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि की उन्नति हो सकती है, यह भी आजकल की- विशेषत: जब मांस-मद्यादि का जगत् में बहुत अधिक प्रचार है और बढ़ता जा रहा है, एक आवश्यक समस्या है जिसका वेदों की शिक्षा के आधार पर तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करना आवश्यक हैं।

वेदों में निरामिष भोजन का विधान

ऋग्वेद ८।७२।३ में कहा है कि—

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया। गृभ्णन्ति जिह्वया ससम्॥

(ऋ० ८।७२।३)

जो विद्वान् लोग उस परमेश्वर को मनुष्य के अन्त:करण में (मनीषया) बुद्धि द्वारा (इच्छन्ति) जानना चाहते हैं, वे (जिह्वया) जिह्वा से (ससम्) शस्य-धान्य और फल को ही (गृभ्णन्ति) ग्रहण करते हैं।

सस शब्द का अर्थ है फल, धान्य, अनाज, शाक, भाजी, ओषधि, वनस्पति इत्यादि। अत: फल, धान्य, अनाज, शाकादि पदार्थ ही खाने चाहिए, मांसादि नहीं। वे शरीर के लिए हानिकारक होने के अतिरिक्त आध्यात्मिक उन्नति और ईश्वर प्राप्ति में भी बाधक हैं। अत: सज्जन कभी उनका सेवन नहीं करते। यह इस मन्त्र का अभिप्राय है।

इसी वेदमन्त्र के भाव को उपनिषत्कार ने—

आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलब्धे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

(छान्दोग्य ७।२६।२)

इन शब्दों द्वारा प्रकट किया है कि चित्त की शुद्धि आहार (भोजन) की शुद्धि पर निर्भर करती है। चित्त की शुद्धि हो जाने पर स्मृति दृढ़ हो जाती है। जब स्मृति की स्थिति दृढ़ हो जाती है तो साधक को सब अविद्यादि ग्रन्थियों वा बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है। अत: आहार शुद्धि अत्यावश्यक है।

ऋग्वेद १।१४१।४ का निम्न मन्त्र भी निरामिष भोजन वा शाकाहार का प्रबल समर्थक है—

प्र यत्पितुः परमान्नीयते पर्या पृक्षुधो वीरुधो दंसु रोहति।
उभा यदस्य जनुषं यदिन्वत आदिद्यविष्ठो अभवद् घृणा शुचिः॥

(ऋ० १।१४१।४)

(परमात्) श्रेष्ठ मनुष्य से (यत् पितुः) जो अन्न (पितुरिति अन्ननाम-निघं० २।७) (प्रनीयते) प्राप्त किया जाता है, उसके लिये (पृक्षुधः वीरुधः) क्षुधा की पूर्ति करनेवाली वनस्पतियाँ (दंसु रोहति) दाँतों पर आरोहण करती है। उस अन्न से (यत् यत् जनुषम्) जो-जो मानवी स्वभाव (उभौ इन्वतः) दोनों प्रकार के श्रेष्ठ कनिष्ठ लोग प्राप्त करते हैं, उसमें (यविष्ठः) बल (शुचिः) पवित्रता और (घृणा) तेज (घृ-क्षरणदीप्त्योः) (आत् इत् अभवत्) निश्चय से होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेदों के अनुसार शाक और फल भोजन ही श्रेष्ठ है। मांसाहार इतना निन्दित माना गया है कि उसे राक्षसों का भोजन कहा गया है। मांसाहारियों के लिए क्रव्यादः, पिशाचाः, असुतृप्नः, गर्भादः इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि यदि वे प्रेम से समझाने-बुझाने पर भी इस हिंसामय दुष्ट भोजन का परित्याग न करें तो उन्हें दण्डित किया जाए। उदाहरणार्थ ऋ० १०।८७।१९, सामवेद मं० ८०, अथर्ववेद ५।२९।११ तथा ८।३।१८ में कहा है कि—

सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
अनु दह सहमूरान्क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः॥

(ऋ० १०।८७।१९; साम० ८०)

हे (अग्नेः) ज्ञानी, अग्नि समान तेजस्वी शासक! तू (सनात्) सदा (यातुधानान् मृणसि) हिंसक राक्षसों का नाश करता है। (रक्षांसि पृतनासु त्वा न जिग्युः) कोई राक्षस तुझे कभी जीत नहीं सकते। (मूरान्) मूर्ख (क्रव्यादः) मांस खानेवालों को (सह अनु दह) साथ-साथ नष्ट कर दो। (ते) तेरी (दैव्याया हेत्याः) दिव्य मार से (मामुक्षत) वे न छूटने पायें।

मांस भक्षण को कितना निन्दनीय और घृणित माना गया है, यह इस प्रकार के वचनों से स्पष्ट ज्ञात होता है। ज्ञानी नेताओं का कर्त्तव्य है कि वे प्रेम से समझा-बुझाकर, उपदेश देकर लोगों को मांसाहारादि दुर्व्यसन से छुड़वाएँ।

अथर्व० ६।७०।१ में मांस, मद्य, द्यूत-इन तीनों को एक कोटि में रखकर अक्षैर्मा दीव्यः (ऋ० १०।३४।१०) के स्पष्ट निषेध के समान तीनों को निषिद्ध घोषित किया गया है।

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः॥

(अ० ६।७०।१)

इन तीन मांस, सुरा और अथवा द्यूत के साथ व्यभिचार को जोड़ा गया है कि जिस प्रकार कामी व्यभिचारी पुरुष का स्त्रियों के साथ सम्भोग करने से मन (निहन्यते) मर जाता है अथवा पतित हो जाता है (हन हिंसागत्योः) है, इसी प्रकार मांस, मद्य और जुए से भी मन की शक्ति का ह्रास होता है और वह नीचे गिर जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मांसभक्षण सर्वथा वेद विरुद्ध है। वेदों में इसे अत्यन्त निन्दनीय और दण्डनीय तक बताया गया है।

हमने 'यः पौरुषेयेण क्रविषा समंक्ते।' (ऋ० १०।८७।१६) का मन्त्र आगे उद्धृत किया है। इसका भावार्थ करते हुए श्री सायणाचार्यजी ने लिखा है—

"इस पर भी जो न माने और दूसरों को भी बिगाड़े उन्हें उचित दण्ड दिया जाय।"

ऋ० १०।८७।१६ में भी मांसाहारियों को यातुधान अर्थात् हिंसक राक्षस के नाम से पुकारते हुए उनके लिये कठोर दण्ड का विधान किया है।

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
या अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥

(ऋ० १०।८७।१६)

जो हिंसक राक्षस पुरुष के, घोड़े के अथवा किसी अन्य पुरुष के मांस से अपने को तृप्त करता है और जो गौओं की हत्या करके उनके दुग्ध से अन्यों को वञ्चित करता है, उनको कठोर दण्ड दिया जाय। गो घातक के लिए तो प्राणदण्ड तक का विधान है।

यही बात अथर्व० ८।६।२३ में और अधिक स्पष्टता से कही गयी है—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥

(अथर्व० ८।६।२३)

(ये आमं मांसम् अदन्ति) जो कच्चे मांस को खाते हैं (ये पौरुषेयं क्रविः च अदन्ति) जो पुरुषों द्वारा पके मांस को खाते हैं अथवा (ये केशवाः गर्भान्खादन्ति) जो गर्भ समान अण्डों को खाते हैं, इस प्रकार जिनका शरीर शव के समान बना हुआ है, हम उनका यहाँ से नाश कर देते हैं अथवा उनके इन दुर्व्यसनों को उपदेशादि द्वारा दूर कर देते हैं।

वेदों के अनुसार मांसभक्षण राक्षसों और पिशाचों का निकृष्ट भोजन है न कि आर्यों अथवा उत्तम जनों का। इसलिए मनुस्मृति ११।९५ में कहा है कि—

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्॥ (मनु० ११।९५)

अर्थात् मद्य-मांसादि यक्षों, राक्षसों और पिशाचों का अन्न है। उसे उत्तम पुरुषों को कभी ग्रहण न करना चाहिए। ऋग्वेद ७।१०४।२ में मन्त्र आया है—

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥

(ऋ० ७।१०४।२)

यहाँ राजा और न्यायाधीशादि को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि तुम ब्राह्मणों अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों के साथ द्वेष रखनेवाले, मांसभक्षक, बुरी दृष्टि और वाणीवाले, कमीने और पिशुन-चुगलखोर व्यक्ति के प्रति सज्जनों से अनुमोदित विरोध रखो। उनके दुर्व्यसनों को दूर करने का सदा प्रयत्न करते रहो।

ऋग्वेद १०।८७।२ में कहा है—

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।
आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व क्रव्यादो वृक्त्व्यपि धत्स्वासन्॥

यहाँ भी क्रव्यात् अर्थात् मांसभक्षकों को राक्षस कहा गया है और यदि ज्ञानी ब्राह्मणों के समझाने पर भी वे न मानें और हिंसक वृत्ति बनाये रखें, तो अन्तिम दण्ड के रूप में उनके नाश का विधान है।

इस प्रकार मांस का निषेध करके वेद शाक-फलादि के अतिरिक्त चावल, जौ, तिल, माष आदि के खाने का विधान करते हैं।

अथर्व० ६।१४०।२ में स्पष्ट उपदेश है—

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥

(अथर्व० ६।१४०।२)

तुम स्त्री पुरुष (व्रीहिम्) चावल (यवम्) जौ (माषम्) माष (अथोतिलम्) और तिल आदि उत्तम सात्त्विक पदार्थों को (अत्तम्) खाओ (रत्नधेयाय) रमणीय उत्तम बुद्धि तथा आरोग्य के धारण करने के लिए (एष वां भागो निहितः) यही तुम्हारे लिए भाग-भजनीय वा सेवनीय (भज-सेवायाम्) आहार नियत किया गया है। अपने माता-पिता आदि मान्य जनों की कभी हिंसा न करो।

यहाँ भजनीय वा सेवनीय पदार्थों में चावल, जौ, माष, तिल आदि की गणना है जो विना हिंसा के प्राप्त होते हैं, मांसादि हिंसा जन्य पदार्थों की नहीं।

अथर्ववेद ८।२।१८ में व्रीहि और यव अर्थात् चावल और जौ (ये धान्यों के उप लक्षण है) के विषय में कहा है कि—

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः॥

(अथर्व० ८।२।१८)

हे मनुष्य! तेरे लिए चावल, जौ आदि धान्य कल्याणकारी हैं। ये रोगों को दूर करते हैं और सात्त्विक बुद्धिवर्धक होने के कारण पाप वासना से दूर रखते हैं।

इनके विपरीत मांस पाप वासना को बढ़ानेवाला और अनेक रोगोत्पादक है। जैसे कि पाश्चात्त्य प्रसिद्ध डॉक्टरों के मत से भी हम संक्षेप से इस अध्याय में तुलनात्मक दृष्टि से दिखाना चाहते हैं। अतः मांस शब्द की जो व्युत्पत्ति यास्काचार्य कृत निरुक्त अ० ४ पाद १ खं० ३ में बतायी गयी है, उसमें कहा है—

मांसं मामनं वा मानसं वा मनोऽअस्मिन् सीदतीति वा।

(निरुक्ते ४।१।३)

मांस इसलिए कहते हैं कि यह मा+अननम् है अर्थात् इससे दीर्घ जीवन प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत यह आयु को क्षीण करनेवाला है। (मानसं वा) यह हिंसा जन्य होने से मानस पापों को प्रोत्साहित करनेवाला होता है। (मनोऽस्मिन् सीदतीति वा) जिसमें भी मनुष्य का मन लग जाय अथवा जो मनपसंद हो, ऐसे पदार्थ को भी मांस कह सकते हैं इसीलिए खीर तथा फलों के गूदे इत्यादि के लिए मांस शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर आता है। इस प्रकार मांसाहार की अभक्ष्यता वेदों के प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होती है। इसके विरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों, स्मृतियों, गृह्यसूत्रों, श्रौत सूत्रों तथा महाभारतादि में जहाँ कहीं दिखाई दे, उन्हें वेद विरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक तथा प्रक्षिप्त समझना चाहिए। मांस शब्द की निरुक्ति मनुस्मृति में इन शब्दों में दी गयी है, जो मांस की अभक्ष्यता को ही सिद्ध करती है।

मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्यमांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः॥

(मनु० ५।५५)

(मां स भक्षयिता) अर्थात् जिसके मांस को मैं अब खा रहा हूँ, वह मुझे खायेगा, मांस की इस व्युत्पत्ति को बुद्धिमान् लोग बतलाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण ११।६।१।३ में भी इसी आशय का वचन पाया जाता है—

ते होचुरित्थं वा इये अस्मानमुमिंल्लोके असचन्त।
तान् वयमिदमिह प्रतिसचामह इति ॥

(शतपथ० ११।६।१।३)

इसका अनुवाद History of Dharma Shastras, Vol. II में महा-महोपाध्याय पी० बी० काणे ने इस प्रकार दिया है—

"The eater of meat is eaten in the next birth by the animal killed".

(P. 775)

अर्थात् मांसभक्षक अगले जन्म में खाये गये जानवर द्वारा खाया जाता है।

क्रव्य शब्द का प्रयोग वेदों में मांस के लिए किया गया और उसके भक्षक को राक्षस, पिशाचादि निन्दा सूचक शब्दों से पुकारते हुए उन्हें दण्डनीय बताया गया है। इसकी व्युत्पत्ति कृवि–हिंसायाम् से है। अतः हिंसाजन्य होने के कारण मांस की अभक्ष्यता है। इसीलिए मनुस्मृति के वेदानुकूल भाग में मांस को सर्वथा वर्जित कहा गया है यथा—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां, मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥

(मनु० ५।४८)

समुत्पत्तिं च मांसस्य, बधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत, सर्वमांसस्य भक्षणात्॥

(मनु० ५।४९)

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ताच, खादकश्चेति घातकाः॥

(मनु० ५।५१)

अर्थात् प्राणियों की हिंसा किये विना कहीं मांस उत्पन्न नहीं होता और प्राणियों का वध स्वर्ग वा सुख को प्राप्त करनेवाला नहीं, अतः मांस का परित्याग करना चाहिए।

मांस की उत्पत्ति और प्राणियों की हत्या और बन्धन को देखकर मनुष्यों को सब प्रकार के मांस के भक्षण से निवृत्त रहना चाहिए। न केवल पशुओं की हिंसा करनेवाला पापी होता है, बल्कि मांस की अनुमति देनेवाला, पशु के किसी भी अंग को काटनेवाला, मारनेवाला, बेचनेवाला, नमक मसाले आदि उसमें लगानेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला—ये ८ प्रकार के घातक हैं। ये सब पाप में सहायक होने के कारण पापी होते हैं।

जो लोग यह बहाना करते हैं कि हम तो केवल मांस खा लेते हैं, पशु हिंसा हम नहीं करते उनकी शंका का उत्तर इसमें आ जाता है। यदि मांस खानेवाले लोग न हों तो, कोई पशुओं की हत्या क्यों करेगा। अतः वे इस पाप से बच नहीं सकते। इस बात को महाभारत (गीताप्रेस) के अनुशासन पर्व अ० १०५ श्लोक ३० में कितनी स्पष्टता से कहा है—

यदि चेतखाद्को न स्यान्न तदा घातको भवेद्।
घातकः खादकार्थाय, तद्घातयति वै नरः॥

(म०भा० अनुशा० १७७।३०)

अर्थात् यदि कोई मांस खानेवाला न हो तो कोई पशु हत्या भी न करे। मारनेवाला कसाई खानेवालों के लिए पशु हिंसा करता है। अतः खानेवाला भी अवश्य पाप का भागी है।

ऋषि महर्षि जो वेदतत्त्वद्रष्टा हैं उनकी सम्मति महाभारत में स्पष्ट है कि—

धान्यं यशस्यमायुष्यं, स्वर्ग्यं स्वरुत्मयनं महत्।
मांसस्याभक्षणं प्राहुर्नियताः परमर्षयः॥

(म०भा० अनुशा० ११४।३६)

अर्थात् संयमशील परमर्षि लोग मांस न खाने को धान्य, यश देनेवाला, आयु को बढ़ानेवाला, स्वर्ग का प्रापक और कल्याणकारक बताते हैं।

मार्कण्डेय ऋषि के वचन को उद्धृत करते हुए आगे बताया है—

यो हि खादति मांसानि, प्राणिनां जीवतेषिणाम्।
सदा भवति वै पापः, प्राणिहन्ता तथैव सः॥

(म०भा० १३।११४।३८)

अर्थात् जो जीने की इच्छा करनेवाले प्राणियों के मांसों को खाता है, वह सदा पापी होता है और साथ ही प्राणियों की हिंसा का पापभागी होता है, क्योंकि उसी के लिए प्राणि-हत्या की जाती है। मांस का न खाना आरोग्य की दृष्टि से भी कितना अच्छा है इस विषय में इसी अध्याय के श्लोक ४१ में बताया गया है—

अधृष्यः सर्वभूतानाम्, आयुष्मान्, नीरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन्मांसं, दयावान् प्राणिनामिह॥

(म०भा० अनुशा० ११५।४१)

अर्थात् जो मांस का भक्षण नहीं करता और प्राणियों पर दया करता है, वह दीर्घायु, नीरोग और सब प्राणियों के लिए अहिंसनीय बन जाता है।

मांस से आयु का नाश होता है—इस विषय का प्रतिपादन करते हुए इसी अध्याय के श्लोक ३२ में कहा है—

यस्माद् ग्रसति चैवायुर्हिंसकान्तं महामुने।
तस्माद् विवर्जयेन्मांसं, य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥

अर्थात् क्योंकि हिंसक लोगों की (जिसमें मांस भक्षकों का भी समावेश है) आयु कम हो जाती है, इसलिए जो अपना कल्याण चाहता है उसे मांस का परित्याग कर देना चाहिए।

इसी अध्याय के १२वें श्लोक में कहा है—

न भक्षयति यो मांसं, न हन्यान्य च घातयेत्।
तन्मित्रं सर्वभूतानां, मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

(म०भा० १३।१७७।१२)

जो न मांस को खाता, न मारता और न प्राणियों को मरवाता है, वह सारे प्राणियों का मित्र होता है—ऐसा स्वायम्भुव मनु ने कहा है।

मांसभक्षण निषेध पर तुलनात्मक दृष्टि

महाभारत के जिस वेदानुकूल मांसाहार विरोधी अध्याय से हमने कुछ श्लोक ऊपर उद्धृत किये हैं, उसके अगले अध्याय में एक और बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है, जिसका उल्लेख करके हम फिर आगे चलेंगे। युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामहजी ने बताया है कि—

रूपभव्यंगतामायुर्बुद्धिं सत्त्वं बलं स्मृतिम्।
प्राप्तुकामे नरेहिंसा, वर्जिता वै महात्मभिः॥

(म०भा० अनुशा० पर्व गीताप्रेस ३०।११५।६)

अर्थात् सुन्दर रूप, अविकलांगता, दीर्घायु, बुद्धि, चित्तशुद्धि, बल, स्मृति इनकी प्राप्ति की इच्छावाले महात्माओं ने हिंसा (और तज्जन्य मांस) का परित्याग कर दिया है। इसमें निरामिष भोजन के (जिसका वेदों में प्रतिपादन है) बहुत से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक लाभ बतलाये गये हैं। नैतिक दृष्टि से मांस त्याग के लिए इस अध्याय में निम्न युक्ति दी गयी है—

प्राणायथाऽऽत्मानुते अभीष्टा भूतानामपि ते तथा॥ १९॥
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धि मद्धिः कृतात्मभिः॥ २०॥

(गीताप्रेस, अनुशा० पर्व अ० ११५)

अर्थात् जैसे मनुष्य को अपने प्राण अभीष्ट हैं, वैसे अन्य प्राणियों को भी अपने-अपने अभीष्ट हैं। इसलिए बुद्धिमानों को, जो आत्मा को जाननेवाले हैं, अपनी तरह औरों को भी समझना चाहिए।

महाभारत का यह उत्तम श्लोक वस्तुतः वेद के निम्नलिखित मन्त्र पर आधारित है—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥

(यजु० ४०।७)

अर्थात् जिस अवस्था में ज्ञानी के लिए सब प्राणी अपनी आत्मा के तुल्य हो जाते हैं, उसमें फिर आत्म दृष्टि से एकता को देखनेवाले के लिए शोक और मोह कहाँ रह सकते हैं? यह आत्मौपम्यदृष्टि ही नैतिकता की नींव व आधारशिला है। इसीलिए भगवद्गीता में योगिराज श्रीकृष्ण ने उसी को परम योगी कहा है जो आत्मवत् सारे प्राणियों को देखता है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यन्ति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमोमतः॥

(गीता ६।३२)

इसी के आधार पर महात्मा बुद्ध ने धम्मपद में कहा है—

सब्बे तस्सन्ति दण्डस्स, सब्बे भग्यन्ति मच्चुन्ते।
अत्तानं उपमंकत्वा, न हनेइय न घातये॥

(धम्मपद दण्ड वग्गो १)

अर्थात् सब दण्ड से त्रस्त और मृत्यु से भयभीत होते हैं। अतः अपने समान सब प्राणियों को समझकर मनुष्य को चाहिए कि वे न किसी को मारे और न मरवाये। इस नैतिक दृष्टि से विचार करने पर मांसाहार की अनैतिकता तथा पापयुक्तता सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। इसलिए मेधावी पं० गुरुदत्तजी एम० ए० ने Righteousness and unrightrousness of flesh eating शीर्षक निबन्ध में लिखा था—

"We assert that flesheating is an immoral and unrighteous sort of action for which he is amenable to Society". (Pandit Guru Dutt)

अर्थात् हम बलपूर्वक कहते हैं कि मांसभक्षण अनैतिक, पापमय और ऐसा निन्दनीय कार्य है, जिसके लिए व्यक्ति समाज के प्रति उत्तरदाता है।

तुलनात्मक दृष्टि से हम कुछ सुप्रसिद्ध मनीषियों, कवियों, दार्शनिकों और डॉक्टरों के मांसभक्षण विषयक विचारों को प्रस्तुत करते हैं।

तालस्ताय के मांसाहार विषयक विचार

जगद्विख्यात लेखक और विचारक तालस्ताय ने मांसाहार के विषय में अपने अनुभव के आधार पर लिखा है कि—

"Meat eating multiplies gross thoughts. It produces lust and induces drinking and adultery. This is sheer truth.

....It is impossible for a meat-eater to be morally good".

अर्थात् मांसाहार स्थूल अपरिष्कृत विचारों की वृद्धि करता है। यह कामवासना उत्पन्न करता और मद्यपान तथा व्यभिचार में प्रवृत्त करता है। यह विशुद्ध सत्य है। एक मांसाहारी के लिए सदाचारी होना असम्भव है।

जगत्प्रसिद्ध मनीषी तालस्ताय के इन अनुभव सिद्ध शब्दों से वेद की शिक्षा की प्रबल पुष्टि होती है जिसमें मांस, मद्य, द्यूत और व्यभिचार इन सब को एक कोटि में रखकर वर्जनीय ठहराया है।

स्व० श्री मदनमोहन सेठ ने अपनी Vegetarianism Versus Flesh-eating

नामक छोटी किन्तु अत्युत्तम पुस्तक में इस मन्त्र का अंग्रेजी अनुवाद इन शब्दों में दिया है, जिसमें मनीषी तालस्ताय के ऊपर उद्धृत शब्दों का स्मरण हो उठता है।

"Flesh-eating, drinking, gambling and adultery-all destroy and mar the mental faculties of a man". (P. 2)

विश्ववन्द्य महात्मा गाँधीजी के निरामिष भोजन विषयक विचार

१. शाकाहार से हिंसात्मक विचार नहीं उठते।

२. शाकाहार इन्द्रियदमन का सुलभ साधन है।

३. शाकाहारी उतनी जल्दी मानसिक सन्तुलन नहीं खोता, जितना शीघ्र मांसाहारी खो देता है।

४. शाकाहार मनुष्य को नीरोग और दीर्घजीवी बनाता है।

५. शाकाहार एक स्वाभाविक वृत्ति है।

कुछ सुप्रसिद्ध अनुभवी डॉक्टरों की सम्मतियाँ

(१) डॉ० प्रो० सिम्सवुडहेड्, जो कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में रोग विज्ञान (Pathology) के प्रोफेसर थे, मांस के विषय में कहते हैं—

"Meat is absolutely un-necessary for a perfectly healthy existence and the best work can be done on a vegetarian diet."

(Dr. Prof. Sims Woodhead, M.D.)

अर्थात् मांस पूर्णतया स्वस्थ जीवन के लिए सर्वथा अनावश्यक है और शाकाहार पर सर्वश्रेष्ठ कार्य किया जा सकता है।

(२) डॉ० सर हेनरी थाम्सन ने Diet in Relation to Age and Activity नामक पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि—

"It is a vulgar error to regard meat in any form as necessary to life. All that is necessary to the human body can be supplied by the vegetable kingdom. The vegetarian can extract from his food all the principles necessary for the growth and support of the body, as well as for the production of heat and force,... I know how much of the prevailing meat diet is a source of serious evil to the consumer".

(Sir Henry Thompson M.D., F.R.C.S.)

अर्थात् मांस को किसी भी रूप में जीवन के लिए आवश्यक समझना एक भद्दी भूल है। मनुष्य के शरीर के लिए जो कुछ आवश्यक है, उसे वनस्पति वर्ग से प्राप्त किया जा सकता है। शाकाहारी अपने भोजन में से जो भी कुछ उसके शरीर के विकास और रक्षा के लिए तथा ताप और शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक

है, उस सब को निकाल सकता है। मैं जानता हूँ कि वर्तमान काल में प्रचलित मांस–भोजन, भोक्ता के लिए गम्भीर बुराई का स्रोत है।

(सर हैनरी थाम्प्सन एम०डी० एफ०आर०सी०एस०)

(३) डॉ० जोसिया ओल्डफील्ड ने Dr. Josiah old field (जो ब्रांम्ले के लेडी मार्गरेट हास्पिटल के प्रधान चिकित्सक थे) अपने अनुभव के आधार पर लिखा—

"There is little need for wonder that flesh-eating is one of the most serious causes of the diseases that carry off 99 out of every 100 people that are born".

(Dr. Josia old field D.C.L., M.A., M.R.C.S., L.R.C.P.)

अर्थात् इसमें आश्चर्य की बात बहुत कम है कि मांसाहार उन बीमारियों के अत्यन्त गम्भीर कारणों में से है जिनके कारण ९९ प्रतिशत तक व्यक्ति मर जाते हैं। इन बीमारियों में उन्होंने कैंसर, क्षय रोग, आन्त्रकृमि इत्यादि की गणना की है।

(४) डॉ० ऐलेक्जेण्डर हेग ने मांस भोजन को प्रकृति विरुद्ध बताते हुए लिखा है कि—

"Seventy five percent of the most terrible diseases which we suffer (they are not, in fact, diseases at all, but poisionings by the unnatural foods), our increasing insanity, our increasing cancer, our debility and our deterioration, may be due, not improbably, to the neglect of nature's teaching. And nature says, in a way that there is no misunderstanding, that man is a furgivorous and not a carnivorous animal." (Dr. Alexander Haig, M.A., M.D., F.R.C.P.)

अर्थात् उन भयंकर बीमारियों में से (वस्तुत: वे बीमारियाँ नहीं बल्कि अस्वाभाविक भोजनों के विष हैं), ७५ प्रतिशत तक हमारा बढ़ता हुआ पागलपन, हमारा बढ़ता हुआ कैंसर, हमारी दुर्बलता और हमारा ह्रास, ये बहुत सम्भवत: प्रकृति की शिक्षा की उपेक्षा का परिणाम हैं। और प्रकृति कहती है, जिसमें किसी प्रकार की भूल नहीं कि मनुष्य मांसाहारी नहीं, अपितु फलाहारी प्राणी है।

(५) डॉ० जॉनवुड एम०डी० ने "Herald of the Golden Age" नामक पत्र में लिखा कि—

"As a medical man, I desire to add my testimony both from the result of personal experience and from observations throughout many year's of hospital and private practice. I maintain that **flesheating is unnecessary, unnatural and unwhole some**".

"That it is not necessary for the highest development of mind and body is proved by the phenomenal success achieved by vegetarian athletes, and by the numerous instances of celebrated writers, and scholoars, both ancient and modern, known vegetarians."

(Dr. John Wood M.D. [Oxon])

अर्थात् एक चिकित्सक (डॉक्टर) के रूप में मैं अपने वैयक्तिक अनुभव और बहुत वर्षों के चिकित्सालय तथा प्राइवेट चिकित्सा के निरीक्षणों के आधार पर अपनी साक्षी जोड़ना चाहता हूँ। मैं दृढ़ता और निश्चयपूर्वक इस बात को कहता हूँ कि मांस भोजन अनावश्यक, अस्वाभाविक और अस्वास्थ्यकर है। यह शरीर और मन के विकास के लिए आवश्यक नहीं है। यह इससे सिद्ध होता है कि शाकाहारी पहलवानों और सुप्रसिद्ध प्राचीन और आधुनिक काल के बहुत से लेखकों और विद्वानों ने चमत्कारिक सफलता प्राप्त की है। मारे हुए प्राणियों के मृत शरीरों का खाना अस्वास्थ्यकर है, यह इसके परिणामस्वरूप व्यापक बीमारियों से बहुत अधिक स्पष्ट है।

(६) डॉ० स्पेन्सर थौम्सन (Dr. Spensor Thomson) ने लिखा है—

"No physiologists would dispute with those who maintain that men ought to have a vegetable diet."

अर्थात् कोई भी शरीर विज्ञान विशारद उनके साथ वाद-विवाद नहीं कर सकते जो दृढ़ता और निश्चय पूर्वक कहते हैं कि मनुष्यों को शाकाहार करना चाहिए।

(७) डॉ० सर बैंजमिन रिचर्डसन एम०डी० (Dr. Sir Benjamin Richardson) ने अपने अनुभव के आधार पर लिखा है—

"It must be honestly admitted that weight by weight, vegetable substances, when they are carefully selected, possess the most striking advantages over animal food in nutritive value. I should like to see the vegetarian and fruit living plan brought into general use and I believe it will be". (Sir Benjamin Richardson, M.D., F.R.S.)

अर्थात् सत्यनिष्ठा के साथ इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि भार के साथ भार को मिलाते हुए, शाकाहार के पदार्थ जब उनका ध्यानपूर्वक चुनाव किया जाए, मांसाहार पर बड़े महत्त्वपूर्ण लाभ रखते हैं जहाँ तक उनकी पोषकता का प्रश्न है। मैं चाहता हूँ कि शाक और फल भोजन विषयक योजना जनता के उपयोग की वस्तु बन जाय और मैं विश्वास करता हूँ कि ऐसा ही होगा।

(८) डॉ० रोस्ट ने अपनी पुस्तक "The Nature of Consciousness" में

स्पष्टतया अपनी सम्मति प्रकट की कि—

"The functioning of mind is affected by the food. There are certain kinds of food that supply the correct material for the activating of the mental process. Generally speaking, the mind works best on a mild diet, without meat, and containing fresh vitamins and inorganic constituents, rich in calcium phosphates."

(Dr. E.R. Rost, O.B.E., M.R.C.S.L.R.C.P.)

अर्थात् मन पर भोजन का प्रभाव होता है। कई प्रकार के भोजन हैं जो मानसिक प्रक्रिया को अधिक सक्रिय बनाने के लिए शुद्ध सामग्री प्रस्तुत करते हैं। साधारणतया यह कह सकते हैं कि मन मृदु भोजन पर सब से अधिक कार्य करता है जो मांस रहित हो और जिसमें कैल्शियम, फोस्फेट्स के अनेन्द्रियिक तत्त्व और पोषक तत्त्व हों।

(९) डॉ० रोबर्ट मैकेरिसन ने लिखा कि—

"A diet consisting of any staple grain with milk products and green leafy vegetables contains not only the right kind and amount of protein, but everything else the body needs for health, strength and well-being." (Dr. Sir Robert Mecarrison)

अर्थात् कोई धान्यमय भोजन जिसके साथ दूध की बनी चीजें और हरी शाक भाजियाँ हों, उसमें न केवल प्रोटीन का ठीक प्रकार और मात्रा होती है, बल्कि अन्य भी प्रत्येक वस्तु जो स्वास्थ्य, शक्ति और कल्याण के लिए शरीर को आवश्यक होती है।

(१०) डॉ० अन्ना किंगफोर्ड ने "The perfect way in diet" नाम से प्रकाशित निबन्ध में निरामिष भोजन की उपयोगिता और श्रेष्ठता का बड़ी प्रबल युक्तियों और आँकड़ों से समर्थन करते हुए लिखा—

"I ardently believe that the vegetarian movement is the bottom and basis of all other movements towards purity, freedom, justice and happiness".

"I consider the vegetarian movement to be the most important movement of our age. I believe this because I see in it the beginning of true civilisation". (Dr. Anna Kingsford, M.D.)

अर्थात् मैं प्रबलता से विश्वास करती हूँ कि निरामिष भोजन विषयक आन्दोलन पवित्रता, स्वतन्त्रता, न्याय और प्रसन्नता की ओर ले जानेवाले सब आन्दोलनों की आधारशिला है। इसे मैं अपने समय के सब आन्दोलनों में सब से

अधिक महत्त्वपूर्ण समझती हूँ। मैं ऐसा विश्वास रखती हूँ क्योंकि मैं इसके अन्दर सच्ची सभ्यता का प्रारम्भ देखती हूँ।

यह प्रसन्नता की बात है कि इस प्रकार कुशल अनुभवी पाश्चात्त्य चिकित्सक भी वेदों की मांस परित्याग और निरामिष भोजन विषयक वैदिक शिक्षा का समर्थन कर रहे हैं। कुछ लोगों को यह शंका होती है कि यदि हिंसा के कारण मांस का भक्षण अवांछनीय है तो वृक्षों में भी जीव की सत्ता होने के कारण (जैसे कि डॉ० जगदीशचन्द्र बोस ने भली-भाँति सिद्ध कर दिया है), वनस्पति भोजन भी परित्यक्त है क्योंकि इसमें भी हिंसा का दोष लगता है। इसके उत्तर में यह स्पष्ट निवेदन करना आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि वेदों के—

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति।
न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥

(अथर्व० १।३२।१)

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्। (अथर्व० ८।२।६)

इत्यादि मन्त्रों के अनुसार वृक्षों में जीव की सत्ता मानना उचित ही है तथापि वह जीव नित्य सुषुप्ति दशा में है, अतः उन्हें सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। इसलिए उनके भक्षण में पाप की आशंका ठीक नहीं। जो लोग डॉ० जगदीशचन्द्र बोस का नाम लेकर यह कहते हैं कि उन्होंने वृक्षों के सुख-दुःख के अनुभवकर्ता जीव की सत्ता को स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है यह यथार्थ नहीं। ९ अक्टूबर सन् १९२९ ई० को सुप्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक पत्र स्टेट्समैन में एक लेख लिखते हुए डॉ० जगदीशचन्द्र बोस ने स्पष्टतया स्वीकार किया—

"It is not true that I urged the acceptance of the doctrine of consciousness of plants, which after all, is a matter of sympathy and personal belief." (Statesman 9.10.1928)

अर्थात् यह सत्य नहीं है कि मैंने वृक्षों में चैतन्य के सिद्धान्त को स्वीकार करने का अनुरोध किया है जो अन्ततः एक सहानुभूति और वैयक्तिक विश्वास का मामला है।

इस प्रकार इस शंका का स्वयं समाधान हो जाता है। बम्बई के पारसियों के प्रधान पुरोहित श्री दस्तूर खुर्शेद दाबू ने XV World Vegetain Congress 1957 के स्मृतिचिह्न (Souenir) में पारसी मत के ग्रन्थों से निरामिष भोजन के समर्थन में अनेक प्रमाणों को उद्धृत करते हुए इस उपरिलिखित प्रश्न के विषय में बड़ी अच्छी बात लिखी है—

"Vegetables have life, but no mind or feelings" (P. 243)

अर्थात् शाक भाजियों में प्राण तो है किन्तु मन और संवेदना नहीं। इसी लेख

में श्री दस्तूर खुर्शेद ने बताया है। आगे उन्होंने लिखा है कि—

"Vegetable diet is more substaintial and health preserving. Meat stimulates gross passions in men and viciates the blood stream, rendering the brain unfit for serious spiritual effort".

(XV World Vegetarian Congress 1957, P. 243)

अर्थात् शाकाहार अधिक सारयुक्त और स्वास्थ्य रक्षक है। मांस स्थूल, मनोविकारों को उत्तेजित करता और रक्त प्रणाली को दूषित तथा विकृत करके मस्तिष्क को गम्भीर आध्यात्मिक प्रयत्न के लिए असमर्थ बना देता है।

प्रो० मुहम्मद अल्मामून अर्जेन् जानी ने जो उस्मानिया और अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में अरबी के प्रोफेसर थे अपनी "Sufism" सूफी सम्प्रदाय विषयक लेख में बताया है कि मुसलमानों में सूफीमत के लोग पूर्णतया निरामिष भोजी हैं। अपने अनुभव को बताते हुए उन्होंने लिखा है—

"My experience of more than fifty years has led me to believe that vegetarian diet is easier to digest and keeps the physical, mental and spiritual powers intact."

(XV World Vegetarian Congress Souvenir P. 249)

अर्थात् मेरे ५० वर्ष से अधिक के (निरामिष भोजन विषयक) अनुभव ने मुझे यह विश्वास करा दिया है कि शाकाहार अपेक्षतया जल्दी से पचता है और शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों को अक्षुण्ण वा अखण्ड रखता है।

नोबेल पुरस्कार विजेता मैटर्लिंक ने लिखा है कि—

"It must be admitted that of the objections urged against vegetarianism, not one can withstand a loyal and scrupulous enquiry. I, for my part, can affirm that those whom I have known to submit themselves to this regime, have found its results to be improved or restored health, marked addition to strength, and the acquistion by the mind of clearness, brightness, well-being such as might follow the release from some secular, loathsome, detestable dungeon". (XV W.V. Congress Souvenir 1957, P. 280)

अर्थात् यह स्वीकार करना ही चाहिए कि शाकाहार के विरुद्ध जो युक्तियाँ दी जाती हैं, उनमें से एक भी अति सावधानता और निष्ठा पूर्वक की हुई जाँच के सामने ठहर नहीं सकती। मैं इस बात को दृढ़ निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि जिन्होंने इस प्रकार के निरामिष शाकाहार भोजन का अवलम्बन किया है, उन्होंने इसके परिणाम स्वरूप अपने स्वास्थ्य को सुधरा हुआ और फिर से प्राप्त किया

हुआ पाया है, अपनी शक्ति में उल्लेखनीय वृद्धि पायी है और मन या मस्तिष्क में स्पष्टतया, उज्ज्वलता और उत्तमता प्राप्त की है ऐसी जैसी कि लौकिक, घृणित और जुगुप्सित कालकोठरी से छुटकारा पाने से होती है।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व यूनिवर्सल बायोसिफिकल एसोसिएशन (Universal Biosophical Association) मेक्सिको (अमेरिका) के निर्देशक (Director) के एक लेख से कुछ उद्धरण देना उपयोगी प्रतीत होता है जिसका हिन्दी अनुवाद मांसभक्षण एक भयंकर अपराध, इस शीर्षक से पारडी के वैदिक धर्म मासिक के नव० १९६३ के अंक में प्रकाशित हुआ था। इससे मांसाहार निषेध विषयक कुछ शंकाओं का भी समाधान हो जायेगा।

"मांसभक्षण में मनुष्य के लिए सबसे बड़ी आपत्ति उसकी आरोग्य सम्बन्धी है। किसी प्राणी को मारने से वह एक शवमात्र रह जाता है इसलिए वह भले ही कितना भी अच्छी तरह क्यों न पकाया जाए, आरोग्यदायक नहीं हो सकता। मांस भोजन के विषय में एक और बात सामने आई है कि वह एक नशीला भोजन है, जो शरीर में नशा पैदा कर देता है। वह शरीर में ऐसे तत्त्वों की वृद्धि करता है जो नशा या उत्तेजना पैदा कर इन्द्रियों को बेकार कर देते हैं। इसलिए शारीरिक व मानसिक उत्तेजना के विना कोई भी मांस नहीं खा सकता। रक्तवाहिनी नाड़ियों का शक्तिहीन हो जाना भी मांसभक्षण का एक भयंकर परिणाम है। वह अपने प्रभाव से रक्ताणुओं को समाप्त कर देता है। मांसभक्षक प्राणी भी रक्तवाहिनियों के बेकार हो जाने के रोग से मर जाते हैं, क्योंकि हमेशा मांस खाने के कारण उत्पन्न होनेवाले नशे से उनके गुर्दे अपना ठीक काम नहीं कर सकते।"

प्रोटीन की आड़ लेकर मांसभक्षी एक और तर्क प्रस्तुत करते हैं कि शरीर के लिए आवश्यक तत्त्व एमिनो ऐसिड (Aminoacid) केवल पशुओं के मांस में ही मिलता है, तरकारी में तो वह होता ही नहीं, इसलिए शाकाहारियों के शरीर में इस तत्त्व की कमी होने के कारण उनके शरीर में आवश्यक तत्त्वों की न्यूनता रह जाती है। पर यह तर्क थोथा, निराधार और वैज्ञानिक अन्धविश्वास मात्र है। शाकाहारी जातियों तथा व्यक्तियों के अनुभव भी इस अवैज्ञानिक विश्वास की निरर्थकता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि शाकाहारी प्राणियों द्वारा अपने उपयोग के लिए बनाये गये एमिनो एसिड के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। अमेरिका के डॉ० चित्तेण्डन और डेन्मार्क के डॉ० हिण्डेड ने अपने प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए रोज ज्यादा से ज्यादा ५-६ ग्राम नाइट्रोजन और करीब एक औंस प्रोटीन की आवश्यकता होती है। इस मात्रा से अधिक लेने से शरीर रोगी हो जाता है। लिबिग आंकड़ों के अनुसार प्रोटीन की कम से कम आवश्यकता १५-३० औंस तक है।

दूसरे प्रयोगों ने यह बताया है कि मनुष्य के शरीर में पायी जानेवाली नाइट्रोजन की मात्रा चित्तेण्डन और हिण्डेड द्वारा बतायी गयी मात्रा से भी कम है।

इन प्रयोगों में एक दोष है, वह यह कि प्रोटीन की आवश्यक मात्रा का निर्धारण पाश्चात्त्य मांसभक्षियों के शरीरों पर प्रयोग करके किया गया है। इसलिए यह निष्कर्ष गलत है कि शाकाहारियों को भी उतने ही नाइट्रोजन की आवश्यकता है जितने में जीवित प्राणियों के ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो नशीले होते हैं और उनके कारण गुर्दे और अन्य इन्द्रियों को अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त मारे गये प्राणी के मांस में पाया जानेवाला प्रोटीन उतना शक्तिशाली नहीं होता, जितना कि शाकों में, विशेषकर बीजों में पाया जानेवाला प्रोटीन। मांस में मिलनेवाला प्रोटीन मानवीय कोषाणुओं में अधिक देर तक टिक नहीं पाता और चूँकि वह प्रोटीन जल्दी खत्म हो जाता है, अतः उस प्रोटीन को पुनः शरीर में डालना पड़ता है।

इसलिए शाक में विशुद्ध प्रोटीन मिलने के कारण एक शाकाहारी, एक मांसभक्षी की अपेक्षा कम मात्रा में ही भोजन करता है। शाक में नशीले तत्त्व न होने के कारण उसके गुर्दे तथा अन्य इन्द्रियों को ज्यादा परिश्रम नहीं करना पड़ता और वह स्नायविक शिथिलता का रोगी भी नहीं होता। यदि कोई मनुष्य यह सोचे कि जितना प्रोटीन वह चाहता है उतना उसे शाक व फल से नहीं मिल पाता, तो उसके लिये दूध और दूध से बने अन्यान्य पदार्थ हैं, उसे भरपूर मात्रा में प्रोटीन दे सकते हैं।

यह एक भ्रान्त धारणा लोगों में है कि प्रोटीन अधिक मात्रा में होने पर भी कोई नुकसान नहीं करता। अधिक मात्रा में संचित होनेवाला प्रोटीन शरीर में ईंधन का काम देता है, पर यह काम शारीरिक शक्ति को खर्च करके ही किया जा सकता है। इसलिए प्रोटीन से मिलनेवाला फायदा भी गड्ढे में चला जाता है। इसके अतिरिक्त अधिक मात्रा में शरीर के अन्दर गया हुआ प्रोटीन शरीर में एसिड को उत्पन्न करता है और वह ऐसिड जाकर रक्त में घुल जाता है, उसको सामान्यावस्था में लाने के लिए शरीर अपने सुरक्षित चूना-तत्त्व का उपयोग करता है, लिहाजा शरीर में उस तत्त्व की कमी हो जाने के कारण दाँतों को हानि पहुँचती है।

यहाँ यह बात महत्त्वपूर्ण है कि वेदों में शाकाहार और अनेक प्रकार के धान्यों और दालों के अतिरिक्त—

पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्॥

इत्यादि मन्त्रानुसार गौ आदि पशुओं के दूध और ओषधियों के रस के सेवन का विधान है। प्रोटीन की प्राप्ति के लिए दूध की आवश्यकता का यूनिवर्सल

बायोसोफिकल एसोसिएशन मैक्सिको अमेरिका के निर्देशक महोदय ने अपने उत्तम लेख में निर्देश किया है। यह लिखते हुए कि कोई धान्य मय भोजन, जिसके साथ दूध की बनी चीजें और हरी शाक भाजियाँ हों, उसमें न केवल प्रोटीन का ठीक प्रकार और मात्रा होती है, बल्कि उनमें अन्य भी प्रत्येक वस्तु, जो स्वास्थ्य, शक्ति और कल्याण के लिए शरीर को आवश्यक है समाहित होती है। यजुर्वेद अ० १८ का मं० १२ इस विषय में ध्यान देने योग्य है—

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ (यजु० १८।१२)

इस मन्त्र में चावल, जौ, माष (उड़द), तिल, मूंग, मसूर आदि दालों और खल्व, प्रियंगु, अणव, श्यामाक, नीवार आदि धान्यों तथा गोधूम (गेहूँ) का नाम शक्ति देनेवाले पदार्थों में लिया गया है।

अथर्ववेद १२।२।४ में एक मन्त्र आता है जिसमें शरीर को पुष्ट बनाने और क्षय रोग आदि से सदा दूर रहने के लिए माषाज्य के प्रयोग का विधान है—

यद्यग्निः क्रव्याद्यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोऽप्यग्नीन्॥
(अथर्व० १२।२।४)

यदि किसी स्थान पर व्याघ्र के समान सब का भक्षणकर्ता प्रेत दायक अग्नि पहुँचता है अर्थात् यदि किसी के कुटुम्ब में मृत्यु हो गयी है, तो वहाँ से मृत्यु को हर प्रकार से दूर करना चाहिए। यह मन्त्र का उपदेश है। इस स्थान पर माषाज्य विधि का उल्लेख है। माष का रस लेकर घी के साथ खाने से माषाज्य बनता है। एक दिन पूर्व माष बहुत जल में भिगो लेवे। उसमें जल पर्याप्त डालना चाहिए। तीन चार घण्टे दूसरे दिन पकाकर उनका जल लेवे और उसमें घृत, नमक आदि डालकर सेवन करें। यह बल वृद्धि करनेवाला है। इसमें अन्यान्य पदार्थ भी डाले जा सकते हैं। इसके सेवन करने से दुर्बल मनुष्य भी सबल हो सकता है। घृत के विषय में वेदों में कहा है—

घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ (यजु० १२।४४)

घी से तू अपने शरीर की शक्ति को बढ़ा। इसी प्रकार अन्य उत्तम पदार्थों के सेवन का वेदों में स्थान-स्थान पर उपदेश है जब कि मांस को हिंसाजनक तथा हानिकारक होने के कारण निषिद्ध बताया गया है।

वेदों में मद्यपान का निषेध

जैसे वेदों में मांसभक्षण का निषेध है, वैसे मद्य वा शराब के पीने का भी निषेध है। ऋग्वेद में १०।५।६ में एक मन्त्र आया है—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।

(ऋ० १०।५।६)

इस मन्त्र में सात मर्यादाओं का निर्देश है जिसमें से एक का भी सेवन करनेवाला पापी हो जाता है, उनमें मद्यपान भी है। श्री यास्काचार्य ने निरुक्त में इन सात मर्यादाओं को इस प्रकार गिनाया है—'स्तेयं, तल्पारोहणं, ब्रह्महत्या, भ्रूण हत्या, सुरापानं, दुष्कृतस्य कर्मणः, पुनःपुनःसेवां, पातकेऽनृतोद्यमिति'। (यास्काचार्य कृते निरुक्ते) इनमें चोरी, व्यभिचार, ब्रह्महत्या, गर्भहत्या, बार-बार बुरा कर्म करना, पाप करके असत्य बोलना इनके साथ शराब पीने को भी गिनाया गया है।

ऋग्वेद ८।२।१२ में मन्त्र आता है—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥

(ऋ० ८।२।१२)

इस मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

(न) जिस प्रकार (दुर्मदासः) दुष्टमद से युक्त लोग (युध्यन्ते) परस्पर लड़ाई करते हैं, उसी प्रकार (हृत्सु) दिल खोलकर (सुरायां पीतासः) शराब पीनेवाले लोग लड़ाई करते और झगड़ते हैं तथा (नग्ना न) नंगों की भाँति (ऊधः) रातभर (जरन्ते) बड़बड़ाया करते हैं (ऊध इति रात्रिनाम-निघ०)।

भावार्थ—मन्त्र में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में शराब भी पीने का निषेध किया गया है। मन्त्र में शराब की दो हानियाँ बताई गई हैं—

१. शराब पीनेवाले परस्पर खूब लड़ते हैं।

२. शराब पीनेवाले रातभर बड़बड़ाया करते हैं।

इस मन्त्र में शराबी की उपमा दुर्मद से दी गयी है। जो शराब पीते हैं वे दुष्ट बुद्धि होते हैं। मद्यपान से बुद्धि का नाश होता है। और बुद्धि नाशात् प्रणश्यति (गीता २।६३) बुद्धि के नष्ट होने से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

ऋग्वेद ७।८६।६ में उन वस्तुओं का निर्देश किया गया है, जिनसे मनुष्य अधर्म में प्रवृत्त होता है। इनमें सुरा (शराब) और (विभीदकः) जुए का भी परिगणन है।

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता॥

(ऋ० ७।८६।६)

हे (वरुण) वरणीय परमेश्वर यह मेरा (न स स्वः दक्षः) अपना स्वरूप नहीं (दक्ष-गतौ गतेस्त्रयोऽर्थाज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च अत्र प्राप्त्यर्थः स च स्वरूप बोधकः-स्वरूपमित्यर्थः) (अनृतस्य प्रयोता) असत्य, अनर्थ की ओर ले जानेवाला है किन्तु (साध्रुतिः) वह प्रथम से चली आई वासना-कामवासना (सुरा) मद्य

आदि मादक वस्तु (मन्युः) क्रोध (मन्युरितिक्रोधनाम–निघं० २।१३) (विभीदकः) जुआ तथा असभ्यव्यवहार, अति लोभ (अचित्तिः) अज्ञान–मोह (कनीयसः उपारे ज्यायान्) छोटे के कार्यों का रोधक बड़ा व्यक्ति भयदायक–भय का होना (स्वप्नः चन इत्) और चिन्ता शोक अथवा दुःस्वप्न इनमें से प्रत्येक (अनृतस्य प्रयोता अस्ति) असत्य और अनर्थ का प्रेरक है।

इस प्रकार वेदों में सुरा अर्थात् मदादि मादक द्रव्यों के प्रयोग को अनृत–असत्य–पाप ("नानृतात्पातकं परम्" के अनुसार असत्य से बड़ा कोई पाप नहीं) है। अतः इसमें कोई सन्देह ही नहीं हो सकता कि वेदों के अनुसार यह सर्वथा परित्याज्य है। इसी वैदिक आदेश के अनुसार शतपथ ब्राह्मण ५।१।२।१०, ५।१।५।८ में सुरा के विषय में कहा है—

अनृतं पाप्मा तमः सुरा॥ (शत० ५।१।२।१०)

सुरा–शराब–असत्य, पाप और तमोरूप है।

शराब के बुरे प्रभाव को सूचित करते हुए शत० १।६।३।५, ११।५।५।४ में कहा है—

अभिमाद्यन्निव हि सुरां पीत्वा वदति॥ (शत० १।६।३।४)

अर्थात् शराब को पीकर मनुष्य मदमत्त–पागल–सा होकर बोलता है।

शतपथ० १२।७।३।२० में ही कहा है कि—

तस्मात् सुरां पीत्वां रौद्रमनाः॥ (शत० १२।७।३।२०)

अर्थात् शराब पीकर मनुष्य भयंकर कठोर मनवाला हो जाता है।

शतपथ० १२।८।१।५ में इसे हानिकारक की संज्ञा दी गई है—

अशिव इव वा एष भक्षो यत्सुरा॥ (शत० १२।८।१।५)

अर्थात् शराब हानिकारक है। वेदों में सात मर्यादाओं–मर्यान् अदन्तीति मर्यादाः। मनुष्यों का नाश करनेवाली चीजों में जैसे सुरापान की गणना है, वैसे ही उपनिषदों और स्मृतियों में उसकी गणना पञ्च महापातकों में है।

मनुस्मृति ११।५४ में पञ्चपातकों की गणना इस प्रकार की गयी है—

ब्रह्महत्या सुरापानं, स्तेयं गुर्वंगनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः, संसर्गश्चापि तैः सह॥

(मनु० ११।५४)

अर्थात् ब्राह्मण हत्या, मद्यपान, चोरी, व्यभिचार और ऐसे महापातकियों के साथ पूर्ण सहयोग और सहायक के रूप में सम्पर्क, ये ५ महापातक हैं। अथर्ववेद ६।७०।१ के निम्न मन्त्र का पहले उल्लेख किया ही जा चुका है जिसमें मांस, सुरा (शराब) और द्यूत (जुआ) तथा व्यभिचार, इन चारों को एक कोटि में रखकर समान रूप से निन्दनीय और वर्जनीय बताया गया है।

नीतिशास्त्रकारों ने भी वेदों के अनुसार मद्यपान की निन्दा इन शब्दों में की है—

मत्तो हिनस्ति सर्वं, मिथ्या प्रलपति हि विकलया बुद्ध्या।
मातरमपि कामयते, सावज्ञं मद्यपान मत्तः सन्॥
चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानाद्, भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढाः, तस्मान्मद्यं नैवपेयां न पेयम्॥

(सुभाषितरत्नभाण्डागारे)

मद्यपान से मस्त हुआ व्यक्ति सब किसी को मारता है, भ्रष्ट हुई बुद्धि से असत्य प्रलाप करता है, माता तक को बुरी कामना से देखता और कुचेष्टाएँ करता है। शराब पीने से चित्त में भ्रान्ति पैदा हो जाती है। जब चित्त में भ्रान्ति पैदा हो जाती है, तो मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है। पाप करके मूर्ख लोग दुर्गति को प्राप्त करते हैं, इसलिए मद्यपान कभी न करना चाहिए।

मद्यपान विषयक कुछ मनीषियों के वचन

(१) सेनेका (Seneca) नामक सुप्रसिद्ध पाश्चात्त्य मनीषी ने लिखा है— "Drunkeness is nothing else but a voluntary madness" अर्थात् शराब पीना स्वयं कृत पागलपन के अतिरिक्त कुछ नहीं।

(२) पेन (Penn) नामक उत्तम विचारक ने लिखा है—

"Drunkenness is an ill of the worst sort. It reveals secrets, is quarrelsome, lascivious, impudent, dangerous and mad. He, that is drunk, is not a man, because he is void of reason that distinguishes a man from a beast."

(Penn quoted in Dictionary of Good Thoughts, P. 63)

अर्थात् शराबीपन सब से बुरी खराबी है। यह रहस्यों वा गुप्त भेदों को खोल देती है, यह झगड़ालू, कामुक व लम्पट, निर्लज्ज, विपत्ति जनक और उन्मत्त है। जो शराबी है, वह मनुष्य ही नहीं, क्योंकि वह बुद्धि से शून्य हो जाता है जो मनुष्य को पशुओं से भिन्न करती है।

(३) टी० ऐडम्स (T. Adams) नामक लेखक ने लिखा है—

"A drunkard is the annoyance of modesty, the trouble of civility, the spoil of wealth, the distraction of reason. He is his wife's woe, his children's sorrow, his neighbour's scoff, his own shame, In short, he is a spirit of unrest, a thing below a beast and a monster of a man".

(T. Adams quoted in Dictionary of Good Thoughts P. 64)

अर्थात् एक शराबी लज्जाशीलता को चिढ़ानेवाला, शिष्टता के लिए कष्टदायक,

धन को नष्ट करनेवाला और बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाला है। वह अपनी पत्नी का दुर्भाग्य व विपत्ति रूप, अपने बच्चों का शोक, अपने पड़ोसियों का उपहास पात्र और अपने लिये लज्जाजनक है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि वह अशान्ति की आत्मा और पशुओं से भी हीनतर और दानव मानव है।

(४) चौसर नामक सुप्रसिद्ध अंग्रेज कवि ने कहा है—

"For drunkenness is very sepulchre, of man's wit and his discretion".

(Chaucer quoted in Standard Bood of quotations P. 160)

अर्थात् शराबीपन मनुष्य की बुद्धि और उसके विवेक की कब्र है।

(५) डेफो नामक कवि ने लिखा है—

"Drunkenness, the darling favourite of hell".

(Defae quoted in Standard Book of quotations P. 161)

अर्थात् शराबीपना नरक का कृपा पात्र प्यारा है।

ऐसी बुरी चीज का वेदों के आदेशानुसार सब को सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए और इसको कानून द्वारा भी सर्वत्र बन्द करवाने का प्रबल आन्दोलन करना चाहिए। खेद है कि हमारे प्रिय भारतवर्ष में भी अब तक यह पर्याप्त मात्रा में प्रचलित है और बहुत थोड़े से प्रदेशों में इसको पूर्णतया बन्द किया गया है।

महात्मा गाँधी के विचार—

(१) अगर मुझे एक घण्टे के लिए भारत का तानाशाह बना दिया जाय, तो पहला काम मैं यह करूँगा कि तमाम शराबखानों को मुआवजा दिये बिना ही बन्द करा दूँ। (गाँधीजी की सूक्तियाँ पृ० ९४)

उनके अनुयायियों और सभी समाज राष्ट्रप्रेमियों का कर्त्तव्य है कि अपनी सरकार को इस बात के लिए विवश करें कि वह इस पाप की आमदनी के प्रलोभन का त्याग करके सारे देश में मद्य निषेध की नीति को अपनावे। देशवासियों का कल्याण तभी हो सकता है। महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा था कि—

(२) शराबखोरी के विरुद्ध राष्ट्र के लिए एक प्रकार की प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

(३) शराब पर ही नहीं, सभी प्रकार की नशीली वस्तुओं के सेवन पर, निषेध होना चाहिए।

(४) स्थानीय स्वेच्छा पर छोड़ देने पर मद्यनिषेध सफल नहीं हो सकता।

(५) शराब शरीर और आत्मा, दोनों का नाश कर देती है।

(६) शराब पीना मनुष्य का सब से बड़ा दुर्गुण है क्योंकि इससे अनेक दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

(७) शराब से बढ़कर मनुष्य का नाश करनेवाली कोई पेय वस्तु नहीं हो सकती।

(८) शराब की आदत परिवार घातिनी है।

(गाँधीजी की सूक्तियाँ, पृ० ९४)

सोम का सुरा (शराब) से कोई सम्बन्ध नहीं—

कई पाश्चात्त्य तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने भी यह भ्रम फैला रखा है कि वेदों में जिस सोम के पान की स्थान-स्थान पर प्रशंसा की गयी है, वह शराब ही है—

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु॥

(ऋ० ६।४७।१)

अर्थात् यह निश्चय से बड़ा स्वादु है, बड़ा मीठा, बड़ा तीव्र और रसवाला है। इसका पान करनेवाले इन्द्र (सेनापति) को युद्धों में कोई पराजित नहीं कर सकता। इत्यादि वह सोम भी सुरा वा शराब ही होती थी अतः उसका निषेध करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह एक बड़ा अशुद्ध विचार है। वेदों में जिस सोम के पान का पेय के रूप में पान का कई स्थानों पर विधान है, वह सोम नामक ओषधिराज का रस था। वह शराब न थी। वेदों में प्रायः सोम पद से बाह्य सोम का भी ग्रहण न होकर ज्ञानमय भक्ति रस का ग्रहण है। इसके लिए सैकड़ों प्रमाणों को प्रस्तुत किया जा सकता है। स्वयं ऋग्वेद १०।८५।३ में और अथर्व० १४।१।३ में कहा है—

सोमं मन्यते पपिन्यत्संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥

(ऋ० १०।८५।३)

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः॥

(अथर्व० १४।१।३)

अर्थात् जिस औषधि को पीसते हैं उसके रस का पान करनेवाला समझता है कि मैंने सोम का पान कर लिया। किन्तु ब्रह्मा (चारों वेद जाननेवाले विद्वान्) जिस सोम को जानते हैं, पार्थिवः-पृथिवी के भोगों में आसक्त पुरुष-सेवन नहीं कर सकता। अतः यह सर्वथा स्पष्ट है कि सोम से वेदों में सोम नामक ओषधि का तथा उसके रस का ही ग्रहण करना ठीक नहीं। **आध्यात्मिक दृष्टि से उसका अर्थ ज्ञानमय भक्तिरस भी है।** विशेषतः उपासना परक सामवेद के मन्त्रों में तो उसका भक्तिरस अर्थ ही उपादेय है—

पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः। महि द्युक्षतमो मदः॥

(साम० ६९२)

यहाँ सोमरस को मधुमत्तम अर्थात् अत्यन्त माधुर्य युक्त मस्ती उत्पन्न करनेवाला कहा है किन्तु वह शराब की तरह प्राकृतिक मस्ती नहीं, अपितु उसे आत्मा के लिए (इन्द्राय) (क्रतुवित्तमः) उत्तम ज्ञान को प्राप्त करानेवालों में श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ संकल्प वा बुद्धि को (क्रतुरितिप्रज्ञानाम–निघं० ३।९) प्राप्त करानेवालों में श्रेष्ठ, अत्यधिक यशस्वी बनानेवाली आध्यात्मिक मस्ती (महि द्युक्षतमो मदः) इस रूप में वर्णित किया गया है। उसे शराब आदि की तरह की कोई वस्तु समझ लेना भारी भूल है।

सोम का वर्णन इन शब्दों में है कि—

शुचिः पावक उच्यते सोमः सुतस्य मध्वः। देवावीरघशंसहा॥

(ऋ० ९।२४।७; साम० ९६७)

अर्थात् वह सोम, न केवल स्वयं पवित्र है, बल्कि दूसरों को भी (पावकः) पवित्र करनेवाला है और (मध्वः) माधुर्य से भरा हुआ (देवावीः) दिव्यगुणों को बढ़ानेवाला और (अघशंसहा) पापमयी भावनाओं को नाश करनेवाला है। यह स्पष्ट है कि यह वर्णन शराब जैसी मादक वस्तु का नहीं, किन्तु ज्ञानमय भक्ति के पवित्र और पावन आध्यात्मिक मद का है।

इसी प्रकार ऋग्वेद ९।९७।३६ और सामवेद ८६१ का सोम विषयक वर्णन भी इस विषय में अत्यधिक स्पष्ट होने के कारण यहाँ उल्लेखनीय है, जिसमें कहा है—

एवा नः सोम परिषिच्यमान आ पवस्व पूयमानः स्वस्ति।
इन्द्रमा विश बृहता मदेन वर्धया वाचं जनया पुरन्धिम्॥

(साम० ८६१)

इसमें सोम को सम्बोधन करते हुए कहा है कि तू हमें सब ओर से पवित्र कर (आपवस्व) अपनी बड़ी भारी मस्ती के साथ (इन्द्रम् आविश बृहता मदेन) इन्द्र–जीवात्मा के अन्दर प्रवेश कर, हमारी वाणी की शक्ति को बढ़ा (वर्धया वाचम्) और (जनय पुरन्धिम्) हममें उत्तम बुद्धि को उत्पन्न कर। बुद्धि नाशक शराब के विषय में इस प्रकार का वर्णन सर्वथा असंगत है। यह स्पष्टतया ज्ञानमय भक्तिभाव की आध्यात्मिक मस्ती का वर्णन है जो अत्युत्तम बुद्धि को उत्पन्न करती और वाणी आदि की शक्ति को बढ़ाकर मनुष्य को पवित्र कर देती है।

ऋग्वेद ९।१०८।३ तथा साम० ५८३, ९३८ का—

त्वं ह्य१ङ्ग दैव्या पवमान जनिमानि द्युमत्तमः। अमृतत्वाय घोषयः॥

(ऋ० ९।१०८।३; साम० ५८३, ९३८)

यह सोम विषयक वर्णन भी इस प्रसंग में अत्यधिक स्पष्ट होने के कारण उल्लेखनीय है। इसमें कहा है कि हे सोम! तू (पवमान) सब को पवित्र करनेवाला (द्युमत्तमः) अत्यन्त प्रकाशमान और मनुष्य जन्म को दिव्य बनाता हुआ उसके लिए अमृतत्व की घोषणा करता है। यह सोम ज्ञानमय भक्ति भाव है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता।

सोम और सुरा का भेद ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वेदों के अनुसार इतना किया गया है कि सुरा को "अनृतं पाप्मा तमः सुरा" (शत० ५।१।।१०) अनृत और तम कहा गया है और इसके विपरीत सोम को "तद्यत् तदमृतं सोमः सः" (शत० ९।५।१।८), "सत्यं वै श्रीज्योर्ति सोमः" (शत० ५।१।२।१०), (५।१।५।२८) अमृत और ज्योति कहा गया है। निश्चित ही दोनों शब्दों में आकाश पाताल का अन्तर है।

साथ ही यह बात भी स्मरणीय है कि सोम से केवल सोम ओषधि के रस का ग्रहण नहीं—

'सोमो वदधि' (कौषीतकी० ८।९), 'अन्नं सोमः' (ताण्ड्य ६।६।१), 'प्राणः सोमः' (शत० ७।३।१।२) 'रेतः सोमः' (शत० ३।३।२।१, कौषी० १३।७) 'रसः सोमः' (शत० ७।३।१।३) इत्यादि प्रमाणों से अन्य भी अनेक खाद्य और पेय पदार्थों का ग्रहण है, पर शराब के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं।

अध्याय सार और उपसंहार

इस अध्याय में उचित भोजन विषयक समस्या पर विचार करते हुए हमने अनेक प्रबल प्रमाणों से यह दिखाया है कि वेदों में निरामिष भोजन का विधान और मांसाहार तथा मद्यपान का सर्वथा निषेध है। मांस और मद्यपान को अत्यन्त हानिकारक तथा वर्जनीय बताया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से हमने महाभारत, मनुस्मृति आदि के श्लोकों को संक्षेप से उद्धृत करते हुए बहुत से सुप्रसिद्ध पाश्चात्त्य मनीषियों और अनुभवी चिकित्सकों के मत का उल्लेख किया है जिनसे वेदों की मांस–मद्य निषेध तथा निरामिष भोजन विषयक शिक्षा का पूर्णतया समर्थन होता है। मांस मद्यादि सेवन कितना अस्वाभाविक और हानिकारक तथा नैतिक दृष्टि से पापजनक है, यह भी दिखाया गया है। विश्व शान्ति की दृष्टि से भी वेदोक्त निरामिष भोजन ही (जिसमें शाक वनस्पति, फल, दुग्ध, मूंग, माष, मसूर आदि दालों और चावल आदि धान्यों का समावेश है) शरीर और मन के विकास के लिए सर्वथा पर्याप्त तथा उत्तम है, जैसा प्रबल युक्तियों से सिद्ध किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में उचित भोजन विषयक समस्या का सर्वोत्तम समाधान पाया जाता है जिसके अनुसार आचरण करने से ही सबका

कल्याण हो सकता है। उपसंहार के रूप में इतना और जोड़ देना आवश्यक है कि वेदों में सभी पशुओं की हत्या और मांस का निषेध है और समझाने पर भी उसे न छोड़नेवालों तथा अपनी हिंसा प्रवृत्ति से समाज के विघातकों के लिए दण्ड का विधान है। गोहत्या के लिए प्राणदण्ड का भी स्पष्ट विधान है। यजुर्वेद ३०।१८ में कहा है—'अन्तकाय गोघातम्' अर्थात् गो घातक को मृत्युदण्ड दिया जाय।

अथर्ववेद १।१६ में स्पष्ट शब्दों में इसी प्रकार का विधान है—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥

(अथर्व० १।१६।४)

अर्थात् हे दुष्ट, यदि तू हमारे गाय, घोड़ों आदि पशुओं या पुरुषों की हत्या करेगा, तो हम तुझे सीसे की गोली से उड़ा देंगे।

हजारों वेद मन्त्रों में गौ के लिए 'अघ्न्या' शब्द का प्रयोग आया है जिसका अर्थ है कभी न मारने योग्य। ऐसे अत्यन्त उपकारी पशु की हत्या करनेवाले को कठोरतम दण्ड का विधान अवश्य होना ही चाहिए।

अध्याय-२४

सर्वोत्तम शासन पद्धति

इस अध्याय में हम सर्वोत्तम शासन पद्धति विषयक समस्या पर वेदों की दृष्टि से विचार करना चाहते हैं। भारत में तथा अन्य देशों में भी अनेक प्रकार की शासन पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं यथा—एकतन्त्र राज्य पद्धति (Monarchy), सीमित एकतन्त्र राज्य पद्धति (Limited Monarchy), प्रजातन्त्र राज्य पद्धति (Democracy), गणतन्त्र राज्य पद्धति (Republic) इत्यादि। इनमें से कौन-सी शासन पद्धति सर्वोत्तम है ? वेदों में किस प्रकार की शासन व्यवस्था का प्रतिपादन है ?

वेदों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वे राजा के निर्वाचन का आदेश देते और स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं कि "विशि राजा प्रतिष्ठितः" (यजु० २०।९) अर्थात् राजा की प्रतिष्ठा वा स्थिति प्रजा पर निर्भर करती है। यदि राजा प्रजा को सन्तुष्ट रखता है तो ठीक है। अन्यथा प्रजा उसको राज्यच्युत कर सकती है, यह ऋग्वेद के निम्न मन्त्र से, जिसका राज्याभिषेक के समय पुरोहित प्रजा के प्रतिनिधि रूप में उच्चारण करता है, स्पष्टतया सूचित होता है। मन्त्र इस प्रकार है—

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥

(ऋ० १०।१७३।१)

इसका अर्थ यह है कि पुरोहित प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में नवनिर्वाचित राजा को सम्बोधन करते हुए कहता है (त्वा आ हार्षम्) मैं तुझे प्रजाओं में से चुनकर लाया हूँ। तू (अंतः एधि) हमारे बीच में राजा बनकर आ। तू (ध्रुवः) स्थिर और (अविचाचलिः) कर्त्तव्य से विचलित न होनेवाला (तिष्ठ) रह। (सर्वा विशः) सारी प्रजाएँ (त्वा वाञ्छन्तु) तेरी कामना करें, तुझे चाहती रहें, जिससे (त्वत्) तुझ से (राष्ट्रम्) राज्य (मा अधिभ्रशत्) छिन न जाए। (भ्रंशु-तव-तंसने भ्वा० आ०) मन्त्र में यह ध्वनि स्पष्ट है कि यदि राजा ऐसे काम करे जिससे प्रजाएँ उसे न चाहे तो उसे वे राज्यच्युत भी कर सकती हैं। इस सूक्त के दूसरे मन्त्र में भी यह ध्वनि स्पष्टतया निकलती है, जिसमें कहा गया है—

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥

(ऋ० १०।१७३।२)

हे राजन्! (इहैवैधि) तू इसी पद पर स्थित रह (मा अप च्योष्ठाः) इससे च्युत न हो। (पर्वत इव अविचाचलिः) पर्वत की तरह तू अपने कर्त्तव्य के प्रति अविचल रह। कर्त्तव्य मार्ग से कभी विचलित न हो। (इन्द्र इव) सूर्य की तरह तेजस्वी बनकर तू (ध्रुवः तिष्ठ) इस पद पर स्थित तथा धैर्यवान् रह (इह) इस पद पर रहता हुआ तू (राष्ट्रम् अधारय) राष्ट्र को निश्चय पूर्वक धारण कर।

यहाँ "मा अपच्योष्ठाः"—तू इस पद से च्युत न हो इसका सम्बन्ध पर्वत इव अविचाचतिः के साथ है जिसका भाव यह है कि यदि तू पर्वत की तरह अपने कर्त्तव्यपालन में अविचल रहेगा, तभी तू अपने राजपद पर स्थित रह सकेगा। यदि तू कर्त्तव्य मार्ग से विचलित होगा, तो तुझे अपने पद से भी च्युत होना पड़ेगा। इस प्रकार इसी वैदिक सिद्धान्त की पुष्टि इन दोनों मन्त्रों से होती है कि—

विशि राजा प्रतिष्ठितः॥ (यजु० २०।९)

अर्थात् राजा की प्रतिष्ठा की स्थिति प्रजा पर निर्भर करती है।

वेदों के अनुसार राष्ट्रपति आदि के गुण

राष्ट्रपति वा राजा कैसे चुना जाए, इस विषय का प्रतिपादन वेदों के अनेक मन्त्रों में है। इनमें से कुछ अति स्पष्ट मन्त्रों को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

यजुर्वेद ९।४० मन्त्र में राजा के चुनाव के विषय में कहा गया है कि—

इमं देवाऽअसपत्नꣳसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा॥

(यजु० ९।४०)

(महते क्षत्राय) बड़े भारी क्षात्र बल के लिए, (महते ज्यैष्ठ्याय) बड़े भारी सर्वश्रेष्ठ राजपद के लिए, (महते जानराज्याय) बड़े भारी जनों के ऊपर राजा हो जाने के लिए और (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् राजा की (इन्द्रियाय) ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए (देवाः) विजयी वीरगण और विद्वान् शासक पुरुषों, (असपत्नम्) शत्रुओं से रहित (इमम्) इस वीर विजयी योग्य पुरुष को (सुवध्वम्) अभिषिक्त करो (इमम्) इस (अमुष्यपुत्रम्) अमुकपिता के पुत्र (अमुष्यैपुत्रम्) अमुक माता के पुत्र को (अस्यै विशे) इस प्रजा के लिए राज्याभिषिक्त किया जाता है। हे (अमी) अमुक-अमुक प्रजाओं (वः एष राजा) आप लोगों का यह राजा (सोमः) चन्द्र के समान आह्लादक और सोमलता के समान आनन्द, तृप्ति और हर्षजनक है। वह (अस्माकम्) हम (ब्राह्मणानाम्) विद्वान् ब्राह्मणों का भी (राजा) राजा है। हमारे बीच में भी शोभायमान है।

अर्थात् हे राजा और प्रजा के मनुष्यो! तुम जो विद्वान् माता और पिता से अनेक प्रकार सुशिक्षित, कुलीन बड़े उत्तम गुण धर्म और स्वभावयुक्त, जितेन्द्रियादि

गुण युक्त, दीर्घकाल पर्यन्त ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा सम्पन्न, शरीर और आत्मा के पूर्ण बल से युक्त, धर्म से प्रजा का पालन प्रेमी विद्वान् हो, उसको सभापति राजा वा राष्ट्रपति के रूप में चुनकर साम्राज्य का सेवन करो।

इस मन्त्र में बहुत स्पष्टता से ऐसे गुणों का वर्णन किया गया है जिनके कारण किसी को राजा वा राष्ट्रपति चुना जाता है! इन गुणों से सम्पन्न को ही राजा वा राष्ट्रपति चुना जाय, यह वेदों का उपदेश कितना उत्तम और सर्वोत्तम शासन पद्धति का सूचक है।

यजुर्वेद १२।२२ में राजा वा राष्ट्रपति कौन है? इस विषय में निम्न गुणों का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। जो इन गुणों से अधिक से अधिक सम्पन्न हो, वही इस अत्यन्त उत्तरदायित्व पूर्ण पद के योग्य समझा जाएगा, अन्य नहीं। वे गुण निम्न हैं—

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसोऽअप्सु राजा विभात्यग्रऽउषसामिधानः॥

(यजु० १२।२२)

(श्रीणाम्) लक्ष्मी, ऐश्वर्यों का (उदारः) सत्पात्रों में उदारता से दान करनेवाला (रयीणां धरुणः) ऐश्वर्यों का आश्रय स्थान, उनका धारण करनेवाला (मनीषाणाम्) नाना ज्ञान करानेवाली मतियों का (प्रार्पणः) प्राप्त करानेवाला (सोमगोपाः) ऐश्वर्यमय राष्ट्र या शान्त स्वभाव, विद्वानों का रक्षक (षू प्रसवैश्वर्ययोः) (वसुः) प्रजाओं का बसानेवाला (सहसः) शत्रु को पराजित करनेवाला, बल का (सूनुः) प्रेरक, संचालक (राजा) राजा (उषसाम् अग्रे) दिनों के प्रारम्भ में उदय होनेवाले सूर्य के समान (इधानः) स्वयं अपने तेज से दीप्त होनेवाला (अप्सु) जलों या समुद्र के तल पर उगते सूर्य के समान प्रभावों के बीच (विभाति) विशेष प्रकार से शोभा देता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसका भावार्थ इस प्रकार किया है—

अर्थात् सब मनुष्यों को उचित है कि सुपात्रों को दान देनेवाला, धन को व्यर्थ खर्च न करनेवाला, सब को विद्या बुद्धि देनेवाला, जिसने ब्रह्मचर्य का सेवन किया और जितेन्द्रिय है, ऐसे पिता का पुत्र योगांगों के अनुष्ठान से प्रकाशमान, सूर्य के समान उत्तम गुण, कर्म और स्वभाव से सुशोभित और पिता के समान अच्छे प्रकार प्रजा का पालन करनेवाला जो पुरुष है, उसी को जनता के राज्य के लिए (जनराज्याय) अभिषिक्त करें।

यजुर्वेद के नवम दशम अध्यायों के मन्त्रों का राजसूय यज्ञ के समय में विशेष रूप से पाठ किया जाता है। और ऐसा ही प्राचीन ग्रन्थों में विधान है। इनमें प्रजाजनों को सम्बोधन करते हुए प्रत्यर्थी (उम्मीदवार) के मुख से कहलाया गया है कि सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त।

(यजु० १०।४) अर्थात् हे सूर्य के समान तेजस्विनी राष्ट्राधिकार देनेवाली प्रजाओ! मुझे तुम इस राष्ट्र पद को दो अथवा (अमुष्मै राष्ट्रं दत्त) अमुक योग्य व्यक्ति को इस पद के लिए चुनो।

यजुर्वेद १०।२८ में नवनिर्वाचित राजा को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि—

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजाऽइन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः। बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य ॥

(यजु० १०।२८)

अर्थात् तू सब दुष्टों का अभिभव करनेवाला—सब को हरानेवाला है। ये सब दिशाएँ तेरे लिये मंगलकारिणी हों। तू 'ब्रह्मा' अर्थात् चारों वेदों का जाननेवाला और ब्रह्मविद्या सम्पन्न है। तू सविता अथवा ऐश्वर्योत्पादक है किन्तु साथ ही सत्य प्रसव है, अर्थात् 'उत्थेन कर्मणा प्रसव ऐश्वर्यं यस्य सः' सत्य व्यवहार के द्वारा ऐश्वर्य कमानेवाला है। तू वरुण अर्थात् श्रेष्ठ है। तू 'सत्यौजा' सत्य के बल से सम्पन्न है। तू इन्द्र—सुधर्ता और विशौजा है 'विशा प्रजया सह ओजः' पराक्रमो यस्य—प्रजा के साथ ही जिसका पराक्रम है। 'स' जिसको प्रजा से शक्ति प्राप्त हुई, इस प्रकार का (रुद्रः) दुष्टों को रुलानेवाला (सुशेवः) उत्तम सुखदायक है। हे (बहुकारक) बहुत सुखों के कर्ता पुरुषार्थी (श्रेयस्कर) कल्याणकर्ता (भूयस्कर) बार-बार उत्तम कर्मों को करनेवाले, तू (इन्द्रस्य वज्रः असि) ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला है।

इनसे राजा का राष्ट्रपति के गुणों पर जहाँ प्रकाश पड़ता है वहाँ यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रजा द्वारा ही राजा को शक्ति मिलती है। अर्थात् उसका चुनाव प्रजा ही करती है और उसके अन्दर उन गुणों को सर्वाधिक मात्रा में देखकर करती है जिनका मन्त्रों में निर्देश किया गया है।

यजुर्वेद के २०वें अध्याय के मन्त्रों में भी इस विषय का अत्यन्त स्पष्ट और उत्तम प्रतिपादन है, जहाँ निर्वाचित राजा को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि—

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा। सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन्॥

(यजु० २०।४)

तू (कः असि) सुखस्वरूप है (सुखं वेदम्—गोपथ० उ० ६।३, को हि प्रजापतिः—शतपथ० ६।२।२।५) (कतमः असि) अत्यन्त सुखकारी है (कस्मै त्वा कायत्वा) सुख स्वरूप परमेश्वर के आदेश पालन करने, कराने और प्रजा के सुख के लिए तुझे चुना गया है तथा तेरा अभिषेक किया गया है। तू (सुश्लोक)

शुभकीर्ति तथा सत्यवाणीवाला (श्लोक इति वाङ्नाम-निघं० १।११) है (सुमंगल) उत्तम मंगल का अनुष्ठाता (सत्यराजन्) सत्य से प्रकाशमान अथवा सत्य का प्रकाशक है। (यह पुरोहित अर्थात् पुर एनं दधतीति पुरोहितः जननायक की ओर से राजा को सम्बोधन करते हुए कहा गया है।) इसी भाषण में यह भी निर्देश किया गया है कि—

अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभि षिञ्चामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि॥

(यजु० २०।३)

तुम्हारा यह अभिषेक इसलिए किया जा रहा है कि तुम्हारे राज्य में प्रजाओं को आरोग्य, ब्रह्म तेज और वेदाध्ययन (ब्रह्मवर्चसाय) सुशिक्षिता वाणी, (सरस्वत्यै) सत्यकीर्ति इत्यादि की प्राप्ति हो और इनमें वृद्धि हो। इसके उत्तर में नवनिर्वाचित राजा की ओर से कहा गया है कि—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणोऽअमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥ ५॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदाऽअङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः॥ ६॥
बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्तौ मे कर्म वीर्यम्।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७॥
पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥ ८॥

(यजु० अ० २०)

यहाँ राजा के मुख से कहलाया गया है कि (श्रीः मे शिरः) प्रजा की शोभा ही मेरा सिर है (यशः मे मुखम्) प्रजा का यश ही मेरा मुख है। जिस प्रकार शरीर में मुख मुख्य होता है, उसी प्रकार प्रजा के यश या कीर्ति की वृद्धि करना राजा के सब कर्त्तव्यों में मुख्य कर्त्तव्य हैं। (भद्रं मे जिह्वा) प्रजा के कल्याण की बात ही मेरी जिह्वा बोलती रहे। मेरी जिह्वा से कोई ऐसा शब्द न निकले कि जिससे प्रजा के अहित होने की सम्भावना हो। (महः मे वाक्) प्रजा के महत्त्व का ही उच्चारण मेरी वाणी करती रहे। (मन्युः मे मनः) मेरा मन प्रजाओं का ज्ञान, उत्साह और उल्लास ही सदा चाहता रहे (स्वराट् मे भामः) प्रजा के स्वावलम्बन का तेज ही मेरा तेज है। (मोदाः मे अंगुलीः) प्रजाओं का आनन्द ही मेरी अंगुलियाँ हैं। (प्रमोदाः मे अंगानि) प्रजा के प्रमोद वा विशेष प्रसन्नताएं वा कल्याण ही मेरे सब अंग हैं। राजा की वास्तविक शारीरिक शक्ति प्रजा के प्रमोद या प्रसन्नता से सम्बन्ध रखती है। (सहः मे मित्रम्) प्रजा की सहन शक्ति ही मेरा सच्चा मित्र है। आपत्तियों

को सहन करने की शक्ति जितनी मात्रा में प्रजा में होगी, उतनी ही मात्रा में राजा के बल में वृद्धि होगी। (राष्ट्रं मे पृष्ठीः) सब राष्ट्र ही मेरी पीठ है। पृष्ठ भाग में सब शक्ति होती है। इसी प्रकार राजा की पीठ सारी जनता है। (उदरम् अंसौ ग्रीवाः श्रोणीः ऊरु अरत्नि जानुनी च मे अंगानि) पैर, कन्धे, गला, कमर, जंघा, कोहनी, घुटने आदि सब मेरे अंग (सर्वतः) सब ओर से (विशः) प्रजाएँ ही हैं। राजा को प्रजा के साथ इतना ही प्रेम करना चाहिए जितना मनुष्य अपने शरीर के अंगों की रक्षा और स्वस्थता का रखता है। इस मन्त्र के भावार्थ में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ठीक ही लिखा है कि—

''यःस्वदेहवत् प्रजा जानीयात् स एव राजा सर्वदा वर्द्धते।''

अर्थात् जो अपने शरीर के अंगों के तुल्य प्रजा को जाने, वही राजा सर्वदा बढ़ता है।

अगले मन्त्र में राजा यह स्पष्ट घोषणा करता है जिसको हम पहले उद्धृत कर चुके हैं कि—'विशिराजा प्रतिष्ठितः' (यजु० २०।८) राजा की प्रतिष्ठा वा स्थिति प्रजा पर निर्भर है। जो प्रजा को सब प्रकार से प्रसन्न, सन्तुष्ट और उन्नत रख सकता है, वही राजा वा राजन्य कहलाता है, अन्य नहीं। इसीलिए अथर्ववेद में कहा है कि—

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत॥ (अथर्व० १५।८।१)

प्रजा को प्रसन्न करने के कारण ही मनुष्य राजा वा राजन्य (सच्चा क्षत्रिय) बनता है। इसी वेदमन्त्र के भाव को लेकर कविवर कालिदास ने कहा है—'राजा प्रकृति रंजनात्' राजा वही है जो प्रजा को सन्तुष्ट रखता है।

प्रजा को अपने आत्मा के तुल्य समझना और पिता के समान उसका पालन करना राजा का कर्त्तव्य है। प्रजा, राजा को अपने पिता के तुल्य माने। इस बात का वेदों के अनेक मन्त्रों में भी उपदेश है। ऋग्वेद १।३१।११ में कहा है—

त्वाम॑ग्ने प्रथ॒मम॒ायुमा॒यवे॑ दे॒वा अ॑कृण्व॒न्नहु॑षस्य वि॒श्पति॑म्।
इळा॑मकृण्व॒न्मनु॑षस्य॒ शास॑नीं पि॒तुर्यत्पु॒त्रो मम॑कस्य॒ जाय॑ते॥

(ऋ० १।३१।११)

हे (अग्ने) विज्ञान युक्त सभाध्यक्ष! (देवाः) विद्वानों में (प्रथमम्) सब के अग्रगन्ता (आयुम्) न्याय से प्रजा का नियन्त्रण करनेवाले (य एति न्यायेन प्रजां तम्) आपको (विश्पतिम्) प्रजाओं का स्वामी (अकृण्वन्) बनाया है तथा (नहुषस्य) मनुष्य की (आयवे) विज्ञान वृद्धि के लिए इस (इद्धम्) वेदवाणी को (इडति वाङ्नाम-निघं० १।११) प्रकाशित किया तथा मनुष्यमात्र की (शासनीम्) सत्य नीति को प्रकाशित किया और जैसे (ममकस्य) हम लोग (पितुः) पिता होते हैं, उनका (पुत्रः) पुत्र अपने शील से पितृवर्ग को पवित्र करनेवाला (जायते) उत्पन्न

होता है, वैसे राज वर्गों के प्रजा जन होते हैं।

राजा माता के समान हो—

वेदों में राजा को न केवल पिता के, अपितु–माता (विशेषतः गर्भिणी माता) के समान भी बतलाया गया है।

उदाहरणार्थ यजु० १२।२३ में यह मन्त्र आया है—

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भऽआ रोदसीऽअपृणाज्जायमानः।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च॥

(यजु० १२।२३; ऋ० १०।८५।६)

अर्थात् जैसे ब्रह्माण्ड के बीच सूर्य अपने आकर्षण से सब का धारक है, वैसे जो सूर्य समान तेजस्वी, सब विद्याओं को प्राप्त करानेवाला, राज्य का धारक, शत्रु विनाशक, सुखोत्पादक, जैसे माता गर्भस्थ बालक की रक्षा करती है, वैसे जो प्रजापालक विद्वान् हो, उसे ही राज्य का अधिकारी बनाना चाहिए।

इससे पूर्व यजु० १२।१५ में मन्त्र आया है—

सीद त्वं मातुरस्याऽउपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान्।
मैनां तपसा मर्चिषाऽभिशोचीरन्तरस्याᳬशुक्रज्योतिर्विभाहि॥

(यजु० १२।१५)

यो विदुष्या मात्रा विद्यासु शिक्षां प्राप्तो मातृसेवको।
जननीवत् प्रजाःपालयेत् स राज्यैश्वर्येण प्रकाशेत॥

अर्थात् जो विदुषी माता द्वारा विद्या और उत्तम सदाचार शिष्टाचारादि की शिक्षा को प्राप्त, माता का सेवक, जैसे माता पुत्रों को पालती है, वैसे प्रजाओं का पालन करे, वह पुरुष राज्यैश्वर्य से प्रकाशित होवे। इस प्रकार प्रजा के प्रति माता पिता जैसा व्यवहार करता हुआ, राजा सब के लिए शिव अर्थात् कल्याणकारक शान्तिदाता बने। इस बात को यजु० १२।१७ में कितने सरल शब्दों में बताया गया है—

शिवो भूत्वा मह्यमग्नेऽथो सीद शिवस्त्वम्।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः॥

(यजु० १२।१७)

हे (अग्ने) अग्रणी–नायक राजन्! तू (मह्यम्) मुझ राष्ट्रवासिनी प्रजा के लिए (शिवः भूत्वा) कल्याणकारी बनकर (सीद) सिंहासन पर विराजमान हो (त्वं शिवः) तू कल्याणकारी है, इसीलिए (सर्वादिशः) समस्त दिशाओं को (शिवाःकृत्वा) कल्याणकारिणी व सुखकारिणी बनाकर (इह) इस राष्ट्र में (स्वं योनिम्) अपने आश्रय स्थान प्रजा के ऊपर (आसदः) विराजमान हो।

अथर्ववेद में राजा के चुनाव का विधान

ऋग्वेद और यजुर्वेद की तरह अथर्ववेद में भी राजा के निर्वाचन का स्पष्ट निरूपण किया गया है। तृतीय काण्ड के चतुर्थ सूक्त के ३ मन्त्रों को उद्धृत करना इस विषय में अत्यावश्यक प्रतीत होता है। इनके अंग्रेजी अनुवाद में ब्लूम फील्ड, ह्विटनी आदि पाश्चात्त्य विद्वानों को भी मानना पड़ा है कि राजा के चुनाव के समय इन मन्त्रों का पाठ करना होता है। ब्लूम फील्ड ने इस सूक्त के मन्त्रों का अनुवाद करते हुए शीर्षक इस रूप में दिया है—III. 4 "Prayer at the election of a King" अर्थात् राजा के चुनाव के समय की प्रार्थना। ये ३ मन्त्र जो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, निम्नलिखित हैं—

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो ऽ भवेह॥ १॥
त्वां विशो वृणतां राज्या ऽ य त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥ २॥
इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।
स त्वायमह्वत्स्वे सधस्थे स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विशः॥ ६॥

(अथर्व० ३।४।१-२, ६)

(१) हे राजन्! (राष्ट्रं त्वा आगन्) यह राष्ट्र तुझ को प्राप्त हुआ है अथ (वर्चता सह उदिहि) तेज के साथ उदय को प्राप्त हो। (विशांपतिः प्राङ् एकराट् त्वं विराज) प्रजाओं का स्वामी प्रमुख एक सम्राट् होकर तू विराजमान हो। (सर्वाः प्रदिशः त्वा ह्वयन्तु) सब दिशाएँ और उपदिशाएं तुझे पुकारें और (इह अपसद्यः नमस्यः भव) यहाँ पास पहुँचने योग्य और नमस्कार के योग्य तू हो।

(२) (विशः राज्याय त्वा वृणताम्) प्रजाएँ राज्य के लिए तुझे स्वीकार करें—तेरा चुनाव करें। (इमाः देवीः पंच प्रदिशः) ये दिव्य पाँच दिशाएँ (त्वा वृणताम्) तुझ को राज्य के लिए स्वीकार करें (राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व) राष्ट्र के वेश ऐश्वर्यमय उच्च स्थान पर आश्रय ग्रहण कर (ततः उग्रः) उग्र तेजस्वी वीर बनकर (नः ककुदि वसूनि विभज) हम सब के लिए धनों का विभाग कर।

(३) हे (इन्द्रइन्द्र) राजाओं के महाराजा (मनुष्याः परेहि) साधारण मनुष्यों के समान तू दूर-दूर जा और (वरुणैः संविदानः) चुनाव करनेवाले श्रेष्ठ मनुष्यों से मिलकर तू (सं ह्यज्ञास्था) ठीक प्रकार प्रजाजनों की अवस्था को जान सकता है। (सः अयं स्वे सधस्थे त्वा अह्वत्) ऐसा करने से साधारण लोग भी अपने घर में तुझे आदर से बुलाएँगे और वे यज्ञ-याग भी करेंगे। (स उ कल्पयाद्विशः) इस तरह प्रजाओं के साथ मिल-जुलकर सब प्रकार से उन्हें समर्थ करे।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि वेदों में राजा वा राष्ट्रपति के चुनाव का

उपदेश है और उसका कर्त्तव्य बताया गया है कि वह पिता माता के समान प्रजा के कल्याण साधन में सदा तत्पर रहे। वेदों के आदर्शानुसार ही (जिसका हम सप्रमाण ऊपर निर्देश कर चुके हैं) महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म पर्व अ० १६ में कहा गया है—

भवितव्यं सदा राज्ञा, गर्भिणी सह धर्मिणा।
क़ारणं च महाराज, शृणु येनेदमिष्यते॥ ४४॥
यथा हि गर्भिणी हित्वा, स्वंप्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते, तथा राज्ञाप्यसंशसम्॥ ४५॥
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ, सवा धर्मानुवर्तिना।
स्वंप्रियं तु परित्यज्य, यद् यत्लोकहितं भवेत्॥ ४६॥

अर्थात् राजा को गर्भिणी के समान होना चाहिए। जैसे गर्भिणी, अपने मन के प्रिय को छोड़कर, गर्भ के हित का सदा ध्यान रखती है, ऐसे ही राजा को भी नि:सन्देह धर्म का अनुसरण करते हुए अपने प्रिय का परित्याग करके, जो लोक के लिए हितकारक कर्म हो, वही करना चाहिए। यह 'विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भः' (यजु० १२।२३) की कितनी उत्तम व्यवस्था है जहाँ राजा को गर्भिणी के समान व्यवहार करने का उपदेश है।

राजा अस्वतन्त्र–जनता सेवक–सभा समिति आदि निर्माण

वेदों में जनता पर राजा की प्रतिष्ठा की स्थिति बताते हुए और उसके चुनाव तथा कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करते हुए, उसे सभा समिति आदि की सम्मत्ति के विना स्वच्छन्द कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं दी गई। ऋग्वेद १।१०१।४ में एक मन्त्र आता है—

यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी य आरितः कर्मणिकर्मणि स्थिरः।
वीळोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधो मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥
(ऋ० १।१०१।४)

इसका भावार्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार इस प्रकार है—

अर्थात् मनुष्यों को चाहिए कि जो सब का पालन करनेवाला, जितेन्द्रिय, शान्त और जिस–जिस कर्म में सभा की आज्ञा होवे, उस–उसी कर्म में स्थिर बुद्धि के प्रवर्तमान्, बलवान् दुष्ट शत्रुओं का जीतनेवाला हो, उसके साथ निरन्तर मित्रता करके सुखों को सदा भोगे।

ऋग्वेद में सच्चे राजा के लिए समितियों का स्पष्ट विधान

समितियों का विधान "राजा न सत्यः समितीरियानः"।

इन शब्दों द्वारा किया गया है।

ऋग्वेद ३।३८।६ में तीन सभाओं का स्पष्ट निर्देश है—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वाँ अपि वायुकेशान्॥

(ऋ० ३।३८।६)

भाषानुवाद—हे मनुष्यो ! आप लोग उत्तम गुण धर्म और स्वभाववाले यथार्थ वक्ता विद्वान् पुरुषों की राजार्य सभा, विद्यार्य सभा और धर्मार्य सभा नियत कर और सम्पूर्ण राज्य सम्बन्धी कर्मों को यथायोग्य सिद्ध कर, सकल प्रजा को निरन्तर सुख दीजिए।

इन सभाओं के कार्य वा कर्त्तव्य के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के षष्ठ समुल्लास में इस प्रकार प्रकाश डाला है—

महाविद्वानों को विद्यासभाधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद् और जो उन सब में सर्वोत्तम गुण–धर्म–स्वभाव युक्त महान् पुरुष हो उसको राजसभा का पति रूप मान के सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मत्ति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग बर्तें, सब के हितकारक सब कामों में सम्मत्ति करें। सर्वहित करने के लिए परतन्त्र और धर्म युक्त कामों में, अर्थात् जो निज के काम हैं, उनमें स्वतन्त्र रहें।

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध नारायण भवानी राव पावगी ने अपनी Self Government in India-Vedic and Post Vedic के पृष्ठ ४७–४८ में इस मन्त्र का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"Thus it sill be perceived that even during the Vedic Period, there were three Public Bodies or Assemblies & (त्रीणिसदांसि Rig. III. 38.6) apperently of a representative character. Of these one was (1) Sacrificial and Religious (विदथ), the other was (2) Rural and Social (समिति) while the third (3) was political, Popular and General (सभा)."

(Self Government in India)

यहाँ उन्होंने त्रीणिसदांसि से विदथ, समिति और सभा का ग्रहण किया है और उन्हें क्रमशः धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक सभाओं के रूप में माना है। नाम भेद होते हुए भी उनका स्वरूप स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित धर्मार्य सभा, विद्यार्य सभा और राजार्य सभा से मिलता जुलता ही है। विद्या प्रसार का सामाजिक उन्नति के साथ विशेष सम्बन्ध होने से सामाजिक विषयों की सभा को विद्यार्य सभा के अन्तर्गत माना जा सकता है।

अथर्ववेद के निम्न मन्त्रों में सभा समितियों का वर्णन इस प्रकार है—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ १॥
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ २॥
एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु॥ ३॥
(अथर्व० ७।१२)

(१) सभा और समिति—ये दो प्रजापति–प्रजापालक राजा की दो दुहिताएँ (पुत्रियाँ जो दूरे–हिता–दूर रहकर ही हितकारिणी होती है) हैं और वे (संविदाने) उत्तम ज्ञान देनेवाली हैं। (येन संगच्छा) जिससे मैं मिलूँ (स मा उपशिक्षात्) वह मुझे पास बैठाकर उत्तम शिक्षा दे। हे (पितरः) पिता के समान माननीय सभा समितियों के सदस्यों में (संगतेषु) सभाओं और सत्संगों में, (चारुवदानि) मैं उत्तम भाषण करूँ।

(२) हे (सभे) सभे! (ते नाम विद्म) हम तेरा नाम जानते हैं। तू (नरिष्टा नाम वा असि) नृ+इष्टा=नरिष्टा–मनुष्यों के लिए इष्ट–हितकारिणी अथवा न+रिष्टा रिज–हिंसायाम् अहिंता–परैरनमिभाव्या–जिसके निर्णयों का कोई उल्लंघन न कर सके और इस प्रकार जिसे कोई दबा न सके, ऐसी है (ये ते के च सभासदः) जो तेरे सभासद् हैं (ते मे सवाचसः सन्तु) वे मेरे साथ समान रूप से उत्तम सत्य भाषण करनेवाले हों।

(३) मैं (एषां समासीनाम्) इन बैठे हुए सभासदों में से (वर्चः) बल, तेज और (विज्ञानम्) विशेष ज्ञान को (आददे) ग्रहण कर लेता हूँ–इनसे मैं लाभ उठाता हूँ। हे (इन्द्र) परमेश्वर (अस्यः सर्वस्याः संसदः) इस सारी सभा का (भगिनम्) भजनीय उत्तम अंश का ग्रहण करनेवाला (मा कृणु) मुझे बना।

सभा का नरिष्टा नाम स्वयं महत्त्वपूर्ण है। जिसके अर्थ का संक्षेप से निर्देश ऊपर किया गया है। इसमें सम्मति प्रकट करने का सब को अधिकार है और उसको राजा भी हिंसित नहीं कर सकता–तोड़ नहीं सकता। साथ ही विश नृ+इष्टा–सारी जनता के लिए इष्टा वा हितकारिणी होने के कारण वह चाहने योग्य है। प्रजापति राजा भी उस सभा और समिति के सदस्यों का आदर करता और अनुभवी ज्ञानवयोवृद्ध होने के कारण, उन्हें पितरः वा पिता के तुल्य के नाम से पुकारता है। इसलिए प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मूर ने इस सूक्त का अंग्रेजी में अनुवाद करते हुए ठीक ही लिखा है—

"The hymn breathes a Social Spirit and a disposition to profit by the improving influence of the company of cultured men".

अर्थात् यह सूक्त एक सामाजिक भावना और सुसंस्कृत महानुभावों के उन्नतिकारक प्रभाव से लाभ उठाने की प्रवृत्ति को सूचित करता है। इस सूक्त में सभा और समिति इन शब्दों से क्या ग्रहण किया जाए। इस विषय में कई विद्वानों का यह विचार है कि सभा से ग्राम निवासियों की सभा का और समिति से राष्ट्रीय महासभा का ग्रहण करना चाहिए। श्री पावगी ने उपर्युक्त पुस्तक में सभा का अर्थ "Popular Assembly of the Representative, of the Council of Elders". अर्थात् अनुभवी वृद्धों के प्रतिनिधियों की लोकप्रिय सभा और समिति से "Locally organised Representative Council or the Village Commune of the Representative Elders". अथवा ग्रामवासी अनुभवी लोगों की स्थानीय प्रतिनिधि संस्था किया है। अनेक विद्वान् सभा से वर्तमान भारतीय संविधान के अनुसार निर्मित लोक सभा और समिति से राज्यसभा (Council of State) जैसी सभाओं का, जो दोनों संसद के भाग हैं (जिस संसद शब्द का भी वेदों में बहुत स्थानों पर प्रयोग है) अथर्व० ७।१२।३, २०।११०।२, २०।२९।५ इत्यादि ग्रहण करते हैं।

अथर्ववेद के १५वें काण्ड में भी यह वर्णन मिलता है कि—

स विशोऽनु व्य॑चलत् ॥ १ ॥
तं स॒भा च॒ समि॑तिश्च॒ सेना॑ च॒ सुरा॑ चानु॒व्य॑चलन् ॥ २ ॥
स॒भाया॑श्च॒ वै स समि॑तेश्च॒ सेना॑याश्च॒ सुरा॑याश्च
प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ३ ॥

(अथर्व० १५।९)

यहाँ सुरा से षु–प्रसवैश्वर्ययोः इस धातु से बने होने के कारण ऐश्वर्य वा कोश का ग्रहण है। जो राजा प्रजाओं का अनुसरण करता है (विशः अनुव्यचलत्), जो प्रजा के हित को ही अपना हित समझता है, सभा, समिति, सेना और कोश सब उसका समर्थन करते हैं और वह सब का प्रिय बन जाता है। सभा, समिति, विदथ और संसद् के अतिरिक्त अथर्ववेद ८।१० में आमन्त्रित व्यक्तियों की सभा प्रतीत होती है। इन सभाओं और उनके सभापतियों का सब लोगों को विशेषरूप से आदर करना चाहिए। यह बात यजुर्वेद के—**नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमः।** (यजु० १६।२४)

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्टतया बताई गई है। यहाँ कहा है कि सभाओं को हमारा नमस्कार हो—सभाओं के सदस्यों के प्रति हम नमस्कार करते हैं जो समान रूप से वा मिलकर चमकते हैं (सह–भान्तीति) और तुम सभापतियों को हम बार–बार नमस्कार करते हैं। सभापतियों की योग्यता साधारण सदस्यों से भी बहुत अधिक होती है, इसलिए उनके लिए दो बार ''नमः'' का प्रयोग है।

मन्त्रिमण्डल का निर्माण

सभा समिति के मान्य प्रतिनिधि सदस्यों से सहायता लेने के राजा को अतिरिक्त राज्य सञ्चालनार्थ अनेक मन्त्रियों और सचिवों तथा विभागाध्यक्षों की भी सहायता लेनी चाहिए।

इस विषय में यजुर्वेद १२।८ का निम्न मन्त्र विशेष उल्लेखनीय है जिसमें कहा है—

अग्नेऽअङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं तऽउपावृतः।
अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमाकृधि पुनर्नो रयिमाकृधि॥

(यजु० १२।८)

इस मन्त्र में राष्ट्रपति को अग्ने और अंगिराः–इन दो शब्दों से सम्बोधित किया गया है। अंगिरस् से तात्पर्य अंगों का रस वा सार है।

शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं तऽउपावृतः।

इससे राष्ट्रपति के सहकारियों, मन्त्रिमण्डल के सदस्यों, सचिवों तथा अनेक विभागों के अध्यक्षादि की संख्या का निर्देश शतम् और सहस्रम् इन शब्दों से किया गया है जो साधारणतया १०० और १००० के वाचक हैं। वेदों में 'शतमिति बहुनाम' (निघ० ३।१), 'सह समिति बहुनाम' (निघ० ३।१) के अनुसार वे विशेष संख्या के द्योतक न होकर अधिकतर बहुत्व को ही सूचित करते हैं। संख्या तो आवश्यकता और परिस्थितियों पर निर्भर करती है अतः उसका सदा के लिए निश्चित कर देना न आवश्यक है और न उचित।

वेदों में अनेक मन्त्री तथा विभागाध्यक्ष

वेदों के अनुशीलन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनमें राजनीति के उच्चतम सिद्धान्तों का प्रतिपादन है जिन पर प्राचीन आर्य राजनीति शास्त्र अवलम्बित है।

उनमें शिक्षा विभाग के मन्त्री के लिए जातवेदा अग्नि अथवा अग्नि शब्द का प्रयोग है जिसके—

आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्।

(ऋ० ३।१।१७)

अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्॥ (ऋ० ३।१।१८)

रथीरृतस्य बृहतो विचर्षणिरग्निर्देवानामभवत् पुरोहितः॥

(ऋ० ३।२।८)

आ होता मन्द्रो विदथान्यस्थात्सत्यो यज्वा कवितमः स वेधाः।

(ऋ० ३।१४।१)

जुषाणो अग्ने प्रति हर्य मे वचो विश्वानि विद्वान्वयुनानि सुक्रतो।

(ऋ० १०।१२२।२)

अ॒ग्निर्जा॒तो अथ॑र्वणा वि॒दद्विश्वा॑नि॒ काव्या॑। (ऋ० १०।२१।५)

इत्यादि विशेषण उसको सब काव्यों का जाननेवाला महान् ऋत (ज्ञान) का पूर्णतया द्रष्टा आदि सिद्ध करते हैं। (ब्रह्मणस्पतिः) ज्ञान का पालक (ब्रह्मणस्पतिः) वाम् वबृहति तस्या एणपतिः–वेदवाणी का पति आचार्य या वाचस्पति को इस शिक्षामन्त्री के सहायक मन्त्री के रूप में वर्णित किया गया है।

राष्ट्र संरक्षण विभाग में जहाँ इन्द्रेन्द्र, महेन्द्र वा वरुण सम्राट् के नाम से राष्ट्रपति का ग्रहण होता है, वहाँ इन्द्र के नाम से वेदों के अनेक सूक्तों में प्रधान युद्ध मन्त्री वा सेनापति का ग्रहण स्पष्ट है।

वेदों में मन्त्रियों का वर्णन

अश्विनौ वेद में आरोग्य मन्त्री हैं जिनमें से एक शल्यचिकित्सा में निपुण और एक ओषधि चिकित्सा विशारद है। अश्विनी के सूक्तों में अद्भुत चिकित्सा तथा आरोग्य विषयक विधान पाये जाते हैं। उनके लिए दस्रों–सर्वरोगनाशक त्रिणजो–उत्तम चिकित्सक वृणमों, सुखवर्षक इत्यादि विशेषण मन्त्रों में आये हैं और उनकी कुशलता का वर्णन अन्ध समान लोगों को भी पुनः आखें देने और जंघाओं के युद्ध में टूटने पर लोहे की जंघा लगाने इत्यादि के वर्णन आये हैं। च्यवन–आरोग्यच्युत ऋषि को औषधोपचार द्वारा पुनः युवक समान बना देने का वर्णन है।

श॒तं मे॒षान्वृ॒क्ये॑ चक्षदा॒नमृ॒ज्राश्वं॒ तं पि॒तान्धं च॑कार।
तस्मा॑ अ॒क्षी ना॑सत्या वि॒चक्ष॒ आध॑त्तं दस्रा भिषजाव॒नर्वन्॥
(ऋ० १।११६।१६)

स॒द्यो जङ्घा॒माय॑सीं वि॒श्पला॑यै॒ धने॑ हि॒ते सर्त॑वे॒ प्रत्य॑धत्तम्॥
(ऋ० १।११६।१५)

यु॒वं च्यवा॑नमश्विना॒ जर॑न्तं॒ पुन॒र्युवा॑नं चक्रथुः॒ शची॑भिः॥
(ऋ० १।११७।१३)

इत्यादि मन्त्र इस विषय में द्रष्टव्य हैं। विश्पला का अर्थ–विशः प्रजाः पालयतीतिविश्पला, प्रजाओं का पालन करनेवाली वीर महिला तथा च्यवन का आरोग्य च्युत वृद्ध समान रोगी लेना चाहिए। इन वर्णनों के आधार पर जो आरोग्य मन्त्रियों की ओषधि तथा शल्य चिकित्सा में अद्भुत कुशलता को सूचित करते हैं, ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है—'अश्विनो वे देवानां भिषजां' (ऐतेरय० १।१८) शासन में अश्विनो से आरोग्य मन्त्रियों या Health Ministers का ग्रहण होता है। पोषण मन्त्र (Minister for Food & Supply) को वेदों में पूषा के नाम से पुकारा गया है।

ऋग्वेद ६।५४।३ में पूषा के विषय में कहा है कि—

पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते। नो अस्य व्यथते पविः॥
(ऋ० ६।५४।३)

(अस्यपूष्णः चक्रं न रिष्यति) इस पूषा–पोषण मन्त्री का कर्म चक्र कभी नष्ट नहीं होता। वह अपने कर्त्तव्यपालन में जागरूकता से सदा तत्पर रहता है तथा अपने रथ पर सवार होकर वह स्थान–स्थान पर जाता और निरीक्षण करता रहता है कि कहाँ किस वस्तु की आवश्यकता है। (अस्य कोशः न अवपद्यते) इसका कोश–खजाना कभी रिक्त व खाली नहीं होता, सदा भरा रहता है। (अस्य पविः न व्यथते) इसका वज्र कभी क्षीण नहीं होता (पविः इति वज्रनाम–निघं० २।२०) मन्त्र का तात्पर्य स्पष्ट है कि पूषा अर्थात् पोषण मन्त्री को सदा कर्त्तव्य के पालन में जागरूक रहना चाहिए और प्रत्येक स्थान का निरीक्षण करते रहना चाहिए जिससे उसे ज्ञात हो कि कहाँ किस वस्तु की इस समय विशेष आवश्यकता है ताकि उसकी पूर्ति की जाए। उसका धन तथा द्रव्य कोष सदा परिपूर्ण रहना चाहिए, खाद्य पदार्थों का भी उसके पास ऐसा कोश रहना चाहिए जो कभी समाप्त न हो जाए। इस प्रकार करने से खाद्य समस्या विपद रूप में न आ सकेगी (साथ ही जो भ्रष्टाचार पूर्वक स्वार्थ और लोभवश अपने पास बहुत अधिक खाद्य वस्तुओं का संग्रह करके जनता को कष्ट पहुँचाते हैं, उनके लिए उसके पास वज्र अथवा निवारक शक्ति होनी चाहिए जिससे उन्हें कठोर दण्ड देकर वह सीधे रास्ते पर ला सके।) ये सब निर्देश पूषा वा पोषण मन्त्री (जिसे आजकल के अंग्रेजी शब्दों में Minister for Food and Supply कह सकते हैं) के लिए कितने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अर्थ मन्त्री (Finance Minister) को वैदिक सूक्तों में भगः के नाम से कहा गया है। निम्न मन्त्र में भग के भजनीय परमेश्वर इस अर्थ के अतिरिक्त अर्थ मन्त्री, अर्थ लेने पर अच्छी संगति लगती है।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥
(ऋ० ७।४१।३)

हे (भग) ऐश्वर्य सम्पन्न! हे (प्रणेतः) उत्कृष्ट नायक! हे (सत्यराधः) सत्य द्वारा कार्यों को सिद्ध करनेवाले (राधःसंसिद्धौ) अथवा सत्य से अर्जित धनवाले अर्थ मन्त्रिन्! (राध इति धननाम–निघं० २।१०) हे (भग) सेवनीय! (नः गोभिः अश्वैः प्रजनय) हमें गौओं और अश्वों के साथ उन्नत कर। हमारे पास उत्तम गौवें और अश्वादि रहें। हे (भग) (नृभिः नृवन्तः स्याम) हम वीर पुत्रों के साथ रहकर, वीरता युक्त बनें।

इस मन्त्र में अर्थ मन्त्री को 'भग' के नाम से पुकारते हुए उसके लिए सत्यराधः इस विशेषण का प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि वह भग सत्य द्वारा कार्यों को सिद्ध करनेवाला और सत्य से अर्जित धन सम्पन्न है।

छल–कपट और भ्रष्टाचार से धन कमानेवाला नहीं है। उसे आर्थिक उचित सहयोग और प्रोत्साहन देकर बुद्धि पूर्वक किये गये शुभ कर्मों को बढ़ाने का सदा यत्न करना चाहिए।

ऋग्वेद ७।४१ के अन्य मन्त्रों में भी अर्थमन्त्री के कर्त्तव्यों का उत्तमता से प्रतिपादन किया गया है।

उद्योग मन्त्री (Minister of Industries) को वेदों में विश्वकर्मा और त्वष्टा के नाम से कहा गया है। गृहमन्त्री को वास्तोस्पति और शिल्प मन्त्री को ऋभु के नाम से कहा गया है। ऋभवः के नाम से शिल्पियों के कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है जिस विषय में हम बेरोजगारी की समस्या विषयक अध्याय में पर्याप्त लिख चुके हैं।

सागर मन्त्री व नौका मन्त्री कई वैदिक सूक्तों में वरुण के नाम से वर्णित हैं यद्यपि अनेक विद्वानों के विचार में वरुण पद से आजकल के आरक्षित दल वा पुलिस विभाग के अध्यक्ष का ग्रहण है जिसके पाशों का वर्णन वेदों में बहुत स्थानों पर मिलता है यथा अथर्ववेद ४।१६।६ में कहा है—

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥

(अथर्व० ४।१६।६)

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।
आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः॥

(अथर्व० ४।१६।७)

हे (वरुण) आरक्षितदलाध्यक्ष दुष्टनिवारक दुष्टान् वारयतीति वरुणः (ये ते पाशः सप्त सप्त त्रेधा विषिताः) जो तेरे सात सात तीन प्रकार के बँधे हुए (ये ते रुशन्तः पाशाःसन्ति) विनाशक पाश हैं वे (सर्वे अनृतं वदन्तं छिनन्तु) सब असत्य बोलनेवाले को बाँध दें अथवा छिन्न–भिन्न कर दें (यः सत्यवादी तम्अति सृजन्तु) सत्यवादी है उसको छोड़ दें।

महिला कल्याण विभाग में सरस्वती, भारती, इडा इन शब्दों का प्रयोग वैदिक सूक्तों में बहुत मिलता है। इनके विषय में कुछ मन्त्रों का हम प्रकरणवश पहले उल्लेख कर चुके हैं, बालिका संरक्षण मन्त्रिणी के रूप में उषा का ग्रहण किया जा सकता है जो शिक्षा के प्रसार द्वारा उष–दाहे कन्याओं के दोषों को दग्ध करती और उनके सुख में विशेष रूप से निवास करती है। उषा का निम्न प्रकार का वर्णन उसके दाहक स्वरूप का स्पष्ट द्योतक है—

यावयद्द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती।
सुमङ्गलीर्बिभ्रती देववीतिमिहाद्योषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ॥

(ऋ० १।११३।१२)

इसमें उषा के विषय में कहा है कि वह (यावयद्द्वेष) द्वेष को दूर करनेवाली (ऋतपाः) सत्य की सुरक्षा करनेवाली (ऋतेजाः) सत्यनियम वा वेद ज्ञान में प्रादुर्भूत (सुम्नावरी) सुख देनेवाली (सूनृता ईरयन्ती) सत्य और प्रिय मधुर वचनों का उच्चारण करनेवाली (सुमंगलीः), श्रेष्ठ मंगलाचार युक्ता और (देववीतिं बिभ्रती) सत्यनिष्ठा विद्वानों के ज्ञान को (वी गति व्याप्तिप्रजन कान्त्यसनखादनेषु गति–ज्ञान, गमन, प्राप्ति) धारण करनेवाली है। उसको सम्बोधन करते हुए मन्त्र में कहा गया है कि—"तू जो (श्रेष्ठतमा) अत्यन्त श्रेष्ठ गुण–कर्म–स्वभाववाली महिलाओं में सर्वोत्तम है ऐसी होकर (अद्य) आज सदा (विउच्छ) सुख में हमारा विशेष रूप से निवास करा।"

यह स्पष्ट है कि यहाँ उषा से इसी प्रकार की श्रेष्ठ शिक्षा प्रचार करनेवाली महिला का ग्रहण है।

अर्यमा शब्द से न्यायाधीश का वेदों में ग्रहण आधिभौतिक दृष्टि से स्पष्ट है। पुरुषों के न्याय के लिए जिस प्रकार पुरुष न्यायधीश होने चाहिएँ, वैसे स्त्रियों के न्याय करने के लिए स्त्रियाँ न्यायाधीश हों, यह वेदों के अनेक मन्त्रों में बताया गया है। उदाहरणार्थ—

ऋग्वेद २।२७।७ में निम्न मन्त्र आता है—

पिपर्तु नो अदिती राजपुत्रातिऽद्वेषांस्यर्यमा सुगेभिः।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य शर्मोप स्याम पुरुवीरा अरिष्टाः॥

(ऋ० २।२७।७)

अर्थात् जैसे न्यायाधीश न्यायालय में बैठकर पुरुषों को दण्ड देकर न्याय करे, वैसे न्यायाधीशा भी स्त्रियों का न्याय करें। राग–द्वेष और प्रीति–अप्रीति छोड़कर वे केवल न्याय ही करें।

वेदों में योग्या विदुषी स्त्रियों को न केवल अध्यापिका, उपदेशिका, सेनानायिका और न्यायाधीशा बनाने का आदेश है, अपितु मन्त्रों में उनका राज्यसिंहासन पर भी बैठाने का विधान है।

मूर्द्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा॥ २१॥
यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥ २२॥

(यजु० अ० १४)

इत्यादि उपर्युक्त मन्त्रों को हम स्त्रियों की स्थिति विषयक अध्याय में अर्थ सहित बता चुके हैं। इनमें स्पष्ट ध्रुवा, धरुणा, धरित्री धत्री, यन्त्री, यमनी आदि

स्त्रीलिंग वाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है जिससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि यह किसी सुयोग्या महिला का राज्याभिषेक करते हुए उसे कहा जा रहा है कि क्योंकि तुम अपने कर्त्तव्य के पालन में ध्रुवा-दृढा और प्रजा का अच्छी प्रकार धारण करनेवाली और दुष्टों का नियन्त्रण करनेवाली हो, इसलिए प्रजा के नर-नारियों की दीर्घायु, तेज, कृषि सब प्रकार के कल्याण, अन्न, पराक्रम, धन-सम्पत्ति और शरीरिक, मानसिक, आत्मिक सब प्रकार की पुष्टि के लिए तुम्हें राज्यसिंहासन पर बैठाया जा रहा है।

वेदों में राजदूतों का वर्णन

वेदों में राजदूतों (Ambassadors) का वर्णन भी अनेक मन्त्रों में आया है। उनमें उच्च कोटि की योग्यता पर बल दिया गया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद ३।६।५ में कहा है—

व्रता ते अग्ने महतो महानि तव क्रत्वा रोदसी आ ततन्थ।
त्वं दूतो अभवो जायमानस्त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाम्॥

(ऋ० ३।६।५)

हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन्! (महतः) महान् (ते) तेरे (महानि व्रता) बड़े-बड़े व्रत या शुभ कर्म नियम हैं। तू (तव क्रत्वा) अपने क्रिया और ज्ञान सामर्थ्य से (रोदसी) आकाश और भूमि तथा आकाश और भूमि के समान वर्तमान सब स्त्री-पुरुषों को (आततन्थ) विस्तृत व उन्नत कर रहा है। (त्वम्) तू (जायमानः) प्रसिद्ध होता हुआ (दूतः अभवः) दूत बना हुआ है। हे (वृषभ) सुखवर्षक शक्तिशालिन्! (चर्षणीनां नेता) तू मनुष्यों का नेता है।

इसका भावार्थ देते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

जैसे अग्नि के महान् गुण-कर्म-स्वभाव हैं, वैसे जिस मनुष्य के हों, वही राजदूत और मनुष्यों का नेता बन सकता है।

गुप्तचर विभाग

शासन में गुप्तचरों का भी एक अत्यावश्यक विभाग होता है जिसका 'स्पशः' के नाम से कई मन्त्रों में वर्णन मिलता हैं। यथा—

दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥

(अथर्व० ४।१६।४)

उपमा बल से यह गुप्तचर वर्णन बताता है कि गुप्तचरों को हजारों प्रकारों से सारी पृथिवी पर विचरण करना और सब की ठीक-ठीक अवस्था को जानकर, राजा को सूचित व सावधान करना चाहिए। अन्य भी जीवन विभाग, प्रकाश विभाग, वाहन विभागादि अनेक विभाग वेदों में वर्णित हैं जिनके आधार पर

कौटिल्य अर्थशास्त्र में १८ तीर्थों की गणना आचार्य ने की है। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने "Hindu Polity" नामक अपने उत्तम अंग्रेजी ग्रन्थ में तीर्थ शब्द से मन्त्रियों और विभागाध्यक्षों (Ministers and heads of Departments) का ग्रहण किया है।

प्रसिद्ध ऐतिहासिकों की वैदिक शासन पद्धति पर सम्मत्ति

डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने, जो हमारे देश के एक अत्यन्त प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हुए हैं। "Hindu Polity" व हिन्दू राज्यतन्त्र में वैदिक शासन प्रणाली के विषय में लिखा है—"सबसे बड़ी संस्था हमारे वैदिक काल के पूर्वजों की समिति थी। समिति का अर्थ है—सब का एक जगह मिलना या एकत्र होना। यह समिति जनसाधारण अथवा विशः की राष्ट्रीय सभा थी क्योंकि हमें पता चलता है कि सब लोगों का समूह अथवा समिति ही राजा का चुनाव करती थी।"

विर्शस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु॥ (ऋ० १०।१७३।१; अथर्व० ६।८७।१)

यह माना जाता था कि समिति में सभी लोग उपस्थित हैं। समिति का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य राजा का चुनाव होता था।

(हिन्दू राज्यतन्त्र ख० १, पृ० १२-१३, १४-१५)

कोल्हापुर के राजाराम कॉलेज के प्रिंसिपल, सुप्रख्यात इतिहासकार स्व० डॉ० बालकृष्णजी ने "वेदोक्त राज्य तथा प्राचीन भारत की राज्य प्रणाली" नामक पुस्तक में लिखा था कि—

अथर्व० ३।४।३ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि—

(१) राजा निर्वाचित होवें, (२) राज्य कार्य चलाने के लिए एक सुयोग्य राजा की आवश्यकता है, (३) राजा सर्वप्रिय होना चाहिए। (पृ० ११७)

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में प्राचीन इतिहास और संस्कृति विभाग के अध्यक्ष स्व० डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने भारतीय इतिहास की रूपरेखा में लिखा कि—

ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्र 'समानो मन्त्रः समितिः समानी' (ऋ० १०।१९१।३) में समिति का उल्लेख सामाजिक या विद्वत् मण्डली के रूप में किया गया जान पड़ता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर आदर्श राजा के अपनी समिति में जाने का उल्लेख किया गया है।

राजा न सत्यः समितीरियानः॥ (ऋ० ९।९२।६)

अथर्ववेद में एक पदच्युत राजा ने पुनः सिंहासनारुढ़ होने पर सब से बड़ी आकांक्षा यही प्रकट की कि मेरी समिति सदा मेरी ओर रहे।

ध्रुवाय॑ ते॒ समि॑तिः कल्पतामि॒ह॥ (अथर्व० ६।८८।३)

इसी प्रकार ब्राह्मण का धन अपहरण करनेवाले राजा को सब से बड़ा शाप यही दिया जाता था कि तुम्हारी समिति तुम्हारा साथ न दे।

नास्मै समितिः कल्पते॥ (अथर्व० ५।१९।१५)

इस प्रकार बड़े-बड़े ऐतिहासिक विद्वानों ने इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया है कि वेदों में जनतन्त्र शासन प्रणाली का प्रतिपक्ष है।

मि० जेम्स मिल जैसे भारतीय सभ्यता के कट्टर विरोधी को भी अपने इतिहास के ग्रन्थ में मानना पड़ा है कि—

"In examining the spirit of these ancient constitutions and laws, we discover evident traces of a germ of republicanism".

अर्थात् इन पुरानी पद्धतियों और नियमों की तह में काम करनेवाले भाव की जब हम परीक्षा करते हैं, तो हमें उनमें प्रजा सत्तात्मक शासन के कुछ स्पष्ट चिह्न दिखाई देते हैं।

यजुर्वेद अ० ३० में आदेश है कि—

ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं तान्महसे॥ (यजु० ३०।२०)

(महसे) बड़े कारोबार या राज्य प्रबन्ध के लिए (ग्रामण्यम्) ग्राम नायक (गणकम्) गणक, हिसाब किताब रखने में चतुर और (अभिक्रोशकम्) सब को बुलानेवाले (तान्) इन तीनों को नियुक्त करे।

ऋग्वेद १०।१०७।५ में ग्रामनायक के लिए दक्षिणादानशील होना आवश्यक बताते हुए कहा गया है कि—

दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति॥ (ऋ० १०।१०७।५)

दक्षिणा देकर विद्वानों का सत्कार करनेवाला और अच्छे कार्यों को बढ़ानेवाला (दक्षिणा दक्षतेः समर्द्धय कर्मणौ व्यृंद्ध समर्द्धयतीति-निरुक्त १।७) ग्राम नायक सब से आगे आता है। उसका सब आदर करते हैं और उसे प्रमुख स्थान देते हैं।

अथर्व० १९।३१।१२ में भी ग्रामीणी या ग्राम नायक के लिए सब को तेज और ऐश्वर्य से युक्त करने का उपदेश है।

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोऽभि मा सिञ्च वर्चसा।
तेजोऽसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि॥

(अथर्व० १९।३१।१२)

इन वैदिक आदेशों के अनुसार जो ग्रामों की अत्यन्त अनुकरणीय शासन पद्धति रही है, उसके विषय में सर चार्ल्स मेटकाफ ने (जो इस विषय के प्रामाणिक विद्वान् माने जाते हैं) लिखा है—

"The Village Communities are little Republics having nearly

everything they can want within themselves and almost independent of any foreign nation...."

"This Union of village communities, each one forming a seperate little state in itself, is in a high degree conducive to their (Hindus) happiness and to the enjoyment of a great portion of freedom and independence".

अर्थात् ग्रामीण पंचायतें छोटे प्रजासत्तात्मक राज्य हैं जिनके पास अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुएँ रहती हैं और वे विदेशीय शासन से प्रायः बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। यह ग्रामीण पंचायतों का समुदाय, जो अपने एक छोटी रियासत का रूप होता है, हिन्दुओं की प्रसन्नता का कारण है। साथ ही यह स्वतन्त्रता को बहुत अंश तक लानेवाला है।

विदेशी राज्य में (विशेषतः अंग्रेजों के शासन में) इन पंचायतों को नष्ट कर दिया गया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उन्हें पुनरुज्जीवित किया गया है, यह प्रसन्नता की बात है। ग्रामों में शिक्षा की अत्यन्त न्यूनता तथा पारस्परिक कलहों के कारण खेद है कि ये पंचायतें अपने उद्देश्यों को पूर्णरूप में प्राप्त करने में सफल नहीं हो रहीं।

वेदों में अनिवार्य शिक्षा का उपदेश

वेदों के अनेक मन्त्रों को अर्थ सहित उद्धृत करके हमने दिखाया है कि उनके अनुसार राजा का प्रजा द्वारा निर्वाचन होना चाहिए, उसे स्वेच्छाचारी न होकर सभा समिति आदि की अनुमति से कार्य करना चाहिए और इस प्रकार वेद प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति का प्रतिपादन करते हैं। १५ अगस्त १९४७ ई० में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् भारत ने भी अपने संविधान के अनुसार (२६ जनवरी, १९५० ई०) इस प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली को अपनाया है। प्रत्येक प्रौढ़ नर-नारी को (जिसकी आयु १८ वर्ष से अधिक है) मताधिकार दे दिया गया है किन्तु अशिक्षा के कारण वे राजनैतिक परिस्थिति और व्यक्तियों की योग्यता को समझने में असमर्थ रहते हैं, अतः अपने मताधिकार का सदुपयोग नहीं कर सकते। यह अवस्था शोचनीय है। हमारा देश शिक्षा में अभी वैदिक आदर्श से बहुत दूर है।

ऋग्वेद ६।५२।९; यजु० ३३।७७; साम० १५९५ में कहा है—

उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये। सुमृडीका भवन्तु नः॥

(ऋ० ६।५२।९; यजु० ३३।७७; साम० १५९५)

अर्थात् (ये नः सूनवः) जो हमारे पुत्र (अमृतस्य) नाश रहित विज्ञान की

(गिर:शृण्वन्तु) विद्यायुक्त वाणियों को सुनें, वही (सुमृडीका भवन्तु) उत्तम सुखदायी हों।

इसके भावार्थ में ऋषि दयानन्द ने, अनिवार्य शिक्षा का प्रतिपादन करते हुए कहा है—माता, पिता तथा अन्य पालक जनों को राजनीति और कुल में यह दृढ़ नियम बनाना चाहिए कि हमारी जो भी सन्तान हो, वह ब्रह्मचर्य द्वारा विद्या के ग्रहण के लिए ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण करे। जो इसका उल्लंघन करे, उसे राजा और कुलीन पुरुष बहुत दण्ड दें।

इसी वैदिक आदेश के अनुसार मनु महाराज ने अपनी स्मृति के अध्याय ७ श्लो० १५२ में लिखा है—

'कन्यानां सम्प्रदानं च, कुमाराणां च रक्षणम्' (मनु० ७।१५२) इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है—"उसका अभिप्राय यह है कि इसमें राजनियम और जाति नियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजें वह दण्डनीय हों।" (सत्यार्थप्रकाश, समु० ३)

प्राचीन आर्य भारत में वैदिक आदेश का पालन करने के कारण शिक्षित जनसंख्या १०० प्रतिशत थी। इसके कम–से–कम दो स्पष्ट प्रमाण प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होते हैं जिन पर हम गर्व कर सकते हैं। अयोध्या का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि रामायण में लिखते हैं—

कामी वा न कदर्यो वा, नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां, नाविद्वान् न च नास्तिकः॥

(बा० का० ९।८)

अर्थात् सारी अयोध्या में एक भी कामी, कृपण, और दुष्ट भ्रष्टाचारी, क्रूर, अविद्वान् और नास्तिक पुरुष न था।

यह भी स्मर्तव्य है कि यहाँ "ना विद्वान्" शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ है कि एक भी अविद्वान् न था। जो अपने नाम के हस्ताक्षर भी कर सके उसकी गणना भारत तथा अन्य देशों में शिक्षितों (Literates) में की जाती है। किन्तु यहाँ बताया गया है कि अयोध्या में एक भी अविद्वान् (केवल अपठित नहीं) न था।

अभी हमारे प्रिय भारत को इस वैदिक आदर्श तक पहुँचाने में न जाने कितने वर्ष लगेंगे और ब्रह्मचर्य पूर्वक शिक्षा का तो न जाने कब तक प्रचार होगा? सब समाज और राष्ट्र हितैषियों और शासनाधिकारियों को इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

प्राचीन भारत में यह उत्तम अवस्था इसलिए थी कि ब्राह्मण विद्या प्रचार के अपने कर्त्तव्य का नि:स्वार्थ भाव से पूर्णतया पालन करने में तत्पर रहते थे।

अध्याय सार और उपसंहार

इन अध्याय में वेदों के अनेक मन्त्रों को अर्थ सहित उद्धृत करते हुए हमने बताया है कि—

(१) वेदों में राजा अनुवांशिक वा स्वेच्छाचारी नहीं अपितु प्रजा द्वारा निर्वाचित योग्यतम व्यक्ति होना चाहिए। शासक को अपने कर्त्तव्यों को बड़ी उत्तमता से वहन करना चाहिए।

विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ (यजु० २०।९)

विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ (यजु० २०।८)

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥

(ऋ० १०।१७३।१)

इत्यादि वाक्य वैदिक शासन पद्धति के आधारभूत तत्त्वों के निरूपक हैं।

(२) वेदों में अनिवार्य शिक्षा का भी विधान है, जिससे शिक्षा प्राप्त करके सब अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों का ठीक पालन कर सकें।

(४) राजा के नियन्त्रण और शासन कार्य को ठीक चलाने के लिए वेदों में सभा, समिति, आमन्त्रण परिषद् आदि अनेक सभाओं और धर्मार्य सभा, राजार्य सभा, विद्यार्य सभा का विधान है।

(५) मन्त्रिमण्डल के निर्माण में शिक्षा, आरोग्य, शिल्प उद्योग, कृषि, सुरक्षा, महिलोन्नति इत्यादि अनेक विभागों का भी वेदों में विधान है।

अध्याय-२५

धर्म और राजनीति

धर्म और राजनीति का परस्पर क्या सम्बन्ध है? इनको एक दूसरे से सर्वथा अलग रखना चाहिए अथवा इनका समन्वय सम्भव है? यदि यह सम्भव है तो कैसे और कहाँ तक? क्या राजनीति में धर्म के प्रवेश से संकुचित मनोवृत्ति उत्पन्न नहीं हो जाती? क्या संविधान में भारत को सेक्युलर स्टेट घोषित करना उचित था? यदि हाँ, तो किस अर्थ में, धर्म विहीन राज्य, धर्म निरपेक्ष राज्य, अधार्मिक राज्य, असाम्प्रदायिक राज्य अथवा लौकिक राज्य? इस अध्याय में हम संक्षेप से इन मुद्दों पर विचार करेंगे।

वेद में धर्म और राजनीति दोनों का मूल

वेद धर्म का मूल है और धार्मिक विषयों में परम प्रमाण है। इस बात को हम ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, स्मृतिकारों और समस्त शास्त्रकारों के वचनों से उद्धरण देते हुए प्रथम अध्याय के भूमिका भाग में दिखा चुके हैं। अतः उनको फिर से दुहराने की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार वेद धर्म का मूल है, इसी प्रकार राजनीति का मूल उसमें पाया जाता है। सर्वोत्तम शासन पद्धति की समस्या विषयक अध्याय में हमने इस बात को सप्रमाण बताया है कि वेदों में राजा का चुनाव, उसके कर्त्तव्य, प्रजा और राजा का सम्बन्ध, मन्त्रिमण्डल का निर्माण इत्यादि विषयों में क्या निर्देश पाये जाते हैं। उनसे यह बात स्पष्टतया ज्ञात होती है कि वेदों में राजनीति का भी भली-भाँति प्रतिपादन किया गया है। वेद संकुचित अर्थों में धर्म ग्रन्थ नहीं है। उनमें जिस धर्म का प्रतिपादन है, वह सार्वभौम और सर्वांगीण है। उसका जीवन के प्रत्येक भाग के साथ सम्बन्ध है। मनु महाराज ने अपनी स्मृति में लिखा है—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च, सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥

(मनु० १२।९७)

सेनापत्यं च राज्यं च, दंडनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च, वेदशास्त्रविदर्हति॥

(मनु० २।१०)

अर्थात् चारों वर्णों और आश्रमों के पृथक्-पृथक् धर्म, तीन लोकों का तथा

भूत, भविष्यत्, वर्तमान का सारा ज्ञान वेदों से ही प्रसिद्ध होता है। जो वेदशास्त्र को जाननेवाला है, वही सेनापतित्व, राज्यशासन अथवा न्यायाधिपतित्व और छोटे-मोटे राज्य का शासन ही नहीं प्रत्युत सारे लोक का स्वामित्व भी ठीक तौर पर कर सकता है। यह कोई कपोल कल्पित अथवा अत्युक्ति पूर्ण बात नहीं, अपितु सर्वथा यथार्थ है।

वैदिक राजनीति धर्म मूलक

वेदों में बताया गया है—

सत्येनोत्तभिता भूमिः ॥ (ऋ० १०।८५।१)

अर्थात् भूमि का आधार सत्य पर है।

यो वै धर्मः सत्यं वैतत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुधर्मं वदतीति
धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति ॥ (शत० १४।४।२।२६)

शतपथ ब्राह्मण के इस वचनानुसार सत्य और धर्म पर्यायवाची है। अतः दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भूमि का आधार धर्म पर है। यह बात स्वयं भूमि सूक्त (अथर्व० १२।१।१) में कही गई है—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ॥
(अथर्व० १२।१।१)

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥
(अथर्व० १२।१।१७)

यहाँ सत्य, बृहत् विस्तृत ऋत अर्थात् वेद ज्ञान वा शिक्षा, उग्रता (क्षात्रबल) ब्रह्मचर्यादि दीक्षा, तप, ब्रह्म ज्ञान (धन वा अन्न) 'ब्रह्मेति अन्ननाम' (निघं० २।७), 'ब्रह्मेति धनंनाम' (निघं० २।१०) और यज्ञ इन धर्म के स्तम्भों को पृथिवी का धारक कहा गया है। पृथिवी के लिए "धर्मणा धृताम्" अर्थात् धर्म द्वारा धारित इस विशेषण का प्रयोग किया गया है।

इसी के अनुसार आर्य राजनीति शास्त्र के सब ग्रन्थों में राजनीति में धर्म को प्रधानता दी गयी है।

मनु महाराज ने राजा के धर्मों का प्रतिपादन करते हुए बताया है कि—

वर्णनामाश्रमाणां च, राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ (मनु० ७।३५)

अर्थात् राजा को वर्णों और आश्रमों का रक्षक बनाया गया है।

महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म पर्व अ० ९० में कहा है—

यस्मिन् धर्मो विराजेत्, तं राजानं प्रचक्षते।
यस्मिन् विलीयते धर्मः, तं देवा वृषलं विदुः ॥ १४ ॥

धर्मे वर्द्धति वर्धन्ति, सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन् ह सति हीयन्ते, तस्माद् धर्मं न लोपयेत्॥ १६ ॥
धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरत सत्तमः॥ २०॥

(म० भा० शान्तिपर्व अ० ९०)

अर्थात् जिसमें धर्म विराजमान हो, उसे राजा कहते हैं। जिसमें धर्म का लोप हो जाय, उसे ही वृषल वा नीच पापी कहते हैं। धर्म की वृद्धि होने पर ही सब प्राणियों की वृद्धि होती है और धर्म का ह्रास होने पर प्राणियों की अवनति होती है। अतः कभी धर्म का लोप न करना चाहिए। राजाओं के लिये धर्म ही सब से अधिक कल्याणकारक है। शान्तिपर्व अ० ९२। ६ में धर्मराज युधिष्ठिर को भीष्म पितामह ने उपदेश दिया है कि—

धर्ममेवानुवर्तस्व, न धर्माद् विद्यते परम।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम्॥

(शा०प० ९२। ६)

अर्थात् धर्म का ही सदा अनुसरण कर। धर्म से बड़ी कोई वस्तु नहीं। धर्म में स्थित राजा इस पृथिवी को जीत लेते हैं।

इसी बात को शुक्रनीति में शुक्राचार्य ने इस प्रकार कहा है—

प्रत्यंह देशदृष्टैश्च, शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
सभा क्षय कुलधर्माश्च, स्वधर्मे प्रतिपालयेत्॥
धर्मशास्त्राविरोधेन, ह्यर्थशास्त्रं विचारयन्।
स्वतन्त्रः साधयन्नेर्थान्, राजापि स्यान्नकिल्विषी॥
सर्वधर्मावनान्नीचं-नृपोऽपि श्रेष्ठतामियात्।
उत्तमोऽपि नृपो धर्म-नाशनान्नीचतामियन्तो॥

(शुक्रनीति सारे)

अर्थात् प्रतिदिन राजा को देश दृष्ट, वेदादिशास्त्र दृष्ट और कुल धर्मों को देखकर स्वधर्म का पालन करना चाहिए। धर्मशास्त्र के अविरोध से अर्थशास्त्र का विचार करना चाहिए। जो स्वतन्त्र रूप से, धर्मशास्त्र का विना विचार किये धन सम्पादन करता है, वह राजा भी पापी बनता है। नीच राजा भी धर्म की रक्षा से श्रेष्ठता को प्राप्त करता है और धर्म का नाश करने से उत्तम राजा भी नीच हो जाता है।

आचार्य चाणक्य के कौटिलीय अर्थशास्त्र और नीति सूत्रों में भी धर्म पर बड़ा बल दिया गया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के तृतीय अध्याय में कहा गया है कि—

तस्मात् स्वधर्मभूतानां, राजानव्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं सन्दधानो हि, प्रत्यचेह च नन्दति॥
व्यवस्थितार्यमर्यादिः, कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्याहि रक्षितो धर्मः, प्रसीदति न सीदति॥

(कौटिलीय अर्थशास्त्र विनया० अधिकरण ३।१६-१७)

अर्थात् राजा को चाहिए कि वह लोगों के स्वधर्म का विलोप न करे। जो स्वधर्म को मिलाता है, वह इस लोक में और परलोक में भी प्रसन्न रहता है। जिसने आर्य मर्यादा को व्यवस्थित किया है, जिसके कारणवश वर्ण और आश्रमों की स्थिति ऐसा यह धर्मत्रयी अर्थात् ज्ञान कर्म और भक्ति के प्रतिपादक वेदों द्वारा रक्षित है और जो उसका पालन करता है, वह सदा प्रसन्न रहता है। उसे कभी दुःख नहीं होता। अपने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नीतिसूत्रों में भी आचार्य चाणक्य ने बार-बार धर्म पर बल देते हुए कहा है—

सुखस्य मूलं धर्मः ॥ (१।२)

अर्थात् सुख का मूल धर्म है।

धर्मेण धार्यते लोकः ॥ (३।२३)

अर्थात् धर्म से ही लोक का धारण होता है।

धर्मेण जयति लोकान् ॥ (१।२७)

धर्म से मनुष्य लोकों को जीतता है।

सर्वेषां भूषणं धर्मः ॥ (चाणक्य नीति सूक्त ४।७९)

धर्म सब का भूषण है।

धर्म में वेद का कितना महत्त्व है, यह बताते हुए आचार्य चाणक्य ने कहा है कि—

न वेदबाह्यो धर्मः ॥ (चा०नी०सू० ५।२२)

वेद के विरुद्ध धर्म नहीं है।

न कदाचिदपि धर्मं निषेधयेत् ॥ (चा०नी०सू० ५।२३)

राजा को कभी धर्म का निषेध नहीं करना चाहिए-कभी धर्म के विरुद्ध आज्ञा प्रचारित नहीं करनी चाहिए। याज्ञवल्क्यस्मृति में (जिसका स्मृतियों वा धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति के पश्चात् दूसरा स्थान है) माना जाता है, राज्यसभा के सभासदों के विषय में लिखा है कि—

श्रुताध्ययनसम्पन्नाः, धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्याः, रिपौमित्रे च ये समाः॥

(याज्ञवल्क्य २।२)

राज्यसभा का सदस्य उन्हें बनाना चाहिए जो वेदाध्ययन से सम्पन्न और अतएव धर्म के ज्ञाता, सत्यवादी और शत्रुओं तथा मित्रों में समान न्यायबुद्धि से बर्तनेवाले हों।

बृहस्पति स्मृति में राजसभा के सदस्यों का कर्त्तव्य राजा को सदा धर्म में प्रवृत्त करना बताते हुए कहा है कि—

अधर्मतः प्रवृत्तं तु, नोपेक्षेरन् सभासदः।
उपेक्षमाणस्ते भूपं, नरकं यान्त्यधोमुखाः॥

(बृहस्पति स्मृ० १।९९)

न्यायमार्गादपेतं तु, ज्ञात्वा चित्तं महीयतेः।
वक्तव्यं त्वप्रियं तत्र, न सभ्यः किल्विषी ततः॥

(बृहस्पति स्मृ० १।१००)

सव्येन तावद् वक्तव्यं, धर्मार्थ सहितं वचः।
शृणोति यदि नो राजा, स्यात्तुसभ्यस्ततोऽनघः॥

(बृहस्पति स्मृ० १।१०१)

इन श्लोकों का भाव यह है कि यदि राजा अधर्म में प्रवृत्त हो रहा हो, तो राजसभा के सदस्यों को इसकी उपेक्षा न करनी चाहिए किन्तु जो सच्ची बात है वह सुनने में चाहे अप्रिय भी लगे, उसे कहना ही चाहिए। ऐसी अवस्था में इन सदस्यों को दोष नहीं लगता। जो सदस्य अपने इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करते, वे नरकगामी बनते हैं।

इस प्रकार इन श्लोकों द्वारा बृहस्पति स्मृति में भी राजा का धर्मानुसार चलना और राजसभा सदस्यों को उसे ऐसा करने में सहायता देना तथा अधर्म मार्ग से हटाना कर्त्तव्य बताया गया है। इस प्रकार धर्म का राजनीति से विशेष सम्बन्ध हमारे स्मृतिकारों ने स्पष्टतया स्वीकार किया है।

वशिष्ठ स्मृति में भी इस विषय में इसी आशय के वचन आते हैं। इस स्मृति के अ० १९ में राजधर्म का प्रतिपादन है। इनमें से निम्नलिखित वचन विशेष उल्लेखनीय हैं—

स्वधर्मो राज्ञः पालनं भूतानां, तस्यानुष्ठानात्सिद्धिः॥ १॥
ब्रह्मपुरोहितं राष्ट्रमृध्नोतीति॥ ४॥
राजा चतुरोवर्णान् स्वधर्मेस्थापयेत्॥ ५॥
तेष्वाचरत्सु दंडं धारयेत॥ ६॥
दंडस्तु देशकालधर्म वयोविद्यास्थानविशेषैः हिंसाकोशयोः।
कल्प्य आगनाव् दृष्टान्ताच्च॥ ७॥

नो राजानमृच्छति, उत्सृजन्तं सकिल्विषम्।
ते चेद् धातवतेराजा, हन्ति धर्मेण, दुष्कृतम्॥ ३१॥

(वशिष्ठ स्मृति अ० १९)

इन सूत्रों का तात्पर्य यह है कि प्राणियों का पालन राजा का अपना धर्म है। जिस राष्ट्र का सच्चा ब्राह्मण पुरोहित होता है, वह वृद्धि को प्राप्त होता है। राजा चारों वर्णों को अपने धर्म में स्थापित करे। जो पाप कर्म करे, उन्हें राजा न्यायानुसार उचित दण्ड दिलावे। जो राजा पापी को दण्ड नहीं देता वा दिलाता, वह पापी बनता है और उसे दण्ड देने-दिलाने से राजा को पाप नहीं लगता क्योंकि वह धर्म द्वारा पाप का नाश करता है।

यहाँ (ब्रह्मपुरोहितं राष्ट्रमृधोतीति) में जो बात कही गयी है, वह वेदों के निम्न मन्त्रों के अनुकूल हैं—

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः॥ (यजु० ९।२३) तथा
नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥
संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥

(अथर्व० ३।१९।३-१)

इन मन्त्रों में बताया गया है कि हम पुरोहित राष्ट्र में सदा जागरूक रहें—अपने कर्त्तव्यों का तत्परता और सतर्कता से पालन करते रहें तथा जिनका मैं पुरोहित हूँ, उनके ज्ञान, बल, वीर्य, क्षात्र भाव आदि की वृद्धि होती रहती है और ज्ञान के द्वारा अज्ञानादि तथा क्षात्र के द्वारा बाह्य शत्रुओं का नाश होता रहता है।

धर्म और राजनीति के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी के विचार—

महात्मा गाँधी के धर्म और राजनीति के सम्बन्ध-विषयक विचार निम्नलिखित कुछ वचनों से भली-भाँति ज्ञात हो सकते हैं—

१. धर्महीन राजनीति को एक फाँसी ही समझिये। वह आत्मा का नाश कर देती है।

२. धर्मरहित अर्थ त्याज्य है। धर्म रहित राज्य-सत्ता राक्षसी है।

३. मैं धर्म से भिन्न राजनीति की कल्पना नहीं कर सकता। वास्तव में धर्म तो हमारे हर एक काम में व्यापक होना चाहिए। यहाँ धर्म का अर्थ कट्टर पंथ से नहीं है, उसका अर्थ है—विश्व की एक नैतिक सुव्यवस्था।

४. समाज से धर्म को निकालकर फैंक देने का प्रयत्न बाँझ के घर पुत्र पैदा

करने जितना ही निष्फल है और अगर कहीं सफल हो जाय, तो समाज का उसमें नाश है।

५. चाहे धन, मान, कुटुम्ब और प्राणों तक का त्याग करना पड़े, पर धर्म को कदापि न छोड़ा जाय।

६. धर्महीन मनुष्य विना पतवार की नाव के समान है।

(गाँधीजी की सूक्तियाँ, पृ० ५९-६०)

इनसे स्पष्ट है कि महात्मा गाँधीजी धर्म और राजनीति को सर्वथा पृथक्-पृथक् न समझते थे प्रत्युत इन दोनों को साथ मिलाकर चलना सब के लिए श्रेयस्कर मानते थे। उन्होंने स्वराज्य का आदर्श रामराज्य को बनाया और उसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि रामराज्य वह है जिसमें जनता और जनसेवक (शासक या अधिकारी) दोनों धर्मयुक्त सदाचार सम्पन्न हों। स्त्रियाँ, माताएँ और बहनें समझी जाएँ और उनका मान आदर हो। ऊँच-नीच का भेदभाव दूर होकर, सब भाई-बहन की भावना से बर्ताव करें। (गाँधीजी की सूक्तियाँ)

राम राज्य का आदर्श

वह रामराज्य क्या था जिसको राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजी स्वराज्य के लिए अपना आदर्श बनाना चाहते थे। इसे दिखाने के लिए हम वाल्मीकि रामायण से निम्नलिखित कुछ श्लोकों को उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी के राज्य का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने बताया है कि—

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः।
निरामयो ह्यरोगश्च, दुर्भिक्षभयवर्जितः॥

(वा० राम० बा० कां० १।९०)

तस्मिन्पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः, स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥

(वा० राम० बा० कां० ६।६)

सर्वे नराश्च नार्यश्च, धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां, महर्षय इवामलाः॥

(वा० राम० बा० कां० ६।९)

नास्तिको नानृती वापि, न कश्चिदबहुश्रुतः।
नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्॥

(वा० राम० बा० कां० ६।१४)

शुचीनामेकबुद्धीनां, सर्वेषां संप्रजानताम्।
नासीत् पुरे वा राष्ट्रे वा, मृषावादी नरः क्वचित्॥
(वा० राम० बा० कां० १।७।१४)

क्वचिन्न दुष्टस्तत्रासीत्परदाररतिर्नरः।
प्रसान्तं सर्वमेवासीद्राष्ट्रं पुरवरं च तत्॥
(वा० राम० बा० कां० १।७।१५)

इन श्लोकों का तात्पर्य यह है कि श्री रामचन्द्रजी के राज्य में सब लोग अत्यन्त प्रसन्न, आनन्दित, पुष्ट, सन्तुष्ट, अत्यन्त धार्मिक, नीरोग और शोक रहित थे। सब अपने–अपने धनों से सन्तुष्ट, लोभ रहित और सत्यवादी थे। सब के सब नर–नारी धर्मशील, अत्यन्त संयमी, उत्तम स्वभाव और सदाचार से प्रसन्न और महर्षियों की तरह सर्वथा पवित्र थे। कोई नास्तिक न था। कोई असत्य बोलनेवाला न था। कोई ऐसा न था जिसने बहुत से शास्त्रों का श्रवण न किया हुआ हो। कोई दूसरों से ईर्ष्या करनेवाला, निर्बल न था। एक भी व्यक्ति उस राज्य में कहीं अविद्वान् नहीं था। कहीं कोई दुष्ट और परस्त्रीगामी वा व्यभिचारी न था। अयोध्या नगर और सारा राष्ट्र ही अत्यन्त शान्त था। उसमें कहीं कोई उपद्रव न था। सब लोग पवित्र थे, एकबुद्धि थे। अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त करके विरोध रहित बुद्धि से काम करनेवाले थे और कोई असत्यवादी न था।

इस अत्यन्त उत्तम नैतिक और सामाजिक अवस्था का प्रधान कारण क्या था, यह बताने के लिए महर्षि बाल्मीकि ने कहा है कि—

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद्वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः॥
(वा० रा० बा० कां० ६।१९)

अर्थात् क्षत्रियों के मुख मानो ब्राह्मण थे। क्षत्रिय ब्राह्मणों की आज्ञानुसार काम करनेवाले थे। क्षत्रियों के पीछे–पीछे वैश्य अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे। शूद्र भी तीनों वर्णों की सेवा करके अपने कर्त्तव्य में तत्पर थे। इस प्रकार स्वयं महर्षि बाल्मीकि के ही वचनों से वैदिक वर्णाश्रम प्रचलित होने के कारण अयोध्या तथा सम्पूर्ण राष्ट्र की इतनी उच्च अवस्था थी, यह स्पष्टतया सिद्ध होता है। वसिष्ठ जैसे स्वार्थ रहित महर्षि जब प्रधान मन्त्री (Prime Minister) का काम करते हों, उन जैसे सच्चे ब्राह्मणों के हाथों में जब न्याय करने के तथा विधि (कानून) बनाने के अधिकार हों, तो क्यों न देश की ऐसी उन्नत अवस्था होवे। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि रामराज्य धर्ममूलक था। उसमें धर्म की प्रधानता थी। इसीलिए नर–नारियों के लिए **धर्मशीलाः सुधार्मिकाः**, इत्यादि विशेषणों का प्रयोग

किया गया है और उनके लिये वर्णव्यवस्था के अनुसार वर्ण धर्मों के प्रेमपूर्वक पालन का वर्णन किया गया है। महात्मा गाँधी ने रामराज्य को अपने स्वराज्य का आदर्श बताया था, किन्तु भारत के संविधान में पं० जवाहरलाल नेहरू के प्रधान मन्त्रित्व में अन्य भारतीय नेताओं तथा प्रतिनिधियों ने भारत के "सैक्युलर स्टेट" होने की घोषणा की जिसके अर्थों पर हम इस प्रकरण में विचार करेंगे।

सैक्युलर (Secular) और Secular State (सैक्युलर स्टेट) के अर्थ—

अंग्रेजी के Secular शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न शब्दकोशों में भिन्न-भिन्न है। सुप्रसिद्ध Oxford Dictionary में Secular के अर्थ दिये हैं—

अर्थात् सैक्युलर का अर्थ इस वर्तमान जगत् से सम्बन्ध रखनेवाला, आध्यात्मिक वस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाला नहीं, सांसारिक, ऐहलौकिक—

Secularism-The principles of Secularists which are founded on an exclusive regard to the interests of this life. सैक्युलरिज्म का अर्थ है सैक्युलरिस्ट्स (ऐहलौकिकवादियों) के सिद्धान्त जिसका आधार केवल इस जीवन के हित के साथ हो।

रेवरेण्ड बल्क (Bulcke S.V) की Technical English-Hindi Glossary के अनुसार Secular का अनुवाद ऐहिक, लौकिक, दुनियावी, सांसारिक, धर्म निरपेक्ष, असाम्प्रदायिक है तथा Secular State का अनुवाद धर्म निरपेक्ष राज्य Secularism का अनुवाद धर्म निरपेक्षवाद है। भार्गव की Anglo-Hindi Standard Dictionary में इन शब्दों के अर्थ—

Secular : Worldly, Temporal... लौकिक

Secularism : ... ... व्यावहारिक

Secularist : One who disbelieves in traditional theology प्रपञ्ची मनुष्य

Secularity : Worldliness. ... व्यावहारिकता

Little Star Dictionary (Edited by T. Thomas & A. Keley,) में Secular-Free from religious bond अथवा धार्मिक बन्धनों से स्वतन्त्र।

Desk Companion-English Dictionary में Secular का अर्थ Temporal, Worldly. अर्थात् अनाध्यात्मिक, लौकिक दिया है।

स्वामी श्री कृष्णानन्दजी सरस्वती ने अपनी विचारोत्तेजक पुस्तक में Secular शब्द के विषय में लिखा है—

"Secularism signifies a doctrine or system that rejects all belief in God, Religion and future life. It took up an attitude of opposition to all religions in England. In it, the basis of morality is nonreligious and it

upholds the policy of excluding religious teaching from schools under state control. Hence the historical background of the term "secular" smacks of direct opposition to religion. If we ignore all these historical implications of the term, even then Secular may mean simply worldly, temporal, profane, lay; at any rate not distinctively sacred, religious or spirtual", (even if not directly opposed to religion and spirituality.)

अर्थात् सैक्युलरिज्म एक ऐसे सिद्धान्त को सूचित करता है जो ईश्वर, धर्म और पुनर्जन्म में विश्वास से इन्कार करता है। इंग्लैंड में सैक्युलरिज्म ने सब धर्मों के विरोध की मनोवृत्ति अपनाई थी। इसमें सदाचार का आधार धर्म निरपेक्ष है। और यह राज्य के नियन्त्रण में विद्यमान सब विद्यालयों से धर्मशिक्षा के बहिष्कार की नीति का समर्थन करता है। इसलिए इस सैक्युलर शब्द की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि धर्म के प्रति विरोध की भावना को द्योतित करती है। यदि हम इस शब्द के इन सब ऐतिहासिक निहितार्थों वा तात्पर्यों की उपेक्षा भी कर दें, तो भी सैक्युलर शब्द का अर्थ केवल लौकिक, ऐहिक, सांसारिक, धर्म विहीन, यही हो सकता है। किसी भी अवस्था में यदि धर्म और आध्यात्मिकता के प्रत्यक्ष रूप से विरुद्ध नहीं, तो विशिष्टतया पवित्र, धार्मिक और आध्यात्मिक नहीं, यह भाव इस शब्द से सूचित होता है।

सेक्युलर स्टेट का महत्त्व (Significiance of secular state) इस शीर्षक के नीचे मनीषी स्वामी कृष्णानन्दजी सरस्वती ने इसी पुस्तक में लिखा—

"Thus we may call a state secular when (1) it aims at secular i.e. worldly objects, physical needs, comforts and luxuries such as food, clothing, housing etc. or intellectual embellishments and (2) When it is based on secular judgment alone and takes no cognizance of the higher message or verdicts of saints, which often go by the name of spirituality or religion, however fundamental and non-controversial a character they may have. Does not all this proclaim that our concept of State or Politics is purely materialistic?" (Ibid. P. 95)

तात्पर्य यह कि हम एक राज्य को सैक्युलर कह सकते हैं जब (१) उसका उद्देश्य सांसारिक पदार्थों, भौतिक आवश्यकताओं, आराम और विलास सामग्री उदाहरणार्थ भोजन, वस्त्र और गृह तथा बौद्धिक परिष्कृति को प्राप्त कराना हो और जब (२) यह ऐहलौकिक निर्णय पर ही आधारित हो और उच्चतर सन्देशों अथवा साधु सन्तों के अभिनिर्णयों की (जिनको प्राय: धर्म वा आध्यात्मिकता के नाम से पुकारा जाता है), उनकी कोई अवेक्षा न करे, चाहे वे कितने भी मौलिक

और असन्दिग्ध हों।

क्या इससे यह घोषित नहीं होता कि हमारी राष्ट्र या राजनीति की कल्पना विशुद्ध रूप से भौतिकवादी है। सैक्युलर स्टेट की घोषणा की तीव्र आलोचना करते हुए उन्होंने अन्त में लिखा था—

"Do we not thus believe the spiritual heritage of India by giving the impious appellation of secular state to our Mother India? Is it worthy of a son to thus revile his mother".

(Secular State and Rama Rajya, P. 96)

अर्थात् क्या भारत माता को सैक्युलर स्टेट का अपवित्र नाम देकर हम भारत के आध्यात्मिक दाय वा पैतृक सम्पत्ति को असत्य सिद्ध नहीं कर रहे ? क्या यह एक पुत्र के लिए उचित कार्य है कि वह अपनी माता को गाली दे ?

स्वामी कृष्णानन्दजी का सुझाव था कि "सेक्युलर स्टेट" के स्थान पर रामराज्य या इसके साथ मिलता-जुलता नाम (जिससे सार्वभौम सदाचार नीति और आध्यात्मिकता के साथ इस राष्ट्र का सम्बन्ध स्पष्टतया सूचित हो,) रख देना चाहिए।

हमें बड़ी भारी प्रसन्नता होती यदि इस राष्ट्र को सैक्युलर स्टेट के स्थान पर रामराज्य के नाम से घोषित कर दिया जाता। इससे शासनाधिकारियों के सम्मुख एक उच्च आदर्श सदा जागृत रहता और धर्ममूलक राजनीति को अपनाना वे अपना विशेष कर्त्तव्य समझते। महात्मा गाँधीजी की भावना और प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के भी यह अनुकूल होता है। किन्तु भारतीय संविधान की घोषणा के वर्षों पश्चात् भी यह व्यवहार्य नहीं प्रतीत होता। अब जो सम्भव है, वह यह है कि सैक्युलर स्टेट के स्थान पर भारतीय समस्त भाषाओं में असाम्प्रदायिक राज्य का प्रयोग करें न कि अधार्मिक, धर्म विहीन, धर्म निरपेक्ष आदि शब्दों का। यह घोषणा कर दी जाय कि भारत राष्ट्र असाम्प्रदायिक है अर्थात् इसमें किसी सम्प्रदाय के साथ पक्षपात वा अन्याय न होगा, योग्यता के आधार पर इसमें प्रत्येक व्यक्ति को (चाहे वह किसी भी मत वा सम्प्रदाय को माननेवाला हो) उच्चतम पद प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होगा, किन्तु इसका अर्थ धर्म विरोधी होना और धर्म की उपेक्षा करना नहीं है। सार्वभौम धर्ममूलक राजनीति और सदाचार नीति का अनुसरण किया जाय और विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में भी असाम्प्रदायिक सार्वभौम परस्पर प्रीति भाव वर्धक विश्वबन्धुत्व प्रचारक धर्म की शिक्षा दी जाय। ऐसी स्पष्ट और प्रामाणिक घोषणा के विना महान् अनर्थ की सम्भावना ही नहीं, वह सुनिश्चित है। सैक्युलर स्टेट-यह शब्द इतना विभिन्न और अस्पष्टार्थक है कि इसकी आड़ में अधार्मिकता और नैतिक पतन की वृद्धि हो

रही है। (जैसा कि पहले लिखा जा चुका है) मनु महाराज ने अपनी स्मृति में धर्म के निम्न लक्षण लिखे हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनु०)

धैर्य, क्षमा, मन को वश में रखना, चोरी को किसी भी रूप में न करना, सब प्रकार की पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि की वृद्धि, विद्या का प्रसार, सत्य का मन, वचन, कर्म से पालन, क्रोध न करना—इन दस धर्म लक्षणों के विना राष्ट्र की उन्नति नहीं हो सकती है। अथवा वेदों में पूर्वोद्धृत—

स॒त्यं बृ॒हदृ॒तमु॒ग्रं दी॒क्षा तपो॒ ब्रह्म॑ य॒ज्ञः पृ॑थि॒वीं धा॑रयन्ति॥
(अथर्व० १२।१।१)

इत्यादि मन्त्रों के अनुसार यह प्रतिपादित किया गया है कि सत्य, विस्तृत ज्ञान वा शिक्षा, क्षात्रबल वा शक्ति सम्पादन, ब्रह्मचर्यादि की दीक्षा, सुख–दुःख, हानि–लाभ, जय–पराजय, शोक–हर्ष, निन्दा–स्तुति, मान–अपमान इत्यादि द्वन्द्वों की सहिष्णुता और समता और ब्रह्म ज्ञान–इन धर्म के ६ स्तम्भों के विना किसी भी राष्ट्र का कल्याण नहीं हो सकता। अतः इनके आधार पर राज्य का संचालन करना आवश्यक है। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिख इत्यादि मत व सम्प्रदायमूलक राज्य बनने से राष्ट्रवासियों के परस्पर कलह होते रहेंगे और सब के साथ न्याय न होगा। पक्षपात का प्राबल्य रहेगा जैसे कि पाकिस्तान के मुस्लिम राज्य घोषित करने का परिणाम हिन्दुओं के लिए अत्यन्त भयंकर हुआ। अतः हम इसके पक्ष में नहीं हैं। किन्तु वैदिक धर्म के तत्त्व तो सार्वभौम, उदार, विश्वबन्धुत्व तथा मनुष्य मात्र के भ्रातृभाव के प्रचारक तथा असाम्प्रदायिक हैं (जैसे कि अनेक उद्धरण देकर हमने इस ग्रन्थ के अनेक अध्यायों में दिखाया है)। उनके आधार पर राज्य सञ्चालन करना सर्वथा उचित है। अंग्रेजी में भी विभिन्नार्थक अतएव सन्देह जनक Secular State शब्द के स्थान पर Non-sectarian State या Welfare State (अथवा असाम्प्रदायिक राज्य या कल्याण राज्य) शब्द का प्रयोग किया जाय तो अधिक अच्छा हो। इससे ईश्वरवाद और धर्मादि विरोधी अथवा धर्म विषय में सर्वथा उदासीन होने का किसी को भ्रम न हो सकेगा। Secular का धर्म विहीन राज्य–यह भाव समझना अत्यन्त हानिकारक तथा दुराचार, भ्रष्टाचार आदि की वृद्धि में सहायक होगा। शिक्षा में धर्मशिक्षा की उपेक्षा का परिणाम छात्रवर्ग और युवक–युवतियों में अनुशासनहीनता और घोर नैतिक पतन हो रहा है। अतः राज्य को साम्प्रदायिक पक्षपात से रहित रखते हुए भी धर्म पर बल देने की नितान्त आवश्यकता का अब सभी देशहितैषियों को होने लगा है। यदि अविलम्ब इस ओर ध्यान न दिया गया तो इस प्राचीन राजनैतिक आदर्श की अवहेलना का भयंकर परिणाम बढ़ता ही जाएगा।

दया से रहित धर्म पाखण्ड है।

हमारी धारणा है कि राजनीति का आधार भी धर्म होना चाहिए पर वह धर्म सार्वभौम, उदार, असाम्प्रदायिक हो। हिन्दू, इस्लाम, ईसाइयत इत्यादि मतों के आधार पर राज्यशासन को चलाना अवाञ्छनीय और हानिकारक है। इससे अनेक प्रकार के पारस्परिक कलह और उत्पात होने की सम्भावना है। जिस राजनीति में असत्य, छल–कपट आदि का विशेष आश्रय लिया जाता है, वह धर्म के प्रतिकूल हो जाती है।

अध्याय सार और उपसंहार

१. धर्म और राजनीति का परस्पर विरोध नहीं। राजनीति धर्ममूलक होनी चाहिए। वेदों, स्मृतियों, महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र इत्यादि सब में राजनीति का आधार धर्म को बतलाया गया है।

२. महात्मा गाँधीजी का भी ऐसा ही विश्वास था।

३. भारत के संविधान में प्रयुक्त सैक्युलर स्टेट् शब्द अस्पष्ट तथा भ्रमजनक है। उसका अर्थ **धर्म विहीन** वा **धर्म निरपेक्ष** नहीं, अपितु असाम्प्रदायिक है। यह अधिकृत रूप से स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

अध्याय-२६

इच्छा स्वातन्त्र्य व नियतिवाद

जो दार्शनिक समस्याएँ हमारे सामने उपस्थित होती हैं, इच्छा की स्वतन्त्रता और नियतिवाद की समस्या उनमें से प्रमुख है।

वेदों में जीवात्मा को अजर और अमर माना गया है जो निम्नलिखित मन्त्रों से जिनको पहले उद्धृत किया जा चुका है, स्पष्ट है।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

(ऋ० १।१६४।३१)

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥

(अथर्व० ९।१०।८)

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३ वर्धमानः॥

(ऋ० ६।९।४)

इन मन्त्रों से आत्मा के स्वरूप का ठीक ज्ञान हो सकता है। ज्ञान को ग्रहण करनेवाला, विषयों का भोग करनेवाला और इन्द्रिय मन आदि को शक्ति देनेवाला यह जीवात्मा है। यद्यपि यह शरीर के अन्दर निवास करता और उसके साथ बढ़ता प्रतीत होता है पर यह अजर-अमर है। इसका कभी नाश नहीं होता। यह तो केवल चोला बदल लेता है।

आत्मा अविनाशी अमर है। दर्शनशास्त्रकारों ने—

दर्शन स्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्॥ (न्याय० ३।१।१)

तद् व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः॥ (न्याय० ३।१)

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः॥ (न्याय० ३।१।१४)

असत्यात्मा नास्तित्व साधनाभावात्॥ (सांख्य ३।३)

देहा दिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात्-षष्ठी व्यपदेशादपि॥

(सांख्य ३।३)

इत्यादि सूत्रों के द्वारा आत्मा के नित्यत्व और देह व्यतिरिक्त्व, चेतनत्व की सिद्धि की है। इन युक्तियों का सारांश यह है कि जिस वस्तु को आँखों से देखा हो,

उसको स्पर्शेन्द्रिय अथवा त्वचा से स्पर्श करके कहते हैं कि जिसको मैंने आँखों से देखा था उसी का त्वचा से स्पर्श किया। इससे विदित होता है कि इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाला आत्मा है, यदि न होता तो आँख ने रूप देखा और स्पर्शेन्द्रिय ने स्पर्श किया, फिर किस प्रकार कहा जाता है कि जिसको मैंने देखा उसको स्पर्श करता हूँ। इस पर शंका हो सकती है कि न 'विषयव्यवस्थानात्', अर्थात् शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं क्योंकि विषय नियत हो चुके हैं। जैसे आँखों के होने से हम देखते हैं और न होने से नहीं देखते। कान के होने से हम सुनते हैं और कान न होने से नहीं सुनते। रसना वा जिह्वा के होने से हम रस लेते हैं और रसना के न होने से रस नहीं ले सकते। इसी प्रकार शेष इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय को ग्रहण करती है। इस दशा में जब इन्द्रियों के ठीक और शुद्ध होने से विषय का ग्रहण होता है और नहीं होने से नहीं होता, फिर एक चेतन आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर ऊपर उद्धृत मन्त्र में है—

तद् व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः। (न्याय० ३।१।३)

अर्थात् यदि एक इन्द्रिय सम्पूर्ण विषयों का ग्रहण करनेवाली होती तो इस दशा में चेतन आत्मा की आवश्यकता न होती। परन्तु जब एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रियों के विषय का अनुभव नहीं करती, तो किस प्रकार उसके ज्ञान का दूसरे को बोध हो सकता है ? इसलिए सम्पूर्ण विषयों के ग्रहण करनेवाला आत्मा अवश्य है। इन्द्रियों का अपने नियत विषय को छोड़कर दूसरे का काम न करना ही इसका प्रमाण है। स्मृति इन्द्रिय का विषय है या आत्मा का ? यदि कहा जाय इन्द्रिय का तो किस इन्द्रिय का ? इसका उत्तर गौतम मुनि ने दिया है—

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः॥ (न्याय० ३।१।१४)

अर्थात् स्मृति आत्मा का गुण है क्योंकि दूसरे के अनुभव का दूसरे को ज्ञान वा स्मृति नहीं होती और इन्द्रियों के चेतन मानने से बहुत से चेतन मानने पड़ेंगे जिससे विषय की व्यवस्था न होगी। इस कारण एक ही चेतन है जो बहुतों को देखता है और वही पूर्व देखे हुए अर्थ का स्मरण करता है। इत्यादि।

अब प्रश्न यह है कि आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने पर भी उसको स्वतन्त्र माना जाय वा परतन्त्र ?

वेदों में जीव के लिए प्रयुक्त ''होता तुरगातु'' आदि शब्दों से स्पष्ट है कि उनके अनुसार आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। वही ज्ञान को ग्रहण करनेवाला और भोक्ता तथा शीघ्र कर्मकारी है किन्तु साथ ही ''जीवोमृतस्य चरति स्वधाभिः स सध्रीचीः स विषूचीवसानः''। इन शब्दों से यह भी ज्ञात होता है कि उसे अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार अनुकूल प्रतिकूल अनेक प्रकार की योनियों में जाना पड़ता है। इसका तात्पर्य हुआ कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु फल भोगने में वह परतन्त्र है। कर्मफल देनेवाला न्यायकारी सर्वज्ञ परमात्मा है जिसकी व्यवस्था

से उसे फल भोगना पड़ता है। इस कर्मफल विषयक नियम का वेद में इन शब्दों में स्पष्ट प्रतिपादन है—

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममममान एति।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत्पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति॥

(अथर्व० १२।३।४८)

(अत्र) इसमें, (कर्मफल के विषय में) (किल्विषं न) कोई त्रुटि कभी नहीं होती और (न आधारः अस्ति) न किसी की अनुशंसा वा सिफारिश चलती है (न यत्) यह बात भी नहीं है। (मित्रैः समम् अममान एति) मित्रों के साथ संगति करता हुआ जा सकता है। (नः एतत् पात्रम्) हमारा यह कर्मरूपी (अनूनं निहितम्) पूर्ण है, विना किसी घटा बढ़ी के सुरक्षित रखा है (पक्तारम्) पकानेवाले को, कर्मकर्ता को (पक्वः) पकाया हुआ पदार्थ कर्मफल (पुनः) फिर (आविशति) आ मिलता है, प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—

१. कर्मफल में कमी नहीं हो सकती। मनुष्य जैसा करेगा, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ेगा।

२. कर्मफल के विषय में किसी की सिफारिश नहीं चलती।

३. मित्रों का पल्ला पकड़कर भी कोई कर्मफल से नहीं बच सकता।

४. किसी भी कारण से हमारे कर्मफल पात्र में कोई कमी नहीं हो सकती। यह भरा हुआ और सुरक्षित रखा रहता है।

५. कर्म कर्ता जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल उसे प्राप्त हो जाता है। यदि संसार से त्राण पाने की इच्छा है, तो मनुष्य को सदा शुभ कर्म ही करने चाहिए।

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र पर फल भोगने में परतन्त्र है।

इसका अर्थ यह है कि किसी काम के करने में जीव को पूर्ण अधिकार है कि वह उसे करे न करे अथवा उल्टा करे। मैं बोलूँ या न बोलूँ अथवा अपशब्द बोलूँ। इन तीनों बातों का मुझे अधिकार है, परन्तु जब बोल चुका, तो काम हो चुका। परिस्थिति मेरे हाथ से निकल गयी। उसका परिणाम मुझे भोगना ही पड़ेगा। यदि मुझे कोई बात कहनी चाहिए थी और मैं समय आने पर चुप रहा, तो मुझे उसकी हानि सहनी ही पड़ेगी। यदि मैं झूठ बोला या किसी को गाली दे दी तो उसका भी दुष्परिणाम भोगने में मैं परतन्त्र हूँ। काम की पूर्ति के पहले तो मेरा अधिकार था। परन्तु जब जगत् के व्यवस्थापक के हाथ में चला गया, तब मैं सर्वथा परतन्त्र हूँ। भगवद्गीता २।४७ में इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्माते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

अर्थात् मनुष्य का कर्म करने का अधिकार है। कर्म ज्यों ही समाप्त हुआ, उसका फल कर्म करनेवाले के हाथ से निकल ईश्वर की व्यवस्था का अंग बन जाता है। आपको अधिकार है कि आप आम बोवें या जामुन। परन्तु जब बो चुके, तो जगत् नियन्ता की व्यवस्थानुसार आम के बीज से आम के ही अंकुर, आम के ही पत्ते और आम के ही फूल और फल निकलेंगे, जामुन के नहीं। आप तो काम करने के पश्चात् ही परतन्त्र हो जाते हैं। अतः आपको चिन्ता उसी समय तक करनी चाहिए जब तक काम समाप्त नहीं हुआ। उसके पश्चात् कर्मफल की चिन्ता व्यर्थ है। आम का बीज बोकर जामुन के पत्तों की इच्छा निरर्थक है। इसलिए न तो कर्म त्याग से काम चलता है और न कर्म के पश्चात् फल की चिन्ता से। कर्त्तव्य का न करना भी बुरा है और विपरीत करना भी।

इस पर प्रश्न हो सकता है कि क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है? जगत् के बनानेवाले परमेश्वर ने मनुष्य को परिस्थितियों से इतना जकड़ दिया है कि उनके विरुद्ध मनुष्य कुछ कर ही नहीं सकता। अतः मनुष्य को स्वतन्त्र कहना मिथ्या है। हम को व्यर्थ ही स्वतन्त्र कहकर हमारे कर्मों के लिए दण्ड दिया जाता है। हम देव के हाथ की कठपुतली है। वह जैसे चाहे नाच नचावे। इसका उत्तर स्पष्ट है। आप अपने जीवन पर थोड़ा–सा विचार कीजिये। क्या कभी आपके हृदय में यह प्रश्न उठता है कि मैं अमुक काम करूँ या न करूँ? और क्या आप परिणामों पर विचार करके यह निश्चय नहीं करते कि मैं ऐसा करूँगा, ऐसा नहीं करूँगा क्योंकि ऐसा करने से मुझे हानि उठानी पड़ेगी। यदि आप ऐसा करते हैं, तो इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप कर्म करने में स्वतन्त्र हैं। आपके सामने एक नहीं, अनेक मार्ग हैं, उनमें से खूब विचार कर आप एक ही मार्ग को ग्रहण करते और अन्यों का परित्याग कर देते हैं। इस पर भी शंका उठती है कि इस प्रकार स्वतन्त्रता और परतन्त्रता, दोनों को क्यों माना जाय? क्यों न यह माना जाय कि संसार की समस्त चीजें किसी नियन्ता के वश में हैं। उसकी आज्ञा के विना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता और वही हमें जैसा चाहता है, चलाता है अथवा यह माना जाय कि हम कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। दो परस्पर विरोधी बातें कैसे ठीक हो सकती है।

इस शंका के उत्तर में निवेदन है कि जीव की कर्म करने में स्वतन्त्रता और फल भोगने में परतन्त्रता, ये दो परस्पर विरुद्ध बातें नहीं। उनके समझने में आपकी भूल है। भिन्नता और विरोध के अर्थों में भेद है। पीलापन और लाली परस्पर विरुद्ध नहीं, परन्तु अन्धकार और प्रकाश परस्पर विरुद्ध है। जहाँ प्रकाश होगा, वहाँ अन्धकार न होगा। इसी प्रकार जीव की स्वतन्त्रता की सीमा है और ईश्वर के नियन्त्रण की भी सीमाएँ है। थोड़ा विचार कीजिए। आप बोलते हैं, आपकी जीभ आपके आधीन है। आप उस जीभ से शुभ और अशुभ दोनों बोल सकते हैं।

ईश्वर का जीभ पर इतना नियन्त्रण है कि आप उससे स्वतन्त्रतापूर्वक काम ले सकें। जीभ पर आपका तो कोई नियन्त्रण नहीं। आपने इसे बनाया नहीं फिर भी वह आपकी जीभ है। आप उसका अपनी इच्छा के अनुसार प्रयोग कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि आप किसी सीमा तक ईश्वर के नियन्त्रण में हैं। और किसी सीमा तक स्वतन्त्र हैं। यह स्वतन्त्रता आपकी अपनी अनुभूति है, यह केवल कल्पना नहीं। उदाहरणार्थ एक नदी है। उस पर एक पुल बँधा हुआ है। उस पुल के दोनों ओर आदमी के कद के बराबर बाड़ लगी हुई है। आप चलने में स्वतन्त्र भी हैं परतन्त्र भी। उन बाड़ों के बीच आप प्रसन्नता से चल सकते हैं, दौड़ भी सकते हैं परन्तु बाड़ों को पार नहीं कर सकते। जिसने पुल बनाया उसने आपको एक सीमा तक स्वतन्त्रता दी। उसके बाहर परतन्त्र कर दिया। यह सब आपके हित को ध्यान में रखकर किया गया। इसी प्रकार जगन्नियन्ता परमेश्वर ने भी ऐसी व्यवस्था कर दी कि आपके स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनों की सीमा बनी रहे। यह उस जगन्नियन्ता की बुद्धिमत्ता और आपके कल्याण का सूचक है। आप सर्वथा परतन्त्र होते तो आपका विकास न होता। आपको अपनी बुद्धि के प्रयोग का अवसर ही न मिलता। यदि आप सर्वथा स्वतन्त्र होते तो आप बुरा काम करके भी अच्छा फल चाहते। दूसरी बात यह है कि जीव एक नहीं है। सब को पूर्ण स्वतन्त्रता देना कल्पना मात्र है। एक की स्वतन्त्रता दूसरे की परतन्त्रता का कारण बन जाती है। सड़क पर यदि सभी यात्री पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर लें और उसका अपनी इच्छानुसार प्रयोग करने लगें, तो एक गाड़ी दूसरी गाड़ी से टकरा जाय। अतः स्वतन्त्रता की सीमा भी होती है।

एक और उदाहरण लीजिए। परीक्षार्थी परीक्षा भवन में बैठा हुआ है। प्रश्न पत्र और उत्तर पुस्तक उसके हाथ में है। वह स्वतन्त्र है कि किसी प्रश्न का जो चाहे उत्तर दे, परन्तु वह दूसरे परीक्षार्थी से बात नहीं कर सकता। इस प्रकार वह स्वतन्त्र भी है और परतन्त्र भी। स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की सीमाएँ हैं। ये दोनों बातें परीक्षार्थी के हित को दृष्टि में रखकर नियत की गयी हैं। परीक्षार्थी जो लिखेगा उसका फल अंकों के रूप में पाने में वह परतन्त्र है, साथ ही परीक्षा का समय भी नियत सीमा के भीतर है। आप क्या कहेंगे ? परीक्षार्थी पूर्णतया स्वतन्त्र है या पूर्णतया परतन्त्र ? दोनों में से एक भी नहीं। जब जीव अनेक हैं तो वे पूर्णतया स्वतन्त्र हो ही नहीं सकते। हाँ, केवल एक दशा में हो सकते हैं अर्थात् जब उन जीवों का विकास इतना उच्चतम हो जाय कि वे नियमों को स्वयं भली-भाँति समझकर उनका उल्लंघन करें ही नहीं। यदि सब परीक्षार्थी अत्यन्त विश्वासपात्र हो जाएं तो निरीक्षकों की आवश्यकता ही न पड़े। यदि सभी जीव पूर्ण ज्ञानी या मुक्त हो जाएं तो किसी को किसी से भय ही न रहे। फिर तो सृष्टि की ही आवश्यकता न रहे। परन्तु जिस सृष्टि की हम विवेचना कर रहे हैं, उसमें अल्पज्ञ

जीव हैं जो विकास के भिन्न–भिन्न स्तरों पर है, अतः उनकी स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की भी सीमाएँ हैं और वे सीमाएँ कर्मवाद को पुष्ट करती हैं, उसको काटती नहीं।

इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि वह स्वतन्त्रता कैसी जिसकी सीमा निर्धारित हो ? वह तो आगे चलकर परतन्त्रता हो गयी ? उसके उत्तर में निवेदन है कि जब हम कहते हैं कि आप कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, तो आपसे हमारा अभिप्राय केवल आप से नहीं है, सब जीवों से है। प्रत्येक को पूर्ण स्वतन्त्रता मिल नहीं सकती जब तक स्वतन्त्रता की सीमा न बाँधी जाय। कल्पना कीजिए कि प्रत्येक मनुष्य को हर समय विना रोक–टोक सड़क पर से गुजरने की आज्ञा दी जाय और एक ही समय दो मनुष्य उस अधिकार का प्रयोग करना चाहें, तो क्या परिणाम होगा ? आप दोनों परस्पर टकरा जायेंगे और आप दोनों की स्वतन्त्रता दोनों की परतन्त्रता का कारण बन जाएगी। जिसको आप स्वतन्त्रता कहते हैं, वह निकृष्टतम परतन्त्रता का घोर रूप होगा। राजीव कहेगा संजीव मुझे चलने नहीं देता। संजीव कहेगा राजीव मुझे चलने नहीं देता। यह है स्वतन्त्रता का दुरुपयोग और सृष्टि क्रम आपके हित के लिए ऐसी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाता है। इसलिए जब तक मनुष्य स्वतन्त्रता का सदुपयोग करता रहता है, वह स्वतन्त्र ही रहता है। फल भोगने में वह जगन्नियन्ता परमात्मा की व्यवस्था के आधीन और अतएव परतन्त्र है। इन दोनों में कोई परस्पर विरोध नहीं है।

दैव और पुरुषार्थ की समस्या

मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसके अनुसार उसे फल मिलता है। यह कर्म–नियम अटल है और इसका व्यवस्थापक अथवा नियामक सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ भगवान् स्वयं ही है। कई लोग सब कुछ दैवाधीन मानते हैं। उनका कथन निम्न श्लोकांश में प्रकट किया गया है—

यद्धात्रा लिखितं ललाट पटलं, तत् प्रोज्झितुं कः क्षमः ॥

जो कुछ विधाता ने मस्तक पर लिख दिया उसको कौन मिटा सकता है। वे यह भी मानते हैं कि—

आयुः कर्म च विद्या च वित्तं निधनमेव च।
पंचैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थयेव देहिनः ॥

(चाणक्य नीति हितोपदेश मित्र लाभ ४७)

आयु, विद्या, कर्म, धन, मृत्यु—ये पाँच गर्भस्थ जीव के जन्म समय में ही नियत हो जाते हैं। इस प्रकार का विश्वास रखनेवाले दैव वा प्रारब्ध को ही प्रधान मानते और पुरुषार्थ की प्रायः उपेक्षा करते हैं। वेदों का इस विषय में क्या सिद्धान्त है, यह दिखाने से पहले हम इस पर कुछ अधिक प्रकाश तर्कादि की दृष्टि से

डालना उचित समझते हैं जिससे प्रारब्ध वा दैव का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो सके। किसी मनीषी का यह कथन सर्वथा यथार्थ है कि—

पूर्वजन्मकृतं कर्म, तद्दैवमिति कथ्यते।
तस्मात् पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति॥

अथवा

पूर्वजन्म जनितं पुराविदः कर्म दैवमिति संप्रचक्षते।
उद्यमेन तदुपार्जितं चिराद् दैव-मुद्यमवशं न तत् कथम्॥

अर्थात् पूर्व जन्म में किये हुए कर्म को दैव कहते हैं। इसलिए पुरुषार्थ के बिना तो दैव की सत्ता ही नहीं बन सकती। उसे ही उद्यम वा पुरुषार्थ के वश में क्यों न माना जाए? इसके स्पष्टीकरण के लिए संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध-तीन प्रकार के कर्मों के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। मनुष्य जो कर्म करता है वह वर्तमान में क्रियमाण है। जो कर्म विना फलित हुए एकत्र हो जाते हैं उनको संचित कहते हैं। संचित कर्मों में से जिनका विपाक हो जाता है, अर्थात् जो पककर फल देने लगते हैं, उनको प्रारब्ध कहते हैं। मैं इस समय (वर्तमान काल में) जो कर्म कर रहा हूँ, वह क्रियमाण है। थोड़ी देर में यह वर्तमान काल भूतकाल बन जाएगा। उस समय के क्रियमाण कर्म संचित हो जायेंगे। संचित का अर्थ है इकट्ठा किया हुआ (सम्+चित) हम को फल इन्हीं संचित कर्मों का मिलेगा। परन्तु समस्त संचित कर्म एक से नहीं होते, न उनका फल एक ही समय में मिलता है। जो हमारे कर्म संचित हैं, उनमें से ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार कुछ का फल अभी मिलेगा, कुछ का २-४ वर्ष में और कुछ का जन्म जन्मान्तर में। मनुष्य के लिए यह जान सकना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है कि किस कर्म का फल कब मिलेगा क्योंकि यद्यपि समस्त संचित कर्मों का लेखा सूक्ष्म रूप में हमारे अन्तःपटल पर अंकित है, परन्तु हम उस को पढ़ नहीं सकते। जब कर्म पककर फल देने लगते हैं, तो उन्हीं का नाम प्रारब्ध हो जाता है। अर्थात् क्रियमाण कर्म ही संचित हो जाते हैं और संचित में से जो-जो कर्मफल देने लगते हैं, उनको प्रारब्ध कहते हैं। हमारा अधिकार क्रियमाण कर्मों पर ही है। चाहे कुछ करें, चाहे न करें। परन्तु जब तीर कमान से निकल गया, तो वापिस नहीं आ सकता।

अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

(देवी भागवत् ६।३।२५)

अर्थात् किये हुए शुभ वा अशुभ कर्म का फल अवश्य ही भोगना चाहिए। उसके विना मनुष्य का निस्तार नहीं। इस बात को अवश्य समझ लेना चाहिए कि—"जो कुछ भाग्य में है वही मिलता है, अन्य कुछ नहीं।" यह मन्तव्य ठीक नहीं है। भाग्य के सहारे हाथ पर हाथ रखकर बैठना और यह कहते रहना कि

भाग्य ही फलता है, वर्तमान में पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं, कातरता और नपुंसकता का लक्षण है। यह अकर्मण्यता को उत्पन्न करनेवाली धारणा है जो अत्यन्त हानिकारक है। इसलिए नीति शास्त्रकारों का यह कथन यथार्थ है कि—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोत्र दोषः॥
उद्यमेन विना राजन् न सिद्ध्यन्ति मनोरथः॥
कातरा इति जल्पन्ति, यद्भाव्य तद् भविष्यति॥

(पञ्चतन्त्र मित्र सम्प्राप्ति १३७।१३९)

अर्थात् उद्योगी पुरुष सिंह को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है। दैव ही दैव सब कुछ है—यह कायर नीच पुरुष कहते रहते हैं। दैव को मारकर अपनी शक्ति से पुरुषार्थ कर। यत्न करने पर भी यदि कार्य सिद्ध न हो तो फिर सोचना चाहिए कि ऐसा क्या दोष रह गया है जिसके कारण कार्य सिद्ध नहीं हुआ। तब भी हताश न होना चाहिए। उद्यम वा पुरुषार्थ के बिना मनोरथ कभी सिद्ध नहीं होते। ये कातर–भीरु नीच पुरुष हैं जो कहते हैं कि जो होना है, वही होगा।

ये समुद्योगमुत्सृज्य, स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थं कामं च, नाशयन्त्यात्मविद्विषः॥

(व्याख्यानमाला, पृ० ५३ में उद्धृत)

जो उद्योग वा पुरुषार्थ को छोड़कर दैव के ही आधीन हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते हैं, वे आत्मा के साथ द्वेष करनेवाले धर्म, अर्थ और काम का नाश कर देते हैं।

भाग्य में जो कुछ पूर्वजन्मकृत कर्मों के फलस्वरूप है, वह तो मिलेगा परन्तु उससे पुरुषार्थ को नहीं छोड़ना चाहिए। भाग्य भी तो अन्ततोगत्वा पुरुषार्थ का ही फल है फिर भाग्य को अकर्मण्यता से क्यों जोड़ा जाय। भाग्य का भी फल मिलता है और पुरुषार्थ का भी। कुछ लोग समझते हैं कि विना भाग्य के कुछ नहीं मिलता। पत्ता तक नहीं हिलता। अपने कर्मों का ही फल सब को मिलता है और कुछ नहीं। परन्तु यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं। वास्तविक सिद्धान्त यह है कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल मिलता है और दूसरों के कर्मों के फल से नहीं अपितु कर्म मात्र से भी दुःख हो जाता है। फल तो अपने ही कर्मों का मिलता है। परन्तु दूसरे के कर्म मात्र का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति ने तलवार उठाई और किसी का गला काट दिया। यह तलवार चलाना कर्म है। परिणाम में दूसरे का गला कट गया। गले के कटने से जो दुःख हुआ उसे कर्म का फल तो

कहा नहीं जा सकता क्योंकि फल तो दण्ड आदि सभी मिलने हैं जो समय पर मिलेंगे। इसे केवल क्रिया का परिणाम कहना चाहिए। दूसरे को कर्म का फल तो मिला नहीं, फिर भी गला कट गया। इसमें केवल यही है कि दूसरे के कर्म का प्रभाव भी पड़ता है। केवल भाग्य और कर्मफल के अतिरिक्त किसी को कुछ नहीं मिलता–इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर भलाई, बुराई, परोपकार और अनाचार आदि कर्म नहीं रह जाते और इनकी स्थिति पूर्णतः समाप्त हो जाती है। कल्पना कीजिए कि एक आदमी विना वस्त्र के हेमन्त के कठोर जाड़े में ठिठुरता हुआ कराह रहा है। उसे इस स्थिति में एक कम्बल वा गर्मवस्त्र आदि का देना उत्तम दान–पुण्य का कर्म माना जाता है। परन्तु यदि जाड़े से ठिठुरते व्यक्ति के पूर्व कर्म का यह फल समझ लिया जाय तो फिर दानदाता के कर्म की स्थिति ही क्या रह जाती है? फिर तो सब कुछ उसके कर्म का फल ही हो गया, देनेवाले को कोई श्रेय नहीं। पाप के विषय में भी यही आपत्ति है। एक व्यक्ति ने किसी के घर चोरी की। चोरी में जो कुछ मिला और उससे जिसके घर चोरी हुई है, उसे जो दुःख पहुँचा, यह उसके अपने कर्म का फल है जो इस रूप में उसे साधन से मिला। यदि ऐसा माना जाय तो यह होना अनिवार्य था और तब चोरी करनेवाले के चोरी कर्म को पाप नहीं समझा जाना चाहिए और न उसके लिए उसे दण्ड मिलना चाहिए। परन्तु कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य इसे स्वीकार न करेगा। यही बात हत्या आदि के विषय में भी है। इसलिए कर्म की व्यवस्था को देखते हुए, यही मानना चाहिए कि मनुष्य को अपने कर्म का फल मिलता है और दूसरे के कर्म मात्र का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। ऐसा मानने पर भाग्य और पुरुषार्थ दोनों का सामञ्जस्य भी बना रहता है। केवल भाग्य पर ही यदि संसार रहे तो विश्व में अकर्मण्यता का वातावरण बना रहे जैसे कि हमारे देश में भाग्यवादियों की अधिकता के कारण हो गया है। जब मनुष्य के शरीर की रचना ही ऐसी है कि वह थोड़ी देर के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, तो पुरुषार्थ का परित्याग करके भाग्य वा दैव के सहारे बैठे रहना तो अत्यन्त हानिकारक है। अतः वेद कर्म–नियम और कर्मफल तथा पुनर्जन्म को मानते हुए पुरुषार्थ पर बल देते हैं। **हमें तो वेदों के निष्पक्षपात अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमें यह सिद्धान्त नहीं स्वीकार किया गया कि मनुष्यों की आयु जन्म के साथ ही निश्चित हो जाती है और उसे अच्छे–बुरे कर्मों से बढ़ाया या घटाया नहीं जा सकता। यदि ऐसा हो तो ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, व्यायाम, सन्ध्योपासना आदि की विशेष उपयोगिता न रहे।** देखिये वेदों की शिक्षाएँ और प्रार्थनाएँ इस विषय में कितनी स्पष्ट और स्फूर्तिदायिनी है। इनसे दैववाद का समर्थन नहीं होता, अपितु पुरुषार्थ, ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास इत्यादि द्वारा मृत्यु के पैर को धकेलने तथा दीर्घायु प्राप्त करने का बार–बार सन्देश मिलता है।

निम्नलिखित मन्त्र इस दृष्टि से विशेष मननीय हैं—

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥

(ऋ० १०।१८।२)

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥

(ऋ० १०।१८।३)

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥

(ऋ० १०।१८।४)

उत्क्रामातः पुरुष मावं पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः॥

(अथर्व० ८।१।४)

इन मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट है कि—

१. हे मनुष्यो! तुम (यदा) जब (मृत्योः पदं योपयन्तः) मृत्यु के पैर को ढकेलते हुए और इस प्रकार (प्रतरं द्राघीयः आयुः दधानाः) उत्तम दीर्घ आयु को धारण करते हुए (ऐत) आओ तो। (प्रजया धनेन आप्यायमानाः) सन्तान और धन से वृद्धि को प्राप्त होते हुए (शुद्धाः) बाहर से पवित्र (पूताः) अन्दर से पवित्र और (यज्ञियासः) संगतिकरण तथा पूजा करने योग्य (भवत) बन जाओ।

हम जिस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं वह यह है कि 'मृत्योः पदं योपयन्तः' से यह स्पष्ट होता है कि मृत्यु कोई पूर्णतया पूर्व निर्धारित समय पर होनेवाली वस्तु नहीं है। उसे योगाभ्यास, प्राणायाम, स्वास्थ्य नियमपालन द्वारा धकेल कर दीर्घ आयु प्राप्त की जा सकती है और यह मनुष्य के अपने हाथ में है अन्यथा वेदों में उसके लिए प्रेरणा न होती।

२. "जीवा वि मृतैराववृत्रन्" की व्याख्या हम विषाद और नैराश्य की समस्या विषयक अ० १८ में कर चुके हैं। यहाँ हम "प्रांचो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः"। इसकी ओर विचारशील पुरुषों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। प्रांचः का अर्थ श्री सायणाचार्य ने अपने भाष्य में 'प्राङ्मुखांचनाः प्रत्यंच इति भावः' इस प्रकार किया है। प्रांचः यह शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक अंचु-गति पूजनयोः इस धातु से बनता है। इसका पूजार्थक भाव लेने पर जैसे कि श्री सायणाचार्य का भी तात्पर्य प्रतीत होता है, यह अभिप्राय निकलता है कि भगवान् की प्रकृष्टता से बहुत अच्छी तरह पूजा करते—सन्ध्योपासना करते हुए हम सदा

नाचते हँसते रहें, प्रसन्न रहें, और उत्तम दीर्घ आयु को प्राप्त करें। इससे स्पष्ट है कि सन्ध्योपासना वा परमेश्वर की पूजा भली-भाँति नियमानुसार योगाभ्यास, प्राणायाम आदि पूर्वक करने से दीर्घायु हो सकती है। इसी तथ्य को प्रथम धर्मशास्त्रज्ञ मनु महाराज ने अपनी स्मृति में इस प्रकार रखा है—

ऋषयो दीर्घ सन्ध्यत्वाद, दीर्घमायुरवाप्नुयुः॥ (मनु० ४।९४)

अर्थात् ऋषि दीर्घकाल तक सन्ध्योपासना (जिसका एक मुख्य अंग प्राणायाम है) करने से दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं।

३. तृतीय मन्त्र का अर्थ यह है कि मैं (जीवेभ्यः) जीवनधारी मनुष्यों के हितार्थ (इमं परिधिम्) इस प्राणधारक व्यवस्था को (दधामि) स्थापित करता हूँ। (एषाम्) इन जीवों में से (अपरः) कोई भी (एतम् अर्थ मा गातनु) उस मृत्यु के मार्ग से न जावे। श्री सायणाचार्य ने यहाँ अर्थम् का अर्थ अर्तेरिदं रूपम्। गन्तव्यं मरणाख्यं मार्गम्॥ इस प्रकार मृत्युमार्ग ही किया है। यद्यपि परिधिम् का अर्थ उन्होंने पाषाणम् कर दिया है। इसका यौगिक अर्थ परितोधीयते इस व्युत्पति के अनुसार प्राणधारक वा रक्षक व्यवस्था करने से मन्त्र की संगति अधिक अच्छी लग जाती है। समस्त जीवगण (शरदः) सौ वर्ष तक (पुरुचीः) पुरुँचन्तीति अंचु-गति पूजनयोः श्री सायणाचार्य के अर्थानुसार बह्वंचनाः-बहुगमनाः बहुत गतिशील अथवा अंचु का पूजन अर्थ लेने पर भगवान् की बहुत अच्छी तरह पूजा करते हुए जीवें और (पर्वतेन) पालन-पोषणकारी उपाय-ब्रह्मचर्य, संयम, योगाभ्यास और स्वास्थ्य नियम पालन तथा त्रुटियों वा दोषों की पूर्ति से (पृ-पालन-पूरणयोः) (मृत्युम् अन्तर्दधताम्) प्रकोट से शत्रु के समान मृत्यु को अन्तर्हित कर दें-दूर कर दें।

इस मन्त्र से भी स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य, संयम, योगसाधन, स्वास्थ्य नियम पालन तथा दोषों की पूर्ति के द्वारा मनुष्य मृत्यु को पर्याप्त समय के लिए दूर हटा सकता है। भगवान् ने तो सब के लिए सौ वर्ष की परिधि वा व्यवस्था कर दी है। प्रत्येक मनुष्य को संयम और नियम पालन द्वारा यह यत्न करना चाहिए कि १०० वर्ष की आयु से पूर्व हमें मृत्यु न दबोच दे, 'मृत्योः पदं योपयन्तः' में मृत्यु के पैर को धकेलने की जो बात इस सूक्त के मं० २ में कही गयी थी, उसके साधन का निर्देश 'अन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन' इसके द्वारा किया गया है। यह बात यहाँ ध्यान देने योग्य है।

४. 'उत्क्रामातः पुरुष' इस अथर्ववेदीय मन्त्र का अर्थ यह है कि हे (पुरुष) मनुष्य! (अतः उत् काम) यहाँ से ऊपर चढ़ (ना अवपत्थाः) मत नीचे गिर (मृत्योः पडवीशम् अवमुञ्चमानः) मृत्यु की बेड़ी से उठ अपने आपको छुड़ाता हुआ (अस्मात् लोकात्) इस लोक से तथा (अग्नेः सूर्यस्य सन्दृश) अग्नि और सूर्य के दर्शन से अपने आपको (मा छित्थाः) मत दूर रख।

(पं० श्री सातवलेकरजी कृत अनुवाद)

इस मन्त्र के "मृत्योः पड्वीशमवमुंचमानः" इन शब्दों से भी यह ध्वनि निकलती है कि मनुष्य योग साधन, प्राणायाम आदि के द्वारा मृत्यु के पाश से अपने को पर्याप्त समय के लिए छुड़ा सकता है। यदि मृत्यु जन्म समय से ही निश्चित हो जाती है, जैसे कि कुछ लोगों का विचार है, तो इस प्रकार के आदेश निरर्थक हो जाते हैं।

निम्न श्लोक में एक विचित्र दशा का वर्णन है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेनहृदिस्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

अर्थात् मैं धर्म को जानता हूँ किन्तु उसमें प्रवृत्त नहीं होता। किसी हृदय स्थित देव द्वारा मैं जैसे नियुक्त होता हूँ, जैसे मुझे उसकी आज्ञा प्रेरित करती है, वैसे ही करता हूँ। इसके अनुसार यह स्वीकार किया जाय कि अधर्म और पाप में भी भगवान् ही प्रेरणा करते हैं, तब तो महान् अनर्थ हो जाय। उस अवस्था में कुछ भी अधर्म वा पाप न रहे और न उसके लिए कोई दण्ड दिया जा सके। अतः ऐसा मानना ठीक नहीं। इच्छा की स्वतन्त्रता (Free will) और 'स्वतन्त्रः कर्ता' (अष्टाध्यायी १।४।५४) के अनुसार कर्ता (आत्मा) की स्वतन्त्रता को माना जाय तभी मनुष्य उद्यमी और प्रगतिशील हो सकता है। भाग्य के सहारे हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहने से कभी नहीं। पूर्व जन्म कृत कर्मों के फलस्वरूप दैव या भाग्य को मानने से आपत्ति में कुछ धैर्य और सन्तोष अवश्य मिलता है और मनुष्य को अभिमान भी नहीं होता। इसकी केवल इतनी ही उपयोगिता है। इससे अधिक नहीं। इस प्रकार वैदिक सिद्धान्त और शिक्षा द्वारा इच्छा के स्वातन्त्र्य और भाग्य का सामञ्जस्य हो जाता है।

२. बुराई और दुःख की समस्या

इस इच्छा स्वातन्त्र्य और नियतिवाद के साथ मिलती-जुलती एक और दार्शनिक समस्या बुराई (evil) और दुःख के मूल और प्रतिकार की है। पाप के मूल की समस्या पर्याप्त जटिल है। बड़े-बड़े मनीषी भी कई बार इससे चकरा जाते हैं। महात्मा गाँधीजी ने एक बार पाप के मूल और उसकी सत्ता के विषय में लिखा था कि—

"Faith transcends reason. All I can advise is not to attempt the impossible. I cannot account for the existence of evil by any rational method. To want to do is to be so equal with God".

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जो न केवल कवि, बल्कि सुप्रसिद्ध दार्शनिक मनीषी भी थे। "The Problem of Evil" बुराई के विषय में एक व्याख्यान में कहा था—

"The question why there is evil in existence is the same as why

there is imperfection, or in other words, why there is creation at all, We must take it for granted that it could not be otherwise; that creation must be imperfect, must be gradual, and that it is futile to ask the question, why are we?" (The Sadhana by Dr. R.N. Tagore, P. 47)

यह प्रश्न कि बुराई वा पाप की सत्ता क्यों है इसी प्रकार का है कि अपूर्णता की सत्ता क्यों है, या दूसरे शब्दों में सृष्टि ही क्यों है। हमें यह स्वीकार करके ही चलना चाहिए कि यह इससे भिन्न नहीं हो सकता था कि सृष्टि अपूर्ण होनी ही चाहिए, यह क्रमिक होनी चाहिए और यह प्रश्न करना व्यर्थ है कि हम इस जगत् में क्यों हैं?

इसके पश्चात् उन्होंने अपने काव्यमय अत्यन्त आकर्षक प्रकार से इस प्रश्न पर प्रकाश डालने का यत्न किया है, किन्तु उनकी अद्भुत शैली और चमत्कारिक भाषा से प्रभावित होने पर भी पाठकों को इस प्रश्न का समाधान सन्तोषजनक रूप से मिल सकेगा वा नहीं, यह हम नहीं कह सकते क्योंकि वस्तुतः वो इस प्रश्न को ही व्यर्थ समझते हैं। यह प्रश्न गम्भीर और जटिल है और यह कहने से काम नहीं चल सकता कि इसको पूछना ही व्यर्थ है अथवा इसके उत्तर की आशा का यत्न करना अपने को परमात्मा के बराबर मान लेने के समान है। **सच्ची और स्पष्ट बात यह है कि अद्वैतवाद को मानने पर इसका उत्तर मिलना असम्भव है। यदि केवल ब्रह्म की ही सत्ता है अन्य किसी (जीव और प्रकृति) की नहीं, तो बुराई और पाप की सत्ता की व्याख्या नहीं हो सकती। किन्तु यदि अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान् नित्य जीवात्माओं की सत्ता को भी स्वीकार किया जाय तो बुराई और दुःख की सत्ता की व्याख्या करना कुछ कठिन नहीं है।**

हम यहाँ निम्न मन्त्रों को उद्धृत करना चाहते हैं जिसमें ब्रह्म जीव और प्रकृति तीनों की अनादि सत्ता का प्रतिपादन करते हुए जीवात्मा के स्वरूप का निरूपण किया गया है—

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥

(अथर्व० १०।८।२५)

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः॥

(अथर्व० १०।८।२६)

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

(एकम्) एक जीवात्मा तत्त्व (बालात् अणीयस्कम्) बाल से भी अतिसूक्ष्म

है (उत) और (एकम्) एक प्रकृति तत्त्व (न दृश्यते इव) सूक्ष्म होने से मानो दीखता ही नहीं। (देवता) परमात्मदेवता (ततः) उनसे भी (परिष्वजीयसी) सूक्ष्म और व्यापक–उन दोनों प्रकृति और जीव को आलिंगन में किये हुए हैं (सा मम प्रिया) वह मुझे प्रिय है। प्रकृति सूक्ष्म है, जीव भी सूक्ष्म है किन्तु परमात्मा इनकी अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म है। इस मन्त्र के बालादेकमणीयस्कम् की ही व्याख्या श्वेताश्वतरोपनिषत् ५।९ में इस प्रकार की गयी है—

बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च।
जीवो भागः स विज्ञेयः, स चानन्त्याय कल्पते॥

(श्वेताश्वत्तर ५।९)

अर्थात् बाल के अग्र भाग के १००वें भाग के यदि १०० खण्ड किये जाएँ, तो जीव उतना सूक्ष्म जानना चाहिए।

इस मन्त्र में ब्रह्म, जीव और प्रकृति–इन तीन अनादि तत्त्वों का स्पष्ट प्रतिपादन है। अगले मन्त्र में जिसका प्रारम्भ हुए "कल्याण्यजरा" से होता है, जीव के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि (इयं गृहे अमृता) मनुष्य के शरीर रूप घर में यह अमृत, न मरनेवाली है। (यस्मै कृता शये) जिस शरीर के निमित्त यह निश्चित की गयी है, उसमें शयन करती रहती है। (स यः चकार) इस शरीर को जिस परमात्मा ने बनाया है, वह इसे जीर्ण कर देता है। इन मन्त्रों में जीवात्मा को अणु बताया है। अतएव इसका निवास वेदों में हृदय में बतलाया गया है। अथर्ववेद १६।३।५ में मन्त्र आता है जिसमें आत्मा को बृहस्पति के नाम से स्मरण करते हुए क्योंकि वाग्धिबृहती तस्या एषपतिः–बृहस्पतिः बृहदा० इस प्रमाणानुसार जहाँ बृहतां लोकानां पतिः इस व्युत्पत्ति के अनुसार परमात्मा का नाम बृहस्पति है वहाँ वाणी का स्वामी होने से जीवात्मा का भी नाम है। कहा गया है कि—

बृहस्पतिर्मे आत्मा नृमणा नाम हृद्यः॥ (अथर्व० १६।३।५)

ऋग्वेद १।१६४।३८ में जीवात्मा के विषय में एक और मन्त्र आया है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥

(ऋ० १।१६४।३८)

इस मन्त्र में कहा है कि (अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः) अमर आत्मा चेतन मरणधर्मा अर्थात् अपने से भिन्न जड़ मन आदि के साथ समानस्थान सहयोग को प्राप्त हुआ (स्वधया गृभीतः) स्वधारणा स्वकृत कर्म संस्कार शक्ति से पकड़ा हुआ (अपाङ्प्राङ्एति) नीचे–ऊँचे जाता है। नीच और उच्च योनि को प्राप्त होता है। (ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता) वे दोनों अमर्त्य और मर्त्य चेतन और जड़,

आत्मा और अनात्मा मन आदि प्रवाह से सदा के साथी होते हुए भी विभिन्न रूपवाले विभिन्न प्रवृत्तिवाले हैं। परन्तु (अन्यं विचिक्युः न अन्यं विचिक्युः) कुछ जन इन्हें अन्य अर्थात् पृथक्-पृथक् भिन्न-भिन्न जानते हैं। और कोई भिन्न-भिन्न नहीं जानते। इन्हें भिन्न-भिन्न न जानना ही अविवेक है और यह अविवेक बन्धन का कारण है। अविवेक से वासना और वासना से भोग में पड़ता है। भोगों में पड़ने से नितान्त सुख नहीं अपितु 'भोगेरोग भयम्', भोग में रोग भय ही प्रसिद्ध है। हाँ, आत्मा को मन आदि से पृथक् जानकर मन आदि के संसर्ग से अमर आत्मा को अमर परमात्मा के साथ संयुक्त कर देने पर नितान्त सुख पा सकता है, क्योंकि मन आदि से भिन्न ही आत्मा है, अन्यथा सुख-दुःख प्राप्ति की व्यवस्था नहीं बन पड़ती है जो कि आत्मा के मन आदि से भिन्न होने पर उसके कर्म द्वारा हुआ करती है। इस प्रकार जब जीवात्मा परमात्मा से भिन्न, अल्पज्ञ और अल्प शक्तिमान् है तो इसकी अज्ञानादिवश पाप में प्रवृत्ति होती है। और तब इसे अपने इस अथवा पिछले जन्मों के फलस्वरूप, दुःख भी भोगना पड़ता है।

वेदों में पाप प्रवृत्ति के कारण

ऋग्वेद ७।८६ में पाप में प्रवृत्ति के कारणों का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

न स स्वो दक्षो॑ वरुण॒ ध्रुति॒: सा सुरा॑ म॒न्युर्वि॒भीद॑को॒ अचि॑त्तिः।
अस्ति॒ ज्याया॒न्कनी॑यस उपा॒रे स्वप्न॑श्च॒नेदनृ॑तस्य प्रयो॒ता॥

(ऋ० ७।८६।६)

इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—हे (वरुण) वरने योग्य सर्वोत्तम परमेश्वर! (सः स्वः दक्षः) वह मेरा अपना स्वरूप। 'दक्ष-गतौ गतेस्त्रयोऽर्था ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च अत्र प्राप्त्यर्थः स्वरूप बोधकः स्वरूपमिति यावत्।' (अनृतस्य प्रयोता) वह प्रथम से चली आयी वासना-कामवासना (सुरा) मद्य आदि मादक पदार्थ (मन्युः) क्रोध मन्युरिति क्रोध नाम-निघं० २।१३ (विभीदकः) विभेदक असम व्यवहार द्यूत आदि जो अत्यन्त लोभ का प्रतीक है। (अचित्तिः) मोह-अज्ञान (कनीयसः उपारे ज्यायान्) छोटे के कार्यों का रोधक बड़ा व्यक्ति-भय प्रदान-भय का होना (स्वप्नः चन इत्) स्वप्न के समान चिन्तन-चिन्ता शोक भी इन सात में से प्रत्येक (अनृतस्य प्रयोता अस्ति) असत्य-पाप का प्रेरक है।

इस मन्त्र में जीवात्मा को, जो स्वरूप से पवित्र है, पाप और अनर्थ में ले जानेवाले सात कारण बतलाये हैं जो काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, भय, शोक हैं। इन काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, आदि के कारण मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है। योगिराज श्रीकृष्ण ने अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं, पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छिन्नपि वार्ष्णेय, बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३।३६)

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! यह पुरुष बलात्कार से लगाये हुए के समान न चाहता हुआ भी किसी से प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है? कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महा पाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३।३७)

रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम है, क्रोध है, यह ही महाशन अर्थात् अग्नि के सदृश भोगों से न तृप्त होनेवाला है और महा पापी है। इसको तुम सचमुच शत्रु जानो।

आवृतं ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
काम रूपेण कौन्तेय, दुष्पूरेणानलेन च॥

(गीता ३।३९)

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ, नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं, ज्ञान विज्ञान नाशनम्॥

(गीता ३।४१)

इस अग्नि के समान न पूर्ण होनेवाले काम रूप ज्ञानियों के नित्य शत्रु ने ज्ञान को ढका हुआ है।

इसलिए हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करनेवाले इस काम पापी को निश्चयपूर्वक मार। इस कामवासना का निर्देश वेदमन्त्र में ध्रुति, इस पद से किया गया है जो बड़े-बड़े योगियों को भी गिराने का कारण बनी है।

गीता अध्याय १६ में योगिराज श्रीकृष्ण ने काम-क्रोध-लोभ को नरक द्वार कहा है।

त्रिविधं नरकस्येदं, द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६।२१)

अर्थात् काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरक के द्वार तथा आत्मा का नाश करनेवाले हैं। इसलिए इनका परित्याग कर देना चाहिए। इन तीनों का मन्त्र में ध्रुति, मन्यु और विभीदक पद से निर्देश है।

क्रोध के विषय में शास्त्रों में ठीक ही कहा है—

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति धीमानधीतमपि न प्रतिसन्दधाति॥

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात्, क्रुद्धो हन्याद् गुरुमपि।
क्रुद्धः परूषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते॥

अर्थात् क्रोध कहता है कि मैं संसार को अन्धा और बहरा बना देता हूँ। धीर ज्ञानी को भी मैं अज्ञानी बना देता हूँ। जिससे वह न कर्त्तव्य को देखता है और न अपने हित की बात सुनता है। बुद्धिमान् आदमी क्रोधाविष्ट होकर पढ़े हुए शास्त्र को भी भुला बैठता है। क्रोध में आकर मनुष्य अनेक प्रकार के पाप करता है। क्रोध में मनुष्य गुरुओं का भी तिरस्कार करता और कभी उन्हें मार भी डालता है। क्रोध के कारण मनुष्य अति कठोर वाणी से कल्याणकारियों का भी अपमान कर बैठता है। मात्सर्य वा ईर्ष्या से अनर्थ का उदाहरण दुर्योधनादि का पाण्डवों को अमानुषिक कष्ट देना है। द्यूत से कैसे अनर्थ होते हैं इसका वर्णन ऋग्वेद १०।३४ में बड़ी उत्तमता से पाया जाता है जहाँ बताया गया है कि—

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा॥

(ऋ० १०।३४।७)

(अक्षासः) जुए के पासे (इत्) ही निश्चय से (अंकुशिनः) अंकुश चुभाने जैसे (नितोदिनः) कष्टदायक हैं। (तुदव्यथने) (निकृत्वानः) दिल के दो टुकड़े करनेवाले (कृती–छेदने) (जयतः पुनर्हणः) जीतनेवाले को भी फिर मारनेवाले (माध्वासंपृक्ताः) देखने में तो मधु से चुपड़े हुए से आकर्षक परन्तु वस्तुतः (कितवस्य बर्हणाः) जुआरी को नष्ट कर देनेवाले हैं। (बर्ह–हिंसायाम् तु०) वे (तपनाः) जुआरी को हारने पर तपानेवाले और उसके परिवार को भी सर्वस्व नाश करने के कारण सन्ताप देनेवाले हैं। वे (कुमार देष्णाः) कुत्सित वा बुरी मार देनेवाले होते हैं। इसलिए वे सर्वथा त्याज्य हैं।

अतः वेद का स्पष्ट उपदेश है—

अक्षैर्मा दीव्यः। (ऋ० १०।३४।१३)

हे मनुष्य कभी जुआ मत खेल। महाभारत युद्ध द्यूतक्रीडा का एक परिणाम था।

हम मद्यपान के विषय में वेद के मन्त्रों को उचित मानव भोजन विषयक समस्या का समाधान करते हुए अ० २२ में उद्धृत कर चुके हैं। भय से भी मनुष्य असत्य भाषणादि पापों में प्रवृत्त होते हैं। यह सर्वविदित है। बहुत से छात्र जब उन्होंने अध्यापकों द्वारा दिये काम को नहीं किया होता, तो इस भय से कि अध्यापक दण्ड देंगे, सिरदर्द, पेटदर्द आदि का झूठा बहाना बना देते हैं। इस प्रकार वेदों में पाप के कारणों का बड़ी उत्तमता से निरूपण किया है जो अन्यत्र इतने उत्तम रूप में कहीं नहीं दृष्टिगोचर होता।

आत्मा की प्रबल शक्ति से पाप को भगाना

वेदों में बताया गया है कि जब कभी पाप का विचार मन में आये और पाप में प्रवृत्ति होने लगे, तो अपने आत्मा की शक्ति को उद्‌बुद्ध करते हुए कहना चाहिए—

यो नः पाप्मन्न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम्।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम्॥

(अथर्व० ६।२६।२)

हे पाप! यदि तू हमें नहीं छोड़ता तो जा परे भाग जा। हम ही तुझे छोड़ देते हैं। जो कुमार्ग पर, उलटे मार्ग पर चलनेवाले हैं, तू उन्हीं को प्राप्त हो। हमारे पास आने का तेरा कोई अधिकार नहीं।

इस प्रकार अपनी आत्मिक शक्ति का प्रयोग करके पाप को दूर भगा देना चाहिए।

अथर्ववेद ६।४५।१ में बताया गया है कि—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥

(अथर्व० ६।४५।१)

मानसिक पापों को दूर करने के मूलमन्त्र का यहाँ उपदेश किया गया है कि (मन:पाप) हे मानसिक पाप, दुर्विचार, (परः अपेहि) परे हट। तू (अप्रशस्तानि किं शंससि) बुरी-बुरी निन्दा योग्य कुचालियाँ करने को क्यों कहता है? (परा इहि) दूर चला जा (न त्वा कामये) मैं तेरी कामना नहीं करता। हे (मनः), तू पाप से हटकर (वृक्षान् वनानि संचर) हरे-हरे वृक्षों और वनों उपवनों में विहार कर और (गृहेषु गोषु संचर) अपने गृहों और गौओं में विचार कर अर्थात् पाप में जब मन जाय, तब पाप के संकल्पों को दूर करके हरे वृक्षों, वनों, उत्तम गृहों, सम्बन्धियों तथा गौ आदि पशुओं के साथ अथवा गौरिति वाङ्नाम-निघ० १।११ वेदवाणियों के साथ मन को बहलाना और पवित्र करना चाहिए। इस प्रकार करने से पवित्रता और निष्पापता प्राप्त होती है।

कुसंगति से भी मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है। अतः ऋग्वेद ८।७५।९ में कहा है—

मा नः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहतिः। ऊर्मिर्न नावमा वधीत्॥

(ऋ० ८।७५।९)

अर्थात् (समस्य दूढ्यः परिद्वेषसः) सब दुर्बुद्धि द्वेष करनेवालों की (अंहतिः) पाप (ऊर्मिः नावन् इव) जैसी भयंकर तरंगें, नौका की तरह (नः मा

वधीत्) हमें नष्ट न कर दें। दुष्ट दुर्बुद्धि द्वेषियों की संगति वा प्रभाव से भी मनुष्य की पाप में प्रवृत्ति हो जाती है जो उसके नाश का कारण बन जाती है। अतः उससे बचना चाहिए।

ईश्वर भक्ति से निष्पापता

वेदों में स्थान-स्थान पर इस बात का निर्देश किया गया है कि ईश्वर की भक्ति करने से पाप और दुःख मनुष्य के पास फटक नहीं सकते।

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रहणस्पते॥

(ऋ० २।२३।५)

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञान के स्वामी परमात्मन्! तू (सुगोपाः) उत्तम (रक्षसि) जिसकी रक्षा करता है (तम्, अंहः न) पाप उसके पास नहीं आता। (न दुरितं कुतश्चन) दुःख भी उसके पास कहीं से नहीं आने पाता। वह दुःख को दुःख ही नहीं समझता। तेरा प्रसाद वा पाप फल समझकर वह उसका भी स्वागत करता है। (न अरातयः) कोई अदानशील शत्रु वा अदानमय स्वार्थ भावनाएँ उसको (न तितिरुः) पीड़ित नहीं करतीं। (न द्वयाविनः) न छली-कपटी उसको सता सकते हैं। (विश्वाहत् ध्वरसः अस्मात् विबाधसे) सारी कुटिलताओं और हिंसाओं को तू इस अपने सच्चे भक्त से दूर कर देता है।

इस प्रकार ईश्वर की भक्ति को पाप से दूर रहने और उसके परिणाम स्वरूप दुःखों से बचने का साधन बताया गया है।

ऋग्वेद ५।८२।६ में यही बात इन शब्दों में कही गयी है—

अनागसो अदितये देवस्य सवितुः सवे। विश्वा वामानि धीमहि॥

(ऋ० ५।८२।६)

हम (सवितुः देवस्य सवे) सर्वोत्पादक परमेश्वर की सृष्टि में और उसकी आज्ञापालन करते हुए (अनागसः) पापरहित होकर (अदितये) मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए (विश्वा वामानि धीमहि) सब प्रशंसनीय सुखों का ध्यान करते हैं और उन्हें धारण करते हैं।

'धाममिति प्रशस्त नाम' (निघं० ३।८)

'धीमहि ध्यै-चिन्तायाम्' अथवा 'धाञ्-धारणयोषण्योः' से बनता है अतः उसके दोनों अर्थों का निर्देश किया गया है।

ऋग्वेद ३।३९।८ में दृढ़ संकल्प करने को कहा गया है—

आरे स्याम दुरितस्य भूरेः। (ऋ० ३।३९।८)

हम (भूरेः) बहुत प्रकार के (दुरितस्य) दुर्व्यवसन और उसके फल स्वरूप दुःख के (आरे स्याम) दूरस्थ होवें। कभी हम पाप के पास भी न फटकें।

यह वेदों में प्रयुक्त दुरित शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसका दुर्व्यसन अथवा पाप और दुःख—ये दोनों अर्थ हैं। निरूक्त ९।१२ में दुरितानि का अर्थ दुर्गतिगमनानि ऐसा किया गया है। ऋषि दयानन्द सरस्वती ने इसके पाप दुष्ट स्वभावानुष्ठान 'जनितं पापन्' (ऋ० १।२३।२२ भाष्ये), 'दुष्टाचरणम्' (ऋ० २।२३।५), 'दुरितानि–दुस्सहानि दुःखानि' (ऋ० १।४१।३), 'दुःखप्रापकाणि कर्माणि फलानि वा' (ऋ० ५।३।११) 'दुष्टसनानि' (ऋ० ६।४७।३०) इस प्रकार दोनों पाप तथा तत्परिणाम रूप दुःख अर्थ किये हैं। सुप्रसिद्ध प्रार्थना मन्त्र में—

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव। यद्भ॒द्रन्तन्न॒ऽआसु॑व॥

(यजु० ३०।३)

दुरितानि का अर्थ उबटाचार्य ने असत्यानि करते हुए लिखा है—(विश्वानि) सर्वाणि हे (देवसवितः) (दुरितानि) असत्यानि (परासुव) परांचि गमय यच्च (भद्रम्) भद्र भन्दनीयं तत् (नः) अस्माकम् (आसुव) आगमय।

महीधर ने दुरितानि का अर्थ पापादि किया है। सर्वाणिपापानि दूरे गमय यद्भद्रं कल्याणं तन्नोऽस्मान् प्रति आसुव–आगमय। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कार विधि में इसका भाषानुवाद इस प्रकार किया है—

हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्ति कर्ता समग्र ऐश्वर्ययुक्त (देव) शुद्ध स्वरूप सब सुखों के दाता परमेश्वर आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परासुव) दूर कर दीजिए। (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ है (तत्) वह सब हम को (आसुव) प्राप्त कीजिए (कराइये)।

प्रार्थना सर्वोत्पादक परमेश्वर से सब दुर्गुणों दुर्व्यसनों और दुःखों से छुड़वाने की की जाती है क्योंकि सारे दुःखों को दूर करनेवाला और सच्चे सुख को देनेवाला वही है। उसी के विषय में यजुर्वेद ८।१३ में कहा है—

एनसोऽ व॒यज॑नमसि। यच्चा॒हमेनो॒ वि॒द्वाँश्च॒कार॒
यच्चावि॑द्वाँ॒स्तस्य॒ सर्व॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि॥

उबटाचार्य—(हनस एनसः अवयजनमसि) यावन्ति पापानि तेषां सर्वेषां नाशनमसि (यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार। यच्चान्यदपि एनः–पापं विद्वान् चकार–कृतवान् यच्च अविद्वान्–अजानानः तस्य सर्वस्य नाशनमसि॥

तात्पर्य यह है कि परमेश्वर हमारे सारे पापों को–चाहे हमने उन्हें जानबूझकर किया हो या अज्ञान से–उन सब का नाशक है। अतः पाप निवारणार्थ सदा सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी भगवान् का स्मरण और उसी की उपासना करनी चाहिए। ऐसा करने से हमारी पाप की प्रवृत्ति ही दूर हो जाती है और फिर उसके फल स्वरूप दुःख से भी (जो भगवान् न्यायकारी (अर्यमा) के रूप में देता है) हम बच जाते हैं। दुःख

इस अथवा पूर्व जन्म के कर्मों का फल है। इस बात को हमारे सभी शास्त्रकारों ने वेदों के अनुसार एक स्वर से स्वीकार किया है। यहाँ तक कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी ने सीता देवीजी के अपहरण और पिता दशरथजी के मरण तथा अन्य दुःखों के विषय में वाल्मीकि रामायण के अनुसार यह कहा कि—

न मद्विधो दुष्कृत कर्मकारी मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुंधरायाम्।
शोकानुशोको हि परम्पराया मामेति भिन्दन् हृदयं मनश्च॥

(वा० रा० अरण्य० ६३।३)

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि, पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि।
तत्रायमद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि॥

(वा० रा० अरण्य० ३।६३।४)

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः पितुर्विनाशो जननीवियोगः।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगम्, आपूरयन्ति प्रविचिन्तितानि॥

(वा० रा० अरण्य० ३।६३।५)

अर्थात् मेरे जैसा कोई बुरे कर्म करनेवाला इस पृथिवी पर न होगा जिसे शोक पर शोक हृदय और मन का भेदन करते हुए प्राप्त हो रहा है। पहले मैंने (पूर्व जन्मों में) कई पाप कर्म किये थे जिनका यह फल मुझे मिल रहा है कि एक के पश्चात् दूसरा दुःख प्राप्त हो रहा है। राज्य का नाश, स्वजनों से वियोग, पिताजी की मृत्यु, माता से वियोग—इन सब का चिन्तन करते हुए भी मेरे शोक का वेग बढ़ता जाता है। इत्यादि।

जब लक्ष्मणजी युद्धस्थल में मूर्छित, मृतप्राय हो गये तो श्री रामचन्द्रजी ने कहा—

किं मया दुष्कृतं कर्म, ? कृतमन्यत्र जन्मनि।
येन मे धार्मिकोभ्राता, निहतश्चाग्रतः स्थितः॥

(वा० रा० युद्धकाण्ड सर्ग १०१, श्लोक १८-१९)

अर्थात् मैंने पिछले जन्म में कौन-सा पाप किया था जिससे मेरा धार्मिक भ्राता मेरे आगे मरा पड़ा है।

जब मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जैसे आदर्श महामानव भी अपने दुःखों का कारण पूर्व जन्म में कृत बुरे कर्मों वा पापों को बतलाते हैं, तो सर्वसाधारण की तो बात ही क्या है?

अतः यह स्पष्ट है कि वेदादिशास्त्रों के अनुसार दुःखों का कारण पूर्व या इस जन्म में किये पाप कर्म हैं जिनसे निवृत्त होने के कारण मनुष्य को पूर्ण आनन्दमय 'स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः' (अथर्व० १०।८।१)

सर्वज्ञ भगवान् का सदा चिन्तन करना चाहिए। उसकी सच्ची उपासना और वेदों में कहे पाप प्रवृत्ति के कारणों का परित्याग करने से मनुष्य निष्पाप होकर सच्चे सुख को प्राप्त कर सकता है।

सम्भव है कि किसी जिज्ञासु के मन में यह शंका उत्पन्न हो कि हमने इस अध्याय में अनेक वेद मन्त्रों के प्रमाण देकर यह सिद्ध करने का जो यत्न किया है कि मृत्यु सर्वथा पूर्व निर्धारित नहीं होती, उसे दीर्घ सन्ध्योपासना, प्राणायामादि से बढ़ाया जा सकता है उसका योददर्शन के 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (योग० २।१३) इस सूत्र के विरुद्ध समझा जाये, किन्तु उस सूत्र और उससे पूर्व सूत्र के भाष्य में महर्षि वेदव्यासजी ने इस प्रकार के जो शब्द लिखे हैं—

दृष्ट जन्म वेदमीयस्त्वेक विपाकारम्भी भोग हेतुत्वाद् द्विविपाकारम्भीवा आयुर्भोग हेतुत्वाद नन्दीश्वरवद्वा॥ तत्र पुण्यापुण्य कर्माशयः काम लोभ मोह क्रोध प्रसवः। स दृष्टजन्म वेदनीयश्चादृष्टजन्यवेदनीयश्च। तत्र तीव्र संवेगेन मंत्रतपः समाधिभिर्निवर्तित ईश्वर देवता महर्षि महानुभावानामाराधनाद् वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्य कर्माशय इति। तथा तीव्र क्लेशेन भीतव्याधित कृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते॥

(क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः यो० २।१२ व्यास भाष्ये)

इन शब्दों से उसी वैदिक भाव का समर्थन होता है जिसे अनेक वेद मन्त्रों के आधार पर हमने ऊपर प्रतिपादित किया है। इनसे स्पष्ट है कि गायत्र्यादि मन्त्र जप–तप–समाधि के तथा परमेश्वर की आराधना–सन्ध्योपासनादि के तीव्र वैराग्य के साथ विशेष अनुष्ठान द्वारा आयु को बढ़ाया और ऋषियों, तपस्वियों, महात्माओं तथा विश्वस्त दीनों और आर्त जनों के घोर अपकार आदि अत्यन्त नीच कर्मों द्वारा आयु को घटाया जा सकता है। अतः यद्यपि वेदों के स्वतःप्रमाण होने के कारण उनके विरुद्ध किसी भी स्मृति, शास्त्रादि का वचन उपेक्षणीय होता है, तथापि यहाँ उससे विरोध का भी प्रश्न नहीं उठता। शंका निवृत्यर्थ इतना स्पष्टीकरण हमें आवश्यक प्रतीत हुआ।

अध्याय–२७

आदर्श संस्कृति व सभ्यता

आजकल जगत् में अनेक संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ प्रचलित हैं और प्रत्येक के अनुयायी या समर्थक अपनी संस्कृति और सभ्यता को ही सर्वोत्तम कहते हैं। अतः यह भी एक जटिल समस्या हो गयी कि किस संस्कृति और सभ्यता को सर्वोत्तम और सब के लिए उपादेय माना जाय। इस अध्याय में इसी विषय पर पहले वेदों की दृष्टि और फिर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाएगा।

वेदों की (सार्वभौम) संस्कृति

यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि वेदों में संस्कृति के विषय में बहुत से बहुमूल्य उपदेश स्थान–स्थान पर पाये जाते हैं, संस्कृति शब्द का प्रयोग केवल यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में ही आया है—

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः॥

(यजु० ७।१४)

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि—हे (सोमदेव) शान्ति के स्रोत सकल जगदुत्पादक सर्वप्रकाशक परमेश्वर! हम (ते) तेरे (अच्छिन्नस्य सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम) अखण्ड उत्तम वीर्य वा बल युक्त ऐश्वर्य की पुष्टि का दान बार–बार और निरन्तर करनेवाले होवें। (सा) वह (प्रथमा) सब से उत्तम (विश्ववारा) सब के अथवा सारे जगत् के लिए वरणीय–उपादेय (संस्कृतिः) संस्कृति है। (सः) (प्रथमः वरुणः मित्रः अग्निः) वह परमात्मा जिसकी पूजा करना सब का कर्त्तव्य है, जो सब के लिए वरणीय, सब को स्नेह दृष्टि से देखनेवाला, ज्ञान स्वरूप, सच्चा नेता है, वही इस संस्कृति में सब से प्रथम उपासनीय माना जाता है। अथवा (२) इस विश्ववारा–सार्वभौम संस्कृति में वरुण–अज्ञानान्धकार निवारक, मित्र सब के साथ मित्रभाव वा प्रेम से वर्ताव करनेवाला अग्निः ज्ञानी ब्राह्मण नेता ही (प्रथमः) प्रथम स्थान का–नेतृत्व का अधिकारी है। (अग्ने यहाँ असि ब्राह्मण भारत० कौषी० ३।२, शत० १।४।२।२, तैत्ति० ३।५।३।१ तस्मावाचानमाहुरग्नि कल्प इति शत० ६।१।१।१०)।

इस प्रकार इस मन्त्र में जिस वैदिक संस्कृति को विश्ववारा सब देवों के लिए वरणीय (सर्वैर्देवैर्वरणीया–श्री सायणाचार्यः काण्वसंहिता भाष्ये सर्वैरेवस्वी–

कर्तुयोग्येति दयानन्दर्षि) कहा है, उसके कुछ मुख्य तत्त्वों का प्रतिपादन निम्नलिखित है—

(१) सारे ऐश्वर्य का स्वामी एक परमेश्वर है। इसलिए 'ते अच्छिन्नस्य सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य' का मन्त्र में प्रयोग किया गया है।

(२) हमें भगवान् की कृपा से जो ऐश्वर्य (चाहे वह भौतिक हो चाहे ज्ञानानिरूप आध्यात्मिक जैसे कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने रायः का अर्थ सर्वविद्याजनितस्य बोधधनस्य, ऐसा करते हुए सूचित किया है) प्राप्त होता है, उसका निरन्तर दान करना, परोपकारार्थ उसका उपयोग करना, हमारा कर्त्तव्य है। ददितारः शब्द मन्त्र में आया है जिसका अर्थ भी सायणाचार्य ने काण्व संहिता भाष्य में भूयोभूयोदातारः, अर्थात् बार-बार देनेवाले बनें, ऐसा किया है। उव्वटाचार्य और महीधर ने भी भूयोभूयो यज्ञस्य करणम् आशास्यते, ऐसा लिखा है।

(३) वेदोक्त संस्कृति किसी जाति, सम्प्रदाय, वर्ग वा देश तक सीमित नहीं है, बस विश्ववारा-सर्वैर्वरणीया-सब के लिए स्वीकरणीय वा सार्वभौम (Universal) है।

(४) उस वैदिक संस्कृति में सर्वप्रथम स्थान वरुण, मित्र, अग्नि इत्यादि पदवाच्य—

इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णम॒ग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यः स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न्।
एकं॒ सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑दन्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः॥

(ऋ० १।१६४।४६)

इत्यादि प्रमाण अनुसार परमेश्वर का है। सब के लिए सदा उपास्य वही ज्ञान का आदि मूलभूत परमेश्वर है।

(५) जहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से परमेश्वर इस वैदिक सार्वभौम संस्कृति के अनुसार सर्वप्रथम-प्रथम-मुख्य (प्रथमोमुख्य इति श्री सायणाचार्योऽपि) उपासनीय है वहाँ सामाजिक वा आधिभौतिक दृष्टि से, वरुण-अज्ञानान्धकार निवारक होने के कारण वरणीय और श्रेष्ठ मित्र-ञिमिदा स्नेहने सब के साथ प्रेम करनेवाला अग्नि-अगि गतौ अथवा अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति-निरुक्ते, ऐसा ज्ञानी ब्राह्मण नेतृत्व के लिए प्रथम-मुख्य है। समाज का नेतृत्व अज्ञानान्धकार निवारक, सब के मित्र (कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते-मनु०) के समान तेजस्वी ब्राह्मण के हाथ में होना चाहिए तभी सब का कल्याण हो सकता है। यह वैदिक संस्कृति का एक प्रमुख तत्त्व है जिसको मन्त्र द्वारा सूचित किया गया है।

इस मन्त्र में प्रयुक्त संस्कृति शब्द का अर्थ श्री सायणाचार्य ने समीचीनाकृतिः, उत्तम कृति यह किया है। स्वामी दयानन्द ने उसका अर्थ विद्यासुशिक्षाजनिता नीतिः, ऐसा किया है। संस्कृति शब्द सम् उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' करणे धातु से ति

प्रत्यय होने पर संपरिम्यां करोतौ भूषणे (अष्टाध्यायी ६ । १ । १३७ संपरिपूर्वस्य करोतेः सुट्स्याद् भूषणेऽर्थे) इस सूत्र से सुट् का आगम होने पर संस्कृति शब्द सिद्ध होता है, जो समीचीन वा उत्तम भूषणरूप कृति का द्योतक है। इस प्रकार संस्कृति का शाब्दिक अर्थ शुद्ध करना वा उन्नत करना है। जब बीज भूमि में बोया जाता है तो उसका बाह्य अंश नष्ट होने लगता है क्योंकि बढ़वार के लिए उसकी आवश्यकता नहीं होती। बाह्य अंश उसके लिए बाधा होती है जिसके हटते ही वह उगने लगता है। इसी भाँति हमारा आत्मा भी एक बाह्य कलेवर से ढका होता है जिसकी अपने लिए तो उपयोगिता है परन्तु वास्तव में वह एक बड़ी रुकावट होती है। संस्कृति का कार्य इस रुकावट को दूर करना होता है, जिससे आभ्यन्तर गुणों को पूर्ण विकास का अवसर मिल जाए।

संस्कृति और सभ्यता में भेद

बहुत से विद्वान् तथा साधारण जन संस्कृति और सभ्यता को समानार्थक वा पर्यायवाची समझते हैं। वास्तविकता यह है कि इन दोनों में बड़ा अन्तर है। **सभ्यता तथा संस्कृति में आधारभूत भेद है। सभ्यता शरीर है, संस्कृति आत्मा है। सभ्यता बाहर की चीज है, संस्कृति भीतर की चीज है। सभ्यता भौतिक विकास का नाम है, संस्कृति आध्यात्मिक विकास का नाम है।** रेल, तार, रेडियो, मोटर, हवाई जहाज आदि ये सब सभ्यता के विकास को दर्शाते हैं। सच्चाई, झूठ, ईमानदारी–बेईमानी, सन्तोष–असन्तोष, संयम–संयमहीनता, ये सब संस्कृति के ऊँचे या नीचे विकास के द्योतक हैं। अंग्रेजी में संस्कृति के लिए Culture और सभ्यता के लिए (Civilisation) शब्दों का प्रयोग किया जाता है। हो सकता है, कोई देश ऐसी संस्कृति को ही अपनाए जिसमें झूठ, बेइमानी, असन्तोष, संयमहीनता आदि ही आधारभूत तत्त्व हों। परन्तु ऐसों को सुसंस्कृत नहीं कहा जा सकता। संस्कृति के क्षेत्र में जो लोग अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा इसी प्रकार के आध्यात्मिक तत्त्वों को आधारभूत बनाकर चलेंगे, वे एक प्रकार की संस्कृति को जन्म देंगे। जो हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि के दूसरी प्रकार के तत्त्वों को आधारभूत बनाकर चलेंगे, वे दूसरी प्रकार की संस्कृति को जन्म देंगे। इन दोनों का क्षेत्र संस्कृति होगी–एक उच्च संस्कृति, दूसरी नीच वा हीन संस्कृति परन्तु उसे सभ्यता नहीं कहा जाएगा। सभ्यता का सम्बन्ध हिंसा अहिंसा से, सत्य असत्य से, स्तेय–स्तेय से, ब्रह्मचर्य–अब्रह्मचर्य से, अपरिग्रह–परिग्रह से नहीं। एक व्यक्ति पैसेवाला है, बड़े भारी मकान में रहता है, दो चार मोटरें हैं, पाँच दस नौकर हैं, घर में सब वैभव, विलासिता की वस्तुएँ हैं, परन्तु परले दर्जे का झूठा, बेईमान, दुराचारी, शराबी है। वह शायद सभ्य कहला सके, पर सुसंस्कृत नहीं। प्रचलित अर्थों में

उसके पास सभ्यता है, संस्कृति नहीं और यदि उसके पास कोई संस्कृति कही जा सकती है, तो यह ऊँची, दैवी संस्कृति नहीं, नीच आसुरी संस्कृति है। इसका कारण यह है कि वह अहिंसा के स्थान में हिंसा को, सत्य के स्थान में असत्य को, अस्तेय के स्थान में स्तेय को, ब्रह्मचर्य के स्थान में अब्रह्मचर्य को, अपरिग्रह के स्थान में परिग्रह को जीवन का आधार बनाये हुए है। नीची आसुरी संस्कृति को, ऐसी संस्कृति को जो झूठ, बेइमानी, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि पर आश्रित हो, वस्तुतः संस्कृति कह ही नहीं सकते। उसके लिए संस्कृति का प्रयोग करना ठीक ही नहीं है क्योंकि संस्कृति में सम्–उपसर्ग समीचीनता या उत्तमता का भाव सूचित होता है। इस दृष्टि से कोई व्यक्ति बाह्य रूप में सभ्य होते हुए भी असंस्कृत हो सकता है वीर, और सुसंस्कृत होते हुए भी असभ्य कहला सकता है। सभ्यता भौतिक है, बाहर की वस्तु है, संस्कृति आध्यात्मिक है, भीतर की वस्तु है। सभ्यता और संस्कृति साथ–साथ भी चल सकती हैं, एक दूसरे के विना भी रह सकती हैं। यह हो सकता है कि एक देश भौतिक दृष्टि से अत्यन्त उन्नत हो उसमें रेल, तार, रेडियो, मोटर, सब कुछ हो और साथ ही उस देश के वासी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि के आध्यात्मिक तत्त्वों को भी जीवन का मुख्य सूत्र मानते हों। यह तो सब से उच्च अवस्था है, आदर्श स्थिति है। इस अवस्था में उस देश की संस्कृति तथा सभ्यता दोनों ऊँची कही जाएँगी। यह भी हो सकता है कि एक देश भौतिक दृष्टियों से बहुत ऊँचा हो, वहाँ विज्ञान के सब आविष्कार अपनी चरमसीमा पर पहुँच रहे हों, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह बहुत नीचा हो। वहाँ मोटरें हों, परन्तु मोटरों पर बैठकर लोग डाके डालते हों, टी०वी०, रेडियो हों, परन्तु उन पर अश्लील और गन्दे ही दृश्य वा गाने गाये जाते हों। इस अवस्था में उस देश की सभ्यता को, कोई चाहे उसे भौतिक दृष्टि से कितना ही उन्नत कह दे, किन्तु उसकी संस्कृति नीची ही कही जाएगी। यथार्थ यह होगा कि वहाँ संस्कृति का अभाव है। यह भी सम्भव है कि एक देश भौतिक दृष्टि से नीचे स्तर में हो, परन्तु आत्मिक स्तर में बहुत ऊँचा उठा हुआ हो। उस देश के वासी दूसरे के दुःख में दुःखी होते हों, दूसरे के कल्याण के लिए अपने स्वार्थ को तिलाञ्जलि देते हों, झूठ, बेइमानी, दुराचार, भ्रष्टाचार आदि से दूर रहते हों परन्तु वे मोटरों के स्थान में बैलगाड़ियों में चलते हों, महलों के स्थान में झोंपड़ों में रहते हों। इस अवस्था में वह देश बाह्य सभ्यता की दृष्टि से चाहे अधिक उन्नत न कहा जाय परन्तु संस्कृति में उसके सामने सब को सिर झुकाना पड़ेगा।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभ्यता तथा संस्कृति में ऊँचा स्थान संस्कृति का है, ऐसी संस्कृति का जिसके आधार में सच्चाई, ईमानदारी, सन्तोष, संयम, प्रेम आदि आध्यात्मिक तत्त्व काम कर रहे हों। रेल, तार, रेडियो

आदि बाह्य भौतिक वस्तुओं की संसार को इतनी आवश्यकता नहीं, जितनी सच्चाई, ईमानदारी, संयम और विश्वप्रेम आदि की। दोनों का उचित मात्रा में होना सब से अच्छा है, परन्तु दोनों न हों, तो संस्कृति का होना सभ्यता से अच्छा है। सभ्यता को संस्कृति की रक्षा के लिए छोड़ा जा सकता है। संस्कृति को सभ्यता की रक्षा के लिए नहीं छोड़ा जा सकता।

वैदिक संस्कृति के कुछ मुख्य तत्त्व

यद्यपि—

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः॥

(यजु० ७।१४)

इस वेद मन्त्र की व्याख्या करते हुए हमने वैदिक संस्कृति के कुछ तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन किया है, तथापि उन पर कुछ अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

(१) वैदिक संस्कृति का प्रथम तत्त्व सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् की सत्ता पर पूर्ण विश्वास है। उस भगवान् को—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥

(ऋ० ८।९८।११; साम० ११७०)

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा स्मरण करते हुए कहा गया है कि हे जीवनाधार, सारे जगत् को बसानेवाले, अनन्तज्ञान और कर्मवाले परमेश्वर! आप ही निश्चय से हमारे पिता और आप हमारी मंगलमयी माता हैं। अतः आपसे ही हम सुख शान्ति के लिए प्रार्थना करते हैं।

उस भगवान् को स्मरण करने से ही जो पूर्ण और आनन्दमय है, मनुष्य, मृत्यु भय से भी मुक्त होकर अत्यन्त पवित्र, निष्पाप जीवन व्यतीत कर सकता है, इस बात को वेद मन्त्रों में—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

(अथर्व० १०।८।४४)

इत्यादि शब्दों द्वारा बताया गया है। परमात्मज्ञान के अतिरिक्त अजर-अमर आत्मा के ज्ञान को भी मन्त्र में मृत्यु भय से मुक्त होने का साधन बताया गया है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमात्मा का स्मरण मनुष्य को निष्पाप बना देता है अतः—

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। अप नः शोशुचदघम्॥

(ऋ० १।९७।६)

इत्यादि मन्त्रों में कहा गया है कि हे (विश्वतोमुख) सब ओर मुखवाले–जलवायु अग्नि इत्यादि के द्वारा जो सब ओर शिक्षा दे रहा है (त्वं हि विश्वतः परिभूः अपि) तू निश्चय से सर्वव्यापक है, अतः (नः अघम् अपशोशुचत्) तेरे स्मरण से हमारा पाप सर्वथा दग्ध हो जाए (शोचतिर्ज्वलति–कर्मा–निघं० १।१७)।

इस प्रकार सर्वव्यापक, सर्वज्ञ परमेश्वर का स्मरण करते हुए वैदिक संस्कृति सब मनुष्यों को निष्पाप जीवन व्यतीत करने का सन्देश देती है।

(२) वैदिक संस्कृति का दूसरा मुख्य तत्त्व अजर, अमर नित्य आत्मा की सत्ता में विश्वास रखते हुए इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को उसकी अधीनता में रखना तथा सर्वथा निर्भय बनाना है। आत्मा की अमरता के विषय में हम अनेक मन्त्रों का विज्ञान और आध्यात्मिकता के समन्वय विषयक अध्याय में अर्थ सहित उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ केवल वैदिक संस्कृति के तत्त्वों को दर्शाते हुए उनका निर्देश पर्याप्त है।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

(ऋ० १।१६४।३१)

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।

(ऋ० १०।४८।५)

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३ वर्धमानः॥

(ऋ० ६।९।४)

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट बताया है कि—(१) मैंने अविनाशी शरीर के पालक आत्मा के दर्शन किये हैं, जो अच्छे–बुरे कर्म करते हुए इधर–उधर विचरता और तदनुसार अनुकूल प्रतिकूल उच्च–नीच योनियों को प्राप्त करता है। (२) मैं आत्मा हूँ, मैं अपनी शक्ति के रूप में विद्यमान धन को कभी नष्ट न करूँगा। मैं कभी मरनेवाला नहीं हूँ। (३) यह आत्मा ज्ञान को ग्रहण करनेवाला है। इसका (पश्यत) दर्शन करो–साक्षात्कार करो (इदं मर्त्येषु अमृतं ज्योतिः) यह मरणशील मानव देहों में विद्यमान अमर ज्योति है। यह ध्रुव–स्थिर और अमर्त्य–अविनाशी है जो शरीर के अन्दर विद्यमान होकर उसके साथ बढ़ता प्रतीत होता है। इस प्रकार आध्यात्मिकता वैदिक संस्कृति का अत्यन्त प्रमुख तत्त्व है। वैदिक संस्कृति प्रत्येक समस्या पर, मुख्यतः आत्मिक हित और कल्याण की दृष्टि से, विचार करना सिखलाती है। सत्य, यश और श्री (ऐश्वर्य) में से सत्य का प्रथम स्थान है

जिसकी रक्षा के लिए यश और ऐश्वर्य का परित्याग करने में कुछ भी संकोच न करना चाहिए यह जो भाव—

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय ।
पशूनाꣳरूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥

(यजु० ३९।४)

इस वेद मन्त्र के आधार पर निर्मित आर्ष वचन (जिसका हवन यज्ञ के प्रारम्भ में आचमन करते हुए उच्चारण किया जाता है)—

सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥

वैदिक संस्कृति का हृदय कहा जा सकता है। महाभारत १८।५।६३ में महर्षि वेदव्यास का—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

(म०भा० १८।५।६३)

यह महत्त्वपूर्ण वचन वैदिक संस्कृति के इसी तत्त्व से प्रेरित है जिसमें कहा गया है कि कभी किसी भी कारण से, प्राण जाते हों तो भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि धर्म नित्य है, सुख-दुःख तो अनित्य हैं। जीव नित्य है, शरीरादि साधन जिनके द्वारा कर्म किये जाते हैं, ये अनित्य हैं। इस आत्मा की नित्यता और शरीर की अनित्यता को समझकर कर्म करनेवाला न कभी पाप में प्रवृत्त हो सकता है और न भयभीत हो सकता है।

(३) वैदिक संस्कृति का तृतीय मुख्य तत्त्व परोपकार तथा दान का है। हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में जो यजुर्वेद ७।१४ का संस्कृति विषयक मन्त्र उद्धृत किया है उसमें भी—

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम ।

(यजु० ७।१४)

रायस्पोषस्य ददितारः इन शब्दों द्वारा यह भाव स्पष्ट रूप में प्रकट किया गया है। हम ऐश्वर्य को भगवत्प्रदत्त मानकर सदा उसका बार-बार दान करनेवाले हों। परोपकार, दान, अतिथि, सत्कार तथा दूसरों के हित के लिए स्वार्थ का परित्याग करने पर जितना बल वैदिक संस्कृति देती है, उतना अन्यत्र कहीं प्रतीत नहीं होता। प्रत्येक वेदमन्त्र के अन्त में आहुति देते समय स्वाहा का उच्चारण इसी वैदिक संस्कृति के तत्त्व का द्योतक है। स्वाहा का अर्थ सु+आ+हा है जहाँ ओहाक्-त्यागे इस धातु का प्रयोग है। अतः उसका अर्थ अच्छी प्रकार चारों ओर से त्याग का होता है। ऋग्वेद के केवलाघो भवति केवलादी, (ऋ० १०।१०७।६) अर्थात् अकेला खानेवाला वा धनादि का उपभोग करनेवाला धन का नहीं अपितु पाप का ही भोग करता है। इस अत्युत्तम उपदेश को ही अघं स केवलं भुंक्ते, यः

पचत्यात्मकारणत्। (मनु० ३।११।८) इस रूप में मनुस्मृति और—

भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (भगवद्गीता ३।१३)

के रूप में भगवद्गीता में दुहराया गया है। वेदों के अतिरिक्त सारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी यदि कोई भाव ओत-प्रोत कहा जा सकता है तो यही परोपकार का भाव है जिसमें सब प्रकार के स्वार्थ का परित्याग करके दूसरों के हित सम्पादन करने का भाव मिला हुआ है।

(४) वैदिक संस्कृति का चतुर्थ मुख्य तत्त्व भोग और त्याग का अद्भुत समन्वय है जिसका हम भोग त्याग और ज्ञान कर्म भक्ति के समन्वय की समस्या विषयक अध्याय में पर्याप्त विस्तार से—

तेन॑ त्यक्तेन॑ भुञ्जीथा मा गृ॑धः कस्य॑ स्विद्धन॑म्॥

(यजु० ४०।१)

इत्यादि मन्त्रों के आधार पर विचार कर चुके हैं। वैदिक संस्कृति का मौलिक तत्त्व यह है कि संसार तो भोगने के लिए रचा गया है, इसे भोगो परन्तु भोगते-भोगते इसमें इतने लिप्त न हो जाओ कि अपनी सुधबुध ही भुला दो, अपने आपे को इसमें खो ही दो। संसार को भोगो, परन्तु त्याग पूर्वक, संसार में रहो, परन्तु निर्लिप्त होकर (न कर्म लिप्यते नरे-यजु० ४०।२) निस्संग होकर, इसमें रहते हुए भी इसमें न रहने के समान, पानी में कमलदल की तरह (पद्म पत्रमिवाम्भसि-गीता ५।१०), घी में पानी की बूँद की तरह। यह सब इसलिए क्योंकि यथार्थवादी दृष्टि से **जैसे संसार का होना सत्य है, वैसे ही यथार्थवादी दृष्टि से संसार का हमसे छूटना भी सत्य है। भोगना और त्यागना, इन दोनों सत्यों का सम्मिश्रण वा समन्वय संसार की अन्य किसी संस्कृति में नहीं है, केवल वैदिक आर्य संस्कृति में है।** अन्य सब संस्कृतियाँ इन दोनों में से केवल एक सत्य को ही ले लेती हैं। कोई त्यागवाद को ले बैठी है, कोई भोगवाद को, किसी ने प्रकृतिवाद को, भौतिकवाद को जन्म दिया, किसी ने कोरे अध्यात्मवाद को। भोग और त्याग का समन्वय भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का मेल केवल वैदिक आर्य संस्कृति में ही पाया जाता है और यही इस संस्कृति का एक आधारभूत मौलिक विचार है।

(५) वैदिक संस्कृति का पञ्चम तत्त्व कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके निष्काम भाव से कर्म करना है जिसका वेद में—

कु॒र्वन्ने॒वेह कर्मा॑णि जिजीवि॒षेच्छ॒तꣳ समाः॑।
ए॒वं त्वयि॒ नान्यथे॒तो॒ऽस्ति न कर्म॑ लिप्यते॒ नरे॑॥

(यजु० ४०।२)

इन सुन्दर शब्दों में उपदेश दिया गया है। इसमें बताया गया है कि मनुष्य को सौ वर्षों तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है जिससे तुझ नर में (कर्म न लिप्यते) कर्म का लेप नहीं होता–कर्मों में भी आसक्ति न हो। अनासक्त भाव से कर्त्तव्य कर्म का–अनुष्ठान तथा फल की आकांक्षा त्यागकर कर्त्तव्य भाव से निरन्तर शुभ कर्म करते चले जाना, यही निष्काम भाव से कर्म करना अथवा कर्मयोग है जिसका भगवद्गीता में योगिराज श्रीकृष्ण ने विस्तार से प्रतिपादन किया है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

योगस्थः कुरुकर्माणि सङ्गँ त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुलोकं संग्रहम्॥

(गीता ३।२५)

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्रमुना कर्म यत् तत्सात्त्विक्मुच्यते॥

(गीता १८।२३)

इन श्लोकों का तात्पर्य स्पष्ट है कि हे अर्जुन! तेरा कर्म पर ही अधिकार है, फलों पर नहीं। कर्मफल से प्रेरित होकर कर्म करनेवाला तू न बन, पर साथ ही अकर्म में तेरी आसक्ति न हो।

(२) हे अर्जुन! योगस्थ होकर आसक्ति का परित्याग करके तू कर्म कर और सफलता, असफलता में समता रख। यह समता ही योग है।

(३) अविद्वान् लोग कर्मों में आसक्त होकर वा फँसकर जैसे सब काम करते हैं, विद्वान् को चाहिए कि अनासक्त होकर लोक संग्रह वा लोगों को सन्मार्ग पर चलाने और लोकोपकार की भावना से कार्य करे।

(४) सात्त्विक कर्म वह कहाता है जो नियत (शास्त्र विहित) हो, आसक्ति रहित हो, राग–द्वेष से रहित होकर जो किया जाय और साथ ही फल की इच्छा से प्रेरित होकर जो न किया जाय।

अध्यात्मवाद का अभिप्राय निष्कर्मण्यता समझा जाता है किन्तु यह अशुद्ध विचार है, वैदिक आर्य संस्कृति और वैदिक अध्यात्मवाद का यह अभिप्राय

कदापि नहीं है। इसका अभिप्राय निष्कर्मण्य जीवन बिताने के स्थान में निष्काम जीवन बिताने से है। निष्काम भाव से शुभ कर्म करने का विचार वैदिक आर्य संस्कृति का एक मौलिक विचार है जिसकी योगिराज श्रीकृष्णजी ने भगवद्गीता में अत्युत्तम व्याख्या की है। कर्त्तव्य के भाव से प्रेरित होकर कर्म करना न कि मान प्रशंसा तथा अन्य फल प्राप्त करने की इच्छा से। यह भाव गीता के अन्दर आदि से अन्त तक ओत-प्रोत प्रतीत होता है। वैदिक संस्कृति हमें अपने जीवन को यज्ञ रूप बनाने का पाठ सिखाती है।

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वा॥ (ऋ० १०।९०।१६; यजु० ३१।१६)

यज्ञ अर्थात् निष्काम भाव से किये हुए परोपकारक शुभ कर्मों के द्वारा ही सत्यनिष्ठ विद्वान् पूजनीय परमात्मा की पूजा करते हैं। इस प्रकार के उपदेशों से वेद भरे हुए हैं।

अ॒का॒मो धीरो॑ अ॒मृतः॑ स्वय॒ंभू रसे॑न तृ॒प्तो न कु॒त॑श्च॒नोनः॑।
तमे॒व वि॒द्वान्न बि॑भाय मृ॒त्योरा॒त्मानं॒ धीर॑म॒जरं॒ युवा॑नम्॥

(अथर्व० १०।८।४४)

इस मन्त्र का नित्य अमर आत्मा विषयक अर्थ करने पर अकामः, इस विशेषण द्वारा निष्कामता की शिक्षा मन्त्र से स्पष्ट होती है। निष्कर्मण्यता (निकम्मापन खाली बैठ जाना-कर्म त्याग) और निष्कामता, इनके भेद को समझना वैदिक संस्कृति के यथार्थ तत्त्व को समझने के लिए नितान्त आवश्यक है।

(६) वैदिक संस्कृति का षष्ठ मुख्य तत्त्व आत्मोपमय दृष्टि को धारण करना है। वेदों में नित्य अमर आत्मा की सत्ता का प्रतिपादन है। इसको हम पहले भी अनेक मन्त्रों को अर्थसहित उद्धृत करके दिखा चुके हैं। इस विषय में ऋग्वेद १।१६४।३० निम्न मन्त्र भी मननीय है—

अ॒नच्छ॑ये तु॒रगा॑तु जी॒वमेज॑द् ध्रु॒वं मध्य॒ आ प॒स्त्या॑नाम्।
जी॒वो मृ॒तस्य॑ चरति स्व॒धाभि॒रम॑र्त्यो॒ मर्त्ये॑ना सयो॑निः॥

(ऋ० १।१६४।३०)

अर्थात् (अनत्) श्वास लेता हुआ (एजत्) गतिमान् (तुरगातु) शीघ्रगामी (जीवम्) वा चेतना युक्त जीव (पस्त्यानां मध्ये) शरीररूप गृहों के अन्दर (ध्रुवम्) स्थिरता से (आशय) निवास करता है। (मृतस्य) मृत प्राणी का वह (अमर्त्यः जीवः) अमर जीवात्मा स्वयं अमर अविनाशी होते हुए भी (मर्त्येन सयोनिः) मरणशील शरीर के साथ निवास करता हुआ (स्वधाभिः) अपने धारक शुभाशुभ कर्मों के अनुसार (चरति) विविध योनियों में विचरण करता है।

वैदिक संस्कृति यह सिखाती है कि क्योंकि इस जीव की सत्ता सब प्राणियों में है, अतः सब को अपने समान समझना चाहिए और अपनी तरह उनके सुख-

दुःख का ध्यान रखना चाहिए।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥

(यजु० ४०।७)

इस मन्त्र में यह उपदेश है कि (यस्मिन्) जिस अवस्था विशेष में (विजानतः) विशेष ज्ञानी पुरुष के लिए (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (आत्मा एवं अभूत्) अपने आत्मा के समान ही हो जाते हैं, जब सब में आत्मा को देखने लग जाता है, तब (एकत्वम् अनुपश्यतः) आत्मा की दृष्टि से एकता को देखनेवाले ज्ञानी के लिए (कः मोहः कः शोकः) तब कौन-सा मोह और कौन-सा शोक रह जाता है। जैसे मेरे अन्दर सुख-दुःख का अनुभवशील आत्मा है, वैसे अन्य प्राणियों के अन्दर भी है। अतः उनके साथ मुझे आत्मवत् व्यवहार करना चाहिए।

आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पंडितः॥

इत्यादि सुप्रसिद्ध नीतिशास्त्रोक्त वचन के अनुसार इस प्रकार जो आत्मवत् सब प्राणियों को देखने लगता है, वही पण्डित वा ज्ञानी है। योगिराज श्रीकृष्ण ने तो इस आत्मोपम्य दृष्टि से सब का सुख-दुःख देखनेवाले को परम योगी कहा है।

आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमोमतः॥

(गीता ६।३२)

जो अपने समान अन्य प्राणियों के सुख और दुःख को देखता है, उसी को परम योगी माना जाता है। वेदों के—

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

(यजु० ३६।१८)

इत्यादि विश्वप्रेम तथा विश्वबन्धुत्व के उपदेश इसी आत्मोपम्य दृष्टि के स्वाभाविक परिणाम हैं। यह आत्मोपम्य दृष्टि ही संसार में सौहार्द, सहयोग और विश्वप्रेम को उत्पन्न कर सकते हैं।

(७) वैदिक संस्कृति का सप्तम तत्त्व स्वार्थ रहित, सब को मित्र की दृष्टि से देखनेवाले, अज्ञानान्धकार निवारक, तपस्वी ब्राह्मणों को समाज में सब से उच्च नेतृत्व दिलाना है, जैसे कि हम वैदिक संस्कृति विषयक यजु० ७।१४ के—

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः॥

(यजु० ७।१४)

इस भाग की व्याख्या करते हुए दिखा चुके हैं। वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था का एक मुख्य तत्त्व यही था कि सच्चे त्यागी तपस्वी विद्वान् ब्राह्मण समाज के नेता हों।

न्याय करने और कानून बनाने का अधिकार उनके हाथ में रहे ताकि किसी के साथ स्वार्थवश अन्याय न हो सके। इस बात की व्याख्या वैदिक वर्ण व्यवस्था के अध्याय में की जा चुकी है अतः उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं।

वैदिक सभ्यता की श्रेष्ठता

वैदिक सभ्यता, वैदिक संस्कृति के उपरिलिखित तत्त्वों का मूर्तरूप है। सभ्यता, सभ्य शब्द से बनी हुई भाववाचक संज्ञा है और सभ्य शब्द का अर्थ 'सभायां साधुः' सभा में साधु अथवा उत्तम आचार व्यवहार से सम्पन्न व्यक्ति का है। सभा शब्द स उपसर्ग पूर्वक भा-दीप्तौ इस धातु से बना है। भा का अर्थ है दीप्ति वा कान्ति और स का अर्थ है सहित, इस प्रकार सभा का अर्थ है वे व्यक्ति जो अन्यों को चमकाने की चेष्टा करते हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति से प्रसारित होनेवाला प्रकाश प्रकाश-पुञ्ज बन सके। समाज को ऐसे प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जो मिलकर प्रकाश के भण्डार का सृजन कर सकें। यह प्रकाश समष्टि रूप से सब का और व्यष्टि रूप से प्रत्येक का होता है। जिस सभा में कोई व्यक्ति न चमके, और जिसमें केवल एक ही व्यक्ति चमके, वह सभा सभा नहीं होती। सभा वह होती है जिसमें सब मिलकर चमकें और प्रत्येक व्यक्ति अन्य को चमकाने में योगदान करे। सभ्यता शब्द का आन्तरिक भाव भी यही है, जिस सभ्यता में इस भाव की उपेक्षा हो वह सभ्यता नहीं कहला सकती। ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त (ऋ० १०।१९१) में इसी समयोचित व्यवहार का निर्देश निम्नलिखित मन्त्रों द्वारा किया गया है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

(ऋ० १०।१९१।२)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋ० १०।१९१।४)

इन मन्त्रों की व्याख्या प्रसंगानुसार विश्वमैत्री, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आदि प्रकरणों में की जा चुकी है। इनमें मिलकर चलने, मिलकर प्रेम से सम्भाषण करने, अपने मनों को ज्ञान द्वारा सुसंस्कृत करने, अपने कर्त्तव्यों का भली-भाँति पालन करने तथा अपने संकल्पों, हृदयों और मनों को मिलाकर उत्तम हार्दिक सहयोग द्वारा सामाजिक कार्य करने की भावना ओतप्रोत है, जिसके विना वस्तुतः कोई सभ्य नहीं कहला सकता।

वेदों में सभ्य वा सभेय शब्द का प्रयोग

सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः॥

(अथर्व० १९।५५।५)

यन्त्यस्य सुभां सभ्यों भवति य एवं वेद ॥

(अथर्व० ८।१०।९)

सुभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् ॥ (यजु० २२।२२)

यः सुभेयो विदथ्यः सुत्वा युज्वाथ पूरुषः ॥

(अथर्व० २०।१२८।१)

इत्यादि अनेक मन्त्रों में आया है तथा अनेक प्रकार की सभाओं का वर्णन भी आया है जिनका सर्वोत्तम शासन पद्धति विषयक अध्याय में हम कुछ विस्तार से निर्देश कर चुके हैं। अतः उसकी पुनरावृत्ति न करते हुए अभी इतना ही कथन पर्याप्त है कि वैदिक संस्कृति के सार्वभौम अत्यन्त उपादेय तत्त्वों के आधार पर वैदिक सभ्यता भी अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की है। किसी भी समय की सभ्यता का निर्णय (१) ईश्वर विषयक उच्च कल्पना, (२) समाज की उत्तम व्यवस्था, (३) सामाजिक राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक भाव की प्रधानता, (४) स्त्रियों की परिवार और समाज में उत्तम स्थिति, (५) प्रजातन्त्र शासन अथवा प्रजा प्रतिनिधियों द्वारा राजा का चुनाव और (६) वैज्ञानिक वा प्राकृतिक उन्नति मुख्यतया इन ६ बातों से किया जा सकता है। इन सब दृष्टियों से निष्पक्षपात विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचे विना नहीं रह सकते कि वैदिक सभ्यता अत्यन्त उत्कृष्ट थी। इस पुस्तक के भिन्न-भिन्न अध्यायों में इन सब दृष्टियों से पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है जिसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। वेदों में एकेश्वरवाद का शुद्ध रूप में प्रतिपादन है और ईश्वर को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निराकार, निर्विकार, न्यायकारी, दयालु, सच्चिदानन्द के रूप में माना गया है और केवल उस एक की ही मानसिक पूजा का विधान किया गया है इसको हम निम्न मन्त्रों द्वारा दर्शा चुके हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋ० १।१६४।४६)

मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥

(ऋ० ८।१।१)

यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋ० १०।१२१।८)

ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋ० १०।१२१।७)

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः॥

(ऋ० ६।२२।१)

योनः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥

(ऋ० १०।८२।३)

समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्।

(साम० ३७२)

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।

(अथर्व० २।२।१)

मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः॥

(अथर्व० २।२।२)

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।

(अथर्व० १३।४।१६)

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।

(अथर्व० १३।४।१७)

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥

(अथर्व० १३।४।१८)

इस प्रकार के सैकड़ों नहीं, हजारों मन्त्रों को उद्धृत करके दिखाया जा सकता है जिनमें यह बताया गया है कि ज्ञानी लोक एक ही ब्रह्म को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं ताकि उसके अनन्त गुणों का स्मरण किया जा सके। वेदों का आदेश उस एक ही देवाधिदेव की पूजा का है। (एकः एव नमस्यः विक्ष्वीड्यः) वह एक ही परमेश्वर नमस्कार करने योग्य और प्रजाओं में स्तुति योग्य है। (एकः एव नमस्यः सुशेवाः) वह उत्तम सुखदाता एक ही परमेश्वर नमस्कार करने योग्य है। वह परमेश्वर एक ही है २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ या १० नहीं। (सः एष एकः एव) वह एक ही है (एकवृत्) एक होते हुए वह सर्वव्यापक है (एकः एव) वह एक ही है। केवल उसकी मानस पूजा करनी चाहिए जिसका स्वरूप वेदों में निम्न शब्दों में वर्णित है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(यजु० ४०।८)

इस मन्त्र में स्पष्टतया बताया गया है कि परमेश्वर (अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम्) स्थूल सूक्ष्म लिंग सब प्रकार के शरीर से रहित शुद्ध, पवित्र और सर्वथा पाप रहित, सर्वज्ञ, मन का भी ज्ञाता, स्वयम्भू सर्वव्यापक है और वह नित्य

जीवरूप प्रजा के लिए यथार्थरूप से संसार के पदार्थों को बनाता और वेदों के द्वारा उनका उपदेश करता है। पक्षपातवश कुछ कट्टर ईसाई मतावलम्बी पाश्चात्त्य विद्वानों ने चाहे इस विशुद्ध एकेश्वरवाद को न स्वीकार किया हो, किन्तु निष्पक्षपात सब ईसाई, पारसी और मुसलमान विद्वानों को भी स्वीकार करना पड़ा है कि वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद (Pure Monotheism) का प्रतिपादन है और अन्य मत-मतान्तरों के ग्रन्थों की तरह उनकी ईश्वर विषयक कल्पना नरत्वारोपमय कल्पना (Anthro-morphic Conception) नहीं है। प्रो० मैक्समूलर ने "History of Ancient Sanskrit Literature" में ऋग्वेद १०।१२१ हिरण्यगर्भ सूक्त को उद्धृत करते हुए लिखा—

"I add only one more hymn (Rig. 10.121) in which the idea of One God is expressed with such power and decision that it will make us hesitate before we deny to the Aryans an instinctive monotheism."

अर्थात् मैं एक और सूक्त (ऋ० १०।१२१) का उल्लेख करना चाहता हूँ जिसमें एक ईश्वर का भाव इतनी प्रबलता और स्पष्टता से प्रकट किया गया है कि हमें अत्यन्त संकोच करना पड़ेगा पूर्व इसके कि हम आर्यों के एक नैसर्गिक एकेश्वरवाद से इन्कार करें।

कोण्ट जान्सर्जा नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने (Theology of the Hindus P. 53) में वेद मन्त्रों के उद्धरण देकर लिखा—

"These truly sublime ideas can not fail to convince us that the Vedas recognise only one God who is Almighty, Infinite, Eternal, Self-existant, the Light and Lord of the Universe".

(Theology of the Hindus P. 53)

अर्थात् इन उद्धरणों में प्रकाशित भावों से हम निश्चित हुए विना तथा इस परिणाम पर पहुँचे विना नहीं रह सकते कि वेद एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन करते हैं जो ईश्वर सर्वशक्तिमान्, अनन्त, नित्य स्वयम्भू और जगत् का प्रकाशक और स्वामी है। श्लोगल नामक सुप्रख्यात जर्मन विद्वान् ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"It can not be denied that the early Indians possessed a knowledge of True God".

(Wisdom of the Ancient Indians by Schlegl)

अर्थात् इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन आर्यों को सच्चे ईश्वर का ज्ञान प्राप्त था।

पारसी विद्वान् का कथन

कुर्दुन दावाचान नामक पारसी विद्वान् ने "Philosophy oc Zoroastrianism and Comparative Study of Religions" नामक उत्तम पुस्तक में लिखा है कि—

The Vedas teach nothing but monotheism of the purest kind.

अर्थात् वेद विशुद्ध एकेश्वरवाद की ही शिक्षा देते हैं।

एक मुसलमान विद्वान् की सम्मति—

सर यामिन खान नामक मुसलमान विद्वान् "God, Soul and Universe in Science and Islam" नामक पुस्तक में इसी विचार को प्रकट किया है। उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में लिखा है—

"Swami Dayanand, a man of great learning, began to preach the old religion of the Vedas which conceived Unity of God."

अर्थात् स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो बहुत बड़े विद्वान् थे, पुराने वैदिक धर्म का प्रचार शुरू किया जिसमें एकेश्वरवाद का प्रतिपादन था।

इस प्रकार वैदिक सभ्यता में विशुद्ध एकेश्वरवाद का प्रतिपादन उसकी सर्वोत्कृष्टता और श्रेष्ठता को सिद्ध करता है।

वैदिक सभ्यता की सर्वोच्चता पर कुछ पाश्चात्त्य विद्वान्

यद्यपि बहुत से पाश्चात्त्य विद्वान् ईसाई मत अथवा विकासवाद के पक्षपातवश वैदिक संस्कृति और सभ्यता को ठीक तरह समझने में समर्थ नहीं हो सके, तथापि कइयों ने इस विषय का निष्पक्षपात अनुशीलन करके उसकी सर्वोत्कृष्टता को स्पष्टतया स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ डॉ० जेम्स कजिन्स ने वैदिक सभ्यता को आदर्श सभ्यता बताते हुए Path to Peace नामक पुस्तक में लिखा है—

"Such an ideal civilisation is that of the Vedic India which has seen the rise and fall of a succession of empires, and it is because it holds for humanity indications towards salvation, that Europe today, in her search for a saner and surer attitude to life and humanity than that which has brought her to the brink of ruin, is turning towards India." (Path to Peace by Dr. Cousins P. 43)

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की आदर्श सभ्यता वैदिक भारत की है जिसके सामने इतने साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ पर जो स्वयं नष्ट न हुई। क्योंकि वह सभ्यता मनुष्य मात्र के उद्धार के लिए निर्देश देती है। यही कारण है कि यूरोप, जीवन विषयक उच्चतर दृष्टि की खोज में, अपेक्षा उसके जिसने उसे नाश के बिल्कुल समीप ला दिया है, भारत की ओर मुख फेर रहा है।

डॉ० विलड्युरेण्ट और प्राचीन भारतीय सभ्यता

डॉ० विलड्युरेण्ट (Dr. Will Durant) कोलम्बिया विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के भू०पू० प्रोफेसर और अमरीका के प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्यकर्ता थे। वे सन् १९२९ में ६ मास भारत में भ्रमण करके अपने देश को लौटे। ५ अक्टूबर १९३० ई० को न्यूयार्क के एक गिरजाघर में व्याख्यान देते हुए उन्होंने भारतीय सभ्यता पर जो विचार प्रकट किये उनमें से निम्न उद्धरण इस प्रकरण में आवश्यक हैं—

"Recent excavations at Mohan Jodero reveal a Civilisation 3500 B.C. with great cities, comfortable homes, industries betokening a social condition superior to that prevailing in contemporary Babylonis and Egypt". "At no time in recorded history has India been without a high civilisation. All in all, it **ranks in its achievements with the highest civilisations in History.** Many Scholars would call it the highest of all". (Hindu, Madras 15th. Nov. 1930)

भावार्थ यह है कि मोहनजोदड़ों इत्यादि की खुदाई तथा अन्य प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईसाब्द से ३५०० वर्ष पूर्व भी भारत बहुत ही उच्च सभ्यता के शिखर पर पहुँचा हुआ था, जिसमें लोगों को बड़े-बड़े शहरों में उत्तम घर बनाकर रहने और अनेक प्रकार के शिल्पों का ज्ञान था। बेबीलोनिया और मिस्त्र इत्यादि की उस समय की सभ्यता से भी यह सभ्यता उच्चतर थी। भारत, उपलब्ध इतिहास में किसी समय भी उच्च सभ्यता से शून्य नहीं रहा। इसकी गणना इतिहास की उच्चतम सभ्यताओं में हो सकती है। इतना ही नहीं, बहुत से विद्वान् तो इसे ही सर्वोत्कृष्ट कहते हैं।

वैदिक सभ्यता का पाश्चात्त्य सभ्यता से विशेष अन्तर

वैदिक सभ्यता और उसकी आधारभूत वैदिक संस्कृति के मुख्य-मुख्य सात तत्त्वों का हमने इस अध्याय में निर्देश किया है, उसका वर्तमान केवल भौतिकवादी पाश्चात्त्य सभ्यता के साथ (जिसे महात्मा गाँधी ने अपने लेखों में नास्तिक सभ्यता वा Godless Civilisation का नाम दिया था) कितना विरोध है, इस बात का संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा। संक्षेप से इन दोनों का भेद इस प्रकार है—

(१) वैदिक आर्य सभ्यता परार्थ भाव को प्रधानता देती है, पर पाश्चात्त्य सभ्यता स्वार्थ भाव को। जहाँ तक अपने स्वार्थ में बाधा न पड़े, वहाँ तक इसके अनुसार थोड़ा बहुत दूसरों का काम कर देने में हानि नहीं, किन्तु अपने स्वार्थ का सर्वथा परित्याग करते हुए परोपकारार्थ जीवन तक दे देना इसके अनुसार मूर्खता है।

(२) भारतीय आर्य सभ्यता जीवन को सादा और तपोमय बनाने को अधिक उत्तम समझती है, किन्तु पाश्चात्त्य सभ्यता उसे अधिक से अधिक विषम (Complex) बनाना पसन्द करती है। आवश्यकताओं को खूब अच्छी तरह से बढ़ाकर उनकी तृप्ति के साधन पैदा करना, यही सभ्यता का प्रयोजन माना जाता है। ऊँचे दर्जे का रहन-सहन (High Standard of living), सीधे शब्दों में, खूब डटबटकर शान शौकत से रहना, यह पाश्चात्त्य सभ्यता का आवश्यक अंग है। तप और सादगी इसके अनुसार जंगली लोगों के आदर्श हैं, सभ्य पुरुषों के नहीं।

(३) वैदिक आर्य सभ्यता मुख्यत: आत्मिक हित और उन्नति की दृष्टि से सब समस्याओं और प्रश्नों पर विचार करने को कहती है। सत्य और धर्म ही उसके प्राण हैं। पाश्चात्त्य सभ्यता की दृष्टि में आत्मा, परमात्मा, परलोकादि का विचार गौण अथवा निस्सार है। जिस किसी तरीके से भी प्रतिष्ठा प्राप्त हो और आदमी शान से आजीविका कमाता हुआ रह सके, रहना चाहिए। सत्य, यश और ऐश्वर्य का वैदिक आर्य सभ्यता में जो क्रम वेद के अनुसार "सत्यं यशः श्रीमर्यिश्रीः श्रयताम्।" इस वाक्य में बताया गया है उसको ठीक उलटकर पाश्चात्त्य सभ्यता सब से पहला दर्जा ऐश्वर्य कमाने को, दूसरा जिस किसी तरह यश कमाने को और तीसरा सत्य को उस सीमा तक जहाँ तक यह पहले दो की प्राप्ति में रुकावट न पैदा करता हो। सत्य रक्षा के लिए हरिश्चन्द्र, श्री रामचन्द्र आदि के समान सांसारिक ऐश्वर्य और सुख-सुविधा का परित्याग करना इसके अनुसार मूर्खता है।

(४) वैदिक आर्य सभ्यता, जहाँ कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर निष्काम भाव से शुभ कर्म करने को कहती है, पाश्चात्त्य सभ्यता नित नये विज्ञापनादि साधनों का आविष्कार करके सारी दुनियाँ में अपने नाम और काम का ढिंढोरा पिटाने में ही अपना गौरव समझती है।

(५) वैदिक आर्य सभ्यता स्वार्थ रहित, त्यागी, तपस्वी, पूर्ण सदाचारी ब्राह्मणों का समाज में सब से उच्च स्थान और नेतृत्व दिलाना चाहती है, किन्तु पाश्चात्त्य सभ्यता बड़ी थैलीवाले, कारखानों और बड़ी-बड़ी जमीदारियों तथा बैंकों के मालिकों और पूंजीपतियों के हाथ में सब शक्ति रखना चाहती है।

(६) वैदिक आर्य सभ्यता आध्यात्मिक उन्नति को प्राकृतिक वा भौतिक उन्नति की अपेक्षा अधिक प्रधानता देती है यद्यपि वह दोनों को आवश्यक समझती है जैसे कि हम निम्न मन्त्रों द्वारा प्रतिपादित कर चुके हैं—

पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम्।

(साम० १३०१)

पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम्।
पुण्याँश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति॥

(साम० १३०३)

'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्' (ऋ० १०।१२९।५) यह इसका मूल मन्त्र है जिसका अभिप्राय यह है कि स्वधा–प्रकृति नीचे है और प्रयतिः–प्रयत्नशील जीवात्मा उसकी अपेक्षा ऊपर है। आवश्यकता इन दोनों की है, किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु वर्तमान पाश्चात्त्य सभ्यता तो केवल भौतिकवाद पर ही आश्रित है। इसके अन्दर आध्यात्मिक अंश शून्य के समान है। जर्मनी के एक बहुत बड़े दार्शनिक प्रो० आयकन ने Can we still be Christians? नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में इस प्राकृतिक वा भौतिक सभ्यता का लक्षण निम्नलिखित शब्दों में किया है—

"Outward greatness with inward pettiness, wealth and diversity of achievements with hollow emptiness of spirit-such is the mark of the merely naturalistic culture."

(Can we still be Christians? by Prof. Eucken)

अर्थात् ऊपर का बड़प्पन वा आडम्बर और अन्दर निस्सारता, ऊपर–ऊपर बहुत–सी वस्तुओं और धन की प्राप्ति, पर अन्दर आध्यात्मिक खोखलापन–यही केवल प्राकृतिक सभ्यता का मुख्य चिह्न है।

यह वही सभ्यता है जिस पर पाश्चात्त्य जगत् अभिमान करता है और जिसके चकाचौंध से प्रभावित होकर हमारे देश के शिक्षित अनेक युवक और नेता भी प्रशंसा के पुल बाँधने तथा अविवेक पूर्ण अनुकरण करने में नहीं थकते।

सर जीन हर्बर्ट का पूर्व और पश्चिम के भेद विषयक मत

सर जीन हर्बर्ट एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज विचारक हैं जिन्होंने "Relationship between East and West" (पूर्व और पश्चिम में सम्बन्ध) शीर्षक से एक विचारोत्तेजक लेख लिखा था। इसमें उन्होंने लिखा था—

"An essential and profound difference worthy of consideration is this. Orientals are more anxious to apply their moral, psychic and spiritual powers to the discovery, conquest and exploitation of the world within, than to employ their physical and intellectual energy in the discovery, conquest and exploitation of the world without. In India, Children imitate their parents and play at meditation. If a western child sits motionless, dreaming, its parents rush, crying :

What is the matter? Are you ill? Don't sit like that, go and play with our friends."

तात्पर्य यह है कि एक मौलिक और गम्भीर विचारने योग्य पूर्व और पश्चिम का भेद यह है—पौरस्त्य लोग अपनी नैतिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों

को आभ्यन्तर जगत् के अनुसंधान, विजय और उससे लाभ उठाने में लगाने के लिए अधिक उत्सुक हैं अपेक्षा इसके कि वे अपनी शारीरिक और बौद्धिक शक्ति को बाह्य जगत् के अनुसंधान, विजय और उससे लाभ उठाने में प्रयुक्त करें। भारत में बच्चे भी अपने माता-पिता का अनुकरण करते और ध्यान करने की क्रीड़ा करने लगते हैं किन्तु यदि एक पाश्चात्त्य बालक निश्चल, स्वप्न की सी अवस्था में हो जाए, तो उसके माता-पिता यह चिल्लाते हुए भागे हुए आते हैं कि क्या बात है ? क्या तुम बीमार हो ? इस प्रकार मत बैठो, जाओ और अपने मित्रों के साथ खेलो।

पाश्चात्त्य व्यवसायवाद के भयंकर परिणाम

आजकल हमारे देश के बहुत से नेता और शिक्षित युवक पाश्चात्त्य सभ्यता और उसके अनिवार्य अंग व्यवसायवाद पर मुग्ध हो रहे हैं, किन्तु बहुत से पाश्चात्त्य सुप्रसिद्ध विचारकों ने इसके भयंकर परिणामों का जो निर्देश किया है, उसकी उपेक्षा करके पाश्चात्त्यों का अविवेकपूर्ण अनुसरण हमारे देशवासियों के लिए हानिकारक होगा।

इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० हक्सले ने इस पाश्चात्त्य सभ्यता के विषय में कुछ निराशापूर्ण स्वर में कहा—

"Even the best of modern civilisations appear to me to exhibit a condition of mankind which neither embodies any worthy ideal nor even possesses the merit of stability".

अर्थात् अच्छी से अच्छी आधुनिक सभ्यता भी मनुष्यों की एक ऐसी अवस्था की सूचना देती है जिसके सामने न तो कोई उच्च आदर्श ही है और न जिसमें स्थिरता है। प्रसिद्ध व्यावसायिक केन्द्रों की आन्तरिक शोचनीय दशा का यथार्थ चित्रण करते हुए प्रो० हक्सले ने लिखा—

"Any one who is acquainted with the state of population of all great industrial centres, is aware that amidst a large body of that population, there reigns supreme:-a condition in which men, women and children are forced to crowd into dens; wherein decency is abolished; in which the pleasures within reach are reduced to brutality and drunkeness; in which the pains accumulate at compund interest in the shape of disease and moral degradation etc."

भावार्थ यह कि बड़े-बड़े व्यावसायिक केन्द्रों की अवस्था से जो परिचित हैं, वे जानते ही होंगे कि उनकी आबादी की बहुसंख्या में ऐसी अवस्था प्रायः बनी रहती है जिसमें स्त्री-पुरुष-बच्चे सब मिलकर काम करने को विवश होते हैं और

इसलिए उचित सलज्जता तक नष्ट हो जाती है, जहाँ प्रसन्नता पाशविक वृत्ति और शराबीपन के रूप में प्रकट होती है और जहाँ कष्ट, बीमारी और नैतिक पतन के रूप में परिणत हो जाते हैं।

(२) इंग्लैण्ड के उच्च कोटि के एक मनीषी जॉन रस्किन ने अपने देश की व्यावसायिक उन्नति की पूर्णता के सम्बन्ध में कहा था—

"Alas if read rightly, these perfections are the signs of a slavery in our England a thousand times more bitter and degrading than that of the scourged African or helot Greek".

अर्थात् ये व्यावसायिक उन्नति के चिह्न वास्तव में इंग्लैण्ड में एक दासता के चिह्न हैं जो अफ्रीका और यूनान के दासों की अवस्था से भी सहस्त्रों गुणा अधिक कड़वी और गिरानेवाली है।

(३) भारत के एक सच्चे हितैषी Aryan Rule इत्यादि पुस्तकों के लेखक हेवल महोदय ने भारतीयों को परामर्श देते हुए कहा था—

"None but the ignorant will recommend you the path of Western commercialism, as leading to true national prosperity. Nowhere in India, not even in the direct time of the famine, is there such utter depravity, such a hopeless physical, moral and spiritual degradation, as that which exists in the commercial cities of Europe directly brought out by modern industrial methods."

(Quoted here from Illusions of New India by Pramath Nath Bose)

अर्थात् सिवाय उस पुरुष के जो अज्ञानी है, तुम्हें कोई भी राष्ट्रीय उन्नति के लिए पाश्चात्त्य व्यवसायवाद का अनुसरण करने को न कहेगा। भारत में भयंकर से भयंकर अकाल के समय में भी, किसी भी प्रान्त में, इतनी दुराचारी की सीमा, इतनी निराशाजनक, उपाय रहित शारीरिक, नैतिक और आत्मिक अवनति नहीं पायी जाती जितनी वर्तमान व्यवसायवाद की प्रणालियों के कारण यूरोप के व्यवसाय प्रधान नगरों में पाई जाती है।

यह खेद है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् हमारी सरकार अधिकतर पाश्चात्त्य सभ्यता का (जिसका व्यवसायवाद एक अनिवार्य अंग है) अनुसरण कर रही है। उसे इन विषयों में अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है ताकि व्यवसायवाद की खराबियाँ यहाँ न आने पायें।

(४) मेरी कौरेली नामक विदुषी का सभी पाश्चात्त्य सभ्यताभिमानियों को दिया हुआ निम्नलिखित प्रमाणपत्र विशेष द्रष्टव्य है—

"The blight is over all. The blight of atheism, infidelity, callousness and indifference to honourable principles-the blight of moral cowardice, self-indulgence, vanity and want of heart." (Illusions of New India)

अर्थात् पाश्चात्त्य सभी लोगों पर यह नाशकारक लांछन है। यह लांछन नास्तिकता, अविश्वास पात्रता, कठोर हृदयता, उच्च सिद्धान्तों के प्रति उपेक्षा, नैतिक भीरुता, स्वार्थ परायणता, अभिमान और हृदयहीनता का है।

यह सम्भव है कि इस लेख को लिखते हुए भाव की प्रबलता के कारण कुछ अत्युक्ति को लेखिका ने काम में लिया हो, किन्तु यदि ६० प्रतिशत तक सभ्यताभिमानी पुरुषों पर भी यह नास्तिकतादि का लांछन न्यायपूर्वक लग सकता है (जैसा कि अन्य अनेक निष्पक्षपात विद्वानों की उक्तियों से भी सिद्ध होता है) तो यह अत्यन्त हीन नैतिक और धार्मिक अवस्था का सूचक है और उससे यह भी स्पष्ट होता है कि भौतिक उन्नति और समृद्धि के पीछे लगकर यूरोप अमरीका आदि पाश्चात्त्य देशों ने नैतिक उन्नति की किस प्रकार से बिल्कुल ही उपेक्षा कर दी है। इसका फल वह भोग रहे हैं और आगे भी भोगते रहेंगे।

पाश्चात्त्य सभ्य मानियों की वैदिक आर्य सभ्यता के अनुयायियों की अवस्था के साथ तुलना करने पर (जो रामायण, उपनिषदादि प्राचीन साहित्य में पाई जाती है), आकाश पाताल का अन्तर प्रतीत होता है। रामराज्यादि विषयक श्लोकों को हम धर्म और राजनीति के सम्बन्ध के समन्वय की समस्या विषयक अ० २४ में उद्धृत कर चुके हैं जिनमें बताया गया था कि अयोध्या में एक भी कामी, कुत्सित वैश्य भ्रष्टाचारी वा कृपण, क्रूर, अविद्वान् और नास्तिक पुरुष दिखाई न देता था। सब नर–नारी धर्मशील, अत्यन्त संयमी और स्वभाव तथा सदाचार से प्रसन्न और महर्षियों की तरह निर्मल थे। ऐसा ही वर्णन छान्दोग्योपनिषत् में कैकय देश के राजा अश्वपति ने अपने राज्यवासियों का किया है—

न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरीस्वैरिणी कुतः॥

(छान्दो० ५।११)

इनमें ऋषियों को बतलाया है कि मेरे सारे राज्य में एक भी चोर, भ्रष्टाचारी, शराब पीनेवाला, अग्निहोत्र न करनेवाला, अविद्वान् और व्यभिचारी पुरुष नहीं है, फिर व्यभिचारिणी स्त्री हो ही कहाँ सकती है।

कहाँ यह नैतिक दृष्टि से अत्यन्त उत्तम अवस्था और कहाँ पाश्चात्त्य भौतिक सभ्यताभिमानियों की शोचनीय अवस्था–इनकी तुलना कैसे की जा सकती है?

अध्याय सार और उपसंहार

इस प्रकार इस अध्याय में हमने वैदिक संस्कृति के मुख्य ७ तत्त्वों का वेद मन्त्रों के आधार पर प्रतिपादन किया है जिनमें—

(१) सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् की सत्ता पर पूर्ण विश्वास।

(२) अजर-अमर आत्मा की सत्ता में विश्वास पूर्वक निर्भयता का सम्पादन।

(३) परोपकार की भावना और दान पर बल।

(४) भोग और त्याग का अद्भुत समन्वय।

(५) आसक्ति और फलाकांक्षा का त्याग करते हुए निष्काम भाव से कर्म करना।

(६) त्यागी तपस्वी निःस्वार्थ विद्वान् ब्राह्मणों का समाज में सर्वोच्च स्थान और नेतृत्व समाहित है।

(७) सब को मित्र की दृष्टि से देखने वाले, अज्ञानान्धकार निवारक, तपस्वी, ब्राह्मणों को समाज में सब से उच्च नेतृत्व दिलाना है।

संस्कृति और सभ्यता के सम्बन्ध का निरूपण करते हुए इस अध्याय में वैदिक संस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठापित वैदिक सभ्यता की श्रेष्ठता को विशुद्ध एकेश्वरवाद, अत्युत्तम समाज व्यवस्था, सार्वजनिक भावों की प्रधानता, स्त्रियों की समाज में अत्युत्कृष्ट सम्मानपूर्ण स्थिति, अति श्रेष्ठ प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति, वैज्ञानिक उन्नति इत्यादि के प्रकाश में निष्पक्षपात पाश्चात्त्य तथा अन्य विद्वानों की साक्षी सहित दिखाया गया है। अन्त में वैदिक सभ्यता और पाश्चात्त्य सभ्यता के अन्तर को अनेक तथ्यों के आधार पर (जो प्रामाणिक स्त्रोतों से संकलित किये गये हैं, और जिनसे वर्तमान पाश्चात्त्य सभ्यता का नैतिक दृष्टि से केवल भौतिकवादी होने के कारण दीवालियापन स्पष्ट सूचित होता है) स्पष्टतया दिखाया गया है। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदर्श संस्कृति और सभ्यता के समन्वय की समस्या का सर्वोत्तम समाधान वैदिक संस्कृति और सभ्यता के द्वारा ही हो सकता है अन्यथा नहीं।

अध्याय-२८

ज्ञान, धर्म व भाषा के मूल की समस्या

ज्ञान, धर्म और भाषा के मूल की समस्या एक बड़ी जटिल और गम्भीर समस्या है और इसलिए इस विषय में विद्वान् विचारकों का पर्याप्त मतभेद है। हम इस अध्याय में यह बताना चाहेंगे कि इस समस्या का वेदों में क्या समाधान मिलता है, और वह किस प्रकार युक्तियुक्त तथा निष्पक्षपात विचारकों के लिए उपादेय है।

ज्ञान के आदि स्त्रोत की समस्या

विचार की विशदता और सुगमता के लिए हम ज्ञान, धर्म और भाषा के मूल पर पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे। आजकल हम देखते हैं कि जब कोई बालक ५-६ वर्ष का होता है उसके माता-पिता यदि शिक्षित हैं तो उसे स्वयं पढ़ाते हैं, अन्यथा उसे किसी विद्यालय में प्रविष्ट कर देते हैं अथवा घर पर ही किसी शिक्षक के द्वारा उसे शिक्षा दिलवाते हैं। यदि वे ऐसा नहीं करते और बच्चे को अशिक्षित ही रखते हैं तो उन्हें सामाजिक और सुसभ्य देशों में जहाँ अनिवार्य शिक्षा का कानून बना हुआ है, कानून की दृष्टि से भी अपराधी और दण्ड का पात्र समझा जाता है। नीति शास्त्रकारों ने ठीक कहा है—

माता शत्रुः पिता वैरी, याभ्यां बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

अर्थात् वे माता और पिता बालक के शत्रु हैं जिन्होंने अपनी सन्तान को शिक्षा नहीं दिलाई। ऐसा अशिक्षित बालक सभा के मध्य में शोभा नहीं देता जैसे कि हंसों के बीच में बगुले की शोभा नहीं होती।

प्रश्न यह है कि मानव सृष्टि के प्रारम्भ में जो मनुष्य उत्पन्न हुए, उनको शिक्षा किसने और किस प्रकार दी ? इस प्रश्न के उत्तर भिन्न-भिन्न पौरस्त्य और पाश्चात्य तथा अन्य देशों के विद्वान् भिन्न-भिन्न प्रकार से देते हैं। उनको दो भागों में विभक्त करना हो तो यह कहा जा सकता है कि कई विद्वान् ईश्वरीय ज्ञान (जिसे अंग्रेजी में Revelation और उर्दू-फारसी में इलहाम के नाम से कहा गया है) में विश्वास रखनेवाले और दूसरे विकासवाद वा Evolution Theory में। आजकल के वैज्ञानिकों तथा अन्य शिक्षित लोगों में अधिक संख्या विकासवाद में विश्वास करनेवालों की ही है जो कहते हैं कि ज्ञान मनुष्य को धीरे-धीरे स्वयं प्राप्त और विकसित होता जाता है। प्रारम्भ के लोग जंगली अथवा सर्वथा असभ्य थे।

उन्हें १० तक गिनती भी नहीं आती थी। उनको न भौतिक वस्तुओं का कुछ ज्ञान था और न आत्मा परमात्मा आदि का (इनमें से कई तो इन अभौतिक पदार्थों की सत्ता से भी इन्कार करते हैं)। धीरे-धीरे उनके ज्ञान में विकास होता गया। इनके सिद्धान्त का सामान्य विवेचन हम इस ग्रन्थ के कई अध्यायों में कर चुके हैं और अध्याय २५ में हम दिखा चुके हैं कि जिन मन्तव्यों वा कसौटियों के आधार पर ये विकासवादी उन्नत और अवनत अथवा सभ्य और असभ्य दशा का निर्णय करते हैं, उनके अनुसार भी वैदिक काल के लोग अत्यन्त उन्नत, सुसंस्कृत और सभ्य थे। अनेक निष्पक्षपात पाश्चात्त्य तथा अन्तर्देशीय विद्वानों की वेदों की मान्यता के सामने विकासवाद (जहाँ तक धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी बौद्धिक विषयों से उसका सम्बन्ध है) ठहर नहीं सकता। इसीलिए भौतिक विकासवाद के प्रवर्तकों में से एक डॉ० रसेल वैलेस को स्पष्ट स्वीकार करना पड़ा कि—

"There is, therefore, no proof of continuously increasing intellecutual power".

(The Social Environment and Moral Power by Dr. Russel Wallace)

अर्थात् बौद्धिक शक्ति के निरन्तर विकास का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में डॉ० वैलेस ने कुछ वेद मन्त्रों को भी उद्धृत करते हुए लिखा है कि—

"In the earliest records, which have come down to us from the past, we find ample indications that accepted standards of morality and the conduct resulting from these, were in no degree inferior to those which prevail today, though in some respects, they differed from ours. **The wonderful collection of hymns known as the Vedas is a vast system of religious teachings as pure and lofty as those of the finest portions of the Hebrew Scriptures.** Its authors were fully our equals in their conception of the Universe and the Deity expressed in the finest poetic language". (P. 11)

"We must admit that the mind which conceived and expressed in appropriate language such ideas as are everywhere present in those Vedic Hymns, could not have been inferior to those of the best of our religious teachers and poets, to our Milton, Shakespeare and Tennyson".

(Social Envioronment and Moral Progress by Dr. Wallace, P. 14)

अर्थात् पुराने समय के लेख जो हमें इस समय मिलते हैं, उनमें भी हमें इस बात के पर्याप्त निर्देश प्राप्त होते हैं कि उस समय के सदाचारादि विषयक और व्यवहार हम से किसी रूप में भी कम कोटि के न थे, यद्यपि कई अंशों में वे हम से भिन्न अवश्य थे। वेद के नाम से प्रसिद्ध आश्चर्यजनक संहिता के अन्दर बाइबल के अच्छे से अच्छे भाग के तुल्य पवित्र और ऊँची धार्मिक शिक्षाओं की एक पद्धति पाई जाती है। इसके लेखक सारगर्भित और सुन्दरतम कविता में प्रकाशित ईश्वर विषयक विचार में पूर्णतया हमारे समान थे।

हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जिस मन ने उन ऊँचे विचार को ग्रहण किया और तदनुरूप उत्तम भाषा में प्रकट किया, जो वेदों में सर्वत्र पाये जाते हैं, हमारे उच्चतम धार्मिक शिक्षकों और मिल्टन, शैक्सपीयर तथा टैनीसन जैसे कवियों से किसी अवस्था में भी कम न थे।

इससे बढ़कर सामाजिक विकासवाद (Social Evolution Theory) का खण्डन क्या हो सकता है? यदि वेदों की (जिन्हें सभी पाश्चात्त्य विद्वान् संसार में प्राचीनतम ग्रन्थ मानते हैं), शिक्षाएँ इतनी ऊँची और पवित्र हैं, जितनी बाइबल के अच्छे से अच्छे भागों की, अथवा यदि ऋषि वर्तमान सुसभ्य जगत् के उच्चतम विचारकों और कवियों से कम न थे, तो सामाजिक विकास के लिए अवकाश कहाँ रह जाता है? स्वयं भौतिक जगत् में विकासवाद के प्रवर्तकों में से एक वैज्ञानिक शिरोमणि का सामाजिक विकासवाद का इस प्रकार का निराकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सामाजिक विकासवाद के आधार पर जो ईश्वरीय ज्ञान (Revelation) की आवश्यकता से इन्कार करते हैं, उनको अपना विचार बदलने को विवश होना पड़ेगा–यह बात डॉ० रसेल वैलेस के उपरिलिखित वाक्यों से स्पष्ट हो जाती है।

नोबल पुरस्कार विजेता मैटर्लिंक का यथार्थ कथन

स्वीडनवासी श्री मैटर्लिंक ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "The Great Secret" में वेदों की कर्त्तव्य शास्त्र (Ethics) आदि विषयक शिक्षाओं को उद्धृत करके लिखा—

"Let us **agree that this system of Ethics** of which I have been unable to give more than the slightest survey, **while the first ever known to man, is also the loftiest which he has ever practised**".

(The Great Secret by Materlik P. 96)

अर्थात् हमें इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि यह कर्त्तव्य शास्त्र विषयक प्रणाली जिसका मैंने अत्यन्त संक्षिप्त विवरण दिया है, मनुष्य को ज्ञात प्रणालियों में से सर्वप्रथम है, तथा जो सब से अधिक उत्कृष्ट है। प्राचीन परम्परा

Primitive tradition का निर्देश करते हुए श्री मैटर्लिंक ने लिखा कि—

"As for the primitive tradition, it is true that these affirmation and precepts are the most unlooked for, **the loftiest, the most admirable and the most pliable that mankind has hitherto known**".

(The Great Sceret P. 57)

अर्थात् प्राचीन प्रारम्भिक परम्परा के सम्बन्ध में यह सत्य है कि ये उक्तियाँ और आदेश अत्यन्त अविलोकित, सर्वोत्कृष्ट, सर्वाधिक प्रशंसनीय और सब से अधिक युक्तियुक्त हैं, जिनका मनुष्यों ने अब तक ज्ञान प्राप्त किया है।

इस परम्परा का अनुसरण करते हुए मैटर्लिंक ने वेदों को ज्ञान का विशाल भण्डार माना है जिनको मानव सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों पर प्रकाशित किया गया। उनके शब्दों में—

"This tradition attributes to the vast **reservoir of the wisdom that somewhere took shape simaltaneously with the origin of man....** to more spiritual entities, to beings less entangled in matter".

(The Great Secret by Materlink Prologue P. 6)

मैटर्लिंक के इन विचारों से सामाजिक विकासवाद का पूर्णतया खण्डन हो जाता है क्योंकि यदि सब से प्राचीन वेदों की कर्त्तव्यादि विषयक शिक्षाएँ सब से अधिक उत्कृष्ट, प्रशंसनीय और युक्तियुक्त हैं, तो फिर सामाजिक विकास के लिए कहाँ स्थान रह जाता है। इससे ईश्वरीय ज्ञानवाद का पूर्ण समर्थन होता है जिसका संक्षेप से प्रतिपादन किया जाएगा।

दो ईसाई पादरियों द्वारा वेदों की ईश्वरीयता की स्वीकृति

रेवरेण्ड मौरिस फिलिप (Rev. Morris Philip) नामक ईसाई पादरी ने "The Teachings of the Vedas" (वेदों की शिक्षाएँ) नामक अपने ग्रन्थ में सामाजिक विकासवाद को अशुद्ध बताते हुए वेदों को प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान बताया है। वे लिखते हैं—

"We have pushed our enquiries as far back in time as the records would permit and we have found that the religious and speculative thought of the people was far purer, simpler and more rational at the farthest point we reached, than at the nearest and the latest in the Vedic Age."

"The conclusion, therefore, is inevitable viz; that **the development of religious thought in India has been uniformly downward and not upward, deterieration and not evolution. We**

are justified, therefore, in concluding that the higher and purer conceptions of the Vedic Aryans, were the result of a primitive Divine Revelation".

(The Teachings of the Vedas by Rev. Morris Philip. P. 231)

इस लम्बे उद्धरण का तात्पर्य यह है कि हम अपनी खोज को समय की दृष्टि से इतना पीछे की ओर ले गये जितने कि लेख आदि सामग्री हमें मिल सकती थी। और हमने पाया कि लोगों की धार्मिक और दार्शनिक विचारधारा सब से पुराने समय में जहाँ तक हम पहुँच सके, अधिकतम पवित्र, युक्तियुक्त और सरल थी अपेक्षया वैदिक काल के भी समीपतम और नवीनतम समय से। इसलिए हमारे लिए यह परिणाम निकालना अनिवार्य है कि भारत में धार्मिक विचार का विकास नहीं किन्तु ह्रास ही हुआ है, उन्नति नहीं किन्तु अवनति हुई है। हम यह परिणाम निकालने में न्याययुक्त हैं कि वैदिक आर्यों के उच्चतर और पवित्रतर ईश्वरादि विषयक विचार एक प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान के परिणाम थे।

प्रो० हीरेन (Heeren) नामक एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक अनुसंधानकर्ता विद्वान् ने वेदों के विषय में लिखा कि—

"The (the Vedas) are without doubt the oldest works composed in Sanskrit. Even the most ancient Sanskrit works allude to the Vedas as already existing. The **Vedas stand alone in their solitary splendour, standing as beacon of Divine light for the onward march of humanity".**

(Historical Researches by Prof. Heeren Vol. II, P. 127)

अर्थात् इसमें सन्देह नहीं कि वेद संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। उपलभ्यमान सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थों में भी उनकी विद्यमानता का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है। वे मनुष्यमात्र की उन्नति के लिए अपनी अद्भुत शान में दिव्य प्रकाश स्तम्भ का काम देते हैं।

प्राचीनतम होते हुए भी यदि वेद मनुष्य मात्र की उन्नति के लिए अपनी अद्भुत शान में दिव्य प्रकाश स्तम्भ का काम देते हैं (जैसे कि प्रो० हीरेन ने स्वीकार किया है), तो सामाजिक विकासवाद तो सर्वथा धराशायी हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक विकासवाद के निराकरण के पश्चात्, ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता और उसके स्वरूप पर विचार किया जाएगा।

ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता

जब तक कोई सिखानेवाला न हो तब तक स्वयं ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस बात को हम संसार में सर्वत्र स्पष्टतया देखते हैं। यदि ऐसा न होता तो

विद्यालयों के खोलने की कोई आवश्यकता न होती। बालक अपने आप ही सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेते। पर जब तक माता, पिता, आचार्य वा गुरु शिक्षक सिखानेवाले न हों, तब तक बालक–बालिकाओं को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसके विषय में समय–समय पर परीक्षण भी किये गये हैं जिनमें से असीरिया के सम्राट् असुरवाणीपाल यूनान के राजा सेमिटिकल, सम्राट् फ्रेडरिक, स्काटलैण्ड के जेम्स चतुर्थ और मुगल बादशाह अकबर ने इसके विषय में जो परीक्षण किये, वे कुछ अंश तक क्रूरतापूर्ण होते हुए भी महत्त्वपूर्ण और विश्वासजनक हैं। इन लोगों ने छोटे बच्चों को जंगलों में रखवा दिया और उनके पालन–पोषण के लिए गूँगी दाइयों का प्रबन्ध किया। परिणाम यह हुआ कि वे मानवीय भाषा को न सीख सके और उनका व्यवहार तथा चाल–चलन पशुओं जैसा ही रहा। नीग्रो तथा अन्य सभी जातियों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब तक वे सुशिक्षित लोगों के सम्पर्क में नहीं आये तथा उनको अच्छे अध्यापकों से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ, तब तक वे स्वयं ज्ञान प्राप्त करने में हजारों वर्ष व्यतीत होने पर भी समर्थ नहीं हो सके। रामू नामक एक भेड़िये द्वारा पालित बालक का (जिसे गाँधी अस्पताल लखनऊ में रखा गया था और जो पशुओं की तरह चलता, बोलता, मनुष्यों से भय खाता और कच्चा मांस खाता था और जो सभ्य शिक्षित जनों के सम्पर्क में आने पर उसका व्यवहार क्रमशः सुधरने लगा और उसका मस्तिष्क भी धीरे–धीरे विकसित होने लगा)। इसलिए जैसे पिता पुत्र के कल्याणार्थ उपदेश करता है, वैसे ही सब के पितृ स्थानीय वा आदिगुरु परमेश्वर ने सब मनुष्यों के कल्याणार्थ अन्तर्यामिरूप से जीवों को धर्माधर्म, पाप–पुण्य, शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, सामाजिक उन्नति के साधन, मनुष्य जीवन का उद्देश्य, परमानन्द, शाश्वत सुख और शान्ति तथा विश्व शान्ति की स्थापना के साधन इत्यादि विषयों का सृष्टि के प्रारम्भ में उपदेश दिया। यह बात सर्वथा तर्कानुमोदित है। स्वयं हेकल जैसे जड़वादी (Materialist) ने इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान की सम्भावना को इन शब्दों में स्वीकार किया—

"They may or may not receive such information, but there is no scientific ground for dogmatism on the subject nor any reason for asserting the inconceivability of such a thing".

(T.O. Mazina Quoted in the Materialism by Dorab Dinoh Kaaneja P. 52)

अर्थात् इस विषय में कोई वैज्ञानिक बाधा नहीं है अथवा कोई कारण नहीं कि क्यों इस सम्भावना को स्वीकार न किया जाय।

जब एक हैकल जैसा जड़वादी भी ऐसी बात कर सकता है तो आस्तिकों के

लिए तो ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता को मानना सरल तथा स्वाभाविक है।

यूरोप के एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० फ्लेमिंग ने अपने "Supreme Intelligence in and above Nature" शीर्षक व्याख्यान में जो विज्ञान सप्ताह (Science Week) के दौरान दिया गया, ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता का निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट प्रतिपादन किया—

"If we are to obtain more solid assurance it cannot come to the mind of man groping feedbly in the dim light of unassisted reason, but only by a **communication made directly from this Supreme Mind to the finite mind of man**".

(Science and Religion by Seven Men of Science Lecture by Dr. Fleming)

अर्थात् यदि हमें निश्चित ज्ञान और आश्वासन प्राप्त करना हो तो वह सहायता हीन केवल तर्क के धुँधले प्रकाश में निर्बलता पूर्वक भटकते हुए मनुष्य के मन को प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा मनुष्य के मन तक सीधे पहुँचाये ज्ञान से ही ऐसा होना सम्भव है।

इससे बढ़कर ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक द्वारा समर्थक वाक्य और क्या हो सकता है ? जैसे कोई भी संस्था बनाने, सरकार का कार्य चलाने अथवा कारखाना आदि चलाने से पूर्व उसके नियमों का बना डालना अत्यावश्यक है, इसी प्रकार संसाररूपी इस विशाल संस्था को नियम पूर्वक चलाने के लिए भगवान् ने सब मनुष्यों के हितार्थ वेद के रूप में नियमों का निर्देश कर दिया जिन पर चलने से ही प्रत्येक नर-नारी का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह बात स्पष्ट है कि यदि किसी देश में चोरी, मद्यपान, व्यभिचारादि के विरुद्ध कानून न बने हुए हों तो ऐसा करनेवालों को दण्ड देना भी न्याय युक्त नहीं कहा जा सकता। इसलिए और नहीं तो व्यवहार संहिता, नियम ग्रन्थ (Code of Law) वा वेद के शब्दों में ऋत और सत्य (Physical and Moral Eternal Laws) का प्रतिपादन करनेवाले ज्ञान का मानव सृष्टि के प्रारम्भ में मंगलमय भगवान् के द्वारा मनुष्यमात्र के पथ-प्रदर्शक के रूप में दिया जाना सर्वथा युक्तियुक्त है। इसीलिए अफलातून (Plato) और सुकरात जैसे सुप्रसिद्ध दार्शनिक शिरोमणियों ने भी धार्मिक तथा नैतिक विषयों में पथ-प्रदर्शन के लिए ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता को स्पष्ट शब्दों में अनुभव और प्रकट किया है। यूनान के प्रख्यात दार्शनिक प्लेटो के Phaedo इत्यादि ग्रन्थों में पाये जानेवाले एतद्विषयक वाक्यों का अंग्रेजी भाषान्तर इस प्रकार है—

"We will wait for one, be he a God or an inspired man to instruct

us in religious duties and to take away the darkness from our eyes".

(Plato's Alibiades)

"We must seize upon the best human views in navigating the dangerous sea of life, if there is no safer or less perilous way, no stouter vessel or Divine Revelation for making this voyage."

(Plato's Phaedo)

अभिप्राय यह है कि धार्मिक कर्त्तव्यों की शिक्षा देने के लिए हमें या तो परमेश्वर या उस द्वारा प्रेरित पुरुष की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जो हमारी आँखों के आगे छाये हुए अन्धकार को दूर कर दे। इस मानव जीवन रूपी समुद्र को भली-भाँति पार करने के लिए यदि हमें ईश्वरीय ज्ञान द्वारा कोई प्रबल साधन मिलना सर्वथा असम्भव हो, तो अच्छे से अच्छे मानवीय विचारों पर हमें निर्भर रहना पड़ेगा। Dialogues of Plato-translated into English by Towet में निम्न शब्द पाये जाते हैं—

"A man should persevere until he has achieved one of two things, either he should discover or be taught the truth about them; or if this is impossible, I would have him take the best and most irrefragable of human theories, and let this be the raft upon which he sails through life-not without risk, as **I admit, if he can not find some word of God which will more surely and safely carry him.**"

(Dialogues of Plato translated by Jowett P. 463)

भाव लगभग वही है जो पहले दिया जा चुका है किन्तु अन्तिम रेखांकित भाग में यह अधिक स्पष्ट किया गया है कि ईश्वरीय ज्ञान की सहायता के बिना मनुष्य निश्चय और सुरक्षा पूर्वक संसार सागर के पार नहीं पहुँच सकता।

इसी आशय के शब्द यूनान के तत्त्वज्ञानियों में सब से अधिक बुद्धिमान् सुकरात ने भी कहे थे जिनका अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—

"You may resign yourself to sleep and give yourself upto despair, **unless God in his goodness, shall vouchsafe to send you instruction**".

अर्थात् तुम या तो निद्रा के प्रति अपने को समर्पण कर सकते हो या निराशा के प्रवाह में बह सकते हो, जब तक कि परमेश्वर अपनी कृपा से तुम्हें शिक्षा न दे।

यह ईश्वरीय ज्ञान के विना मनुष्य की दुर्दशा का चित्रण है।

ज्ञान के आदि स्रोत का वा मूल के विषय में वेदों का कथन—

ज्ञान के आदि स्रोत के विषय में ऋ० २।२३।२ में कहा है—

देवाश्चित्ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः।
उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि॥

(ऋ० २।२३।२)

अर्थात् हे (असुर्य) प्राणाधार (बृहस्पते) ज्ञान पते परमात्मन्, (देवाः चित्) सत्य निष्ठ विद्वान् ही (ते) तुझ (प्रचेतसः) सर्वज्ञ को प्राप्त करते हैं। (इव) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (ज्योतिषा) अपनी ज्योति से (महः उस्राः) बड़ी किरणों को उत्पन्न करता है, इस प्रकार तू (विश्वेषाम्) सब (ब्रह्मणाम्) ज्ञानों का वेदों का (जनिता असि) उत्पन्न करनेवाला है।

किस प्रकार भगवान् को सूर्य समान कहकर उसे सब दिव्य ज्ञानों और ज्ञानमय वेदों का उत्पादक बताया गया है, यह बात यहाँ अत्यन्त स्पष्ट है जिसकी व्याख्या अनावश्यक है। ऋग्वेद और सामवेद का निम्न मन्त्र भी परमेश्वर को वेद रूप ज्ञान का प्रदाता बताता है—

होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया। विदथानि प्रचोदयन्॥

(ऋ० ३।२७।७; साम० १४७७)

(होता) शान्ति और आनन्द देनेवाला (अमर्त्यः देवः) अमर परमेश्वर (मायया) अपनी बुद्धि से (विदथानि) ज्ञानों को (प्रचोदयन्) विशेषरूप से प्रेरित करता हुआ (पुरस्तात् एति) सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों के हृदय में प्रकट करता है।

यहाँ वेदों के रूप में विशुद्ध ज्ञान का आदि स्रोत अमर सर्वज्ञ देव परमेश्वर को बताया गया है।

ऋग्वेद ८।९८।१ और साम० ३८८, १०२५ के निम्न मन्त्र में दिव्य ज्ञान के आदि स्रोत के रूप में भगवान् के गान का विधान पाया जाता है।

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥

(ऋ० ८।९८।१; साम० ३८८, १०२५)

इस मन्त्र में इन्द्र के नाम से परमेश्वर का स्मरण करते हुए उसे बृहत् विप्र–सब से बड़ा ज्ञानी (पनस्यवे विपश्चिते), अत्यन्त स्तुति के योग्य विद्वान् और (ब्रह्मकृते) ब्रह्म वा वेद को बनानेवाला कहते हुए उसके गुणगान करने का उपदेश दिया गया है। ब्रह्मकृते इस विशेषण से वेदज्ञान का दाता अथवा दिव्य ज्ञान का आदिस्रोत परमेश्वर है, यह भाव नितान्त स्पष्ट है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। सामवेद में ब्रह्मकृते पाठ है।

ऋग्वेद १।४०।५ और यजुर्वेद ३४।५७ में निम्न मन्त्र आता है—

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रोऽअर्यमा देवाऽओकांᳬसि चक्रिरे ॥

(ऋ० १।४०।५; यजु० ३४।५७)

इस मन्त्र में कहा है कि (यस्मिन्) जिस परमेश्वर में (इन्द्रः) सूर्य वा विद्युत् (वरुणः) चन्द्र वा जल (मित्रः) प्राण (अर्यमा) वायु और सब (देवाः) दिव्यगुण और पदार्थ (ओकांसि चक्रिरे) निवास करते हैं, (स ब्रह्मणः पतिः) वह ज्ञान वा वेद विद्या का स्वामी परमात्मा (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (मन्त्रम्) वेद नामक मन्त्र संहिता को (नूनम्) निश्चय से (प्रवदति) भली-भाँति कहता वा वेद द्वारा उपदेश करता है, इस बात को तुम सब जानो। वेदों की ईश्वरीयता में किसी प्रकार का सन्देह न हो, अतः मन्त्र में ब्रह्मणस्पतिः नूनं प्रवदति उक्थ्यं मन्त्रम्, ऐसा अति स्पष्ट शब्दों में बताया गया है। स्वामी दयानन्द के इस मन्त्र पर भाष्य का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

अर्थात् जिस ईश्वर ने वेदों का उपदेश किया है, जो सारे संसार में व्यापक है, उसी की सब मनुष्यों को उपासना करनी चाहिए।

अगले मन्त्र में भी वेदों की ईश्वरीयता के साथ सर्वहितकारिता का पुनः उपदेश है। मन्त्र इस प्रकार है—

तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्।
इमां च वाचं प्रतिहर्यथा नरो विश्वेद्वामा वो अश्नवत् ॥

(ऋ० १।४०।६)

इस मन्त्र में कहा गया है कि हे (देवाः) विद्वानो! हम (तम्) उस (शम्भुवम्) शान्ति अथवा कल्याण करनेवाले (अनेहसम्) सर्व दोष रहित, सर्वदा रक्षण करने योग्य (मन्त्रम्) मननीय मन्त्र समूह को (जातावेकवचनम्) (विदथेषु) पठन-पाठन-विज्ञानादि कर्त्तव्यों के अवसर पर (वोचेम) उपदेश करते हैं, तुम उसी को जानो। हे (नरः) नेताओ! यदि (इमां वाचम्) इस शम्भु-शान्ति के मूल परमेश्वर द्वारा प्रदत्त वेद रूप वाणी को तुम (प्रतिहर्यथ) भली-भाँति बार-बार जानोगे, तो यह वाणी तुम्हें (विश्वेद्वामा) सब प्रशंसनीय गुणों को (वाम इति प्रशस्यनामसु-निघं० ३।८) प्राप्त करा देगी।

वेद मन्त्रों के आधार पर वेदों की ईश्वरीयता और उपयोगिता का इससे बढ़कर क्या उत्तम वर्णन हो सकता है?

निम्नलिखित दो मन्त्रों का निर्देश भी, जिनमें स्पष्टतया वेदों को ईश्वरीय ज्ञान तथा वेदवाणी को ईश्वरीय होने के कारण अत्यधिक लाभदायिनी बताया गया

है, इस प्रसंग में दिया जाता है—

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही। पक्वा शाखा न दाशुषे॥

(ऋ० १।८।८)

इस मन्त्र में मही शब्द से 'महीति वाङ्नामसु पठितम्' (निघं० १।११) के अनुसार महती सर्व पूज्या वेदवाणी का ग्रहण है, जिसके निम्न विशेषण हैं—

(सूनृता) प्रिय सत्य प्रकाशिका अथवा प्रिय और सत्य वचनों को प्रकाशित करनेवाली (विरप्शी) महाविद्यायुक्ता (विरप्शीति महन्नामसु पठितम्-निघं० ३।३) बड़ी भारी विद्याओं से भरपूर (गोमती) उत्तम स्तोताओं से युक्त (गौरितिस्तोतृनामसु पठितम्-निघं० ३।१।६) अर्थात् जिसकी प्रशंसा करनेवाले उत्तम ज्ञानी हैं, इन विशेषणों से युक्त वेदवाणी के विषय में यहाँ कहा गया है कि वह वेदवाणी (हि) निश्चय से (अस्य) इस परमेश्वर की दी हुई है जो (दाशुषे पक्वा शाखा न) अध्ययन में अपने को ध्यान पूर्वक समर्पित करनेवाले मनुष्य के लिए अध्यनार्थ ध्यानं दत्तवते मनुष्याय फलयुक्त वृक्षों की तरह विविध सुखों और विद्याओं के आनन्द को देता है।

ऋ० १।७२ में निम्न मन्त्र आया है—

नि काव्या वेधसः शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या पुरूणि।
अग्निर्भुवद्रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा॥

(ऋ० १।७२।१)

इस मन्त्र में वेदों को काव्य के नाम से पुकारते हुए उन्हें नित्य परमेश्वर से प्राप्त तथा सर्वहितकारी बताया गया है। श्री सायणाचार्य ने भी इसका अर्थ (शाश्वत) शाश्वतस्यनित्यस्य (वेधसः) विद्यातुर्ब्रह्मणः सम्बन्धीनि (काव्या) काव्यानि मन्त्ररूपाणि अर्थात् नित्य परमेश्वर के मन्त्र रूप काव्य, यही किया है।

यजु० ३१।७ में निम्नलिखित सुप्रसिद्ध मन्त्र है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाᳬसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(यजु० ३१।७)

इस मन्त्र के विषय में महामहोपाध्याय पं० गिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी ने "वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति" नामक विद्वत्तापूर्ण पुस्तक में लिखा है—

मन्त्र भाग में तो स्पष्ट ही वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से श्रुत है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत.........॥ (पुरुष सूक्त)

अर्थात् सब के द्वारा पूजनीय और यजनीय परमात्मा से ऋक्, यजु, साम और छन्द अर्थात् अथर्ववेद प्रकट हुए। (पृ० ५०)

अथर्व० १०।७।२० में निम्न मन्त्र पाया जाता है—

यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाऽङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

(अथर्व० १०।७।२०)

यहाँ परमेश्वर को स्कम्भ अथवा सर्वाधार के नाम से स्मरण करते हुए स्पष्ट बताया गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इनको बनानेवाला वही एक परमेश्वर है।

अथर्ववेद १०।८।३३ में कहा है—

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥

(अथर्व० १०।८।३३)

(अपूर्वेण) जिसके पूर्व में कोई न था, उस सब के आदि भूत परमेश्वर से (इषिताः) प्रेरित (वाचः) वेदवाणियाँ (यथायथम्) सत्य ही (वदन्ति) तत्त्व का वर्णन करती हैं। वे (वदन्तीः) यथार्थ तत्त्व का वर्णन करती हुई (यत्र गच्छन्ति) जहाँ जाती हैं अथवा पहुँचती हैं (तत्), उस परम वक्तव्य (महत्) महान् पदार्थ को विद्वान् लोग (ब्राह्मणम् आहुः) ब्रह्म वा परम तत्त्व कहते हैं।

इससे पूर्व अथर्व० १०।८।३२ में वेदों को देव का काव्य कहा है—

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥ (अथर्व० १०।८।३२)

(देवस्य) सर्वप्रकाशक सुख शान्तिदायक परमेश्वर के (काव्यम्) वेद रूप काव्य को (पश्य) देख जो (ममार) न कभी मरता वा नष्ट होता और (न जीर्यति) न पुराना वा अनुपयोगी होता है, जिसकी आवश्यकता समान रूप से सदा बनी रहती है।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि वेदों के अनुसार ज्ञान और धर्म का आदि स्रोत परमेश्वर और उसका दिया वेद है।

ऋग्वेद १०।७१ में एक ज्ञान सूक्त है जिसके ३ मन्त्रों का उल्लेख यहाँ किया जाता है। इस सूक्त में ज्ञान के उद्भव और प्रसार पर बड़ा उत्तम प्रकाश डाला गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

(ऋ० १०।७१।१)

हे (बृहस्पते) वाणी के पते (वाचो हि बृहती तस्या एषपतिस्तस्मादाहु बृहस्पतिः—शत० १४।४।१।२२) सृष्टि के प्रारम्भ में (नाम—धेयं दधानाः) पदार्थों

को नाम देनेवाले ऋषियों ने (यत् वाचः प्रथमं प्रैरत) जब पहली वाणी को उच्चारित किया उस समय (एषां गुहा निहितम्) उनके हृदयों में गुप्त (यत् श्रेष्ठम् यद् अरिप्रम्आसीत्) जो सब से श्रेष्ठ और पापरहित भाव समूह था (श्रेष्ठम्–प्रशस्यतमम् अरिप्रम्–पापरहितमिति–श्री सायणाचार्यः) (तत्) वह (प्रेणा आविः) प्रेमपूर्वक आविर्भूत वा प्रकट हो गया। (प्रेम्णाविर्भवति–सा०)

मन्त्र का भाव स्पष्ट है कि सारे ज्ञान और वाणी का स्वामी बृहस्पति परमात्मा है। उसकी कृपा से ही ऋषियों को सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वथा पाप और दोष रहित शुद्ध ज्ञान प्रेमपूर्वक प्राप्त होता है। प्रेरणा का अर्थ–प्रेरणया यह भी होता है। भगवान् की प्रेरणा से ही पवित्रान्तःकरण ऋषियों को सर्वोत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

—ऋ० १०।७१।२

शब्दार्थ—(सक्तुम्) सत्तू (इव) के समान (तितउना) चलनी से–जैसे चलनी में सत्तू शुद्ध किये जाते हैं इस प्रकार (पुनन्तः) पवित्र करते हुए (धीराः) विद्वानों ने (मनसा) मन से (वाचम् अक्रत) वाणी का उच्चारण किया (अत्र) यहाँ (सखायः) मित्र, साथ ज्ञान प्राप्त करनेवाले, सहपाठी वा एक–सी प्रार्थना करनेवाले (सख्यानि) ज्ञानों को (आजानते) जानते हैं (एषाम्) इनकी (वाचि) वाणी में (भद्रा) कल्याण करनेवाली (लक्ष्मीः) सुखसम्पत्ति देनेवाली लक्ष्मी (अधिनिहितः) रखी हुई है।

(धीराः–धीमन्तो विद्वांसः, सखायः–समानख्यानाः शास्त्रादि विषय–ज्ञानास्ते सख्यानि तेषुभवानि ज्ञानानि यद्वा सखायोवाचावद्धसख्यास्ते तस्या–वाचः सख्यानि जानन्ति वाक्य युक्तानभ्युदयांल्लभन्त इत्यर्थः–भद्रा–कल्याणी अर्थ ज्ञानं वाचि पश्याम इत्यर्थः–श्री सायणाचार्यः)

भाव—ईश्वर प्रेरित ऋषियों की विचारधारा परिष्कृत वाणी संसार के ज्ञान और सुख–दोनों का साधन है।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥

(ऋ० १०।७१।३)

(धीराः) वे ध्यानवान् विचारशील पुरुष (वाचः पदवीयम्) वाणी के एक–एक पद से प्राप्त करने योग्य अभिप्राय को भी (यज्ञेन) परस्पर की संगति से (यज्ञ–देव पूजा संगति करणदानेषु–अत्र संगत्यर्थ ग्रहणम्) (आयन्) प्राप्त करते हैं।

वे (ऋषिषु) तत्त्वज्ञान को साक्षात्कार करनेवाले अध्यात्मदर्शी जनों में (अतीन्द्रियार्थदर्शिषु इति श्री सायणाचार्यः) (प्रविष्टां ताम्) प्रविष्ट हुई उस वाणी को (अन्वविन्दन्) उपदेश के अनन्तर ही प्राप्त करते हैं। (ताम्आभृत्य) उसको प्राप्त करके (पुरुत्रा व्यदधुः) बहुत से देशों में विविध प्रकार से उपदेश करते हैं। (तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते) उसको सातों छन्द गायत्र्यादि उपदेश करते हैं। (तां वाचमादृत्यबहुषुदेशेषु व्यकार्षुः सर्वान् मनुष्यानध्यापयामासुरित्यर्थः। रेभाः- शब्दायमान्तः पक्षिणः पक्षिरूपाणि गायत्र्यादीनि सप्तछन्दांसि अमितः संगच्छन्ते- इतिश्री सायणभाष्ये) इस श्री सायणाचार्य के भाष्य के बहुषु देशेषु सर्वान् मनुष्यान् अध्यापयामासुः। ऋषियों ने बहुत देशों में सब मनुष्यों को वेद पढ़ाए, ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उनसे वेदों की सार्वभौमता सिद्ध होती हैं। स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्, यह स्पष्ट अवैदिक कल्पना है, यह भी इससे सिद्ध होता है।

इन तीन मन्त्रों के अतिरिक्त यहाँ इस ज्ञान सूक्त के एक और मन्त्र का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है, जिसमें यह बतलाया गया है कि वेदरूपी सच्चे मित्र के परित्याग का कितना हानिकारक परिणाम होता है। उससे धर्म के मूल की समस्या पर भी प्रकाश पड़ता है जो ज्ञान की समस्या के साथ ही सम्बद्ध है। मन्त्र निम्नलिखित है—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

(ऋ० १०।७१।६)

(यः) जो (सचिविदम्) सब के मित्र परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करानेवाले (सखायम्) वेदरूपी मित्र को (तित्याज) छोड़ देता है (तस्य वाचि अपि) उसकी वाणी में भी (भागः न अस्ति) भजनीय अंश नहीं रहता (यत् ईं शृणोति) वह वेद का परित्याग करके जो कुछ सुनता है (अलकं शृणोति), व्यर्थ ही सुनता है (हि) क्योंकि वह वेद के परित्याग और श्रद्धा रहितता के कारण (सुकृतस्यपन्थां नहि प्रवेद) पुण्य धर्म मार्ग को भली-भाँति कभी नहीं जान सकता।

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि वेद न केवल ज्ञान का अपितु सुकृत-पुण्य धर्म कर्म का भी आदि स्रोत है। उसका जो परित्याग कर देता है, उसकी वाणी में असत्य का मिश्रण हो जाता है। ज्ञान के अभाव से वह धर्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

ऐसे ही मन्त्रों के आधार पर मनु महाराज ने कहा है कि—

योऽनधीत्यद्विजोवेदम् अन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वम्, आशुगच्छति सान्वयः॥

(मनु० २।१६८)

अर्थात् जो ब्राह्मण वेद को न पढ़ के, अन्य विषयों में परिश्रम करता है, वह जीता हुआ ही शीघ्र सपरिवार शूद्रता को प्राप्त कर लेता है—शूद्र बन जाता है।

इस प्रकार ज्ञान के आदि स्रोत वा मूल की समस्या पर विचार करने के पश्चात् अब हम धर्म के मूल की समस्या पर प्रकाश डालना चाहते हैं। इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह निर्देश करना आवस्यक है कि ईश्वरीय ज्ञान की कसौटियाँ क्या हैं ? क्योंकि वेदों के अतिरिक्त जिन्द अवस्था, बाइबल, कुरान इत्यादि ग्रन्थों को भी ईश्वरीय माननेवालों की संख्या बहुत है। अतः इसके विस्तार में न जाते हुए, इन कसौटियों को प्रस्तुत किया जाता है—

(१) यह ईश्वरीय ज्ञान मानव सृष्टि के प्रारम्भ में होना चाहिए क्योंकि यदि सृष्टि के प्रारम्भ में न देकर भगवान् अपने ज्ञान को हजारों लाखों वर्ष पश्चात् देता है, तो यह पक्षपात और पूर्ववर्तियों के साथ अन्याय होगा। इस विषय में प्रो० मैक्समूलर के निम्नलिखित शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

"If there is a God who has created heaven and earth, it will be unjust on His part if he deprives millions of souls born before moses, of His Divine Knowledge, **Reason and comparative study of religious declare that God gives His divine Knowledge to mankind from his first appearance on earth".**

(Prof. MaxMuller in Science of Religion)

अर्थात् यदि पृथिवी और आकाश का निर्माता कोई ईश्वर है तो उसके लिए यह अन्यायपूर्ण बात होगी कि वह मूसा की उत्पत्ति से पूर्ववर्ती लाखों जीवों को अपने दिव्य ज्ञान से वञ्चित रखे। तर्क और धर्मों का तुलनात्मक अनुशीलन घोषित करते हैं कि परमेश्वर अपने दिव्य ज्ञान को मनुष्यमात्र को मानव सृष्टि के प्रारम्भ में देता है।

यह बात युक्तियुक्त है और इसलिए ईश्वरीय ज्ञान की यह कसौटी है कि वह मानव सृष्टि के प्रारम्भ में दिया जाए। ऐसा अपौरुषेय, सर्वांगपूर्ण, सार्वभौम निष्पक्षपात ज्ञान वेद ही है जिसकी कुछ अच्छी बातें दूसरे मत-मतान्तरों के ग्रन्थों में परम्परागत पहुँची किन्तु जिनमें अनेक बुद्धि और प्रकृति नियम विरुद्ध, पक्षपात पूर्ण बातों का भी मिश्रण हो गया।

(२) ईश्वरीय ज्ञान की शिक्षाएँ सार्वभौम होनी चाहिएँ। उसमें किसी प्रकार का पक्षपात न होना चाहिए।

(३) उसकी शिक्षाओं में परस्पर विरोध न होना चाहिए। परमेश्वर क्योंकि सर्वज्ञ है, अतः उसे अपनी आज्ञाओं और शिक्षाओं को समय-समय पर बदलने की कोई आवश्यकता नहीं।

(४) ईश्वरीय ज्ञान में वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय-सब प्रकार के कर्त्तव्यों का निरूपण होना चाहिए। केवल कुछ सदाचार सम्बन्धी बातों का निर्देश ही पर्याप्त नहीं।

इंग्लैड के लॉर्ड बिशप राइट रेवरेण्ड फ्रेडरिक ने सन् १८८४ ई० में ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में Relation between Religion and Science (धर्म और विज्ञान का सम्बन्ध) पर दिये भाषण में स्वीकार किया—

"Perfect as the new testament morality is in spirit, it is never the less imperfect in actual precepts. It leaves questions to be solved yet. It left slavery untouched. It gave no clear command concerning the right use of wealth. It Iaid down no principles for the Government of States, though such principles must have a moral basis".

(The Relation between Religion and Science at the University of Oxford & Lecutres in the year 1884 delivered by the Right Reverend Frederick Lord Bishop of Exeter, Published by Macmillian & Co. London 1885, P. 147).

तात्पर्य यह कि यद्यपि न्यू टेस्टामेण्ट की शिक्षाएँ सदाचार वा नीतिपूर्ण है, तथापि यह व्यावहारिक वा वास्तविक शिक्षाओं के विषय में अपूर्ण है। यह अनेक प्रश्नों को बिना हल किये छोड़ देती है जिनमें से कइयों का अब तक भी कोई समाधान नहीं हो सका। इसने दासता को अछूता छोड़ दिया। इसने धन के सदुपयोग के विषय में कोई स्पष्ट आज्ञा नहीं दी। इसने राज्य शासन के लिए किन्हीं सिद्धान्तों का निर्देश नहीं किया, यद्यपि इन सिद्धान्तों का नैतिक आधार होना आवश्यक है।

वेदों में धन के सदुपयोग, राज्य शासन इत्यादि सब व्यावहारिक उपयोगी विषयों में स्पष्ट निर्देश पाये जाते हैं। इसको हम अनेक अध्यायों में सप्रमाण बतला चुके हैं।

(५) ईश्वरीय ज्ञान की शिक्षाओं का तर्क और विज्ञान तथा प्रकृति नियमों से विरोध नहीं होना चाहिए, अन्यथा बुद्धिवादी वा विचारशील वैज्ञानिक उसको स्वीकार न कर सकेंगे। हमने धर्म और विज्ञान के समन्वय की समस्या विषयक अ० १६ तथा श्रद्धा और तर्क के समन्वय की समस्या विषयक अ० १२ में इन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, अत: पिष्टपेषण अनावश्यक है।

(६) ईश्वरीय ज्ञान की शिक्षाएँ सर्वथा पवित्र और मानव मात्र के सर्वांगीण विकास के लिए साधनों का निर्देश करनेवाली होनी चाहिएँ। इन दृष्टियों से वर्तमान काल में ईश्वरीय ज्ञान माननेवाले ग्रन्थों में से कौन सब से अधिक उपादेय

है, इस बात का निर्णय हम विचारशील मनुष्यों पर छोड़ते हैं।

धर्म के मूल अथवा आदि स्रोत की समस्या

क्योंकि ज्ञान के साथ धर्म विषयक ज्ञान का भी अन्तर्भाव है, अतः तद्विषयक समस्या के समाधान के विवेचन में उसका भी उत्तर समाविष्ट है। ऋग्वेद ८।९८।१ में यह निम्न मन्त्र आता है—

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥

(ऋ० ८।९८।१)

इसमें कहा गया है कि हे मनुष्यो! (बृहते विप्राय) महान्, ज्ञान से सब को भर देनेवाले (विपश्चिते) ज्ञानी–सर्वज्ञ (मनस्यवे) स्तुतियोग्य (धर्मकृते इन्द्राय) धर्म का उपदेश करनेवाले–धर्म का आदिस्रोत परमेश्वर के लिए (बृहत् साम गायत) बृहत्साम आदि द्वारा गान करो। हम इस मन्त्र के सामवेदीय पाठ का पहले उल्लेख कर चुके हैं पर जो बात यहाँ ध्यान देने योग्य है, वह यह कि सामवेद सं० ३८८, १०२५ में पाठ ब्रह्मकृते हैं जबकि ऋग्वेद में धर्मकृते हैं। इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि परमेश्वर धर्म का वेदों के द्वारा निर्माण और उपदेश करनेवाला है। वह धर्मों (वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय व विश्वशान्त्यादि विषयक) का निर्माण करने और वेदों के द्वारा उनका मानव मात्र के कल्याण के लिए उपदेश करनेवाला है। अतः उसको जहाँ धर्मकृत् कह सकते हैं वहाँ ब्रह्मकृत भी कह सकते हैं। मनुष्य को सदा उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए।

ऋग्वेद १०।७१।६ को हम इसी अध्याय में पहले अर्थ सहित उद्धृत कर ही चुके हैं जिसमें कहा गया है कि जो परमेश्वर से मिलानेवाले वेदरूपी मित्र का परित्याग कर देता है, उसकी वाणी में भजनीय अंश नहीं रहता। वह जो कुछ सुनता है वह असत्य और व्यर्थ होता है। ऐसे वेद का परित्याग करनेवाला सुकृत–पुण्य वा धर्म के मार्ग का ठीक–ठीक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

(ऋ० १०।७१।६)

इससे भी स्पष्ट है कि धर्म का मूल ईश्वरीय ही हो सकता है और वह ईश्वरीय ज्ञानरूप वेद है जिसके विना मनुष्य को सुकृत अथवा पुण्य–धर्म का मार्ग ज्ञात नहीं हो सकता। इस पर अनेक बुद्धिवादी सज्जनों (जिनमें श्री केशवचन्द्र सेन के अनुयायी ब्रह्मसमाजियों की प्रधानता है क्योंकि आदि ब्रह्म समाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय तो अन्त तक वेद को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में मानते थे) का कथन है कि परमेश्वर ने सत्यासत्य, धर्माधर्म, पापपुण्य इत्यादि के विचार के लिए

जो अन्तरात्मा, मनःसाक्षी वा Conscience हमें दे दी है, वही पर्याप्त है। उसके अतिरिक्त ईश्वरीय ज्ञान की कुछ आवश्यकता नहीं है। इस पर हमारा कथन यह है कि यद्यपि हम स्वयं कुछ अंश तक सदसद् विवेक बुद्धि की उपयोगिता को मानते हैं, जिसका हमारे स्मृतिकारों व कवियों ने महत्त्व स्वीकार किया है, इतना ही नहीं इसकी उपयोगिता का वेदों में भी वर्णन है, तथापि केवल उसे धर्माधर्म, पाप, पुण्य, कार्याकार्य के निर्णय में पर्याप्त नहीं माना जा सकता। अन्तरात्मा का आधार बहुत कुछ सामाजिक परिस्थिति तथा शिक्षा पर है। एक वेदानुयायी आर्य, वैष्णव अथवा जैन मतावलम्बी सज्जन के घर जो बालक उत्पन्न होता है, उसे स्वभावतः मांस मद्यादि से घृणा होती है और उसकी अन्तरात्मा उसे सदा ऐसे पदार्थों का सेवन करने से रोकती रहती है। पर जो बालक मांस मद्य सेवी माता-पिता के गृह में जन्म लेता है, उसकी अन्तरात्मा उसे इन पदार्थों से परहेज रखने की कोई विशेष प्रेरणा नहीं देती। यह परिस्थिति का प्रभाव नहीं तो और किस चीज का प्रभाव है ? इसी विचार को मन में रखते हुए जर्मनी के दार्शनिक काण्ट ने "Metaphysics of Morals" नामक ग्रन्थ में ठीक ही लिखा था कि—

"Feelings which naturally differ in degree can not furnish uniform standard of good and evil, nor has anyone a right to form judgement for others on this basis of his own feelings."

(Metaphysics of Morals by Kant)

अर्थात् संवेदन वा अनुभव जो स्वाभाविकतया भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न रूप वा मात्रा में होते हैं और अच्छे और बुरे वा पाप-पुण्य का एक समान मानदण्ड नहीं निर्धारित कर सकते और न किसी को अपनी अनुभूति से दूसरों के लिए निर्णय करने का अधिकार है।

धर्म के मूल के विषय में दो प्रकार के विचार हैं—(१) एक विचार यह है कि इसका मूल मानवीय है और दूसरा विचार है कि इसका मूल मानवीय नहीं, अपितु ईश्वरीय है। धर्मों के तुलनात्मक अनुशीलन से पता लगता है कि वस्तुतः धर्म के क्षेत्र में कोई आविष्कार नहीं किया गया। सच्चा सार्वभौम धर्म तो एक ही था। उसमें समय और परिस्थिति तथा स्वार्थ, प्रमादादि के कारण जब-जब विकार आते रहे, उन विकारों को दूर करने के लिए समय-समय पर सुधारक जन्म लेते रहे। इन सुधारकों में पारसी मत के प्रवर्तक जरदुश्त, बौद्धमत के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध, ईसाई मत के प्रवर्तक ईसा मसीह और मुसलमानी मत के प्रवर्तक मुहम्मद साहिब का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन सब ने प्रायः यह कहा कि हम किसी नये धर्म को स्थापित नहीं कर रहे अपितु प्राचीनकाल से जो धर्म चला आ रहा था और जिसमें दुर्भाग्यवश काल गति से कई प्रकार के विकार पैदा हो गये थे,

उनको दूर करने के लिए ही हमारा प्रयत्न है। जब वैदिक धर्म के अनुयायी वेद की पवित्र शिक्षाओं को भुलाकर यज्ञों में पशु हिंसा करने लगे तथा वर्णव्यवस्था के आदर्श को भुलाकर, उसे जन्म से मानकर शूद्र कुलोत्पन्नों से घृणा करने लगे, तो महात्मा बुद्ध ने जन्म लेकर यज्ञों में पशु हिंसा और जन्म मूलक जाति भेद के विरुद्ध प्रबल प्रचार किया। उन्होंने प्राचीन ऋषियों के प्रति अत्यधिक आदर का भाव प्रकट किया और बार–बार स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि मैं किसी नये धर्म को चलाने नहीं आया, अपितु पुराने धर्म का ही पुनरुद्धार करने आया हूँ। इसी पशुहिंसा और देवी देवताओं की पूजा के प्रारम्भ होने पर (जो वैदिक शिक्षा के विरुद्ध थे) महात्मा जरदुश्त ने फारस में जन्म लेकर इन दोनों बुराइयों का प्रबल विरोध किया। पारसी मत से एक और यहूदी मत और दूसरी ओर ईसाई मत की उत्पत्ति हुई। यहूदी मत से एक और मुसलमानी मत और दूसरी ओर ईसाई मत निकला। ईसा मसीह ने यहूदी मत की अनेक बातों में संशोधन किया और क्रूर देव के स्थान में प्रेम मय पिता के रूप में ईश्वर की प्रार्थना करनी सिखाई। मुहम्मद साहिब ने मूर्ति पूजादि का खण्डन करके एक ईश्वर की पूजा का प्रचार किया। इस विषय में प्रो० मैक्समूलर ने कहा है—

"There has been no entirely new religion since the beginning of the World".

(Chips from a German Workshop by Prof. Max Muller
Vol. I preface P. 2

अर्थात् एक से अधिक विद्वानों ने इस बात को कहा है कि आर्य, सेमिटिक अथवा तूरेनियन कोई धर्मप्रवर्तक नहीं हुआ जिसने नया धर्म चलाया हो अथवा सर्वथा नवीन सत्य को प्रकाशित किया हो। ये सब मत प्रवर्तक सन्देशवाहक या पुराने चले आते हुए धर्म का पुनरुद्धार करनेवाले हुए हैं, नवीन धर्म शिक्षक नहीं।

चीन के सुप्रसिद्ध शिक्षक कन्फयूशियस ने अपने विषय में कहा था—

"I only hand on. I can not create new things. I believe in the ancients and, therefore, I love them".

(Quoted in Science of Religion by Prof. Max Muller)

अर्थात् मैं पुराने सन्देश को आगे पहुँचाता जाता हूँ। मैं कोई नयी चीज नहीं बना सकता। मैं प्राचीन लोगों में विश्वास करता हूँ और इसलिए मैं उनसे प्रेम करता हूँ।

धर्म के तुलनात्मक अनुशीलन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म से पारसी मत लगभग ५ हजार वर्ष पूर्व निकला जिसकी भाषा और वर्णव्यवस्था, आत्मा, पुनर्जन्म, आर्य शब्द का उत्तम अर्थ में प्रयोग, यज्ञोपवीत, गोरक्षा, मांसाहार

निषेध इत्यादि विषयक विचारों में अद्भुत समानता है। पारसी मत से यहूदी मत निकला, जिस यहूदी से ईसाइमत के कुछ सिद्धान्त और मुसलमानी मत निकले। दूसरी ओर वैदिक धर्म से बौद्ध मत निकला जिसका मुख्य उद्देश्य यज्ञादि में प्रचलित पशु हिंसा और जन्मानुसारिणी वर्ण व्यवस्था का खण्डन करना और सदाचार की ओर लोगों को प्रवृत्त करना था। बौद्धमत से ईसाईमत ने सदाचारादि विषयक शिक्षाओं को ग्रहण किया जिनमें अद्भुत समानता है। इस प्रकार एक पवित्र सार्वभौम वैदिक धर्म से क्रमशः परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार मत-मतान्तर विकृत रूप में निकलते गये। अतः धर्म का आदि स्रोत वैदिक धर्म ही है, अन्य कोई नहीं। यह वैदिक धर्म सच्ची मानवता, विश्वबन्धुत्व और हार्दिक सहयोग का प्रचार करनेवाला है जैसा कि हम इस ग्रन्थ के अनेक अध्यायों में दिखा चुके हैं। महात्मा गाँधीजी तक को जो सर्वधर्म समतावादी माने जाते हैं कहना पड़ा कि—

धर्म सारे संसार और मानव जाति का केवल एक ही है फिर उसके नामान्तर भले ही कर दिये गये हैं। (गाँधीजी की सूक्तियाँ, पृ० ६०)

भाषा के मूल की समस्या

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो अनेक अटकलपच्चू कल्पितवाद प्रचलित हैं उनका निर्देश और उन पर कुछ विचार करने से पूर्व हम ज्ञान और भाषा के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं। इस विषय में कुछ सुप्रसिद्ध पाश्चात्त्य भाषाविज्ञों के मत का उल्लेख भी शिक्षाप्रद है जिससे निष्कर्ष पर पहुँचने में सुगमता हो।

विचार और भाषा का सम्बन्ध

हर्डर (Herder) नामक भाषाविज्ञ का कथन है—

"Without language; man could never have come to his reason and we might add to his senses".

अर्थात् भाषा के बिना मनुष्य कभी ठीक तर्क को प्राप्त न कर सकता।

(२) शैलिंग नामक भाषाशास्त्र विशारद ने कहा है—

"Without language, it is impossible to conceive philosoph-ical, nay, even any human consciousness". (Schelling)

अर्थात् भाषा के विना दार्शनिक ही नहीं, किसी प्रकार का भी मानवीय ज्ञान असम्भव है।

(३) हीगल नामक सुप्रसिद्ध दार्शनिक ने लिखा है—

"We think in names". (Hegal)

हम नामों या शब्दों में सोचते हैं।

(४) सर विलियम हैमिल्टन ने लिखा है—

"Words are the fortress of thoughts, unless thought be accompanied at each point of its evolution by a corresponding evolution of language, it further development is arrested".

(Sir William Hamilton)

अर्थात् शब्द विचारों के दुर्ग के समान हैं। जब तक कि विचार अपने विकास के प्रत्येक बिन्दु पर भाषा के विकास से अनुगत न हो, तो इनकी भावी प्रगति रुक जाती है।

(५) वौन हम्बोल्ट नामक जर्मन विद्वान् ने ठीक ही कहा है—

"If we separate intellect and language, such a separation does not exist in reality". (Von. Humboldt)

अर्थात् यदि हम बुद्धि (वा तज्जन्य विचार) को भाषा से भिन्न कर दें, तो इस प्रकार की भिन्नता का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं।

(६) श्लीरमैकर नामक विद्वान् ने लिखा है कि—

"Thinking and speaking are so entirely one that one can only distinguish them as internal and external, nay as internal, every thought is already a word". (Schlier Macher)

अर्थात् सोचना और बोलना (विचार और भाषा) ये दोनों इतनी पूर्णता से एक हैं कि उनका भेद केवल आन्तर और बाह्य इस रूप में ही किया जा सकता है। इतना ही नहीं, आन्तर रूप में प्रत्येक विचार एक शब्द रूप ही है।

(७) सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने इस सिद्धान्त को प्रबल युक्तियों से सिद्ध करते हुए इसे ही सारे भाषा विज्ञान और दर्शनशास्त्र का आधार बताकर यहाँ तक लिख दिया कि—

"We think in words; this fact must become the character of all exact philosophy in future".

(The Science of language by Prof. Max Muller P. 99)

अर्थात् हम शब्दों में विचार करते हैं। यह सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान का भविष्य में आधारभूत तत्त्व माना जाना चाहिए। इसी प्रसंग में उपर्युक्त विद्वानों के उद्धरण देते हुए प्रो० मैक्समूलर ने लिखा—

"We never meet with articulate sounds except as wedded to determinate ideas; nor do we ever, I believe, meet with determinate

ideas except as embodied forth in articulate sounds. I, therefore, declare my conviction as explicitly as possible, that **thought in the sense of reasoning, is not possible without language**".

(Science of Language by Prof. Max Muller P. 99)

अर्थात् हमें व्यक्त शब्दों की उपलब्धि उनके साथ सम्बद्ध संगत विचारों के विना कभी नहीं होती, न ही मैं विश्वास करता हूँ कि संगत व्यक्त विचारों की उपलब्धि स्पष्ट शब्दों के विना हो सकती है। **इसलिए मैं अपने इस विश्वास की स्पष्ट घोषणा करता हूँ कि तर्क वा युक्ति इत्यादि के अर्थ में विचार, भाषा के विना कभी सम्भव नहीं।**

हमारे भारतीय आर्यों का सिद्धान्त इस विषय में इतना स्पष्ट है कि उसे देने की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती तथापि इतना निर्देश कर देना उचित है कि—

सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे। नित्यस्तुस्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्॥

(मीमांसा १।१।१८)

इत्यादि मीमांसा सूत्रों में इस उपर्युक्त शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता के सिद्धान्त का अति स्पष्ट प्रतिपादन है।

महर्षि वेदव्यास ने—

सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थ सम्बन्ध-इत्यागमिनः प्रतिजानते॥

(योगदर्शन १।२७ भाष्ये)

इन शब्दों के द्वारा इसी सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। अतः आर्यों के परम्परागत इस विश्वास को कि वेदों का शब्द अर्थ सम्बन्ध नित्य है, निराधार और युक्ति विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। इस विवेचन की इसलिए भी आवश्यकता और उपयोगिता है कि अनेक सज्जन वैदिक ज्ञान को ईश्वरीय मानते हुए भी मन्त्र रचना को ऋषि कृत मानते हैं। उनका ऐसा विश्वास है कि विशेष साधना और तपस्या के द्वारा ऋषियों को जो दिव्य ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ, उसे ही उन्होंने मन्त्र रूप में रख दिया जिनके संग्रह को अब वेद संहिता के नाम से कहा जाता है। किन्तु गहराई में जाने पर इस कल्पना के अन्दर अनेक दोष स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं।

(१) किसी शिक्षक से विना सिखाये हुए लोगों को ध्यान उपासनादि का ठीक मार्ग किस तरह ज्ञात हुआ।

(२) दिव्य ईश्वरीय ज्ञान जो ऋषियों को प्राप्त हुआ, वह किस रूप में था? क्या विना किसी प्रकार के शब्दों के ज्ञान सम्भव है?

(३) ऋषियों को जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसको उन्होंने बिल्कुल शुद्ध रूप में

अपनी अपूर्ण कल्पनाएँ सर्वथा मिलाये बिना रक्खा, इसका क्या प्रमाण है?

(४) भाषा की उत्पत्ति क्या केवल मानवीय प्रयत्न से सम्भव है, विशेषत: वैदिक संस्कृत भाषा जैसी पूर्ण भाषा की, जो सब भाषाओं की जननी है। (जैसे हम अति संक्षेप से दिखाना चाहते हैं)। इसके अतिरिक्त जब हम भाषा विज्ञान के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हैं कि विचारों और भाषा का नित्य सम्बन्ध है जैसा कि ऊपर उद्धृत अनेक प्रसिद्ध भाषा विज्ञान विशारद विद्वानों के लेखों से ज्ञात होता है तो हमें स्पष्टतया भाषा का भी मूल ईश्वरीय मानना पड़ता है और उसके माने विना हमारा गुजारा चल ही नहीं सकता।

वैदिक संस्कृत भाषा सब भाषाओं की जननी

वैदिक संस्कृत भाषा सब भाषाओं की जननी है। ऐसा केवल हम ही नहीं मानते, अपितु अनेक सुप्रसिद्ध निष्पक्षपात पाश्चात्त्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ कुछ विद्वानों की सम्मति को उद्धृत करते हैं—

बैरन कुवीर (Beron Cuvier) नामक विद्वान् ने संस्कृत के विषय में प्रकृति विज्ञान विषयक अपने व्याख्यानों में कहा—

"It (Sanskrit) is the most regular language known and is especially remarkable, as containing the roots of various languages of Europe like the Greek, Lation, German of Sclavonic."

(Baron Cuvier-Lectures on the Natural Sciences)

अर्थात् सर्वज्ञात भाषाओं में से संस्कृत सब से अधिक नियमबद्ध है और यह बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि यूरोप की विविध भाषाओं में जिनके ग्रीक, लैटिन, जर्मन, स्कैलवोनिअन इत्यादि सम्मिलित हैं, धातुएँ संस्कृत में पायी जाती हैं अर्थात् उनका मूल संस्कृत है।

ऐडलिंग नामक विद्वान् ने संस्कृत साहित्य विषयक अपने ग्रन्थ में इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए स्पष्ट लिखा कि—

"The great number of language, which are said to owe their origin or bear a close affinity to the Sanskrit, is truly astonishing and is another proof of its high antiquity. A German writer Rudiger has asserted it to be the parent of upwards of a hundred languages and dialects among which he enumerates 12 Indian, 7 Median Persian, 2 Arnantic, Albanian, 7 Greek, 18 Latin, 14 Sclavonian and 6 Celtic Gallic.

The various vocabularies, which we now possess and the result of laborious and learned investigations render it pretty evident that the Sanskrit has not only furnished words for all the languages of Europe,

but forms a main feature in almost all those of East. **A host of writers have made it the immediate parent of the Greek and Latin and German families of Languages".**

(Adeling in Sanskrit Literature P. 38-40)

अर्थात् संस्कृत से उत्पन्न अथवा संस्कृत के साथ अत्यधिक समानता रखनेवाली भाषाओं की संख्या अत्यन्त आश्चर्यजनक है और यह इस भाषा की अत्यन्त प्राचीनता का प्रमाण है। एक जर्मन विद्वान् रुडिगर ने उसे यूरोप और एशिया की सौ से अधिक भाषाओं की जननी बताया है। अब हमारे पास भिन्न-भिन्न भाषाओं के जो शब्दकोष विद्यमान हैं और अत्यन्त परिश्रम पूर्ण जो अनुसन्धान विद्वानों ने किया है, उसके परिणाम स्वरूप यह स्पष्ट है कि संस्कृत ने न केवल यूरोप की सब भाषाओं की शब्दावली प्रदान की है, बल्कि एशिया की सब भाषाओं का भी यह आवश्यक अंग के समान है। अनेक विद्वान् इसे ग्रीक, लैटिन तथा जर्मन परिवार की भाषाओं की जननी के रूप में मानते हैं इत्यादि।

सर विलियम जोन्स ने स्पष्ट लिखा है कि—

"The study of comparative philology tends to show that **Sanskrit is the mother of all Indo-European Languages.** From the Sanskrit were derived the original roots and those essentially necessary words which form the basis of all these languages".

(Ancient Researches Vol. I, P. 423)

अर्थात् तुलनात्मक भाषा विज्ञान यह सिद्ध करने में प्रवृत्त है कि संस्कृत, सब भारोपियन (भारतीय-यूरोपियन) भाषाओं की माता है। वे मूल धातुएँ तथा मौलिक आवश्यक शब्द, जो इन सब भाषाओं के आधारभूत हैं, संस्कृत से ही लिए गये थे।

डॉ० प्रिटचार्ड नामक विद्वान् ने लिखा है—

"The affinity between the Greek Language and the Old Parsi and Sanskrit is certain. That the religion of the Greek emanated from our Eastern source, no one will deny. We must, therefore, suppose the religion as well as the language of Greece to have been derived in great part immediately from the East".

(Physical History of Man by Dr. Pritchard. Vol. II, P. 502)

अर्थात् ग्रीक भाषा, पुरानी फारसी और संस्कृत में समानता निश्चित और आवश्यक है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि ग्रीक लोगों का धर्म पूर्वीय धर्म से निकला। इसलिए हमें अवश्य ही यह कल्पना करनी चाहिए कि ग्रीक (यूनानी) लोगों की भाषा और धर्म दोनों का बड़ा भाग पूर्व से ही लिया गया था।

पोकोक ने "India in Greece" नामक पुस्तक में लिखा है कि—

"The **Greek Language is a derivation from the Sanskrit.** Sir W. Jones says-I was not a little surprised to find that out of ten words in Dr. Perron's Zind Dictionary, Six or Seven were pure Sanskrit". (India in Greece by Pococke, P. 18)

अर्थात् ग्रीक वा यूनानी भाषा संस्कृत से निकली हुई है। सर जोन्स कहता है कि मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ जब मैंने देखा कि डॉ० पेरों की जिन्द डिक्शनरी में १० में से ६ या ७, विशुद्ध संस्कृत के शब्द थे।

मि० टेलर (W.C. Taylor) ने स्पष्ट लिखा कि—

"Sanskrit is a language of unrivalled richness and variety. It is a language which is the parent of all those dialects that Europe has fondly classed classical, the source alike of Greek flexibility and Roman strength". (Taylor W.C.)

अर्थात् संस्कृत एक अनुपम समृद्ध और विविधतापूर्ण भाषा है। यही भाषा उन सब भाषाओं उपभाषाओं की माता है, जिन्हें यूरोप क्लासिकल (प्राचीन श्रेष्ठ भाषा) के नाम से प्रेमपूर्वक पुकारता है। यही ग्रीक की लचक और रोमन की शक्ति का स्रोत है।

इस प्रकार अनेक निष्पक्षपात पाश्चात्त्य विद्वानों ने स्पष्टतया संस्कृत को सब भाषाओं की माता स्वीकार किया था यद्यपि पीछे से राजनैतिक कारणों तथा पक्षपातवश उस प्रवृत्ति में कुछ परिवर्तन कर दिया गया और संस्कृत भाषा को पूर्ववत् (जैसे कि इन प्रसिद्ध भाषा शास्त्रियों के लेखों के उद्धरणों से स्पष्ट है) माता कहने के स्थान में बड़ी बहिन कहना प्रारम्भिक किया। वस्तुतः यह एक पक्षपातपूर्ण कल्पना है, जो हमारे विचार में कपोलकल्पित होने के कारण सर्वथा अमान्य है।

इन उपर्युद्धृत ऐडेलिंग, बैरनकुवीर, सर विलियम जोंस इत्यादि निष्पक्षपात विद्वानों ने संस्कृत को जो यूरोपीय भाषाओं का मूल स्रोत बताया था, उसके स्पष्टीकरणार्थ कुछ उदाहरण देना इस प्रसंग में उचित प्रतीत होता है। यह दिग्दर्शन मात्र है जिससे इस विषय का सामान्य परिचय प्राप्त हो सके।

संस्कृत-जर्मन शब्दों की तुलनात्मक तालिका

संस्कृत		जर्मन	संस्कृत		जर्मन
अशनम्	...	Essen	गुह्यम्	...	Geheim
सम्मेलनम्	...	Sammeln	चरित्रम्	...	Character

नक्तम् ... Nacht
आर्तसत् ... Artst
पितर ... Vater
मातर ... Mutter
वारुनम ... Wagen
दीक्षित: (कवि:) ... Dichter
दीन: ... Diener
मनुष्य: ... Mensch
सूनु: ... Sohn
विवाह: ... Ehe
युवजन: ... Yugend
वरम् (सत्यम्) ... Wahr
ततम् ... Tat.
दशनम् ... Zohn
विहग: ... Vogel

संस्कृत **अंग्रेजी**

लोक् ... Look
नरूम् ... Might
हृत् ... Heart
नो ... No
ते ... They
ते ... They
यूयम् ... You
वयम् ... We
पन्था: (वैं०पाथ:) ... Path
नाम ... Name
द्वारम् ... Door
तरु: ... Tree
नव: ... New
चरित्रम् ... Character
दुर्बलता ... Debility

नाम ... Name
विधवा ... Widwe
मीर: (समुद्र:) ... Meer
हर्म्यम् ... Heim

जर्मन व्याकरण की भी वैदिक व्याकरण से अद्भुत समता हमने पायी है

पितर् ... Father
मातर ... Mother
भ्रातर ... Brother
स्वसर ... Sister
दुहितर ... Daughter
सूनु: ... Son
विधवा ... Widow
उक्षा ... Ox
मूष: ... Mouse
उलूक: ... Owl
तारा: ... Stars

संस्कृत **फ्रेंच**

दानम् ... Donar
नाम ... Nom
शाला ... Salle
मृत्यु: ... Mort
पदम् ... Pied
वय: ... Vie
स्म: ... Sommes
देव: ... Diev
नीड: ... Soi
सप्त ... Toi
स्वयम् ... Soi
त्वा ... Toi
धरा ... Terre

भ्रूः	...	Brow	मृतः	...	Meurt
साम	...	Psalm	त्वम्	...	Tu
सन्तः	...	Saints	त्रयः	...	Trois
तन्त्रम्	...	Tantrum	चत्वारः	...	Quatre
सर्पः	...	Serpent	विंशतिः	...	Vingt
समितिः	...	Committee	नः	...	Nous
ज्यामितिः	...	Geometry	वः	...	Vous
त्रिकोणमितः	...	Trignometry	मे	...	Ma
दशमलवः	...	Decimal	ते	...	Ta
वमितम्	...	Vomitting	मातर	...	Mere
क्रमेलः	...	Camel	**संस्कृत**		**लैटिन**
स्वषादः	...	Suicide	दानम्	...	Donum
प्रगतिः	...	Progress	मातर	...	Mater
ऋतम्	...	Right	पितर	...	Pater
क्रूरः	...	Cruel	भ्रातर	...	Braater
मानवः (मनुः)	...	Man	युगम्	...	Yugum
			इदम्	...	Idem
			देवः	...	Deus

संस्कृत-लैटिन तथा संस्कृत ग्रीक शब्दों की तुलनात्मक तालिका

संस्कृत		लैटिन	संस्कृत		ग्रीक
धरा	...	Terra	भ्राता	...	Phrata
राज्यम्	...	Regnum	अश्मन्	...	Akman
राज्ञी	...	Regine	मतः	...	Mator
श्वशुरः	...	Socer	चत्वारः	...	Tettores
नक्तम्	...	Noctis	अप	...	Ao
वाक्	...	Vox, Vocis	कतरः	...	Poteros
जानु	...	Genu	अजानि (अजगतौ)	...	Ago
मीरः (समुद्रः)	...	Mare	दश	...	Dek
मासः	...	Mensis	नीरम्	...	Noro
नवः	...	Navus	जननम्	...	Genesis

नौः	...	Navis	मात्रा	...	Metion
नो	...	Non	श्वन्	...	क्वन
तान्वी	...	Tenmus	त्रयः	...	Tiois
अपः (वैः)	...	Opus	पतामि	...	Petomi
मृदुः	...	Mitis	पदम्	...	Poda
महान्	...	Magnus	प्र	...	Pro
पदातिः	...	Peditis	ददामि	...	Didomi
मृतिः	...	Morti	अष्टकोणम्	...	Octo-gonia
नीडः	...	Nidus			
पदम्	...	Pedem			
मनाः	...	Mens			
अमर्त्यः	...	Inmortalis			
युवन्	...	Juvenis			
वीरः	...	Vir	**संस्कृत**		**ITALIAN**
मृतः	...	Morteus	म	...	Detto
द्वौ	...	Duo	म	...	Otto
अस्ति	...	Est	म	...	Setto
वहामि	...	Veho			
स्थितिः	...	Sedes			
अज्ञातः	...	Ignotus			
दश	...	Decom			

फारसी, पाली तथा भारतीय भाषाओं के शब्द भी संस्कृत से बहुत अधिक मिलते हैं।

कई दक्षिण की भाषाओं को संस्कृत से पृथक् द्राविड़ परिवार की समझते हैं किन्तु यह एक भ्रम है। इन भाषाओं के अध्ययन के आधार पर हम निम्नलिखित दाक्षिणात्त्य प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों की सम्मति का प्रबल समर्थन करते हैं।

स्वर्गीय अनन्तशयनम् अयांगर (भूतपूर्व राज्यपाल, बिहार) ने १९५३ में दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत परिषत् का उद्घाटन करते हुए कहा था—

"The Sanskrit is the fountain head of all Indian Languages. All Indian Languages are offshoots of Sanskrit. Bengali and Telugu have about 75 percent Sanskrit words, while Malayalam had about 90 per

cent. The only change is that the Sanskrit words have been absorbed with slight changes here and there".

अर्थात् संस्कृत सब भारतीय भाषाओं का स्रोत है। सब भारतीय भाषाएँ संस्कृत की पुत्रियाँ हैं। बंगाली और तेलगू में लगभग ७५ प्रतिशत तक संस्कृत के शब्द हैं जबकि मलयालम में ९० प्रतिशत तक संस्कृत शब्द पाये जाते हैं। परिवर्तन इतना ही है कि कहीं–कहीं संस्कृत शब्दों को कुछ अन्तर के साथ इन भाषाओं में ले लिया गया है।

अनुसंधान करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि तामिल व्याकरण का आधार प्राचीन ऐन्द्र व्याकरण पर था जो अब लुप्त है।

१२वीं शताब्दी के कन्नड़ भाषा के व्याकरण प्रणेता नागवर्मा ने तामिल, तेलुगु और कन्नड़ को संस्कृत माता की पुत्री बताया। १३वीं शताब्दी में तेलुगु भाषा के व्याकरण प्रणेता केतन ने लिखा है कि संस्कृत सब भाषाओं की माता है जैसे कि अखिल भारतीय प्राच्य विद्यापरिषत् के दिसम्बर १९३७ ई० में त्रिवेन्द्रम् में सम्पन्न अधिवेशन के Malayalam and other Dravidian Languages Section अध्यक्ष महाकवि उल्लूर परमेश्वर ऐयर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में बताया था—

Keta-the Telugu grammarian (13th. Century) says that Sanskrit is the mother of all languages. The anonymous Malayali grammarian who wrote Lila Tilakam in the 14th. Century also holds the view that **Malayalam is derived from Sanskrit.**

(See Presidential address of Maha Kavi Ullur Parameshwar Iyer, at the Malayalam and other Dravidian Languages Section of the All India Oriental Conference (9th. Session) Trivandrum 1937).

Heritage of India Series में प्रकाशित "A History of Telugu Literature" नामक तेलुगु साहित्य के इतिहास में लेखकों ने भी स्पष्ट स्वीकार किया कि—

"An analysis of Telugu, as it has been for centuries, **confirms the traditional view that Telugu is derived from Sanskrit**".

(A History of Telugu Literature P. 16)

अर्थात् तेलुगु भाषा के (जैसे कि गत अनेक शताब्दियों से वह प्रचलित रही है) विश्लेषण से इस परम्परागत विचार की पुष्टि होती है कि तेलुगु संस्कृत से निकली है।

इस प्रकार के दिग्दर्शन से यह स्पष्ट है कि देश–विदेश की विभिन्न भाषाओं का स्रोत संस्कृत भाषा है जिसका मूल वैदिक संस्कृत है।

बोप (Bopp) नामक पाश्चात्त्य भाषा विज्ञान विशारद ने स्पष्ट घोषणा की थी कि—

"At one time, Sanskrit was the one language spoken all over the world".

अर्थात् एक समय था जबकि संस्कृत भाषा सारे संसार में बोली जाती थी। अब तो केवल यही प्रश्न पुनः सम्मुख आता है कि भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। इस पर पाश्चात्त्य भाषा शास्त्रियों ने अनेक परस्पर विरुद्ध कई अत्यन्त विचित्र कल्पनाएँ विकासवादादि के आधार पर की हैं यथा—

(१) धातु सिद्धान्त—जिसे डिंग डांगवाद (Ding Dong Theory) भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की हर एक चीज की अपनी ध्वनि होती है। विभिन्न वस्तुओं की ये ध्वन्यात्मक अभिव्यक्तियाँ धातु थीं। आरम्भ में इस प्रकार के धातुओं की संख्या बहुत बड़ी थी। धीरे–धीरे योग्यता अवशेष सिद्धान्त के कारण बहुत से लुप्त हो गये और केवल ४००–५०० शेष रहे उन्हीं से भाषा की उत्पत्ति हुई।

इसके विरुद्ध कई बातें कही जा सकती हैं। (क) पहली बात यह है कि आदि मनुष्य के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना के लिए कोई आधार नहीं। यह सर्वथा निराधार कल्पना होने के कारण त्याज्य है।

(ख) संसार की भाषाओं में अनेक भाषा परिवार हैं जिनमें धातु जैसी कोई चीज ही नहीं। ऐसी स्थिति में यदि धातु की बात मान भी लें तो ऐसी भाषाओं की समस्या का हल इससे नहीं निकलता।

(ग) भाषा केवल धातु से ही नहीं बनती। प्रत्यय उपसर्ग आदि अन्य रूपों से भी बनी होती है। इस मत में उनके लिए कुछ नहीं कहा गया। इस प्रकार इस मत में कोई तत्त्व नहीं। यही सोचकर प्रो० मैक्समूलर ने बाद में इसे छोड़ दिया था।

(२) निर्णय सिद्धान्त—जिसे प्रतीकवाद वा संकेतवाद भी कहते हैं। इसके अनुसार केवल इशारों से काम न चलता देखकर आरम्भिक लोगों ने इकट्ठे होकर आवश्यक वस्तुओं या क्रियाओं आदि के लिए प्रतीक, ध्वनि संकेत, सांकेतिक नाम या शब्द निश्चित करके उन्हें स्वीकार किया और वहीं से भाषा का आरम्भ हुआ। ध्यान देने पर पता चलता है कि यह सिद्धान्त भी निरर्थक है। यदि कोई भाषा नहीं थी तो आरम्भ में लोगों ने कैसे इकट्ठे होकर नामों का निर्णय किया ? विना विचार विनिमय के न तो इकट्ठा होना सम्भव है और प्रतीक रूप में नामों आदि का निर्णय होना और यदि वे ऐसा कर सकते थे तो फिर पृथक् भाषा

की आवश्यकता ही क्या थी ?

(३) ध्वनि अनुकरण सिद्धान्त—इसके अन्य नाम अनुकरण सिद्धान्त, अनुकरण मूलकतावाद, भौं भौंवाद, शब्दानुकरणवाद वा शब्दानुकरण मूलकतावाद हैं। इसे अंग्रेजी में Bow-vow theory onomotopolic, onomotopolitic, Theory या Echolic Theory कहते हैं। इसके अनुसार मनुष्य ने आसपास के पशु-पक्षियों आदि से होनेवाली ध्वनियों के अनुकरण पर अपने लिए शब्द बनाये और उसी आधार पर पूरी भाषा खड़ी हुई। इस प्रकार ध्वन्यनुकरणात्मक वस्तुत: भाषाओं में बहुत कम है, उनकी संख्या १०० तक भी नहीं पहुँचती अत: उनके आधार पर भाषा की उत्पत्ति मानना अयथार्थ है।

(४) मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त

इसे मनोभावाभिव्यक्तिवाद, मनोराग व्यञ्जक शब्द मूलकतावाद, पूहपूहवाद, मनोभावा-भिव्यंजकतावाद आदि नामों से भी कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे Pooh-Pooh or Inter Jectional theory कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आरम्भ में मनुष्य विचार प्रधान प्राणी न होकर अन्य पशुओं की तरह भाव प्रधान था और प्रसन्नता, दु:ख, विस्मय, घृणा आदि के भावावेश में उसके मुख से आ, छि:, धिक्, धत्, आह, ओह, फाई, पूह, पिश आदि जैसे शब्द सहज ही निकल जाया करते थे। धीरे-धीरे इन्हीं शब्दों से भाषा का विकास हुआ।

प्रो० मैक्समूलर ने मजाक में इसे Pooh-Pooh theory का नाम दिया था। वस्तुत: ऐसे शब्द किसी भी भाषा में बहुत ही कम हैं। इनकी संख्या ५०-६० से अधिक न होगी। केवल इनके आधार पर भाषा की उत्पत्ति मानना नितान्त उपहासास्पद है। भाषाओं में वह स्वाभाविक एक समान होना चाहिए था किन्तु वैसा नहीं है।

(५) यो-हे-हो सिद्धान्त

इसे यो-हे-हो वाद या श्रम परिहरण मूलकतावाद भी कहते हैं। इसके जन्मदाता न्वायर नामक विद्वान् थे। उनका सिद्धान्त था कि परिश्रम का कार्य करते समय श्वास की तेजी से बाहर-भीतर आने-जाने से और साथ-साथ स्वातन्त्रियों के विभिन्न रूपों में कम्पित होने से एवं तदनुकूल ध्वनियाँ उच्चरित होने से कार्य करनेवाले को राहत वा आराम मिलता है। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि किसी क्रिया के साथ स्वभावत: होनेवाली ध्वनि इस क्रिया की बोधिका होती है। यह सिद्धान्त तो बिल्कुल ही गया बीता है क्योंकि इन शब्दों का भाषा में कोई स्थान नहीं है और न इन ध्वनियों से किसी विशिष्ट अर्थ का ही सम्बन्ध है।

इसी प्रकार इंगित सिद्धान्त (Gestural Theory) टा-टा (Ta-ta Theory) सिद्धान्त संगीत सिद्धान्त (Sing song Theory) सम्पर्क सिद्धान्त (Contact Theory) आदि अथवा इनसे काम न चलता देखकर इन सब के समन्वित रूप की कल्पना

की गयी है। किन्तु इन कल्पनाओं में सार बहुत ही कम है। कुछ थोड़े से शब्दों की उनसे व्याख्या हो सकती है। इसलिए अन्त में जैसे "भाषा विज्ञान" (किताब महल–प्रयाग द्वारा प्रकाशित) के लेखक डॉ० भोलानाथ तिवारी ने निष्कर्ष निकालते हुए अनुमानतः लिखा है—

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं, जितनी खोजें हुई हैं, उनके प्रकाश में केवल इतना ही कहना सम्भव है कि भाषा की उत्पत्ति भावाभिव्यंजक, अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दों से हुई और इसमें इंगित सिद्धान्त, संगीत सिद्धान्त एवं सम्पर्क सिद्धान्त से भी सहायता मिली। आगे चलने पर भावाभिव्यक्ति की आवश्यकता योग्यतमावशेष सिद्धान्त एवं अर्थ तथा ध्वनि में परिवर्तन के कारण भाषा में तेजी से परिवर्तन आता गया और यह परिवर्तन इतना विशाल और बहुमुखी था कि इसे भेद कर इसके पूर्व की भाषा के रूप के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ और अधिक कहना अब प्रायः सम्भव नहीं है।(भाषा विज्ञान–डॉ० भोलानाथ कृत, पृ० ४०)

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें अब तक कोई बहुत निश्चित उत्तर नहीं प्राप्त हो सका। (भाषा विज्ञान, पृ० ४५)

वैसे अन्य भी प्रायः सब आधुनिक लेखकों को स्वीकार करना पड़ा है जो सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञान और धर्म के समान भाषा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को नहीं मानते। यहाँ तक कि विकासवाद को लेकर चलनेवाले भाषा विज्ञान विशारदों को इस भाषा के मूल की समस्या में रुचि लेना ही बन्द करने को विवश होना पड़ा है।

Encyclopedia of the Social Sciences Vol. ix में Origin of Language अथवा भाषा के मूल पर जो लेख मि० ऐडवर्ड सेपीर (Edward Sapir) नामक भाषा शास्त्री का प्रकाशित हुआ है उसमें उन्होंने लिखा है—

"Many attempts have been made to unravel the origin of language, but most of these are hardly more than exercises of the speculative imagination. **Linguists, as a whole, have lost interest in the problem**". (Encyclopedia of the Social Sciences Vol. ix P. 158

अर्थात् भाषा की उत्पत्ति की समस्या को सुलझाने के लिए बहुत से यत्न किये गये हैं, किन्तु उनमें से बहुत से अनुमानात्मक कल्पनाओं के व्यायामों से बढ़कर कुछ नहीं निकला। दूसरे शब्दों में, वे अटकल पच्चू कल्पनाएँ हैं। अतः भाषाशास्त्रियों ने अब सम्पूर्णतया इस समस्या में रुचि लेना ही बन्द कर दिया है।

इसके कारण बताते हुए उन्होंने कहा है कि यह अनुभव किया गया है कि मनोवैज्ञानिक अर्थ में कोई प्रारम्भिक वा आदि भाषाएँ अब विद्यमान ही नहीं।

दूसरा हमारा मनोविज्ञान का ज्ञान इतना गम्भीर नहीं है कि भाषा की उत्पत्ति की समस्या के समाधान में हमारी सहायता कर सके, इत्यादि।

हमारा निश्चित विचार है कि भाषा के मूल के सम्बन्ध में विकासवाद को लेकर मनघड़न्त कल्पनाओं को लेकर चलना सर्वथा व्यर्थ है। दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त ज्ञान और धर्म के समान भाषा के विषय में भी लागू है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन डॉ० भोलानाथ तिवारी ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रथम दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त के नाम से किया और इसके विषय में लिखा है कि—"भाषाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सबसे प्राचीन मत है। लोगों का विश्वास रहा है और कुछ अंशों में तो आज भी है कि संसार और उसकी अनेकानेक चीजों की भाँति ही भाषा को भी भगवान् ने ही बनाया। भारतीय पण्डित वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि संस्कृत को ईश्वर ने बनाया और फिर उसी भाषा में वेदों की रचना की। ईश्वर निर्मित होने के कारण ही इसे सनातनी पण्डित संसार की सभी भाषाओं का मूल मानते हैं।"

उपसंहार

हमने इस अध्याय में धर्म और ज्ञान का मूल ईश्वर है यह जैसे सिद्ध किया है वैसे ही भाषा का मूल भी भगवान् को मानना सर्वथा उचित और युक्तियुक्त है क्योंकि ज्ञान और धर्म की तरह भाषा भी मनुष्य स्वयं नहीं सीख सकता। उसका ज्ञान परमेश्वर स्वयं देता है और वही वैदिक भाषा अन्य सब भाषाओं की जननी है जैसे कि अनेक प्रमाण और युक्तियाँ देकर हमने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। **ज्ञान भाषा के बिना हो नहीं सकता और वह विशुद्ध और पूर्ण भाषा वैदिक भाषा ही है।**

वैदिक भाषा सर्वथा पूर्ण है। अलंकार, छन्द, माधुर्य, लालित्य आदि की दृष्टि से उसकी सुन्दरता को बड़े-बड़े विद्वानों ने स्वीकार किया है। उसमें आत्मा, परमात्मा, उनके सम्बन्ध, सृष्ट्युत्पत्ति, विश्वशान्ति इत्यादि विषयक गम्भीर विषयों का भी अत्यन्त अद्भुत काव्यमय भाषा में प्रतिपादन किया गया है। उसके व्याकरण के विषय में नियम हैं। यही एक भाषा है जो एक ही प्रकार के शब्दों द्वारा श्लेषालंकार से आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक अर्थों को प्रकट करने का सामर्थ्य रखती है। कुछ ही सहस्रों बल्कि सैकड़ों वर्ष पुरानी भाषाओं का मानव सृष्टि के प्रारम्भ की वैदिक भाषा के साथ ईश्वरीय होने का दावा करना नितान्त उपहास जनक है।

अध्याय-२९

वेदों के निष्पक्षपात अनुशीलन की आवश्यकता

इस समय तक हमने वर्तमान जगत् और विशेषत: भारत में विद्यमान निम्न समस्याओं पर तुलनात्मक विचार करते हुए उनका वेदों द्वारा प्रस्तुत समाधान ही सर्वोत्कृष्ट समाधान है, इस बात को दर्शाया है। प्रथम दो अध्यायों में हमने शैक्षणिक समस्याओं पर विचार किया है कि शिक्षा का लक्षण क्या है ? उसका उद्देश्य क्या होना चाहिए और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? वेदानुसार गुरुकुल शिक्षा प्रणाली क्या है ? क्या यह सर्वोत्तम है ?

द्वितीय अध्याय को हमने ४ खण्डों में विभक्त करके, प्रथम खण्ड में स्त्री शिक्षा का वैदिक आदर्श-इस पर प्रकाश डाला तथा द्वितीय में छात्रों में अनुशासनहीनता की समस्या पर विचार किया है। अनुशासनहीनता के मुख्य कारणों का निर्देश करते हुए हमने उनके प्रतिकार के लिए कुछेक सुझाव प्रस्तुत किए। वैदिक शिक्षादर्श का अनुसरण करने और गुरु-शिष्य सम्बन्ध को वेद की शिक्षा के अनुसार घनिष्ट बनाने से ही अनुशासनहीनता को दूर किया जा सकता है—इस बात को दिखाया।

तृतीय खण्ड में कुमार-कुमारियों अथवा युवक-युवतियों की सह-शिक्षा पर विचार करते हुए उसे वैदिक ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों के प्रतिकूल और अत्यन्त हानिकारक सिद्ध किया।

चतुर्थ खण्ड में धार्मिक और नैतिक शिक्षा की आवश्यकता और उसके स्वरूप पर विस्तार से विचार किया। वेदों की शिक्षाओं पर आधारित सार्वभौम धार्मिक शिक्षा के पक्ष में अपने विचार प्रस्तुत किये।

तृतीय अध्याय में शिक्षित वर्ग की बेरोजगारी की समस्या पर विचार करते हुए उसका एक प्रधान कारण शारीरिक श्रम तथा हस्त कार्य से वर्तमान शिक्षित वर्ग की घृणा अथवा अरुचि को बताते हुए शैल्पिक और औद्योगिक शिल्पों की भी विद्यालयों में शिक्षा देने का सुझाव दिया।

चतुर्थ अध्याय में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर विचार करते हुए वेद में व्यष्टिवाद (असंभूति) और समष्टिवाद (सम्भूति) को मिलाकर कार्य करने का जो वेदों में उपदेश है उसकी उपयुक्तता वा सर्वोत्तमता पर बल दिया।

पञ्चम अध्याय में व्यष्टिवाद (Individualism) पूँजीवाद (Capitalism)

समाजवाद (Socialism) साम्यवाद या वर्गवाद (Communism) फासिज्म (Fascism) प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद (Democratic Socialism) इत्यादि प्रचलित विविध वादों का निष्पक्षपात विवेचन करते हुए वैदिक शिक्षाओं द्वारा ही समस्त सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का सन्तोषजनक समाधान हो सकता है इस बात को तुलनात्मक दृष्टि से दिखाया है।

षष्ठ अध्याय में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध तथा पारिवारिक समस्याओं पर विचार करते हुए विवाह की आयु, उसका उद्देश्य-एक विवाह या बहु-विवाह विवाह-सम्बन्ध निश्चय प्रकार-स्वयंवर या कोर्टशिप-विवाहित जीवन में काम विज्ञान की आवश्यकता तथा वेदों में उसका उचित रूप से प्रतिपादन, सम्बन्ध विच्छेद के कारण-पति-पत्नी, सास-बहू की कलह इत्यादि बातों पर प्रकाश डाला गया।

सप्तम अध्याय में वृद्ध जन समस्या पर विचार करते हुए पितृ यज्ञ के द्वारा माता-पिता आदि की सेवा और वानप्रस्थाश्रम पद्धति के प्रचार आदि से इसका किस प्रकार समाधान हो सकता है, इस विषय पर विचार किया।

अष्टम अध्याय में जनसंख्या वृद्धि विषयक समस्या पर विचार किया गया है। इस पर प्रतिबन्ध की वाञ्छनीयता को वर्तमान परिस्थिति में स्वीकार करते हुए भी इसके लिए पति-पत्नी के संयम और ब्रह्मचर्य पालन की आवश्यकता को प्रतिपादित किया।

नवम अध्याय में वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और विश्व शान्ति की समस्या पर विचार करते हुए उसके वेदोक्त साधनों-परमेश्वर के विश्वपितृत्व और मानव मात्र के विश्वभ्रातृत्व तथा मन, वाणी, इन्द्रियों के सदुपयोग इत्यादि का निर्देश किया।

दशम अध्याय में विश्व प्रेम विषयक समस्या तथा मानव मात्र ही नहीं अपितु प्राणि मात्र की एकता पर विचार किया गया है।

अध्याय ११ में इस समस्या पर विचार किया गया है कि जब वेद विश्वप्रेम और मानव मात्र की एकता का उपदेश करते हैं, तो क्या दुष्ट अन्यायी और अत्याचारी मनुष्यों को भी अपना मित्र या बन्धु मानकर उनके आगे सिर झुका देना चाहिए? क्या ऐसा करने का परिणाम समाज व राष्ट्र के लिए हितकारक हो सकेगा?

अध्याय १२ में श्रद्धा और तर्क के परस्पर विरोधी समझे जाने के कारण जो समस्या उत्पन्न हो जाती है और जिसके कारण शुद्ध धर्म का स्वरूप भी विकृत तथा दूषित हो जाता है, उस पर विचार किया गया।

अध्याय १३ में ज्ञान, कर्म और भक्ति के सम्बन्ध विषयक समस्या पर विचार करते हुए यह बताया गया कि ज्ञान और कर्म में कोई टकराव नहीं।

अध्याय १४ में बताया गया कि देश से प्रेम करना एक बहुत अच्छी बात है किन्तु उग्र राष्ट्रीयता–आक्रमणात्मक राष्ट्रीयता को वेदों में समर्थन प्राप्त नहीं। उग्र राष्ट्रीयता राजसिक भाव है जो दूसरे देशों को हानि पहुँचाकर उन्हें औरों की दृष्टि में गिराकर अपने ही राष्ट्र को उन्नत करना सिखाता है। ऐसा करने में असत्य, छल–कपट के प्रयोग में भी संकोच नहीं किया जाता। वेद शुद्ध स्वदेश भक्त को 'माता भूमिः पुत्रोहं पृथिव्याः'। इत्यादि मन्त्रों के द्वारा पाठ सिखाते हैं। उनसे संकुचित, आक्रमणात्मक उग्र राष्ट्रीयता का समर्थन नहीं होता।

अध्याय १५ में यह बताया गया कि आधुनिक युग में विज्ञान की अद्भुत उन्नति हुई है, किन्तु उसके कारण आध्यात्मिकता का ह्रास होता जा रहा है। थोड़ा–सा विज्ञान पढ़कर भी प्रायः लोग भौतिकवादी बनकर आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, परलोक आदि की सत्ता से इन्कार करने लगते हैं। इसका परिणाम नैतिक पतन और अशान्ति की वृद्धि होता है, जो सर्वथा अवाञ्छनीय है।

अध्याय १६ में धर्म, विज्ञान और तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध और समन्वय विषयक समस्या पर विचार कर वेद मन्त्रों के उद्धरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि धर्म तथा विज्ञान में कोई भेद नहीं। वेदों को दोनों धर्म तथा विज्ञान का–मूल बताया गया। इसी अध्याय में पुनर्जन्मादि वैदिक सिद्धान्तों की सत्यता को विज्ञान और तत्त्व ज्ञान द्वारा भी समर्थित किया गया है।

अध्याय १७ में बताया गया कि अधिकारों पर बल देने से अनेक प्रकार के वैर–विरोध खड़े हो जाते हैं, अतः इससे बचना चाहिए। कर्त्तव्यों का पालन करने से ही परिवार, समाज और राष्ट्र के अन्दर शान्ति रह सकती है। वेद दोनों के समन्वय का सन्देश देते हैं।

अध्याय १८ में विषाद और नैराश्य की समस्या पर विचार किया गया जो आजकल की प्रमुख समस्याओं में से है। इसे दूर करने के उपायों में परमेश्वर पर पूर्ण विश्वास रखने के साथ ही आत्मा की अद्भुत शक्ति पर विश्वास करने पर बल दिया गया।

अध्याय १९ में भ्रष्टाचार और दुराचार के निवारण की समस्या पर विचार करते हुए वर्तमान शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन करके उसे वैदिक आदर्शों के अनुकूल बनाने का सुझाव दिया गया। यह भी कहा गया कि भ्रष्टाचार दूर करने के लिए अन्य उच्च कोटि के विद्वान् साधु महात्माओं को भी जागरूक रह कर जनता को सन्मार्ग पर चलने की सदा प्रेरणा करनी चाहिए। शासन प्रणाली में समुचित सुधार करने की भी आवश्यकता बतायी गई।

अध्याय २० में मानव के रूपान्तरीकरण की आवश्यकता पर जोर देते हुए वेदोक्त संस्कारों के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। शुद्ध भावना के साथ वैदिक

संस्कारों के प्रचलित होने से मानव प्रकृति राजस, तामस से सात्त्विकता की ओर आ सकती है और उसका रूपान्तरीकरण हो सकता है—ऐसा प्रतिपादित किया गया।

अध्याय २१ में मांस मद्यादि का सेवन वेद विरुद्ध और हानिकारक बताते हुए अनेक सुप्रसिद्ध डॉक्टरों तथा वैज्ञानिकों की साक्षी को प्रस्तुत किया गया।

अध्याय २२ में सप्रमाण बताया गया है कि वेदों में प्रजातन्त्र शासन का उच्च आदर्श रखा गया है, जिसमें श्रेष्ठतम व्यक्तियों के हाथ में निर्वाचन द्वारा शासन की बागडोर दी जाती है जो प्रजा को पुत्रवत् समझते हुए उनका सदा कल्याण करते हैं। वेदोक्त सभा, समिति, परिषद् इत्यादि का निर्देश करते हुए बताया गया है कि स्वार्थ रहित त्यागी तपस्वी पूर्ण सदाचारी विद्वानों के हाथ में ही नियम व कानून बनाने का अधिकार होने से अन्याय की सम्भावना समाप्त की जा सकती है।

अध्याय २३ में बताया गया कि वेदों के अनुसार राजनीति, धर्म पर ही आश्रित होनी चाहिए। धर्म और राजनीति को सर्वथा पृथक् रखना अनुचित तथा हानिकारक है। धर्मनिरपेक्षता के स्वरूप को दर्शाते हुए इसमें इस बात पर बल दिया गया कि इसका वास्तविक अर्थ असाम्प्रदायिक राज्य है, न कि धर्म विहीन राज्य है।

अध्याय २४ में कुछ दार्शनिक समस्याओं, विशेषतः इच्छा स्वातन्त्र्य और नियतिवाद (Fee will & Determinism) तथा पाप और दुःख की समस्या पर वैदिक सिद्धान्त की दृष्टि से विचार किया गया। वेदों के उद्धरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र, किन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। **दैव और पुरुषार्थ में से प्रधानता पुरुषार्थ की है किन्तु पूर्वजन्म में किया कर्म ही दैव कहलाता है।** अतः उसकी सत्ता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

अध्याय २५ में संस्कृति और सभ्यता में भेद करते हुए वेद मन्त्रों के आधार पर वैदिक संस्कृति का स्वरूप बताया गया। प्राचीन भारतीय आर्य सभ्यता और पाश्चात्त्य सभ्यता के मुख्य–मुख्य भेदों को भी दिखाया गया।

अध्याय २६ में वेदों को प्राचीन आर्य परम्परानुसार ज्ञान, धर्म और भाषा–इन तीनों का मूल मानना युक्तियुक्त सिद्ध किया गया। विकासवाद तथा वर्तमान भाषा विज्ञान (Philology) व (Linguistics) की परस्पर विरुद्ध, कल्पित और सर्वथा अनिश्चित कल्पनाओं द्वारा एतद्विषयक विविध मतों की आलोचना की गई।

इस सिंहावलोकन के पश्चात् हम वेदों के निष्पक्षपात अनुशीलन की भारी आवश्यकता के विषय में कुछ कहना चाहेंगे।

गत लगभग दो शताब्दियों में अनेक पाश्चात्त्य विद्वानों ने वेदों का कुछ

अध्ययन करके उनके विषय में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और कुछ ने अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रशियन आदि भाषाओं से सम्पूर्ण वेदों अथवा उनके अनेक सूक्तों का अनुवाद भी किया है। इन विद्वानों में प्रो० मैक्समूलर, रोजन, लुडविंग, ग्रासमैन, ऋग्वेद के जर्मन भाषा में अनुवादक तथा ऋग्वेद डिक्शनरी के निर्माता, ओल्डनवर्ग, डॉ० वीबर, कोलब्रुक, सरविलियम जोन्स, बर्नफ, रुडाल्फ रौथ (सैण्ट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी नामक संस्कृत महाकोष के सम्पादक) विल्सन (ऋग्वेद के सायणभाष्य के अंग्रेजी में अनुवादक) कीथ, मैक्डौनल, विण्टर्नीज, जैकोबी, ग्रिफिथ (चारों वेदों के अंग्रेजी में अनुवादक) रेवरेण्ड स्टीवन्सन (सामवेद के अंग्रेजी अनुवादक) इत्यादि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनका परिश्रम प्रशंसनीय है किन्तु इनमें से बहुतों के विषय में निःसंकोच कहा जा सकता है कि उनका वेदों के अनुवाद करने अथवा वेद विषयक ग्रन्थ लिखने में प्रेरक भाव निष्पक्ष और शुद्ध न था प्रत्युत प्राचीन आर्य धर्म की हीनता दिखाकर ईसाइयत की श्रेष्ठता अथवा विकासवाद की सच्चाई का प्रतिपादन करना था। मोनियर विलियम्स, मैक्डोनल और कीथ का नाम इन पाश्चात्य विद्वानों के प्रमुख सज्जनों के रूप में लिया जा सकता है। उन्होंने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर के रूप में जिस Boden Trust की ओर से अनेक वर्षों तक कार्य किया, उसके उद्देश्य के विषय में मोनियर विलियम्स ने अपनी सुप्रसिद्ध Sanskrit English Dictionary की भूमिका में जो शब्द लिखे हैं उन पर विशेषरूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। उनका कहना है—

अर्थात् बोडन महोदय के उदार दान का मुख्य उद्देश्य ईसाइयों के धर्म ग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद कराना था ताकि उसके देशवासी भारतीयों को ईसाई मत की दीक्षा देने के कार्य में अग्रसर हो सकें। "Modern India and the Indians" नामक अपनी पुस्तक में मोनियर विलियम्स ने लिखा कि—

"When the walls of the mighty fortress of Brhaminism are encircled, undermined and finally stormed by the soldiers of the Cross, the victory of Christianity must be final and complete."

(Modern India and the Indians 3rd. Edition P. 267)

अर्थात् जब ब्राह्मण धर्म के प्रबल दुर्गों को घेर कर उन्हें धीरे-धीरे विनष्ट कर दिया जाये और अन्त में क्रास (शूली) के सिपाहियों के द्वारा उनमें आँधी की तरह उपद्रव मचा दिया जाए, तो ईसाइयत की विजय असामान्य और सम्पूर्ण होगी। इससे बढ़कर लेखक की पक्षपात पूर्ण मनोवृत्ति क्या हो सकती है जो ऐसे शब्दों द्वारा प्रकट होती है ? क्या इस मनोवृत्तिवाले व्यक्ति से आशा की जा सकती है कि वह वेदों का निष्पक्षपात अनुशीलन कर सकेगा ?

प्रो० मैक्समूलर की ईसाई पक्षपात पूर्ण मनोवृत्ति

प्राच्य विद्या विशारदों में अग्रणी माने जानेवाले प्रो० मैक्समूलर का उद्देश्य भी वेदों के अनुवाद करने आदि में शुद्ध न था और उनका लक्ष्य भारतीयों को ईसाई बनने को प्रोत्साहित करना था, यह निम्नलिखित पत्र व्यवहार से स्पष्टतया ज्ञात होता है।

प्रो० मैक्समूलर ने उन दिनों भारत मन्त्री ड्यूक ऑफ आर्गायल को १९ दिसम्बर, १८९८ के एक पत्र में लिखा—

"The ancient religion of India is doomed and if Christianity does not step in, whose fault will it be?"

अर्थात् भारत के प्राचीन धर्म का नाश तो अब निश्चित है, और यदि ईसाइयत आकर इसका स्थान ग्रहण न करे, तो यह किसका दोष होगा ?

सन् १८९८ में अपनी पत्नी के नाम एक पत्र में प्रो० मैक्समूलर ने लिखा—

I hope I shall finish that work (edition and translation of the Rigveda) and I feel convinced though I shall not live to see it, yet this edition of mine (of the Rigveda) and the translation of the Vedas, will hereafter tell to a great extent, on the fate of India and on the growth of millions of souls in that country. It is that root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, "the only way of uprooting all that has been sprung from it during the last three thousand years."

अर्थात् मुझे आशा है कि मैं उस काम को (ऋग्वेद का सम्पादन और अनुवादादि) पूरा कर दूँगा और मुझे निश्चय है कि यद्यपि मैं उसे देखने के लिए जीवित न रहूँगा, तो भी मेरा ऋग्वेद का यह संस्करण और वेदों का अनुवाद, भारत के भाग्य और लाखों भारतीयों के आत्माओं के विकास पर प्रभाव डालेगा। यह (वेद) उनके धर्म का मूल है और मूल को दिखा देना, उससे पिछले तीन हजार वर्षों में जो कुछ निकला है, उसको मूल सहित उखाड़ देने का सब से उत्तम प्रकार है।

श्री पुसे का प्रो० मैक्समूलर को पत्र—

प्रो० मैक्समूलर के एक घनिष्ठ मित्र ई० बी० पुसे ने उन्हें जो पत्र लिखा है, वह भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा—

"Your work will form a new era in the efforts for the conversion of India and Oxford will have reason to be thankful that by giving you a home, it will have facilitated a work of such primary and lasting importance on the conversion of India, and which, by enabling us to

compare that early "false religion" with the true, illustrates the more than blessedness of what we enjoy".

अर्थात् आपका कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने के यत्न में नवयुग लानेवाला होगा और इससे ओक्सफोर्ड को अपने को धन्य समझने का अवसर होगा कि उसने आपको आश्रय देकर भारत को ईसाई बनाने के प्रथम और अत्यावश्यक कार्य को सुगम बना दिया। साथ ही यह आपका कार्य हमें समर्थ बनाएगा कि हम पुराने झूठे धर्म की सच्चे (ईसाई) धर्म के साथ तुलना का आनन्द उठायें इत्यादि।

भारतीयों को ईसाई बनाने की धुन प्रो० मैक्समूलर के सिर पर कैसी सवार थी, यह उनके द्वारा लिखे गए एक मित्र के नाम पत्र से ज्ञात होता है—

"Tell me some of your chief difficulties that prevent you and your countrymen from openly following Christ and when I write to you, I shall do my best to explain how I and many who agree with me, have met them and solved them....From my point of view, India, at least the best part of it, is already converted to Christianity. You want persuation to become a follower of Christ. Step boldly forward, it will not break under you and you will find many friends there to welcome you on the other shore and among them, none more delighted than your old friend and fellow labourer-F. Maxmuller".

(Life and Letters of F. Maxmuller, Published by Mrs. Georgina Maxmuller, London 1902)

अर्थात् आपको और आपके देशवासियों को खुले तौर पर ईसामसीह की शरण में जो कठिनाइयाँ हैं, उन्हें मुझे बताइए और मैं अपना उत्तर उनके विषय में लिख दूँगा। मेरे दृष्टिकोण से तो भारत, कम से कम इसका सर्वोत्तम भाग ईसाई मत में परिवर्तित हो चुका है, ईसाई बन चुका है। आपको ईसाई बनने की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं। बस अब साहसपूर्वक निर्भयता के साथ आगे बढ़िए। यह आपके नीचे टूट न जाएगा और आप देखेंगे कि आपका स्वागत करने के लिए अन्यों के साथ आपका पुराना साथी और मित्र मैक्समूलर भी उपस्थित होगा।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि प्रो० मैक्समूलर का वेदों के अनुवादादि का कार्य वैदिक धर्म को नीचा दिखाकर ईसाई मत की श्रेष्ठता को उजागर करने के लिए था, न कि शुद्ध भावना तथा सत्यग्रहण से प्रेरित।

"The Rigveda and Vedic Religion" के लेखक कैलटन ने प्रो० मैक्समूलर के विषय में अपनी पुस्तक के पृ० १५६ में लिखा है कि—

Prof. Maxmuller did not hesitate to say, it must not be foregotten

that though the historical interest of the Veda can hardly be exaggerated, large number of the Vedic hymns are "childish in the extreme tedious and common place. Many of them convey no clear meaning, or are full of vain repetitions. It is not the rule, but the exception to find in this great collection of literature, any cry of the soul, any glimpse of a spiritual instinct, any grasp of a high revelation."

(The Rigveda and Vedic Religion by Clayton P. 156)

इसका भावार्थ यह है कि इस बात को भूलना न चाहिए कि यद्यपि प्रो० मैक्समूलर के अनुसार वेदों का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है, तथापि वैदिक सूक्तों की अत्यधिक संख्या बचपन व मूर्खता की पराकाष्ठा से पूर्ण, नीरस और तुच्छ विचारों से भरी पड़ी हैं। उनमें से बहुतों का कोई स्पष्ट अर्थ ही प्रतीत नहीं होता और वे पुनरुक्ति से भरे हुए हैं। यह नियम नहीं, केवल अपवाद के रूप में है कि इन सूक्तों में कहीं आत्मा की पुकार, आध्यात्मिक प्रभा की कोई झाँकी अथवा उच्च ईश्वरीय ज्ञान की कोई झलक दिखायी देती है, इत्यादि।

ऐसे उद्देश्य और विचारों से प्रेरित होकर जो कार्य किया गया हो, उसे निष्पक्ष कहना सर्वथा असम्भव हैं। इसी पक्षपात पूर्ण मनोवृत्ति के कारण प्रायः पाश्चात्त्य विद्वानों ने वेदों के अर्थों का ऐसा अनर्थ किया जिसे देखकर अत्यन्त आश्चर्य और दुःख होता है। ये लोग वेदों के यथार्थ उच्च तत्त्वों को समझने में प्रायः असमर्थ रहे और उन्होंने ऐसा ही भरसक यत्न किया कि जिससे वैदिक धर्म की शिक्षाओं का जंगलीपन और ईसाइयत की श्रेष्ठता तथा विकासवाद की यथार्थता प्रकट हो। उनमें से बहुतों ने वेदों को बच्चों की बिलबिलहाट (Prattlings of children) गडरियों के गीत या कूड़ा कर्कट (Rubbish) तक तक कहने में संकोच नहीं किया। प्रायः वेदों को ईसा से एक दो हजार वर्ष पूर्व की रचना सिद्ध करने का कपोल कल्पित और अटकल पच्चू तरीके पर यत्न किया गया। वेद प्रकृति पूजा और हजारों देवी देवताओं की पूजा का विधान करते हैं, वैदिक यज्ञों के बकरों, भेड़ों, घोड़ों, बैलों तथा गौवों, यहाँ तक कि मनुष्यों तक की भी बलि (Human Sacrifices) दी जाती थी, सोम के नाम से वैदिक आर्य शराब का पान करके मस्त रहते थे। वे पचास-पचास, सौ-सौ तक स्त्रियों से विवाह कर लेते थे, उनका सदाचार का कोई ऊँचा मानदण्ड न था इत्यादि सर्वथा असत्य बातों का (जिनका कि इस ग्रन्थ के अनेक अध्यायों में प्रसंगानुसार हमने सप्रमाण निरूपण किया है) इनमें से अनेकों (सब नहीं) ने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन अत्यन्त अशुद्ध और कल्पित आधारों पर वेद मन्त्रों के अर्थों का अनर्थ किया। इस प्रकार के पाश्चात्त्य विद्वानों की वेदार्थ शैली की आलोचना करते हुए जगद्विख्यात योगी और

मनीषी श्री अरविन्द ने ठीक ही लिखा था कि—

"If ever there was a toil of interpretation in which the loosest vein has been given to an ingenuous speculation, in which doubtful indications have been snatched at as certain proofs, in which the boldest conclusions have been insisted upon with the justification, the most enormous difficulties ignored and preconceived notions maintained in face of the clear and often admitted suggestion of the text, it is surely this labour so eninently respectable otherwise for its industry, good will and power of research, performed through a long century by European vedic Scholarship."

(Dayananda and Vedas by Shri Aurabindo Published in the Vedic Magazine in 1916)

अर्थात् यदि कोई वेद की व्याख्या का परिश्रम है, जिसमें बिलकुल तुच्छ आधार को एक चतुरता पूर्ण विचार का रूप दे दिया गया है, जिसमें सन्दिग्ध संकेतों को निश्चित प्रमाणों का रूप दे दिया गया है, जिसमें अत्यन्त तुच्छ और नगण्य प्रमाणों के आधार पर अत्यधिक साहसपूर्ण परिणाम निकालने पर बल दिया गया है, जिसमें बहुत स्पष्ट और विकट कठिनाइयों की भी उपेक्षा की गयी है और वेद मन्त्रों के स्पष्ट निर्देश होते हुए भी उनके विरुद्ध केवल पक्षपात पूर्ण विचारों को प्रधानता दी गयी है, तो यह पाश्चात्त्य विद्वानों का वेद विषयक परिश्रम है। यह केवल अनुसंधान शक्ति इत्यादि के कारण आदरणीय है।

हम यूरोप (इंग्लैण्ड) के प्रो० गोल्डस्टकर और रूस के औलेगार इत्यादि कुछ निष्पक्षपात विद्वानों की भी सम्मति इस विषय में उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं। पर इससे पूर्व हम एक दो अन्य पाश्चात्त्य विद्वानों की भी ईसाई मत की पक्षपात पूर्ण मनोवृत्ति को दर्शाना चाहेंगे।

रूडोल्फ होर्नी

रूडोल्फ होर्नी सन् १८६९ में क्वीन्स कॉलेज, बनारस के प्रिंसिपल थे जिन दिनों स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रथम बार बनारस में पधारे थे। श्री होर्नी ने उन दिनों कई बार स्वामी दयानन्द से भेंट की। उसके पश्चात् उन्होंने कलकत्ता के एक ईसाई पत्र में लिखा—

"Dayananda may possibly convince the Hindus that their modern Hinduism is altogether in opposition to the Vedas....If once they become thoroughly convinced of this radical error, they will no doubt, abandon Hinduism at once.

They can not go back to the Vedic State, that is dead and gone and will never revive, somthing more or less new must follow. We hope it may be Christianity."

("Rudlof Hornie quoted in the Arya Samaj" by Lala Lajpat Rai, 1932 P. 42)

अर्थात् सम्भवत: दयानन्द हिन्दुओं को यह विश्वास दिला सके कि वर्तमान हिन्दू मत वेदों के सर्वथा विरुद्ध है। यदि एक बार उनको पूर्णतया अपनी मौलिक मूल का विश्वास हो जाए तो इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि वे तत्काल हिन्दू मत का परित्याग कर देंगे। वे वैदिक राज्य के युग की ओर वापिस लौटकर नहीं जा सकते। वह तो सदा के लिए मर चुका है और फिर कभी जी नहीं सकता। इसके परिणाम स्वरूप कुछ नवीन चीज पैदा होगी। हम आशा करते हैं कि यह ईसाइयत होगी।

यद्यपि इतिहास ने होर्नी महोदय के इस विश्वास की पूर्ण असत्यता को स्पष्टतया सिद्ध कर दिया है, तथापि इससे लेखक की पूर्णतया ईसाई मत के प्रति पक्षपात पूर्ण मनोवृत्ति का स्पष्ट प्रदर्शन होता है। ऐसा ही डॉ० अल्फ्रेड वीबर (Dr. Alfred Weber) बौहटलिंग (Bohtlingk) कुहून (Kuhn) इत्यादि विद्वानों के लेखों तथा ग्रन्थों से प्रकट होता है जिनका प्रतिवाद प्रो० गोल्डस्ट्रकर ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ "Panini-His Place in Sanskrit Literature"(Allahabad Edition 1914. P. 200) में इन शब्दों में किया—

"When I see that the most distinguished and the most learned Hindu Scholars and divines-the most valuable and some times, the only source of all our knowledge of ancient India, are scorned in theory, mutilitated in print and as consequence set aside in the interpretation of Vedic texts.....When a clique of Sanakritists of this description vapours about giving us the sense of the Veda as it exitsted at the commencement of Hindu antiquity-when I consider that this method of studying Sanskrit philology is pursued by those whose words apparently derive weight and influence from the professinal position they hold.....

Then I hold that it would be a want of courage and dereliction of duty, if I did not make a stand against these Saturnalists of Sanskrit Philology"

(Panini-His Place in Sanskrit Literature by Prof. Goldstrucker P. 203)

अर्थात् जब मैं यह देखता हूँ कि बहुत अधिक प्रसिद्ध और सुशिक्षित हिन्दू विद्वानों और महात्माओं का भी उनका जो प्राचीन भारत विषयक हमारे ज्ञान का सब से अधिक बहुमूल्य और कई बार एक मात्र स्रोत हैं–सिद्धान्त में उपहास किया जाता है, छपी हुई पुस्तकों में उन्हें उद्धृत किया जाता है और इसके परिणाम स्वरूप उनकी वेद मन्त्रों की व्याख्या का निराकरण किया जाता है, जब इस प्रकार के 'संस्कृतज्ञों' का ग्रह यह झूठा दावा करता फिरता है कि वह वेद के उस वास्तविक अर्थ को हमें बता सकता है जो हिन्दू प्राचीनतम युग के प्रारम्भ में माना जाता था, जब मैं यह देखता हूँ कि संस्कृत भाषा विज्ञान के अनुशीलन की यह पद्धति उन लोगों के द्वारा चलायी जाती है जिनके शब्द स्पष्टतया उनके पद की प्रतिष्ठा से ही गौरव और प्रभाव प्राप्त करते हैं, तब मैं समझता हूँ कि यह मेरे लिए साहस के अभाव और कर्त्तव्य से च्युत होने की बात होगी यदि मैं इन संस्कृत भाषा विज्ञान के तथाकथित विलासोत्सवियों के विरुद्ध न खड़ा होऊँ या इनका प्रबल प्रतिवाद न करूँ।

एक सर्वथा निष्पक्षपात क्र० गोल्डस्ट्रकर जैसे पाश्चात्त्य उत्तम संस्कृतज्ञ विद्वान् के ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं जिनसे डॉ० अल्फ्रैड बीबर, बोहटलिंग, कुहन इत्यादि जैसे कट्टर ईसाई मत पक्षपाती अभिमानी तथा कथित संस्कृत भाषा विज्ञानियों का भाण्डाफोड़ होता और योगीराज श्री अरविन्द की की हुई समालोचना का पूर्ण समर्थन होता।

रूस के विद्वान् बौलेगर द्वारा प्रो० मैक्समूलर की तीव्र आलोचना—

Sacred Books of the East Series के Russian Edition के सम्पादक बौलेगार (Boulangar) ने मैक्समूलर के वेदों के अटकल पच्चू अनुवाद की आलोचना करते हुए भूमिका में लिखा –

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मैक्समूलर ने स्वयं यह कबूल किया है कि "My translation of the Vedas is conjectural" (अर्थात् मेरा अनुवाद अटकलपच्चू वा अनुमान पर आश्रित है)।

"What struck me in Max Muller's translation was a lot of absurdities, obscene passages and a lot of what was not lucid." "As far as I can grasp the teaching of the Vedas, it is so sublime that I would look upon it as a crime on my part, if the Russian Public become acquainted with it through the medium of a confused and distorted translation, thus not deriveing for its soul that benefit which this teaching should give to the people."

(Quoted here from Sadhu T.L. Vaswanis. "Torch-bearer", P. 143)

अर्थात् प्रो० मैक्समूलर के अनुवाद में जिस बात से मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ वह यह है कि उसमें बहुत-सी बेहूदी, अश्लील और अस्पष्ट बातें हैं। मैं जहाँ तक वेदों की शिक्षा को समझ सकता हूँ, मुझे वह इतनी अधिक उच्च मालूम होती है कि रूसी जनता के लिए एक गड़बड़ और गलत अनुवाद के द्वारा उससे परिचय कराने को मैं बड़ा भारी अपराध मानता हूँ क्योंकि इससे वह आत्मिक लाभ से वञ्चित रह जाएगी जो (वैदिक शिक्षा) जनता को देती है।

हम इस रूसी विद्वान् की स्पष्टोक्ति और साहस पूर्ण समालोचना के लिए प्रशंसा किए विना नहीं रह सकते। यह उनकी वेदों में अगाध श्रद्धा की भी परिचायक है।

जगद्विख्यात मनीषी ताल्स्ताय की वेदों में श्रद्धा

वेदों के प्रति श्रद्धा रखनेवाले पाश्चात्य विद्वानों में जगद्विख्यात मनीषी और लेखक ताल्स्ताय का प्रमुख स्थान है। यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि श्री तालस्ताय को वैदिक धर्म से परिचय कराने का श्रेय उनके परममित्र और हमारे श्रद्धेय आचार्य रामदेवजी को है जो अपनी गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित होनेवाली वैदिक मैगजीन नामक अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की पत्रिका को नियम पूर्वक श्री तालस्ताय के पास भेजा करते थे और नियमित रूप से उनके साथ धार्मिक विषयों पर पत्र-व्यवहार करते रहते थे। तालस्ताय जन्म शताब्दी के अवसर पर अलेक्जेण्डर शिफमान नामक तालस्ताय संग्रहालय के अनुसंधान विद्वान् ने "Leo Tolstoy and the Indian Epics" शीर्षक का जो लेख अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपवाया था उसके निम्नलिखित उद्धरणों से लियो तालस्ताय की वेदों पर श्रद्धा प्रकट होती है। शिफमान ने लिखा है—

"Leo Tolstoy was deeply interested in ancient Indian Literature and its great epics. The themes of the Vedas were the first to attract his attention."

"Appreciating the profundity of the Vedas, Tolstoy gave particular attention to those cantos, which deal with the problems of ethics, a subject which interested him deeply. He subscribed to the idea of human love which pervades the Vedas with their humanism and praise of peaceful labour. Tolstoy, the artist, was, moreover, delighted with the poetic treasures and artistic imagery which distinguish those outstanding Indian epics."

"He (Tolstoy) ranked the Vedas and their later interpretations-the Upanishads with those perfectd works of world art which have

never failed to appeal to all natioinalities in all epochs and which, therefore, represent true art."

"Tolstoy not only read the Vedas, but also spread their teachings in Russia. He included many of the sayings of the Vedas and the Upanishads in his collections, "Range of Reading" "Thoughts of wise men" and others etc."

इन उद्धरणों का तात्पर्य यह है कि भारत के प्राचीन साहित्य और महाकाव्यों के प्रति लियो तालस्ताय गहरी दिलचस्पी रखते थे। वेदों की विषय वस्तु ने सर्वप्रथम उनका ध्यान आकृष्ट किया।....तालस्ताय वेदों के गम्भीर ज्ञान पर मुग्ध थे। वे वेदों के उन भागों पर विशेष ध्यान देते थे जिनका सम्बन्ध आचार शास्त्र सम्बन्धी समस्याओं से है। यह एक ऐसा विषय था जिसमें उनकी प्रगाढ़ रुचि थी। वेदों में व्याप्त मानवीय प्रेम के सिद्धान्त के, मानववाद और शान्तिमय श्रम की प्रशंसा के वे समर्थक थे।

कलाकार तालस्ताय इन अग्रगण्य भारतीय रचनाओं की काव्यनिधि और कलात्मक उपमाओं पर आनन्द विभोर थे। वे वेदों और उनके बाद के भव्य-उपनिषदों को विश्वकला की उन सर्वांग पूर्ण रचनाओं की कोटि में मानते थे जिन्होंने सभी युगों में समस्त जातियों का हृदय बरबस आकृष्ट किया है। इसलिए वे उन्हें सच्ची कला का प्रतीक मानते थे।

तालस्ताय ने न केवल वेदों को पढ़ा, वा उनकी शिक्षा का रूस में प्रचार और प्रसार भी लिया, उन्होंने वेदों और उपनिषदों की अनेक सूक्तियों को Range of Reading (पठन विस्तार) तथा Thoughts of wisemen (बुद्धिमानों के विचार) इत्यादि अपने प्रकाशनों में उनको सम्मिलित भी किया।

इससे यह स्पष्ट है कि किस प्रकार वेदों की उच्च शिक्षाओं ने तालस्ताय जैसे निष्पक्षपात जगद्विख्यात मनीषी को विशेष रूप से प्रभावित किया था।

अमरीकन मनीषी की वेद पर श्रद्धा

Thoreau नामक अमेरीका के सुप्रसिद्ध मनीषी ने एकान्त में निवास करके वेदों का जो कुछ अनुशीलन किया, उसके विषय में उसने लिखा—

"What extracts from the Vedas I have read, fall on me like the light of a higher and purer visionary which describes a loftier course through a purer stratum-free from particulars, simple, universal, the vedas contain a sensible account of God".

(Quoted here from "Mother America" By Swami Omkar P. 9)

इसका भाव यह है कि मैंने वेदों के जो उद्धरण पढ़े हैं, वे मुझ पर एक उच्च

और पवित्र ज्योति पुञ्ज के प्रकाश की तरह पड़ते हैं जो एक उत्कृष्ट मार्ग का वर्णन करता है। वेदों के उपदेश, सरल, देश व जाति विशेष के इतिहास के रहित और सार्वभौम हैं तथा उनमें ईश्वर विषयक युक्तियुक्त विचार दिए गये हैं।

डॉ० ऐल्फ्रेड रसेल वैलेस की वेदों में श्रद्धा—

भौतिक विकासवाद के आविष्कारकों में से एक डॉ० अल्फ्रेड रसल वैलेस ने वेदों के विषय में Social Environment and Moral Progress नामक सुप्रख्यात ग्रन्थ में लिखा है—

"The wonderful collection of hymns known as the Vedas is a vast system of religious teaching as pure and lofly as those of the finest portions of the Hebrew Scriptures.

In the Vedas, we find many of the essential teachings of the Religious thinkers etc."

अर्थात् वेदों के नाम से प्रसिद्ध आश्चर्यजनक संहिता के अन्दर बाइबल के अच्छे से अच्छे भाग के लिए सुलभ पवित्र और ऊँची धार्मिक शिक्षाओं की एक पद्धति पायी जाती है जिनमें हम अत्यधिक उन्नत व प्रगतिशील धार्मिक विचारकों की मुख्य शिक्षा को पाते हैं।

यह दु:ख की बात है कि हमारे देश के अनेक सुशिक्षित महानुभाव भी इन निष्पक्षपात पाश्चात्त्य विद्वानों का अनुसरण न करते हुए ईसाई पक्षपात पूर्ण प्रो० मैक्समूलर, डॉ० मैक्ड अल्फ्रेड बीवर आदि विद्वानों का अनुसरण करते हैं और इस प्रकार वेदों को औरों की दृष्टि में गिराने का निन्दनीय प्रयत्न करते हैं।

भारतीय जनता का भी वेदों पर ध्यान कम

यह भी खेद की बात है कि यद्यपि सभी आस्तिक वेदों पर श्रद्धा रखते हैं तथापि उनके अर्थ सहित अध्ययन की ओर साधारण तो क्या, बड़े-बड़े संस्कृत के पण्डितों का भी ध्यान बहुत कम है। रामायण, पुराण, महाभारत आदि का जितना प्रचार भारतीय श्रद्धालु जनता में है, इनकी मन्दिरादि में जितनी कथा विद्वान् लोग करते हैं, उसका सम्भवत: शतांश भी वेदों की चर्चा सुनने में नहीं आती। उनका उपयोग अब प्राय: संस्कारों और कभी-कभी यज्ञों के रूप में ही दिखायी देता है। विद्वन्मण्डली में भी ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों और भगवद्गीता ने वेदों के स्थान को अधिकतर ले रखा है, विशेषत: भगवद्गीता को वेदों से भी ऊपर माना जाने लगा है। यह कोई शुभ लक्षण नहीं है।

महामान्य डॉ० सम्पूर्णानन्दजी की सत्योक्ति

ऐसी परिस्थिति में महामान्य मनीषी वेद भक्त डॉ० सम्पूर्णानन्दजी ने 'हिन्दू धर्म की अमरता' पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा—

वेदों का अध्ययन केवल उन्हीं लोगों के लिए आवश्यक नहीं है जो दुनिया को त्यागने के पथ पर अग्रसर होना चाहते हैं, अथवा हो रहे हैं, अपितु उन लोगों के लिए भी वेदों का अध्ययन आवश्यक है जो सामान्य नागरिक और सामाजिक जीवन–यापन कर रहे हैं। वेदों का अध्ययन जीवन में भारी सहायता देगा और विशेषत: इस दृष्टिकोण से कि समाज और जीवन के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में आपका सही दृष्टिकोण कौन–सा हो सकता है। मेरे मन में यह विचार उदित हुआ कि वेदों का अध्ययन हमारे लिए नितान्त आवश्यक है।

किन्तु कितने खेद का विषय है कि आज वेदों के असीम और बेजोड़ ज्ञान की उपेक्षा की जा रही है।

गीता और वेद

हिन्दू धर्म के एक नितान्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ गीता को ही लीजिए। गीता हमारे भारत वर्ष की एक गौरवपूर्ण पुस्तक है। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि गीता को स्वत:प्रमाण नहीं माना गया है क्योंकि गीता में जो कुछ भी कहा गया है सब वेदों के आधार पर ही कहा गया है। उससे अलग हटकर कुछ भी नहीं कहा गया। यदि कोई भी हिन्दू विद्वान् इस बात को सिद्ध करने का प्रयास करेगा कि गीता का दर्शन और उसकी शिक्षा वेदों से पृथक् है, तो वह इस कार्य में बुरी तरह असफल रहेगा। वस्तु स्थिति यह है कि गीता का सम्पूर्ण ज्ञान ही वेदों पर आधारित है। हम यह बात पूर्णत: भूल गये हैं कि गीता शुक्ल यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में प्रथम २ मन्त्रों की ही समीक्षा है।

कोई भी बुद्धिमान इस बात को स्वीकार न करेगा कि जो पुस्तक शुक्ल यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के केवल २ मन्त्रों की समीक्षा मात्र है, उसे न केवल यजुर्वेद अपितु सभी वेदों से श्रेष्ठ घोषित कर दिया जाये तथा इस पुस्तक को वेदों का विकल्प सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाये। स्पष्ट है कि यह विचार पूर्णतया गलत है और भ्राँति पूर्ण भी।

''अहं वेदस्य निधिपोमपासम्''

इस उक्ति में कहा गया है कि मैं वेद के खजाने की रक्षा करनेवाला बनूँ किन्तु इस अद्भुत वैदिक कोश की रक्षा करनेवाले आज अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं। सर्वसाधारण संस्कृतानभिज्ञ नर–नारियों की तो बात ही क्या कहनी, संस्कृत के ९८ प्रतिशत विद्वान् भी धर्म के आदि स्रोत वेद की उपेक्षा करके उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत इत्यादि ग्रन्थों की ही कथा और प्रचार करने में तत्पर हैं।

वेदों के प्रति उपेक्षा का एक अन्य गम्भीर कारण

मध्यकालीन वेद भाष्यकारों ने वेदों का अधिकतर केवल यज्ञपरक अर्थ

किया और यही विश्वास प्रकट किया है कि 'वेदाहि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' अर्थात् वेद केवल यज्ञों के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं। यदि यज्ञ में देवपूजा, संगतिकरण और दान को सम्मिलित किया जाये और उसमें आत्मकल्याण तथा लोकोपकारक सब शुभ कार्यों का समावेश किया जाये तो कोई आपत्ति की बात नहीं। किन्तु जब यज्ञ से केवल कर्मकाण्ड का और उसमें भी उसके विकृत पशु हिंसादि रूप का ग्रहण किया जाये, तो उसका जो स्वाभाविक परिणाम होता है, उसको हम अपने शब्दों में न कहकर संस्कृत विद्या के सुप्रसिद्ध केन्द्र काशी की पण्डित सभा के भू० भू० प्रधान दर्शन केसरी पं० गोपालदत्तजी शास्त्री के शब्दों में रखना उचित समझते हैं। विद्वद्वर पं० गोपालदत्तजी शास्त्री ने अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख में लिखा था कि—

आज इन केवल यज्ञपरक अर्थ करनेवाले भाष्यकारों के भाष्य पढ़नेवालों की वेद के प्रति कितनी अनास्था हो जाती है इसके दो उदाहरण मुझे ज्ञात है। स्वर्गीय बा० शिवप्रसादजी गुप्त वेद पर बड़ी आस्था रखते थे। उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ सायणभाष्य का किसी विद्वान् से आदि से अन्त तक पाठ कराया और स्वयं भी वहाँ नित्य नियमतः बैठकर सुनते रहे। उसी अवसर पर एक रोज मैं वहाँ गया तो उन्होंने हाथ जोड़कर हँसते हुए कुछ मुझे कहा कि शास्त्रीजी महाराज! पहले ही अच्छा था कि मैंने वेद का अर्थ नहीं सुना था। जब से मैंने सायणाचार्य का वेदार्थ सुना है, तब से तो मेरी वेद पर अनास्था हो गयी है।

दूसरा उदाहरण हमारे स्वर्गीय गुरु महापहोपाध्याय पूज्यपाद पं० अन्नदाचरण तर्क चूड़ामणिजी महाराज हैं। उन्होंने एक बार दर्शन पढ़ाते समय प्रसंगतः कह दिया था कि वेद के संहिता भाग में क्या रखा है? इन्द्र की स्तुति और वरुण की स्तुति ही तो भरी पड़ी है। हाँ, सार तो उपनिषत् की श्रुतियों में हैं जिस पर वेदव्यासजी ने विचार किया है।

देखा आपने सायणाचार्य और महीधराचार्य के भाष्य के अध्ययन का यही तो फल निकलता है। इसी कारण मैंने कहा है कि सायणाचार्य ने जहाँ वेदार्थ करके जगत् का उपकार किया है, वहाँ ही उन्होंने इनका केवल यज्ञपरक अर्थ करके बड़ा भारी अपकार किया है। इत्यादि। हमारा महाविद्वान् पं० गोपाल शास्त्रीजी के इन वचनों को उद्धृत करने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि विद्वान् लोग उदार दृष्टि से धर्म के मूल स्रोत वेदों का अनुशीलन करें तो उन्हें और जनता को महान् लाभ हो सकता है। केवल यज्ञपरक अर्थ करने पर विचारशील लोगों की उनमें आस्था प्रायः नहीं रहने पाती। महाविद्वान् महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्माजी चतुर्वेदी और स्व० मधुसूदनजी विद्यावाचस्पति आदि का वेदों के विज्ञानपरक अर्थ का प्रयत्न अभिनन्दनीय है। मान्य विद्वानों को उस उदार दृष्टि को अपनाने और उसे दृष्टि में रखकर वेदों का अनुशीलन करने की आवश्यकता है जिसके

अनुसार मनु महाराज ने अपने धर्मशास्त्र में स्पष्ट घोषणा की थी कि—

चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाः चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्ः।
भूतं भव्याभविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥

(मनु० १२।९७)

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च, वेदशास्त्रविदर्हति॥

(मनु० १२।१००)

अर्थात् चारों वर्णों और आश्रमों तथा भूत, भविष्य, वर्तमान के सब पदार्थों का ज्ञान वेद के द्वारा ही हो सकता है, दण्ड नेतृत्व (न्यायाधीशत्व) तथा सर्वलोक स्वामित्व (साम्राज्य) को भी प्राप्त कर सकता है। अर्थात् वेद शास्त्र के ज्ञान को प्राप्त करने से मनुष्य को राजनीति इत्यादि शास्त्रों का यथावत् बोध हो सकता है। यह तभी सम्भव है जब वेदों में इन विधाओं का मूल माना जाये, अन्यथा इस स्थापना का कोई अर्थ नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रथम धर्मशास्त्रकार मनु के अनुसार वेदों में न्याय, राजनीति तथा अन्य शास्त्रों का मूल विद्यमान है।

भारत के जगद्विख्यात दार्शनिक, महामनीषी श्री शंकराचार्यजी ने 'शास्त्रयोनित्वात्' इस ब्रह्मसूत्र १।४ भाष्य में ऋग्वेद शास्त्र के विषय में लिखा है—

ऋग्वेदार्थः शास्त्रस्यानेक विद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् स्वार्थावद्योतिनः सर्वस्यकल्पस्थ योनिःकारण ब्रह्म। नहीदृशस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञ गुणान्वितस्य सर्वज्ञादस्यतः सम्भवोऽस्ति॥

(श्री शंकराचार्याः ब्रह्मसूत्र १।४ भाष्ये)

अर्थात् ऋग्वेद जो ४ वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाशक हैं। उनका बनानेवाला सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त पर ब्रह्म है क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई सर्वज्ञ गुण युक्त इन वेदों को बना सके, ऐसा सम्भव नहीं। इस दृष्टि से विविध विद्याओं का मूल वेदों में कहाँ कहाँ तथा किस रूप में पाया जाता है, इसका अनुसंधान विद्वानों को अवश्य करना चाहिए। वेद केवल यज्ञपरक हैं, इस भावना को पहले से ही मानकर वेदों का अध्ययन करने से विविध विद्याओं का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता तथा वेदों के अर्थ जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से अनेक हैं, अत्यन्त संकुचित हो जाते हैं। इस प्रकार निष्पक्षपात होकर वेदों के निष्पक्षपात अनुशीलन की इस समय बड़ी भारी आवश्यकता है।

संस्कृत के ज्ञान के विना वेदों का अध्ययन असम्भव है। अतः हम चाहते हैं कि संस्कृत भाषा का अभ्यास सब देशों के लोग करें, भारतीयों को तो इसका

विशेषरूप से करना चाहिए जैसा कि महात्मा गाँधी इत्यादि नेतागण चाहते थे।

महात्मा गाँधीजी के वचन

संस्कृत एक ऐसी भाषा है जिसमें भारतीय संस्कृति का चिर संचित ज्ञान भरा है। विना संस्कृत पढ़े कोई अपने को पूर्ण भारतीय और विद्वान् नहीं बना सकता।

संस्कृत देव भाषा है अतः उसके अध्ययन और स्वाध्याय से मनुष्य अपने में देवोपम गुणों का विकास कर सकता है।

(गाँधीजी की सूकित्याँ—ठा० राजबहादुर द्वारा सम्पादित हिन्दी पाकेट बुक्स शाहदरा)

पं० जवाहरलालजी नेहरू

भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री स्व० पं० जवाहरलालजी नेहरू यद्यपि संस्कृत के अच्छे ज्ञाता न थे तथापि उन्होंने इसके महत्त्व को अनुभव किया और इस प्रकार के शब्दों में प्रकट किया था—

"मैंने अक्सर सोचा है कि भारत के अतीत में उसके हजारों वर्ष के इतिहास में, जिन बहुत से तत्त्वों ने उसको विशिष्टता प्रदान की है, उसमें सब से अधिक महत्त्वपूर्ण कौन–सा है ? मेरे मन में कोई सन्देह नहीं है कि वह एक तत्त्व संस्कृत भाषा है। मैं समझता हूँ कि यही एक तत्त्व है जिसमें हमारी जाति की प्रतिभा, हमारी जाति की प्रबुद्धता, मूर्तिमान हुई है और करीब करीब हर वस्तु जिसका बाद के वर्षों में प्रादुर्भाव हुआ। उसका उत्तम उद्भव और स्रोत किसी न किसी रूप से यही भव्य भाषा है।"

(नेहरू ने कहा–सूक्तियाँ और संस्मरण, सम्पादक डॉ० केवलधीर, हिन्द पाकेट बुक्स, पृ० ६९)

देश रत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी के महत्त्वपूर्ण वचन

भारत के प्रथम राष्ट्रपति महामान्य देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी ने 'संस्कृत और संस्कृति' नामक अपने ग्रन्थ में संस्कृत के पठन–पाठन की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा है—

उसके (संस्कृत) भण्डार में अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं। क्योंकि हमारी संस्कृति और सभ्यता का स्रोत इसी से निकला है और आज तक जारी है, क्योंकि हम मानते हैं कि मानव समाज को आज की विक्षिप्त अवस्था में शायद इसमें कुछ ऐसा मिल जाये जो शान्तिप्रद औषध का काम दे, क्योंकि हम मानते हैं कि आज भी हम संसार में इसी के कारण जीवित हैं और भविष्य में भी जीवित रहेंगे, क्योंकि अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए हमें यह जान लेना आवश्यक है कि हम कैसे और क्यों पीछे पड़ गये और हमारी प्रगति कैसे अविरुद्ध हो गयी। इत्यादि।

(संस्कृत और संस्कृति, पृ० ३)

महामान्य मनीषी डॉ० राधाकृष्णनजी के कुछ महत्त्वपूर्ण वचन

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णनजी स्वयं संस्कृत भाषा के न केवल प्रेमी अपितु प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका देश-विदेश में कोई भाषण नहीं होता था जिसमें संस्कृत के कुछ महत्त्पूर्ण प्रभावशाली उद्धरण न हों। उन्होंने कहा था—

"संस्कृत का अध्ययन हमारे देश और विश्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हमारे विकास के लिए संस्कृत के आध्यात्मिक मूल्यों को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।"

"संस्कृत दुनिया की सब से पुरानी भाषा है। ऋग्वेद इसका जीता जागता उदाहरण है। विश्व में इसकी बराबरी करनेवाला कोई साहित्य नहीं है। धैर्य (सहनशक्ति) पर वेदों में सब से अधिक बल दिया गया है।" इत्यादि।

हमारी धारणा है कि संस्कृत का सामान्य ज्ञान प्रत्येक विद्यार्थी को अवश्य होना चाहिए। अतः इसके पढ़ाने का शिक्षा संस्थाओं, विद्यालायों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में विशेष प्रबन्ध होना चाहिए। इसके अध्ययन को विशेष रूप से सरकार तथा धनीमानी सज्जनों की ओर से प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। संस्कृत के विद्वानों का भी कर्त्तव्य है कि वे संस्कृत के प्रचार के लिए निरन्तर सभाओं की स्थापना तथा कक्षाओं के उद्घाटन और अन्य साधनों से प्रयत्नशील रहें। इस प्रकार जितनी जितनी जनता की रुचि संस्कृत के अध्ययन की ओर बढ़ेगी, उतनी उतनी उसमें वेदों के अनुशीलन की भी बढ़ेगी। अतः इस विषय में पूर्ण प्रयत्न आवश्यक है।

—०—

नामानुक्रमणिका

मन्त्रानुक्रमणिका

आ

य

र

धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

मूल्य : ₹५००



ISBN : 978-81-937625-2-3

हितकारी प्रकाशन समिति